अथ यथा द्रव्यकर्माणि निश्चयेन स्वयमेवोत्पद्यन्ते तथा ज्ञानावरणादिविचित्रभेदरूपेणापि स्वयमेव परिणमन्तीति कथयति –

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्हि असुहम्हि रागदोसजुदो ।(१८७)
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं ॥ १९९ ॥

परिणमदि जदा अप्पा परिणमति यदात्मा। समस्तशुभाशुभपरद्रव्यविषये परमोपेक्षालक्षणं शुद्धोपयोगपरिणामं मुक्त्वा यदायमात्मा परिणमति । क्व । *सुहम्हि असुहम्हि* शुभेऽशुभे वा परिणामे । कथंभूतः सन् । *रागदोसजुदो* रागद्वेषयुक्तः परिणत इत्यर्थः । *तं पविसदि कम्मरयं* तदा काले तत्प्रसिद्धं कर्मरजः प्रविशति। कैः कृत्वा । *णाणावरणादिभावेहिं* भूमेर्मेघजलसंयोगे सति यथाऽन्ये पुद्गलाः स्वयमेव हरितपल्लवादिभावैः परिणमन्ति तथा स्वयमेव नानाभेदपरिणतैर्मूलोत्तरप्रकृतिरूपज्ञानावरणादिभावैः पर्यायैरिति ।

ततो ज्ञायते यथा ज्ञानावरणादिकर्मणामुत्पत्तिः स्वयंकृता तथा मूलोत्तरप्रकृतिरूपवैचित्र्यमपि, न च जीवकृतमिति ॥ १९९ ॥

अब, जैसे द्रव्यकर्म निश्चय से स्वयं ही उत्पन्न होते हैं, उसीप्रकार ज्ञानावरणादि विविध भेदरूप से स्वयं ही परिणमित होते हैं, ऐसा कहते हैं—

जब जीव राग व द्वेष युत शुभ अशुभ से परिणमे तब ।
ज्ञानावरण इत्यादि रूपों से प्रविष्ट हो कर्मरज ॥ १९९ ॥

गाथार्थ- जब आत्मा राग-द्वेष सहित होता हुआ, शुभ-अशुभ में परिणमित होता है, तब कर्मरज ज्ञानावरणादिरूप से उसमें प्रवेश करती है ।

टीकार्थ- ***परिणमदि जदा अप्पा-*** जब आत्मा परिणमित होता है । सम्पूर्ण शुभ-अशुभ पर द्रव्यों के विषयों में परम उपेक्षा लक्षण शुद्धोपयोगरूप परिणाम को छोड़कर, जब यह आत्मा परिणमित होता है । यह आत्मा किसमें परिणमित होता है ? ***सुहम्मि असुहम्हि-*** शुभ अथवा अशुभ परिणाम में परिणमित होता है । कैसा होता हुआ उनमें परिणमित होता है ? ***रागदोसजुदो-*** राग-द्वेष से सहित अर्थात् राग-द्वेषरूप परिणत होता हुआ, उनमें परिणमित होता है— ऐसा अर्थ है । ***तं पविसदि कम्मरयं-*** तब उस समय वह प्रसिद्ध कर्मरज, प्रवेश करती है । वह किसरूप में प्रवेश करती है ? ***णाणावरणादिभावेहिं-*** जैसे भूमि से बादलों के जल का संयोग होने पर, अन्य पुद्‌गल स्वयं ही हरे पत्ते आदि भावों से परिणमित होते हैं; उसीप्रकार स्वयं ही मूल-उत्तर प्रकृति रूप अनेक भेद परिणत ज्ञानावरणादि भावों—पर्यायों रूप से प्रवेश करती है ।

इससे ज्ञात होता है कि जैसे ज्ञानावरणादि कर्मों की उत्पत्ति स्वयंकृत है (कार्मण-वर्गणाओं का स्वयं ज्ञानावरणादिरूप परिणमन हुआ है); उसीप्रकार मूल-उत्तर प्रकृतिरूप विचित्रता भी स्वयंकृत है; जीव द्वारा की गई नहीं है ॥ १९९ ॥

अथ पूर्वोक्तज्ञानावरणादिप्रकृतीनां जघन्योत्कृष्टानुभागस्वरूपं प्रतिपादयति –

सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसम्मि ।

विवरीदो दु जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं ॥ २०० ॥

अणुभागो अनुभागः फलदानशक्तिविशेषः भवतीति क्रियाध्याहारः । कथम्भूतो भवति । *तिव्वो* तीव्रः प्रकृष्टः परमामृतसमानः । कासां सम्बन्धी । *सुहपयडीणं* सद्वेद्यादिशुभप्रकृतीनाम् । कया कारणभूतया । *विसोही* तीव्रधर्मानुरागरूपविशुद्ध्या । *असुहाण संकिलेसम्मि* असद्वेद्याद्यशुभप्रकृतीनां तु मिथ्यात्वादिरूपतीव्रसंक्लेशे सति तीव्रो हालाहलविषसदृशो भवति। *विवरीदो दु जहण्णो* विपरीतस्तु जघन्यो गुडनिम्बरूपो भवति। जघन्यविशुद्ध्या जघन्यसंक्लेशेन च मध्यमविशुद्ध्या मध्यमसंक्लेशेन तु शुभाशुभप्रकृतीनां खण्डशर्करारूपः कांजीरविषरूपश्चेति। एवंविधो जघन्यमध्यमोत्कृष्टरूपोऽनुभागः कासां सम्बन्धी भवति। *सव्वपयडीणं* मूलोत्तरप्रकृतिरहितनिजपरमानन्दैकस्वभावलक्षणसर्वप्रकारोपादेयभूतपरमात्मद्रव्याद्भिन्नानां हेयभूतानां सर्व-मूलोत्तरकर्मप्रकृतीनामिति कर्मशक्तिस्वरूपं ज्ञातव्यम् ॥ २०० ॥

अब, पहले (१९९ वीं गाथा में) कही गई प्रकृतियों के,जघन्य अनुभाग और उत्कृष्ट अनुभाग का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं —

हो विशुद्धि में प्रकृति शुभ वा अशुभ का संक्लेश में ।

हो तीव्र,इन सबका जघन अनुभाग हो विपरीत में ॥ २०० ॥

गाथार्थ- तीव्र—अधिक विशुद्धि में शुभ-प्रकृतियों का उत्कृष्ट—तीव्र अनुभाग बन्ध और तीव्र संक्लेशता में अशुभ-प्रकृतियों का उत्कृष्ट—तीव्र अनुभाग बन्ध होता है तथा इससे विपरीत परिणामों से सभी प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बन्ध होता है ।

टीकार्थ- ***अणुभागो-*** अनुभाग—फल देने सम्बन्धी शक्ति विशेष होती है—ऐसा क्रिया का अध्याहार—ग्रहण किया गया है । वह शक्ति विशेष कैसी होती है ? ***तिव्वो-*** यह तीव्र प्रकृष्ट—परम अमृत समान होती है । इस रूप वह किनकी होती है ? ***सुहपयडीणं-*** साता वेदनीय आदि शुभ प्रकृतियों की शक्ति इस रूप होती है । वह किस कारण इस रूप होती है ? ***विसोही-*** तीव्रधर्मानुरागरूप विशुद्धि द्वारा सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृतियों की,परम अमृत समान फलदान शक्ति होती है । ***असुहाण संकिलेसम्मि-*** असाता वेदनीय आदि अशुभ प्रकृतियों का मिथ्यात्वादिरूप तीव्र संक्लेश होने पर तीव्र हालाहल विष के समान अनुभाग होता है । ***विवरीदो दु जहण्णो-*** उससे विपरीत जघन्य अनुभाग बन्ध गुड़ और नीम रूप होता है । जघन्य विशुद्धि और जघन्य संक्लेश से तथा मध्यम विशुद्धि और मध्यम संक्लेश से क्रमशः शुभ-अशुभ प्रकृतियों का खण्ड (खांड) और शक्कर रूप तथा कांजीर और विषरूप (अनुभाग) होता है । इस-प्रकार का जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टरूप अनुभाग किनका होता है ? ***सव्वपयडीणं-*** मूल-उत्तर प्रकृतियों से रहित,निज परमानन्द एक स्वभाव लक्षण, सभी प्रकार से उपादेयभूत परमात्म-द्रव्य से भिन्न,हेयभूत मूल-उत्तर प्रकृतियों का जघन्यादि रूप अनुभाग है । इसप्रकार कर्मों की शक्तियों का स्वरूप जानना चाहिये ॥ २०० ॥*

---

* 'विवरीदो दु' के 'स्थान पर 'विवरीदेण' रूप से मात्र भिन्नता परक एक गाथा *'गोम्मटसार कर्मकाण्ड'* में १६३वीं गाथा के रूप में ग्रथित है ।

अथ यथा द्रव्यकर्माणि निश्चयेन स्वयमेवोत्पद्यन्ते तथा ज्ञानावरणादिविचित्रभेदरूपेणापि स्वयमेव परिणमन्तीति कथयति –

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्हि असुहम्हि रागदोसजुदो ।(१८७)
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं ॥ १९९ ॥

परिणमदि जदा अप्पा परिणमति यदात्मा। समस्तशुभाशुभपरद्रव्यविषये परमोपेक्षालक्षणं शुद्धोपयोगपरिणामं मुक्त्वा यदायमात्मा परिणमति । क्व । *सुहम्हि असुहम्हि* शुभेऽशुभे वा परिणामे । कथंभूतः सन् । *रागदोसजुदो* रागद्वेषयुक्तः परिणत इत्यर्थः । *तं पविसदि कम्मरयं* तदा काले तत्प्रसिद्धं कर्मरजः प्रविशति। कैः कृत्वा । *णाणावरणादिभावेहिं* भूमेर्मेघजलसंयोगे सति यथाऽन्ये पुद्गलाः स्वयमेव हरितपल्लवादिभावैः परिणमन्ति तथा स्वयमेव नानाभेदपरिणतैर्मूलोत्तरप्रकृतिरूपज्ञानावरणादिभावैः पर्यायैरिति ।

ततो ज्ञायते यथा ज्ञानावरणादिकर्मणामुत्पत्तिः स्वयंकृता तथा मूलोत्तरप्रकृतिरूपवैचित्र्यमपि, न च जीवकृतमिति ॥ १९९ ॥

अब, जैसे द्रव्यकर्म निश्चय से स्वयं ही उत्पन्न होते हैं, उसीप्रकार ज्ञानावरणादि विविध भेदरूप से स्वयं ही परिणमित होते हैं, ऐसा कहते हैं—

जब जीव राग व द्वेष युत शुभ अशुभ से परिणमे तब ।
ज्ञानावरण इत्यादि रूपों से प्रविष्ट हो कर्मरज ॥ १९९ ॥

गाथार्थ- जब आत्मा राग-द्वेष सहित होता हुआ, शुभ-अशुभ में परिणमित होता है, तब कर्मरज ज्ञानावरणादिरूप से उसमें प्रवेश करती है ।

टीकार्थ- ***परिणमदि जदा अप्पा-*** जब आत्मा परिणमित होता है । सम्पूर्ण शुभ-अशुभ पर द्रव्यों के विषयों में परम उपेक्षा लक्षण शुद्धोपयोगरूप परिणाम को छोड़कर, जब यह आत्मा परिणमित होता है । यह आत्मा किसमें परिणमित होता है ? ***सुहम्मि असुहम्हि-*** शुभ अथवा अशुभ परिणाम में परिणमित होता है । कैसा होता हुआ उनमें परिणमित होता है ? ***रागदोसजुदो-*** राग-द्वेष से सहित अर्थात् राग-द्वेषरूप परिणत होता हुआ, उनमें परिणमित होता है— ऐसा अर्थ है । ***तं पविसदि कम्मरयं-*** तब उस समय वह प्रसिद्ध कर्मरज, प्रवेश करती है । वह किसरूप में प्रवेश करती है ? ***णाणावरणादिभावेहिं-*** जैसे भूमि से बादलों के जल का संयोग होने पर, अन्य पुद्गल स्वयं ही हरे पत्ते आदि भावों से परिणमित होते हैं; उसीप्रकार स्वयं ही मूल-उत्तर प्रकृति रूप अनेक भेद परिणत ज्ञानावरणादि भावों—पर्यायों रूप से प्रवेश करती है ।

इससे ज्ञात होता है कि जैसे ज्ञानावरणादि कर्मों की उत्पत्ति स्वयंकृत है (कार्मण-वर्गणाओं का स्वयं ज्ञानावरणादिरूप परिणमन हुआ है); उसीप्रकार मूल-उत्तर प्रकृतिरूप विचित्रता भी स्वयंकृत है; जीव द्वारा की गई नहीं है ॥ १९९ ॥

अथ पूर्वोक्तज्ञानावरणादिप्रकृतीनां जघन्योत्कृष्टानुभागस्वरूपं प्रतिपादयति –

सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसम्मि।
विवरीदो दु जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं॥ २००॥

अणुभागो अनुभागः फलदानशक्तिविशेषः भवतीति क्रियाध्याहारः। कथम्भूतो भवति। *तिव्वो* तीव्रः प्रकृष्टः परमामृतसमानः। कासां सम्बन्धी। *सुहपयडीणं* सद्वेद्यादिशुभप्रकृतीनाम्। कया कारणभूतया। *विसोही* तीव्रधर्मानुरागरूपविशुद्ध्या। *असुहाण संकिलेसम्मि* असद्वेद्याद्यशुभप्रकृतीनां तु मिथ्यात्वादिरूपतीव्रसंक्लेशे सति तीव्रो हालाहलविषसदृशो भवति। *विवरीदो दु जहण्णो* विपरीतस्तु जघन्यो गुडनिम्बरूपो भवति। जघन्यविशुद्ध्या जघन्यसंक्लेशेन च मध्यमविशुद्ध्या मध्यमसंक्लेशेन तु शुभाशुभप्रकृतीनां खण्डशर्करारूपः कांजीरविषरूपश्चेति। एवंविधो जघन्यमध्यमोत्कृष्टरूपोऽनुभागः कासां सम्बन्धी भवति। *सव्वपयडीणं* मूलोत्तरप्रकृतिरहितनिजपरमानन्दैकस्वभावलक्षणसर्वप्रकारोपादेयभूतपरमात्मद्रव्याद्भिन्नानां हेयभूतानां सर्व-मूलोत्तरकर्मप्रकृतीनामिति कर्मशक्तिस्वरूपं ज्ञातव्यम्॥ २००॥

अब, पहले (१९९वीं गाथा में) कही गई प्रकृतियों के,जघन्य अनुभाग और उत्कृष्ट अनुभाग का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं —

हो विशुद्धि में प्रकृति शुभ वा अशुभ का संक्लेश में।
हो तीव्र,इन सबका जघन अनुभाग हो विपरीत में॥ २००॥

गाथार्थ- तीव्र—अधिक विशुद्धि में शुभ-प्रकृतियों का उत्कृष्ट—तीव्र अनुभाग बन्ध और तीव्र संक्लेशता में अशुभ-प्रकृतियों का उत्कृष्ट—तीव्र अनुभाग बन्ध होता है तथा इससे विपरीत परिणामों से सभी प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बन्ध होता है।

टीकार्थ- ***अणुभागो-*** अनुभाग—फल देने सम्बन्धी शक्ति विशेष होती है—ऐसा क्रिया का अध्याहार—ग्रहण किया गया है। वह शक्ति विशेष कैसी होती है ? ***तिव्वो-*** यह तीव्र प्रकृष्ट—परम अमृत समान होती है। इस रूप वह किनकी होती है ? ***सुहपयडीणं-*** साता वेदनीय आदि शुभ प्रकृतियों की शक्ति इस रूप होती है। वह किस कारण इस रूप होती है ? ***विसोही-*** तीव्रधर्मानुरागरूप विशुद्धि द्वारा सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृतियों की,परम अमृत समान फलदान शक्ति होती है। ***असुहाण संकिलेसम्मि-*** असाता वेदनीय आदि अशुभ प्रकृतियों का मिथ्यात्वादिरूप तीव्र संक्लेश होने पर तीव्र हालाहल विष के समान अनुभाग होता है। ***विवरीदो दु जहण्णो-*** उससे विपरीत जघन्य अनुभाग बन्ध गुड़ और नीम रूप होता है। जघन्य विशुद्धि और जघन्य संक्लेश से तथा मध्यम विशुद्धि और मध्यम संक्लेश से क्रमशः शुभ-अशुभ प्रकृतियों का खण्ड (खांड) और शक्कर रूप तथा कांजीर और विषरूप (अनुभाग) होता है। इस-प्रकार का जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टरूप अनुभाग किनका होता है ? ***सव्वपयडीणं-*** मूल-उत्तर प्रकृतियों से रहित,निज परमानन्द एक स्वभाव लक्षण, सभी प्रकार से उपादेयभूत परमात्म-द्रव्य से भिन्न,हेयभूत मूल-उत्तर प्रकृतियों का जघन्यादि रूप अनुभाग है। इसप्रकार कर्मों की शक्तियों का स्वरूप जानना चाहिये॥ २००॥*

---

* 'विवरीदो दु' के'स्थान पर 'विवरीदेण' रूप से मात्र भिन्नता परक एक गाथा *'गोम्मटसार कर्मकाण्ड'* में १६३वीं गाथा के रूप में ग्रथित है।

अथाभेदनयेन बन्धकारणभूतरागादिपरिणतात्मैव बन्धो भण्यत इत्यावेदयति-

सपदेसो सो अप्पा कसायिदो मोहरागदोसेहिं ।(१८८)

कम्मरएहिं सिलिट्ठो बंधो त्ति परूविदो समये ॥ २०१ ॥

सपदेसो लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशत्वात्सप्रदेशस्तावद्भवति *सो अप्पा* स पूर्वोक्तलक्षण आत्मा। पुनरपि किंविशिष्टः । *कसायिदो* कषायितः परिणतो रंजितः । कैः । *मोहरागदोसेहिं* निर्मोहस्वशुद्धात्मतत्त्व-भावनाप्रतिबन्धिभिर्मोहरागद्वेषैः । पुनश्च किंरूपः । *कम्मरजेहिं सिलिट्ठो* कर्मरजोभिः श्लिष्टः कर्मवर्गणायोग्य-पुद्गलरजोभिः संश्लिष्टो बद्धः । *बंधो त्ति परूविदो* अभेदेनात्मैव बन्ध इति प्ररूपितः । क्व । *समये* परमागमे।

अत्रेदं भणितं भवति- यथा वस्त्रं लोध्रादिद्रव्यैः कषायितं रंजितं सन्मंजीष्ठादिरंगद्रव्येण रंजितं सदभेदेन रक्तमित्युच्यते तथा वस्त्रस्थानीय आत्मा लोध्रादिद्रव्यैस्थानीयमोहरागद्वेषैः कषायितो रंजितः परिणतो मंजीष्ठ-स्थानीयकर्मपुद्गलैः संश्लिष्टः संबद्धः सन् भेदेऽप्यभेदोपचारलक्षणेनासद्भूतव्यवहारेण बन्ध इत्यभिधीयते। कस्मात् । अशुद्धद्रव्यनिरूपणार्थविषयत्वादसद्भूतव्यवहारनयस्येति ॥ २०१ ॥

अब, अभेदनय से, बन्ध के कारणभूत रागादिरूप से परिणत आत्मा ही बन्ध कहलाता है, ऐसा मर्यादा पूर्वक ज्ञान कराते हैं—

वह सप्रदेशी जीव मोह रु राग द्वेष कषाय से।

हो कर्मरज से श्लिष्ट 'बन्ध' है निरूपित जिन शास्त्र में ॥ २०१ ॥

गाथार्थ- वह सप्रदेशी आत्मा, मोह-राग-द्वेष द्वारा कषायित होने से, कर्मरज से लिप्त होता हुआ, आगम में 'बन्ध' ऐसा कहा गया है ।

टीकार्थ- ***सपदेसो-*** लोकाकाश प्रमाण असख्यात प्रदेश होने से, प्रथम तो सप्रदेश हैं ***सो अप्पा-*** वह पहले (१९६वीं गाथा में) कहे गये लक्षण वाला आत्मा । और किस विशेषता वाला है ? ***कसायिदो-*** कषाय से परिणत—रंजित—रँगा हुआ है । वह किनके द्वारा कषाय से रँगा हुआ है ? ***मोहरागदोसेहिं-*** मोहरहित स्वशुद्धात्मतत्त्व की भावना के प्रतिबन्धक (रोकने वाले) मोह-राग-द्वेष द्वारा वह कषाय से रँगा हुआ है । वह और किस स्वरूप है ? ***कम्मरजेहिं सिलिट्ठो-*** कर्मरज द्वारा श्लिष्ट अर्थात् कर्मवर्गणा के योग्य पुद्गल रज द्वारा संश्लिष्ट—बँधा हुआ है । ***बंधो त्ति परूविदो-*** अभेदनय से आत्मा ही बंध है — ऐसा कहा गया है । अभेदनय से आत्मा ही बन्ध है — ऐसा कहाँ कहा गया है ? ***समये-*** परमागम में ऐसा कहा गया है ।

यहाँ यह कहा गया है कि जैसे — लोध्र (लोंध) आदि द्रव्यों द्वारा कषायला रूप से रँगा हुआ वस्त्र मंजीष्ठ (मंजीठा) रंग वाले द्रव्य से रंजित होता हुआ, अभेदनय से 'लाल' ऐसा कहा जाता है; उसीप्रकार वस्त्र स्थानीय आत्मा, लोध्र आदि द्रव्यों के स्थानीय मोह-राग-द्वेष द्वारा कषाय रूप से रँगा हुआ — उसरूप परिणत (आत्मा), मंजीष्ठ स्थानीय कर्म पुद्गलों के साथ संश्लिष्ट—सम्बद्ध—बँधा हुआ, भेद होने पर भी अभेदोपचार लक्षण असद्भूत व्यवहार से 'बन्ध' ऐसा कहा जाता है । वह 'बन्ध' क्यों कहा जाता है ? अशुद्ध द्रव्य के विशेष कथन के लिए असद्भूत व्यवहारनय का विषय होने से, वह बन्ध कहा जाता है ।

अथ निश्चयव्यवहारयोरविरोधं दर्शयति –

एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयेण णिद्दिट्ठो ।(१८९)

अरहंतेहिं जदीणं ववहारो अण्णहा भणिदो ॥ २०२ ॥

एसो बंधसमासो एष बन्धसमासः । एष बहुधा पूर्वोक्तप्रकारो रागादिपरिणतिरूपो बन्धसंक्षेपः । केषां संबंधी । *जीवाणं* जीवानाम् । *णिच्छयेण णिद्दिट्ठो* निश्चयनयेन निर्दिष्टः कथितः । कैः कर्तृभूतैः । *अरहंतेहिं* अर्हद्भिः निर्दोषिपरमात्मभिः । केषाम् । *जदीणं* जितेन्द्रियत्वेन शुद्धात्मस्वरूपे यत्नपराणां गणधरदेवादियतीनाम् । *ववहारो* द्रव्यकर्मरूपव्यवहारबन्धः *अण्णहा भणिदो* निश्चयनयापेक्षयान्यथा व्यवहारनयेनेति भणितः ।

किंच रागादीनेवात्मा करोति तानेव भुङ्क्ते चेति निश्चयनयलक्षणमिदम् । अयं तु निश्चयनयो द्रव्यकर्मबन्धप्रतिपादकासद्भूतव्यवहारनयापेक्षया शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको विवक्षितनिश्चयनयस्तथैवाशुद्धनिश्चयश्च भण्यते । द्रव्यकर्माण्यात्मा करोति भुङ्क्ते चेत्यशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकासद्भूतव्यवहार नयो भण्यते । इदं नयद्वयं तावदस्ति । किंत्वत्र निश्चयनय उपादेयः, न चासद्भूतव्यवहारः ।

विशेषार्थ- कषाय को ही बन्ध का नियामक कारण सिद्ध करते हुये 'आचार्य प्रभाचन्द्र' इस गाथा-टीका में लिखते हैं—

"तथा च आकाशादीनां कषायासम्भवात् पुद्गलकर्मसम्बन्धेऽपि न बन्ध इति[1]

और उसीप्रकार आकाशादि द्रव्यों के कषाय का असम्भव होने से,पुद्गल कर्म (कार्मण-वर्गणा) का सम्बन्ध होने पर भी बन्ध नहीं होता है ।" ॥ २०१ ॥

अब, निश्चय-व्यवहार का अविरोध दिखाते हैं —

यह बन्ध का संक्षेप जीवों के जिनेन्द्रों ने कहा।

यतियों से,निश्चय से तथा व्यवहार अन्य विधि कहा ॥ २०२ ॥

गाथार्थ- निश्चय से यह जीवों के बन्ध का संक्षेप,अरहन्तों द्वारा यतियों (आचार्य, उपाध्याय, साधुओं) के लिये कहा गया है, व्यवहार में अन्य प्रकार से कहा गया है ।

टीकार्थ- ***एसो बंधसमासो-*** यह बन्ध का संक्षेप है । यह पहले कहे हुये अनेक प्रकार की रागादि परिणति रूप बन्ध का संक्षेप है । यह रागादि परिणति रूप बन्ध का संक्षेप किनका है ? ***जीवाणं-*** यह जीवों के बन्ध का संक्षेप है । ***णिच्छयेण णिद्दिट्ठो-*** निश्चय नय से ऐसा कहा गया है । यह,कर्ताभूत किनके द्वारा कहा गया है ? ***अरहंतेहिं-*** अरहन्त निर्दोषीपरमात्मा द्वारा कहा गया है । उनके द्वारा, किनके लिये कहा गया है ? ***जदीणं-*** जितेन्द्रिय होने से शुद्धात्मस्वरूप में प्रयत्नशील गणधरदेव आदि यतियों (आचार्य, उपाध्याय, साधुओं) के लिये कहा गया है । ***ववहारो-*** द्रव्यकर्मरूप व्यवहार बन्ध ***अण्णहा भणिदो-*** निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार नय से अन्य प्रकार कहा गया है ।

दूसरी बात यह है कि आत्मा रागादि को ही करता है और उसे ही भोगता है— ऐसा यह निश्चयनय का लक्षण है । और यह निश्चयनय,द्रव्यकर्मबन्ध के प्रतिपादक असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा,शुद्धद्रव्य का निरूपण करने के स्वभाववाला विवक्षित निश्चयनय और उसीप्रकार अशुद्ध निश्चय कहलाता है । आत्मा,द्रव्यकर्म को करता है और भोगता है— ऐसे अशुद्ध द्रव्य का निरूपण करनेवाला असद्भूतव्यवहारनय कहलाता है । इस-प्रकार यह दो नय हैं । परन्तु यहाँ निश्चयनय उपादेय है, असद्भूत व्यवहारनय उपादेय नहीं है ।

१- प्रवचनसार, गाथा १९८, प्रवचनसार सरोजभास्कर टीका ।

ननु रागादीनात्मा करोति भुङ्क्ते चेत्येवंलक्षणो निश्चयनयो व्याख्यातः स कथमुपादेयो भवति। परिहारमाह- रागादीनेवात्मा करोति, न च द्रव्यकर्म, रागादय एव बन्धकारणमिति यदा जानाति जीवस्तदा रागद्वेषादिविकल्पजालत्यागेन रागादिविनाशार्थं निजशुद्धात्मानं भावयति। ततश्च रागादिविनाशो भवति। रागादिविनाशे चात्मा शुद्धो भवति। ततः परंपरया शुद्धात्मसाधकत्वादयमशुद्धनयोऽप्युपचारेण शुद्धनयो भण्यते, निश्चयनयो भण्यते, तथैवोपादेयो भण्यते इत्यभिप्रायः ॥ २०२ ॥

एवमात्मा स्वपरिणामानामेव कर्ता, न च द्रव्यकर्मणामिति कथनमुख्यतया गाथासप्तकेन षष्ठस्थलं गतम्।

इति *'अरसमरूवं'* इत्यादिगाथात्रयेण पूर्वं शुद्धात्मव्याख्याने कृते सति शिष्येण यदुक्तममूर्तस्यात्मनो मूर्तकर्मणा सह कथं बन्धो भवतीति तत्परिहारार्थं नयविभागेन बन्धसमर्थनमुख्यतयैकोनविंशतिगाथाभिः स्थलषट्केन तृतीयविशेषान्तराधिकारः समाप्तः।

अतः परं द्वादशगाथापर्यन्तं चतुर्भिः स्थलैः शुद्धात्मानुभूतिलक्षणाविशेषभेदभावनारूपचूलिकाव्याख्यानं करोति। तत्र शुद्धात्मभावनाप्रधानत्वेन *'ण चयदि जो दु ममत्ति'* इत्यादिपाठक्रमेण प्रथमस्थले गाथा चतुष्टयम्। तदनन्तरं शुद्धात्मोपलम्भभावनाफलेन दर्शनमोहग्रन्थिविनाशस्तथैव चारित्रमोहग्रन्थिविनाशः क्रमेण तदुभयविनाशो भवतीति कथनमुख्यत्वेन *'जो एवं जाणित्ता'* इत्यादि द्वितीयस्थले गाथात्रयम्। ततः परं केवलिध्यानोप-

---

यहाँ प्रश्न है कि रागादि को आत्मा करता है और भोगता है— ऐसे लक्षण वाला निश्चय नय कहा; वह उपादेय कैसे है ? इसका उत्तर कहते हैं— रागादि को ही आत्मा करता है और द्रव्य कर्म को नहीं करता है, रागादि ही बन्ध के कारण हैं— ऐसा जब जीव जानता है, तब राग-द्वेष आदि विकल्प-जाल को छोड़कर रागादि के विनाश के लिये निज शुद्धात्मा की भावना करता है। और उससे रागादि का विनाश होता है, और रागादि का विनाश होने पर आत्मा शुद्ध होता है। इसलिये परम्परा से शुद्धात्मा का साधक होने के कारण यह अशुद्धनय भी, उपचार से शुद्धनय कहलाता है, निश्चयनय कहलाता है, उसीप्रकार उपादेय कहलाता है— ऐसा अभिप्राय है ॥ २०२ ॥

इसप्रकार आत्मा अपने परिणामों का ही कर्ता है, द्रव्यकर्मों का नहीं है— इस कथन की मुख्यता से सात गाथाओं द्वारा छठवाँ स्थल पूर्ण हुआ।

इसप्रकार *"अरसमरूवं...."* इत्यादि तीन गाथाओं द्वारा शुद्धात्मा का व्याख्यान किये जाने पर, अमूर्त आत्मा का मूर्त कर्मों के साथ बन्ध कैसे होता है— ऐसा जो शिष्य द्वारा कहा गया था, उसके परिहार के लिये नय विभाग द्वारा बन्ध समर्थन की मुख्यता से १९ गाथाओं द्वारा ६ स्थलों में तीसरा विशेषान्तराधिकार समाप्त हुआ।

अब, इससे आगे १२ गाथाओं तक चार स्थलों द्वारा शुद्धात्मानुभूति लक्षण अविशेष भेदभावना रूप चूलिका का व्याख्यान करते हैं। वहाँ शुद्धात्मभावना की प्रधानता होने से *'ण चयदि जो दु ममत्तिं-'* इत्यादि पाठक्रम से पहले स्थल में चार गाथायें हैं। उसके बाद शुद्धात्मा की प्राप्तिरूप भावना के फल से दर्शनमोह रूपी ग्रन्थि (गाँठ) का विनाश तथा चारित्रमोहरूप ग्रन्थि का विनाश—क्रम से उन दोनों का विनाश होता है—इस कथन की मुख्यता से *"जो एवं जाणित्ता-"* इत्यादि दूसरे स्थल में तीन गाथायें हैं। तत्पश्चात् केवली के

चारकथनरूपेण *'णिहदघणघादिकम्मो'* इत्यादि तृतीयस्थले गाथाद्वयम्। तदनन्तरं दर्शनाधिकारोपसंहारप्रधानत्वेन *'एवं जिणा जिणिंदा'* इत्यादि चतुर्थस्थले गाथाद्वयम्। ततः परं *'दंसणसंसुद्धाणं'* इत्यादि नमस्कारगाथा चेति द्वादशगाथाभिश्चतुर्थस्थले विशेषान्तराधिकारे समुदायपातनिका।

अथाशुद्धनयादशुद्धात्मलाभ एव भवतीत्युपदिशति –

ण चयदि जो दु ममत्तिं अहं ममेदं ति देहदविणेसु।(१९०)

सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होदि उम्मग्गं॥ २०३॥

ध्यान का उपचार कथन रूप से ***"णिहदघणघादिकम्मो-"*** इत्यादि तीसरे स्थल में दो गाथायें हैं। तदनन्तर दर्शनाधिकार के उपसंहार की प्रधानता से ***'एवं जिणा जिणिंदा-'*** इत्यादि चौथे स्थल में दो गाथायें हैं। और तदुपरान्त ***'दंसणसंसुद्धाणं-'*** इत्यादि एक नमस्कार गाथा है; इसप्रकार बारह गाथाओं द्वारा चार स्थलरूप विशेषान्तराधिकार में सामूहिक पातनिका पूर्ण हुई।

चतुर्थ विशेषान्तराधिकार-स्थल विभाजन (गाथा २०३ से २१४ पर्यन्त)

स्थल क्रम	प्रतिपादित प्रधान विषय	कहाँ से कहाँ पर्यन्त गाथायें	कुल गाथायें
प्रथम स्थल	शुद्धात्मभावना की प्रधानता	२०३ से २०६	४
द्वितीय स्थल	शुद्धात्मोपलब्धि फल कथन	२०७ से २०९	३
तृतीय स्थल	केवली भगवान के ध्यान उपचार से	२१० व २११	२
चतुर्थ स्थल	दर्शनाधिकार के उपसंहार की प्रधानता	२१२ व २१३	२
	नमस्कार गाथा	२१४	१
कुल ४ स्थल		कुल १२ गाथायें	

(अब, अंतिम चौथे विशेषान्तराधिकार का शुद्धात्मभावना की प्रधानता परक चार गाथाओं में निबद्ध पहला स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, अशुद्धनय से अशुद्धात्मा की ही प्राप्ति होती है, ऐसा उपदेश देते हैं —

छोड़े न ममता देह धन में मैं हूँ ये ये मेरे हैं।

वह छोड़कर श्रामण्य को उन्मार्ग को ही प्राप्त है॥ २०३॥

गाथार्थ- जो शरीर-धनादिक में 'मैं यह हूँ और यह मेरा है', ऐसी ममता को नहीं छोड़ता है, वह श्रमणता को छोड़कर, उन्मार्ग का आश्रय लेता है।

ण चयदि जो दु ममत्तिं न त्यजति यस्तु ममतां । ममकाराहंकारादिसमस्तविभावरहितसकलविमलकेवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वरूपनिजात्मपदार्थनिश्चलानुभूतिलक्षणनिश्चयनयरहितत्वेन व्यवहारमोहितहृदयः सन् ममतां ममत्वभावं न त्यजति यः । केन रूपेण । *अहं ममेदं ति* अहं ममेदमिति । केषु विषयेषु । *देहदविणेसु* देहद्रव्येषु, देहे देहोऽहमिति, परद्रव्येषु ममेदमिति । *सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होदि उम्मग्गं* स श्रामण्यं त्यक्त्वा प्रतिपन्नो भवत्युन्मार्गम् । स पुरुषो जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखशत्रुमित्रनिन्दाप्रशंसादिपरममाध्यस्थलक्षणं श्रामण्यं यतित्वं चारित्रं दूरादपहाय तत्प्रतिपक्षभूतमुन्मार्गं मिथ्यामार्गं प्रतिपन्नो भवति । उन्मार्गाच्च संसारं परिभ्रमति ।

ततः स्थितं अशुद्धनयादशुद्धात्मलाभ एव ॥ २०३ ॥

अथ शुद्धनयाच्छुद्धात्मलाभो भवतीति निश्चिनोति–

णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेक्को । (१९१)
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा ॥ २०४ ॥

टीकार्थ- *ण चयदि जो दु ममत्तिं-* जो ममता को नहीं छोड़ता है । ममकार-अहंकार आदि सम्पूर्ण विभावों से रहित,परिपूर्ण निर्मल केवलज्ञान आदि अनन्त गुण स्वरूप अपने आत्मपदार्थ की निश्चल अनुभूति लक्षण निश्चयनय से रहित होने के कारण,व्यवहार से हृदय को मोहित करता हुआ जो ममता– ममत्वभाव (आसक्ति भाव) को नहीं छोड़ता है । किस रूपवाले– कैसे ममत्व भाव को नहीं छोड़ता है– किन विषयों में ऐसे ममत्व भाव को नहीं छोड़ता है ? *देहदविणेसु-* देह द्रव्यों में, शरीर में– शरीर मैं हूँ– इसप्रकार से और पर द्रव्यों में– ये मेरे हैं– इसप्रकार से,शरीर और पर द्रव्यों में ममत्व को नहीं छोड़ता है । ***सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होदि उम्मग्गं-*** वह श्रामण्य को छोड़कर उन्मार्ग को प्राप्त होता है । वह पुरुष जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, निंदा-प्रशंसा आदि में परम मध्यस्थता– समताभाव लक्षण श्रामण्य– यतित्व– मुनिपना–चारित्र को दूर से (ही) छोड़कर, उससे विपरीत उन्मार्ग को – मिथ्यामार्ग – उल्टे मार्ग को प्राप्त होता है । और उन्मार्ग से संसार में घूमता है ।

इससे निश्चित हुआ कि अशुद्ध नय से अशुद्धात्मा की ही प्राप्ति होती है ॥ २०३ ॥

अब, शुद्धनय से शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है, ऐसा निश्चित करते हैं–

मैं नहीं पर का पर न मेरा एक ज्ञान स्वरूप मैं ।
ऐसा जो ध्याता ध्यान में वह आत्मा को प्राप्त है ॥ २०४ ॥

गाथार्थ- मैं पर का नहीं हूँ, पर मेरे नहीं हैं, मैं एक ज्ञान हूँ– इसप्रकार जो ध्यान करता है, वह ध्यान में, आत्मा का ध्याता होता है ।

णाहं होमि परेसिं, ण मे परे संति नाहं भवामि परेषाम्, न मे परे सन्तीति समस्तचेतनाचेतनपरद्रव्येषु स्वस्वामिसम्बन्धं मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च स्वात्मानुभूतिलक्षणनिश्चयनयबलेन पूर्वमपहाय निराकृत्य। पश्चात् किं करोति। *णाणमहमेक्को* ज्ञानमहमेकः, सकलविमलकेवलज्ञानमेवाहं भावकर्मद्रव्य-कर्मनोकर्मरहितत्वेनैकश्च। *इदि जो झायदि* इत्यनेन प्रकारेण योऽसौ ध्यायति चिन्तयति भावयति। क्व। *झाणे* निजशुद्धात्मध्याने स्थितः *सो अप्पाणं हवदि झादा* स आत्मानं भवति ध्याता। स चिदानन्दैकस्वभावपरमात्मानं ध्याता भवतीति। ततश्च परमात्मध्यानात्तादृशमेव परमात्मानं लभते। तदपि कस्मात्। उपादानकारणसदृशं कार्यमिति वचनात्।

ततो ज्ञायते शुद्धनयाच्छुद्धात्मलाभ इति॥ २०४॥

अथ ध्रुवत्वाच्छुद्धात्मानमेव भावयेऽहमिति विचारयति–

एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं।(१९२)
धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं॥ २०५॥

टीकार्थ- ***णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति-*** मैं पर का नहीं हूँ, और पर मेरा नहीं है — इसप्रकार सम्पूर्ण चेतन-अचेतन पर द्रव्यों में, मन-वचन-शरीर और कृत-कारित-अनुमोदना द्वारा अपने आत्मा की अनुभूति लक्षण निश्चयनय के बल से, पहले स्वस्वामी सम्बन्ध (ममत्वपरिणाम) को छोड़कर — उसका निराकरण कर। पहले स्वस्वामी सम्बन्ध छोड़कर, बाद में क्या करता है ? ***णाणमहमेक्को-*** मैं एक ज्ञान हूँ, परिपूर्ण निर्मल केवलज्ञान ही मैं हूँ और भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म से रहित होने के कारण मैं एक हूँ। ***इदि जो झायदि-*** इसप्रकार से जो वह ध्यान करता है, चिन्तन करता है, भावना करता है। ऐसा ध्यान आदि वह कहाँ करता है ? ***झाणे-*** ऐसा वह, निज शुद्धात्मा के ध्यान में करता है, निज शुद्धात्मा के ध्यान में स्थित ***सो अप्पाणं हवदि झादा-*** वह, आत्मा का ध्याता होता है। वह, ज्ञानानन्द एक स्वभावी परमात्मा का ध्यान करने वाला होता है। और इसलिये परमात्मा के ध्यान से, उसके ही समान परमात्मदशा को प्राप्त करता है। उसके ध्यान से, वह वैसी दशा को क्यों प्राप्त करता है ? "उपादान कारण के समान कार्य होता है"– ऐसा वचन होने से — वह, उसके ध्यान से, वैसी दशा को प्राप्त करता है।

इससे ज्ञात होता है कि शुद्धनय से शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है॥ २०४॥ *

अब, ध्रुवरूप होने से मैं शुद्धात्मा की ही भावना करता हूँ, ऐसा विचार करते हैं—

इस तरह मैं आत्मा को ज्ञान दर्शनमय अचल।
हूँ मानता ध्रुव शुद्ध, आलंबन न, इन्द्रिय बिन, महत॥ २०५॥

गाथार्थ– मैं इसप्रकार आत्मा को ज्ञानात्मक, दर्शनभूत, अतीन्द्रिय, महार्थ, ध्रुव, अचल, अनालम्ब और शुद्ध मानता हूँ।

---

* प्रस्तुत २०३ एवं २०४ वीं गाथा का भाव 'आचार्य कुन्दकुन्ददेव' ने 'समयसार' गाथा १८६ में समाहित किया है।

'मण्णे' इत्यादिपदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते– *मण्णे* मन्ये ध्यायामि सर्वप्रकारोपादेयत्वेन भावये। स कः। *अहं* अहं कर्ता। कं कर्मतापन्नम्। *अप्पगं* सहजपरमाह्लादैकलक्षणनिजात्मानम्। किंविशिष्टम्। *सुद्धं* रागादिसमस्तविभावरहितम्। पुनरपि किंविशिष्टम्। *धुवं* टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वेन ध्रुवमविनश्वरम्। पुनरपि कथंभूतम्। *एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं* एवं बहुविधपूर्वोक्तप्रकारेणाखण्डैकज्ञानदर्शनात्मकम्। पुनश्च किंरूपम्। *अदिंदियं* अतीन्द्रियं, मूर्तविनश्वरानेकेन्द्रियरहितत्वेनामूर्ताविनश्वरैकातीन्द्रियस्वभावम्। पुनश्च कीदृशम्। *महत्थं* मोक्षलक्षणमहापुरुषार्थसाधकत्वान्महार्थम्। पुनरपि किंस्वभावम्। *अचलं* अतिचपलचंचल-मनोवाक्कायव्यापाररहितत्वेन स्वस्वरूपे निश्चलं स्थिरम्। पुनरपि किंविशिष्टम्। *अणालंबं* स्वाधीनद्रव्यत्वेन सालम्बनं भरितावस्थमपि समस्तपराधीनपरद्रव्यालम्बनरहितत्वेन निरालम्बनमित्यर्थः॥ २०५॥

टीकार्थ– *'मण्णे'*–इत्यादि पदखण्डनारूप से व्याख्यान करते हैं– *मण्णे*–मानता हूँ, ध्याता हूँ, सभी प्रकार से उपादेयरूप से भावना करता हूँ। ऐसा करनेवाला वह कौन है ? *अहं*– कर्तारूप मैं ऐसा करता हूँ। कर्मता को प्राप्त किसे मानता हूँ ? *अप्पगं*– सहज परमाह्लाद एक लक्षण निजात्मा को मानता हूँ। वह आत्मा किस विशेषतावाला है ? *सुद्धं*– रागादि सम्पूर्ण विभावों से रहित शुद्ध है। वह और किस विशेषतावाला है ? *धुवं*– टाँकी से उकेरे हुये के समान ज्ञायक एक स्वभावरूप होने से ध्रुव–अविनश्वर है। और भी वह कैसा है ? *एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं*– इसप्रकार पहले कहे हुये अनेक प्रकार से अखण्ड एक ज्ञान दर्शन स्वरूप है। और किस स्वरूप वाला है ? *अदिंदियं*– अतीन्द्रिय है; मूर्त, विनश्वर, अनेक इन्द्रियों से रहित होने के कारण अमूर्त, अविनश्वर, एक अतीन्द्रिय स्वभाव वाला है। और कैसा है ? *महत्थं*- मोक्ष लक्षण (नामक) महापुरुषार्थ का साधक होने से महार्थ है। और भी किस स्वभाववाला है ? *अचलं*– अतिचपल–चंचल मन-वचन-काय के व्यापार से रहित होने के कारण, स्वस्वरूप में निश्चल-स्थिर है। और भी किस विशेषता वाला है ? *अणालंबं*– स्वाधीन द्रव्यरूप होने से आलम्बन सहित भरित-अवस्थ रूप होने पर भी, सम्पूर्ण पराधीन– परद्रव्यों के आलम्बन से रहित होने के कारण, निरालम्बन स्वरूप है– ऐसा अर्थ है।

भावार्थ– मैं सहज परमाह्लाद एक स्वभावी स्वआत्मा को मानता हूँ, ध्याता हूँ, और सभी प्रकार से उपादेयरूप उसी की भावना करता हूँ। यह स्व-आत्मा रागादि सम्पूर्ण विभावों से रहित शुद्ध है; टाँकी से उकेरे हुये के समान ज्ञायक एक स्वभावी होने से ध्रुव-अविनाशी है; पहले अनेक प्रकार से स्पष्ट किये गये अखण्ड एक ज्ञान-दर्शन स्वभावी है; मूर्त, नाशशील, सभी इन्द्रियों से रहित होने के कारण अमूर्त, अविनाशी, एक अतीन्द्रिय स्वभावी है; मोक्षरूप महान पुरुषार्थ का साधक होने से महार्थ है; अति चंचल मन-वचन-काय सम्बन्धी व्यापार से रहित होने के कारण स्वस्वरूप में निश्चल-स्थिर है तथा स्वाधीन द्रव्यरूप होने से आलम्बन सहित भरित-अवस्थ (भरा हुआ) होने पर भी सम्पूर्ण पराधीनता रहित–परद्रव्यों के आलम्बन से रहित होने के कारण निरालम्बन स्वभावी है।

अथात्मनः पृथग्भूतं देहादिकमध्रुवत्वान्न भावनीयमित्याख्याति–

देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तजणा ।(१९३)
जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा ॥ २०६ ॥

ण संति धुवा ध्रुवा अविनश्वरा नित्या न सन्ति । कस्य । *जीवस्स* जीवस्य । के ते । *देहा वा दविणा वा* देहा वा द्रव्याणि वा, सर्वप्रकारशुचिभूताद्देहरहितात्परमात्मनो विलक्षणा औदारिकादिपंचदेहास्तथैव च पंचेन्द्रियभोगोपभोगसाधकानि परद्रव्याणि च । न केवलं देहादयो ध्रुवा न भवन्ति, *सुहदुक्खा वा* निर्विकारपरमानन्दैकलक्षणस्वात्मोत्थसुखामृतविलक्षणानि सांसारिकसुखदुःखानि वा । *अध* अहो भव्याः *सत्तुमित्तजणा* शत्रुमित्रादिभावरहितादात्मनो भिन्नाः शुत्रमित्रादिजनाश्च । यद्येतत् सर्वमध्रुवं तर्हि किं ध्रुवमिति चेत् । *धुवो* ध्रुवः शाश्वतः । स कः । *अप्पा* निजात्मा । किंविशिष्टः । *उवओगप्पगो* त्रैलोक्योदरविवरवर्तित्रिकालविषयसमस्तद्रव्यगुणपर्याययुगपत्परिच्छित्तिसमर्थकेवलज्ञानदर्शनोपयोगात्मक इति ।

इन विशेषणों से विशिष्ट सहज परमाह्लाद एक स्वभावी स्व-आत्मा को ही, मैं स्वीकार करता हूँ, उसी का ध्यान करता हूँ, उसी की भावना करता हूँ ॥ २०५ ॥

अब, आत्मा से पृथग्भूत (भिन्न) शरीर आदि, अध्रुव होने से भावना करने योग्य नहीं हैं, ऐसा प्रसिद्ध करते हैं—

तन-धन व सुख-दुख मित्र-अरिजन जीव के ये ध्रुव नहीं ।
इस जीव को ध्रुव एक है उपयोगमय निज जीव ही ॥ २०६ ॥

गाथार्थ– शरीर, धन, सुख-दुःख, शत्रु-मित्रजन (ये कोई भी) जीव के (लिये) ध्रुव नहीं हैं ; उपयोग स्वरूप आत्मा ही, उसके लिये ध्रुव है ।

टीकार्थ– ***ण संति धुवा***– ध्रुव–अविनश्वर–नित्य नहीं हैं । किसके ध्रुव नहीं हैं ? ***जीवस्स***– जीव के ध्रुव नहीं हैं । वे कौन ध्रुव नहीं हैं ? ***देहा वा दविणा वा***– शरीर अथवा द्रव्य आदि ; सभी प्रकार से शुचिभूत—पवित्र, शरीर रहित परमात्मा से विलक्षण, औदारिक आदि पाँच शरीर और उसीप्रकार पंचेन्द्रिय भोगोपभोग के साधक पर द्रव्य ध्रुव नहीं है । शरीर आदि ही मात्र ध्रुव नहीं हैं—ऐसा नहीं है, वरन् ***सुहदुक्खा वा***– विकार रहित परमानन्द एक लक्षण निजात्मा से उत्पन्न सुखरूपी अमृत से विलक्षण, सांसारिक सुख-दुःख भी ध्रुव नहीं हैं । ***अध***– अहो । हे भव्यो ! ***सत्तुमित्तजणा***– शत्रु-मित्र आदि भाव से रहित आत्मा से भिन्न शत्रु और मित्र आदि जन भी ध्रुव नहीं हैं । यदि ये सब अध्रुव हैं, तो ध्रुव क्या है ? यदि ऐसा प्रश्न हो तो उत्तर कहते हैं— ***धुवो***- ध्रुव-शाश्वत है । वह कौन ध्रुव है ? ***अप्पा***– अपना आत्मा ध्रुव है । वह अपना आत्मा किस विशेषतावाला है ? ***उवओगप्पगो***– तीन लोक रूप उदर (पेट) के विवर (छिद्र) में स्थित सम्पूर्ण द्रव्य-गुण-पर्यायरूप तीन काल के विषयों को एक साथ जानने में समर्थ केवलज्ञान और केवलदर्शन उपयोग स्वरूप है ।

एवमध्रुवत्वं ज्ञात्वा ध्रुवस्वभावे स्वात्मनि भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥ २०६ ॥

एवमशुद्धनयादशुद्धात्मलाभो भवतीति कथनेन प्रथमगाथा। शुद्धनयाच्छुद्धात्मलाभो भवतीति कथनेन द्वितीया। ध्रुवत्वादात्मैव भावनीय इति प्रतिपादनेन तृतीया। आत्मनोऽन्यदध्रुवं न भावनीयमिति कथनेन चतुर्थी चेति शुद्धात्मव्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथाचतुष्टयं गतम्।

अथैवं पूर्वोक्तप्रकारेण शुद्धात्मोपलम्भे सति किं फलं भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तरमाह-

जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा।(१९४)

सागारोऽणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठिं ॥ २०७ ॥

झादि ध्यायति *जो* यः कर्ता। कम्। *अप्पगं* निजात्मानम्। कथंभूतम्। *परं* परमानन्तज्ञानादिगुणाधारत्वात्परमुत्कृष्टम्। किं कृत्वा पूर्वम्। *एवं जाणित्ता* एवं पूर्वोक्तप्रकारेण स्वात्मोपलम्भलक्षणस्वसंवेदनज्ञानेन

इसप्रकार शरीर आदि सभी की अध्रुवता—अनित्यता जानकर,ध्रुव स्वभावी स्वात्मा की भावना करना चाहिये— ऐसा तात्पर्य है ॥ २०६ ॥ *

इसप्रकार अशुद्धनय से अशुद्धात्मा की प्राप्ति होती है— इस कथन रूप से पहली गाथा, शुद्ध नय से शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है— इस कथनरूप से दूसरी गाथा, ध्रुवता-नित्यता के कारण,आत्मा ही भावना करने योग्य है— इस कथन रूप से तीसरी गाथा और आत्मा से भिन्न अध्रुव (संयोगादि),भावना करने योग्य नहीं हैं— इस कथन रूप से चौथी— इसप्रकार शुद्धात्मा के विशेष कथन की मुख्यता से,पहले स्थल में चार गाथायें पूर्ण हुईं।

(अब, शुद्धात्मोपलब्धि के फल-कथनरूप से तीन गाथाओं में निबद्ध दूसरा स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, इसप्रकार पहले (गाथा २०३ से २०६ पर्यन्त) कही गई पद्धति से,शुद्धात्मा की प्राति होने पर,क्या फल होता है ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर कहते हैं—

यह जान जो शुद्धात्मा ध्यावे सदा परमात्म को।

सागार याअनगार वह क्षय करे मोह दुग्रन्थि को ॥ २०७ ॥

गाथार्थ– जो शुद्धात्मा ऐसा जानकर, परमात्मा (निज त्रिकाली शुद्धात्मा) का ध्यान करता है, वह सागार अथवा अनागार आत्मा,मोह-दुर्ग्रन्थि का क्षय करता है।

टीकार्थ– ***झादि***– ध्यान करता है ***जो***– कर्तारूप जो। किसका ध्यान करता है ? ***अप्पगं***- निजात्मा का ध्यान करता है। कैसे निजात्मा का ध्यान करता है ? ***परं***– परम,अनन्त ज्ञानादि गुणों का आधार होने से परम-उत्कृष्ट निजात्मा का ध्यान करता है। पहले क्या करके उसका ध्यान करता है ? ***एवं जाणित्ता***– इसप्रकार पहले (२०३ से २०६ गाथा पर्यन्त) कही गई पद्धतिरूप निजात्मा की प्राप्ति लक्षण स्वसंवेदन ज्ञान से,

---

* एतदर्थ 'समयसार' ३८वीं गाथा,'नियमसार' १०२वीं गाथा आदि भी मननीय हैं।

ज्ञात्वा। कथंभूतः सन् ध्यायति। *विसुद्धप्पा* ख्यातिपूजालाभादिसमस्तमनोरथजालरहितत्वेन विशुद्धात्मा सन्। पुनरपि कथंभूतः *सागारोऽणागारो* सागारोऽनागारः। अथवा साकारानाकारः। सहाकारेण विकल्पेन वर्तते साकारो ज्ञानोपयोगः, अनाकारो निर्विकल्पो दर्शनोपयोगस्ताभ्यां युक्तः साकारानाकारः। अथवा साकारः सविकल्पो गृहस्थः, अनाकारो निर्विकल्पस्तपोधनः। अथवा सहाकारेण लिंगेन चिह्नेन वर्तते साकारो यतिः, अनाकारश्चिह्नरहिदो गृहस्थः। *खवेदि सो मोहदुग्गंठिं* य एवंगुणविशिष्टः क्षपयति स मोहदुर्ग्रन्थिम्। मोह एव दुर्ग्रन्थिः मोहदुर्ग्रन्थिः शुद्धात्मरुचिप्रतिबन्धको दर्शनमोहस्तम्।

ततः स्थितमेतत्–आत्मोपलम्भस्य मोहग्रन्थिविनाश एव फलम्॥ २०७॥

अथ दर्शनमोहग्रन्थिभेदात्किं भवतीति प्रश्ने समाधानं ददाति–

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे।(१९५)
होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि॥ २०८॥

निजात्मा को जानकर, फिर उसका ध्यान करता है। वह कैसा होता हुआ उसका ध्यान करता है ? ***विसुद्धप्पा***– ख्याति, पूजा, लाभ आदि सम्पूर्ण इच्छा समूहों से रहित होने के कारण विशुद्धात्मा होता हुआ, उसका ध्यान करता है। और भी कैसा है ? ***सागारोऽणागारो***– सागार-अनागार है। अथवा साकार-अनाकार है। जो आकार अर्थात् विकल्प के साथ वर्तता है वह साकार—आकार सहित ज्ञानोपयोग है, अनाकार–विकल्प रहित दर्शनोपयोग— उन दोनों से सहित साकार-अनाकार है। अथवा साकार अर्थात् सविकल्प गृहस्थ, अनाकार अर्थात् निर्विकल्प मुनिराज। अथवा साकार अर्थात् लिंग—चिह्नरूप से जो वर्तते हैं, वे आकार सहित— साकार यति–मुनि हैं और अनाकार अर्थात् चिन्ह रहित गृहस्थ हैं। ***खवेदि सो मोहदुग्गंठिं***– जो इन गुणों से सहित है, वह मोहरूपी दुर्ग्रन्थि—बुरी गाँठ का क्षय करता है। मोह ही दुर्ग्रन्थि—मोह दुर्ग्रन्थि (इसप्रकार कर्मधारय समास किया) शुद्धात्मा की रुचि का प्रतिबन्धक (रोकने वाला) दर्शनमोह, उसे नष्ट करता है।

इससे यह निश्चित हुआ कि मोहरूपी ग्रन्थि का विनाश ही, आत्मोपलब्धि का फल है॥ २०७॥

अब, दर्शन-मोहरूपी ग्रन्थि के नाश से क्या होता है ? ऐसा प्रश्न होने पर समाधान देते हैं (करते हैं)–

हत मोह ग्रन्थि राग- द्वेष विनाश कर श्रामण्य में।
पाता वो अक्षय सौख्य को जो साम्यमय सुख दुःख में॥ २०८॥

गाथार्थ– मोह ग्रन्थि को नष्ट करनेवाला जो जीव, राग-द्वेष को नष्ट कर सुख-दुःख में समतावान होता हुआ श्रामण्य में परिणमित होता है, वह अक्षय-सौख्य को प्राप्त करता है।

जो णिहदमोहगंठी यः पूर्वसूत्रोक्तप्रकारेण निहतदर्शनमोहग्रन्थिर्भूत्वा *रागपदोसे खवीय* निजशुद्धात्मनिश्चलानुभूतिलक्षणवीतरागचारित्रप्रतिबन्धकौ चारित्रमोहसंज्ञौ रागद्वेषौ क्षपयित्वा। क्व। *सामण्णे* स्वस्वभावलक्षणे श्रामण्ये। पुनरपि किं कृत्वा। *होज्जं* भूत्वा। किंविशिष्टः। *समसुहदुक्खो* निजशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नरागादिविकल्पोपाधिरहितपरमसुखामृतानुभवेन सांसारिकसुखदुःखोत्पन्नहर्षविषादरहितत्वात्सम सुखदुःखः। *सो सोक्खं अक्खयं लहदि* स एवंगुणविशिष्टो भेदज्ञानी सौख्यमक्षयं लभते।

ततो ज्ञायते दर्शनमोहक्षयाच्चारित्रमोहसंज्ञरागद्वेषविनाशस्ततश्च सुखदुःखादिमाध्यस्थ्यलक्षणश्रामण्येऽवस्थानं तेनाक्षयसुखलाभो भवतीति ॥ २०८ ॥

अथ निजशुद्धात्मैकाग्र्यलक्षणध्यानमात्मनोऽत्यन्तविशुद्धिं करोतीत्यावेदयति–

जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता।(१९६)

समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि झादा ॥ २०९ ॥

टीकार्थ– ***जो णिहदमोहगंठी***– जो पहले (२०७वी) गाथा में कही गई पद्धति से दर्शन-मोहरूपी ग्रन्थि से रहित होकर ***रागपदोसे खवीय***– निजशुद्धात्मा में निश्चल अनुभूति लक्षण वीतराग चरित्र को रोकने वाले चारित्र मोह नामक राग-द्वेष का क्षय कर। कहाँ राग-द्वेष का क्षय कर ? ***सामण्णे***– स्वस्वभाव (की प्रगटता) लक्षण श्रामण्य में उनका क्षय कर। और भी क्या करके ? ***होज्जं***– होकर। किस विशेषता वाला होकर ? ***समसुहदुक्खो***– स्वशुद्धात्मा के संवेदन से उत्पन्न, रागादि विकल्पों की उपाधि से रहित परम सुखरूपी अमृत के अनुभव से, सांसारिक सुख-दुःख से उत्पन्न हर्ष-विषाद रहित होने के कारण, सुख-दुःख में समताभाववाला होता है। ***सो सोक्खं अक्खयं लहदि***– वह इन गुणों से विशिष्ट भेदज्ञानी, अक्षय-सौख्य को प्राप्त करता है।

इससे ज्ञात होता है कि दर्शनमोह के क्षय के पश्चात्, चारित्र मोहरूप राग-द्वेष का विनाश होता है और उससे सुख-दुःख आदि में माध्यस्थ्य लक्षण श्रामण्य-मुनिपने में अवस्थान होता है, उससे अक्षय-सुख की प्राप्ति होती है।

भावार्थ– जो पहले २०७वीं गाथा में कही गई पद्धति से दर्शन-मोहरूपी ग्रन्थि से रहित होकर, स्वशुद्धात्मा के संवेदन से उत्पन्न रागादि विकल्पों की उपाधि से रहित परम सुख रूपी अमृत के अनुभव से, सांसारिक सुख-दुःख से उत्पन्न हर्ष-विषाद रहित होने के कारण, सुख-दुःख में समता भाववाला होकर स्वस्वभाव की प्रगटता लक्षण श्रामण्य-मुनित्व में, अपने शुद्धात्मा में निश्चल अनुभूति स्वरूप वीतराग चारित्र को रोकनेवाले, चारित्र-मोह नामक राग-द्वेष का क्षय करता है; वह भेदज्ञानी, अक्षय-सौख्य को प्राप्त करता है ॥२०८ ॥

अब, अपने शुद्धात्मा में एकाग्रता लक्षण ध्यान, आत्मा की अत्यन्त (परिपूर्ण) विशुद्धि करता है, ऐसा आवेदन करते हैं— मर्यादापूर्वक ज्ञान कराते हैं—

जो मोह कलुष विहीन विषय विरक्त रोधक चित्त का।

स्व भाव में समअवस्थित है वही ध्याता आत्म का ॥ २०९ ॥

गाथार्थ– मोह रूपी कलुषता के क्षयवाला, विषयों से विरक्त, मन का निरोध करनेवाला जो, स्वभाव में समवस्थित है, वह आत्मा का ध्याता है।

जो खविदमोहकलुसो यः क्षपितमोहकलुषः, मोहो दर्शनमोहः कलुषश्चारित्रमोहः, पूर्वसूत्रद्वयकथित-क्रमेण क्षपितमोहकलुषौ येन स भवति क्षपितमोहकलुषः । पुनरपि किंविशिष्टः । *विसयविरत्तो* मोहकलुषरहित-स्वात्मसंवित्तिसमुत्पन्नसुखसुधारसास्वादबलेन कलुषमोहोदयजनितविषयसुखाकांक्षारहितत्वाद्विषयविरक्तः । पुनरपि कथंभूतः । *समवट्ठिदो* सम्यगवस्थितः । क्व । *सहावे* निजपरमात्मद्रव्यस्वभावे । किं कृत्वा पूर्वम् । *मणो णिरुंभित्ता* विषयकषायोत्पन्नविकल्पजालरूपं मनो निरुध्य निश्चलं कृत्वा । *सो अप्पाणं हवदि झादा* स एवंगुणयुक्तः पुरुषः स्वात्मानं भवति ध्याता । तेनैव शुद्धात्मध्यानेनात्यन्तिकीं मुक्तिलक्षणां शुद्धिं लभत इति ।

ततः स्थितं शुद्धात्मध्यानाज्जीवो विशुद्धो भवतीति ।

किंच ध्यानेन किलात्मा शुद्धो जातः तत्र विषये चतुर्विधव्याख्यानं क्रियते ।

तथाहि– *ध्यानं ध्यानसन्तानस्तथैव ध्यानचिन्ता ध्यानान्वयसूचनमिति* । तत्रैकाग्रचिन्तानिरोधो *ध्यानम्* । तच्च शुद्धाशुद्धरूपेण द्विधा ।

टीकार्थ– *जो खविद मोहकलुसो*– जो मोह-कलुषता के क्षय से सहित है, मोह अर्थात् दर्शन-मोह, कलुष अर्थात चारित्र-मोह, पहले (२०७ और २०८वीं) गाथा में कहे गये क्रम से जिसके द्वारा मोह और कलुषता का क्षय किया गया है, वह मोह और कलुष का क्षय करनेवाला है । वह और किस विशेषता वाला है ? *विसयविरत्तो*– मोह और कलुष रहित अपने आत्मा की अनुभूति से, अच्छी तरह उत्पन्न सुखरूपी अमृतरस के आस्वाद के बल से, कलुष और मोह के उदय से उत्पन्न विषयसुख की आकांक्षा से रहित होने के कारण, विषयों से विरक्त है । और कैसा है ? *समवट्ठिदो*– अच्छी तरह अवस्थित है । अच्छी तरह कहाँ अवस्थित है ? *सहावे*– अपने परमात्मद्रव्यरूप स्वभाव में अवस्थित है । पहले क्या करके स्वभाव में अवस्थित है ? *मणो णिरुंभित्ता*– विषय-कषाय से उत्पन्न विकल्प-समूहरूप मन को रोककर– निश्चलकर स्वभाव में अवस्थित है । *सो अप्पाणं हवदि झादा*– वह इन गुणों से सहित पुरुष अपने आत्मा को ध्याता है । उसी शुद्धात्मा के ध्यान से आत्यन्तिकी (हमेशा-हमेशा के लिये परिपूर्ण) मुक्ति लक्षण शुद्धि को प्राप्त होता है ।

इससे निश्चित हुआ कि शुद्धात्मा के ध्यान से जीव विशुद्ध होता है ।

दूसरी बात यह है कि ध्यान से वास्तव में आत्मा शुद्ध होता है, इस (ध्यान के) विषय में चार प्रकार से विशेष कथन करते हैं । वह इसप्रकार–

ध्यान, ध्यानसन्तान, उसीप्रकार ध्यान चिन्ता और ध्यान का अन्वय सूचन । वहाँ एकाग्र चिन्ता निरोध– एक अग्र-विषय में चिन्ता का रुक जाना ध्यान है, और वह ध्यान शुद्ध-अशुद्ध रूप से दो प्रकार का होता है ।

अथ ध्यानसन्तानः कथ्यते – यत्रान्तर्मुहूर्तपर्यन्तं ध्यानं, तदनन्तरमन्तर्मुहूर्तपर्यन्तं तत्त्वचिन्ता, पुनरप्यन्तर्मुहूर्तपर्यन्तं ध्यानं, पुनरपि तत्त्वचिन्तेति प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानवदन्तर्मुहूर्तेऽन्तर्मुहूर्ते गते सति परावर्तनमस्ति स *ध्यानसन्तानो* भण्यते। स च धर्म्यध्यानसंबन्धी। शुक्लध्यानं पुनरुपशमश्रेणिक्षपकश्रेण्यारोहणे भवति। तत्र चाल्पकालत्वात्परावर्तनरूपध्यानसन्तानो न घटते।

इदानीं ध्यानचिन्ता कथ्यते–यत्र ध्यानसन्तानवद्ध्यानपरावर्तो नास्ति, ध्यानसंबन्धिनी चिन्तास्ति, तत्र यद्यपि क्वापि काले ध्यानं करोति तथापि सा *ध्यानचिन्ता* भण्यते।

अथ ध्यानान्वयसूचनं कथ्यते– यत्र ध्यानसामग्रीभूता द्वादशानुप्रेक्षा अन्यद्वा ध्यानसंबन्धि संवेगवैराग्यवचनं व्याख्यानं वा तत् *ध्यानान्वयसूचनमिति।*

अन्यथा वा चतुर्विधं ध्यानव्याख्यानं– ध्याता ध्यानं फलं ध्येयमिति। अथवार्तरौद्रधर्म्यशुक्लविभेदेन चतुर्विधं ध्यानव्याख्यानं तदन्यत्र कथितमास्ते॥ २०९॥

एवमात्मपरिज्ञानाद्दर्शनमोहक्षपणं भवतीति कथनरूपेण प्रथमगाथा, दर्शनमोहक्षयाच्चारित्रमोहक्षपणं भवतीति कथनेन द्वितीया, तदुभयक्षयेण मोक्षो भवतीति प्रतिपादनेन तृतीया चेत्यात्मोपलम्भफलकथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथात्रयं गतम्।

अब ध्यान सन्तान कहते हैं— जहाँ अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ध्यान है, फिर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त तत्त्व की चिन्ता—तत्त्वचिन्तन है, फिर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ध्यान और फिर तत्त्व चिन्तन— इसप्रकार प्रमत्त-अप्रमत्त (छठवें-सातवें) गुणस्थान के समान अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त व्यतीत होने पर जो परिवर्तन है, वह ध्यानसन्तान—ध्यान की परम्परा कही जाती है। और वह धर्म्यध्यान सम्बन्धी है। शुक्लध्यान तो उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणी के आरोहण पर—चढ़ने पर होता है। वहाँ समय कम होने से परिवर्तनरूप ध्यान-सन्तान घटित नहीं होती है।

अब, ध्यानचिन्ता कही जाती है— जहाँ ध्यान सन्तान के समान ध्यान का परिर्वतन नहीं है, ध्यान सम्बन्धी चिन्ता—चिन्तन है, वहाँ यद्यपि किसी समय ध्यान करता है, तथापि वह ध्यानचिन्ता कहलाती है।

अब ध्यानान्वयसूचन कहा जाता है— जहाँ ध्यान की सामग्रीभूत बारह अनुप्रेक्षा अथवा ध्यान सम्बन्धी अन्य सम्वेग - वैराग्य रूप वचन अथवा विशेष कथन है, वह ध्यानान्वयसूचन है।

अथवा और दूसरे चार प्रकार से ध्यान का व्याख्यान होता है— ध्याता, ध्यान, ध्यान का फल और ध्येय। अथवा आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल भेद से चार प्रकार रूप ध्यान का विशेष कथन किया जाता है, वह दूसरी जगह[१] कहा गया है॥ २०९॥

इसप्रकार आत्मा के परिज्ञान से दर्शन-मोह का क्षय होता है— इस कथन रूप पहली गाथा, दर्शन-मोह के क्षय से चारित्र-मोह का क्षय होता है— इस कथन रूप दूसरी गाथा और उन दोनों के क्षय से मोक्ष होता है— इस प्रतिपादन रूप तीसरी—इसप्रकार आत्मा की प्राप्ति के फल कथन रूप दूसरे स्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुईं।

१- पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा १८१, तात्पर्यवृत्ति टीका।

अथोपलब्धशुद्धात्मतत्त्वसकलज्ञानी किं ध्यायतीतिप्रश्नमाक्षेपद्वारेण पूर्वपक्षं वा करोति–

णिहदघणघादिकम्मो पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू ।(१९७)

णेयंतगदो समणो झादि कमट्ठं असंदेहो ॥ २१० ॥

णिहदघणघादिकम्मो पूर्वसूत्रोदितनिश्चलनिजपरमात्मतत्त्वपरिणतिरूपशुद्धध्यानेन निहतघनघातिकर्मा । *पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू* प्रत्यक्षं यथा भवति तथा सर्वभावतत्त्वज्ञः सर्वपदार्थपरिज्ञातस्वरूपः । *णेयंतगदो* ज्ञेयान्तगतः ज्ञेयभूतपदार्थानां परिच्छित्तिरूपेण पारंगतः । एवंविशेषणत्रयविशिष्टः *समणो* जीवितमरणादिसमभावपरिणतात्मस्वरूपः श्रमणो महाश्रमणः सर्वज्ञः *झादि कमट्ठं* ध्यायति कमर्थमिति प्रश्नः । अथवा कमर्थं ध्यायति, न कमपीत्याक्षेपः । कथंभूतः सन् । *असंदहो* असन्देहः संशयादिरहित इति ।

अयमत्रार्थः– यथा कोऽपि देवदत्तो विषयसुखनिमित्तं विद्याराधनाध्यानं करोति, यदा विद्या सिद्धा भवति तत्फलभूतं विषयसुखं च सिद्धं भवति तदाराधनाध्यानं न करोति, तथायं भगवानपि केवलज्ञानविद्यानिमित्तं

(अब, केवली भगवान के ध्यान उपचार से है– इस कथन परक दो गाथाओं में निबद्ध तीसरा स्थल प्रारम्भ होता है ।)

अब, शुद्धात्मतत्त्व को प्राप्त सकलज्ञानी–केवलज्ञानी क्या ध्यान करते हैं ? ऐसे प्रश्न अथवा आक्षेप के माध्यम से पूर्वपक्ष करते हैं–

घनघाति कर्म विहीन सब प्रत्यक्ष जानें अर्थ को।

ज्ञेयान्त गत सन्देह बिन ध्याते श्रमण किस अर्थ को ? ॥ २१० ॥

गाथार्थ– घनरूप घाति कर्मों से रहित, सभी पदार्थों के स्वरूप को प्रत्यक्ष जाननेवाले, ज्ञेयों के पार को प्राप्त, सन्देह रहित श्रमण– केवलज्ञानी मुनि किस पदार्थ का ध्यान करते हैं ?

टीकार्थ– *णिहदघणघादिकम्मो*– पहले (२०९वीं) गाथा में कहे गये निश्चल निज परमात्मतत्त्व में परिणति रूप शुद्ध ध्यान द्वारा घनरूप घाति कर्मों को नष्ट करनेवाले । ***पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू*–** जैसे प्रत्यक्ष होता है,वैसे सभी पदार्थों तत्त्वों को जानने वाले–सभी पदार्थों को पूर्णरूप से जानने के स्वरूपवाले । ***णेयंतगदो*–** ज्ञेयों के अन्त को प्राप्त– जानने की अपेक्षा ज्ञेयभूत पदार्थों के पार को प्राप्त (सभी को जानने वाले) । इसप्रकार तीन विशेषणों से सहित ***समणो*–** जीवन-मरण आदि में समभावरूप से परिणत आत्मस्वरूप श्रमण–महाश्रमण–सर्वज्ञ–केवली भगवान ***झादि कमट्ठं*–** किस पदार्थ का ध्यान करते हैं ? ऐसा प्रश्न है । अथवा किस पदार्थ का ध्यान करते हैं ? किसी भी पदार्थ का ध्यान नहीं करते हैं– ऐसा आक्षेप है । वे सर्वज्ञ,कैसे होते हुये,किसी का भी ध्यान नहीं करते ? ***असंदेहो*–** वे सन्देह रहित–संशय आदि दोषों से रहित होते हुये,किसी का भी ध्यान नहीं करते हैं ।

यहाँ अर्थ यह है– जैसे कोई भी देवदत्त,विषय-सुख की प्राप्ति के लिये,विद्या की आराधनारूप ध्यान करता है; जब विद्या सिद्ध हो जाती है और उसके फलस्वरूप विषयसुख प्राप्त हो जाता है,तब उसकी आराधना रूप ध्यान नहीं करता है, उसीप्रकार ये भगवान भी,केवलज्ञानरूपी विद्या की प्राप्ति के लिये और उसके

तत्फलभूतानन्तसुखनिमित्तं च पूर्वं छद्मस्थावस्थायां शुद्धात्मभावनारूपं ध्यानं कृतवान्, इदानीं तद्ध्यानेन केवलज्ञानविद्या सिद्धा तत्फलभूतमनन्तसुखं च सिद्धम्, किमर्थं ध्यानं करोतीति प्रश्नः आक्षेपो वा।

द्वितीयं च कारणं-परोक्षेऽर्थे ध्यानं भवति, भगवतः सर्वं प्रत्यक्षं कथं ध्यानमिति पूर्वपक्षद्वारेण गाथा गता॥ २१०॥

अथात्र पूर्वपक्षे परिहारं ददाति-

सव्वाबाधविजुत्तो समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो।(१९८)

भूदो अक्खातीदो झादि अणक्खो परं सोक्खं॥ २११॥

झादि ध्यायति एकाकारसमरसीभावेन परिणमत्यनुभवति। स कः कर्ता। भगवान्। किं ध्यायति। *सोक्खं* सौख्यम्। किंविशिष्टम्। *परं* उत्कृष्टं, सर्वात्मप्रदेशाह्लादकपरमानन्तसुखम्। कस्मिन्प्रस्तावे। यस्मिन्नेव क्षणे *भूदो* भूतः संजातः। किंविशिष्टः। *अक्खातीदो* अक्षातीतः इन्द्रियरहितः। न केवलं स्वयमतीन्द्रियो जातः परेषां च *अणक्खो* अनक्षः इन्द्रियविषयो न भवतीत्यर्थः। पुनरपि किंविशिष्टः। *सव्वाबाधविजुत्तो*

फलस्वरूप अनन्तसुख की प्राप्ति के लिये,पहले छद्मस्थ-दशा में शुद्धात्मा की भावना (तद्रूप परिणमन) रूप ध्यान करते थे, अब उस ध्यान से केवलज्ञानरूपी विद्या सिद्ध हो गई है,तथा उसके फलस्वरूप अनन्त सुख भी प्रगट हो गया है, तब वे किसलिये अथवा किस पदार्थ का ध्यान करते हैं ? ऐसा प्रश्न अथवा आक्षेप है।

इस प्रश्न अथवा आक्षेप का दूसरा कारण भी है— पदार्थ के परोक्ष होने पर ध्यान होता है, केवली भगवान के सभी पदार्थ प्रत्यक्ष हैं, तब ध्यान कैसे करते हैं ? इसप्रकार पूर्वपक्ष की अपेक्षा एक गाथा पूर्ण हुई॥ २१०॥

अब, यहाँ पूर्वपक्ष में परिहार देते हैं (पूर्वपक्ष का निराकरण करते हैं)—

हैं सर्वबाधा रहित सब सर्वात्मज्ञान व सौख्य से।

सम्पन्न ध्याते परम सुख हो अतीन्द्रिय अनअक्ष वे॥ २११॥

गाथार्थ— सम्पूर्ण बाधाओं से रहित, सम्पूर्ण आत्मा में परिपूर्ण सौख्य और ज्ञान से समृद्ध (वे केवली भगवान) अनिन्द्रिय और इन्द्रियातीत होते हुये परम सौख्य का ध्यान करते हैं।

टीकार्थ— *झादि*— ध्यान करते हैं— एकाकार समरसी भाव से परिणमन करते हैं—अनुभव करते हैं। ध्यान करनेरूप क्रिया के कर्ता वे कौन हैं ? वे भगवान ध्यान करनेरूप क्रिया के कर्ता हैं। वे किसका ध्यान करते हैं ? *सौक्खं*— वे सौख्य का ध्यान करते हैं। वह सौख्य किस विशेषतावाला है ? *परं*— वह सौख्य उत्कृष्ट सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों में आह्लाद को उत्पन्न करनेवाला परम अनन्त सुखरूप है। ऐसे सुख का ध्यान वे किस प्रसंग में— किस समय करते हैं ? जिस ही क्षण में *भूदो*— अच्छी तरह से उत्पन्न हुये हैं, तब से ही वे उस सुख का ध्यान करते हैं। वे किस विशेषतारूप से उत्पन्न हुये हैं ? *अक्खातीदो*— अक्षातीत— इन्द्रिय रहित हुये हैं। मात्र स्वयं ही इन्द्रिय रहित हुये हैं, इतना ही नहीं, वरन् दूसरों को भी *अणक्खो*— अनक्ष— इन्द्रियों के विषय नहीं हैं— ऐसा अर्थ है। और भी किस विशेषता वाले हुये हैं ? *सव्वाबाधविजुत्तो*— इस शब्द में प्राकृत भाषा के लक्षण (व्याकरण) के माध्यम से 'बाधा' शब्द का ह्रस्व 'बाध' शब्द बना है, मूल शब्द

प्राकृतलक्षणबलेन बाधाशब्दस्य ह्रस्वत्वं सर्वाबाधावियुक्तः। आसमन्ताद्बाधाः पीड़ा आबाधाः सर्वाश्च ता आबाधाश्च सर्वाबाधास्ताभिर्वियुक्तो रहितः सर्वाबाधावियुक्तः। पुनश्च किंरूपः। *समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो* समन्ततः सामस्त्येन स्पर्शनादिसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ्यः। समन्ततः सर्वात्मप्रदेशैर्वा स्पर्शनादिसर्वेन्द्रियाणां सम्बन्धित्वेन ये ज्ञानसौख्ये द्वे ताभ्यामाढ्यः परिपूर्णः इत्यर्थः।

तद्यथा- अयं भगवानेकदेशोद्भवसांसारिकज्ञानसुखकारणभूतानि सर्वात्मप्रदेशोद्भवस्वाभाविकातीन्द्रियज्ञानसुखविनाशकानि च यानीन्द्रियाणि निश्चयरत्नत्रयात्मककारणसमयसारबलेनातिक्रामति विनाशयति यदा तस्मिन्नेव क्षणे समस्तबाधारहितः सन्नतीन्द्रियमनन्तमात्मोत्थसुखं ध्यायत्यनुभवति परिणमति।

ततो ज्ञायते केवलिनामन्यच्चिन्तानिरोधलक्षणं ध्यानं नास्ति, किंत्विदमेव परमसुखानुभवनं वा ध्यानकार्यभूतां कर्मनिर्जरां दृष्ट्वा ध्यानशब्देनोपचर्यते। यत्पुनः सयोगिकेवलिनस्तृतीयशुक्लध्यानमयोगिकेवलिनश्चतुर्थशुक्लध्यानं भवतीत्युक्तं तदुपचारेण ज्ञातव्यमिति सूत्राभिप्रायः॥ २११॥

'सर्वबाधावियुक्तः' है। आ-समन्तात्– सभी ओर से बाधा–पीड़ा आबाधा है, सम्पूर्ण और वे आबाधा सर्वाबाधा (इसप्रकार कर्मधारय समास किया है), उनसे रहित सर्वबाधावियुक्त (इसप्रकार तृतीया तत्पुरुष समास किया) अर्थात् वे सम्पूर्ण बाधाओं से रहित हुये हैं। और वे किस रूप हुये हैं ? *समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो*– समन्ततः –पूर्णरूप से स्पर्शन आदि सभी इन्द्रियों सम्बन्धी सौख्य और ज्ञान से समृद्ध हैं। अथवा समन्ततः–सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों से स्पर्शनादि सभी इन्द्रियों सम्बन्धी जो ज्ञान और सौख्य दोनों– उनसे आढ्य–परिपूर्ण हैं– ऐसा अर्थ है।

वह इसप्रकार–जब ये भगवान, निश्चय रत्नत्रय स्वरूप कारण-समयसार के बल से, एकदेश प्रकट सांसारिक ज्ञान और सुख की कारणभूत तथा सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों से उत्पन्न, स्वाभाविक अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख को नष्ट करनेवाली, उन इन्द्रियों का अतिक्रमण करते हैं– विनाश करते हैं, तब उसी समय सम्पूर्ण बाधाओं से रहित होते हुये, अतीन्द्रिय अनन्त आत्मा के आश्रय से उत्पन्न, सुख का ध्यान करते हैं– अनुभव करते हैं– उस रूप परिणमन करते हैं।

इससे ज्ञात होता है कि केवली के, अन्य विषय में चिन्ता का निरोध लक्षण ध्यान नहीं है, किन्तु इस ही परमसुख के अनुभव को अथवा ध्यान के कार्यभूत कर्मों की निर्जरा को देखकर, ध्यान शब्द से उपचरित किये जाते हैं। और जो सयोग केवली के तीसरा शुक्लध्यान तथा अयोगकेवली के चौथा शुक्लध्यान होता है– ऐसा कथन है, वह उपचार से जानना चाहिये–ऐसा गाथा का अभिप्राय है।

विशेषार्थ– केवली भगवान के ध्यान को 'आचार्य प्रभाचन्द्र' ने निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया है–

"----। इत्थंभूतः सयोगकेवली सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवृत्तिलक्षणशुक्लध्यानसाध्यं परमुत्कृष्टं सिद्धस्थं भाविसौख्यं ध्यायतीति।[१]

---। इसप्रकार सयोगकेवली सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति लक्षण शुक्लध्यान के द्वारा साध्यभूत सर्वश्रेष्ठ सिद्धों में पाये जानेवाले भावि सौख्य का ध्यान करते हैं।" ॥ २११ ॥

१- प्रवचनसार, गाथा २०८, प्रवचनसार सरोजभास्कर टीका।

एवं केवली किं ध्यायतीति प्रश्नमुख्यत्वेन प्रथमगाथा। परमसुखं ध्यायत्यनुभवतीति परिहारमुख्यत्वेन द्वितीया चेति ध्यानविषयपूर्वपक्षपरिहारद्वारेण तृतीयस्थले गाथाद्वयं गतम्।

अथायमेव निजशुद्धात्मोपलब्धिलक्षणमोक्षमार्गो, नान्य इति विशेषेण समर्थयति–

एवं जिणा जिणिंदा सिद्धा मग्गं समुट्ठिदा समणा।(१९९)
जादा णमोत्थु तेसिं तस्स य णिव्वाणमग्गस्स॥ २१२॥

जादा जाता उत्पन्नाः। कथंभूताः। *सिद्धा* सिद्धाः सिद्धपरमेष्ठिनो मुक्तात्मान इत्यर्थः। के कर्तारः। *जिणा* जिनाः अनागारकेवलिनः। *जिणिंदा* न केवलं जिना जिनेन्द्राश्च तीर्थकरपरमदेवाः। कथंभूताः सन्तः एते सिद्धा जाताः। *मग्गं समुट्ठिदा* निजपरमात्मतत्त्वानुभूतिलक्षणमार्गं मोक्षमार्गं समुत्थिता आश्रिताः। केन। *एवं* पूर्वं बहुधा व्याख्यातक्रमेण। न केवलं जिना जिनेन्द्रा अनेन मार्गेण सिद्धा जाताः, *समणा* सुखदुःखादिसमताभावनापरिणतात्मतत्त्वलक्षणाः शेषा अचरमदेहश्रमणाश्च। अचरमदेहानां कथं सिद्धत्वमिति चेत्।

इसप्रकार केवली भगवान किसका ध्यान करते हैं– इस प्रश्न की मुख्यता से पहली गाथा तथा परम सुख का ध्यान-अनुभव करते हैं– इसप्रकार परिहार की मुख्यता से दूसरी गाथा– इसप्रकार ध्यान सम्बन्धी पूर्वपक्ष और परिहार की अपेक्षा तीसरे स्थल में दो गाथायें पूर्ण हुईं।

(अब, दर्शनाधिकार के उपसंहार परक दो गाथाओं में निबद्ध अन्तिम चौथा स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, यही निजशुद्धात्मा की पर्याय में प्रगटता लक्षण मोक्षमार्ग है, दूसरा नहीं; ऐसा विशेषरूप से समर्थन करते हैं–

इस तरह जिन जिनदेव मुनि इस मार्ग में आरूढ़ हो।
मुक्ति गये,हो नमन उनको और मुक्तिमार्ग को॥ २१२॥

गाथार्थ– इसप्रकार मार्ग में आरूढ़ जिन, जिनेन्द्र और श्रमण (सामान्यकेवली, तीर्थंकर और मुनि) सिद्ध हुये हैं, उन्हें और उस निर्वाणमार्ग को नमस्कार हो।

टीकार्थ– ***जादा***–हुये हैं। कैसे हुये हैं ? ***सिद्धा***–सिद्ध-सिद्धपरमेष्ठी–मुक्तात्मा– मुक्तावस्थारूप हुये हैं– ऐसा अर्थ है। कर्तारूप कौन सिद्ध हुये हैं ? ***जिणा***– जिन–अनागार केवली सिद्ध हुये हैं। ***जिणिंदा***– मात्र केवली जिन ही सिद्ध नहीं हुये हैं,वरन् जिनेन्द्र– तीर्थंकर परमदेव भी सिद्ध हुये हैं। ये सभी कैसे होते हुये सिद्ध हुये हैं ? ***मग्गं समुट्ठिदा***– अपने परमात्मतत्त्व की अनुभूति लक्षणमार्ग– मोक्षमार्ग में आरूढ़–मोक्षमार्ग का आश्रय लेते हुये सिद्ध हुये हैं। कैसे मोक्षमार्ग का आश्रय लेते हुये सिद्ध हुये हैं ? ***एवं***– पहले अनेक प्रकार से कहे गये क्रमवाले मोक्षमार्ग का,आश्रय लेते हुये सिद्ध हुये हैं। मात्र केवली और तीर्थंकर ही इस मार्ग से सिद्ध नहीं हुये हैं वरन्, ***समणा***– सुख-दुःख आदि में समताभाव से परिणत आत्मतत्त्व लक्षण-युक्त शेष अचरम शरीरी श्रमण– उसी भव से मुक्त नहीं होने वाले अन्य मुनिराज भी (बाद में) इसी मार्ग से सिद्ध हुये हैं।

अचरम शरीरियों को– उसी भव में मोक्ष नहीं जाने वालों को सिद्धपना कैसे संभव है ? यदि ऐसा प्रश्न हो तो कहते हैं–

तवसिद्धे णयसिद्धे संजमसिद्धे चरित्तसिद्धे य।

णाणम्मि दंसणम्मि य सिद्धे सिरसा णमंसामि ॥[१] इति गाथाकथितक्रमेणैकदेशेन। *णमोत्थु तेसिं* नमोऽस्तु तेभ्यः। अनन्तज्ञानादिसिद्धगुणस्मरणरूपो भावनमस्कारोऽस्तु, *तस्स य णिव्वाणमग्गस्स* तस्मै निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षणनिश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्वाणमार्गाय च। ततोऽवधार्यते अयमेव मोक्षमार्गो, नान्य इति ॥ २१२ ॥

अथ *'उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती'* इत्यादि पूर्वप्रतिज्ञां निर्वाहयन् स्वयमपि मोक्षमार्गपरिणतिं स्वीकरोतीति प्रतिपादयति–

तम्हा तह जाणित्ता अप्पाणं जाणगं सभावेण।(२००)

परिवज्जामि ममत्तिं उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्हि ॥ २१३ ॥

तम्हा यस्मात्पूर्वोक्तशुद्धात्मोपलम्भलक्षणमोक्षमार्गेण जिना जिनेन्द्राः श्रमणाश्च सिद्धा जातास्तस्मादहमपि *तह* तथैव तेनैव प्रकारेण *जाणित्ता* ज्ञात्वा। कम्। *अप्पाणं* निजपरमात्मानम्। किंविशिष्टम्। *जाणगं* ज्ञायकं केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वभावम्। केन कृत्वा ज्ञात्वा। *सभावेण* समस्तरागादिविभावरहितशुद्धबुद्धैकस्वभावेन।

"तप से सिद्ध, नय से सिद्ध, संयम से सिद्ध, चारित्र से सिद्ध, ज्ञान और दर्शन से सिद्ध हुये सिद्ध भगवंतों को मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ।"

इसप्रकार गाथा में कहे गये क्रम से एक देश सिद्धता अचरम शरीरी जीवों के भी मानी गई है।

णमोत्थु तेसिं– उन्हें नमस्कार हो। उन्हें मेरा अनन्तज्ञानादि सिद्धगुणों के स्मरणरूप भाव नमस्कार हो, *तस्स य णिव्वाणमग्गस्स*– तथा विकार रहित, स्वसम्वित्ति– अपने आत्मस्वरूप में लीनता लक्षण निश्चय रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग को मेरा नमस्कार हो।

इससे यह निश्चित हुआ कि यही मोक्षमार्ग है; दूसरा कोई मोक्षमार्ग नहीं है ॥ २१२ ॥

अब *"उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती*–[२] मैं साम्य का आश्रय ग्रहण करता हूँ, जिससे निर्वाण की प्राप्ति होती है"– इत्यादि पहले की गई प्रतिज्ञा का निर्वाह करते हुये, स्वयं भी मोक्षमार्गरूप परिणति को स्वीकार करते हैं, ऐसा प्रतिपादन करते हैं–

इसलिये वैसा जानकर ज्ञायक स्वभावी आत्म को।

हो उपस्थित ममता रहित मैं छोड़ता हूँ ममत्व को ॥ २१३ ॥

गाथार्थ– (स्व शुद्धात्मा में प्रवृत्ति से ही मोक्ष होता है) इसलिये मैं उसीप्रकार स्वभाव से ज्ञायक आत्मा को जानकर, निर्ममत्व में उपस्थित होता हुआ, ममता का परित्याग करता हूँ।

टीकार्थ– *तम्हा*– यतः पहले कहे हुये शुद्धात्मा की प्राप्ति लक्षण मोक्षमार्ग से सामान्य केवली, तीर्थंकर केवली और मुनिराज सिद्ध हुये हैं, इसलिये मैं भी *तह*– वैसे ही उसीप्रकार *जाणित्ता*– जानकर। उसीप्रकार किसे जानकर ? *अप्पाणं*– निज परमात्मा को उसीप्रकार जानकर। किस विशेषतावाले निज परमात्मा को जानकर ? *जाणगं*– ज्ञायक–केवलज्ञान आदि अनन्तगुणस्वभाववाले निजपरमात्मा को जानकर। उसे किसके द्वारा जानकर ? *सभावेण*– सम्पूर्ण रागादि विभावों से रहित, शुद्धबुद्ध एक स्वभाव द्वारा ज्ञायक

१- प्राकृत सिद्धभक्ति, गाथा ९।

पक्षरूपी सफेद और काले दो चूहे काट रहे हैं, तथा जो व्याधिरूपी मधु-मक्खियों से वेष्टित है - ऐसी आयुकर्मरूपी विशिष्ट डाली को पकड़ लेता है। वहाँ वह, उसी हाथी से उस वृक्ष को हिलाये जाने पर, विषयसुखरूपी गिरती हुई मधु-बिंदु के स्वाद से जैसे सुख मानता है, उसीप्रकार संसार का सुख है।'

यहाँ ही, विषयों में आसक्त संसारी जीवों को स्वाभाविक-दुःख सिद्धकर, तृष्णोत्पादक पुण्य को दुःख का कारण बताते हुये, द्रव्य पुण्य-पाप में व्यवहारनय से तथा भाव पुण्य-पाप में अशुद्ध निश्चयनय से भेद होने पर भी, शुद्धनय से जो इन दोनों को एक, अभेद नहीं मानता है, वह घोर संसार में घूमता है — यह स्पष्टकर, इन सबसे भिन्न शुद्धात्मा में लीनता ही परमसुख का उपाय सिद्ध करते हुये, प्रथम ज्ञानकण्डिका पूर्ण की है।

आप्त-आत्म स्वरूप-परिज्ञान-विषयक-मूढ़ता-निरासार्थ, सात गाथाओं वाली द्वितीय ज्ञानकण्डिका में, शुद्धात्म-प्राप्ति तथा सिद्धत्व-प्राप्ति का एकमात्र उपाय शुद्धोपयोग सिद्धकर, 'जो **जाणदि अरहंतं- - - -** ' इस प्रसिद्ध गाथा के विश्लेषण में, मोहक्षय का उपाय स्पष्ट करते हुये आप लिखते हैं—

'केवलज्ञानादि विशेषगुण, अस्तित्वादि सामान्यगुण ; परमौदारिक शरीराकाररूप से आत्मप्रदेशों का अवस्थान व्यंजनपर्याय तथा अगुरुलघुक गुणगत षट् वृद्धि-हानि रूप से प्रतिक्षण प्रवर्तमान अर्थपर्याय - इन गुण-पर्यायों का आधारभूत, अमूर्त, असंख्यातप्रदेशी शुद्ध चैतन्य का अन्वयरूप द्रव्य है। इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप को अरहन्त परमात्मा में जानकर, बाद में उसी आगम-सारपदभूत अध्यात्मभाषा से निजशुद्धात्मभावनाभिमुखरूप सविकल्प स्वसम्वेदनज्ञान द्वारा, तथा आगमभाषा से अधःप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक, दर्शनमोह के क्षय में समर्थ परिणाम-विशेष के बल द्वारा आत्मा में जुड़ता है, लीन होता है ; वह उसके बाद अविकल्पस्वरूप-प्राप्ति के समय, जैसे - पर्यायरूपी मोती, गुणरूपी धवलता अभेदनय से हार ही है ; उसीप्रकार पूर्वोक्त द्रव्य-गुण-पर्याय अभेदनय से आत्मा ही हैं - इसप्रकार से भावना करनेवाले का - तद्रूप परिणमित होनेवाले का दर्शनमोहान्धकार नष्ट हो जाता है।'

तदनन्तर मोहक्षय का, अनाद्यनन्त एकमात्र उपाय '**स्वरूपलीनता**' सिद्धकर, सिद्ध भगवान को, तथा दान-पूजादि के योग्य पुरुषों का ज्ञान कराकर, उन्हें नमस्कार करते हुये यह कण्डिका पूर्ण की है।

द्रव्य-गुण-पर्याय के परिज्ञान-विषयक-मूढ़ता-निराकरणार्थ प्रयुक्त छह गाथाओं वाली तृतीयज्ञानकण्डिका में, मोह के स्वरूप तथा भेदों की चर्चा करते हुये गाथा ९२ में आगत **करुणाभावो- - - -** को आप निम्नलिखितरूप में स्पष्ट करते हैं —

'शुद्धात्म-उपलब्धि लक्षण परमोपेक्षा संयम से विपरीत करुणाभाव या दया परिणाम अथवा व्यवहार से करुणा का अभाव मोह का चिन्ह है।'

तत्पश्चात्, क्योंकि द्रव्य-गुण-पर्याय का यथार्थ परिज्ञान न होने से मोह होता है, अतः उनके यथार्थ परिज्ञानार्थ शास्त्र-स्वाध्याय की प्रेरणा देकर, संक्षेप में द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक अर्थ का निरूपण करते हुये, यह कण्डिका पूर्ण की है।

तदुपरान्त स्व-पर तत्त्व के परिज्ञान-विषयक-मूढ़ता-निरासार्थ दो गाथाओं वाली चतुर्थ ज्ञानकण्डिका में, मोह-क्षय का उपाय स्व-पर भेदविज्ञान तथा स्व-पर भेदविज्ञान का उपाय आगम-अभ्यास (स्वाध्याय) बताते हुये, इस कण्डिका के साथ यह अधिकार भी पूर्ण किया।

स्वतन्त्र गाथा चतुष्टय में तत्त्वश्रद्धानरहित श्रमण के शुद्धोपयोगरूप धर्म का अभाव बताकर, शुद्धोपयोगी आत्मा को ही धर्म सिद्ध करते हुये, उनके प्रति भक्ति का फल पुण्यबंध तथा उसका फल, भवान्तर में वैभव-ऐश्वर्य से सम्पूर्ण मनोरथ सिद्धि बताते हुये, प्रथम '**सम्यग्ज्ञान महाधिकार**' पूर्ण किया है।

चार अधिकारों में विभक्त, ११३ गाथाओं में समाहित '**सम्यग्दर्शन महाधिकार**' में सम्यग्दर्शन के विषयभूत ज्ञेय पदार्थों का स्वरूप, विस्तार से प्ररूपित है। वहाँ ३५ गाथाओं वाले '**सामान्य ज्ञेयव्याख्यानाधिकार**' में, आठ स्थलों में विभक्त २४ गाथाओं से सहित '**सामान्य द्रव्यनिरूपक**' प्रथम अन्तराधिकार के अन्तर्गत प्रथम १००वीं गाथागत **परमट्ठविणिच्छयाधिगम** का अर्थ 'सम्यक्त्व' करते हुये प्रश्नोत्तर-पद्धति में आचार्य कहते हैं—

'परम अर्थ – परमार्थ अर्थात् शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावी परमात्मा, परमार्थ का संशयादि रहित विशेषरूप में निश्चय-परमार्थविनिश्चयरूप अधिगम अर्थात् परमार्थ से शंकादि आठ दोष रहित जो पदार्थों का ज्ञान है ; अथवा परमार्थ विनिश्चय अर्थात् अनेकान्तात्मक पदार्थ समूह, उनका ज्ञान सम्यक्त्व से होता है; अतः परमार्थविनिश्चयाधिगम का अर्थ सम्यक्त्व किया है।'

इसके बाद तिर्यक् सामान्य-ऊर्ध्वता सामान्य से द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक वस्तु का विश्लेषण करते हुये, ऐसे द्रव्य-गुण-पर्याय के परिज्ञान में मूढ़ अथवा नारकादि पर्यायरूप मैं नहीं हूँ— ऐसे भेदविज्ञान में मूढ़ परसमय—मिथ्यादृष्टि है — ऐसा कहा है। '**पंचास्तिकायसंग्रह**' की टीका, इस टीका से पूर्व हो जाने का सर्वप्रथम संकेत भी यहाँ ही मिलता है।

तदनन्तर स्वसमय-परसमय की व्याख्या करते समय अहंकार-ममकार का स्वरूप स्पष्ट करते हुये, आप लिखते हैं — **'मनुष्यादि पर्यायरूप मैं हूँ – यह अहंकार, तथा मनुष्यादि शरीर और शरीर के आधार से उत्पन्न पंचेन्द्रिय विषय-सुख मेरा स्वरूप है – यह ममकार कहलाता है।'**

तत्पश्चात् वस्तु के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तथा द्रव्य-गुण-पर्यायमय स्वरूप को सिद्ध भगवान पर घटितकर स्पष्ट करते हुये, उन उत्पादादि में परस्पर कथंचित् भेदाभेद स्पष्टकर, चार गाथाओं वाला प्रथम पीठिका स्थल पूर्ण किया।

तदुपरान्त द्रव्यपर्याय-गुणपर्याय के माध्यम से चौथे स्थल में पर्याय का विवेचनकर, सत्ता और द्रव्य के मध्य कथंचित् भेदाभेद स्पष्ट करते हुये, कथंचित् सदुत्पाद-असदुत्पाद को पाँचवे से आठवे स्थल तक निरूपितकर, अंतिम नवमे स्थल में स्वचतुष्टय आदि के माध्यम से नयसप्तभंगी का व्याख्यान करते हुये, यह अन्तराधिकार पूर्ण किया है।

इससे आगे ११ गाथाओं वाले '**सामान्य भेदभावना**' नामक द्वितीय अन्तराधिकार के अन्तर्गत पाँच

स्थलों में से प्रथम स्थल में, शुद्ध निश्चयनय से जीव का स्वरूप बताकर; दूसरे स्थल में वास्तव में मनुष्यादि पर्यायें कर्मकृत हैं, कर्म के फल हैं, शुद्धात्मा का स्वरूप नहीं हैं — इसप्रकार भेदज्ञान का निरूपणकर; रागादि परिणामों को ही भावकर्म सिद्ध करते हुये तृतीय स्थल पूर्ण किया।

त्रिविध चेतना के प्रतिपादक चतुर्थस्थल में १३४वीं गाथागत **णाणं अट्ठवियप्पो** का विश्लेषण करते हुये, आप लिखते हैं— **'अर्थ अर्थात् परमात्मा आदि पदार्थ; अनंतज्ञान-सुखादि रूप मैं हूँ, रागादि आस्रव मुझसे भिन्न हैं – इसप्रकार स्व-पर आकार का अवभासन करनेवाले दर्पण के समान, पदार्थ की जानकारी में समर्थ विकल्प 'विकल्प' कहलाता है, यह ही ज्ञानचेतना है।'**

तदुपरान्त कर्म और कर्मफल चेतना का निरूपणकर, शुद्धात्म-भेदभावना का फल कहते हुये, पाँचवे स्थल की पूर्णता के साथ यह अन्तराधिकार भी पूर्ण हुआ।

तदनन्तर १९ गाथाओं वाले **'विशेषज्ञेयव्याख्यानाधिकार'** में आठ स्थलों द्वारा ज्ञेयों का विशेषरूप से निरूपण है। जीवाजीवत्व, लोकालोकत्व, सक्रिय-निष्क्रियत्व रूप से छह द्रव्यों का विश्लेषण, प्रथम स्थल में किया है। उन द्रव्यों के ज्ञानादि विशेष गुणों का निरूपण द्वितीय स्थल में करके, विशेष गुणों के माध्यम से उन द्रव्यों का निर्णय करते हुये, तृतीय स्थल-समापन के समय, निष्कर्षरूप में आप लिखते हैं—

'यद्यपि पाँच द्रव्य जीव का उपकार करते हैं, तथापि वे दुःख के ही कारण हैं – ऐसा जानकर, अक्षय-अनन्त सुखादि के कारणभूत विशुद्ध ज्ञान-दर्शन उपयोग स्वभावी परमात्मद्रव्य का मन से ध्यान करना चाहिये, उसे ही वचन से बोलना चाहिये तथा शरीर से उसका ही साधक अनुष्ठान करना चाहिये।'

तत्पश्चात् चतुर्थ स्थल में पंचास्तिकाय-वर्णन के निष्कर्षरूप में लिखा है— **'यहाँ पंचास्तिकायों में से जीवास्तिकाय उपादेय है, उसमें भी पंचपरमेष्ठी दशा, उसमें भी अर्हन्त-सिद्ध दशा, उसमें भी मात्र सिद्धदशा, वास्तव में तो रागादि समस्त विकल्पजाल के परिहार-काल में सिद्धजीव के समान अपनी शुद्धात्मावस्था ही उपादेय है— यह भावार्थ है।'**

इससे आगे पाँचवे स्थल में प्रदेश का लक्षण, छठवे स्थल में द्रव्य-पर्यायात्मक काल का व्याख्यान करते हुये लिखा है— **'इस काल के विद्यमान होने पर भी यह जीव, परमात्मतत्त्व को प्राप्त न करता हुआ अतीत-अनन्तकाल से संसार-सागर में घूम रहा है; अतः निज परमात्मतत्त्व ही सर्व प्रकार उपादेयरूप से श्रद्धेय है, स्वसंवेदनज्ञानरूप से जानने योग्य है तथा आहारादि चार संज्ञा स्वरूप समस्त रागादि विभाव-त्यागरूप से ध्यान करने योग्य है— यह तात्पर्य है।'**

सातवे स्थल में स्वरूपलीन दो मुनिराजों के उदाहरण द्वारा अखण्ड आकाश द्रव्य में प्रदेश-विभाग स्पष्ट किया है। तिर्यक्प्रचय तथा ऊर्ध्वप्रचय स्पष्ट करते हुये यह स्थल समाप्तकर, आठवे स्थल में १५४वीं गाथा-टीका द्वारा पुनः उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक काल द्रव्य को स्पष्टकर, निष्कर्षरूप में लिखते हैं—

'यद्यपि अतीत-अनन्तकाल में दुर्लभ, सर्वप्रकार से उपादेयभूत सिद्धगति का, काललब्धि रूप से कालद्रव्य बहिरंग सहकारी है, तथापि निश्चयनय से निजशुद्धात्मतत्त्व का सम्यक्श्रद्धान,

ज्ञान, अनुष्ठान और समस्त परद्रव्य की इच्छा का निरोध लक्षण तपश्चरणरूप जो चार प्रकार की निश्चय आराधना हैं, वे ही वहाँ उपादान कारण हैं, काल द्रव्य नहीं; अतः वह हेय है– यह भावार्थ है।'

१५५वीं गाथा-टीका में काल द्रव्य का एक प्रदेशत्व सिद्ध करते हुये, आचार्य पुनः निष्कर्षरूप में लिखते हैं– **'यहाँ अतीत-अनन्तकाल में जो कोई सिद्धसुख के पात्र हुये हैं, अथवा होंगे वे सभी काललब्धि के वश से ही हैं; तथापि वहाँ निज परमात्मा ही उपादेय है – ऐसी रुचिरूप वीतरागचारित्र का अविनाभावी निश्चय सम्यक्त्व ही मुख्य है, काल नहीं; अतः वह हेय है।'** अपनी बात को पुष्ट करने हेतु यहाँ ही मोक्षपाहुड़ की गाथा ८८ उद्धृतकर, इस स्थल के साथ ही विशेषज्ञेयाधिकार समाप्त किया है।

आठ गाथाओं वाले तृतीय **'सामान्य भेदभावना अधिकार'** में ज्ञान-ज्ञेय का विभाग तथा चार प्राणों के साथ आत्मा का भेद बताने के लिये इन्द्रियादि प्राणों का स्वरूप तथा भेद बताकर, जीव का जीवत्व, प्राणों का पुद्गलत्व स्पष्ट सिद्ध करते हुये, मोहादि कर्म संयुक्त प्राण नवीन कर्मबंध के कारण हैं — इसे स्पष्टकर, प्राणों की उत्पत्ति का अंतरंग कारण देह प्रधान विषयों में ममत्व सिद्धकर, उन्हें नष्ट करने के उपायरूप में कषाय-इन्द्रिय आदि विजय द्वारा स्वरूपलीनता सिद्ध करते हुये, अधिकार पूर्ण किया है।

इससे आगे ५१ गाथाओं वाले **'विशेष भेदभावना'** नामक अन्तिम चतुर्थाधिकार को ४ अन्तराधिकारों में विभक्तकर, ११ गाथाओं में निबद्ध शुभादि उपयोगत्रय मुख्यतावाले प्रथम अन्तराधिकार को चार स्थलों में विभक्त किया है। यहाँ मनुष्यादि पर्यायों के साथ शुद्धात्म-स्वरूप की पृथक्ता का विशेष कथन करते हुये, शुभाशुभ परिणामों को उनके संयोग का कारण सिद्धकर, दोनों उपयोगों का स्वरूप बताकर, इनसे रहित ज्ञानात्मक आत्मा का ध्याता शुद्धोपयोगी सिद्धकर, शरीरादि के प्रति जीव के कर्तृत्व आदि का निषेध करते हुये, अत्यन्त मध्यस्थ होने की भावना भाते हुये, यह अन्तराधिकार पूर्ण किया है।

इससे आगे मात्र पुद्गलबन्ध की मुख्यतावाले ९ गाथाओं में निबद्ध द्वितीय अन्तराधिकार को दो स्थलों में विभक्तकर, पुद्गल परमाणुओं के बंध की प्रक्रिया को विस्तार से समझाकर, जीव का तत्सम्बन्धी कर्तृत्व मिथ्या सिद्ध करते हुये, जघन्यगुण वाले परमाणुओं का बंध न होने को जीव के उदाहरण द्वारा १७७वीं गाथा-टीकान्तर्गत निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट करते हैं–

'परमचैतन्य परिणतिलक्षण परमात्मतत्त्व की धर्मध्यान-शुक्लध्यान के बल से, जैसे जघन्य स्निग्ध शक्ति स्थानीय क्षीणरागपना और जघन्यरूक्ष शक्ति स्थानीय क्षीणद्वेषपना होने पर जल-बालुका के समान जीव का बंध नहीं होता है; उसीप्रकार स्निग्ध-रूक्ष शक्ति के जघन्य होने पर पुद्गल-परमाणु का भी बंध नहीं होता है।'

यही भाव पुनः १७८वीं गाथा-टीका में स्पष्ट किया है।

इससे आगे द्वितीय स्थल में स्कन्ध के बंध की चर्चा करते हुये, शरीरादि को पुद्गलस्कन्धात्मक सिद्धकर, जीव के तत्सम्बन्धी अकर्तृत्व तथा भेदज्ञान की भावना भाते हुये, यह अन्तराधिकार पूर्ण किया है।

जीव का पुद्गल के साथ बंध बतानेवाली १९ गाथाओं में निबद्ध तृतीय अन्तराधिकार को छह स्थलों में विभक्त कर '**अरसमरूव- - - - -**' इत्यादि प्रसिद्ध गाथा की टीका द्वारा अस्ति-नास्ति शैली में जीव का स्वरूप स्पष्ट करते हुये, अमूर्तिक जीव का मूर्तिक कर्म के साथ बंध कैसे होता है ? — यह प्रश्न उपस्थितकर नय-विभाग द्वारा समाधान देते हुये, आचार्य लिखते हैं—

'जैसे, विशेष भेदज्ञान रहित कोई संसारी जीव, काष्ठ-पाषाण आदि अचेतन जिनप्रतिमा को देखकर, 'ये मेरे आराध्य हैं' – ऐसा मानता है। वहाँ यद्यपि सत्तावलोकन दर्शन के साथ प्रतिमा का तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, तथापि परिच्छेद्य-परिच्छेदक (ज्ञेय-ज्ञायक) लक्षण सम्बन्ध है। अथवा जैसे कोई विशेष भेदज्ञानी समवसरण में प्रत्यक्ष जिनेन्द्र भगवान को देखकर, 'ये मेरे आराध्य हैं' – ऐसा मानता है। वहाँ भी यद्यपि अवलोकन ज्ञान का जिनेश्वर के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, तथापि आराध्य-आराधक (पूज्य-पूजक) सम्बन्ध है।

उसीप्रकार यह आत्मा, यद्यपि निश्चय से अमूर्तिक है ; तथापि अनादि कर्मबंधवश व्यवहार से मूर्त होता हुआ, द्रव्यबंध के निमित्तभूत रागादि विकल्परूप भावबंध उपयोग को करता है। वैसा होने पर मूर्तद्रव्यकर्मों के साथ, यद्यपि तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, तथापि पूर्वोक्त दृष्टान्त से संश्लेष सम्बन्ध है – इसमें दोष नहीं है।'

इसके बाद मोह-राग-द्वेष को वास्तविक बन्ध सिद्ध करते हुये, बंध के तीन भेदों को बताकर, पुन: रागादि को ही बंध सिद्धकर, बंध के चार भेदों को अत्यन्त संक्षेप में स्पष्ट करते हुये, १९० गाथा की टीका में आप लिखते हैं—

'प्रवेश करते हैं – प्रदेशबंध, ठहरते हैं – स्थिति बंध, फल देकर चले जाते हैं –अनुभागबंध और बँधते हैं – प्रकृतिबंध है।'

चतुर्थ स्थल की १९१वीं गाथा-टीका में अस्ति-नास्तिपरक पद्धति से रागादि को ही बंध का कारण सिद्धकर निष्कर्षरूप में आप लिखते हैं— **'इसप्रकार रागपरिणाम को ही बंध का कारण जानकर, समस्त रागादि विकल्पजाल के त्याग द्वारा, विशुद्धज्ञान-दर्शन स्वभावी निजात्मतत्त्व में निरन्तर भावना करना चाहिये।'**

यही भाव १९२ गाथा-टीका के निष्कर्ष में भी दिया है।

१९३ गाथा की टीका में शुभाशुभ परिणामों को बंध का कारण तथा अनन्यगत अर्थात् स्वरूपस्थ परिणामों को दु:खक्षय (मोक्ष) का कारण सिद्धकर, नयविवक्षा में पहले से बारहवे गुणस्थान तक अशुद्ध निश्चयनय बताकर, अशुद्धनिश्चयनय के मध्य शुद्धोपयोग कैसे होता है ? — इस प्रश्न के समाधान में आप लिखते हैं—

'वस्तु की एकदेश परीक्षा नय का तथा शुभाशुभशुद्धद्रव्य का अवलम्बन उपयोग का लक्षण है – उसकारण अशुद्ध निश्चय के मध्य भी शुद्धात्मा का अवलम्बनपना होने से, शुद्ध ध्येयपना होने से और शुद्ध का साधकपना होने से शुद्धोपयोग परिणाम प्राप्त होता है।'

यहाँ ही शुद्धपारिणामिक भाव रूप शुद्धात्मा और शुद्धोपयोग में कथंचित् भेदाभेद सिद्ध करते हुये, शुद्ध पारिणामिकभाव को ध्येयरूप सिद्ध किया है।

तदुपरान्त स्वद्रव्य में प्रवृत्ति और परद्रव्य से निवृत्ति का एकमात्र कारण शरीरादि परपदार्थों से भेदविज्ञान सिद्ध करते हुये पंचमस्थल पूर्ण किया।

सात गाथाओं वाले छठवें स्थल में, जीव रागादि भावों का ही कर्ता है, पुद्गलकर्मों का नहीं — इसे स्पष्ट करते हुये, १९७ गाथा-टीका में लिखते हैं— **'जैसे सिद्ध भगवान पुद्गलों के मध्य में रहते हुये भी, परद्रव्य को ग्रहण करने-छोड़ने से रहित हैं; उसीप्रकार शुद्ध निश्चय से शक्ति अपेक्षा संसारी जीव भी परद्रव्य के ग्रहण-त्याग से रहित हैं – यह भावार्थ है।'**

इससे आगे, यद्यपि आत्मा परद्रव्य कर्म का कर्ता नहीं है, तथापि जब उन्हें लक्षितकर शुभाशुभ-रागद्वेष रूप परिणमित होता है, तो कर्मों से बँधता है — इसे स्पष्टकर, शुद्धनिश्चयनय से आत्मा को रागादि भावों का कर्ता कहने का अभिप्राय स्पष्ट करते हुये, आचार्य लिखते हैं—

'रागादि का ही आत्मा कर्ता है, द्रव्य कर्मों का नहीं; रागादि ही बंध के कारण हैं – जीव जब ऐसा जानता है, तो रागादि के विनाश के लिये, राग-द्वेषादि विकल्पजाल के त्याग द्वारा निज शुद्धात्मा की भावना करता है (तद्रूप परिणमित होता है)। उससे रागादि नष्ट हो जाते हैं, आत्मा शुद्ध हो जाता है। इस तरह परम्परा से शुद्धात्मा की साधकता होने से, यह अशुद्धनय भी उपचार से शुद्धनय, निश्चयनय तथा उपादेय कहा जाता है– यह अभिप्राय है।'

तदुपरान्त चार स्थलों में विभक्त, १२ गाथाओं वाले, **'शुद्धात्मानुभूतिलक्षण अविशेष भेदभावनापरक चूलिकाव्याख्यान'** नामक चतुर्थ अन्तराधिकार में — **'उपादान कारण के समान कार्य होने से, अशुद्धनय (के विषय) का आश्रय लेने से अशुद्धात्मा की, तथा शुद्धनय (के विषय) का आश्रय लेने से शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है।– यह स्पष्टकर, ध्रुवता होने से अपने शुद्धात्मा को ही मैं भाता हूँ, (शुद्धात्मा को ही 'मैं' रूप से जानकर, मानकर, उस रूप ही परिणमित होता हूँ; अन्य शरीरादि सभी अध्रुव होने से, मैं उनकी भावना नहीं करता हूँ।'** – इसप्रकार ध्रुवस्वभावी आत्मा का ही ध्यान करने की प्रेरणा देते हुये प्रथम स्थल पूर्ण किया।

इससे आगे शुद्धात्म-प्राप्ति का फल बतानेवाली गाथा २०७ की टीका करते हुये गाथागत **सागारोऽणागारो** पद का विश्लेषण करते हुये, आप लिखते हैं—

'आकार अर्थात् विकल्प सहित जो है, वह साकार– ज्ञानोपयोग और अनाकार – निर्विकल्प दर्शनोपयोग है। अथवा साकार-सविकल्प-गृहस्थ और अनाकार– निर्विकल्प-तपोधन। अथवा आकार – लिंग – चिन्ह से जो सहित हैं, वे साकार–यति और अनाकार–चिन्ह रहित गृहस्थ।'

यहाँ ही शुद्धात्म-प्राप्ति के फल में मोहग्रन्थि का नाश बताकर, इससे आगे मोहग्रन्थि के नाश से अक्षयसुख की प्राप्ति बताते हुये, स्वभाव में समवस्थित (लीन) ही आत्मा का ध्याता है — यह सिद्धकर, ध्यान, ध्यान-सन्तान, ध्यानचिंता और ध्यानान्वयसूचन* रूप से ध्यान का वर्णन करते हुये द्वितीयस्थल पूर्ण किया है।

* यह प्रकरण अन्यत्र सहज उपलब्ध न होने से मूलतः पठनीय-मननीय है।

इससे आगे केवली के ध्यान सम्बन्धी शंका उपस्थितकर, ध्यान होने के कारणों को स्पष्ट करते हुये, केवली भगवान के उनका अभाव होने से, वास्तव में उनके, अन्य कोई ध्यान न होकर अतीन्द्रिय, अनन्त, आत्मोत्थ-सुखरूप परिणमन ही ध्यान है— यह बताकर, ध्यान के कार्यभूत निर्जरा को देखकर उपचार से ध्यान सिद्ध करते हुये, तृतीय स्थल पूर्ण किया।

दर्शनाधिकार उपसंहारपरक चतुर्थस्थल में, निर्विकार स्वसंवित्ति लक्षण निश्चय रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग का निश्चयकर, सामान्य केवली, तीर्थंकर केवली, सिद्ध भगवन्तों तथा मोक्षमार्ग को, अनन्तज्ञानादि सिद्धगुण स्मरणरूप भावनमस्कार करते हुये, २१३वी गाथा-टीका में '**निर्ममत्वरूप से परिणत होता हूँ।**' — का भाव स्पष्ट करते हुए आचार्य लिखते हैं—

'केवलज्ञानदर्शन स्वभावी होने से मैं ज्ञायक एक टंकोत्कीर्ण स्वभाववाला हूँ। ऐसा होते हुये मेरा, परद्रव्यों के साथ स्व-स्वामी सम्बन्ध नहीं है - इतना ही नहीं, वरन् निश्चय से ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध भी नहीं है। इसकारण समस्त परद्रव्यों के प्रति ममत्वरहित होकर, परम साम्य लक्षण अपने शुद्धात्मा में लीन होता हूँ।'

यहाँ ही पाँचवी गाथा में की गई, प्रतिज्ञा का स्मरण करते हुये आगे लिखते हैं—

'जिन्होंने उस प्रतिज्ञा को ग्रहणकर मोक्ष प्राप्त किया, उन्होंने तो वास्तव में उस प्रतिज्ञा का निर्वाह किया है; परन्तु 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' ने ज्ञान-दर्शन-दो अधिकाररूप से ग्रन्थ समाप्तकर तथा शिवकुमार महाराज ने उस ग्रन्थ को सुनकर, वह प्रतिज्ञा पूर्ण की है; क्योंकि जो मोक्ष गये हैं, उनकी प्रतिज्ञा पूर्ण हुई; इनकी नहीं।'

इससे आगे दो महाधिकारों की समाप्ति की अपेक्षा अन्तमंगल तथा ग्रन्थ की अपेक्षा मध्यमंगल के लिये सिद्ध भगवान को नमस्कार करते हुये चतुर्थ स्थल और अन्तराधिकार के साथ ही '**सम्यग्दर्शन महाधिकार**' पूर्ण किया है; तथा कार्य की अपेक्षा यहाँ ही ग्रन्थ समाप्त हो गया — ऐसा लिखा है।

तत्पश्चात् चूलिकारूप से ९७ गाथाओं वाले '**सम्यग्चारित्र महाधिकार**' को चार अन्तराधिकारों में विभक्तकर, उत्सर्गरूप से चारित्र के संक्षिप्त व्याख्यानपरक, २१ गाथाओं वाले प्रथम अन्तराधिकार को पाँचस्थलों में विभक्तकर, प्रथम स्थल में दीक्षा लेनेवाले पुरुष के लिये दीक्षा लेने की विधि बताते हुये, २१५वी गाथागत **जिणवरवसहे** शब्द का विश्लेषण करते हुये, आप लिखते हैं—

'सासादन (दूसरे गुणस्थान) से लेकर क्षीणकषाय (१२वे गुणस्थान) पर्यन्त के जीव एकदेश जिन कहलाते हैं, शेष अनागार केवली जिनवर कहे जाते हैं, तथा तीर्थंकर परमदेव जिनवर वृषभ हैं।'

यहाँ ही प्रश्नोत्तर पद्धति में आप लिखते हैं—

'ग्रन्थ प्रारम्भ करने के पहले से ही दीक्षाग्रहण की हुई होने से ग्रन्थारम्भ में 'साम्य का आश्रय लेता हूँ' - ऐसा कहा था, परन्तु यहाँ ग्रन्थ करने के बहाने किसी भावना परिणत आत्मा

को दीक्षा लेने की विधि बताते हैं– इसप्रकार (ऐसा कहने में) कोई दोष नहीं है।'

तत्पश्चात् दीक्षा देने योग्य आचार्य के स्वरूप का वर्णनकर दीक्षार्थी की भेदभावना को व्यक्त करते हुये, द्रव्यलिंग-भावलिंग का निरूपणकर, श्रमण होने की क्रमिक प्रक्रिया का उल्लेख करते हुये, ७ गाथाओं में समाहित प्रथम स्थल पूर्ण किया।

तदुपरान्त दो गाथाओं युक्त द्वितीय स्थल में मूलगुणों का वर्णन करते हुये, आचार्य लिखते हैं–

'निश्चय से 'मूल' आत्मा है, उसके केवलज्ञानादि अनन्तगुण मूलगुण हैं; वे सभी मोक्ष के बीजभूत, निर्विकल्प समाधिरूप, परमसामायिक नामक निश्चय एक व्रत द्वारा मोक्ष होने पर प्रगट हो जाते हैं; इसकारण वही सामायिक मूलगुणों की प्रगटता का कारण होने से निश्चयमूलगुण है। जब यह जीव निर्विकल्प समाधि में समर्थ नहीं होता; तब जैसे कोई सुवर्णार्थी पुरुष सुवर्ण को प्राप्त करने में समर्थ न होने पर, उसकी कुण्डल आदि पर्यायों को ग्रहण करता है, सर्वथा त्याग नहीं कर देता; उसीप्रकार यह जीव भी निश्चयमूलगुण नामक परम समाधि के अभाव में छेदोपस्थापन चारित्र ग्रहण करता है। छेद होने पर उपस्थापन (फिर से उसी में स्थित होना) छेदोपस्थापन है। अथवा छेद–व्रतभेद से उपस्थापन छेदोपस्थापन है। वह संक्षेप में पाँच महाव्रतरूप है। उन व्रतों की रक्षा के लिये पाँच समिति आदि के भेद से अट्ठाईस मूलगुणरूप है। उन मूलगुणों की रक्षा के लिये बाईस परीषहजय, बारह तप के भेद से चौंतीस उत्तरगुणरूप है; तथा उनके भी रक्षणार्थ देवादिकृत चार प्रकार के उपसर्गजय और बारह भावनायें हैं– यह अभिप्राय है।'

इससे आगे दीक्षा-गुरु, निर्यापक-गुरु तथा छेद (व्रत-भंग) होने पर प्रायश्चित्त विधान बताते हुये, तीन गाथाओं सहित तृतीय स्थल समाप्त किया।

चतुर्थस्थल की तीन गाथाओं-टीकाओं में श्रामण्य में छेदजनक, परद्रव्य के प्रति प्रतिबन्ध (ममत्व) का निषेध करते हुये, निजशुद्धात्म-भावनारत परिपूर्ण श्रमणता का वर्णनकर, सर्वत्र ममत्व का त्याग करने की प्रेरणा देते हुये, इसे पूर्ण किया है।

तदनन्तर छह गाथाओं युक्त पाँचवे स्थल में अन्तरंग-बहिरंग छेद का निरूपण करते हुये, भाव (निश्चय) हिंसा-द्रव्य (व्यवहार) हिंसा का प्ररूपणकर, २३१ गाथा-टीका के निष्कर्ष में आप लिखते हैं–

'यहाँ अर्थ यह है– 'स्वस्थ भावनारूप निश्चयप्राणों को नष्ट करने में कारणभूत रागादि परिणति निश्चय हिंसा तथा रागादि उत्पत्ति के बहिरंगभूत परजीवों का घात व्यवहार हिंसा– इसप्रकार हिंसा के दो भेद जानना चाहिए। परन्तु विशेष यह है कि बहिरंग हिंसा हो अथवा न हो; स्वस्थभावनारूप निश्चयप्राणघात होने पर निश्चयहिंसा तो नियम से होती है; अतः वही मुख्य है।'

इसे ही विशेष स्पष्ट करते हुए २३४ गाथा-टीका के निष्कर्ष में लिखा है– **'इससे यह कहा गया है कि छहकाय जीवों से परिपूर्ण लोक में घूमते हुये शुद्धात्म-संवित्तिलक्षण शुद्धोपयोग परिणत-**

पुरुष (के माध्यम) से बहिरंग द्रव्य हिंसा मात्र होती है, तथापि निश्चयहिंसा नहीं है। इसकारण शुद्धपरमात्मभावना के बल से सर्व तात्पर्य द्वारा निश्चय हिंसा ही छोड़ना चाहिये।'

२३५ गाथा-टीका में इसे ही परिग्रह पर स्पष्ट करते हुये निष्कर्षरूप में आप लिखते हैं— **'यहाँ यह कहा गया है – रागादि परिणामरूप निश्चय हिंसा द्वारा शुद्धचैतन्यरूप निश्चयप्राणों का घात होने पर नियम से बंध होता है। परजीवों का घात होने पर बंध हो अथवा न हो, नियम नहीं है; परन्तु परद्रव्य में ममत्वरूप मूर्च्छा परिग्रह से तो नियम से बंध होता ही है।'**

इसप्रकार रागादि भावों की उत्पत्ति को ही छेद सिद्ध करते हुये, स्थल की पूर्णता के साथ ही प्रथम अन्तराधिकार भी पूर्ण किया।

देश-काल की अपेक्षा अपहृत-संयमरूप से अपवाद व्याख्यान करने के लिये ३० गाथाओं में निबद्ध द्वितीय अन्तराधिकार को चार स्थलों में विभक्तकर, प्रथम स्थल की प्रथम २३६ गाथा-टीका में, परिग्रह का सद्भाव होने पर चित्त की शुद्धि न हो सकने को स्पष्ट करते हुये आचार्य लिखते हैं— **'जैसे बहिरंग तुष (छिलका) का सद्भाव होने पर चावल की अंतरंग शुद्धि शक्य नहीं है, उसीप्रकार बहिरंग परिग्रह की अभिलाषा विद्यमान होने पर, निर्मल शुद्धात्मानुभूतिरूप चित्त की शुद्धि शक्य नहीं है। यदि विशिष्ट वैराग्यपूर्वक परिग्रहत्याग होता है, तो चित्त की शुद्धि होती ही है; परन्तु ख्याति, पूजा, लाभ के निमित्त त्याग होने पर वह नहीं होती है।'**

इसे ही आगामी चार गाथाओं द्वारा विशेष स्पष्टकर निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग की स्थापना करते हुये यह स्थल पूर्ण किया।

तदनन्तर तीन गाथायुक्त द्वितीय स्थल द्वारा अपवादरूप में संयम, शौच, ज्ञान सम्बन्धी उपकरणों का स्वरूप बताते हुये, यहाँ भी निर्ममत्वरूप से प्रवर्तन का कथनकर निष्कर्षरूप में लिखते हैं—

'शुद्धोपयोगलक्षणपरमोपेक्षा-संयम के बल से देह के प्रति भी निःप्रतिकारित्व (निर्ममत्व) कहा गया है; इससे ज्ञात होता है कि मोक्षसुख अभिलाषियों को निश्चय से देहादि सर्व परिग्रह त्याग ही उचित है, अन्य तो उपचार ही है।'

तत्पश्चात् तृतीय स्थल में, अनेक तर्क-युक्तियों तथा आगम-उद्धरणों द्वारा स्त्री-मुक्ति का निराकरण करते हुये, जिन-दीक्षा ग्रहण करने की पात्रता तथा सल्लेखना की योग्यता का विवेचनकर, ११ गाथाओं में निबद्ध यह स्थल पूर्ण किया।

तदुपरान्त अपवाद विशेष व्याख्यान परक ११ गाथाओं की टीकाओं द्वारा, युक्ताहार-विहार का निरूपण कर युक्ताहार का स्वरूप बताते हुये, उत्सर्ग सापेक्ष अपवाद तथा अपवाद सापेक्ष उत्सर्ग मार्ग की अस्ति-नास्ति— दोनों पद्धतियों से स्थापनाकर चतुर्थस्थल की पूर्णता के साथ ही द्वितीय अन्तराधिकार भी पूर्ण किया।

तदनन्तर १४ गाथाओं में समाहित 'मोक्षमार्ग' नामक तृतीय अन्तराधिकार को चार स्थलों में विभक्तकर, चार गाथाओं वाले प्रथम स्थल में, आगमाभ्यास की महत्ता बताकर, उसके बिना संयम अशक्य होने से विशिष्ट-

रूप से उसमें ही चेष्टा करने की प्रेरणा देते हुये, परोक्षरूप से आगम को केवलज्ञान के समान सिद्धकर, यह स्थल पूर्ण किया है ।

इससे आगे भेदाभेदरत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग की स्थापना करते हुये ; मात्र परमागमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान या संयतत्व को मोक्ष के प्रति अकार्यकारी सिद्धकर, तीनों की युगपतता को ही भेदरूप मोक्षमार्ग निरूपित करते हुये, अन्त में इन तीनों की युगपतता होने पर भी अभेदरत्नत्रयरूप स्वसंवेदनज्ञान के अभाव में मुक्ति न होने से, उसी अभेद रत्नत्रय की प्रधानता सिद्धकर द्वितीय स्थल पूर्ण किया है ।

तत्पश्चात् आत्मा की बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा रूप तीन दशाओं की चर्चा करते हुये, मोक्ष के कारणरूप में बहिरात्मा तथा परमात्मा दशा का सहेतुक निषेधकर, अन्तरात्मा दशा को मोक्ष का कारण सिद्ध करते हुये, उसे प्राप्त करने के उपायरूप में शुद्धपारिणामिकभावरूप परमात्म-द्रव्य को ध्येय सिद्ध करते हुये, इन दोनों के मध्य कथंचित् भेदाभेद को स्पष्ट किया है ।

इसके बाद चार गाथाओं द्वारा द्रव्य-भाव संयम का निरूपण करते हुये, २७६ गाथा-टीका के निष्कर्ष में तपोधन (मुनिराज) का लक्षण बताते हुये लिखते हैं—

'इससे यह सिद्ध हुआ कि – शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, निंदा-प्रशंसा, लोष्ट-सुवर्ण, जीवन-मरण में समता भावना से परिणत निजशुद्धात्म-तत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठान रूप निर्विकल्प समाधि से समुत्पन्न निर्विकार परमाह्लाद एक लक्षण सुखामृत परिणति स्वरूप जो परमसाम्य है, वही परमागमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्व की युगपतता और निर्विकल्प आत्मज्ञानरूप से परिणत तपोधन का लक्षण जानना चाहिये ।'

इससे आगे एकाग्रता को श्रामण्य की परिपूर्णता सिद्ध करते हुये तृतीय स्थल पूर्ण किया है ।

निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग के उपसंहारपरक, दो गाथाओं में निबद्ध चतुर्थस्थल में, स्वशुद्धात्मा में एकाग्र न होनेवाले के मोक्ष का अभाव दिखाते हुये, गाथा २७८ की टीका के निष्कर्षरूप में आचार्य लिखते हैं—

'जो निर्विकार स्वसम्वेदन ज्ञान द्वारा एकाग्र होकर अपने आत्मा को नहीं जानता है, उसका चित्त बाह्य विषयों में जाता है । इससे ज्ञानानन्द एक निज स्वभाव से च्युत होता है, राग-द्वेष-मोह रूप से परिणमित होता है, उसरूप परिणमित होते हुये अनेक प्रकार के कर्म बँधते हैं । इस कारण मोक्षार्थियों को एकाग्रता से अपने स्वरूप की भावना करना चाहिये – यह अर्थ है ।'

तदनन्तर पूर्ण स्वरूप-एकाग्र ही मोक्ष प्राप्त करता है — इसे सुनकर कोई कहता है—

'सयोगीकेवलियों के भी एकदेश चारित्र है, परिपूर्ण चारित्र तो अयोगी के अन्तिम समय में होगा, इसलिये अभी हमें सम्यक्त्व भावना और भेदज्ञान भावना ही पर्याप्त है, चारित्र तो बाद में होगा । आचार्य कहते हैं– ऐसा नहीं कहना चाहिये । अभेदनय से ध्यान ही चारित्र है, और वह ध्यान केवलियों के उपचार से कहा है, इसीप्रकार चारित्र भी उपचार से है । सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वक, समस्त रागादि विकल्पजालरहित शुद्धात्मानुभूतिलक्षण वीतराग छद्मस्थ चारित्र है, वही

कार्यकारी है । क्योंकि उससे ही केवलज्ञान होता है, अत: उस चारित्र को प्रगट करना ही कर्त
है – यह भावार्थ है ।'

यहाँ स्थल-समाप्ति के साथ तृतीय अन्तराधिकार भी समाप्त हुआ ।

इसके बाद ३२ गाथाओं में निबद्ध, पाँच स्थलों में विभक्त अन्तिम शुभोपयोगाधिकार के पाँच गाथा प्रथम स्थल में लौकिक (स्वेच्छाचारियों के) संसर्ग का निषेध करते हुये 'भेदाभेद रत्नत्रयभाव को नष्ट क वाले, ख्याति-पूजा-लाभ के निमित्त ज्योतिष, मंत्रवाद, वैदिक आदि इस जीवन के उपायभूत कर्म को ऐहिक व बताकर, इनमें लगे व्यक्तियों को लौकिक कहकर, दु:खों से परिमोक्ष चाहनेवालों को अधिक गुणवालों या सम गुणवालों की संगति में रहना चाहिये – इसे जल के उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुये, रोगी आदि श्रमणों वैयावृत्ति के निमित्त लौकिक जनों के साथ वार्तालाप निंदित नहीं है – यह बताकर, वैयावृत्तिरूप शुभोपये की मुख्यता गृहस्थों के है – इसे स्पष्ट करते हुये, आप लिखते हैं–

'मुनिराज अन्य मुनिराजों की वैयावृत्ति करते हुये शरीर से कुछ भी निर्दोष वैयावृत्ति क हैं और वचन से धर्मोपदेश देते हैं । शेष औषध-अन्न-पान आदि गृहस्थों के अधीन हैं ; अ वैयावृत्तिरूप धर्म गृहस्थों के मुख्य है, मुनिराजों के गौण है ।

इसमें दूसरा भी कारण है– निर्विकार चित्चमत्कार भावना से प्रतिपक्षभूत, विषय-कषा के निमित्त उत्पन्न होनेवाले आर्त-रौद्र – दो दुर्ध्यानों से परिणत गृहस्थों के (मुनि की अपेक्षा) आत्माश्रित निश्चयधर्म का अवकाश नहीं है । वैयावृत्ति आदि धर्म से दुर्ध्यान नष्ट होता है, अ तपोधन के संसर्ग से निश्चयव्यवहार मोक्षमार्ग के उपदेश का लाभ होता है, उसके द्वारा परम्प से निर्वाण प्राप्त करते हैं – यह अभिप्राय है ।'

तत्पश्चात् आठ गाथाओं में समाहित सराग-संयमरूप शुभोपयोग के प्रतिपादनपरक द्वितीय स्थल शुद्धोपयोगियों और शुभोपयोगियों को क्रमश: अनास्रवी और सास्रवी सिद्धकर शुभोपयोगी श्रमणों स्वरूप बताते हुये उनकी प्रवृत्तियों का प्ररूपणकर, इन दोनों का विशेष वर्णन करते हुए लिखा है–

'शुभोपयोगियों के भी किसी समय शुद्धोपयोग भावना दिखाई देती है, शुद्धोपयोगियों के भी किसी समय शुभोपयोग भावना दिखाई देती है, श्रावकों के भी सामायिक आदि के सम शुद्ध भावना दिखाई देती है; उनका विशेष भेद कैसे जाना जाता है ? आचार्य परिहार करते हु कहते हैं – आपका कहना ठीक है ; परन्तु जो प्रचुरता से शुभोपयोगरूप वर्तते हैं, वे यद्यपि किसी समय शुद्धोपयोगभावना करते हैं, तथापि शुभोपयोगी ही कहलाते हैं ; तथा जो शुद्धोपयोगी है वे यद्यपि किसी समय शुभोपयोगरूप से वर्तते हैं, तथापि शुद्धोपयोगी ही कहलाते हैं । आम्रवन निम्बवन के समान बहुपद की प्रधानता होने से, ऐसा कथन होता है ।'

इसके बाद चतुर्विध श्रमणसंघ का स्वरूप तथा भेद स्पष्ट करते हुये, षट्काय विराधनारूप वैयावृत्ति के सम्बन्ध में आप लिखते हैं–

'यहाँ तात्पर्य यह है – जो अपने शरीर के पोषण के लिये अथवा शिष्यादि के मोह से भ

सावद्य नहीं चाहता है, उसे यह व्याख्यान शोभा देता है; परन्तु जो अन्यत्र तो सावद्य चाहता है, और अपनी अवस्था के योग्य वैयावृत्ति आदि धर्मकार्य में नहीं चाहता है, उसके तो सम्यक्त्व ही नहीं है।'

इसके आगे दयासहित धर्मवात्सल्य करने का उपदेश देते हुये, वैयावृत्ति कब करना चाहिये — इसे स्पष्टकर निष्कर्षरूप में आप लिखते हैं— **'यहाँ तात्पर्य यह है– स्वस्थभावना का विघात करनेवाले रोगादि के प्रसंग में वैयावृत्ति करता है, शेष समय में अपना अनुष्ठान करता है।'**

छह गाथाओं वाले तृतीय स्थल में पात्रापात्र की परीक्षा करते हुये, गाथा २९३ की टीका में पात्रभेद से फलभेद सिद्ध करते हुये, गाथा २९४ में आये **छदुमत्थविहिदवत्थुसु** का अर्थ अल्पज्ञानी पुरुष व्यवस्थापित पात्रभूत वस्तु करके, उसे स्पष्ट करते हुये आप लिखते हैं—

'जो कोई निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग को नहीं जानते हैं, पुण्य को ही मोक्ष का कारण कहते हैं, वे 'छद्मस्थ' शब्द से ग्रहण किये जाते हैं; गणधरदेव आदि नहीं। शुद्धात्म-उपदेश से शून्य उन छद्मस्थ अज्ञानियों से जो दीक्षित हैं, वे छद्मस्थ विहित वस्तुयें हैं। उन पात्र (व्यक्तियों) के संसर्ग से जो व्रत, नियम, अध्ययन, दानादिक करता है, वह भी शुद्धात्मभावना के अनुकूल नहीं होता; उससे मोक्ष प्राप्त नहीं होता; सुदेव-मनुष्यत्व प्राप्त होता है – ऐसा अर्थ है।'

आगे **'परमात्मतत्त्व के श्रद्धान-ज्ञान से शून्य, विषय-कषायाधीन होने से निर्विषय शुद्धात्मस्वरूप की भावना से रहित जीवों के प्रति किया गया दानादि कुदेव-मनुष्यत्वरूप से फलता है'** —इसे स्पष्टकर, विषय-कषायादि में आसक्त जीवों को पाप तथा अपने भक्त दाताओं के पुण्य को नष्ट करनेवाला सिद्ध करते हुये, २९७ गाथा-टीका में पात्रभूत तपोधन का लक्षण बताकर, भव्यजीवों के निस्तारक (पार करनेवाले), पात्रभूत तपोधन का विशेष वर्णन करते हुये, यह स्थल पूर्ण किया है।

तदुपरान्त मुनिराजों के परस्पर समाचार (विनयादि) कथनपरक आठ गाथाओं में निबद्ध चतुर्थ स्थल द्वारा, अभ्यागत (नवीन, अपरिचित, अभी आये हुये) तपोधन के साथ तीन दिन तक सामान्य विनयादि व्यवहार करके, उसके बाद विशेष व्यवहार की विधि बताते हुये, उन व्यावहारिक क्रियाओं का विशेषरूप से विवेचनकर, इन क्रियाओं के योग्य श्रमण का स्वरूप स्पष्ट करते हुये, आप लिखते हैं—

'यहाँ तात्पर्य यह है– जो बहुश्रुत होने पर भी चारित्र में अधिक नहीं हैं, वे भी परमागम-अभ्यास के निमित्त यथायोग्य वन्दनीय हैं।

दूसरा भी कारण है– वे सम्यक्त्व और ज्ञान में पहले से ही दृढ़तर हैं, परन्तु इन नये तपोधन के सम्यक्त्व और ज्ञान में भी दृढ़ता नहीं है। आगम में स्तोकचारित्रवालों के प्रति वन्दनादि का निषेध तो अतिप्रसंग के निषेध के लिये किया गया है।'

इसके बाद श्रमणाभासों का स्वरूप स्पष्ट करते हुये, मार्गस्थ (सच्चे) श्रमण का अपवाद करनेवाले के प्रति चारित्र-भ्रष्टतारूप दोष दिखाते हुये, आचार्य लिखते हैं—

'यहाँ भावार्थ यह है– बहुश्रुतों को अल्पश्रुत तपोधनों का दोष ग्रहण नहीं करना चाहिये,

उन तपोधनों को भी कुछ पाठमात्र ग्रहणकर उनका दोष ग्रहण नहीं करना चाहिये, अपितु कुछ भी सारपद ग्रहणकर आत्म-भावना करना चाहिये। ऐसा क्यों करना चाहये ? क्योंकि राग-द्वेष की उत्पत्ति होने पर बहुश्रुतों को श्रुत का फल और तपोधनों को तप का फल नहीं होता है।'

इससे आगे जो हीनगुणी होने पर भी अधिकगुणवालों से अपनी विनय आदि कराना चाहता है या अधिक गुणी होने पर भी हीनगुणियों की विनय आदि करना चाहता है, तो दोनों ही अवस्थाओं में अनन्त संसारी, मिथ्या-उपयुक्त (मिथ्यादृष्टि) होता हुआ चारित्र से भ्रष्ट होता है; यह बताते हुये निष्कर्षरूप में आप लिखते हैं—

'वन्दनादि क्रियाओं में या तत्त्व-विचार आदि में जहाँ राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, वहाँ सर्वत्र दोष ही है।

प्रश्न – यह आपकी ही कल्पना है, आगम में तो ऐसा नहीं है ?

उत्तर – ऐसा नहीं है। सम्पूर्ण आगम राग-द्वेष के परिहारार्थ ही है; परन्तु जो कोई उत्सर्ग-अपवाद रूप से आगम के नय-विभाग को नहीं जानते हैं, वे ही राग-द्वेष करते हैं, अन्य नहीं।'

पाँच गाथाओं वाले पंचरत्न नामक अन्तिम पाँचवे स्थल में, अयथा-गृहीत अर्थ (विपरीत पदार्थ ग्रहण करनेवाले) को संसार-स्वरूप और यथार्थपद निश्चित आदि को मोक्ष-स्वरूप सिद्धकर, मोक्ष के कारण प्रसिद्ध करते हुये, शुद्धोपयोग लक्षण मोक्षमार्ग को ही सर्व मनोरथ-सिद्धि का स्थान दिखाते हुये, अन्तिम ३११ गाथा-टीका द्वारा शास्त्र का फल बताकर, गाथागत पवयणसारं को स्पष्ट करते हुये आप लिखते हैं—

'सम्यग्ज्ञान का, उसके ही ज्ञेयभूत परमात्मा आदि पदार्थों का और उससे साध्य निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान का; उसीप्रकार तत्त्वार्थलक्षण सम्यग्दर्शन का, उसके विषयभूत अनेकान्तात्मक परमात्मा आदि द्रव्यों का तथा उस व्यवहार सम्यक्त्व द्वारा साध्य निज शुद्धात्म-रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व का; उसीप्रकार व्रत, समिति, गुप्ति आदि अनुष्ठानरूप सरागचारित्र का, उससे ही साध्य स्वशुद्धात्म निश्चल-अनुभूतिरूप वीतरागचारित्र का प्रतिपादक होने से यह 'प्रवचनसार' है।'

यहाँ इस स्थल और अन्तराधिकार की पूर्णता के साथ 'सम्यक्चारित्र' नामक तृतीय महाधिकार भी पूर्ण हुआ।

तत्पश्चात् अत्यन्त संक्षिप्त 'परिशिष्ट' में निश्चय-व्यवहार आदि छह नयों तथा प्रमाण के माध्यम से परमात्मद्रव्य की परीक्षा करके, उसकी प्राप्ति का उपाय बताते हुये आप लिखते हैं—

'सकल-विमल केवलज्ञान-दर्शनस्वभावी निज परमात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप अभेद रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न, रागादि उपाधि रहित परमानन्द एकलक्षण सुखामृत रसास्वाद को प्राप्त न करता हुआ यह जीव, पूर्णमासी के दिन जल-लहरों से क्षुब्ध समुद्र के समान, जबतक राग-द्वेष-मोहरूपी लहरों द्वारा स्वस्थ (स्वरूप-स्थिरता) रूप से क्षुब्ध रहता है, तबतक निज शुद्धात्मा को प्राप्त नहीं कर पाता है। वही, जब वीतराग-सर्वज्ञ प्रणीत उपदेश से (भवितव्याधीन) सर्व दुर्लभ दशाओं को काकतालीय न्याय

से प्राप्तकर, सकल-विमल केवलज्ञान-दर्शनस्वभावी निज परमात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरणरूप अभेदरत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न, रागादि उपाधि रहित परमानन्द एक लक्षण सुखामृत रसास्वाद के अनुभव का लाभ होने पर, अमावस्या के दिन जल-लहरों के क्षोभ से रहित समुद्र के समान राग-द्वेष-मोहरूप लहरों के क्षोभ से रहित होता हुआ, जब निजशुद्धात्म-स्वरूप में स्थिर होता है, तब वही निज शुद्धात्मस्वरूप को प्राप्त होता है।'

इसप्रकार परमसुखी होने के लिये बारम्बार स्वरूप-स्थिर होने की प्रेरणा देनेवाली प्रस्तुत 'तात्पर्यवृत्ति' टीका अध्यात्म-आगम से ओतप्रोत, कितने ही नवीन प्रमेयों से परिपूर्ण, अद्भुत टीका है।

॥ मोक्षाभिलाषीका लक्षण ॥

मोच्छअभिलाषी भव्य जीवको प्रथम सर्व,
दर्वनिको जथारथ ज्ञान भयो चहिये।
तैसैंही चारित्रको स्वरूप भले जान करि,
ज्ञानके सुफलहेत ताकों तब गहिये॥
आतमीक ज्ञानसेती जेती अविरोध क्रिया,
इच्छा अहंकार तजि ताहीको निबहिये।
ऐसे ज्ञान आचरन दोनोंमाहिं 'वृन्दावन',
एकताई भयेहीसों अखै सुख लहिये॥ ३॥

—कविवर वृन्दावनदासजी विरचित, श्री प्रवचनसार-परमागम (अध्याय-७)

प्रस्तुत पुस्तक की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

क्र. सं.	दातार का नाम	राशि
१.	ब्र॰ हीरालाल खुशाल चन्द दोशी, मांडवे	५००१/-
२.	ब्र॰ कंचनबेन धांगधावाले, सोनगढ़	२५००/-
३.	ब्र॰ पुष्पा बहन, सोनगढ़	२५००/-
४.	स्व॰ श्री छोटालाल बी. मेहता	११००/-
५.	श्री तलकचन्द वीरचन्दजी दोशी, करमाला	१००१/-
६.	श्रीमती भँवरी देवी घीसालाल जी छाबड़ा, सीकर	१००१/-
७.	श्री शान्तिनाथ मल्लिनाथ सोनाज, अकलूज	१००१/-
८.	श्री उदयकुमार शान्तिनाथ सोनाज, अकलूज	१००१/-
९.	श्री अनिल कुमार शान्तिनाथ सोनाज, अकलूज	१००१/-
१०.	श्री चन्द्रकान्त शान्तिनाथ सोनाज, अकलूज	१००१/-
११.	श्री इन्द्रलाल शाह, जयपुर	१००१/-
१२.	श्रीमती नारायणी देवी ध॰ प॰ गुलाबचन्द जी जैन, दिल्ली	१००१/-
१३.	श्रीमती छवनवेन भाईचन्द गाँधी जैन, सोनगढ़	१०००/-
१४.	स्व॰ रंगूबाई उम्मेदमलजी भण्डारी, सायला हस्ते माँगीलालजी बैंगलोर	१०००/-
१५.	श्री राजकुमाजी जैन, कानपुर	१०००/-
१६.	श्री सौभागमलजी पाटनी, बम्बई	१०००/-
१७.	श्रीमती मोहनी देवी पाटनी ध॰ प॰ स्व॰ सोहनलालजी पाटनी, कलकत्ता	७००/-
१८.	श्रीमती प्रकाशवती गम्भीरचन्द जैन, अलीगंज	५०१/-
१९.	श्री हंसमुख भाई शेष भक्त जैन, पूना	५०१/-
२०.	श्रीमती रतनप्रभा मोतीचन्द लुहाड़िया, दिल्ली	५०१/-
२१.	श्री मदनराजजी छाजेड़, जोधपुर	५०१/-
२२.	श्री हुलासमलजी कासलीवाल, कलकत्ता	५०१/-
२३.	श्री नेमीचन्द गेंदालाल जैन, गुना	५०१/-
२४.	श्रीमती सुशीला बाई अध्यापिका कुंभराज, गुना	५०१/-
२५.	श्रीमती गुलाबीदेवी ध॰ प॰ श्री लक्ष्मीनारायणजी रारा, शीवसागर	५०१/-
२६.	श्रीमती पुष्पाबाई जैन ध॰ प॰ अजितकुमार जी जैन, मुरेना	५०१/-
२७.	विनयदक्ष चेरिटेबल ट्रस्ट, बम्बई	५०१/-

२८.	श्रीमती सोहनीदेवी ध॰ प॰ कज्जूलालजी पाटनी, कुचामनसिटी	५००/-
२९.	स्व॰ पूनमचन्दजी सेठी, बाँरा	५००/-
३०.	श्री अभिनन्दन प्रसादजी जैन, सहारनपुर	३०१/-
३१.	श्रीमती कान्ताबाई पूनमचन्दजी छाबड़ा परिवार, इन्दौर	३०१/-
३२.	श्रीमती मनोरमा राजुल वीणा, इन्दौर	३०१/-
३३.	श्रीमती किशोरबाई, महू	३०१/-
३४.	श्री फूलचन्द विमलचन्दजी, झाँझरी, उज्जैन	३०१/-
३५.	श्रीमती राजमती बाई, गुना	२५१/-
३६.	श्री गप्पालाल केवलचंदजी खजाँची, गुना	२५१/-
३७.	श्रीमती अशर्फी देवी ध॰ प॰ श्री गट्टूलालजी जैन, गुना	२५१/-
३८.	श्री रामबाबू प्रमोद कुमारजी, फिरोजाबाद	२५१/-
३९.	श्री अमोलक लाल लालचन्द परिवार, जोरावरनगर	२५१/-
४०.	श्री सुन्दरलालजी मामा, नागपुर	२५१/-
४१.	श्री माणकचन्दजी लुहाड़िया, दिल्ली	२५१/-
४२.	प्रो॰ कृष्णराव ए॰ गोसावी, औरंगाबाद	२५१/-
४३.	श्रीमती लीलाबेन सुभागचन्द शाह, लन्दन	२५१/-
४४.	श्री प्रकाशचन्दजी नेताजी कुम्भराज, गुना	२५१/-
४५.	श्रीमती केसरवाई (नन्दराम माणकचन्द), गुना	२०१/-
४६.	श्री धनकुमारजी जैन, जयपुर	२०१/-
४७.	श्री राजेशचन्द गम्भीरचन्दजी, अलीगंज	२०१/-
४८.	श्री जुगराज कासलीवाल, कलकत्ता	२०१/-
४९.	श्रीमती बसन्ती बाई हरकचन्दजी छाबड़ा, सीकर	२०१/-
५०.	श्री लालराम साहु , अशोकनगर	२०१/-
५१.	श्री कुन्द कुन्द चन्द्रकान्त सोनाज, अकलूज	२०१/-
५२.	श्री प्रकाशचन्द गम्भीरचन्दजी, सेमारी वाले (अहमदाबाद)	२०१/-
५३.	श्री गंगाधर कामाजी महाजन, कलमनूरी	२०१/-
५४.	श्री एम.एल.जैन वकील, सागर	२०१/-
५५.	श्री तख्तराजजी जैन एवं परिवार, कलकत्ता	२००/-
५६.	श्रीमती सुशीला बाई ध॰ प॰ श्री जवाहरलाल जी, विदिशा	२०१/-
५७.	श्रीमती सुशीला बाई नन्दकुमार सिंघई, इन्दौर	२०१/-
५८.	श्री कैलाशचन्द माँगीलाल जी इन्दौर	

५९.	श्रीमती बसन्ती देवी छाबड़ा, बम्बई	२००/-
६०.	श्री मनुभाई मगनलाल, सोनगढ़	२००/-
६१.	श्रीमती वादाम बाई चिरन्जीलाल, अकोला	२००/-
६२.	गुप्तदान-हस्ते ब्र॰ हीराबैन, मुँगावली	२००/-
६३.	श्रीमती पानादेवी सेठी ध॰ प॰ मोहनलालजी सेठी गोहाटी	२०१/-
६४.	श्रीमती इन्द्रमणी देवी ध॰ प॰ आनन्दीलाल चुडीलालजी, रामगढ़ केन्ट विहार	२०१/-
६५.	श्री मनोहरलाल जी काला, इन्दौर	१५१/-
६६.	श्रीमती कमलादेवी, जयपुर	१५१/-
६७.	श्री सुनील जैनापुरे, जयपुर	१११/-
६८.	स्व॰ श्रीमती कुसुमलता बंसल एवं सुनन्द बंसल स्मृति निधि द्वारा— डॉ॰ राजेन्द्र बंसल, अमलाई	१११/-
६९.	श्री जयन्ती भाई धनजी भाई दोशी, बम्बई	१११/-
७०.	श्रीमती मनोरमाबाई ध॰ प॰ स्व॰ श्री अर्जुनलाल जी, भीलवाड़ा	१११/-
७१.	स्व॰ श्रीमती राजकरी देवी ध॰ प॰ श्री पदमसैन जी, जैन, खतौली	१०१/-
७२.	श्रीमती चन्द्रादेवी ध॰ प॰ श्री राजेन्द्र कुमारजी, राघोगढ़	१०१/-
७३.	श्रीमती सुशीला जैन ध॰ प॰ श्री सौभागमलजी, भीलवाड़ा	१०१/-
७४.	श्रीमती राजकुमारी गोधा ध॰ प॰ श्री कोमलचन्दजी गोधा, जयपुर	१०१/-
७५.	श्रीमती आशा कुमारी ध॰ प॰ श्री प्रेमचन्दजी बड़जात्या, दिल्ली	१०१/-
७६.	श्री नारायण सिंह जी बोहरा, जयपुर	१०१/-
७७.	श्री दुलीचन्द कमलेशकुमार, खेरागढ़	१०१/-
७८.	श्री कुन्द कुन्द मूलचन्द चेरिटेबल ट्रस्ट, अजमेर	१०१/-
७९.	श्रीमती रतनीदेवी प्रकाशचन्दजी कोठारी, जयपुर	१०१/-
८०.	श्री दीनदयाल जयकुमार जी, भिण्ड	१०१/-
८१.	सौ॰ जानकीबाई दरबारीलाल जी जैन, सागर	१०१/-
८२.	सौ॰ पुष्पा चक्रेश कुमार सिंघई, सागर	१०१/-
८३.	सौ॰ सविता अजित कुमार जी जैन, खुरई	१०१/-
८४.	सौ॰ अर्चना अरविन्द चौधरी, गढ़ा कोटा	१०१/-
८५.	चौधरी फूलचन्दजी द्वारा मनोज एण्ड कम्पनी, बम्बई	१०१/-
८६.	श्री सुरेशचन्द सुनील कुमार जैन, बैंगलोर	१०१/-
८७.	मै. नन्दराम सूरजमल, दिल्ली	१०१/-
	योग	४१३१३/-

ॐ

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव-प्रणीत

श्री प्रवचनसार-प्राभृत

श्रीमद् जयसेनाचार्यदेव-प्रणीत-तात्त्पर्यवृत्ति

॥ मंगलाचरण ॥

नमः परमचैतन्यस्वात्मोत्थसुखसम्पदे ।
परमागमसाराय सिद्धाय परमेष्ठिने ॥

अथ प्रवचनसारव्याख्यायां मध्यमरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थायां मुख्यगौणरूपेणान्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वप्ररूपणसमर्थायां च प्रथमत एकोत्तरशतगाथाभिर्ज्ञानाधिकारः, तदनन्तरं त्रयोदशाधिकशतगाथाभिर्दर्शनाधिकारः, ततश्च सप्तनवतिगाथाभिश्चारित्राधिकारश्चेति समुदायेनैकादशाधिकत्रिशतप्रमितसूत्रैः सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्ररूपेण महाधिकारत्रयं भवति ।

अथवा टीकाभिप्रायेण तु सम्यग्ज्ञानज्ञेयचारित्राधिकारचूलिकारूपेणाधिकारत्रयम् ।

हिन्दी-अनुवादिका कृत मंगलाचरण —

विस्मृत रहा अभी तक निजसुख करण्ड,
पाया नहीं स्वयं जो शिव ध्रुव अखण्ड ।
तात्पर्यवृत्ति भाषा कर हो विशुद्ध,
स्वात्मानुभूति प्रगटा सुखमय विशुद्ध ॥

श्लोकार्थ— परम चैतन्यरूप अपने आत्मा के आश्रय से उत्पन्न सुखरूपी सम्पदा से सम्पन्न, परमागम के सारभूत सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार हो ।

विशेषार्थ— परमागम में प्रतिपादित शुद्धात्मा के आश्रय से सिद्धदशा प्रगट होने के कारण यहाँ उसे परमागम का सार कहा है ।

अब, मध्यमरुचि शिष्य के सम्बोधनार्थ मुख्यगौणरूप से अन्तस्तत्त्व, बहिस्तत्त्व के निरूपण में समर्थ 'प्रवचनसार' की प्रस्तुत टीका में सर्वप्रथम १०१ गाथाओं द्वारा ज्ञानाधिकार, तदुपरान्त ११३ गाथाओं द्वारा दर्शनाधिकार, तत्पश्चात् ९७ गाथाओं द्वारा चारित्राधिकार — इसप्रकार कुल ३११ गाथाओं द्वारा प्ररूपित सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप ३ महाधिकार हैं ।

अथवा टीकाकार (आचार्य अमृतचन्द्र) के अभिप्राय से सम्यग्ज्ञान, ज्ञेय और चारित्राधिकारचूलिका रूप से तीन अधिकार हैं ।

१– सम्यग्ज्ञान महाधिकार

(ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापनाधिकार)

तत्राधिकारत्रये प्रथमतस्तावज्ज्ञानाभिधानमहाधिकारमध्ये द्वासप्ततिगाथापर्यन्तं शुद्धोपयोगाधिकारः कथ्यते। अथ पंचविंशतिगाथापर्यन्तं ज्ञानकण्डिकाचतुष्टयप्रतिपादकनामा द्वितीयोऽधिकारश्चेत्यधिकारद्वयेन, तदनन्तरं स्वतन्त्रगाथाचतुष्टयेन चैकोत्तरशतगाथाभिः प्रथममहाधिकारे समुदायपातनिका ज्ञातव्या।तासु द्वासप्ततिगाथासु मध्ये 'एस सुरासुर–' इमां गाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण चतुर्दशगाथापर्यन्तं पीठिका, तदनन्तरं सप्तगाथापर्यन्तं सामान्येन सर्वज्ञसिद्धिः, तदनन्तरं त्रयंस्त्रिशद्गाथापर्यन्तं ज्ञानप्रपंचः, ततश्चाष्टादशगाथापर्यन्तं सुखप्रपंचश्चेत्यन्तराधिकारचतुष्टयेन शुद्धोपयोगाधिकारो भवति।

प्रस्तुत कथन को निम्न सारणी द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं।

क्रम	अधिकार संख्या	आचार्य जयसेनकृत अधिकार का नाम	गाथा कहाँ से कहाँ पर्यन्त	कुल गाथायें	आचार्य अमृतचन्द्रकृत अधिकार का नाम	गाथा कहाँ से कहाँ पर्यन्त	कुल गाथायें
१.	प्रथम महाधिकार	सम्यग्ज्ञान	१ से १०१	१०१	ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन	१ से ९२	९२
२.	द्वितीय महाधिकार	सम्यग्दर्शन	१०२ से २१४	११३	ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन	९३ से २००	१०८
३.	तृतीय महाधिकार	सम्यक्चारित्र	२१५ से ३११	९७	चरणानुयोग सूचकचूलिका	२०१ से २७५	७५
	३ अधिकार			३११			२७५

उपर्युक्त ३ महाधिकारों में प्रथम सम्यग्ज्ञान नामक महाधिकार भी ३ भागों में विभक्त है। वहाँ ७२ गाथा पर्यन्त प्रथम शुद्धोपयोगाधिकार, २५ गाथा पर्यन्त द्वितीय ज्ञानकण्डिका चतुष्टय प्रतिपादक अधिकार तथा तृतीय स्वतन्त्र गाथा चतुष्टय अधिकार है– इसप्रकार १०१ गाथाओं द्वारा प्रथम महाधिकार में समुदायपातनिका (सूचनिका) जाननी चाहिये।

७२ गाथाओं में निबद्ध शुद्धोपयोग नामक प्रथम अधिकार भी ४ अन्तराधिकारों में विभक्त है। वहाँ 'एससुरासुर.......' इस गाथा से प्रारम्भ कर पाठक्रम से १४ गाथा पर्यन्त पीठिका, तत्पश्चात् ७ गाथा पर्यन्त सामान्य से सर्वज्ञ सिद्धि, तदुपरान्त ३३ गाथा पर्यन्त ज्ञानप्रपंच तथा १८ गाथा पर्यन्त सुखप्रपंच– इसप्रकार ४ अन्तराधिकारों में शुद्धोपयोगाधिकार पूर्ण होता है।

इदानीं प्रथमपातनिकाभिप्रायेण प्रथमतः पीठिकाव्याख्यानं क्रियते, तत्र पंचस्थलानि भवन्ति ; तेष्वादौ नमस्कारमुख्यत्वेन गाथापंचकं, तदनन्तरं चारित्रसूचनमुख्यत्वेन *'संपज्जइ णिव्वाणं'* इति प्रभृति गाथात्रयमथ शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयसूचनमुख्यत्वेन *'जीवो परिणमदि'* इत्यादिगाथासूत्रद्वयमथ तत्फलकथनमुख्यतया *'धम्मेण परिणदप्पा'* इति प्रभृति सूत्रद्वयम् । अथ शुद्धोपयोगध्यातुः पुरुषस्य प्रोत्साहनार्थं शुद्धोपयोगफलदर्शनार्थं च प्रथमगाथा, शुद्धोपयोगिपुरुषलक्षणकथनेन द्वितीया चेति *'अइसयमादसमुत्थं'* इत्यादि गाथाद्वयम् ।

एवं पीठिकाभिधानप्रथमान्तराधिकारे स्थलपंचकेन चतुर्दशगाथाभिस्समुदायपातनिका ।

प्रथम शुद्धोपयोगाधिकार की सारणी

(कुल ७२ गाथायें)

अन्तराधिकार क्रम	अन्तराधिकार का नाम	कहाँ से कहाँ तक	कुल गाथायें
प्रथम	पीठिका	१ से १४	१४
द्वितीय	सामान्य सर्वज्ञ सिद्धि	१५ से २१	७
तृतीय	ज्ञानप्रपंच	२२ से ५४	३३
चतुर्थ	सुखप्रपंच	५५ से ७२	१८

अब प्रथमपातनिका के अभिप्राय से सबसे पहले पीठिका का व्याख्यान करते हैं । वहाँ ५ स्थल हैं । उनमें सर्वप्रथम नमस्कार की मुख्यता से ५ गाथायें, उसके बाद चारित्र कथन की मुख्यता से *"संपज्जइ णिव्वाणं....."* इत्यादि ३ गाथायें, तदुपरान्त शुभोपयोग, अशुभोपयोग, शुद्धोपयोग — इन तीन उपयोगों के कथन की मुख्यता से *"जीवो परिणमदि........"* इत्यादि २ गाथायें, तत्पश्चात् उनका फल कहने की मुख्यता से *"धम्मेण परिणदप्पा........"* इत्यादि २ गाथायें, इसके बाद शुद्धोपयोगी ध्याता पुरुष के प्रोत्साहन के लिये शुद्धोपयोग का फल दिखाने वाली पहली गाथा तथा शुद्धोपयोगी पुरुष का लक्षण कहने वाली दूसरी गाथा — इसप्रकार *"अइसयमादसमुत्थं-"* इत्यादि दो गाथायें हैं ।

इसप्रकार पीठिका नामक पहले अन्तराधिकार में पाँच स्थलों से १४ गाथाओं द्वारा समुदायपातनिका (पूर्ण हुई) ।

तद्यथा–

अथ कश्चिदासन्नभव्यः शिवकुमारनामा स्वसंवित्तिसमुत्पन्नपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतविपरीतचतुर्गतिसंसारदुःखभयभीतः, समुत्पन्नपरमभेदविज्ञानप्रकाशातिशयः, समस्तदुर्नयैकान्तनिराकृतदुराग्रहः, परित्यक्तसमस्तशत्रुमित्रादिपक्षपातेनात्यन्तमध्यस्थो भूत्वा धर्मार्थकामेभ्यः सारभूतामत्यन्तात्महितामविनश्वरां पंचपरमेष्ठिप्रसादोत्पन्नां मुक्तिश्रियमुपादेयत्वेन स्वीकुर्वाणः, श्रीवर्धमानस्वामितीर्थकरपरमदेवप्रमुखान् भगवतः पंचपरमेष्ठिनो द्रव्यभावनमस्काराभ्यां प्रणम्य परमचारित्रमाश्रयामीति प्रतिज्ञां करोति–

पीठिका नामक प्रथम अन्तराधिकार की सारणी
(कुल १४ गाथायें)

स्थल क्रम	स्थल विषय	कहाँ से कहाँ तक	कुल गाथायें
प्रथम स्थल	नमस्कार मुख्यता	१ से ५	५
द्वितीय स्थल	चारित्र कथन	६ से ८	३
तृतीय स्थल	तीन उपयोग कथन	९ व १०	२
चतुर्थ स्थल	उपयोग फल कथन	११ व १२	२
पंचम स्थल	शुद्धोपयोग फल तथा लक्षण	१३ व १४	२

वह इसप्रकार–

अब, स्वसंवेदन से उत्पन्न परमानन्द एक लक्षण वाले सुखरूप अमृत से विरुद्ध चार गति रूप संसार से डरे हुये, प्रगट उत्कृष्ट भेद-विज्ञान रूपी प्रकाश से अतिशयवान, सम्पूर्ण मिथ्यानय रूप एकान्त दुराग्रह को नष्ट करने वाले, सम्पूर्ण शत्रु-मित्र आदि में पक्षपात को छोड़ देने से अत्यन्त मध्यस्थ होकर (समताभाव धारण कर) कोई शिवकुमार[१] नामक आसन्नभव्य (श्रीमद्कुन्दकुन्दाचार्य) धर्म, अर्थ, काम (पुरुषार्थों) में सारभूत पूर्ण आत्महितकारी, अविनाशी, पंचपरमेष्ठियों के प्रसाद से प्रगट होने वाली मोक्षलक्ष्मी को (प्रगट करने की अपेक्षा) उपादेयपने से स्वीकार करते हुये श्री वर्द्धमानस्वामी तीर्थंकर परमदेव प्रमुख पंचपरमेष्ठी भगवंतों को द्रव्य तथा भाव नमस्कार से प्रणाम करके परमचारित्र का आश्रय करता हूँ ; ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं–

विशेषार्थ– 'पंचपरमेष्ठियों के प्रसाद से प्रगट होने वाली मोक्षलक्ष्मी' यह वाक्यांश भक्तिवश किया गया निमित्त का यथार्थ ज्ञान कराने वाला औपचारिक कथन है। वस्तुतः प्रत्येक वस्तु स्वयं में परिपूर्ण तथा पूर्णतया स्वाधीन होने से, उसमें पर का हस्तक्षेप असम्भव है। इस सम्बन्ध में तार्किकशिरोमणि 'श्रीमद्विद्यानन्दस्वामी' के 'आप्तपरीक्षा' में व्यक्त विचार द्रष्टव्य हैं–

१. विभक्ति प्रयोग तथा विशेषणों के आधार पर यह नाम टीकाकार के द्वारा 'आचार्य कुन्दकुन्द' के लिये प्रयोग किया गया प्रतीत होता है। 'आचार्य अमृतचन्द्र' कृत प्रस्तुत ग्रन्थ की पहली गाथा की उत्थानिका से भी यह तथ्य पुष्ट होता है। अन्यत्र 'प्रवचनसार' गाथा १५ की उत्थानिका में, द्वितीयाधिकार के अन्त में तथा 'पंचास्तिकाय संग्रह' गाथा एक की उत्थानिका में दिया गया 'शिवकुमारमहाराज' यह नाम शिष्य का है; यह तथ्य वहाँ प्रयुक्त विभक्ति तथा विशेषणों से अत्यन्त स्पष्ट है।

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं।(१)

पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥ १ ॥

पणमामीत्यादिपदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते-*पणमामि* प्रणमामि। स कः। कर्ता *एस* एषोऽहं ग्रंथकरणोद्यतमनाः स्वसंवदेनप्रत्यक्षः। कं। *वड्ढमाणं* अवसमन्तादृद्धं वृद्धं मानं प्रमाणं ज्ञानं यस्य स भवति वर्धमानः, 'अवाप्योरलोपः' इति लक्षणेन भवत्यकारलोपोऽवशब्दस्यात्र, तं रत्नत्रयात्मकप्रवर्तमानधर्मतीर्थोपदेशकं श्रीवर्धमानतीर्थकरपरमदेवम्। क्व प्रणमामि। प्रथमत एव। किंविशिष्टं। *सुरासुरमणुसिंदवंदिदं* त्रिभुवनाराध्यानन्तज्ञानादिगुणाधारपदाधिष्ठितत्वात्तत्पदाभिलाषिभिस्त्रिभुवनाधीशैः सम्यगाराध्यपादारविन्दत्वाच्च सुरासुरमनुष्येन्द्रवन्दितम्। पुनरपि किंविशिष्टं। *धोदघाइकम्ममलं* परमसमाधिसमुत्पन्नरागादिमलरहितपारमार्थिकसुखामृतरूपनिर्मलनीरप्रक्षालितघातिकर्ममलत्वादन्येषां पापमलप्रक्षालनहेतुत्वाच्च धौतघातिकर्ममलम्। पुनश्च किंलक्षणम्। *तित्थं* दृष्टश्रुतानुभूतविषयसुखाभिलाषरूपनीरप्रवेशरहितेन परमसमाधिपो-

---

'वीतरागियों के क्रोधादि की असम्भवता के समान तुष्टिलक्षण प्रसाद के असम्भव होने से, 'परमेष्ठियों का प्रसाद' उनके शिष्यों के मन की प्रसन्नता ही है। रसायन के समान अपने आराधकजनों से प्रसन्नतापूर्वक उपासित भगवान ही प्रसन्न कहे जाते हैं।'[1]

सुर-असुर-नरपति वंद्य घातिकर्म मल निर्मल करन।

हैं तीर्थ कर्ता धर्म के वर्द्धमान जिन शत शत नमन ॥ १ ॥

गाथार्थ– यह मैं (श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव) देवेन्द्रों, असुरेन्द्रों, चक्रवर्तियों से पूजित घातिकर्म रूपी मल को धोने वाले, तीर्थस्वरूप तथा धर्म के कर्ता श्री वर्द्धमानस्वामी को प्रणाम करता हूँ।

टीकार्थ– ***पणमामि*** इत्यादि पदखण्डना रूप से व्याख्यान करते हैं– ***पणमामि***-प्रणाम करता हूँ। प्रणाम करने वाला वह कौन है ? ***एस***– ग्रन्थ करने के लिये तत्पर मन वाला, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से आत्मा का अनुभव करने वाला यह मैं (कुन्दकुन्दाचार्य देव)। किसे प्रणाम करता हूँ ? ***वड्ढमाणं***– वर्द्धमान स्वामी को। अव- सब ओर से, ऋद्ध-वृद्ध-पूर्ण बढ़ा हुआ मान-प्रमाण-ज्ञान है जिनका वे वर्द्धमान हैं। यहाँ 'अवाप्योरलोपः'– अव और अप के 'अ' का लोप हो जाता है– इस व्याकरणसूत्र से अव शब्द के 'अ' का लोप होकर वर्द्धमान शब्द बना है। (अव + ऋद्ध + मान = अवर्धमान, अ का लोप होने से वर्धमान बना)। उन (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) रत्नत्रय स्वरूप वर्तमान में चलने वाले धर्मतीर्थ के उपदेशक श्री वर्द्धमान तीर्थंकर परमदेव को। (उन्हें) कब प्रणाम करता हूँ ? सबसे पहले ही। वे वर्धमानस्वामी किस विशेषता वाले हैं ? ***सुरासुरमणुसिंदवंदिदं***– तीनों लोकों के आराध्य अनन्तज्ञानादि गुणों के आधारभूत पद पर अधिष्ठित होने से और उस पद के इच्छुक तीनों लोकों के राजाओं द्वारा अच्छी तरह से आराधना करने योग्य चरण-कमल वाले होने से वे देवेन्द्र, असुरेन्द्र तथा चक्रवर्ती द्वारा पूजित हैं। वे वर्धमान और कैसे हैं ? ***धोदघाइकम्ममलं***– (उत्कृष्ट आत्मलीनता रूप) परम समाधि से उत्पन्न रागादिमलरहित पारमार्थिक सुखामृत रूप स्वच्छ जल से (अपने) घातिकर्म रूपी मल को धो देने के कारण और दूसरों के पापरूपी मल को धो देने में कारण होने से वे

---

१. आप्तपरीक्षा, कारिका २ की टीका।

तेनोत्तीर्णसंसारसमुद्रत्वात् अन्येषां तरणोपायभूतत्वाच्च तीर्थम्। पुनश्च किंरूपम्। *धम्मस्स कत्तारं* निरुपरागात्मतत्त्वपरिणतिरूपनिश्चयधर्मस्योपादानकारणत्वात् अन्येषामुत्तमक्षमादिबहुविधधर्मोपदेशकत्वाच्च धर्मस्य कर्तारम्।

इति क्रियाकारकसम्बन्धः।

एवमन्तिमतीर्थकरनमस्कारमुख्यत्वेन गाथा गता ॥ १ ॥

घातिकर्म मल को धो देने वाले हैं। वे वर्धमानस्वामी और कैसे हैं ? ***तित्थं***– देखे हुये, सुने हुये, भोगे हुये विषय -सुख की इच्छा रूपी जल के प्रवेश से रहित उत्कृष्ट समाधि रूपी जहाज के द्वारा संसार-सागर से पार हुये होने के कारण तथा दूसरों को तिरने के उपायभूत (तिरने का मार्ग बताने वाले) होने से तीर्थ स्वरूप हैं। वे वर्धमानस्वामी और कैसे हैं ? *धम्मस्स कत्तारं*– उपराग (संयोग-संयोगीभाव) रहित आत्मतत्त्व परिणति रूप निश्चयधर्म के उपादान कारण होने से तथा दूसरे जीवों को उत्तम क्षमा आदि अनेक प्रकार के धर्मों के उपदेशक होने से धर्म के कर्ता हैं।

इसप्रकार क्रिया-कारक सम्बन्ध है।

भावार्थ– स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के धनी, इस प्रवचनसार ग्रन्थ की रचना करने में सन्नद्ध आचार्य कुन्दकुन्ददेव सर्वप्रथम मंगलाचरण के रूप में इस काल के अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्धमानस्वामी को नमस्कार करते हैं। वे लिखते हैं कि केवलज्ञानादि अनन्त गुणों के धनी होने से, इन गुणों के अभिलाषी देवेन्द्रों, असुरेन्द्रों एवं नरेन्द्रों से जो पूजित हैं; आत्मलीनता के द्वारा स्वयं के घातिकर्म मल धो देने से, तथा अन्यों के भी पापमल दूर करने में निमित्त होने के कारण जो घातिकर्म रूपी मल को धो देने वाले हैं; परम समाधि के बल से स्वयं संसार-सागर से पार हो जाने से, एवं दूसरों को संसार-सागर से पार होने का मार्ग बताने के कारण जो तीर्थ स्वरूप हैं; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप स्वयं परिणत हो जाने से, एवं उत्तम क्षमादि धर्मों के उपदेशक होने से जो धर्म के कर्ता हैं; उन वर्धमानस्वामी को मैं नमस्कार करता हूँ।

विशेषार्थ– ज्ञानावरणादि घातिकर्मों को मल कहने का हेतु स्पष्ट करते हुये "आचार्य प्रभाचन्द्र" लिखते हैं–

"तान्येव मलाः अत्यन्तज्ञानाध्यात्मस्वरूपप्रच्छादकत्वात्।[१]

ज्ञान-अध्यात्म स्वरूप को अत्यन्त रूप से ढ़कने के कारण वे (ज्ञानावरणादि) ही मल हैं।"

इसप्रकार अन्तिम तीर्थंकर को नमस्कार की मुख्यता से एक गाथा पूर्ण हुई ॥ १ ॥

---

१. प्रवचनसार गाथा १, प्रवचनसार सरोज भास्कर टीका

सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे ।(२)

समणे य णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे ॥ २ ॥

तदनन्तरं प्रणमामि। कान्। *सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे* शेषतीर्थकरान्, पुनः ससर्वसिद्धान् वृषभादिपार्श्वपर्यन्तान् शुद्धात्मोपलब्धिलक्षणसर्वसिद्धसहितानेतान् सर्वानपि। कथंभूतान्। *विसुद्धसब्भावे* निर्मलात्मोपलब्धिबलेन विश्लेषिताखिलावरणत्वात्केवलज्ञानदर्शनस्वभावत्वाच्च विशुद्धसद्भावान्। *समणे य* श्रमणशब्दवाच्यानाचार्योपाध्यायसाधूंश्च। किंलक्षणान्। *णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे* सर्वविशुद्धद्रव्य-गुणपर्यायात्मके चिद्वस्तुनि यासौ रागादिविकल्परहितनिश्चलचित्तवृत्तिस्तदन्तर्भूतेन व्यवहारपंचाचार-सहकारिकारणोत्पन्नेन निश्चयपंचाचारेण परिणतत्वात् सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारोपेतानिति।

एवं शेषत्रयोविंशतितीर्थंकरनमस्कारमुख्यत्वेन गाथा गता ॥ २ ॥

सब शेष तीर्थंकर विशुद्ध सुसत्त्वयुत सब सिद्ध को।

दृग ज्ञान चारित्र वीर्य तप आचार संयुत साधु को ॥ २ ॥

गाथार्थ– पुनः विशुद्ध सत्ता वाले शेष सब तीर्थंकरों, सभी सिद्धों तथा ज्ञानाचार-दर्शनाचार-चारित्राचार-तपाचार और वीर्याचार सम्पन्न श्रमणों (आचार्य-उपाध्याय-साधुओं) को (मैं नमस्कार करता हूँ)।

टीकार्थ– इसके बाद प्रणाम करता हूँ। किन्हें प्रणाम करता हूँ ? ***सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे***– वृषभादि पार्श्व पर्यन्त शेष सभी तीर्थंकरों तथा शुद्ध आत्मस्वभाव की प्राप्ति है लक्षण जिनका ऐसे सभी सिद्धों को प्रणाम करता हूँ। ये सभी कैसे हैं ? ***विसुद्धसब्भावे***– सर्व मल रहित आत्मा की प्राप्ति के बल से सम्पूर्ण आवरणों के पूर्णतया विनष्ट हो जाने के कारण तथा केवलज्ञान, केवलदर्शन स्वभाव सम्पन्न होने के कारण विशुद्ध सत्ता वाले हैं। ***समणे य***– तथा श्रमण शब्द से कहने योग्य आचार्य, उपाध्याय और साधुओं को प्रणाम करता हूँ। वे श्रमण किन लक्षणों वाले हैं ? ***णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे***– सर्व विशुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप चेतन वस्तु में जो वह रागादि विकल्प रहित, चंचलता रहित— स्थिरता; उसमें अन्तर्भूत व्यवहार पंचाचार रूप सहकारी कारण से उत्पन्न निश्चय पंचाचार रूप से परिणमित होने के कारण सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-वीर्याचार सहित (उन श्रमणों) को (नमस्कार करता हूँ)।

भावार्थ– अब मैं, परिपूर्ण निर्मल आत्मस्वरूप की प्राप्ति के बल से ज्ञानावरणादि सम्पूर्ण कर्मों से सर्वथा रहित केवलज्ञान-दर्शन स्वभावी विशुद्ध सत्ता सम्पन्न वृषभादि पार्श्व पर्यन्त शेष २३ तीर्थंकरों और सभी सिद्धों को तथा स्वरूपलीन निश्चय-व्यवहार पंचाचार सहित सभी श्रमणों— आचार्य, उपाध्याय, साधुओं को नमस्कार करता हूँ।

इसप्रकार शेष २३ तीर्थंकरों को नमस्कार की मुख्यता से गाथा पूर्ण हुई ॥ २ ॥

ते ते सव्वे समगं समगं पत्तेगमेव पत्तेगं।(३)

वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते ॥ ३ ॥

अथ *ते ते सव्वे* तांस्तान्पूर्वोक्तानेव पंचपरमेष्ठिनः सर्वान् *वंदामि य* वन्दे, अहं कर्ता। कथं। *समगं समगं* समुदायवन्दनापेक्षया युगपद्युगपत्। पुनरपि कथं। *पत्तेगमेव पत्तेगं* प्रत्येकवन्दनापेक्षया प्रत्येकं प्रत्येकम्। न केवलमेतान् वन्दे। *अरहंते* अर्हतः। किंविशिष्टान्। *वट्टंते माणुसे खेत्ते* वर्तमानान्। क्व। मानुषे क्षेत्रे।

तथा हि– साम्प्रतमत्र भरतक्षेत्रे तीर्थकराभावात् पंचमहाविदेहस्थितश्रीसीमन्धरस्वामितीर्थकरपरमदेवप्रभृतितीर्थकरैः सह तानेव पंचपरमेष्ठिनो नमस्करोमि। कया। करणभूतया मोक्षलक्ष्मीस्वयंवरमण्डपभूतजिनदीक्षाक्षणे मंगलाचारभूतया अनन्तज्ञानादिसिद्धगुणभावनारूपया सिद्धभक्त्या, तथैव निर्मलसमाधिपरिणतपरमयोगिगुणभावनालक्षणया योगभक्त्या चेति।

एवं पूर्वविदेहतीर्थकरनमस्कारमुख्यत्वेन गाथा गतेत्यभिप्रायः ॥ ३ ॥

पूर्वोक्त सर्व समूह को प्रत्येक को प्रत्येक को।

वन्दन करूँ मैं विहरते नर क्षेत्र के अरहंत को ॥ ३ ॥

गाथार्थ– पूर्वोक्त उन सभी पंचपरमेष्ठियों एवं मनुष्य क्षेत्र में विद्यमान अरहंतों को मैं एक साथ तथा पृथक्-पृथक् रूप से नमस्कार करता हूँ।

टीकार्थ– अब, ***ते ते सव्वे***- पहले कहे हुये उन सभी पंचपरमेष्ठियों को। ***वंदामि य***– कर्ता रूप मैं नमस्कार करता हूँ। उन सभी को कैसे नमस्कार करता हूँ ? ***समगं समगं***– सामूहिक वन्दना रूप से अर्थात् सभी को एक साथ नमस्कार करता हूँ। उन सभी को और कैसे नमस्कार करता हूँ ? ***पत्तेगमेव पत्तेगं***– व्यक्तिगत वन्दना रूप से अर्थात् प्रत्येक को पृथक्-पृथक् नमस्कार करता हूँ। मैं मात्र पूर्वोक्त इन्हें ही नमस्कार नहीं करता हूँ, वरन्। ***अरहंते***-अरहन्तों को भी नमस्कार करता हूँ। वे अरहंत कैसे हैं ? ***वट्टंते माणुसे खेत्ते***– विद्यमान हैं। वे अरहंत कहाँ विद्यमान हैं ? मानुष क्षेत्र में (ढ़ाई द्वीप में) विद्यमान हैं।

वह इसप्रकार– अभी यहाँ भरतक्षेत्र में तीर्थंकरों का अभाव होने से पाँच महाविदेहों में विद्यमान श्री सीमन्धरस्वामी तीर्थंकर परमदेव आदि तीर्थंकरों के साथ उन्हीं पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार करता हूँ। पूर्वोक्त सभी को कैसे नमस्कार करता हूँ ? मोक्ष-लक्ष्मी के स्वयंवर मण्डपभूत जिनदीक्षा के अवसर पर साधनभूत मंगलाचार स्वरूप, सिद्ध भगवान के अनन्त ज्ञानादि गुणों की भावना रूप सिद्धभक्ति से, और उसीप्रकार निर्मल समाधि रूप परिणमित परमयोगियों के गुणों की भावना लक्षण योगभक्ति से ; उन सभी को नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ– जिनदीक्षा के पावन प्रसंग पर मंगलाचार हेतु सिद्धभक्ति और योगभक्ति के माध्यम से पंच महाविदेह क्षेत्रों में स्थित श्री सीमन्धरादि तीर्थंकरों के साथ पूर्वोक्त पंचपरमेष्ठियों को पृथक्-पृथक् तथा सामूहिक रूप से पुनः-पुनः नमस्कार करता हूँ।

इसप्रकार पूर्व (दिशा वाले) विदेह-स्थित तीर्थंकरों को नमस्कार की मुख्यता से गाथा पूर्ण हुई– यह अभिप्राय है ॥ ३ ॥

किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं। (४)

अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेव सव्वेसिं॥ ४॥

अथ *किच्चा* कृत्वा। कम्। *णमो* नमस्कारम्। केभ्यः। *अरहंताणं सिद्धाणं तह गणहराणं अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेव* अर्हत्सिद्धगणधरोपाध्यायसाधुभ्यश्चैव। कतिसंख्योपेतेभ्यः। *सव्वेसिं सर्वेभ्यः।*

इति पूर्वगाथात्रयेण कृतपंचपरमेष्ठिनमस्कारोपसंहारोऽयम्॥ ४॥

तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज। (५)

उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती॥ ५॥

एवं पंचपरमेष्ठिनमस्कारं कृत्वा किं करोमि। *उवसंपयामि* उपसंपद्ये समाश्रयामि। किम्। *सम्मं* साम्यं

अरहंत सिद्ध समूह को गणधर समूहों को नमन।

सब ही उपाध्यायों तथा सब साधुओं को कर नमन॥ ४॥

गाथार्थ– उन (पूर्वोक्त) अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधुसमूह को नमस्कार करके (साम्य का आश्रय लेता हूँ)।

टीकार्थ– अब, ***किच्चा***– करके। क्या करके ? ***णमो***– नमस्कार करके। किन्हें नमस्कार करके ? ***अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेव***– अरहन्त-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय और साधुओं को नमस्कार करके। कितनी संख्या वाले अरहंतादि को नमस्कार करके ? ***सव्वेसिं***– सभी को नमस्कार करके।

विशेषार्थ– (१) १ से ४ गाथाओं में निबद्ध यह नमस्कार-प्रकरण बहुप्रचलित महामन्त्र-नमस्कारमन्त्र का ही विस्तृत रूप है।

(२) यहाँ आचार्य अमृतचन्द्र नमस्कार की पद्धति बताते हुये लिखते हैं– "पंचपरमेष्ठियों को प्रणाम और वन्दनोच्चार में प्रवर्तमान द्वैत के द्वारा, भाव्यभावक भाव से उत्पन्न अत्यन्त गाढ़ इतरेतर सम्बलन के बल से नष्ट हुये सम्पूर्ण स्वपर विभाग के कारण प्रवृत्त अद्वैत नमस्कार करके—"[१]

इसप्रकार पहले तीन गाथाओं में किये गये पंचपरमेष्ठी नमस्कार का यह उपसंहार है॥ ४॥

उनके प्रमुख सद्दर्शज्ञान विशुद्ध आश्रम को ग्रहण।

कर ग्रहण करता साम्य को जिससे मिले निर्वाण धन॥ ५॥

गाथार्थ– उनके विशुद्ध दर्शन-ज्ञानप्रधान आश्रम को प्राप्त कर, जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है, उस साम्य का (अब मैं) आश्रय लेता हूँ।

टीकार्थ– इसप्रकार पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार करके क्या करता हूँ ? ***उवसंपयामि***– आश्रय लेता हूँ। किसका आश्रय लेता हूँ ? ***सम्मं***– साम्य-चारित्र का। उस चारित्र का आश्रय लेने से क्या होता

---
१. प्रवचनसार गाथा ४, तत्त्वप्रदीपिका टीका।

यस्मात् किं भवति । *जत्तो णिव्वाणसंपत्ती* यस्मान्निर्वाणसंप्राप्तिः । किं कृत्वा पूर्वं । *समासिज्ज* समासाद्य प्राप्य । कम् । *विसुद्धणाणदंसणपहाणासमं* विशुद्धज्ञानदर्शनलक्षणप्रधानाश्रमम् । केषां सम्बंधित्वेन । *तेसिं* तेषां पूर्वोक्तपंचपरमेष्ठिनामिति ।

तथाहि– अहमाराधकः, एते चार्हदादय आराध्या, इत्याराध्याराधकविकल्परूपो द्वैतनमस्कारो भण्यते । रागाद्युपाधिविकल्परहितपरमसमाधिबलेनात्मन्येवाराध्याराधकभावः पुनरद्वैतनमस्कारो भण्यते ।

इत्येवंलक्षणं पूर्वोक्तगाथात्रयकथितप्रकारेण पंचपरमेष्ठिसम्बंधिनं द्वैताद्वैतनमस्कारं कृत्वा । ततः किं करोमि । रागादिभ्यो भिन्नोऽयं स्वात्मोत्थसुखस्वभावः परमात्मेति भेदज्ञानं, तथा स एव सर्वप्रकारोपादेय इति रुचिरूपं सम्यक्त्वमित्युक्तलक्षणज्ञानदर्शनस्वभावं, मठचैत्यालयादिलक्षणव्यवहाराश्रमाद्विलक्षणं, भावाश्रमरूपं प्रधानाश्रमं प्राप्य, तत्पूर्वकं क्रमायातमपि सरागचारित्रं पुण्यबन्धकारणमिति ज्ञात्वा परिहृत्य निश्चलशुद्धात्मानुभूतिस्वरूपं वीतरागचारित्रमहमाश्रयामीति भावार्थः ॥ ५ ॥

एवं प्रथमस्थले नमस्कारमुख्यत्वेन गाथापंचकं गतम् ।

है ? ***जत्तो णिव्वाणसंपत्ती***– उससे निर्वाण की प्राप्ति होती है । उसका आश्रय लेने से पूर्व क्या करके ? ***समासेज्ज***– प्राप्त करके । किसे प्राप्त करके ? ***विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं***– विशुद्ध ज्ञान दर्शन है लक्षण जिसका, ऐसे प्रधान आश्रम को प्राप्त करके । किनसे सम्बन्धित उस प्रधान आश्रम को प्राप्त करके ? ***तेसिं***– उन पूर्वोक्त पंचपरमेष्ठियों के उस प्रधान आश्रम को प्राप्त करके ।

वह इसप्रकार— मैं आराधक हूँ, और ये अरहंत आदि आराध्य हैं— इसप्रकार आराधक-आराध्य की भिन्नता रूप नमस्कार को द्वैत नमस्कार कहते हैं, तथा रागादि उपाधि रूप विकल्पों से रहित परम समाधि के बल से स्वयं में ही आराध्य-आराधक भाव अद्वैत नमस्कार कहलाता है ।

इसप्रकार पूर्वोक्त ३ गाथाओं द्वारा कहे गये पंचपरमेष्ठियों को पूर्वोक्त लक्षण द्वैताद्वैत नमस्कार करके । पंचपरमेष्ठियों को द्वैताद्वैत नमस्कार करके क्या करता हूँ ? मठ-चैत्यालय आदि रूप व्यवहार आश्रम से भिन्न लक्षण वाले रागादि से भिन्न अपने आत्मा के आश्रय से उत्पन्न यह सुख स्वभावी परमात्मा है— ऐसा भेदज्ञान, तथा वह सुख स्वभावी आत्मा ही पूर्णतः उपादेय है— ऐसी रुचिरूप सम्यक्त्व— इन लक्षणों वाले ज्ञान-दर्शन स्वभावी भावाश्रम रूप प्रधान आश्रम को प्राप्त कर, उस पूर्वक होने वाला सराग-चारित्र क्रमापतित— अवश्यम्भावी होने पर भी पुण्य बंध का कारण है, ऐसा जानकर, उसे छोड़कर शुद्धात्मा में स्थिर अनुभूति स्वरूप वीतराग-चारित्र का मैं आश्रय लेता हूँ— यह गाथा का भाव है ।

भावार्थ– पंचपरमेष्ठी भगवंतों को नमस्कार कर आचार्यदेव प्रस्तुत गाथा में क्रमापतित सरागचारित्र को हेय मानकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रधान साम्य को (पूर्ण स्वरूप स्थिरता को) प्राप्त करने की प्रतिज्ञा करते हैं ॥ ५ ॥

इसप्रकार प्रथम स्थल में नमस्कार की मुख्यता से ५ गाथायें पूर्ण हुईं ।

अथोपादेयभूतस्यातीन्द्रियसुखस्य कारणत्वाद्वीतरागचारित्रमुपादेयम् अतीन्द्रियसुखापेक्षया हेयस्येन्द्रियसुखस्य कारणत्वात्सरागचारित्रं हेयमित्युपदिशति–

संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहिं।(६)

जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो ॥ ६ ॥

संपज्जदि संपद्यते। किम्। *णिव्वाणं* निर्वाणम्। कथम्। सह। कैः। *देवासुरमणुयरायविहवेहिं* देवासुरमनुष्यराजविभवैः। कस्य। *जीवस्य* जीवस्य। कस्मात्। *चरित्तादो* चारित्रात्। कथंभूतात्। *दंसणणाणप्पहाणादो* सम्यग्दर्शनज्ञानप्रधानादिति।

तद्यथा– आत्माधीनज्ञानसुखस्वभावे शुद्धात्मद्रव्ये यन्निश्चलनिर्विकारानुभूतिरूपमवस्थानं तल्लक्षणनिश्चयचारित्राज्जीवस्य समुत्पद्यते। किम्। पराधीनेन्द्रियजनितज्ञानसुखविलक्षणं, स्वाधीनातीन्द्रियरूपपरमज्ञानसुखलक्षणं निर्वाणम्। सरागचारित्रात्पुनर्देवासुरमनुष्यराजविभूतिजनको मुख्यवृत्त्या विशिष्टपुण्यबन्धो भवति, परम्परया निर्वाणं चेति।

(अब, चारित्र के कथन की मुख्यता वाला द्वितीय स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, उपादेयभूत अतीन्द्रिय-सुख का कारण होने से वीतराग-चारित्र उपादेय, तथा अतीन्द्रिय-सुख की अपेक्षा हेयभूत इन्द्रिय-सुख का कारण होने से सराग-चारित्र हेय है; ऐसा उपदेश देते हैं–

वह दर्श ज्ञान प्रधान चारित हो यदि चैतन्य को।

सुर-असुर और नरेन्द्र वैभव हो तथा निर्वाण हो ॥ ६ ॥

गाथार्थ– दर्शन-ज्ञान प्रधान चारित्र से देवेन्द्र, असुरेन्द्र और नरेन्द्र सम्बन्धी वैभवों के साथ जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है।

टीकार्थ– ***संपज्जदि***-प्राप्ति होती है। किसकी प्राप्ति होती है ? ***णिव्वाणं***-मोक्ष की प्राप्ति होती है। कैसे मोक्ष की प्राप्ति होती है ? इनके साथ मोक्ष की प्राप्ति होती है। किनके साथ उसकी प्राप्ति होती है ? ***देवासुरमणुयरायविहवेहिं***– देवेन्द्र, असुरेन्द्र एवं नरेन्द्र सम्बन्धी वैभवों के साथ मोक्ष की प्राप्ति होती है। उसकी प्राप्ति किसे होती है ? ***जीवस्स***-जीव को उसकी प्राप्ति होती है। जीव को उसकी प्राप्ति किससे होती है ? ***चरित्तादो***– चारित्र से उसकी प्राप्ति होती है। कैसे चारित्र से होती है ? ***दंसणणाणप्पहाणादो***– सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रधान चारित्र से जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है।

वह इसप्रकार– स्वाधीन ज्ञान-सुख स्वभावी शुद्धात्मद्रव्य में चंचलता रहित निर्विकार अनुभूति रूप स्थिरता लक्षण वाले निश्चय चारित्र से जीव के उत्पन्न होता है। क्या उत्पन्न होता है ? पराधीन इन्द्रिय जनित ज्ञान-सुख से भिन्न लक्षण वाला, स्वाधीन अतीन्द्रिय रूप उत्कृष्ट ज्ञान-सुख सम्पन्न मोक्ष उत्पन्न होता है। सराग-चारित्र से मुख्यतया देवेन्द्र, असुरेन्द्र एवं नरेन्द्र सम्बन्धी वैभव को उत्पन्न करने वाला विशिष्ट पुण्य बंध होता है, एवं परम्परा से मोक्ष प्राप्त होता है।

असुरेषु मध्ये सम्यग्दृष्टिः कथमुत्पद्यते इति चेत्-निदानबन्धेन सम्यक्त्वविराधनां कृत्वा तत्रोत्पद्यत इति ज्ञातव्यम्।

अत्र निश्चयेन वीतरागचारित्रमुपादेयं सरागं हेयमिति भावार्थः ॥ ६ ॥

अथ निश्चयचारित्रस्य पर्यायनामानि कथयामीत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं निरूपयति, एवमग्रेऽपि विवक्षितसूत्रार्थं मनसि धृत्वाथवास्य सूत्रस्याग्रे सूत्रमिदमुचितं भवत्येवं निश्चित्य सूत्रमिदं प्रतिपादयतीति पातनिकालेक्षणं यथासंभवं सर्वत्र ज्ञातव्यम्–

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।(७) (20)

मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥ ७ ॥

स्पष्ट रूप से

असुरों में सम्यग्दृष्टि कैसे उत्पन्न होता है ? यदि ऐसी शंका हो, तो निदान बंध से सम्यक्त्व की विराधना करके वहाँ उत्पन्न होता है— ऐसा जानना चाहिये।

यहाँ निश्चय से वीतराग-चारित्र उपादेय और सराग-चारित्र हेय है— यह गाथा का भाव है।

भावार्थ– सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रधान पूर्ण स्वरूप स्थिरता रूप निश्चयचारित्र से जीव अतीन्द्रिय आनन्द सम्पन्न सिद्ध दशा को प्राप्त होता है तथा सराग-चारित्र से असुरेन्द्र, देवेन्द्र, नरेन्द्र सम्बन्धी वैभवदायक पुण्य का बंध कर परम्परा से मुक्ति प्राप्त करता है।

यद्यपि सम्यग्दृष्टि जीव असुरों में उत्पन्न नहीं होता है, तथापि पूर्वकृत निदानबंध से सम्यक्त्व रहित होकर वहाँ उत्पन्न हो जाता है।

विशेषार्थ– इस गाथा की 'तत्त्वप्रदीपिका' वृत्ति में आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने सराग-चारित्र से होने वाले बंध को ***"विभवक्लेशरूपो बंधः***– वैभव क्लेश रूप बंध" एवं सराग-चारित्र के सम्बन्ध में ***"अनिष्टफलत्वात्सरागचारित्रं हेयम्***– (मुमुक्षुओं को) अनिष्ट फल वाला होने से सराग-चारित्र हेय है"— ऐसा कहा है।

इसप्रकार क्रमशः वीतरागता-सरागता को उपादेय-हेय बताने वाली यह गाथा पूर्ण हुई ॥ ६ ॥

अब, निश्चय-चारित्र के पर्यायवाची नाम कहता हूँ— इस अभिप्राय को मन में रखकर यह गाथा कहते हैं—

इसीप्रकार आगे भी विवक्षित गाथा के अर्थ को मन में धारण कर अथवा इस गाथा के आगे यही गाथा उचित है, ऐसा निश्चय कर यह गाथा कहते हैं— इसप्रकार पातनिका का लक्षण यथासंभव सब जगह जानना चाहिये।

चारित्र निश्चय धर्म है, जो धर्म वह 'शम' है कहा।

है मोह क्षोभ विहीन 'शम' परिणाम निश्चय स्वयं का ॥ ७ ॥

गाथार्थ– चारित्र वास्तव में धर्म है, धर्म ही शम है, मोह-क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम ही शम है— ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

चारित्तं चारित्रं कर्तृ *खलु धम्मो* खलु स्फुटं धर्मो भवति। *धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो* धर्मो यः स तु शम इति निर्दिष्टः। *समो* यस्तु शमः सः *मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु* मोहक्षोभविहीनः परिणामः। कस्य। आत्मनः। हु स्फुटमिति।

तथाहि– शुद्धचित्स्वरूपे चरणं चारित्रं, तदेव चारित्रं मिथ्यात्वरागादिसंसरणरूपे भावसंसारे पतन्तं प्राणिनमुद्धृत्य निर्विकारशुद्धचैतन्ये धरतीति धर्मः। स एव धर्मः स्वात्मभावनोत्थसुखामृतशीतजलेन कामक्रोधादिरूपाग्निजनितस्य संसारदुःखदाहस्योपशमकत्वात् शम इति। ततश्च शुद्धात्मश्रद्धानरूपसम्यक्त्वस्य विनाशको दर्शनमोहाभिधानो मोह इत्युच्यते। निर्विकारनिश्चलचित्तवृत्तिरूपचारित्रस्य विनाशकश्चारित्रमोहाभिधानः क्षोभ इत्युच्यते तयोर्विध्वंसकत्वात्स एव शमो मोहक्षोभविहीनः शुद्धात्मपरिणामो भण्यत इत्यभिप्रायः॥७॥

टीकार्थ– ***चारित्तं***-चारित्र रूप कर्ता (इस गाथा में चारित्र 'कर्ता कारक' के स्थान पर है) ***खलु धम्मो***– स्पष्ट रूप से धर्म है। ***धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो***– जो धर्म है वह शम कहा गया है। ***समो***– और जो शम है वह ***मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु***– मोह-क्षोभ से रहित परिणाम है। मोह-क्षोभ से रहित वह शम किसका परिणाम है ? वह आत्मा का परिणाम है। हु– स्पष्ट रूप से।

वह इसप्रकार– शुद्ध चैतन्य स्वरूप में चरण-प्रवृत्ति-लीनता चारित्र है, वही चारित्र, मिथ्यात्व रागादि परिणमन रूप भाव संसार में डूबे हुये प्राणियों को निकाल कर निर्विकार शुद्ध चैतन्य स्वरूप में धरता है, अतः धर्म है। वही धर्म स्वात्मा के आश्रय से उत्पन्न होने वाले सुखमयी अमृत रूप शीतल जल के द्वारा काम-क्रोधादि रूप अग्नि से उत्पन्न सांसारिक दुःखों रूप जलन को शान्त करने वाला होने से शम है; और इसलिये शुद्धात्मा के श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन को नष्ट करने वाला होने से दर्शनमोहनीय नामक (कर्म) मोह कहलाता है, तथा वीतराग स्थिर परिणमन रूप चारित्र को नष्ट करने वाला होने से चारित्रमोहनीय नामक (कर्म) क्षोभ कहलाता है; मोह और क्षोभ– इन दोनों को पूर्णतः नष्ट करने वाला होने से वही शम, मोह-क्षोभ रहित शुद्धात्मा का परिणाम कहलाता है– यह अभिप्राय है।

भावार्थ– मिथ्यात्वादि भाव-संसार से उद्धार करने वाला होने से तथा काम-क्रोधादि से उत्पन्न दुःखदाह को शान्त करने वाला होने से शुद्ध चैतन्य स्वरूप में स्थिरता रूप स्वपरिणाम ही धर्म या शम कहलाता है। मोह-क्षोभ से रहित यह परिणाम ही चारित्र है।

विशेषार्थ– १- आचार्य प्रभाचन्द्र ने **"मोहो-मूर्खता, क्षोभः-आकुलता"** इस रूप में मोह और क्षोभ को स्पष्ट किया है।[1]

२- इस गाथा की तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचंद्र ने शम को साम्य शब्द से अभिहित किया है। वह इसप्रकार–

"**तदेव च यथावस्थितात्मगुणत्वात्साम्यम्**– वह चारित्र रूप धर्म ही यथावस्थित आत्मगुण वाला होने से साम्य है।"

विकारी भावों के शमन की अपेक्षा उसे शम तथा यथावस्थित दशा की अपेक्षा उसे साम्य कहते हैं। मात्र शब्द-भेद है, अर्थ-भेद नहीं है॥७॥

---

१. प्रवचनसार गाथा ७, प्रवचनसार सरोज भास्कर टीका।

अथाभेदनयेन धर्मपरिणत आत्मैव धर्मो भवतीत्यावेदयति–

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं ।(८)

तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥ ८ ॥

परिणमदि जेण दव्वं तक्काले तम्मय त्ति पण्णत्तं परिणमति येन पर्यायेण द्रव्यं कर्तृ तत्काले तन्मयं भवतीति प्रज्ञप्तम् यतः कारणात्, *तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेदव्वो* ततः कारणात् धर्मेण परिणत आत्मैव धर्मो मन्तव्य इति ।

तद्यथा– निजशुद्धात्मपरिणतिरूपोनिश्चयधर्मो भवति । पंचपरमेष्ठ्यादिभक्तिपरिणामरूपो व्यवहारधर्मस्तावदुच्यते । यतस्तेन तेन विवक्षिताविवक्षितपर्यायेण परिणतं द्रव्यं तन्मयं भवति, ततः पूर्वोक्त-धर्मद्वयेन परिणतस्तप्तायःपिण्डवदभेदनयेनात्मैव धर्मो भवतीति ज्ञातव्यम् ।

तदपि कस्मात्, उपादानकारणसदृशं हि कार्यमिति वचनात् । तच्च पुनरुपादानकारणं शुद्धाशुद्धभेदेन द्विधा । रागादिविकल्परहितस्वसंवेदनज्ञानमागमभाषया शुक्लध्यानं वा केवलज्ञानोत्पत्तौ शुद्धोपादानकारणं भवति । अशुद्धात्मा तु रागादीनामशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानकारणं भवतीति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥

एवं चारित्रस्य संक्षेपसूचनरूपेण द्वितीयस्थले गाथात्रयं गतम् ।

अब, अभेदनय से धर्मस्वरूप परिणत आत्मा ही धर्म है ; यह बतलाते हैं–

जिस भाव परिणत द्रव्य तन्मय तत्समय उस भाव से ।

कहते अतः हो धर्म परिणत धर्म ही मानो उसे ॥ ८ ॥

गाथार्थ– द्रव्य जिस समय जिस भाव से परिणत होता है, उस समय उसमय (उस रूप) ही होता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है ; अतः धर्म परिणत आत्मा को धर्म ही मानना चाहिये ।

टीकार्थ– ***परिणमदि जेण दव्वं तक्काले तम्मय त्ति पण्णत्तं***– द्रव्य रूप कर्ता (इस गाथा में द्रव्य कर्ताकारक के स्थान पर है) जिस पर्याय से परिणमित होता है, यतः उस समय उस पर्याय से तन्मय होता है ऐसा कहा गया है, ***तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेदव्वो***– अतः धर्म पर्याय से परिणत आत्मा ही धर्म मानना चाहिये ।

वह इसप्रकार– निज शुद्धात्मपरिणति रूप निश्चय धर्म, तथा पंचपरमेष्ठी आदि के प्रति भक्ति के परिणाम रूप व्यवहार धर्म कहा गया है क्योंकि उस विवक्षित-अविवक्षित[1] पर्याय से परिणत द्रव्य उस पर्याय-रूप होता है, इसलिये तपे हुये लोहे के गोले के समान, अभेदनय की अपेक्षा पूर्वोक्त दो प्रकार के धर्म रूप परिणत आत्मा ही धर्म है– ऐसा जानना चाहिये ।

धर्मरूप से परिणत आत्मा धर्म क्यों जानना चाहिये ? उपादान कारण के समान ही कार्य होता है– ऐसा वचन होने से धर्म रूप परिणत आत्मा धर्म जानना चाहिये । शुद्ध और अशुद्ध उपादान के भेद से वह उपादान कारण भी दो प्रकार का है । आगम भाषा में जिसे शुक्लध्यान कहते हैं वह रागादि विकल्प रहित स्वसंवेदन ज्ञान केवलज्ञान की उत्पत्ति का शुद्ध उपादान कारण है ; तथा अशुद्ध निश्चयनय से अशुद्धात्मा रागादि का अशुद्ध उपादान कारण है । यह गाथा का भाव है ।

१- जिसके सम्बन्ध में अभी कहा जा रहा है, उसे विवक्षित कहते हैं; तथा जिसके सम्बन्ध में अभी नहीं कहा जा रहा है, उसे अविवक्षित कहते हैं ।

अथ शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयेण परिणतो जीवः शुभाशुभशुद्धोपयोगस्वरूपो भवतीत्युपदिशति–

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो। (९)

सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो॥ ९ ॥

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा जीवः कर्ता यदा परिणमति शुभेनाशुभेन वा परिणामेन *सुहो असुहो हवदि* तदा शुभेन शुभो भवति, अशुभेन वाऽशुभो भवति। *सुद्धेण तदा सुद्धो हि* शुद्धेन यदा परिणमति तदा शुद्धो भवति, हि स्फुटम्। कथंभूतः सन्। *परिणामसब्भावो* परिणामसद्भावः सन्निति।

भावार्थ– अग्नि में तपे हुये लोहे के गोले के समान द्रव्य जिस विवक्षित पर्याय से परिणमित होता है, उस समय वह उसरूप ही होता है, क्योंकि कार्य सदा उपादान कारण के समान ही होता है; अतः धर्म पर्याय से परिणमित आत्मा धर्म ही है।

विशेषार्थ– अन्य दृष्टि से उपादान कारण के मूलतः दो भेद हैं– त्रिकाली उपादान कारण एवं क्षणिक उपादान कारण। कारण-कार्य की व्यवस्था में क्षणिक उपादान कारण भी २ रूपों में निरूपित है– १- अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती क्षणिक उपादान कारण तथा अनन्तर उत्तर क्षणवर्ती पर्याय कार्य। २- विवक्षित पर्याय की उस समय होने की योग्यता क्षणिक उपादान कारण एवं वह पर्याय कार्य[१] ॥ ८ ॥

इसप्रकार चारित्र की संक्षेप सूचना रूप से दूसरे स्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुईं।

(अब, दो गाथाओं में निबद्ध उपयोग-त्रय व्याख्यान परक तीसरा स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, शुभोपयोग, अशुभोपयोग, शुद्धोपयोग– तीन उपयोग रूप से परिणत जीव (क्रमशः) शुभोपयोग, अशुभोपयोग, शुद्धोपयोग स्वरूप होता है; ऐसा उपदेश देते हैं–

परिणमन करता जीव जब शुभ अशुभ शुद्ध स्वभाव से।

तब शुभ अशुभ या शुद्धमय हो परिणमन स्व भाव से॥ ९ ॥

गाथार्थ– परिणामस्वभावी होने से जीव जब शुभ-अशुभ या शुद्ध रूप से परिणमन करता है, तब वास्तव में शुभ, अशुभ या शुद्ध होता है।

टीकार्थ– *जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा–* जीव रूपी कर्ता जब शुभ या अशुभ परिणाम से परिणमित होता है, *सुहो असुहो हवदि–* तब शुभ से शुभरूप वा अशुभ से अशुभरूप होता है। *सुद्धेण तदा सुद्धो हि–* और जब शुद्ध परिणाम से परिणमित होता है, तब स्पष्ट रूप से शुद्ध होता है। जीव कैसा होता हुआ शुभादि रूप होता है ? *परिणामसब्भावो–* परिणाम सद्भाव वाला होता हुआ– परिणाम स्वभावी होने से शुभादि रूप होता है।

१- देवागम स्तोत्र, कारिका ५८ की अष्टसहस्री टीका।

तद्यथा– यथा स्फटिकमणिविशेषो निर्मलोऽपि जपापुष्पादिरक्तकृष्णश्वेतोपाधिवशेन रक्तकृष्णश्वेतवर्णो भवति, तथाऽयं जीवः स्वभावेन शुद्धबुद्धैकस्वरूपोऽपि व्यवहारेण गृहस्थापेक्षया यथासंभवं सरागसम्यक्त्वपूर्वकदानपूजादिशुभानुष्ठानेन, तपोधनापेक्षया तु मूलोत्तरगुणादिशुभानुष्ठानेन परिणतः शुभो ज्ञातव्य इति । मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगपंचप्रत्ययरूपाशुभोपयोगेनाशुभो विज्ञेयः । निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धोपयोगेन परिणतः शुद्धो ज्ञातव्य इति ।

किंच जीवस्यासंख्येयलोकमात्रपरिणामाः सिद्धान्ते मध्यमप्रतिपत्त्या मिथ्यादृष्ट्यादिचतुर्दशगुणस्थानरूपेण कथिताः । अत्र प्राभृतशास्त्रे तान्येव गुणस्थानानि संक्षेपेणाशुभशुभशुद्धोपयोगरूपेण कथितानि । कथमिति चेत्– मिथ्यात्वसासादनमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभोपयोगः, तदनन्तरमसंयतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसंयतगुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभोपयोगः, तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायान्तगुणस्थानषट्के तारतम्येन शुद्धोपयोगः, तदनन्तरं सयोग्ययोगिजिनगुणस्थानद्वये शुद्धोपयोगफलमिति भावार्थः ॥ ९ ॥

वह इसप्रकार— जैसे अत्यन्त निर्मल स्फटिक मणि भी जपा के फूल आदि लाल, काले और सफेद रंग रूप उपाधि के वश से लाल, काला व सफेद रंग वाला हो जाता है ; उसीप्रकार स्वभाव से शुद्ध-बुद्ध एक स्वरूप वाला होने पर भी यह जीव व्यवहार से गृहस्थ दशा की अपेक्षा यथासंभव सराग सम्यक्त्वपूर्वक दान-पूजा आदि शुभ क्रिया से, तथा मुनिदशा अपेक्षा मूलगुण-उत्तरगुण आदि शुभ क्रिया से परिणमता हुआ शुभ जानना चाहिये । मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग इन पाँच (बंध के) कारणों रूप अशुभोपयोग से परिणमता हुआ अशुभ जानना चाहिये ; तथा निश्चय रत्नत्रय स्वरूप शुद्धोपयोग से परिणमता हुआ शुद्ध जानना चाहिये ।

विशेष यह कि सिद्धान्त ग्रन्थों में असंख्यात लोक प्रमाण जीव के परिणाम, मध्यम रूप से जानकारी कराने की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थान रूप से कहे गये हैं । यहाँ प्राभृतशास्त्र (अध्यात्म शास्त्र) में वे ही गुणस्थान संक्षिप्त रूप से अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग रूप से कहे गये हैं ।

प्राभृतशास्त्र में तीन उपयोग किसप्रकार से कहे गये हैं ? मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र— इन तीन गुणस्थानों में तारतम्य से (घटता हुआ) अशुभोपयोग ; इसके बाद असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत और प्रमत्तसंयत— इन तीन गुणस्थानों में तारतम्य से (बढ़ता हुआ) शुभोपयोग; इसके आगे अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से क्षीणकषाय पर्यन्त छह गुणस्थानों में तारतम्य से (बढ़ता हुआ) शुद्धोपयोग, इसके बाद सयोगीजिन और अयोगीजिन— ये दो गुणस्थान शुद्धोपयोग के फल हैं— यह भाव है ।

भावार्थ– जिसप्रकार स्फटिक मणि स्वभाव से निर्मल होता हुआ भी लाल आदि रंगों के संयोग से लाल आदि रंग रूप होता हुआ दिखाई देता है ; उसीप्रकार जीव स्वभाव से शुद्ध-बुद्ध एक स्वरूपी होने पर भी परिणमन स्वभाव के कारण दान-पूजा, मूलगुण-उत्तरगुण आदि रूप से परिणमता हुआ शुभ; मिथ्यात्वादिरूप परिणमता हुआ अशुभ और निश्चय रत्नत्रय स्वरूप आत्मलीनता रूप परिणमता हुआ शुद्ध उपयोग रूप होता है ।

संक्षिप्त शैली में प्रतिपादन करने पर पहले से तीसरे गुणस्थानपर्यन्त घटता हुआ अशुभोपयोग, चौथे से छठे गुणस्थान पर्यन्त बढ़ता हुआ शुभोपयोग तथा सातवें से बारहवें गुणस्थान पर्यन्त बढ़ता हुआ शुद्धोपयोग कहा जाता है ; तेरहवाँ और चौदहवाँ गुणस्थान तो शुद्धोपयोग का फल है ।

विशेषार्थ– चौदह गुणस्थानों के संक्षिप्त विभाजन में यहाँ (टीका में) तारतम्य से, पहले से तीसरे तक अशुभोपयोग, चौथे से छठवें तक शुभोपयोग तथा सातवें से बारहवें तक शुद्धोपयोग कहा है– यह कथन मुख्यता, बहुलता (अधिकता) की दृष्टि से कथंचित् ही है, सर्वथा नहीं । वह इसप्रकार–

पहले गुणस्थानवर्ती जीव भी शुक्ललेश्या में मरण कर नवमें ग्रैवेयक तक[१], तथा दूसरे गुणस्थान वाले भी देवों में उत्पन्न होते हैं[२] । देवायु का बंध शुभभाव से होता है[३] ; अत: यहाँ अशुभोपयोग के साथ शुभभाव भी स्वतः-सिद्ध है ।

चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित सम्यक्त्वाचरण चारित्र[४], तथा पाँचवें छठवें गुणस्थान में पूर्वोक्त सहित क्रमश: देशचारित्र[५], सकलचारित्र[६] रूप रत्नत्रय– संवर-निर्जरा तत्त्व विद्यमान हैं ; अत: शुद्धोपयोग तथा शुद्ध परिणति सहज-सिद्ध है । चतुर्थ, पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक के अविरति, देशविरति, प्रमाद, कषाय, योग से अशुभ आश्रवभाव तथा आर्तध्यान-रौद्रध्यान[७] भी पाया जाता है ; इसप्रकार यहाँ अशुभोपयोग भी सिद्ध है ।

बंधादि प्रकरणों से[८] यहाँ तीनों उपयोगों की सत्ता स्वयं-सिद्ध है ।

सातवें से दसवें गुणस्थान तक भी अव्यक्त विद्यमान भयादि संज्ञायें[९] तथा संज्वलन कषाय[१०] आदि से होने वाले बंध से, अशुद्धता भी आगम-सिद्ध है ।

इसप्रकार पहले से तीसरे गुणस्थान तक बहुलतया अशुभोपयोग, गौणतया शुभभाव है ; चौथे से छठवें गुणस्थान में शुभोपयोग की अधिकता है, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग अपेक्षाकृत कम तथा शुद्ध परिणति सदा विद्यमान है । आगे सातवें से दसवें गुणस्थान तक शुद्धोपयोग तथा आगम सिद्ध अशुद्धता विद्यमान है । शेष गुणस्थान शुद्धोपयोग और उसके फलरूप ही हैं, वहाँ शुभाशुभ भाव रंचमात्र भी नहीं हैं ।

इसप्रकार मुख्य-गौण रूप स्याद्वाद-शैली में सर्वकथन आगम-सम्मत है ॥ ९ ॥

---

१. द्रव्य प्रमाणानुगम, धवला पुस्तक ३ पृष्ठ २९६ ।

२. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा १२८ ।

३. तत्त्वार्थ सूत्र, छठा अध्याय, सूत्र २० ।

४. चारित्र पाहुड़, गाथा ५ व ६ ।

५. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ३० व ३१ ।

६. वही, गाथा ३२ ।

७. तत्त्वार्थसूत्र, नवम अध्याय, सूत्र ३४ व ३५ ।

८. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, द्वितीयाधिकार, बंध-उदय-सत्त्व प्रकरण ।

९. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ७०२ ।

१०. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ४५ से ५८ तक ।

अथ नित्यैकान्तक्षणिकैकान्तनिषेधार्थं परिणामपरिणामिनोः परस्परं कथंचिदभेदं दर्शयति–

णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो ।(१०)

दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो ॥ १० ॥

णत्थि विणा परिणामं अत्थो मुक्तजीवे तावत्कथ्यते, सिद्धपर्यायरूपशुद्धपरिणामं विना शुद्धजीवपदार्थो नास्ति । कस्मात् । संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि प्रदेशभेदाभावात् । *अत्थं विणेह परिणामो* मुक्तात्मपदार्थं विना इह जगति शुद्धात्मोपलम्भलक्षणः सिद्धपर्यायरूपः शुद्धपरिणामो नास्ति। कस्मात्। संज्ञादिभेदेऽपि प्रदेशभेदाभावात्। *दव्वगुणपज्जयत्थो* आत्मस्वरूपं द्रव्यं तत्रैव केवलज्ञानादयो गुणाः सिद्धरूपः पर्यायश्च, इत्युक्तलक्षणेषु द्रव्यगुणपर्यायेषु तिष्ठतीति द्रव्यगुणपर्यायस्थो भवति । स कः कर्ता । *अत्थो* परमात्मपदार्थः, सुवर्णद्रव्यपीतत्वादिगुणकुण्डलादिपर्यायस्थसुवर्णपदार्थवत् । पुनश्च किंरूपः । *अत्थित्तणिव्वत्तो* शुद्धद्रव्यगुण-पर्यायाधारभूतं यच्छुद्धास्तित्वं तेन निर्वृत्तोऽस्तित्वनिर्वृत्तः, सुवर्णद्रव्यगुणपर्यायास्तित्वनिर्वृत्तसुवर्णपदार्थवदिति ।

अब, नित्य-एकान्त और क्षणिक-एकान्त के निराकरण के लिये परस्पर परिणाम और परिणामी के कथंचित् अभेद दिखाते हैं–

ना अर्थ है परिणाम बिन ना अर्थ बिन परिणाम है ।

स्वद्रव्य गुण पर्याय स्थित सत्त्व रचित पदार्थ है ॥ १० ॥

गाथार्थ– इस लोक में पर्याय के बिना पदार्थ और पदार्थ के बिना पर्याय नहीं होती है । पदार्थ द्रव्य-गुण-पर्याय में रहने वाला तथा अस्तित्व से बना हुआ है ।

टीकार्थ– ***णत्थि विणा परिणामं अत्थो–*** सबसे पहले मुक्त जीव में कहते हैं– सिद्ध पर्याय रूप शुद्ध परिणाम के बिना शुद्ध जीव पदार्थ नहीं है । सिद्ध पर्याय के बिना शुद्ध जीव पदार्थ क्यों नहीं है ? सिद्ध पर्याय और शुद्ध जीव में नाम, लक्षण, प्रयोजन आदि भेद होने पर भी दोनों में प्रदेश-भेद नहीं होने से सिद्ध पर्याय के बिना शुद्ध जीव नहीं है । ***अत्थं विणेह परिणामो–*** इस लोक में मुक्तस्वरूपी आत्मपदार्थ के बिना शुद्धात्मा की प्राप्ति लक्षण सिद्ध पर्याय रूप शुद्ध परिणाम नहीं है । मुक्त जीव के बिना सिद्ध पर्याय क्यों नहीं है ? मुक्त जीव और सिद्ध पर्याय में नामादि (पूर्वोक्त) भेद होने पर भी प्रदेश-भेद नहीं होने से मुक्त जीव के बिना सिद्ध पर्याय नहीं होती । ***दव्वगुणपज्जयत्थो–*** आत्मस्वरूप द्रव्य, उसमें ही केवलज्ञानादि गुण और सिद्धरूप पर्याय; इसप्रकार कहे गये लक्षण वाले द्रव्य-गुण-पर्याय में रहता है– द्रव्य-गुण-पर्याय में स्थित है । द्रव्य-गुण-पर्यायों में स्थिति करने वाला कर्ता रूप वह कौन है ? ***अत्थो–*** जैसे सुवर्ण पदार्थ सुवर्ण द्रव्य, पीलेपन आदि गुणों तथा कुण्डल आदि पर्यायों में स्थित है; उसीप्रकार परमात्मपदार्थ पूर्वोक्त अपने द्रव्य-गुण-पर्यायों में स्थित है । वह परमात्मपदार्थ और कैसा है ? ***अत्थित्तणिव्वत्तो–*** जैसे सुवर्ण पदार्थ सुवर्ण द्रव्य, सुवर्णमयगुण और सुवर्णमय पर्यायों रूप अस्तित्व से बना हुआ है, उसीप्रकार परमात्मपदार्थ भी शुद्ध द्रव्य, शुद्ध गुणों, शुद्ध पर्यायों के आधारभूत शुद्ध अस्तित्व से बना होने के कारण अस्तित्व से रचित है ।

अयमत्र तात्पर्यार्थः, यथा–मुक्तजीवे द्रव्यगुणपर्यायत्रयं परस्पराविनाभूतं दर्शितं तथा संसारिजीवेऽपि मतिज्ञानादिविभावगुणेषु नरनारकादिविभावपर्यायेषु नयविभागेन यथासंभवं विज्ञेयम्, तथैव पुद्गलादिष्वपि ॥ १० ॥

एवं शुभाशुभशुद्धपरिणामव्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयस्थले गाथाद्वयं गतम् ।

यहाँ तात्पर्य यह है कि जैसे मुक्त जीव में द्रव्य-गुण-पर्याय– इन तीनों का परस्पर अविनाभाव दिखाया गया है, उसीप्रकार नय-भेद से संसारी-जीव में भी मतिज्ञानादि विभाव-गुणों और मनुष्य-नारकी आदि विभाव-पर्यायों में परस्पर अविनाभाव यथायोग्य जान लेना चाहिये । उसीप्रकार पुद्गलादि शेष द्रव्यों में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का परस्पर अविनाभाव जान लेना चाहिये ।

भावार्थ– जैसे सुवर्ण कुण्डल आदि पर्यायों के बिना, तथा कुण्डल आदि पर्यायें सुवर्ण के बिना नहीं पाई जातीं, दोनों ही परस्पर अविनाभावी हैं ; उसीप्रकार नाम-लक्षण-प्रयोजन आदि का भेद होने पर भी प्रदेश भेद नहीं होने के कारण जगत् का कोई भी द्रव्य पर्याय के बिना तथा पर्याय द्रव्य के बिना नहीं पाई जाती, दोनों का परस्पर अविनाभाव है ।

जैसे सुवर्ण पदार्थ सदा अपने सुवर्णमय द्रव्य, पीलेपन आदि गुणों तथा कुण्डलादि पर्यायों में ही रहता है ; उसीप्रकार जगत् का प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में ही रहता है ।

तथा जैसे सुवर्ण पदार्थ अपने सुवर्णमय द्रव्य, पीलेपन आदि गुणों तथा कुण्डलादि पर्यायों से ही बना है; उसीप्रकार जगत् का प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने द्रव्य-गुण-पर्यायों से ही बना है ।

इसप्रकार किसी भी पदार्थ का अन्य पदार्थ में किंचित् मात्र भी हस्तक्षेप नहीं है ।

विशेषार्थ– इस गाथा की 'तत्त्वप्रदीपिका' टीका में 'आचार्य अमृतचन्द्र' ***"दव्वगुणपज्जयत्थो"*** और ***"अत्थित्तणिव्वत्तो"***– गाथा में आये हुये इन वाक्यांशों को स्पष्ट करते हुये द्रव्य-गुण-पर्याय का लक्षण इसप्रकार लिखते हैं–

"वस्तु ऊर्ध्वता सामान्य लक्षण वाले द्रव्य में, सहभावी विशेष लक्षण वाले गुणों में तथा क्रमभावी विशेष लक्षण वाली पर्यायों में स्थित है ; तथा उत्पादव्ययध्रौव्यमयी अस्तित्व से रचित है ; अतः परिणामस्वभावी ही है"[१] ॥ १० ॥

इसप्रकार शुभ, अशुभ और शुद्ध परिणामों के कथन की मुख्यता से तीसरे स्थल में दो गाथायें पूर्ण हुईं ।

---

१. प्रवचनसार, गाथा १०, तत्त्वप्रदीपिका टीका के वाक्यांश ।

अथ वीतरागसरागचारित्रसंज्ञयोः शुद्धशुभोपयोगपरिणामयोः संक्षेपेण फलं दर्शयति- .

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो। (११)
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो य सग्गसुहं॥ ११॥

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा धर्मेण परिणतात्मा परिणतस्वरूपः सन्नयमात्मा *जदि सुद्धसंपयोगजुदो* यदि चेच्छुद्धोपयोगाभिधानशुद्धसंप्रयोगपरिणामयुतः परिणतो भवति *पावदि णिव्वाणसुहं* तदा निर्वाणसुखं प्राप्नोति। *सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं* शुभोपयोगयुतः परिणतः सन् स्वर्गसुखं प्राप्नोति।

इतो विस्तरम्-इह धर्मशब्देनाहिंसालक्षणः सागारानगाररूपस्तथोत्तमक्षमादिलक्षणो रत्नत्रयात्मको वा, तथा मोहक्षोभरहित आत्मपरिणामः शुद्धवस्तुस्वभावश्चेति गृह्यते। स एव धर्मः पर्यायान्तरेण चारित्रं भण्यते। *'चारित्तं खलु धम्मो'*[1] इति वचनात्। तच्च चारित्रमपहतसंयमोपेक्षासंयमभेदेन सरागवीतरागभेदेन वा शुभोपयोगशुद्धोपयोगभेदेन च द्विधा भवति। तत्र यच्छुद्धसंप्रयोगशब्दवाच्यं शुद्धोपयोगस्वरूपं वीतरागचारित्रं

(इसके बाद शुभादि तीन उपयोगों के फल को बताने वाला, दो गाथाओं में निबद्ध चौथा स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, संक्षेप में (क्रमशः) वीतरागचारित्र और सरागचारित्र नामक शुद्धोपयोग और शुभोपयोग परिणामों का फल दिखाते हैं—

हो धर्म परिणत आत्मा शुद्धोपयोगी मोक्ष सुख।
यदि हो तथा उपयोग शुभमय प्राप्त करते स्वर्ग सुख॥ ११॥

गाथार्थ– धर्म परिणत आत्मा यदि शुद्धोपयोगी होता है, तो मोक्ष-सुख प्राप्त करता है; तथा यदि शुभोपयोगी होता है, तो स्वर्ग-सुख प्राप्त करता है।

टीकार्थ– ***धम्मेण परिणदप्पा अप्पा***– धर्मरूप से परिणत स्वरूप वाला होता हुआ यह आत्मा, ***जदि सुद्धसंपयोगजुदो***– यदि शुद्धोपयोग है नाम जिसका ऐसे शुद्धसंप्रयोग परिणाम रूप परिणत होता है, ***पावदि णिव्वाणसुहं***– तो मोक्ष-सुख प्राप्त करता है। ***सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं***-शुभोपयोग से परिणत होता हुआ स्वर्गसुख प्राप्त करता है।

यहाँ इसका विस्तार करते हैं— इस गाथा में धर्म शब्द से अहिंसा लक्षण धर्म, गृहस्थ धर्म-मुनि धर्म, उत्तम क्षमादि लक्षण रत्नत्रय स्वरूप धर्म, मोह-क्षोभ रहित आत्मा के परिणाम अथवा वस्तु का शुद्ध स्वभाव ग्रहण किया जाता है। "चारित्र ही वास्तविक धर्म है" ऐसा वचन होने से, वही धर्म दूसरे शब्दों में चारित्र कहा जाता है। और वह चारित्र अपहृत संयम-उपेक्षा संयम भेद से अथवा सराग-वीतराग भेद से और शुभोपयोग-शुद्धोपयोग भेद से दो प्रकार का है। वहाँ जो शुद्धसंप्रयोग शब्द से कहा जाने वाला शुद्धोपयोग स्वरूप वीतराग

१.प्रवचनसार, गाथा ७ प्रथम चरण।

तेन निर्वाणं लभते। निर्विकल्पसमाधिरूपशुद्धोपयोगशक्त्यभावे सति यदा शुभोपयोगरूपसरागचारित्रेण परिणमति तदा पूर्वमनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखविपरीतमाकुलत्वोत्पादकं स्वर्गसुखं लभते। पश्चात् परमसमाधिसामग्रीसद्भावे मोक्षं च लभते इति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥

अथ चारित्रपरिणामासंभवादत्यन्तहेयस्याशुभोपयोगस्य फलं दर्शयति-

असुहोदएण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो।(१२)
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिद्दुदो भमदि अच्चंतं॥ १२ ॥

चारित्र है, उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है । निर्विकल्प समाधि रूप शुद्धोपयोग में रहने की शक्ति का अभाव होने पर जब (पूर्वोक्त जीव) शुभोपयोग रूप सरागचारित्र से परिणत होता है, तो अनाकुलता लक्षण पारमार्थिक सुख से विपरीत आकुलता पैदा करने वाला स्वर्ग-सुख प्राप्त करता है । तथा बाद में परम समाधि रूप मोक्ष की कारणभूत वीतराग चारित्र रूप सामग्री के सद्भाव में मोक्ष प्राप्त करता है— यह गाथा का भाव है ।

विशेषार्थ-१-"जब यह धर्म परिणत आत्मा शुद्धोपयोगी होता है तो निर्विरोध रूप शक्ति से अपने कार्य करने में समर्थ चारित्र सम्पन्न होकर साक्षात् मोक्ष को प्राप्त करता है, तथा जब वही धर्म परिणत आत्मा शुभोपयोगी होता है तो जैसे-अग्नि में तपे हुये घी को मनुष्य पर डालने से, वह जलन सम्बन्धी दुःख को ही भोगता है ; उसीप्रकार विरोधी शक्ति के कारण अपने कार्य करने में असमर्थ एवं कथंचित् विरुद्ध कार्य करने वाले चारित्र से स्वर्ग-सुख रूप बंध को प्राप्त करता है ।

अतः शुद्धोपयोग उपादेय तथा शुभोपयोग हेय है"।[१]

२- आचार्य प्रभाचन्द्र ने शुद्ध संप्रयोग के अन्य नाम निम्न रूप से दिये हैं—

"सुद्धसंपजोगजुदो शुद्धः शुभाशुभाश्रवरहितः शुभाशुभकर्मरहितः प्रयोग शुद्धात्मस्वरूपानुभवव्यापारः परमोदासीनतेत्यर्थः[२] ।

शुद्ध संप्रयोग युक्त, शुद्ध, शुभाशुभ आश्रव रहित, शुभाशुभकर्मरहित, प्रयोग, शुद्धात्मस्वरूप के अनुभव का व्यापार, परम उदासीनता— ऐसा अर्थ है" ॥ ११ ॥

अब, चारित्र परिणाम के असम्भव होने से सर्वथा छोड़ने योग्य अशुभोपयोग का फल दिखाते हैं—

अशुभोदयी यह आत्मा तिर्यक कुनर बन नारकी।
नित सहस दुख से दुखी हो भवभ्रमण करता है वहीं ॥ १२ ॥

१.प्रवचनसार, गाथा ११, तत्त्वप्रदीपिका टीका- हिन्दी अनुवाद ।

२.प्रवचनसार, गाथा ११, प्रवचनसार सरोज भास्कर टीका ।

असुहोदयेण अशुभोदयेन *आदा* आत्मा *कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो* कुनरस्तिर्यङ्नारको भूत्वा। किं करोति। *दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिंधुदो भमदि अच्चंतं* दुःखसहस्रैः सदा सर्वकालमभिद्रुतः कदर्थितः पीडितः सन् संसारे अत्यन्तं भ्रमतीति।

तथाहि– निर्विकारशुद्धात्मतत्त्वरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वस्य तत्रैव शुद्धात्मन्यविक्षिप्तचित्तवृत्तिरूपनिश्चयचारित्रस्य च विलक्षणेन विपरीताभिनिवेशजनकेन दृष्टश्रुतानुभूतपंचेन्द्रियविषयाभिलाषतीव्रसंक्लेशरूपेण चाशुभोपयोगेन यदुपार्जितं पापकर्म तदुदयेनायमात्मा सहजशुद्धात्मानन्दैकलक्षणपारमार्थिकसुखविपरीतेन दुःखेन दुःखितः सन् स्वस्वभावभावनाच्युतो भूत्वा संसारेऽत्यन्तं भ्रमतीति तात्पर्यार्थः ॥ १२ ॥

एवमुपयोगत्रयफलकथनरूपेण चतुर्थस्थले गाथाद्वयं गतम्।

अथ शुभाशुभोपयोगद्वयं निश्चयनयेन हेयं ज्ञात्वा शुद्धोपयोगाधिकारं प्रारभमाणः, शुद्धात्मभावनामात्मसात्कुर्वाणः सन् जीवस्य प्रोत्साहनार्थं शुद्धोपयोगफलं प्रकाशयति। अथवा द्वितीयपातनिका–यद्यपि शुद्धोपयोगफलमग्रे ज्ञानं सुखं च संक्षेपेण विस्तरेण च कथयति तथाप्यत्रापि पीठिकायां सूचनां करोति। अथवा तृतीयपातनिका–पूर्वं शुद्धोपयोगफलं निर्वाणं भणितमिदानीं पुनर्निर्वाणस्य फलमनन्तसुखं कथयतीति पातनिकात्रयस्यार्थं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति–

गाथार्थ– अशुभ के उदय से आत्मा कुमनुष्य, तिर्यंच और नारकी होकर हजारों दुःखों से हमेशा दुखी होता हुआ (यहाँ ही) अत्यन्त भ्रमण करता रहता है।

टीकार्थ– ***असुहोदयेण***–अशुभ कर्म के उदय से, ***आदा***- आत्मा, ***कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो***–कुमनुष्य, तिर्यंच, नारकी होकर। इन रूप होकर आत्मा क्या करता है? ***दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिंधुदो भमदि अच्चंतं***–हजारों दुःखों से हमेशा पीड़ित होता हुआ संसार में दीर्घकाल तक घूमता रहता है।

वह इसप्रकार– निर्विकार शुद्धात्मतत्त्व की रुचि रूप निश्चय सम्यग्दर्शन तथा उसी शुद्धात्मा मे निर्विकल्प मनोवृत्ति रूप निश्चयचारित्र से विरुद्ध लक्षण वाले विपरीत मान्यता के उत्पादक, देखे हुये, सुने हुये भोगे हुये पंचेन्द्रिय विषयों की इच्छा सम्बन्धी तीव्र संक्लेश परिणाम रूप अशुभोपयोग से बँधे हुये पाप कर्मों के उदय में यह आत्मा सहज शुद्धात्मा के आश्रय से उत्पन्न आनन्द है एक लक्षण जिसका ऐसे पारमार्थिक-सुख से विपरीत दुःख से दुखी होता हुआ, आत्मस्वभाव की भावना से रहित होकर संसार में दीर्घकाल तक घूमता रहता है– यह तात्पर्य है ॥ १२ ॥

इसप्रकार शुभादि तीनों उपयोगों के फल को बताने वाले चौथे स्थल में दो गाथायें समाप्त हुईं।

(अब, शुद्धोपयोग के फलभूत अनन्तसुख और शुद्धोपयोगी पुरुष का लक्षण बताने वाला, दो गाथाओं में निबद्ध पाँचवाँ स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब १. शुभोपयोग और अशुभोपयोग– इन दोनों को निश्चयनय से हेय जानकर शुद्धोपयोग अधिकार प्रारम्भ करते हुये शुद्धात्मभावना को आत्मसात् करने वाले– शुद्धोपयोगी जीव के प्रोत्साहन के लिये शुद्धोपयोग का फल प्रकाशित करते हैं–

२. अथवा द्वितीय पातनिका– यद्यपि शुद्धोपयोग का फल ज्ञान और सुख आगे संक्षेप-विस्तार से कहेंगे, तथापि यहाँ पीठिका में भी सूचना करते हैं–

३. अथवा तृतीय पातनिका– पहले (ग्यारहवीं गाथा में) शुद्धोपयोग का फल निर्वाण कहा था, अब निर्वाण का फल अनन्तसुख कहते हैं–

अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं ।(१३)

अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धवओगप्पसिद्धाणं ॥ १३ ॥

अइसयं आसंसाराद्देवेन्द्रादिसुखेभ्योऽप्यपूर्वाद्भुतपरमाह्लादरूपत्वादतिशयस्वरूपं, *आदसमुत्थं* रागादिविकल्परहितस्वशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नत्वादात्मसमुत्थं, *विसयातीदं* निर्विषयपरमात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूत-पंचेन्द्रियविषयातीतत्वाद्विषयातीतं, *अणोवमं* निरुपमपरमानन्दैकलक्षणत्वेनोपमारहितत्वादनुपमं, *अणंतं* अनन्तागामिकाले विनाशाभावादप्रमितत्वाद्वाऽनन्तं, *अव्वुच्छिण्णं च* असातोदयाभावान्निरन्तरत्वादविच्छिन्नं च *सुहं* एवमुक्तविशेषणविशिष्टं सुखं भवति। केषाम्। *सुद्धवओगप्पसिद्धाणं* वीतरागपरमसामायिकशब्दवाच्यशुद्धोपयोगेन प्रसिद्धा उत्पन्ना येऽर्हत्सिद्धास्तेषामिति ।

अत्रेदमेव सुखमुपादेयत्वेन निरन्तरं भावनीयमिति भावार्थः ॥ १३ ॥

इसप्रकार तीन पातनिकाओं के अर्थ को मन में धारण करके यह गाथा कहते हैं—

अतिशय स्वतः उत्पन्न अनुपम विषय रहित अनन्त है ।

शुद्धोपयोग प्रसिद्ध जीवों के अखण्डित सुक्ख है ॥ १३ ॥

गाथार्थ– शुद्धोपयोग से प्रसिद्ध जीवों के अतिशय, आत्मोत्पन्न, विषयातीत, अनुपम, अनन्त और अखण्डित सुख होता है ।

टीकार्थ– ***अइसयं–*** अनादि संसार से देवेन्द्र आदि सम्बन्धी सुख से भी अपूर्व परम आह्लादमय होने से अतिशय स्वरूप है ; ***आदसमुत्थं–*** रागादि विकल्प रहित निज शुद्धात्मा के आश्रय से उत्पन्न होने के कारण आत्मोत्पन्न है ; ***विसयातीदं–*** निर्विषय परमात्मतत्त्व से विरुद्ध पाँच इन्द्रियों के विषयों से रहित होने के कारण विषयातीत है ; ***अणोवमं–*** निरुपम परमानन्द रूप एक लक्षण मय होने से उपमा रहित होने के कारण अनुपम है ; ***अणंतं–*** अनन्त भविष्यकाल में नष्ट नहीं होने से अथवा असीम होने से अनन्त है ; ***अव्वुच्छिण्णं च–*** और असातावेदनीय कर्म के उदय का अभाव हो जाने से हमेशा रहने के कारण विच्छेद रहित अव्याबाध है ; ***सुहं–*** इसप्रकार कहे हुये विशेषण सम्पन्न सुख होता है । ऐसा सुख किन्हें होता है ? ***सुद्धवओगप्पसिद्धाणं–*** वीतराग परम सामायिक शब्द से कहने योग्य शुद्धोपयोग से प्रसिद्ध उत्पन्न हुये जो अरहंत और सिद्ध हैं, उन्हें होता है ।

यहाँ यही सुख उपादेय रूप से निरन्तर भावना करने योग्य है— यह भाव है ।

भावार्थ– वीतराग परम सामायिक रूप स्वरूप स्थिरतामय शुद्धोपयोग के फल स्वरूप अरहन्त-सिद्ध भगवान परिपूर्ण सुखी हैं । वह परिपूर्ण सुख इन्द्रादि संसार दशाओं में पहले कभी प्राप्त नहीं होने से सातिशय है ; निर्विकल्प सुख स्वभावी शुद्धात्मा के आश्रय से उत्पन्न होने के कारण आत्मोत्पन्न—स्वाधीन है ; उस सुख के लिये जगत् के किसी भी पर पदार्थ की रंचमात्र अपेक्षा नहीं होने के कारण विषयातीत है ; उपमा रहित सर्वोत्कृष्ट आनन्द सम्पन्न होने से अनुपम है ; भविष्य सम्बन्धी अनन्तकालों में कभी भी नष्ट नहीं होने से, तथा अमर्याद होने से अनन्त है ।(सिद्धों की अपेक्षा) असातावेदनीय आदि कर्मोदय का अभाव हो जाने से, प्रगट होने के बाद सदा निर्विघ्न एक रूप रहने के कारण अव्याबाध है ।

ऐसा सातिशय, परिपूर्ण, स्वाधीन सुख शुद्धोपयोग के फलस्वरूप प्रगट होता है, अतः वही कर्तव्य है ॥१३॥

अथ येन शुद्धोपयोगेन पूर्वोक्तसुखं भवति तत्परिणतपुरुषलक्षणं प्रकाशयति –

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।(१४)
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ॥ १४ ॥

सुविदिदपयत्थसुत्तो सुष्ठु संशयादिरहितत्वेन विदिता ज्ञाता रोचिताश्च निजशुद्धात्मादिपदार्थास्तत्प्रतिपादकसूत्राणि च येन स सुविदितपदार्थसूत्रो भण्यते। *संजमतवसंजुदो* बाह्ये द्रव्येन्द्रियव्यावर्तनेन षड्जीवरक्षणेन चाभ्यन्तरे निजशुद्धात्मसंवित्तिबलेन स्वरूपे संयमनात् संयमयुक्तः बाह्याभ्यन्तरतपोबलेन कामक्रोधादिशत्रुभिरखण्डितप्रतापस्य स्वशुद्धात्मनि प्रतपनाद्विजयनात्तपः संयुक्तः। *विगदरागो* वीतरागशुद्धात्मभावनाबलेन समस्तरागादिदोषरहितत्वाद्विगतरागः। *समसुहदुक्खो* निर्विकारनिर्विकल्पसमाधेरुद्गता समुत्पन्ना तथैव परमानन्दसुखरसे लीना तल्लया निर्विकारस्वसंवित्तिरूपा या तु परमकला तदवष्टम्भेनेष्टानिष्टेन्द्रियविषयेषु हर्षविषादरहितत्वात्समसुखदुःखः। *समणो* एवंगुणविशिष्टः श्रमणः परममुनिः *भणिदो सुद्धोवओगो त्ति* शुद्धोपयोगो भणित इत्यभिप्रायः ॥ १४ ॥

अब, जिस शुद्धोपयोग से गाथा १३ में कहे गये लक्षणवाला सुख होता है, उस शुद्धोपयोगरूप परिणत पुरुष का लक्षण प्रकाशित करते हैं —

सुविदित पदार्थ सुसूत्र संयम तप सहित रागादि बिन।
सुखदुःख समभावी मुनी शुद्धोपयोगी कहें जिन ॥१४॥

गाथार्थ– पदार्थों और सूत्रों को अच्छी तरह जानने वाले, संयम और तप सम्पन्न, रागादि से रहित, सुख-दुःख में समभावी श्रमण (मुनि) शुद्धोपयोगी कहे गये हैं।

टीकार्थ – ***सुविदिदपयत्थसुत्तो-*** जिसने संशयादि रहित होने के कारण अच्छी तरह से निज शुद्धात्मा आदि पदार्थों और उनके प्रतिपादक सूत्रों (आगम-जिनवाणी) को जान लिया है, और उनका श्रद्धान किया है, उसे पदार्थों और सूत्रों को अच्छी तरह जाननेवाला कहते हैं। ***संजमतवसंजुदो-*** बाह्य में द्रव्येन्द्रियों से निवृत्त होकर छहकाय के जीवों की रक्षा से और अन्तरंग में अपने शुद्धात्मा के अनुभव के बल से स्वरूप में संयमित होने से जो संयम-सम्पन्न हैं, तथा बहिरंग और अन्तरंग तप के बल से काम-क्रोधादि शत्रुओं के द्वारा जिसका प्रताप खण्डित नहीं हुआ है, ऐसे निज शुद्धात्मा में प्रतापवंत–विजयवंत होने से (स्वरूपलीन होने से) जो तप-सम्पन्न हैं। ***विगदरागो-*** वीतराग शुद्धात्म-भावना के बल से समस्त रागादि दोषों से रहित होने के कारण जो विगतराग हैं। ***समसुहदुक्खो-*** वीतरागी निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न उसीप्रकार परमानन्द सुख-रस में लीन जो निर्विकार स्वसंवेदन रूप उत्कृष्ट कला, उसके अवलम्बन से इष्ट-अनिष्ट पंचेन्द्रिय विषयों में हर्ष-विषाद रहित होने के कारण जो समसुख-दुःख हैं। ***समणो-*** ऐसे गुणों से समृद्ध श्रमण-उत्कृष्ट मुनि, ***भणिदो सुद्धोवओगो त्ति-*** शुद्धोपयोग कहे गये हैं—यह अभिप्राय है।

भावार्थ– जिनवाणी के माध्यम से निज शुद्धात्मा आदि पदार्थों को संशयादि दोषों से रहित अच्छी तरह जानकर जिन्होंने श्रद्धान किया है, जो पाँच इन्द्रिय और मन से अपने उपयोग को हटाकर, छहकाय के जीवों की रक्षा पूर्वक आत्मस्वरूप में संयमित हुये हैं, काम-क्रोधादि विकारी भावों से रहित अन्तरंग-बहिरंग

एवं शुद्धोपयोगफलभूतानन्तसुखस्य शुद्धोपयोगपरिणतपुरुषस्य च कथनरूपेण पञ्चमस्थले गाथाद्वयं गतम् ॥

इति चतुर्दशगाथाभिः स्थलपञ्चकेन पीठिकाभिधानः प्रथमोऽन्तराधिकारः समाप्तः ॥

तदनन्तरं सामान्येन सर्वज्ञसिद्धिर्ज्ञानविचारः संक्षेपेण शुद्धोपयोगफलं चेति कथनरूपेण गाथासप्तकम्। तत्र स्थलचतुष्टयं भवति, तस्मिन् प्रथमस्थले सर्वज्ञस्वरूपकथनार्थं प्रथमगाथा, स्वयम्भूकथनार्थं द्वितीया चेति *'उवओगविसुद्धो'* इत्यादि गाथाद्वयम्। अथ तस्यैव भगवत उत्पादव्ययध्रौव्यस्थापनार्थं प्रथमगाथा, पुनरपि तस्यैव दृढीकरणार्थं द्वितीया चेति *'भंगविहीणो'* इत्यादि गाथाद्वयम्। अथ सर्वज्ञश्रद्धानेनानन्तसुखं भवतीति दर्शनार्थं *'तं सव्वट्ठवरिट्ठं',* इत्यादि सूत्रमेकम्। अथातीन्द्रियज्ञानसौख्यपरिणमनकथनमुख्यत्वेन प्रथमगाथा, केवलिभुक्तिनिराकरणमुख्यत्वेन द्वितीया चेति *'पक्खीणघाइकम्मो'* इति प्रभृति गाथाद्वयम्।

एवं द्वितीयान्तराधिकारे स्थलचतुष्टयेन समुदायपातनिका।

तप के बल से जो निजशुद्धात्मस्वरूप में प्रतापवंत हैं, वीतरागी शुद्धात्मस्वरूप के आश्रय से जो समस्त रागादि दोषों से रहित हैं, परमानन्द स्वभावी निज शुद्धात्मा में निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न परमानन्द सुखरस में लीन होने से जो बाह्य इष्ट-अनिष्ट विषयों में हर्ष-विषाद से रहित सुखदुःख समभावी हैं—ऐसे मुनि शुद्धोपयोगी हैं।

ऐसे शुद्धोपयोग के फलस्वरूप वे पूर्वोक्त (गाथा तेरहवीं में कहे हुये) शाश्वत सुख को प्राप्त करते हैं ॥१४॥

इसप्रकार पाँचवें स्थल में शुद्धोपयोग के फलभूत अनन्तसुख का और शुद्धोपयोगी पुरुष का स्वरूप बताने वाली दो गाथायें समाप्त हुईं।

इसप्रकार यहाँ चौदह गाथाओं द्वारा पाँच स्थलों में विभक्त "पीठिका" नामक प्रथम अन्तराधिकार पूर्ण हुआ।

इसके बाद सात गाथाओं में निबद्ध सामान्य से सर्वज्ञसिद्धि-ज्ञान विचार और संक्षेप में शुद्धोपयोग का फल बताने वाला दूसरा अन्तराधिकार है। वहाँ चार स्थल हैं— उनमें से पहले स्थल में सर्वज्ञ का स्वरूप बताने वाली पहली गाथा और स्वयंभू का कथन करने वाली दूसरी— इसप्रकार *'उवओगविसुद्धो'* इत्यादि दो गाथायें हैं। दूसरे स्थल में उन्हीं सर्वज्ञ भगवान के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की स्थापना करने के लिये पहली गाथा तथा उन्हीं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को दृढ़ करने के लिये दूसरी— इसप्रकार *'भंग विहीणो'*-इत्यादि दो गाथायें हैं। तीसरे स्थल में सर्वज्ञ की श्रद्धा से अनन्त-सुख होता है, इसे दिखाने के लिये *'तं सव्वट्ठवरिट्ठं'* इत्यादि एक गाथा है। इसके बाद चौथे स्थल में अतीन्द्रिय ज्ञान-सुख रूप परिणमन को बताने की मुख्यता से पहली गाथा तथा केवली भगवान के कवलाहार निषेध की मुख्यता से दूसरी गाथा— इसप्रकार ***'पक्खीणघाइकम्मो'*** इत्यादि दो गाथायें हैं।

इसप्रकार चार स्थलों द्वारा दूसरे अन्तराधिकार में समुदाय पातनिका (सामूहिक उत्थानिका) है।

तद्यथा- अथ शुद्धोपयोगलाभानन्तरं केवलज्ञानं भवतीति कथयति। अथवा द्वितीयपातनिका- कुन्दकुन्दाचार्यदेवाः सम्बोधनं कुर्वन्ति, हे शिवकुमारमहाराज, कोऽप्यासन्नभव्यः संक्षेपरुचिः पीठिकाव्याख्यानमेव श्रुत्वात्मकार्यं करोति, अन्यः कोऽपि पुनर्विस्तररुचिः शुद्धोपयोगेन संजातसर्वज्ञस्य ज्ञानसुखादिकं विचार्य पश्चादात्मकार्यं करोतीति व्याख्याति-

सामान्य सर्वज्ञ -सिद्धि नामक द्वितीयान्तराधिकार का स्थल-विभाजन

स्थल क्रम	स्थल प्रतिपादित विषय	गाथा कहाँ से कहाँ तक	कुल गाथायें
प्रथम	सर्वज्ञ एवं स्वयम्भू स्वरूप प्रतिपादक	१५ व १६	२
द्वितीय	सर्वज्ञ के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्धि एवं पुष्टि	१७ व १८	२
तृतीय	सर्वज्ञ श्रद्धा का फल	१९	१
चतुर्थ	अतीन्द्रिय ज्ञान सुख रूप परिणमन तथा केवली कवलाहार निषेध	२० व २१	२
कुल ४ स्थल			७ गाथायें

(अब, दूसरे अन्तराधिकार में दो गाथाओं वाला सर्वज्ञ एवं स्वयम्भू प्रतिपादक प्रथम स्थल प्रारम्भ होता है ।)

वह इसप्रकार—

अब - (१) शुद्धोपयोग की प्राप्ति के बाद केवलज्ञान होता है, यह कहते हैं—

(२) अथवा दूसरी पातनिका - "कुन्दकुन्दाचार्य देव" सम्बोधन करते हैं कि हे "शिवकुमार महाराज" संक्षिप्त रुचिवाला कोई आसन्नभव्य पीठिका के व्याख्यान को ही सुनकर अपना कार्य (स्वरूप लीनता रूप कार्य) कर लेता है । विस्तार रुचिवाला कोई दूसरा शुद्धोपयोग से उत्पन्न सर्वज्ञ के ज्ञान-सुखादिक का विचार कर बाद में (स्वरूप लीनता रूप) अपना कार्य करता है ; अतः सर्वज्ञ के ज्ञान-सुखादिक की व्याख्या करते हैं—

उवओगविसुद्धो जो विगदावरणंतरायमोहरओ ।(१५)
भूदो सयमेवादा जादि परं णेयभूदाणं ॥ १५ ॥

उवओगविसुद्धो जो उपयोगेन शुद्धोपयोगेन परिणामेन विशुद्धो भूत्वा वर्तते यः *विगदावरणंतरायमोहरओ भूदो* विगतावरणान्तरायमोहरजोभूतः सन्। कथम्। *सयमेव* निश्चयेन स्वयमेव। *आदा* स पूर्वोक्त आत्मा *जादि* याति गच्छति। किं। *पारं* पारमवसानम्। केषाम्। *णेयभूदाणं* ज्ञेयभूतपदार्थानाम्। सर्वं जानातीत्यर्थः।

अतो विस्तरः– यो निर्मोहशुद्धात्मसंवित्तिलक्षणेन शुद्धोपयोगसंज्ञेनागमभाषया पृथक्त्ववितर्कवीचार-प्रथमशुक्लध्यानेन पूर्वं निरवशेषमोहक्षपणं कृत्वा तदनन्तरं रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वसंवित्तिलक्षणेनैकत्व-वितर्कावीचारसंज्ञद्वितीयशुक्लध्यानेन क्षीणकषायगुणस्थानेऽन्तर्मुहूर्तकालं स्थित्वा तस्यैवान्त्यसमये ज्ञानदर्शनावरणवीर्यान्तरायाभिधानघातिकर्मत्रयं युगपद्विनाशयति, स जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसमस्तवस्तु-गतानन्तधर्माणां युगपत्प्रकाशकं केवलज्ञानं प्राप्नोति।

ततः स्थितं शुद्धोपयोगात्सर्वज्ञो भवतीति ॥ १५ ॥

शुद्धोपयोगी जीव जो आवरण मोहान्तराय से ।
स्वयमेव होकर रहित पाते पार ज्ञेय पदार्थ के ॥१५ ॥

गाथार्थ– शुद्धोपयोगी आत्मा स्वयं ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहकर्म-रज से रहित होकर ज्ञेयभूत पदार्थों के पार को प्राप्त होते हैं।

टीकार्थ– ***उवओगविसुद्धो जो***- शुद्धोपयोग रूप परिणाम से विशुद्ध होकर जो हैं ***विगदावरणंतरायमोहरओ भूदो*** - ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहरज रहित होते हुये वर्तते हैं। वे शुद्धोपयोग से विशुद्ध और ज्ञानावरणादि रज से रहित कैसे हुये ? ***सयमेव***- निश्चय से स्वयं ही ऐसे हुये। ***आदा***-वे पूर्वोक्त परमात्मा, ***जादि***- जाते हैं। वे सर्वज्ञ परमात्मा कहाँ जाते हैं ? ***पारं***- अन्त तक जाते हैं। वे परमात्मा किनके अन्त तक जाते हैं ? ***णेयभूदाणं***- जानने योग्य पदार्थों के अन्त तक जाते हैं। सबको जानते हैं–यह इसका अर्थ है।

यहाँ इसका विस्तार करते हैं–आगम भाषा में जिसे पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्लध्यान कहते हैं, ऐसे निर्मोह स्वभावी निज शुद्धात्मा में स्थिरता रूप शुद्धोपयोग नामक परिणामों से, पहले सम्पूर्ण मोह का क्षय कर उसके बाद रागादि विकल्प रूप उपाधि रहित स्वसम्वेदन सम्पन्न एकत्ववितर्क अवीचार नामक दूसरे शुक्लध्यान के साथ क्षीणकषाय गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त काल ठहर कर उसके ही अन्तिम समय में उन शुद्धोपयोगी जीव के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वीर्यान्तराय नामक तीन घातिकर्म एक साथ नष्ट हो जाते हैं और तीन लोक-तीनकालवर्ती सम्पूर्ण वस्तुओं में रहने वाले अनन्त धर्मों को एक साथ प्रकाशित करने वाला केवलज्ञान प्रगट हो जाता है।

इससे फलित हुआ कि शुद्धोपयोग से ही सर्वज्ञ होते हैं ॥ १५ ॥

अथ शुद्धोपयोगजन्यस्य शुद्धात्मस्वभावलाभस्य भिन्नकारकनिरपेक्षत्वेनात्माधीनत्वं प्रकाशयति–

तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो ।(१६)

भूदो सयमेवादा हवदि सयंभु त्ति णिद्दिट्ठो ॥ १६ ॥

तह सो लद्धसहावो यथा निश्चयरत्नत्रयलक्षणशुद्धोपयोगप्रसादात्सर्वं जानाति तथैव सः पूर्वोक्तलब्ध-शुद्धात्मस्वभावः सन् *आदा* अयमात्मा *हवदि सयंभु त्ति णिद्दिट्ठो* स्वयम्भूर्भवतीति निर्दिष्टः कथितः । किंविशिष्टो भूतः । *सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो भूदो* सर्वज्ञः सर्वलोकपतिमहितश्च भूतः संजातः । कथम् । *सयमेव* निश्चयेन स्वयमेवेति ।

तथाहि–अभिन्नकारकचिदानन्दैकचैतन्यस्वभावेन स्वतन्त्रत्वात् कर्ता भवति । नित्यानन्दैकस्वभावेन स्वयं प्राप्यत्वात् कर्मकारकं भवति । शुद्धचैतन्यस्वभावेन साधकतमत्वात्करणकारकं भवति । निर्विकारपरमानन्दैक-परिणतिलक्षणेन शुद्धात्मभावरूपकर्मणा समाश्रियमाणत्वात्संप्रदानं भवति । तथैव पूर्वमत्यादिज्ञानविकल्पविना-शेऽप्यखण्डितैकचैतन्यप्रकाशेनाविनश्वरत्वादपादानं भवति । निश्चयशुद्धचैतन्यादिगुणस्वभावात्मनः स्वयमे-वाधारत्वादधिकरणं भवतीत्यभेदषट्कारकीरूपेण स्वत एव परिणममाणः सन्नयमात्मा परमात्मस्वभावकेवल-ज्ञानोत्पत्तिप्रस्तावे यतो भिन्नकारकं नापेक्षते ततः स्वयंभूर्भवतीति भावार्थः ॥ १६ ॥

अब, शुद्धोपयोग से उत्पन्न शुद्धात्मस्वभाव-प्राप्ति के अन्य कारकों की निरपेक्षता होने से स्वाधीनता प्रकाशित करते हैं–

स्वात्मोपलब्धि सहित हैं स्वयमेव सबसे पूज्य हैं।
सर्वज्ञ हैं श्री जिन अतः कहते स्वयंभू हैं उन्हें ॥ १६ ॥

गाथार्थ– इसप्रकार अपने स्वभाव को प्राप्त कर वह आत्मा स्वयं ही सर्वज्ञ तथा त्रैलोक्य पूज्य हुआ होने से स्वयंभू है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं ।

टीकार्थ– ***तह सो लद्धसहावो-*** जैसे निश्चय रत्नत्रय लक्षण शुद्धोपयोग के प्रसाद से (यह आत्मा) सभी को जानता है, उसीप्रकार पूर्वोक्त (पन्द्रहवीं गाथा में कहे हुये) शुद्धात्मस्वभाव को प्राप्त करता हुआ, ***आदा–*** यह आत्मा ***हवदि सयंभु त्ति णिद्दिट्ठो-*** स्वयंभू है, ऐसा कहा गया है । वह आत्मा कैसा होता हुआ स्वयंभू है ? ***सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो भूदो–*** सर्वज्ञ और सम्पूर्ण लोक के (विविध) राजाओं द्वारा पूजित होता हुआ स्वयंभू है । वह स्वयंभू कैसे है ? ***सयमेव-*** वह निश्चय से स्वयं ही स्वयंभू है ।

वह इस प्रकार–अभिन्न कारक रूप ज्ञानानंद एक स्वभाव से स्वतंत्र होने के कारण कर्ता है । नित्यानन्द एक स्वभाव से स्वयं को प्राप्त होने के कारण कर्म कारक है । शुद्ध चैतन्य स्वभाव से साधकतम होने के कारण करण कारक है । वीतराग परमानन्द एक परिणति लक्षण शुद्धात्मभाव रूप कर्म से समाश्रित होने के कारण (स्वयं को दिया गया होने से) सम्प्रदान है । उसीप्रकार पहले के मति आदि ज्ञान के भेदों का अभाव होने पर भी अखण्डित एक चैतन्य-प्रकाश से अविनाशी होने के कारण अपादान है । निश्चय से शुद्ध चैतन्य आदि गुण स्वभावी आत्मा का स्वयं ही आधार होने के कारण अधिकरण है ; इसप्रकार अभेद षट्कारक रूप से स्वयं ही परिणमता हुआ यह आत्मा परमात्मस्वभाव रूप केवलज्ञान की उत्पत्ति के समय क्योंकि भिन्न कारकों की अपेक्षा नहीं करता, इसलिये स्वयंभू है– यह भाव है ।

एवं सर्वज्ञमुख्यत्वेन प्रथमगाथा। स्वयंभूमुख्यत्वेन द्वितीया चेति प्रथमस्थले गाथाद्वयं गतम् ॥

अथास्य भगवतो द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वेऽपि पर्यायार्थिकनयेनानित्यत्वमुपदिशति–

भंगविहूणो य भवो संभवपरिवज्जिदो विणासो हि ।(१७)

विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणाससमवाओ ॥ १७ ॥

भंगविहीणो य भवो भंगविहीनश्च भवः जीवितमरणादिसमताभावलक्षणपरमोपेक्षासंयमरूप-शुद्धोपयोगेनोत्पन्नो योऽसौ भवः केवलज्ञानोत्पादः । स किंविशिष्टः । भंगविहीनो विनाशरहितः । *संभवपरिवज्जिदो विणासो त्ति* संभवपरिवर्जितो विनाश इति । योऽसौ मिथ्यात्वरागादिसंसरणरूप संसारपर्यायस्य

विशेषार्थ– (१) इस गाथा के निष्कर्ष रूप में "आचार्य अमृतचन्द्र" के स्वाधीनता उद्‌घोषक विचार द्रष्टव्य हैं–

"इसलिये निश्चय से पर के साथ आत्मा को कारकता का सम्बन्ध नहीं है, जिससे शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति के लिये पर सामग्री को खोजने की आकुलता से परतंत्र हुआ जाय, अपने कार्य के लिये पर की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है, अतः पराधीनता से बस हो, स्वाधीनता ही श्रेयस्कर है।"[१]

(२) यद्यपि यहाँ प्रकरण वश आचार्य देव ने केवलज्ञान की प्राप्ति पूर्ण स्वतंत्र स्वाधीन सिद्ध की है, तथापि अन्यत्र कर्म और जीव की विकारी पर्यायों को भी पूर्णतः स्वतंत्र, पर निरपेक्ष सिद्ध करके प्रत्येक पर्याय की स्वतंत्र उत्पत्ति रूप स्वतंत्रता की उद्‌घोषणा करते हुये परकर्तृत्व का पूर्णतः निषेध कर पूर्ण स्वाधीनता स्थापित की है।[२] ॥ १६ ॥

इसप्रकार सर्वज्ञ की मुख्यता से पहली गाथा तथा स्वयंभू की मुख्यता से दूसरी गाथा– इसप्रकार प्रथम स्थल में दो गाथायें पूर्ण हुईं।

(अब, दो गाथाओं में निबद्ध सर्वज्ञ के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की सिद्धि तथा पुष्टि करने वाला दूसरा स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, इन भगवान के द्रव्यार्थिक-नय से नित्यता होने पर भी पर्यायार्थिक-नय से अनित्यता है, ऐसा उपदेश देते हैं–

उत्पाद विरहित व्यय तथा व्यय से रहित उत्पाद है।

तो भी उन्हीं के ध्रौव्ययुत उत्पाद व्यय समवाय है ॥ १७ ॥

गाथार्थ– यद्यपि उन भगवान के विनाश रहित उत्पाद तथा उत्पाद रहित विनाश है, तथापि उनके ध्रौव्य, विनाश और उत्पाद का समवाय (एक साथ विद्यमानता) भी है।

टीकार्थ– ***भंगविहीणो य भवो–*** विनाश रहित उत्पाद जीवन-मरण आदि में समताभाव लक्षण परम-उपेक्षा संयम रूप शुद्धोपयोग से उत्पन्न जो वह केवलज्ञान रूप उत्पाद। वह केवलज्ञान रूप उत्पाद किस विशेषता वाला है ? वह केवल ज्ञान रूप उत्पाद विनाश रहित है। ***संभवपरिवज्जिदो विणासो***

१. प्रवचनसार, गाथा १६ की तत्त्वप्रदीपिका टीका।

२. पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा ६२ की समयव्याख्या एवं तात्पर्यवृत्ति टीका।

विनाशः। स किंविशिष्टः। संभवविहीनः निर्विकारात्मतत्त्वविलक्षणरागादिपरिणामाभावादुत्पत्तिरहितः। तस्माज्ज्ञायते तस्यैव भगवतः सिद्धस्वरूपतो द्रव्यार्थिकनयेन विनाशो नास्ति। *विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणाससमवायो* विद्यते तस्यैव पुनः स्थितिसंभवनाशसमवायः। तस्यैव भगवतः पर्यायार्थिकनयेन शुद्धव्यञ्जनपर्यायापेक्षया सिद्धपर्यायेणोत्पादः, संसारपर्यायेण विनाशः, केवलज्ञानादिगुणाधारद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति।

ततः स्थितं द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वेऽपि पर्यायार्थिकनयेनोत्पादव्ययध्रौव्यत्रयं संभवतीति ॥ १७ ॥

अथोत्पादादित्रयं यथा सुवर्णादिमूर्तपदार्थेषु दृश्यते तथैवामूर्तेऽपि सिद्धस्वरूपे विज्ञेयं पदार्थत्वादिति निरूपयति–

उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्स।(१८)

पज्जाएण दु केणवि अट्ठो खलु होदि सब्भूदो ॥ १८ ॥

त्ति- उत्पाद रहित विनाश है। जो वह मिथ्यात्व रागादि परिवर्तन रूप संसार पर्याय का विनाश है। वह संसार पर्याय का विनाश किस विशेषता वाला है ? वह संसार पर्याय का विनाश उत्पाद से रहित है— वीतरागी आत्मतत्त्व से विरुद्ध लक्षण वाले रागादि परिणामों का अभाव होने से उत्पाद से रहित है। इससे जाना जाता है कि उन्हीं भगवान के द्रव्यार्थिक-नय की अपेक्षा सिद्ध-स्वरूप से विनाश नहीं है। *विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणाससमवाओ* - फिर भी उन्हीं के ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय का समवाय (संग्रह) विद्यमान है। उन्हीं भगवान के पर्यायार्थिक नय से शुद्ध व्यंजन पर्याय की अपेक्षा सिद्ध पर्याय रूप से उत्पाद, संसार पर्याय रूप से विनाश और केवलज्ञानादि गुणों के आधारभूत द्रव्यपने से ध्रौव्य है।

इससे सिद्ध हुआ कि द्रव्यार्थिक-नय से नित्यपना होने पर भी पर्यायार्थिक-नय से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तीनों पाये जाते हैं।

भावार्थ– उन सर्वज्ञ स्वयंभू भगवान के शुद्धोपयोग से उत्पन्न हुआ केवलज्ञान कभी नष्ट नहीं होता, तथा राग-द्वेष-मोहादि परिणामों का पुनः कभी भी उत्पाद नहीं होता— इसप्रकार विनाश रहित उत्पाद व उत्पाद रहित विनाश होने से वे भगवान द्रव्यार्थिक-नय की अपेक्षा यद्यपि एक सदृश-नित्य-स्थायी हैं, तथापि सिद्ध पर्याय के उत्पाद और संसार पर्याय के विनाश के समय केवलज्ञानादि गुणों के आधारभूत जीव द्रव्यपने से ध्रौव्य होने के कारण वे सर्वज्ञ स्वयंभू भगवान पर्यायार्थिक-नय की अपेक्षा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सम्पन्न हैं।

इसप्रकार सर्वज्ञ भगवान के द्रव्य-अपेक्षा नित्यता होने पर भी पर्याय की अपेक्षा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप अनित्यता विद्यमान है। अर्थात् सिद्ध दशा में भी वस्तु का नित्यानित्यात्मक स्वरूप सिद्ध है— यह स्पष्ट हुआ ॥ १७ ॥

अब, जैसे सुवर्णादि मूर्तिक पदार्थों में उत्पाद आदि तीनों दिखाई देते हैं, उसीप्रकार पदार्थपना होने से अमूर्त सिद्ध स्वरूप में भी वे तीनों जानना चाहिये; ऐसा निरूपण करते हैं—

उत्पाद व्यय होते सदा सम्पूर्ण अर्थ समूह के।

एवं किसी पर्याय से सद्भूत होते अर्थ वे ॥ १८ ॥

उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्स उत्पादश्च विनाशश्च विद्यते तावत्सर्वस्यार्थजातस्य पदार्थसमूहस्य। केन कृत्वा। *पज्जाएण दु केणवि* पर्यायेण तु केनापि विवक्षितेनार्थव्यञ्जनरूपेण स्वभावविभावरूपेण वा। स चार्थः किंविशिष्टः। *अट्ठो खलु होदि सब्भूदो* अर्थः खलु स्फुटं सत्ताभूतः सत्ताया अभिन्नो भवतीति।

तथाहि- सुवर्णगोरसमृत्तिकापुरुषादिमूर्तपदार्थेषु यथोत्पादादित्रयं लोके प्रसिद्धं तथैवामूर्तेऽपि मुक्तजीवे। यद्यपि शुद्धात्मरुचिपरिच्छत्तिनिश्चलानुभूतिलक्षणस्य संसारावसानोत्पन्नकारणसमयसार-पर्यायस्य विनाशो भवति तथैव केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारपर्यायस्योत्पादश्च भवति, तथाप्युभयपर्यायपरिणतात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यत्वं पदार्थत्वादिति।

अथवा यथा ज्ञेयपदार्थाः प्रतिक्षणं भंगत्रयेण परिणमन्ति तथा ज्ञानमपि परिच्छित्त्यपेक्षया भंगत्रयेण परि-णमति। षट्स्थानगतागुरुलघुकगुणवृद्धिहान्यपेक्षया वा भंगत्रयमवबोद्धव्यमिति सूत्रतात्पर्यम् ॥ १८ ॥

एवं सिद्धजीवे द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वेपि विवक्षितं पर्यायेणोत्पादव्ययध्रौव्यस्थापनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाद्वयं गतम्।

गाथार्थ– सर्व पदार्थ समूह के (प्रत्येक पदार्थ के) उत्पाद और विनाश होता है, तथा वास्तव में किसी पर्याय से पदार्थ सद्भूत होता है।

टीकार्थ– ***उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्स***- सभी पदार्थ समूह के उत्पाद और व्यय विद्यमान हैं। सभी पदार्थों के उत्पाद-व्यय किस रूप में विद्यमान हैं ? ***पज्जाएण दु केणवि***- अर्थ-व्यंजन पर्याय रूप अथवा स्वभाव-विभाव पर्याय रूप किसी विवक्षित पर्याय से उनके उत्पाद-व्यय विद्यमान है। उत्पाद-व्यय वाले वे पदार्थ किस विशेषता वाले हैं ? ***अट्ठो खलु होदि सब्भूदो***- वास्तव में पदार्थ सत्ताभूत-सत्ता से अभिन्न होते हैं।

वह इसप्रकार – जैसे लोक में सुवर्ण, गोरस, मिट्टी, पुरुष आदि मूर्त पदार्थों में उत्पाद आदि तीनों प्रसिद्ध हैं, उसीप्रकार अमूर्त मुक्तजीव में भी जानना चाहिये। यद्यपि संसार के विनाश से उत्पन्न, शुद्धात्मा में रुचि, जानकारी, निश्चल अनुभूति लक्षण कारण-समयसार रूप पर्याय का विनाश होता है और उसीप्रकार केवलज्ञानादि की व्यक्ति (प्रगटता) रूप कार्यसमयसार पर्याय का उत्पाद होता है; तथापि पदार्थ होने के कारण उत्पाद-व्यय दोनों ही पर्यायों रूप से परिणत आत्मद्रव्यत्व की अपेक्षा मुक्त जीव ध्रौव्य रूप हैं।

अथवा जैसे ज्ञेय पदार्थ प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तीनभंग रूप से परिणमन करते हैं उसीप्रकार ज्ञान भी (ज्ञेय पदार्थ सम्बन्धी) जानकारी की अपेक्षा उत्पाद-व्यय- ध्रौव्य तीनभंग रूप से परिणमित होता है, अथवा षट्स्थानगत अगुरुलघुक गुण सम्बन्धी वृद्धि-हानि की अपेक्षा उत्पादादि तीनों भंग जानना चाहिये — यह गाथा का तात्पर्य है ॥ १८ ॥

इसप्रकार सिद्धजीव में द्रव्यार्थिकनय से नित्यपना होने पर भी विवक्षित पर्याय से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की स्थापना रूप से दूसरे स्थल में दो गाथायें पूर्ण हुई।

अथ तं पूर्वोक्तसर्वज्ञं ये मन्यन्ते ते सम्यग्दृष्टयो भवन्ति, परम्परया मोक्षं च लभन्त इति प्रतिपादयति–

तं सव्वट्ठवरिट्ठं इट्ठं अमरासुरप्पहाणेहिं ।
ये सद्दहंति जीवा तेसिं दुक्खाणि खीयंति ॥ १९ ॥

तं सव्वट्ठवरिट्ठं तं सर्वार्थवरिष्ठं *इट्ठं* इष्टमभिमतं । कैः । *अमरासुरप्पहाणेहिं* अमरासुरप्रधानैः । *ये सद्दहंति* ये श्रद्दधति रोचन्ते *जीवा* भव्यजीवाः । *तेसिं* तेषाम् । *दुक्खाणि* वीतरागपारमार्थिकसुखविलक्षणानि दुःखानि । *खीयंति* विनाशं गच्छन्ति, इति सूत्रार्थः ॥ १९ ॥

एवं निर्दोषिपरमात्मश्रद्धानान्मोक्षो भवतीति कथनरूपेण तृतीयस्थले गाथा गता ।

(इसके बाद सर्वज्ञ की श्रद्धा से मोक्ष का प्रतिपादक एक गाथा वाला तीसरा स्थल प्रारम्भ होता है ।)

अब, उन पूर्वोक्त (गाथा १५ व १६ में कहे गये) सर्वज्ञ को जो मानते हैं, वे सम्यग्दृष्टि हैं और परम्परा से मोक्ष प्राप्त करते हैं ; यह प्रतिपादित करते हैं—

उत्कृष्ट अर्थ जिनेन्द्र हैं सुर-असुरपति को इष्ट हैं ।
श्रद्धा करें जो जीव उनके नष्ट होते कष्ट हैं ॥ १९ ॥

गाथार्थ– जो जीव सर्व पदार्थों में श्रेष्ठ, देव-असुरों में प्रधान इन्द्रों के द्वारा स्वीकृत, उन सर्वज्ञ भगवान की श्रद्धा करते हैं, उनके सभी दुःख नष्ट हो जाते हैं ।

टीकार्थ– ***तं सव्वट्ठवरिट्ठं*** - वे सम्पूर्ण पदार्थों में श्रेष्ठ, ***इट्ठं***- स्वीकृत हैं । वे सर्वोत्कृष्ट (सर्वज्ञ) किनसे स्वीकृत हैं ? ***अमरासुरप्पहाणेहिं***- देवों और असुरों में प्रधान इन्द्रों से स्वीकृत हैं । ***ये सद्दहन्ति***- जो श्रद्धा-रुचि करते हैं, ***जीवा***- भव्य जीव ; जो भव्य जीव उनकी श्रद्धा करते हैं । ***तेसिं***- उन श्रद्धालु भव्य जीवों के । ***दुक्खाणि***- वीतराग-पारमार्थिक-सुख से भिन्न लक्षण वाले दुःख । ***खीयंति***- नष्ट हो जाते हैं— यह गाथा का अर्थ है ।

भावार्थ– देवों और असुरों में प्रधान इन्द्रों के द्वारा स्वीकृत तीन लोक में सर्वोत्कृष्ट उन सर्वज्ञ भगवान की जो श्रद्धा करते हैं उन भव्य जीवों के सभी दुःख नष्ट हो जाते हैं— अर्थात् वे स्वयं संसार से मुक्त हो जाते हैं ॥ १९ ॥

इसप्रकार निर्दोषी परमात्मा के श्रद्धान से मोक्ष होता है, इस कथन रूप तीसरे स्थल में एक गाथा पूर्ण हुई ।

निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणशुद्धोपयोगप्रभावात्सर्वज्ञत्वे सतीन्द्रियैर्विना कथं ज्ञानानन्दाविति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति–

पक्खीणघादिकम्मो अणंतवरवीरिओ अहियतेजो।(१९)

जादो अदिंदिओ सो णाणं सोक्खं च परिणमदि॥ २०॥

पक्खीणघादिकम्मो ज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयस्वरूपपरमात्मद्रव्यभावनालक्षणशुद्धोपयोगबलेन प्रक्षीणघातिकर्मा सन्। *अणंतवरवीरिओ* अनन्तवरवीर्यः पुनरपि किंविशिष्टः। *अहियतेजो* अधिकतेजाः। अत्र तेजः शब्देन केवलज्ञानदर्शनद्वयं ग्राह्यम्। *जादो सो* स पूर्वोक्तलक्षण आत्मा जातः संजातः। कथंभूतः। *अणिंदियो* अनिन्द्रिय इन्द्रियविषयव्यापाररहितः। अनिन्द्रियः सन् किं करोति। णाणं सोक्खं च परिणमदि केवलज्ञानमनन्तसौख्यं च परिणमतीति।

तथाहि - अनेन व्याख्यानेन किमुक्तं भवति, आत्मा तावन्निश्चयेनानन्तज्ञानसुखस्वभावोऽपि व्यवहारेण संसारावस्थायां कर्मप्रच्छादितज्ञानसुखः सन् पश्चादिन्द्रियाधारेण किमप्यल्पज्ञानं सुखं च परिणमति। यदा

(अब, केवली भगवान अतीन्द्रिय ज्ञान-सुख रूप परिणमित हैं, तथा उनके कवलाहार नहीं होता, इस प्रतिपादन परक दो गाथाओं वाला द्वितीय अन्तराधिकार का अन्तिम चौथा स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, उन सर्वज्ञ परमात्मा के निर्विकार स्वसंवेदन लक्षण शुद्धोपयोग के प्रभाव से सर्वज्ञपना होने पर इन्द्रियों के बिना ज्ञान और आनन्द कैसे हैं ? ऐसा पूछने पर उसका उत्तर देते हैं—

हैं घातिकर्म विहीन अतिशय तेज शक्तिमय तथा।

इन्द्रिय रहित हैं यद्यपि सुख ज्ञान युत वर्तें सदा॥ २०॥

गाथार्थ– घातिकर्म से रहित अनन्त उत्कृष्ट वीर्य और अधिक तेज— केवलज्ञान-केवलदर्शन से सम्पन्न, अतीन्द्रिय रूप से प्रगट वे पूर्वोक्त सर्वज्ञ भगवान ज्ञान और सुख रूप से परिणमित हैं।

टीकार्थ– ***पक्खीणघादिकम्मो-*** ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय स्वरूप परमात्मद्रव्य की भावना लक्षण शुद्धोपयोग के बल से घातिकर्म रहित होते हुये। ***अणंतवरवीरिओ-*** अनन्त उत्कृष्ट वीर्य वाले हैं। घातिकर्मों से रहित और अनन्तवीर्य सम्पन्न वे और किन विशेषताओं सहित हैं ? ***अहियतेजो-***अधिक तेज युक्त हैं। यहाँ तेज शब्द से केवलज्ञान और केवलदर्शन— ये दोनों ग्रहण करना चाहिये। ***जादो सो-***वे घातिकर्म रहित इत्यादि पूर्वोक्त लक्षण सम्पन्न आत्मा उत्पन्न हुये हैं। वे आत्मा कैसे उत्पन्न हुये हैं ? ***अणिंदियो–*** अनिन्द्रिय- इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति से रहित रूप से उत्पन्न हुये हैं। अनिन्द्रिय होकर वे क्या करते हैं ? ***णाणं सोक्खं च परिणमदि*** - केवलज्ञान और अनन्त सुख रूप से परिणमित हैं।

वह इसप्रकार— इस व्याख्यान से क्या कहा गया है ? निश्चय से अनन्त ज्ञान-सुख स्वभावी आत्मा भी व्यवहार से संसार अवस्था में कर्मों से ढ़के हुये ज्ञान-सुख रूप होता हुआ, पश्चात् इन्द्रियों के आधार से कुछ

पुनर्निर्विकल्पस्वसंवित्तिबलेन कर्माभावो भवदि तदा क्षयोपशमाभावादिन्द्रियाणि न सन्ति स्वकीयातीन्द्रियज्ञानं सुखं चानुभवति।

ततः स्थितं इन्द्रियाभावेऽपि स्वकीयानन्तज्ञानं सुखं चानुभवति। तदपि कस्मात्। स्वभावस्य परापेक्षा नास्तीत्यभिप्रायः ॥२०॥

अथातीन्द्रियत्वादेव केवलिनः शरीराधारोद्भूतं भोजनादिसुखं क्षुधादिदुःखं च नास्तीति विचारयति—

सोक्खं वा पुण दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं।(२०)

जम्हा अदिंदियत्तं जादं तम्हा दु तं णेयं॥ २१॥

सोक्खं वा पुण दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि सुखं वा पुनर्दुःखं वा केवलज्ञानिनो नास्ति।कथंभूतम्। *देहगदं*देहगतं देहाधारजिह्वेन्द्रियादिसमुत्पन्नंकवलाहारादिसुखम्, असातोदयजनितं क्षुधादिदुःखं च।कस्मान्नास्ति।

थोड़े से ज्ञान और सुख रूप परिणमित होता है। जब निर्विकल्प स्वसंवेदन के बल से कर्म का अभाव होता है, तब क्षयोपशम का अभाव हो जाने से इन्द्रियाँ नहीं होने पर भी अपने अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख का अनुभव करता है।

इससे यह फलित हुआ कि इन्द्रियों का अभाव होने पर भी अपने अनन्त ज्ञान और सुख का अनुभव होता है। इन्द्रियों के अभाव में अनन्त ज्ञानादि का अनुभव कैसे हो सकता है ? स्वभाव को पर की अपेक्षा नहीं होती; अतः इन्द्रियों के बिना भी अनन्त ज्ञानादि का अनुभव हो जाता है— ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ— ज्ञानानन्दस्वभावी इस जीव के अनादिकालीन, क्षयोपशमजन्य इन्द्रिय ज्ञान और सुख होने पर भी स्वसंवेदन के बल से घातिकर्मों का क्षय हो जाने पर वे केवलीभगवान अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख रूप अनन्तचतुष्टय से सम्पन्न होकर,स्वभाव की पर निरपेक्ष सामर्थ्य के कारण अतीन्द्रियरूप से ही इन सभी का अनुभव करते हैं ॥२०॥

अब, अतीन्द्रियता होने से ही केवली भगवान के, शरीर के आधार से प्रगट होने वाले भोजनादि सुख और क्षुधादि दुःख नहीं हैं ; ऐसा विचार करते हैं—

हैं इन्द्रियों से रहित वे जिन अतीन्द्रिय हैं इसी से।

हैं नहीं सुख दुख देहगत उनको सभी जानों इसे॥ २१॥

गाथार्थ— क्योंकि वे केवली भगवान अतीन्द्रियरूप से उत्पन्न हुये हैं, इसलिये उनके शरीर सम्बन्धी सुख अथवा दुःख नहीं है— ऐसा जानना चाहिये।

टीकार्थ— ***सोक्खं वा पुण दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि***— सुख अथवा दुःख केवलज्ञानी के नहीं हैं। केवलज्ञानी के कैसे सुख-दुःख नहीं हैं ? ***देहगदं***-देह सम्बन्धी— देह के आधारवाली जिह्वा (जीभ) इन्द्रिय आदि से उत्पन्न ग्रासाहार आदि सुख और असाता के उदय से उत्पन्न भूख आदि दुःख केवलीभगवान

जम्हा अदिंदियत्तं जादं यस्मान्मोहादिघातिकर्माभावे पञ्चेन्द्रियविषयव्यापाररहितत्वं जातम्। *तम्हा दु तं णेयं* तस्मादतीन्द्रियत्वाद्धेतोरतीन्द्रियमेव तज्ज्ञानं सुखं च ज्ञेयमिति।

तद्यथा - लोहपिण्डसंसर्गाभावादग्निर्यथा घनघातपिट्टनं न लभते तथायमात्मापि लोहपिण्डस्थानीयेन्द्रियग्रामाभावात् सांसारिकसुखदुःखं नानुभवतीत्यर्थः।

कश्चिदाह-केवलिनां भुक्तिरस्ति, औदारिकशरीरसद्भावात्। असद्वेद्यकर्मोदयसद्भावाद्वा। अस्मदादिवत्। परिहारमाह-तद्भगवतः शरीरमौदारिकं न भवति किंतु परमौदारिकम्।

तथा चोक्तं - शुद्धस्फटिकसंकाशं तेजोमूर्तिमयं वपुः।
जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातुविवर्जितम्॥"

यच्चोक्तमसद्वेद्योदयसद्भावात्तत्र परिहारमाह-यथा व्रीह्यादिबीजं जलसहकारिकारणसहितमङ्कुरादिकार्यं जनयति तथैवासद्वेद्यकर्म मोहनीयसहकारिकारणसहितं क्षुधादिकार्यमुत्पादयति। कस्मात्। '*मोहस्स बलेण घाददे जीवं*' [१] इति वचनात्। यदि पुनर्मोहाभावेऽपि क्षुधादिपरीषहं जनयति तर्हि वधरोगादिपरीषहमपि

के नहीं हैं। ये देहगत सुख-दुःख केवली भगवान के क्यों नहीं हैं ? *जम्हा अदिंदियत्तं जादं-* क्योंकि वे मोहादि घातिकर्मों का अभाव होने पर पाँच इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति से रहित होते हुये उत्पन्न हुये हैं, अतः उन्हें ये सुख-दुःख नहीं हैं। *तम्हा दु तं णेयं-* इसलिये अतीन्द्रियता होने के कारण उनके ज्ञान और सुख अतीन्द्रिय ही जानने चाहिये।

वह इसप्रकार— जैसे लोहे के गोले के संसर्ग का अभाव होने से अग्नि घन के आघात को प्राप्त नहीं होती, उसीप्रकार यह आत्मा भी लोहपिण्ड के समान इन्द्रिय-समूह का अभाव होने से सांसारिक सुख-दुःख का अनुभव नहीं करता — यह अर्थ है।

यहाँ कोई कहता है—औदारिक शरीर विद्यमान होने से केवली के भोजन है अथवा असातावेदनीय कर्म का उदय होने से हम लोगों के समान उनके भी भोजन होता है ? आचार्य इसका निराकरण करते हैं — उन भगवान का शरीर औदारिक नहीं परमौदारिक है। कहा भी है —

"क्षीण दोषवाले वीतराग-सर्वज्ञ जीव के सातधातु रहित, शुद्ध स्फटिक मणि के समान, अत्यन्त तेजस्वी शरीर होता है।"

तथा असातावेदनीय का उदय होने से उनके भोजन है, ऐसा जो कहते हैं— वहाँ निराकरण करते हैं — जैसे धान्य आदि बीज जलरूप सहकारी कारण से सहित होने पर अंकुर आदि कार्य को उत्पन्न करता है, उसीप्रकार असातावेदनीयकर्म, मोहनीयकर्म रूप सहकारी कारण सहित होने पर ही भूख आदि कार्य उत्पन्न करता है। मोहनीय के सद्भाव में असातावेदनीय भूख आदि कार्य करता है; यह कैसे जाना ?

"वेदनीय कर्म मोह के बल से जीव का घात करता है"— ऐसा वचन होने से।

१: कर्मकाण्ड, गाथा १९, द्वितीय पाद।

जनयतु, न च तथा। तदपि कस्मात्। *'भुक्त्युपसर्गाभावात्'* [१] इति वचनात्।

अन्यदपि दूषणमस्ति। यदि क्षुधाबाधास्ति तर्हि क्षुधाक्षीणशक्तेरनन्तवीर्यं नास्ति। तथैव क्षुधादुःखित-स्यानन्तसुखमपि नास्ति। जिह्वेन्द्रियपरिच्छित्तिरूपमतिज्ञानपरिणतस्य केवलज्ञानमपि न संभवति।

अथवा अन्यदपि कारणमस्ति। असद्वेद्योदयापेक्षया सद्वेद्योदयोऽनन्तगुणोस्ति। ततः कारणात् शर्करा-राशिमध्ये निम्बकणिकावदसद्वेद्योदयो विद्यमानोऽपि न ज्ञायते।

तथैवान्यदपि बाधकमस्ति- यथा प्रमत्तसंयतादितपोधनानां वेदोदये विद्यमानेऽपि मन्दमोहोदयत्वाद-खण्डब्रह्मचारिणां स्त्रीपरीषहबाधा नास्ति, यथैव च नवग्रैवेयकाद्यहमिन्द्रदेवानां वेदोदये विद्यमानेऽपि मन्दमोहोदयेन स्त्रीविषयबाधा नास्ति, तथा भगवत्यसद्वेद्योदयविद्यमानेऽपि निरवशेषमोहाभावात् क्षुधाबाधा नास्ति।

यदि पुनरुच्यते भवद्भिः मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगकेवलिपर्यन्तास्त्रयोदशगुणस्थानवर्तिनो जीवा आहारका भवन्तीत्याहारकमार्गणायामागमे भणितमास्ते, ततः कारणात् केवलिनामाहारोऽस्तीति। तदप्युक्तम्।

और यदि मोह के अभाव में भी वेदनीयकर्म क्षुधादि परिषह उत्पन्न करता है, तो वह वध-रोगादि परिषहों को भी उत्पन्न करे, परन्तु नहीं करता। मोह के अभाव में वेदनीयकर्म वध आदि परिषहों को उत्पन्न नहीं करता— यह कैसे जाना ? "भोजन और उपसर्ग का अभाव होने से" इस वचन से यह जानकारी होती है।

"केवली के भोजन" मानने पर और भी दोष आते हैं। यदि केवली भगवान के क्षुधा की बाधा है तो क्षुधा की उत्पत्तिरूप शक्ति की क्षीणता से उनके अनन्त वीर्य नहीं है; उसीप्रकार क्षुधा से दुःखित जीव के अनन्त सुख भी नहीं है; जिह्वा इन्द्रिय की जानकारी रूप मतिज्ञान से परिणत जीव के केवलज्ञान भी सम्भव नहीं है।

अथवा और भी कारण हैं। केवली के असातावेदनीय के उदय की अपेक्षा सातावेदनीय का उदय अनन्तगुणा है। इसलिये शक्कर की राशि में नीम की कणिका के समान असातावेदनीय का उदय होने पर भी ज्ञात नहीं होता।

इसीप्रकार (केवली कवलाहार के विषय में) और भी बाधक (कारण) हैं—जैसे वेद कषाय का उदय होने पर भी मोह का मंद उदय होने से अखण्ड ब्रह्मचारी प्रमतसंयत्त आदि मुनिराजों के स्त्री परिषह सम्बन्धी बाधा नहीं होती है; और जैसे नवग्रैवेयक आदि अहमिन्द्र देवों के वेद कषाय का उदय होने पर भी, मोह का मंद उदय होने से स्त्री विषयक बाधा नहीं होती है; उसीप्रकार भगवान में असातावेदनीय का उदय विद्यमान होने पर भी मोह का पूर्णतः अभाव हो जाने से क्षुधा की बाधा नहीं होती है।

हमारे ऐसा कहने पर यदि आपके द्वारा फिर से ऐसा कहा जाता है कि 'मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोग केवली पर्यन्त तेरह गुणस्थानवर्ती जीव आहारक हैं'- ऐसा आहारक मार्गणा के प्रकरण में आगम में कहा गया है— इसलिये केवली के आहार है; परन्तु आपका यह कथन उचित नहीं है।

---

१ : नन्दीश्वर भक्ति, पद्य ४०, तृतीय पाद– "भुक्त्युर्पसर्गाभावा"– यह पाठ है।

"णोकम्म-कम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।

ओजमणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो[१]"॥

इति गाथाकथितक्रमेण यद्यपि षट्प्रकार आहारो भवति तथापि नोकर्माहारापेक्षया केवलिनामाहारकत्वमवबोद्धव्यम्, न च कवलाहारापेक्षया। तथाहि - सूक्ष्माः सुरसाः सुगन्धा अन्यमनुजानामसंभविनः कवलाहारं विनापि किंचिदूनपूर्वकोटिपर्यन्तं शरीरस्थितिहेतवः सप्तधातुरहितपरमौदारिकशरीरनोकर्माहारयोग्या लाभान्तरायकर्मनिरवशेषक्षयात् प्रतिक्षणं पुद्गला आस्रवन्तीति नवकेवलिलब्धिव्याख्यानकाले भणितं तिष्ठति। ततो ज्ञायते नोकर्माहारापेक्षया, केवलिनामाहारकत्वम्। अथ मतम् - भवदीयकल्पनया आहारानाहारकत्वं नोकर्माहारापेक्षया, न च कवलाहारापेक्षया चेति कथं ज्ञायते। नैवम्। *"एकं द्वौ त्रीन् वानाहारकः"*[२] इति तत्त्वार्थे कथितमास्ते। अस्य सूत्रस्यार्थः कथ्यते - भवान्तरगमनकाले विग्रहगतौ शरीराभावे सति नूतनशरीरधारणार्थं त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्गलपिण्डग्रहणं नोकर्माहार उच्यते। स च विग्रहगतौ कर्माहारे विद्यमानेऽप्येकद्वित्रिसमयपर्यन्तं नास्ति। ततो नोकर्माहारापेक्षयाऽऽहारानाहारकत्वमागमे ज्ञायते। यदि पुनः कवलाहारापेक्षया तर्हि भोजनकाले विहाय सर्वदैवानाहारक एव, समयत्रयनियमो न घटते।

"नोकर्माहार, कर्माहार, कवलाहार, लेपाहार, ओजाहार और मानसिक आहार- क्रमशः ये छह प्रकार के आहार जानना चाहिये।"

इसप्रकार गाथा में कहे हुये क्रमानुसार यद्यपि आहार छह प्रकार के हैं, तथापि केवली के नोकर्माहार की अपेक्षा आहारकपना जानना चाहिये; कवलाहार की अपेक्षा नहीं।

वह इसप्रकार-"लाभान्तरायकर्म के सम्पूर्ण क्षय हो जाने से अन्य मनुष्यों के असम्भव कवलाहार के बिना भी कुछ कम पूर्व कोटी पर्यन्त शरीर स्थिति के कारणभूत, सप्तधातु से रहित, परमौदारिक शरीर सम्बन्धी नोकर्माहार के योग्य सूक्ष्म, सुरस, सुगन्धमय पुद्गल प्रतिक्षण आते रहते हैं" —ऐसा नव केवललब्धि व्याख्यान के प्रंसग में कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि नोकर्माहार की अपेक्षा ही केवली के आहारकपना है।

यहाँ फिर प्रश्न है कि आपकी कल्पना से केवली के आहारक-अनाहारक पना नोकर्माहार की अपेक्षा है, कवलाहार की अपेक्षा नहीं है— यह कैसे ज्ञात होता है ?

आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसा नहीं है। "एक, दो अथवा तीन समय तक ही अनाहारक होता है" ऐसा तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है। इस सूत्र का भाव कहते हैं—दूसरे भव के प्रति गमन के समय विग्रहगति में शरीर का अभाव होने पर नवीन शरीर ग्रहण करने के लिये तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल-स्कन्धों का ग्रहण नोकर्माहार कहलाता है; और वह विग्रहगति में कर्माहार विद्यमान होने पर भी एक, दो अथवा तीन समय तक नहीं होता। इसलिये नोकर्माहार की अपेक्षा ही आगम में आहारक और अनाहारकपना जानना चाहिये। यदि यह कवलाहार की अपेक्षा मानते हो तो भोजन के समय को छोड़कर हमेशा अनाहारक ही है, तब तीन समय का नियम घटित नहीं होता।

१- भावसंग्रह, गाथा ११०।

२- तत्त्वार्थसूत्र, द्वितीयोऽध्याय, सूत्र ३०।

अथ मतम्-केवलिनां कवलाहारोऽस्ति मनुष्यत्वात् वर्तमानमनुष्यवत्। तदप्ययुक्तम्। तर्हि पूर्वकालपुरुषाणां सर्वज्ञत्वं नास्ति, रामरावणादिपुरुषाणां च विशेषसामर्थ्यं नास्ति वर्तमानमनुष्यवत्। न च तथा।

किंच छद्मस्थतपोधना अपि सप्तधातुरहितपरमौदारिकशरीराभावे *"छट्ठो त्ति पढमसण्णा"*[१]—इति वचनात् प्रमत्तसंयतषष्ठगुणस्थानवर्तिनो यद्यप्याहारं गृह्णन्ति तथापि ज्ञानसंयमध्यानसिद्ध्यर्थं न च देहममत्वार्थम्। उक्तं च-

"कायस्थित्यर्थमाहारः कायो ज्ञानार्थमिष्यते। ज्ञानं कर्मविनाशाय तन्नाशे परमं सुखम् ॥"[२]

"ण बलाउसाहणट्ठं ण सरीरस्स य चयट्ठ तेजट्ठं। णाणट्ठ संजमट्ठं झाणट्ठं चेव भुंजंति ॥"[३]

तस्य भगवतो ज्ञानसंयमध्यानादिगुणाः स्वभावेनैव तिष्ठन्ति न चाहारबलेन। यदि पुनर्देहममत्वेनाहारं गृह्णाति तर्हि छद्मस्थेभ्योऽप्यसौ हीनः प्राप्नोति।

अथोच्यते—तस्यातिशयविशेषात्प्रकटा भुक्तिर्नास्ति प्रच्छन्ना विद्यते। तर्हि परमौदारिकशरीरत्वाद्भुक्तिरेव नास्त्ययमेवातिशयः किं न भवति। तत्र तु प्रच्छन्नभुक्तौ मायास्थानं दैन्यवृत्तिः, अन्येऽपि पिण्डशुद्धिकथिता दोषा बहवो भवन्ति। ते चान्यत्र तर्कशास्त्रे ज्ञातव्याः। अत्र चाध्यात्मग्रंथत्वान्नोच्यन्त इति।

यदि आपका यह मत हो कि वर्तमान मनुष्यों के समान, केवलियों के भी मनुष्यपना होने से कवलाहार है। तो (यह भी) उचित नहीं है, क्योंकि तब तो यह भी कहा जा सकता है कि वर्तमान मनुष्यों के समान, पूर्वकालीन पुरुषों के भी सर्वज्ञपना नहीं है, और राम-रावण आदि पुरुषों के विशेष सामर्थ्य नहीं है; परन्तु ऐसा तो नहीं है।

दूसरा तथ्य यह है कि सात धातु रहित परमौदारिक शरीर के अभाव में "छटवें गुणस्थान तक प्रथम आहार संज्ञा होती है।"—ऐसा वचन होने से यद्यपि प्रमत्तसंयत नामक छटवें गुणस्थानवर्ती छद्मस्थ मुनिराज भी आहार ग्रहण करते हैं; तथापि ज्ञान, संयम और ध्यान की सिद्धि के लिये ही; देह के प्रति ममत्व के लिये वे आहार ग्रहण नहीं करते।

"शरीर की स्थिति के लिये आहार है, शरीर ज्ञान के लिये माना गया है, ज्ञान कर्म नष्ट करने के लिये है और कर्मों के नाश से परमसुख होता है।"

"मुनिराज शरीर के बल व आयु के हेतु से और शरीर के चय (हृष्ट-पुष्टता) के लिये तथा तेज के लिये भोजन नहीं करते; अपितु ज्ञान, संयम और ध्यान की सिद्धि के लिये भोजन करते हैं।" (यहाँ ***"ण बलाउसाहणट्ठं"*** के स्थान पर ***"ण बलाउसाउअट्ठं"*** भी पाठ है; जिसका अर्थ है—बल, आयु और स्वाद के लिये भोजन नहीं करते।)

उन भगवान के ज्ञान, संयम, ध्यान आदि गुण स्वभाव से ही हैं; आहार के बल से नहीं (अतः एतदर्थ तो कवलाहार नहीं है), और यदि देह के ममत्व से आहार ग्रहण करते हैं, तो वे छद्मस्थों से भी हीनता को प्राप्त होते हैं।

यहाँ पुनः कोई कहता है कि उनके विशिष्ट अतिशय होने से प्रगट भोजन नहीं है, गुप्त भोजन है। आचार्य इसका उत्तर देते हैं कि यदि ऐसा है तो परमौदारिक शरीरपना होनेसे भोजन ही नहीं है, यही अतिशय क्यों नहीं हो जाता है। वहाँ गुप्त भोजन में मायास्थान (छल) दीनता तथा और भी भोजन सम्बंधी कहे गये अनेक दोष आते हैं। वे अन्यत्र तर्क शास्त्र से जानना चाहिये। यह अध्यात्मग्रन्थ होने से यहाँ नहीं कहे हैं।

१: गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ७०१।

२: दोहा पाहुड, पद्य २१६।

३: मूलाचार, गाथा ४८१।

अयमत्र भावार्थः- इदं वस्तुस्वरूपमेव ज्ञातव्यमत्राग्रहो न कर्तव्यः । कस्मात् । दुराग्रहे सति रागद्वेषोत्पत्तिर्भवति ततश्च निर्विकारचिदानन्दैकस्वभावपरमात्मभावनाविघातो भवतीति ॥ २१ ॥

एवमनन्तज्ञानसुखस्थापने प्रथमगाथा केवलिभुक्तिनिराकरणे द्वितीया चेति गाथाद्वयं गतम् ।

इति सप्तगाथाभिः स्थलचतुष्टयेन सामान्येन सर्वज्ञसिद्धिनामा द्वितीयोऽन्तराधिकारः समाप्तः ॥

अथ ज्ञानप्रपञ्चाभिधानान्तराधिकारे त्रयस्त्रिंशद्गाथा भवन्ति । तत्राष्टौ स्थलानि । तेष्वादौ केवलज्ञानस्य सर्वं प्रत्यक्षं भवतीति कथनमुख्यत्वेन *'परिणमदो खलु'* इत्यादिगाथाद्वयम्, अथात्मज्ञानयोर्निश्चयेनासंख्यातप्रदेशत्वेऽपि व्यवहारेण सर्वगतत्वं भवतीत्यादिकथनमुख्यत्वेन *'आदा णाणपमाणं'* इत्यादिगाथापञ्चकम्, ततः परं ज्ञानज्ञेययोः परस्परगमननिराकरणमुख्यतया *'णाणी णाणसहावो'* इत्यादिगाथापञ्चकम्, अथ निश्चयव्यवहारकेवलिप्रतिपादनादिमुख्यत्वेन *'जो हि सुदेण'* इत्यादिसूत्रचतुष्टयम्, अथ वर्तमानज्ञाने कालत्रयपर्यायपरिच्छित्तिकथनादिरूपेण *'तक्कालिगेव सव्वे'* इत्यादिसूत्रपञ्चकम्, अथ केवलज्ञानं बन्धकारणं न भवति रागा-

---

यहाँ भाव यह है कि यह वस्तु का स्वरूप ही है, ऐसा जानकर यहाँ आग्रह नहीं करना चाहिये । आग्रह क्यों नहीं करना चाहिये ? दुराग्रह होने पर राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है और उससे वीतराग ज्ञानानन्द स्वभावी परमात्मा की भावना नष्ट होती है; अतः आग्रह नहीं करना चाहिये ॥ २१ ॥

विशेषार्थ– लोक-प्रचलित श्वेताम्बर-मत, शरीर तथा असातावेदनीय का उदय होने से केवली भगवान के कवलाहार आदि स्वीकार करता है । आचार्यदेव ने टीका में आगम, तर्क तथा लोकानुभव से इस मान्यता का निराकरण करते हुये दुराग्रह छोड़कर वस्तु-स्वरूप का सम्यक् निर्णय करके आत्म-भावना भाने की सम्यक् प्रेरणा दी है । साथ ही इस तथ्य के विशेष स्पष्टीकरण के लिये इसे तर्क-शास्त्र आदि से जानने के लिये कहा है । एतदर्थ– "मोक्षमार्ग प्रकाशक" पाँचवा अधिकार, पृष्ठ १४९ से १५१, "परीक्षामुख सूत्र" द्वितीयोध्याय, सूत्र १२ की प्रमेयकमलमार्तण्ड टीका एवं अष्टसहस्री आदि का यह प्रकरण पठनीय है ॥ २१ ॥

इसप्रकार अनन्त ज्ञान-सुख स्थापन में पहली गाथा तथा केवलिभुक्ति निराकरण में दूसरी गाथा- इस प्रकार चतुर्थ स्थल में दो गाथायें पूर्ण हुईं ।

इसप्रकार सात गाथाओं वाले चार स्थलों के द्वारा ***"सामान्य से सर्वज्ञसिद्धि"*** नामक दूसरा अन्तराधिकार समाप्त हुआ ।

अब, ***"ज्ञान प्रपञ्च"*** नामक तीसरे अन्तराधिकार में ३३ गाथायें हैं । वहाँ आठ स्थल हैं । उनमें से पहले स्थल में 'केवलज्ञान में सब प्रत्यक्ष होता है'- इस कथन की मुख्यता से *'परिणमदो खलु'* इत्यादि दो गाथायें; दूसरे स्थल में 'आत्मा और ज्ञान के निश्चय से असंख्यात प्रदेशी होने पर भी व्यवहार से सर्वगतत्त्व है' इत्यादि कथन की मुख्यता से *'आदा णाणपमाणं'* इत्यादि पाँच गाथायें; इसके बाद तीसरे स्थल में 'ज्ञान और ज्ञेय का परस्पर गमन निराकरण' की मुख्यता से *'णाणी णाणसहावो'* इत्यादि पाँच गाथायें; चौथे स्थल में 'निश्चय- व्यवहार केवली का प्रतिपादन' आदि की मुख्यता से *'जो हि सुदेण'* इत्यादि चार गाथायें; पाँचवें स्थल में 'वर्तमान ज्ञान में तीन काल सम्बन्धी पर्यायों की जानकारी' के कथन रूप से *'तक्कालिगेव सव्वे'*

द्विविकल्परहितं छद्मस्थज्ञानमपि, किंतु रागादयो बन्धकारणमित्यादिनिरूपणमुख्यतया *'परिणमदि णेयं'* इत्यादिसूत्रपञ्चकम्, अथ केवलज्ञानं सर्वज्ञानं सर्वज्ञत्वेन प्रतिपादयतीत्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन *'जं तक्कालियमिदरं'* इत्यादिगाथापञ्चकम्, अथ ज्ञानप्रपञ्चोपसंहारमुख्यत्वेन प्रथमगाथा, नमस्कारकथनेन द्वितीया चेति *'ण वि परिणमदि'* इत्यादि गाथाद्वयम् ।

एवं ज्ञानप्रपञ्चाभिधानतृतीयान्तराधिकारे त्रयस्त्रिंशद्गाथाभिः स्थलाष्टकेन समुदायपातनिका ।

इत्यादि पाँच गाथायें; छटे स्थल में 'केवलज्ञान तथा रागादि विकल्प रहित छद्मस्थ-ज्ञान भी बंध का कारण नहीं है, किन्तु रागादि बंध के कारण हैं' इत्यादि निरूपण की मुख्यता से *'परिणमदि णेयं'* इत्यादि पाँच गाथायें; सातवें स्थल में 'केवलज्ञान-सर्वज्ञान को सर्वज्ञता रूप से प्रतिपादित करते हैं' इत्यादि व्याख्यान की मुख्यता से *'जं तक्कालियमिदरं'* इत्यादि पाँच गाथायें; तथा अन्तिम आठवें स्थल में 'ज्ञान प्रपंच अधिकार' के उपसंहार की मुख्यता से पहली गाथा और नमस्कार कथन रूप दूसरी गाथा—इसप्रकार *'ण वि परिणमदि'* इत्यादि दो गाथायें हैं ।

इसप्रकार आठ स्थलों में विभक्त ३३ गाथाओं में निबद्ध ***ज्ञानप्रपंच*** नामक तीसरे अन्तराधिकार की समुदायपातनिका (सामूहिक उत्थानिका) समाप्त हुई ।

ज्ञान प्रपंच संज्ञक तृतीयान्तराधिकार-स्थल विभाजन (गाथा २२ से ५४)

स्थल क्रम	स्थल प्रतिपादित संक्षिप्त विषय वस्तु	गाथायें कहाँ से कहाँ तक	कुल गाथायें
प्रथम	केवलज्ञान के सर्व प्रत्यक्ष है	२२ व २३	२
द्वितीय	आत्मा और ज्ञान-निश्चय से आत्मगत, व्यवहार से सर्वगत	२४ से २८	५
तृतीय	ज्ञान-ज्ञेय का परस्पर गमन निराकरण	२९ से ३३	५
चतुर्थ	निश्चय व्यवहार केवली प्रतिपादन	३४ से ३७	४
पंचम	वर्तमान ज्ञान त्रिकालज्ञ	३८ से ४२	५
षष्टम	बंधकारक—ज्ञान नहीं, राग है	४३ से ४७	५
सप्तम	केवलज्ञान-सर्वज्ञता	४८ से ५२	५
अष्टम	उपसंहार एवं नमस्कार परक	५३ व ५४	२
कुल आठ स्थल		कुल ३३ गाथायें	

तद्यथा— अथातीन्द्रियज्ञानपरिणतत्वात्केवलिनः सर्वं प्रत्यक्षं भवतीति प्रतिपादयति—

परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया।(२१)

सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं ॥ २२ ॥

पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया सर्वद्रव्यपर्यायाः प्रत्यक्षा भवन्ति। कस्य। केवलिनः। किं कुर्वतः। *परिणमदो* परिणममानस्य। *खलु* स्फुटम्। किम्। *णाणं* अनन्तपदार्थपरिच्छित्तिसमर्थं केवलज्ञानम्। तर्हि किं क्रमेण जानाति। *सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं* स च भगवान्नैव तान् जानात्यवग्रहपूर्वाभिः क्रियाभिः, किंतु युगपदित्यर्थः।

इतो विस्तरः — अनाद्यनन्तमहेतुकं चिदानन्दैकस्वभावं निजशुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा केवलज्ञानोत्पत्तेर्बीजभूतेनागमभाषया शुक्लध्यानसंज्ञेन रागादिविकल्पजालरहितस्वसंवेदनज्ञानेन यदायमात्मा परिणमति, तदा स्वसंवेदनज्ञानफलभूतकेवलज्ञानपरिच्छित्त्याकारपरिणतस्य तस्मिन्नेव क्षणे क्रमप्रवृत्तक्षायोपशमिकज्ञानाभावादक्रमसमाक्रान्तसमस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया सर्वद्रव्यगुणपर्याया अस्यात्मनः प्रत्यक्षा भवन्तीत्यभिप्रायः ॥ २२ ॥

(अब, यहाँ 'केवलज्ञान सर्व प्रत्यक्ष है'— इस कथनपरक दो गाथाओं वाला, तीसरे अन्तराधिकार का पहला स्थल प्रारम्भ होता है)

वह इस प्रकार—

अब, अतीन्द्रियज्ञान रूप से परिणत होने के कारण केवली के सभी प्रत्यक्ष हैं, यह प्रतिपादन करते हैं—

प्रत्यक्ष हैं सब द्रव्य पर्यय ज्ञान परिणत ईश को।

पर अवग्रहादि क्रिया से नहिं जानते वे ज्ञेय को ॥ २२ ॥

गाथार्थ—वास्तव में ज्ञानरूप से परिणत केवली भगवान के सभी द्रव्य-पर्यायें प्रत्यक्ष हैं, और वे उन्हें अवग्रह पूर्वक क्रियाओं से नहीं जानते हैं।

टीकार्थ- ***पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया***-सभी द्रव्य-पर्यायें प्रत्यक्ष हैं। सभी द्रव्य-पर्यायें किनके प्रत्यक्ष हैं? केवली भगवान के। वे क्या करते हुये केवली के प्रत्यक्ष हैं? ***परिणमदो***- वे परिणमन करते हुये केवली भगवान के प्रत्यक्ष हैं। ***खलु***-वास्तव में। वे सर्व द्रव्य-पर्यायें किस रूप से परिणमन करते हुये केवली के प्रत्यक्ष हैं? ***णाणं***-अनन्त पदार्थों को जानने में समर्थ केवलज्ञान रूप से परिणमन करते हुये केवली के वे प्रत्यक्ष हैं। तो क्या वे उन्हें क्रम से जानते हैं? ***सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं***और वे भगवान उन्हें अवग्रह पूर्वक क्रियाओं से नहीं जानते हैं, वरन् एक साथ जानते हैं—यह अर्थ है।

यहाँ इसका विस्तार करते हैं—अनाद्यनन्त, अहेतुक ज्ञानानन्द एक स्वभावी निज शुद्धात्मा को उपादेय कर केवलज्ञान की उत्पत्ति के बीजभूत आगम-भाषा की अपेक्षा शुक्लध्यान नामक रागादि विकल्प जाल रहित स्वसंवेदनज्ञान रूप से जब यह आत्मा परिणमित होता है, तब स्वसंवेदनज्ञान के फलभूत केवलज्ञान स्वरूप जानकारी रूप से परिणत उस आत्मा के उसी क्षण क्रम से प्रवृत्ति करने वाले क्षायोपशमिकज्ञान का अभाव होने से; एक साथ स्थित सम्पूर्ण द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप से सभी द्रव्य-गुण-पर्यायें प्रत्यक्ष होती हैं—यह अभिप्राय है ॥ २२ ॥

अथ सर्वं प्रत्यक्षं भवतीत्यन्वयरूपेण पूर्वसूत्रे भणितमिदानीं तु परोक्षं किमपि नास्तीति तमेवार्थं व्यतिरेकेण दृढयति—

णत्थि परोक्खं किंचि वि समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स ।(२२)

अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स ॥ २३ ॥

णत्थि परोक्खं किंचि वि अस्य भगवतः परोक्षं किमपि नास्ति। किंविशिष्टस्य। *समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स* समन्ततः सर्वात्मप्रदेशैः सामस्त्येन वा स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दपरिच्छित्तिरूप-सर्वेन्द्रियगुणसमृद्धस्य। तर्हि किमक्षसहितस्य। नैवम्। *अक्खातीदस्स* अक्षातीतस्येन्द्रियव्यापाररहितस्य। अथवा द्वितीयव्याख्यानम्—अक्ष्णोति ज्ञानेन व्याप्नोतीत्यक्ष आत्मा तद्गुणसमृद्धस्य। *सदा* सर्वदा सर्वकालम्। पुनरपि किंरूपस्य। *सयमेव हि णाणजादस्स* स्वयमेव हि स्फुटं केवलज्ञानरूपेण जातस्य परिणतस्येति।

तद्यथा – अतीन्द्रियस्वभावपरमात्मनो विपरीतानि क्रमप्रवृत्तिहेतुभूतानीन्द्रियाण्यतिक्रान्तस्य जगत्त्रय-कालत्रयवर्तिसमस्तपदार्थयुगपत्प्रत्यक्षप्रतीतिसमर्थमविनश्वरमखण्डैकप्रतिभासमयं केवलज्ञानं परिणतस्यास्य भगवतःपरोक्षं किमपि नास्तीति भावार्थः ॥ २३ ॥

एवं केवलिनां समस्तं प्रत्यक्षं भवतीति कथनरूपेण प्रथमस्थले गाथाद्वयं गतम्।

अब, पूर्व गाथा (बाईसवीं गाथा) में सब प्रत्यक्ष हैं— ऐसा अन्वय (अस्ति-विधि) रूप से कथन किया था; यहाँ परोक्ष कुछ भी नहीं है, इसप्रकार उसी अर्थ को व्यतिरेक (नास्ति-निषेध) रूप से दृढ़ करते हैं—

सर्वतः सर्वाक्ष गुणसम्पन्न इन्द्रियरहित हैं।

कुछ भी परोक्ष नहीं स्वयं ही ज्ञान परिणत नित रहें ॥ २३ ॥

गाथार्थ– वास्तव में सर्व ओर से सर्व इन्द्रिय गुणों से अथवा सर्वआत्मगुणों से समृद्ध, स्वयं ही हमेशा अतीन्द्रिय ज्ञान रूप से परिणत उन केवली भगवान के कुछ भी परोक्ष नहीं है।

टीकार्थ–***णत्थि परोक्खं किंचि वि***- उन भगवान के कुछ भी परोक्ष नहीं है। किस विशेषता वाले उन भगवान के कुछ भी परोक्ष नहीं है ? ***समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स***- सभी आत्मप्रदेशों से अथवा पूर्णरूप से स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द की जानकारी रूप सभी इन्द्रियों के गुणों से समृद्ध उन केवली भगवान के कुछ भी परोक्ष नहीं है। तो क्या इन्द्रियसहित केवली के, कुछ भी परोक्ष नहीं है ? ऐसा नहीं है। ***अक्खातीदस्स***- इन्द्रिय व्यापार से रहित केवली के, कुछ भी परोक्ष नहीं है।

अथवा दूसरा व्याख्यान—जो ज्ञान से व्याप्त होता है, जानता है; वह आत्मा है; उस आत्मा के गुणों से समृद्ध इन्द्रिय व्यापार से रहित केवली भगवान के कुछ भी परोक्ष नहीं है। ***सदा***-हमेशा ही उन्हें कुछ भी परोक्ष नहीं है। वे केवली भगवान किस विशेषता वाले हैं ? ***सयमेव हि णाणजादस्स***- स्वयं ही वास्तव में केवलज्ञान रूप से परिणत उन केवली भगवान के कुछ भी परोक्ष नहीं है।

वह इसप्रकार—अतीन्द्रिय स्वभावी परमात्मा से विपरीत क्रम से प्रवृत्ति की कारणभूत इन्द्रियों से रहित तीन लोक, तीनकालवर्ती समस्त पदार्थों को एक साथ जानने में समर्थ, अविनाशी, अखण्ड एक प्रतिभासमय (ज्योतिस्वरूप) केवलज्ञानरूप से परिणत उन भगवान के कुछ भी परोक्ष नहीं है—यह भाव है।

अथात्मा ज्ञानप्रमाणो भवतीति ज्ञानं च व्यवहारेण सर्वगतमित्युपदिशति—

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं ।(२३)

णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥ २४ ॥

आदा णाणपमाणं ज्ञानेन सह हीनाधिकत्वाभावादात्मा ज्ञानप्रमाणो भवति ।

तथाहि- *'समगुणपर्यायं द्रव्यं भवति'*[२] इति वचनाद्वर्तमानमनुष्यभवे वर्तमानमनुष्यपर्यायप्रमाणः, तथैव मनुष्यपर्यायप्रदेशवर्तिज्ञानगुणप्रमाणश्च प्रत्यक्षेण दृश्यते यथायमात्मा, तथा निश्चयतः सर्वदैवाव्याबाधाक्षय-सुखाद्यनन्तगुणाधारभूतो योऽसौ केवलज्ञानगुणस्तत्प्रमाणोऽयमात्मा ।

विशेषार्थ— इस गाथा की 'तत्त्व प्रदीपिका' टीका में 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने अतीन्द्रिय शब्द को स्पष्ट करते हुये इन्द्रियों को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है—

"............सांसारिक जानकारी की उत्पत्ति में बलाधान की कारणभूत, अपने-अपने निश्चित विषय को ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ.......... ।[१]" ॥ २३ ॥

इसप्रकार केवली के सभी प्रत्यक्ष है— इस कथन रूप से प्रथम स्थल में दो गाथायें पूर्ण हुईं ।

(अब, आत्मा और ज्ञान के निश्चय से आत्मगत पना तथा व्यवहार से सर्वगत पना बताने वाली पाँच गाथाओं में निबद्ध दूसरा स्थल प्रारम्भ होता है ।)

अब, आत्मा ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान व्यवहार से सर्वगत है; ऐसा उपदेश देते हैं—

है जीव ज्ञान प्रमाण वर्णित ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है ।

हैं ज्ञेय लोकालोक इससे सर्वगत भी ज्ञान है ॥ २४ ॥

गाथार्थ— आत्मा ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है, ऐसा (जिनेन्द्र भगवान ने) कहा है; ज्ञेय लोकालोक है, अतः ज्ञान भी सर्वगत है ।

टीकार्थ— *आदा णाणपमाणं*-ज्ञान के साथ हीनाधिकता का अभाव होने से आत्मा ज्ञान प्रमाण है ।

वह इसप्रकार— *'समगुणपर्यायं द्रव्यं भवति'* गुण-पर्यायों के बराबर द्रव्य होता है'- ऐसा वचन होने से, जैसे यह आत्मा वर्तमान मनुष्य भव में वर्तमान मनुष्यपर्याय के बराबर है, और वैसे ही मनुष्य पर्याय के प्रदेशवर्ती ज्ञानगुण के बराबर प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देता है; उसीप्रकार यह आत्मा निश्चय से सदैव अव्याबाध, अक्षयसुख आदि अनन्त गुणों के आधारभूत केवलज्ञानगुण के बराबर है ।

१- प्रवचनसार गाथा २२, तत्त्वप्रदीपिका टीका ।

२- पंचाध्यायी, प्रथमोऽध्याय, पद्य ७३, उत्तरार्ध ।

णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं दाह्यनिष्ठदहनवत् ज्ञानं ज्ञेयप्रमाणमुद्दिष्टं कथितम्। *णेयं लोयालोयं* ज्ञेयं लोकालोकं भवति। शुद्धबुद्धैकस्वभावसर्वप्रकारोपादेयभूतपरमात्मद्रव्यादिषड्द्रव्यात्मको लोकः, लोकाद्बहिर्भागे शुद्धाकाशमलोकः, तच्च लोकालोकद्वयं स्वकीयस्वकीयानन्तपर्यायपरिणतिरूपेणानित्यमपि द्रव्यार्थिकनयेन नित्यम्। *तम्हा णाणं तु सव्वगयं* यस्मान्निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धोपयोगभावनाबलेनोत्पन्नं यत्केवलज्ञानं तट्टङ्कोत्कीर्णाकारन्यायेन निरन्तरं पूर्वोक्तज्ञेयं जानाति, तस्माद्व्यवहारेण तु ज्ञानं सर्वगतं भण्यते।

ततः स्थितमेतदात्मा ज्ञानप्रमाणं ज्ञानं सर्वगतमिति ॥ २४ ॥

अथात्मानं ज्ञानप्रमाणं ये न मन्यन्ते तत्र हीनाधिकत्वे दूषणं ददाति—

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा।(२४)

हीणो वा अहिओ वा णाणादो हवदि धुवमेव ॥ २५ ॥

णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं-ईंधन निष्ठ अग्नि के समान ज्ञान ज्ञेयों के बराबर कहा गया है। ***णेयं लोयालोयं***- ज्ञेय लोकालोक है। सर्व प्रकार से आश्रय करने योग्य शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावी परमात्मद्रव्य आदि छह द्रव्य स्वरूप लोक है, लोक से बाह्य भाग में शुद्ध (मात्र) आकाश अलोक है, और ये लोक एवं अलोक दोनों अपनी-अपनी अनन्त पर्यायों रूप से परिणमन करने के कारण अनित्य भी हैं और द्रव्यार्थिक नय से नित्य भी हैं। ***तम्हा णाणं तु सव्वगयं***-जिस कारण से निश्चय रत्नत्रय स्वरूप शुद्धोपयोग की भावना के बल से उत्पन्न जो केवलज्ञान, वह टंकोत्कीर्ण (टाँकी से उकेरे गये) आकार को जानने रूप न्याय से हमेशा ज्ञेयों को जानता है, उसकारण व्यवहार से ज्ञान सर्वगत कहा गया है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि आत्मा ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान सर्वगत है।

भावार्थ- गुण-पर्यायों के बराबर द्रव्य होता है-ऐसा वस्तु-स्वरूप होने से, जैसे यह आत्मा वर्तमान मनुष्य भव में मनुष्य पर्याय एवं मनुष्य पर्याय के प्रदेशवर्ती ज्ञानगुण के बराबर प्रत्यक्ष दिखाई देता है; उसी-प्रकार निश्चय से यह आत्मा ज्ञान के साथ हीनाधिकता का अभाव होने से हमेशा ही अव्याबाध, अनन्त सुख आदि अनन्त गुणों के आधारभूत केवलज्ञान गुण के बराबर है।

और जैसे अग्नि जलने योग्य दाह्य पदार्थों के बराबर होती है; उसीप्रकार निश्चय रत्नत्रयरूप शुद्धोपयोग के बल से प्रगट केवलज्ञान यथावस्थित नित्यानित्य स्वभावी लोकालोक को एक साथ जानने की अपेक्षा उसके बराबर कहा गया है, अतः व्यवहार से ज्ञान सर्वगत है।

इसप्रकार आत्मा ज्ञान के बराबर, ज्ञान ज्ञेय के बराबर तथा ज्ञेय लोकालोक है, अतः ज्ञान भी लोकालोकगत-सर्वगत है- यह स्पष्ट हुआ ॥ २४ ॥

अब, जो आत्मा को ज्ञान प्रमाण नहीं मानते हैं; वहाँ हीनाधिकता में दोष देते हैं-

नहिं जीव ज्ञान प्रमाण है जिसके यहाँ यह मान्यता।

उससे अधिक वा हीन निश्चित ज्ञान से हो आत्मा ॥ २५ ॥

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह ज्ञानप्रमाणमात्मा न भवति यस्य वादिनो मतेऽत्र जगति *तस्स सो आदा* तस्य मते स आत्मा *हीणो वा अहिओ वा णाणादो हवदि धुवमेव* हीनो वा अधिको वा ज्ञानात्सकाशाद् भवति निश्चितमेवेति ॥ २५ ॥

हीणो जदि सो आदा तण्णाणमचेदणं ण जाणादि।(२५)

अहिओ वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि ॥ २६ ॥

हीणो जदि सो आदा तं णाणमचेदणं ण जाणादि हीनो यदि स आत्मा तदाग्नेरभावे सति उष्णगुणो यथा शीतलो भवति तथा स्वाश्रयभूतचेतनात्मकद्रव्यसमवायाभावात्तस्यात्मनो ज्ञानमचेतनं भवत्सत् किमपि न जानाति ।

गाथार्थ– इस लोक में जिसके मत में आत्मा ज्ञान के बराबर नहीं माना गया है, उसके मत में वह आत्मा निश्चित ही ज्ञान से कम या ज्यादा होता है ।

टीकार्थ– ***णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह***- इस लोक में जिस वादी के मत में ज्ञान के बराबर आत्मा नहीं है । ***तस्स सो आदा***–उसके मत में वह आत्मा, ***हीणो वा अहिओ वा णाणादो हवदि धुवमेव***- निश्चित ही ज्ञान से कम अथवा ज्यादा है ।

भावार्थ– यदि (क्षेत्र की अपेक्षा) (२४ वीं गाथा के अनुसार) आत्मा को ज्ञान के बराबर न मानकर ज्ञान से कम या अधिक माना जावे तो निश्चित ही इस मान्यतानुसार आत्मा को ज्ञान से अधिक मानने पर (क्षेत्रापेक्षा) ज्ञान कम और आत्मा अधिक, तथा आत्मा को ज्ञान से कम मानने पर (क्षेत्रापेक्षा) ज्ञान अधिक और आत्मा कम होगा ही ॥ २५ ॥

(अब, २५ वीं गाथा में कहे हुये तथ्य को ही स्पष्ट करते हैं–)

हो हीन चेतन ज्ञान से तो अचेतन जाने नहीं।
यदि ज्ञान से हो अधिक तो भी ज्ञान बिन जाने नहीं ॥ २६ ॥

गाथार्थ– यदि वह आत्मा ज्ञान से कम हो तो ज्ञान अचेतन हो जाने से जानता नहीं है, तथा यदि वह आत्मा ज्ञान से अधिक हो तो ज्ञान के बिना वह कैसे जान सकता है अर्थात् नहीं जानता है ।

टीकार्थ– ***हीणो जदि सो आदा तं णाणमचेदणं ण जाणादि***-जैसे अग्नि का अभाव होने पर उसका उष्णगुण ठंडा हो जाता है; उसीप्रकार यदि आत्मा को ज्ञान से कम माना जावे तो अपने आधारभूत चेतनात्मकद्रव्य के संयोग का अभाव हो जाने से, उस आत्मा का ज्ञान अचेतन होता हुआ कुछ भी नहीं जानता

अहिओ वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि अधिको वा ज्ञानात्सकाशात्तर्हि यथोष्णगुणाभावेऽग्निः शीतलो भवन्सन् दहनक्रियां प्रत्यसमर्थो भवति तथा ज्ञानगुणाभावे सत्यात्माप्यचेतनो भवन्सन् कथं जानाति, न कथमपीति। अयमत्र भावार्थः – ये केचनात्मानमङ्गुष्ठपर्वमात्रं, श्यामाकतण्डुलमात्रं, वटककणिकादिमात्रं वा मन्यन्ते ते निषिद्धाः येऽपि समुद्घातसप्तकं विहाय देहादधिकं मन्यन्ते तेऽपि निराकृता इति ॥ २६ ॥

है। *अहिओ वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि*-और जैसे उष्ण गुण के नहीं होने पर अग्नि ठंडी होती हुई जलाने का कार्य करने में असमर्थ है; उसीप्रकार यदि आत्मा को ज्ञान से अधिक माना जावे, तो ज्ञान गुण के बिना आत्मा भी अचेतन होता हुआ कैसे जानने में समर्थ हो सकता है, अर्थात् जानने में समर्थ नहीं हो सकता।

यहाँ भाव यह है कि जो कोई आत्मा को अँगूठे के पर्व (पोर) जितना, श्यामाक (सावाँ) चावल जितना अथवा वटक कणिका (छोटे पिण्ड के अत्यन्त छोटे हिस्से) जितना-इत्यादि आकार वाला मानते हैं; उन सभी की मान्यताओं का इस कथन से निराकरण हुआ; तथा जो सात समुद्घातों को छोड़कर देह प्रमाण से भी अधिक प्रमाण वाला आत्मा को मानते हैं; उनकी मान्यताओं का निराकरण भी इस कथन से हो गया।

भावार्थ– द्रव्य और उसके गुणों के प्रदेश सदैव परस्पर में अभिन्न एक ही प्रमाण वाले होते हैं—यह वस्तु-स्वरूप है। ऐसा न मानकर यदि उन्हें हीनाधिक माना जाये तो अग्नि और उष्णता की भाँति वस्तु अपना कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकती।

वह इसप्रकार—

यदि आत्मा को ज्ञान से कम माना जावे तो आधारभूत आत्मा से रहित शेष ज्ञान जानने का कार्य नहीं कर सकेगा; तथा यदि आत्मा को ज्ञान से अधिक माना जावे तो ज्ञान से रहित आत्मा अचेतन हो जाने से, जानने का कार्य नहीं कर सकेगा।

अतः यह निष्कर्ष निकला कि क्षेत्र की अपेक्षा आत्मा और ज्ञान एक ही प्रमाण वाले हैं।

इसीप्रकार संसार दशा में समुद्घात दशा को छोड़कर शेष दशाओं में आत्मा प्राप्त देह प्रमाण ही होता है।

विशेषार्थ– *"आदा णाणपमाणं-"* प्रस्तुत चौबीसवीं गाथा में ज्ञान को सर्वगत कहा था। यहाँ २५-२६ वीं गाथा में आत्मा और ज्ञान को हीनाधिक मानने पर आने वाली आपत्तियों को बतलाकर आत्मा और ज्ञान को क्षेत्र की अपेक्षा सम-प्रमाण सिद्ध किया है। इससे सिद्ध है कि ज्ञान को मात्र जानने की अपेक्षा सर्वगत कहा गया है। क्षेत्र की अपेक्षा तो वह अपने आधारभूत आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में ही स्थित है– आत्मगत ही है ॥ २६ ॥

अथ यथा ज्ञानं पूर्वं सर्वगतमुक्तं तथैव सर्वगतज्ञानापेक्षया भगवानपि सर्वगतो भवतीत्यावेदयति–

सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा।(२६)

णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिदा ॥ २७ ॥

सव्वगदो सर्वगतो भवति। स कः कर्ता। *जिणवसहो* जिनवृषभः सर्वज्ञः। कस्मात् सर्वगतो भवति। *जिणो* जिनः *णाणमयादो य* ज्ञानमयत्वाद्धेतोः *सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा* सर्वेऽपि च ये जगत्यर्थास्ते दर्पणे बिम्बवद् व्यवहारेण तत्र भगवति गता भवन्ति। कस्मात्। *ते भणिया* तेऽर्थास्तत्र गता भणिताः *विसयादो* विषयत्वात्परिच्छेद्यत्वात् ज्ञेयत्वात्। कस्य। *तस्स* तस्य भगवत इति।

तथाहि– यदनन्तज्ञानमनाकुलत्वलक्षणानन्तसुखं च तदाधारभूतस्तावदात्मा। इत्थंभूतात्मप्रमाणं ज्ञानमात्मनः स्वस्वरूपं [भवति। इत्थंभूतं स्वस्वरूपं] देहगतमपरित्यजन्नेव लोकालोकं परिच्छिनत्ति। ततः कारणाद्व्यवहारेण सर्वगतो भण्यते भगवान्। येन च कारणेन नीलपीतादिबहिःपदार्था आदर्शे बिम्बवत् परिच्छित्त्याकारेण ज्ञाने प्रतिफलन्ति ततः कारणादुपचारेणार्थकार्यभूता अर्थाकारा अप्यर्था भण्यन्ते। ते च ज्ञाने तिष्ठन्तीत्युच्यमाने दोषो नास्तीत्यभिप्रायः ॥ २७ ॥

अब, जैसे पहले (२४ वीं गाथा में) ज्ञान को सर्वगत कहा था, उसीप्रकार सर्वगत ज्ञान की अपेक्षा भगवान भी सर्वगत हैं; यह ज्ञान कराते हैं—

हैं सर्वगत जिनवर जगत् के अर्थ सब जिनगत सदा।

इस ज्ञानमयता विषयता से सर्वगत उनको कहा ॥ २७ ॥

गाथार्थ– ज्ञानमय होने से गणधरादि में प्रधान सर्वज्ञ भगवान सर्वगत हैं; तथा उन सर्वज्ञ भगवान के ज्ञेयरूप विषय होने से वे सभी जगत में स्थित पदार्थ सर्वज्ञगत हैं–ऐसा कहा गया है।

टीकार्थ– ***सव्वगदो***- सर्वगत हैं। कर्तारूप वे सर्वगत कौन हैं ? ***जिणवसहो***-सर्वज्ञ सर्वगत हैं। सर्वज्ञ सर्वगत क्यों हैं ? ***जिणो णाणमयादो य***- सर्वज्ञजिन ज्ञानमय होने के कारण सर्वगत हैं। ***सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा***- और वे जगत् के सभी पदार्थ, दर्पण में बिम्ब के समान, व्यवहार से उन भगवान में गये हैं। वे पदार्थ भगवान में गये हैं, यह कैसे जाना ? ***ते भणिया***-वे पदार्थ वहाँ गये हैं-ऐसा कहा गया है। ***विषयादो***-ज्ञान के विषय-ज्ञेय होने से वे पदार्थ भगवान में गये हैं–ऐसा कहा गया है। किसके ज्ञेय होने से वे गये हुये कहे गये हैं ? ***तस्स***-उन भगवान के ज्ञेय होने से वे भगवान में गये हुये कहे गये हैं।

वह इसप्रकार— जो अनन्तज्ञान और अनाकुलता लक्षण अनन्तसुख का आधार है वह आत्मा है।

ऐसा होने से आत्मप्रमाण ज्ञान आत्मा का अपना स्वरूप है। ऐसे अपने स्वरूप को तथा शरीर में रहने रूप स्थिति को नहीं छोड़ते हुये ही वे सर्वज्ञ लोकालोक को जानते हैं। इसलिये व्यवहार से भगवान सर्वगत कहे गये हैं। और दर्पण में बिम्ब के समान क्योंकि नीले, पीले आदि बाह्य पदार्थ जानकारी रूप से ज्ञान में

अथ ज्ञानमात्मा भवति, आत्मा तु ज्ञानं सुखादिकं वा भवतीति प्रतिपादयति—

णाणं अप्प त्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं।(२७)

तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं व अण्णं वा॥ २८॥

णाणं अप्प त्ति मदं ज्ञानमात्मा भवतीति मतं सम्मतम्। कस्मात्। *वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं* ज्ञानं कर्तृ विनात्मानं जीवमन्यत्र घटपटादौ न वर्तते। *तम्हा णाणं अप्पा* तस्मात् ज्ञायते कथंचिज्ज्ञानमात्मैव स्यात्। इति गाथापादत्रयेण ज्ञानस्य कथंचिदात्मत्वं स्थापितम्। *अप्पा णाणं व अण्णं वा* आत्मा तु ज्ञानधर्मद्वारेण ज्ञानं भवति, सुखवीर्यादिधर्मद्वारेणान्यद्वा नियमो नास्तीति।

प्रतिबिम्बित होते हैं (झलकते हैं), इसलिये पदार्थों के कार्यभूत पदार्थाकार भी पदार्थ कहलाते हैं, और वे ज्ञान में स्थित हैं—ऐसे कथन में दोष नहीं है— यह अभिप्राय है।

भावार्थ— जैसे दर्पण की स्वच्छता दर्पण के स्वरूप तथा दर्पण के आकार के बराबर है, उसे छोड़े बिना दर्पण यथायोग्य पदार्थों को प्रतिबिम्बित करता है, तथा उन पदार्थों में प्रतिबिम्बित होने का स्वभाव होने से अपने स्थान को छोड़े बिना ही वे दर्पण में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं; उसीप्रकार ज्ञानानन्द के आधारभूत आत्मा का ज्ञान आत्मा के स्वरूप तथा आत्मा के आकार के बराबर है, उसे छोड़े बिना ही वे सर्वज्ञ परमात्मा सर्वलोकालोक को जान लेते हैं। तथा सर्व लोकालोक ज्ञान का विषय होने से—ज्ञेय स्वभावी होने से, वे भी अपने स्थान को छोड़े बिना ही ज्ञान में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं।

जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बित मयूर बाह्य स्थित मयूर का प्रतिबिम्ब रूप कार्य होने से मयूर ही कहलाता है, उसीप्रकार ज्ञान में प्रतिबिम्बित सर्व लोकालोक बाह्य स्थित लोकालोक का प्रतिबिम्ब रूप कार्य होने से सर्व लोकालोक ही कहलाता है। अतः सर्व को जानने की अपेक्षा आत्मा सर्वगत है, ऐसा कहा गया है।

जिसप्रकार ज्ञान स्वभावी सर्वज्ञ ज्ञानमय स्वक्षेत्र से बाहर गये बिना ही सर्वगत हैं; उसीप्रकार शरीर स्थित सर्वज्ञ (१३ वें १४ वें गुणस्थानवर्ती अरहंत परमात्मा) शरीर से बाहर गये बिना ही सर्वगत हैं।

इसप्रकार आत्मा की ज्ञानमयता तथा पदार्थों की ज्ञेयमयता के कारण अपने-अपने क्षेत्र का त्याग किये बिना ही क्रमशः सर्वज्ञ सर्वगत तथा पदार्थ सर्वज्ञगत हैं, ऐसा व्यवहार से कहा गया है ॥ २७ ॥

अब, ज्ञान आत्मा है, परन्तु आत्मा ज्ञान अथवा सुखादि भी है, ऐसा प्रतिपादित करते हैं—

है ज्ञान आत्मा जैनमत में ज्ञान आत्मा बिन नहीं।

है ज्ञान आत्मा ही तथा वह ज्ञान भी है अन्य भी ॥ २८ ॥

गाथार्थ- ज्ञान आत्मा है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान का मत है। आत्मा के बिना ज्ञान नहीं होता, अतः ज्ञान आत्मा है; परन्तु आत्मा ज्ञान भी है, और अन्य सुखादिक भी है।

टीकार्थ- ***णाणं अप्प त्ति मदं***-ज्ञान आत्मा है, यह स्वीकृत है। ज्ञान आत्मा है— ऐसा क्यों स्वीकार किया गया है ? ***वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं***-ज्ञान रूप कर्ता स्वजीव के बिना अन्यत्र घड़े, कपड़े आदि में नहीं रहता है। ***तम्हा णाणं अप्पा***-इससे जाना जाता है कि कथंचित् ज्ञान आत्मा ही है। इसप्रकार गाथा के तीन चरणों से ज्ञान का कथंचित् आत्मत्व स्थित हुआ। ***अप्पा णाणं व अण्णं वा***- आत्मा ज्ञानधर्म की अपेक्षा ज्ञान है; सुख, वीर्य आदि धर्मों की अपेक्षा अन्य भी है; नियम नहीं है।

तद्यथा- यदि पुनरेकान्तेन ज्ञानमात्मेति भण्यते तदा ज्ञानगुणमात्र एवात्मा प्राप्तः सुखादिधर्माणामवकाशो नास्ति। तथा सुखवीर्यादिधर्मसमूहाभावादात्माभावः, आत्मन आधारभूतस्याभावादाधेयभूतस्य ज्ञानगुणस्याप्यभावः, इत्येकान्ते सति द्वयोरप्यभावः। तस्मात्कथंचिज्ज्ञानमात्मा न सर्वथेति।

अयमत्राभिप्रायः--आत्मा व्यापको ज्ञानं व्याप्यं ततो ज्ञानमात्मा स्यात्, आत्मा तु ज्ञानमन्यद्वा भवतीति। तथा चोक्तम् - *'व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च'* * ॥ २८ ॥

इत्यात्मज्ञानयोरेकत्वं, ज्ञानस्य व्यवहारेण सर्वगतत्वमित्यादिकथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथापञ्चकं गतम्।

अथ ज्ञानं ज्ञेयसमीपे न गच्छतीति निश्चिनोति--

वह इसप्रकार-यदि एकान्त से "ज्ञान आत्मा है"- यह कहा जाय तो ज्ञान गुण मात्र ही आत्मा प्राप्त होता है, सुखादि धर्मों के लिये स्थान नहीं रहता। ऐसी स्थिति में सुख, वीर्य आदि धर्म-समूहों का अभाव होने से आत्मा का अभाव होगा। आधारभूत आत्मा का अभाव होने पर आधेयभूत ज्ञानगुण का भी अभाव होगा -इसप्रकार एकान्त मानने पर दोनों का ही अभाव हो जायगा। इसलिये आत्मा कथंचित् ज्ञान है, सर्वथा नहीं।

यहाँ अभिप्राय यह है कि आत्मा व्यापक है और ज्ञान व्याप्य; इसलिये ज्ञान आत्मा हो, परन्तु आत्मा ज्ञान भी है और अन्य भी है।

वैसा ही कहा भी है - 'व्यापक तद् और अतद् दोनों में रहता है परन्तु व्याप्य मात्र तद् में ही रहता है।'

भावार्थ-- प्रत्येक द्रव्य अनन्त गुणात्मक होने से जीव द्रव्य भी अनन्त गुणात्मक है। अन्य द्रव्यों से भिन्न करने के लिये ज्ञान मात्र आत्मा है--ऐसा कहा है। परन्तु यह एकान्त नहीं है; क्योंकि ज्ञान तो मात्र आत्मा ही है, किन्तु आत्मा ज्ञान भी है तथा सुखादि अनन्तानन्त गुणमय भी है।

यदि ऐसा न माना जाये तो आधेयभूत गुणों के अभाव में आधारभूत गुणी आत्मा के ही अभाव का प्रसंग आयेगा, जो असम्भव है ॥ २८ ॥

इसप्रकार (क्षेत्रापेक्षा) आत्मा और ज्ञान का एकत्व तथा व्यवहार से ज्ञान का सर्वगतत्व इत्यादि कथन रूप से दूसरे स्थल में पाँच गाथायें पूर्ण हुईं।

(अब, ज्ञान और ज्ञेय का परस्पर गमन-निराकरण प्रतिपादक (एक दूसरे में जाने के निषेध परक) पाँच गाथाओं में निबद्ध तीसरा स्थल आरम्भ होता है।)

अब, ज्ञान ज्ञेय के समीप नहीं जाता; यह निश्चित करते हैं--

---

* सिद्धि विनिश्चय टीका, षष्ठ प्रस्ताव, हेतुलक्षण सिद्धि कारिका २ की टीका।

णाणी णाणसहावो अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स।(२८)
रूवाणि व चक्खूणं णेवण्णोण्णेसु वट्टंति॥ २९॥

णाणी णाणसहावो **ज्ञानी सर्वज्ञः केवलज्ञानस्वभाव एव।** ***अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स*** **जगत्त्रयकालत्रयवर्तिपदार्था ज्ञेयात्मका एव भवन्ति न च ज्ञानात्मकाः। कस्य। ज्ञानिनः।** ***रूवाणि व चक्खूणं णेवण्णोण्णेसु वट्टंति*** **ज्ञानी पदार्थाश्चान्योन्यं परस्परमेकत्वेन न वर्तन्ते। कानीव, केषां संबंधित्वेन। रूपाणीव चक्षुषामिति।**

तथाहि– यथा रूपिद्रव्याणि चक्षुषा सह परस्परं संबन्धाभावेऽपि स्वाकारसमर्पणे समर्थानि, चक्षूंषि च तदाकारग्रहणे समर्थानि भवन्ति, तथा त्रैलोक्योदरविवरवर्तिपदार्थाः कालत्रयपर्यायपरिणता ज्ञानेन सह परस्परप्रदेशसंसर्गाभावेऽपि स्वकीयाकारसमर्पणे समर्था भवन्ति, अखण्डैकप्रतिभासमयं केवलज्ञानं तु तदाकारग्रहणे समर्थमिति भावार्थः॥ २९॥

ज्ञायक स्वभावी ज्ञानि ज्ञेयात्मक पदार्थ हैं ज्ञानि के।
नहिं वर्तते ज्यों रूप नेत्र परस्पर अन्योन्य के॥ २९॥

गाथार्थ– ज्ञानी ज्ञानस्वभावी है, पदार्थ ज्ञानी के लिये ज्ञेयस्वभावी हैं; जिसप्रकार नेत्र रूपी पदार्थों में प्रवृत्ति नहीं करता, उसीप्रकार ये दोनों भी परस्पर एक दूसरे में प्रवृत्ति नहीं करते हैं।

टीकार्थ– ***णाणी णाणसहावो–*** ज्ञानी सर्वज्ञ केवलज्ञान स्वभावी ही हैं। ***अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स–*** तीनलोक, तीनकालवर्ती पदार्थ ज्ञेयस्वरूप ही हैं, ज्ञानस्वरूप नहीं हैं। वे सभी पदार्थ किसके ज्ञेय स्वरूप हैं ? वे ज्ञानी के ज्ञेय स्वरूप हैं। ***रूवाणि व चक्खूणं णेवण्णोण्णेसु वट्टंति–*** ज्ञानी और पदार्थ परस्पर में एकपने से प्रवृत्ति नहीं करते। ज्ञानी और पदार्थ किसके समान, किससे सम्बन्धित परस्पर में प्रवृत्ति नहीं करते ? जैसे नेत्र और रूप परस्पर में प्रवृत्ति नहीं करते, उसीप्रकार वे दोनों आपस में प्रवृत्ति नहीं करते हैं।

वह इसप्रकार– जैसे रूपी द्रव्य नेत्र के साथ परस्पर में सम्बन्ध का अभाव होने पर भी अपने आकार को समर्पित करने में समर्थ हैं और नेत्र भी उनके आकार को ग्रहण करने में समर्थ हैं, उसीप्रकार तीन लोक रूपी उदरविवर (छिद्र) में स्थित, तीनकाल सम्बन्धी पर्यायों से परिणमित पदार्थ, ज्ञान के साथ परस्पर प्रदेशों का सम्बन्ध नहीं होने पर भी अपने आकार को समर्पित करने में समर्थ हैं; अखण्ड एक प्रतिभासमय केवलज्ञान भी उनके आकारों को ग्रहण करने में समर्थ है– यह भाव है।

भावार्थ– जैसे रूपी पदार्थ नेत्र को स्पर्श किये बिना ही अपना ज्ञान कराने में समर्थ हैं, तथा नेत्र भी उनके साथ सम्पर्क किये बिना ही उनका ज्ञान करने में समर्थ हैं; उसीप्रकार तीनकालवर्ती सर्व पर्यायों सहित समस्त लोकालोक क्षेत्र की अपेक्षा केवलज्ञान के साथ सम्पर्क किये बिना ही अपना ज्ञान कराने में समर्थ है, तथा केवलज्ञान भी स्पर्श किये बिना ही सर्व पदार्थों का ज्ञान करने में समर्थ है।

इससे निश्चित हुआ कि ज्ञानस्वभावी ज्ञानी और ज्ञेय-स्वभावी सर्वलोकालोकवर्ती पदार्थ परस्पर क्षेत्र-अपेक्षा एक दूसरे के पास गये बिना ही क्रमशः ज्ञान करने तथा ज्ञान कराने में समर्थ हैं॥ २९॥

अथ ज्ञानी ज्ञेयपदार्थेषु निश्चयनयेनाप्रविष्टोऽपि व्यवहारेण प्रविष्ट इव प्रतिभातीति शक्तिवैचित्र्यं दर्शयति–

ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू।(२९)

जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं॥ ३०॥

ण पविट्ठो निश्चयनयेन न प्रविष्टः, *णाविट्ठो* व्यवहारेण च नाप्रविष्टः किंतु प्रविष्ट एव। स कः कर्ता। *णाणी* ज्ञानी। केषु मध्ये। *णेयेसु* ज्ञेयपदार्थेषु। किमिव। *रूवमिव चक्खू* रूपविषये चक्षुरिव।एवंभूतस्सन् किं करोति। *जाणदि पस्सदि* जानाति पश्यति च। *णियदं* निश्चितं संशयरहितं। किंविशिष्टः सन्। *अक्खातीदो* अक्षातीतः। किं जानाति पश्यति। *जगमसेसं* जगदशेषमिति।

तथा हि– यथा लोचनं कर्तृ रूपिद्रव्याणि यद्यपि निश्चयेन न स्पृशति तथापि व्यवहारेण स्पृशतीति प्रतिभाति लोके। तथायमात्मा मिथ्यात्वरागाद्यास्रवाणामात्मनश्च संबन्धि यत्केवलज्ञानात्पूर्वं विशिष्टभेदज्ञानं तेनोत्पन्नं यत्केवलज्ञानदर्शनद्वयं तेन जगत्त्रयकालत्रयवर्तिपदार्थान्निश्चयेनास्पृशन्नपि व्यवहारेण स्पृशति, तथा स्पृशन्निव ज्ञानेन जानाति दर्शनेन पश्यति च। कथंभूतस्सन्। अतीन्द्रियसुखास्वादपरिणतः सन्नक्षातीत इति।

ततो ज्ञायते निश्चयेनाप्रवेश इव व्यवहारेण ज्ञेयपदार्थेषु प्रवेशोऽपि घटत इति॥ ३०॥

अब, निश्चयनय से ज्ञानी ज्ञेयपदार्थों में प्रविष्ट नहीं हुआ होने पर भी व्यवहार से प्रविष्ट की भाँति ज्ञात होता है; ऐसी शक्ति की विचित्रता को दिखाते हैं–

नहिं अप्रविष्ट-प्रविष्ट अक्षातीत ज्ञानी ज्ञेय में।

निश्चित सभी को जाने देखे नेत्र जैसे रूप में॥ ३०॥

गाथार्थ– जैसे प्रवेश और अप्रवेश से रहित नेत्र रूपी पदार्थों को मात्र देखता है, उसीप्रकार ज्ञेयों में प्रवेश और अप्रवेश से रहित इन्द्रियातीत ज्ञानी सम्पूर्ण जगत् को निश्चित रूप से जानते और देखते हैं।

टीकार्थ– ***ण पविट्ठो***– निश्चयनय से प्रविष्ट नहीं है। ***णाविट्ठो***– व्यवहार से अप्रविष्ट नहीं; वरन् प्रविष्ट ही है। प्रविष्ट-अप्रविष्ट नहीं होने वाला कर्तारूप वह कौन है? ***णाणी***– ज्ञानी रूप कर्ता प्रविष्ट और अप्रविष्ट नहीं है। ज्ञानी प्रविष्ट-अप्रविष्ट किनमें नहीं है? ***णेयेसु***– वह ज्ञेय पदार्थों में प्रविष्ट-अप्रविष्ट नहीं है। ज्ञानी किसके समान उनमें प्रविष्ट-अप्रविष्ट नहीं है? ***रूवमिवचक्खू***– रूप के सम्बन्ध में नेत्र के समान ज्ञानी उनमें प्रविष्ट-अप्रविष्ट नहीं है। ऐसा होता हुआ ज्ञानी क्या करता है? ***जाणदि पस्सदि***– उन्हें जानता और देखता है। ***णियदं***– वह उन्हें संशयरहित जानता-देखता है। वह जानने-देखने वाला ज्ञानी किस विशेषता वाला है? ***अक्खातीदो***– वह अक्षातीत-इन्द्रिय रहित है। वह किसे जानता-देखता है? ***जगमसेसं***– वह सम्पूर्ण जगत् को जानता-देखता है।

वह इसप्रकार– जैसे नेत्र रूपी कर्ता यद्यपि निश्चय से रूपी द्रव्यों को स्पर्श नहीं करता, तथापि व्यवहार से लोक में स्पर्श करते हुये के समान ज्ञात होता है; उसीप्रकार यह आत्मा केवलज्ञान से पूर्व मिथ्यात्वरागादि आस्रव और आत्मा के बीच में होने वाले विशिष्ट भेदज्ञान से उत्पन्न होने वाले केवलज्ञान और केवलदर्शन से तीन लोक और तीनकालवर्ती पदार्थों को निश्चय से स्पर्श नहीं करता हुआ भी व्यवहार से स्पर्श करता है; तथा स्पर्श करते हुये के समान ज्ञान से जानता और दर्शन से देखता है। वह आत्मा कैसा होता हुआ जानता और देखता है? अतीन्द्रिय सुख रूप आस्वाद से परिणत (स्वाद का आस्वादी) होता हुआ, अक्षातीत होता हुआ उन सबको जानता और देखता है।

इससे ज्ञात होता है कि निश्चय से अप्रवेश के समान ज्ञेय पदार्थों में व्यवहार से प्रवेश भी घटित होता है॥ ३०॥

अथ तमेवार्थं दृष्टान्तद्वारेण दृढयति–

रयणमिह इन्दणीलं दुद्धज्झसियं जहा सभासाए। (३०)
अभिभूय तं पि दुद्धं वट्टदि तह णाणमट्ठेसु ॥ ३१ ॥

रयणं रत्नं _इह_ जगति। किंनाम। _इंदणीलं_ इन्द्रनीलसंज्ञम्। किंविशिष्टम्। _दुद्धज्झसियं_ दुग्धे निक्षिप्तं _जहा_ यथा _सभासाए_ स्वकीयप्रभया _अभिभूय_ तिरस्कृत्य। किम्। _तं पि दुद्धं_ तत्पूर्वोक्तं दुग्धमपि _वट्टदि_ वर्तते। इति दृष्टान्तो गतः। _तह णाणमत्थेसु_ तथा ज्ञानमर्थेषु वर्तत इति।

तद्यथा– यथेन्द्रनीलरत्नं कर्तृ स्वकीयनीलप्रभया करणभूतया दुग्धं नीलं कृत्वा वर्तते, तथा निश्चयरत्नत्रयात्मकपरमसामायिकसंयमेन यदुत्पन्नं केवलज्ञानं तत् स्वपरपरिच्छित्तिसामर्थ्येन समस्ताज्ञानान्धकारं तिरस्कृत्य युगपदेव सर्वपदार्थेषु परिच्छित्त्याकारेण वर्तते।

अयमत्र भावार्थः– कारणभूतानां सर्वपदार्थानां कार्यभूताः परिच्छित्त्याकारा उपचारेणार्था भण्यन्ते, तेषु च ज्ञानं वर्तत इति भण्यमानेऽपि व्यवहारेण दोषो नास्तीति॥ ३१ ॥

अब, उसी अर्थ को दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं–

ज्यों दूध में रह इन्द्रनील रतन उसे स्वप्रभा से।
अभिभूत कर वर्ते वहीं त्यों अर्थ होते ज्ञान से॥ ३१ ॥

गाथार्थ– जैसे इस लोक में दूध में पड़ा हुआ इन्द्रनील रत्न अपनी कांति से दूध को अभिभूत कर प्रवर्तित होता है; उसीप्रकार ज्ञान पदार्थों में प्रवर्तित होता है।

टीकार्थ– ***रयणं***–रत्न, ***इह***–इस लोक में। इस लोक में किस नाम वाला रत्न ? ***इंदणीलं***–इन्द्रनील नामक रत्न। वह इन्द्रनील नामक रत्न किस विशेषता वाला है ? ***दुद्धज्झसियं***–दूध में पड़ा हुआ इन्द्रनील रत्न, ***जहा***–जैसे ***सभासाए***–अपनी प्रभा से ***अभिभूय***–तिरस्कृत कर। इन्द्रनील रत्न अपनी प्रभा से किसे तिरस्कृत कर ? ***तं पि दुद्धं***–वह रत्न अपनी प्रभा से उस पूर्वोक्त दूध को तिरस्कृत कर, ***वट्टदि***–वर्तता है। इसप्रकार दृष्टान्त पूर्ण हुआ। ***तह णाणमत्थेसु***–उसीप्रकार ज्ञान पदार्थों में वर्तता है।

वह इसप्रकार– जैसे इन्द्रनील रत्न रूप कर्ता अपनी नील प्रभा रूप साधन से दूध को नीला करके वर्तता है, उसीप्रकार निश्चय रत्नत्रय स्वरूप परमसामायिक संयम से उत्पन्न हुआ जो केवलज्ञान वह स्व-पर को जानने रूप सामर्थ्य से सम्पूर्ण अज्ञान रूपी अन्धकार को तिरस्कृत कर एक साथ ही सभी पदार्थों में ज्ञानाकार रूप से वर्तता है।

यहाँ भाव यह है– कारणभूत सभी पदार्थों के कार्यभूत ज्ञानाकार उपचार से 'अर्थ' कहलाते हैं और उनमें ज्ञान वर्तता है ; अतः अर्थों में ज्ञान वर्तता है– इस कथन में भी व्यवहार से दोष नहीं है।

भावार्थ– केवली भगवान का केवलज्ञान अपनी स्वपर-प्रकाशक सामर्थ्य से सम्पूर्ण अज्ञानान्धकार को तिरस्कृत करता हुआ सभी पदार्थों में एक साथ ज्ञानाकार रूप से प्रवृत्ति करता है।

यद्यपि वे ज्ञानाकार ज्ञानगुण के ही परिणमन हैं, तथापि सर्वज्ञेय उनमें निमित्त होने से, निमित्त कारण का *नैमित्तिक कार्य में उपचार करके ज्ञान पदार्थों में प्रवृत्ति करता है– ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।*

इसप्रकार निश्चय से ज्ञान ज्ञेयों में प्रविष्ट हुये बिना ही व्यवहार से प्रविष्ट है, यह सिद्ध हुआ॥ ३१ ॥

अथ पूर्वसूत्रेण भणितं ज्ञानमर्थेषु वर्तते व्यवहारेणात्र पुनरर्था ज्ञाने वर्तन्त इत्युपदिशति-

जदि ते ण संति अट्ठा णाणे णाणं ण होदि सव्वगयं ।(३१)

सव्वगयं वा णाणं कहं ण णाणट्ठिया अट्ठा ॥ ३२ ॥

जइ यदि चेत् *ते अट्ठा ण संति* ते पदार्थाः स्वकीयपरिच्छित्त्याकारसमर्पणद्वारेणादर्शे बिम्बवन्न सन्ति। क्व। *णाणे* केवलज्ञाने। *णाणं ण होदि सव्वगयं* तदा ज्ञानं सर्वगतं न भवति। *सव्वगयं वा णाणं* व्यवहारेण सर्वगतं ज्ञानं सम्मतं चेद्भवतां *कहं ण णाणट्ठिया अट्ठा* तर्हि व्यवहारनयेन स्वकीयज्ञेयाकारपरिच्छित्ति-समर्पणद्वारेण ज्ञानस्थिता अर्थाः कथं न भवन्ति किंतु भवन्त्येवेति।

अत्रायमभिप्रायः- यत एव व्यवहारेण ज्ञेयपरिच्छित्त्याकारग्रहणद्वारेण ज्ञानं सर्वगतं भण्यते, तस्मादेव ज्ञेयपरिच्छित्त्याकारसमर्पणद्वारेण पदार्था अपि व्यवहारेण ज्ञानगता भण्यन्त इति ॥ ३२ ॥

पूर्व गाथा में व्यवहार से ज्ञान पदार्थों में वर्तता है— यह कहा था, अब इस गाथा में पदार्थ ज्ञान में वर्तते हैं ; ऐसा उपदेश देते हैं—

यदि अर्थ हैं ना ज्ञान में तो ज्ञान सबगत है नहीं।

पर सर्वगत है ज्ञान तो वे ज्ञान स्थित क्यों नहीं ? ॥ ३२ ॥

गाथार्थ— यदि वे पदार्थ ज्ञान में न हों तो ज्ञान सर्वगत नहीं हो सकता, और यदि ज्ञान सर्वगत है तो पदार्थ ज्ञान में स्थित कैसे नहीं होंगे ? अर्थात् अवश्य होंगे।

टीकार्थ— ***जइ***- यदि ***ते अट्ठा ण सन्ति***- वे पदार्थ अपने ज्ञानाकार समर्पण की अपेक्षा दर्पण में बिम्ब के समान नहीं हैं। दर्पण में बिम्ब के समान वे पदार्थ कहाँ नहीं हैं ? ***णाणे***- यदि वे पदार्थ केवलज्ञान में नहीं हैं। ***णाणं ण होदि सव्वगयं***- तो ज्ञान सर्वगत नहीं हो सकता। ***सव्वगयं वा णाणं***- यदि आपको व्यवहार से सर्वगतज्ञान स्वीकृत है, ***कहं ण णाणट्ठिया अट्ठा***- तो अपने ज्ञेयाकारों को जानकारी रूप से समर्पित करने की अपेक्षा व्यवहारनय से वे पदार्थ ज्ञान में स्थित कैसे नहीं हैं, वरन् हैं ही।

यहाँ अभिप्राय यह है कि जिस कारण व्यवहार से ज्ञेय सम्बन्धी ज्ञानाकारों को ग्रहण करने की अपेक्षा ज्ञान सर्वगत कहलाता है, उसी कारण व्यवहार से ज्ञेय सम्बन्धी ज्ञानाकार समर्पण की अपेक्षा पदार्थ भी ज्ञानगत कहलाते हैं।

भावार्थ— जैसे दर्पण में दिखने वाला प्रतिबिम्ब व्यवहार से दर्पण में ही स्थित है, उसीप्रकार केवलज्ञान में ज्ञात होने वाला लोकालोक व्यवहार से केवलज्ञान में ही स्थित है। यदि यह न माना जावे तो व्यवहार से भी केवलज्ञान को सर्वगत नहीं कह सकते। उन्तीसवीं गाथा के कथनानुसार क्षेत्र की अपेक्षा परस्पर गमन स्वभाव न होने से, मात्र सभी को जानने की अपेक्षा ज्ञान को सर्वगत कहा गया है ; इसी दृष्टि से ज्ञात होने की अपेक्षा ज्ञेयों को भी ज्ञान में स्थित — ज्ञानगत व्यवहार से कहा गया है।

अतः ज्ञान के सर्वगतत्व के समान व्यवहार से ज्ञेयों की ज्ञान में स्थिति भी स्पष्ट सिद्ध है ॥ ३२ ॥

अथ ज्ञानिनः पदार्थैः सह यद्यपि व्यवहारेण ग्राह्यग्राहकसम्बन्धोऽस्ति तथापि संश्लेषादिसम्बन्धो नास्ति, तेन कारणेन ज्ञेयपदार्थैः सह भिन्नत्वमेवेति प्रतिपादयति–

गेण्हदि णेव ण मुंचदि ण परं परिणमदि केवली भगवं ।(३२)
पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं ॥ ३३ ॥

गेण्हदि णेव ण मुंचदि गृह्णाति नैव मुंचति नैव *ण परं परिणमदि* परं परद्रव्यं ज्ञेयपदार्थं नैव परिणमति । स कः कर्ता । *केवली भगवं* केवली भगवान् सर्वज्ञः । ततो ज्ञायते परद्रव्येण सह भिन्नत्वमेव । तर्हि किं परद्रव्यं न जानाति । *पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं* तथापि व्यवहारनयेन पश्यति समन्ततः सर्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्जानाति च सर्वं निरवशेषम् ।

अथवा द्वितीयव्याख्यानम्–अभ्यन्तरे कामक्रोधादि बहिर्विषये पंचेन्द्रियविषयादिकं बहिर्द्रव्यं न गृह्णाति, स्वकीयानन्तज्ञानादिचतुष्टयं च न मुंचति यतस्ततः कारणादयं जीवः केवलज्ञानोत्पत्तिक्षण एव युगपत्सर्वं जानन्सन् परं विकल्पान्तरं न परिणमति । तथाभूतः सन् किं करोति । स्वतत्त्वभूतकेवलज्ञानज्योतिषा जात्यमणिकल्पो निःकंम्पचैतन्यप्रकाशो भूत्वा स्वात्मानं स्वात्मना स्वात्मनि जानात्यनुभवति ।

अब, यद्यपि व्यवहार से ज्ञानी का पदार्थों के साथ ग्राह्यग्राहक–ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध है, तथापि संश्लेषादि सम्बन्ध नहीं है, अतः ज्ञेय पदार्थों के साथ उसकी भिन्नता ही है ; ऐसा प्रतिपादित करते हैं–

जो अन्य को ना ग्रहण करते छोड़ते ना बदलते ।
वे केवली सब ओर से सब जानते वा देखते ॥ ३३ ॥

गाथार्थ– केवली भगवान पर को ग्रहण नहीं करते, छोड़ते नहीं हैं, परिणमन नहीं करते । वे मात्र पूर्ण रूप से सर्व को, सभी ओर से जानते और देखते हैं ।

टीकार्थ– ***गेण्हदि णेव ण मुंचदि***– ग्रहण नहीं करते, छोड़ते नहीं हैं, ***ण परं परिणमदि***– परद्रव्य रूप ज्ञेय पदार्थों का परिणमन नहीं करते । ग्रहण करने, छोड़ने और परिणमन करने रूप क्रिया को नहीं करने वाले कर्ता रूप वे कौन हैं ? ***केवली भगवं***– केवली भगवान–सर्वज्ञ परद्रव्य को ग्रहण नहीं करते, छोड़ते नहीं हैं, परिणमन नहीं करते । इससे ज्ञात होता है कि परद्रव्य के साथ भिन्नता ही है । तो क्या वे सर्वज्ञ परद्रव्य को जानते नहीं हैं ? ***पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं***– तो भी वे सर्वज्ञ व्यवहारनय से अशेष सर्व को सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप से जानते और देखते हैं ।

अथवा दूसरा व्याख्यान–यतः सर्वज्ञ अन्तरंग में काम-क्रोधादि को एवं बाह्य विषयों में पंचेन्द्रिय विषयादिक बाह्य द्रव्य को ग्रहण नहीं करते, अपने अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय को छोड़ते नहीं हैं, अतः ये जीव केवलज्ञान की उत्पत्ति के समय से ही एक साथ सबको जानते हुये अन्य विकल्प रूप परिणमित नहीं होते । ऐसे होते हुये वे केवली क्या करते हैं ? आत्मतत्त्व से उत्पन्न केवलज्ञान रूपी ज्योति द्वारा स्फटिक मणि के समान अत्यन्तस्थिर चैतन्य-प्रकाश रूप होकर अपने आत्मा को, अपने आत्मा द्वारा, अपने आत्मा में अनुभव करते हैं ।

तेनापि कारणेन परद्रव्यैः सह भिन्नत्वमेवेत्यभिप्रायः ॥ ३३ ॥

एवं ज्ञानं ज्ञेयरूपेण न परिणमतीत्यादिव्याख्यानरूपेण तृतीयस्थले गाथापंचकं गतम् ।

अथ यथा निरावरणसकलव्यक्तिलक्षणेन केवलज्ञानेनात्मपरिज्ञानं भवति तथा सावरणैकदेशव्यक्ति-लक्षणेन केवलज्ञानोत्पत्तिबीजभूतेन स्वसंवेदनज्ञानरूपभावश्रुतेनाप्यात्मपरिज्ञानं भवतीति निश्चिनोति ।

अथवा द्वितीयपातनिका – यथा केवलज्ञानं प्रमाणं भवति तथा केवलज्ञानप्रणीतपदार्थप्रकाशकं श्रुतज्ञानमपि परोक्षप्रमाणं भवतीति पातनिकाद्वयं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति–

इस कारण भी परद्रव्य के साथ ज्ञानी की पृथक्ता ही है– यह अभिप्राय है ।

भावार्थ– केवली भगवान परद्रव्य को ग्रहण नहीं करते, छोड़ते नहीं हैं, उसका परिणमन नहीं करते, मात्र अपने सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से सभी को जानते हैं और देखते हैं ; अतः निश्चय से वे पर से भिन्न हैं ।

केवली भगवान सम्पूर्ण पदार्थों को युगपत् जानते हुये भी काम-क्रोधादि तथा पंचेन्द्रिय-विषयों को ग्रहण नहीं करते हैं, अपने अनन्त चतुष्टयादि गुणों को छोड़ते नहीं हैं तथा किसी भी अन्य विकल्प रूप से परिणमित नहीं होते हैं, मात्र स्वयं से स्वयं का ही अनुभव करते हैं; अतः स्पष्ट है कि व्यवहार से पर के साथ ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध होने पर भी निश्चय से संश्लेषादि सम्बन्धों का अभाव होने से वे पर से भिन्न ही हैं[१] ॥ ३३ ॥

इसप्रकार ज्ञान ज्ञेय रूप से परिणमित नहीं होता, इत्यादि व्याख्यान रूप तीसरे स्थल में पाँच गाथायें पूर्ण हुईं ।

(अब, निश्चय-व्यवहार केवली के प्रतिपादन की मुख्यता वाला चार गाथाओं में निबद्ध चौथा स्थल प्रारम्भ होता है ।)

अब, जैसे निरावरण, परिपूर्ण प्रगट स्वरूप केवलज्ञान से आत्मा का परिज्ञान होता है; उसीप्रकार सावरण, अल्पप्रगटस्वरूप केवलज्ञान की उत्पत्ति के बीजभूत, स्वसंवेदन ज्ञान रूप भाव-श्रुतज्ञान से भी आत्मा का परिज्ञान होता है– यह निश्चित करते हैं ।

अथवा द्वितीय पातनिका– जैसा केवलज्ञान प्रमाण है, उसीप्रकार केवलज्ञान द्वारा दर्शाये गये पदार्थों को प्रकाशित करने वाला श्रुतज्ञान भी परोक्ष प्रमाण है । इसप्रकार दोनों पातनिकाओं को मन में धारण कर इस गाथा का प्रतिपादन करते हैं–

१- पर कर्तृत्व निषेध प्रकरण में 'आचार्य कुन्दकुन्द' ने समयसार गाथा ७६,७७,७८ व ७९ के द्वारा इसी तथ्य को विशेष रूप से स्पष्ट किया है ।

जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणगं सहावेण।(३३)
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा।। ३४।।

जो यः कर्ता *हि* स्फुटं *सुदेण* निर्विकारस्वसंवित्तिरूपभावश्रुतपरिणामेन *विजाणदि* विजानाति विशेषेण जानाति विषयसुखानन्दविलक्षणनिजशुद्धात्मभावनोत्थपरमानन्दैकलक्षणसुखरसास्वादेनानुभवति। कम्। *अप्पाणं* निजात्मद्रव्यम्। *जाणगं* ज्ञायकं केवलज्ञानस्वरूपम्। केन कृत्वा। *सहावेण* समस्तविभावरहितस्व-स्वभावेन *तं सुयकेवलिं* तं महायोगीन्द्रं श्रुतकेवलिनं *भणंति* कथयन्ति। के कर्तारः। *इसिणो* ऋषयः। किंविशिष्टाः। *लोयप्पदीवयरा* लोकप्रदीपकरा लोकप्रकाशका इति।

अतो विस्तरः– युगपत्परिणतसमस्तचैतन्यशालिना केवलज्ञानेन अनाद्यनन्तनिष्कारणान्यद्रव्यासाधारण-स्वसंवेद्यमानपरमचैतन्यसामान्यलक्षणस्य परद्रव्यरहितत्वेन केवलस्यात्मन आत्मनि स्वानुभवनाद्यथा भगवान् केवली भवति, तथायं गणधरदेवादिनिश्चयरत्नत्रयाराधकजनोऽपि पूर्वोक्तलक्षणस्यात्मनो भावश्रुतज्ञानेन स्वसंवेदनान्निश्चयश्रुतकेवली भवतीति।

जो जानते श्रुतज्ञान से ज्ञायक स्वभावी स्वयं को।
हैं लोकज्योतिकर ऋषी श्रुतकेवली कहें उन्हीं को।। ३४।।

गाथार्थ– वास्तव में जो श्रुतज्ञान द्वारा ज्ञायक स्वभावी आत्मा को जानते हैं, उन्हें लोक के प्रकाशक ऋषीगण श्रुतकेवली कहते हैं।

टीकार्थ– ***जो***-जो कर्ता, ***हि***- स्पष्ट रूप से, ***सुदेण***– निर्विकार स्वसंवेदन रूप भाव-श्रुत परिणाम द्वारा ***विजाणदि***– विशेष रूप से जानता है—विषय सुख सम्बन्धी आनन्द से विलक्षण निज शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न परमानन्द एक स्वरूपी सुखरस के आस्वाद रूप अनुभव करते हैं। भाव-श्रुत परिणाम द्वारा किसका अनुभव करता है ? ***अप्पाणं***– निजात्मद्रव्य का भाव-श्रुत ज्ञान द्वारा अनुभव करता है। ऐसे निजात्मद्रव्य का अनुभव कैसे करता है ? ***सहावेण***– सम्पूर्ण विभाव रहित अपने स्वभाव से अनुभव करता है। ***तं सुयकेवलिं***– उन आत्मानुभवी महायोगीन्द्र को श्रुतकेवली ***भणंति***-कहते हैं। उन्हें श्रुतकेवली कर्ता रूप कौन कहते हैं? ***इसिणो***- ऋषी उन्हें श्रुतकेवली कहते हैं। वे ऋषी किस विशेषता वाले हैं ? ***लोयप्पदीवयरा***– वे लोक को प्रकाशित करने वाले हैं।

यहाँ विस्तार करते हैं— परद्रव्य से रहितपने रूप एक साथ परिपूर्ण सम्पूर्ण चैतन्य की समृद्धि से सम्पन्न केवलज्ञान द्वारा जैसे, अनाद्यनन्त, अहेतुक, अन्य द्रव्यों से असाधारण स्वानुभूतिगम्य परम चैतन्य सामान्य स्वरूप वाले मात्र आत्मा का आत्मा में स्वानुभव करने से भगवान केवली हैं, उसीप्रकार ये गणधरदेव आदि निश्चय रत्नत्रय के आराधक मनुष्य भी पूर्वोक्त लक्षण वाले आत्मा का भावश्रुतज्ञान द्वारा स्वसंवेदन करने से निश्चय श्रुतकेवली हैं।

किंच-यथा कोऽपि देवदत्तः आदित्योदयेन दिवसे पश्यति, रात्रौ किमपि प्रदीपेनेति। तथादित्योदयस्थानीयेन केवलज्ञानेन दिवसस्थानीयमोक्षपर्याये भगवानात्मानं पश्यति, संसारी विवेकिजनः पुनर्निशास्थानीयसंसारपर्याये प्रदीपस्थानीयेन रागादिविकल्परहितपरमसमाधिना निजात्मानं पश्यतीति।

अयमत्राभिप्रायः-आत्मा परोक्षः, कथं ध्यानं क्रियते इति सन्देहं कृत्वा परमात्मभावना न त्याज्येति ॥ ३४ ॥

विशेष यह है कि जैसे कोई देवदत्त दिन में सूर्य का उदय होने से देखता है, रात्रि में दीपक से कुछ देखता है ; उसीप्रकार केवली भगवान सूर्य के उदय के समान केवलज्ञान से दिन के समान मोक्ष पर्याय में भगवान आत्मा को देखते हैं, तथा संसारी ज्ञानी जन रात्रि के समान संसार पर्याय में दीपक के समान रागादि विकल्पों से रहित परम समाधि से निजात्मा को देखते हैं ।

यहाँ अभिप्राय यह है कि आत्मा परोक्ष है, कैसे ध्यान कर सकते हैं, ऐसे संदेह को धारण कर परमात्म-भावना नहीं छोड़ना चाहिये ।

भावार्थ- जिसप्रकार केवली भगवान परम चैतन्य स्वरूप निज शुद्धात्मा का केवलज्ञान द्वारा अनुभव करते हैं, उसीप्रकार छद्मस्थ भी वैसे ही निज आत्मा का श्रुतज्ञान द्वारा अनुभव करते हैं ; इसलिये केवली भगवान उन्हें श्रुतकेवली कहते हैं ।

इसप्रकार दोनों दशाओं में होने वाले आत्मानुभव में मात्र साधन की अपेक्षा अन्तर है, अनुभव के विषय और अनुभव में अन्तर नहीं है ; अतः साधन को गौण करके अतीन्द्रिय आनन्दमय आत्मानुभव सम्पन्न निज परमात्म-भावना ही कर्तव्य है ।

विशेषार्थ- १- इस गाथा की टीका में केवली तथा श्रुतकेवली दोनों को ही मात्र निजात्मा का अनुभव करने वाला बताते हुये आचार्य अमृतचन्द्र निष्कर्ष रूप में लिखते हैं-

"विशेष आकांक्षा सम्बन्धी क्षोभ से बस हो (हम तो) स्वरूप निश्चल ही रहते हैं [१] ।"

२- प्रवचनसार, गाथा ३४, तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि "यदि जानकारी के माध्यमको गौण किया जाय तो आत्मानुभव की दशा में केवली और श्रुतकेवली समान ही हैं, अतः ज्ञान के श्रुत उपाधि कृत भेद नहीं है ।"

३- आचार्य कुन्दकुन्द ने 'समयसार' नौवीं, दसवीं गाथा में व्यवहार से निश्चय की प्रतिपादकता सिद्ध करने के लिये निश्चय-व्यवहार श्रुतकेवली-स्वरूप को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है ।

४- समयसार, गाथा १४३ की आत्मख्याति टीका में भी आचार्य अमृतचन्द्र ने उपर्युक्त तथ्य को स्पष्ट किया है ॥ ३४ ॥

१- प्रवचनसार, गाथा ३३, तत्त्वप्रदीपिका टीका ।

अथ शब्दरूपं द्रव्यश्रुतं व्यवहारेण ज्ञानं निश्चयेनार्थपरिच्छित्तिरूपं भावश्रुतमेव ज्ञानमिति कथयति।

अथवात्मभावनारतो निश्चयश्रुतकेवली भवतीति पूर्वसूत्रे भणितम्। अयं तु व्यवहारश्रुतकेवलीति कथ्यते-

सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं।(३४)

तं जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया॥ ३५ ॥

सुत्तं द्रव्यश्रुतम्। कथम्भूतम्। *जिणोवदिट्ठं* जिनोपदिष्टम्। कैः कृत्वा। *पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं* पुद्गलद्रव्यात्मकैर्दिव्यध्वनिवचनैः। *तं जाणणा हि णाणं* तेन पूर्वोक्तशब्दश्रुताधारेण ज्ञप्तिरर्थपरिच्छित्तिर्ज्ञानं भण्यते *हि* स्फुटम्। *सुत्तस्स य जाणणा भणिया* पूर्वोक्तद्रव्यश्रुतस्यापि व्यवहारेण ज्ञानव्यपदेशो भवति न तु निश्चयेनेति।

तथा हि- यथा निश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावो जीवः पश्चाद्व्यवहारेण नरनारकादिरूपोऽपि जीवो भण्यते ; तथा निश्चयेनाखण्डैकप्रतिभासरूपं समस्तवस्तुप्रकाशकं ज्ञानं भण्यते, पश्चाद्व्यवहारेण मेघपटला-

---

अब, व्यवहार से शब्दरूप द्रव्यश्रुत ज्ञान है, तथा निश्चय से पदार्थों की जानकारीरूप भावश्रुत ही ज्ञान है, ऐसा कहते हैं।

अथवा, आत्मभावना में लीन निश्चय श्रुतकेवली हैं, ऐसा पिछली गाथा (गाथा ३४) में कहा था। इस गाथा में ये व्यवहार-श्रुतकेवली हैं, ऐसा कहते हैं-

है सूत्र जिन उपदिष्ट पुद्गल द्रव्यमय जिन वचन से।

जो जानकारी ज्ञान है वा सूत्र-ज्ञप्ति कहें उसे॥ ३५ ॥

गाथार्थ- वास्तव में जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे हुये पुद्गल द्रव्यात्मक वचनमय सूत्रों की जानकारी ज्ञान है, और उस ज्ञान को सूत्र की जानकारी कहा गया है।

टीकार्थ- *सुत्तं*- द्रव्यश्रुत। वह द्रव्यश्रुत कैसा है ? *जिणोवदिट्ठं*- जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा गया है। वह द्रव्यश्रुत जिनेन्द्र भगवान ने कैसे कहा है ? *पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं*- पुद्गल द्रव्यात्मक दिव्यध्वनि रूप वचनों से वह द्रव्यश्रुत जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। *तं जाणणा हिणाणं*- उस पूर्वोक्त शब्दश्रुत के आधार से ज्ञप्ति-पदार्थों की जानकारी ज्ञान कहलाती है, *हि*- वास्तव में। *सुत्तस्स य जाणणा भणिया*- इसलिये व्यवहार से पूर्वोक्त द्रव्यश्रुत की भी ज्ञान संज्ञा है, परन्तु निश्चय से नहीं।

वह इसप्रकार- जैसे निश्चय से शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव सम्पन्न जीव है, पश्चात् व्यवहार से नर-नारकादि रूप भी जीव कहा जाता है, उसीप्रकार निश्चय से समस्त वस्तुओं को जानने वाला अखण्ड एक प्रतिभासरूप ज्ञान कहा गया है, पश्चात् व्यवहार से मेघसमूह से ढ़के हुये सूर्य की विशिष्ट अवस्था के समान

वृतादित्यस्यावस्थाविशेषवत्कर्मपटलावृताखण्डैकज्ञानरूपजीवस्य मतिज्ञानश्रुतज्ञानादिव्यप देशो भवतीति भावार्थः ॥ ३५ ॥

अथ भिन्नज्ञानेनात्मा ज्ञानी न भवतीत्युपदिशति–

जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा ।(३५)

णाणं परिणमदि सयं अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे ॥ ३६ ॥

जो जाणदि सो णाणं यः कर्ता जानाति स ज्ञानं भवतीति । तथा हि– यथा संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि सति पश्चादभेदनयेन दहनक्रियासमर्थोष्णगुणेन परिणतोऽग्निरप्युष्णो भण्यते, तथार्थक्रियापरिच्छित्तिसमर्थ-ज्ञानगुणेन परिणत आत्मापि ज्ञानं भण्यते ।

तथा चोक्तम्– *'जानातीति ज्ञानमात्मा'* । *ण हवदि णाणेण जाणगो आदा* सर्वथैव भिन्नज्ञानेनात्मा ज्ञायको न भवतीति । अथमतम्–यथा भिन्नदात्रेणलावको भवति देवदत्तस्तथा भिन्नज्ञानेन ज्ञायको भवतु को दोष इति ।

कर्मसमूह से ढके हुये अखण्ड एक ज्ञानरूप जीव के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि नाम होते हैं—यह भाव है ।

भावार्थ– कर्मों के क्षयोपशम की दशा में जीव का ज्ञान मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि नामों से कहा जाता है । इस मति, श्रुतज्ञान रूप दशा में जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदिष्ट पुद्‌गल द्रव्यात्मक दिव्यध्वनि रूप वचनमय द्रव्यश्रुत के माध्यम से पदार्थों की जो जानकारी होती है, वह जानकारी निश्चय से ज्ञान है तथा वचनमय द्रव्यश्रुत व्यवहार से ज्ञान कहलाता है ॥ ३५ ॥

अब, भिन्न ज्ञान से आत्मा ज्ञानी नहीं होता, ऐसा उपदेश देते हैं—

जो जानता वह ज्ञान, ज्ञानी ज्ञान से ज्ञायक नहीं ।

है स्वयं परिणत ज्ञानमय हैं ज्ञानगत सब अर्थ भी ॥ ३६ ॥

गाथार्थ– जो जानता है वह ज्ञान है, आत्मा (भिन्न) ज्ञान से ज्ञायक नहीं है, अपितु स्वयं ज्ञान रूप परिणमित है, तथा सर्व पदार्थ ज्ञान में स्थित हैं ।

टीकार्थ– ***जो जाणदि सो णाणं***– कर्तारूप (जानने की क्रिया करनेवाला) जो जानता है वह ज्ञान है । वह इसप्रकार— जैसे नाम, लक्षण, प्रयोजन आदि के भेद होने पर भी अभेदनय से जलाने की क्रिया करने में समर्थ उष्णगुण से परिणत अग्नि भी उष्ण कहलाती है, उसीप्रकार पदार्थों को जानने सम्बन्धी क्रिया करने में समर्थ ज्ञान गुण से परिणत आत्मा भी ज्ञान कहलाता है ।

वैसे ही कहा है— ***"जानातीति ज्ञानमात्मा***– जो जानता है वह ज्ञान-आत्मा है ।" ***ण हवदि णाणेण जाणगो आदा***– आत्मा सर्वथा ही भिन्न ज्ञान से ज्ञानी नहीं है । यहाँ कोई कहता है— जैसे देवदत्त स्वयं से भिन्न दात्र (हंसिया) से लावक (काटने-छेदने वाला) है, उसीप्रकार आत्मा भी भिन्न ज्ञान से ज्ञायक हो, क्या दोष

नैवम् । छेदनक्रियाविषये दात्रं बहिरंगोपकरणं तद्भिन्नं भवतु, अभ्यन्तरोपकरणं तु देवदत्तस्य छेदनक्रियाविषये शक्तिविशेषस्तच्चाभिन्नमेव भवति, तथार्थपरिच्छित्तिविषये ज्ञानमेवाभ्यन्तरोपकरणं तथाभिन्नमेव भवति, उपाध्यायप्रकाशादिबहिरंगोपकरणं तद्भिन्नमपि भवतु दोषो नास्ति। यदि च भिन्नज्ञानेन ज्ञानी भवति तर्हि परकीयज्ञानेन सर्वेऽपि कुम्भस्तम्भादिजड़पदार्था ज्ञानिनो भवन्तु, न च तथा।

णाणं परिणमदि सयं यत एव भिन्नज्ञानेन ज्ञानी न भवति तत एव घटोत्पत्तौ मृत्पिण्ड इव स्वयमेवोपादानरूपेणात्मा ज्ञानं परिणमति। *अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे* व्यवहारेण ज्ञेयपदार्था आदर्शे बिम्बमिव परिच्छित्त्याकारेण ज्ञाने तिष्ठन्तीत्यभिप्रायः ॥ ३६ ॥

है ? आचार्य कहते हैं– ऐसा नहीं है । छेदन क्रिया के विषय में बहिरंग साधन रूप दात्र देवदत्त से भिन्न (भले ही) हो, परन्तु छेदन क्रिया के विषय में अंतरंग साधन रूप देवदत्त की शक्ति विशेष उससे अभिन्न ही है ; उसीप्रकार पदार्थों की जानकारी के विषय में अंतरंग साधनरूप ज्ञान आत्मा से अभिन्न ही है, बहिरंग साधन-रूप उपाध्याय-अध्यापक, प्रकाश आदि आत्मा से भिन्न भी हों, दोष नहीं है । और यदि भिन्न ज्ञान से आत्मा ज्ञानी है तो दूसरे के ज्ञान से घड़े, खम्भे आदि सभी जड़ पदार्थ भी ज्ञानी हो जावें, परन्तु वे ज्ञानी नहीं होते ।

णाणं परिणमदि सयं– क्योंकि भिन्न ज्ञान से आत्मा ज्ञानी नहीं है, इसलिये घट की उत्पत्ति में मिट्टी के पिण्ड समान उपादान रूप से स्वयं जीव ही ज्ञान रूप परिणमन करता है । ***अट्ठा णाणट्ठियो सव्वे***– दर्पण में झलकने वाले बिम्ब के समान व्यवहार से ज्ञेय पदार्थ जानकारी रूप से ज्ञान में स्थित हैं– यह अभिप्राय है ।

भावार्थ– जैसे दात्र (हंसिया) आदि बाह्य साधन छेदक (काटने-छेदने वाले) व्यक्ति से पृथक् होने पर भी छेदन क्रिया में समर्थ अंतरंग साधनरूप शक्ति विशेष छेदक व्यक्ति से अपृथक्-अभिन्न ही होती है ; उसी-प्रकार अध्यापक, प्रकाश आदि बाह्य साधन ज्ञायक आत्मा से पृथक् होने पर भी जानने की क्रिया में समर्थ अंतरंग साधन रूप ज्ञान ज्ञायक आत्मा से अपृथक्-अभिन्न ही होता है । स्वयं घड़ेरूप परिणमित मिट्टी के समान ज्ञायक आत्मा स्वयं ज्ञान रूप से परिणमित होता हुआ ज्ञान से अभिन्न ही है, यदि ऐसा न मानकर सर्वथा भिन्न ज्ञान से आत्मा को ज्ञानी माना जावे तो भिन्न ज्ञान से आत्मा के ज्ञानी होने के समान घड़े, खम्भे आदि जड़ पदार्थ भी ज्ञानी क्यों नहीं हो जायेंगे ? अवश्य हो जाना चाहिये, परन्तु वे ज्ञानी नहीं होते, अतः स्पष्ट है कि आत्मा भिन्न ज्ञान से ज्ञानी नहीं है, अपितु स्वयं ज्ञान रूप परिणमता हुआ ज्ञानी है ।

जैसे नाम, लक्षण, प्रयोजन आदि भेद होने पर भी अभेदनय से जलाने में समर्थ उष्ण गुण से परिणत अग्नि उष्ण कहलाती है ; उसीप्रकार नाम, लक्षण, प्रयोजन आदि भेद होने पर भी अभेदनय से जानने में समर्थ ज्ञान गुण से परिणत आत्मा ज्ञान कहलाता है ।

जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बित पदार्थ दर्पण में स्थित कहे जाते हैं ; उसीप्रकार ज्ञेयरूप सभी पदार्थ व्यवहारनय से जानकारीरूप से ज्ञान में स्थित कहे जाते हैं ।

अथात्मा ज्ञानं भवति शेषं तु ज्ञेयमित्यावेदयति–

तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिहा समक्खादं ।(३६)

दव्वं ति पुणो आदा परं च परिणामसंबद्धं ।। ३७ ।।

तम्हा णाणं जीवो यस्मादात्मैवोपादानरूपेण ज्ञानं परिणमति तथैव पदार्थान् परिच्छिनत्ति, इति भणितं पूर्वसूत्रे, तस्मादात्मैव ज्ञानं । *णेयं दव्वं* तस्य ज्ञानरूपस्यात्मनो ज्ञेयं भवति । किम् । द्रव्यम् । *तिहा समक्खादं* तच्च द्रव्यं कालत्रयपर्यायपरिणतिरूपेण द्रव्यगुणपर्यायरूपेण वा तथैवोत्पादव्ययध्रौव्यरूपेण च त्रिधा समाख्यातम् । *दव्वं ति पुणो आदा परं च* तच्च ज्ञेयभूतं द्रव्यमात्मा भवति परं च । कस्मात् । यतो ज्ञानं स्वं

इसप्रकार यह फलित हुआ कि आत्मा सर्वथा भिन्न ज्ञान से ज्ञानी नहीं है, अपितु ज्ञान रूप परिणमता हुआ स्वयं ज्ञानी है, तथा व्यवहार से सभी पदार्थ ज्ञानाकार रूप से ज्ञान में स्थित हैं ।

विशेषार्थ– १- आत्मा और ज्ञान की अभिन्नता सिद्ध करते हुये निष्कर्ष रूप में 'आचार्य अमृतचन्द्र' लिखते हैं–

"—ज्ञाता और ज्ञान के विभाग सम्बन्धी क्लेशमयी कल्पना से क्या प्रयोजन ? अर्थात् ज्ञाता और ज्ञान दोनों अभिन्न हैं ।[१]"

२- लोक में प्रचलित एक मान्यता (वैशेषिक मान्यता) द्रव्य और गुण को सर्वथा भिन्न-भिन्न स्वीकारती हुई बाद में समवाय सम्बन्ध के माध्यम से गुण को द्रव्य के साथ सम्बन्धित बताकर द्रव्य को अमुक-अमुक गुण वाला मानती है । प्रस्तुत गाथा एवं टीका के माध्यम से द्रव्य -गुण- पर्याय सम्बन्धी भेदाभेद वस्तु-व्यवस्था के सम्यक् निरूपण से उक्त विपरीत मान्यता निराकृत हुई है ॥ ३६ ॥

अब, आत्मा ज्ञान है और शेष ज्ञेय हैं, ऐसा निरूपण करते हैं–

है जीव इससे ज्ञानमय है ज्ञेय द्रव्य त्रिधा कथित ।

परिणाम सद्भावी सभी हैं आत्मा वा अन्य सत् ।। ३७ ।।

गाथार्थ– इसलिये जीव ज्ञान है, तीन प्रकार से कहे गये द्रव्य ज्ञेय हैं और फिर परिणमन स्वभावी वे द्रव्य आत्मा और पर हैं ।

टीकार्थ– *तम्हा णाणं जीवो*– क्योंकि आत्मा ही उपादान रूप से ज्ञान रूप परिणमित है, उसी प्रकार पदार्थों को जानता है, ऐसा पहले गाथा (३६) में कहा था, अत: आत्मा ही ज्ञान है । आत्मा का ज्ञेय कौन है ? द्रव्य आत्मा का ज्ञेय है । *तिहा समक्खादं*– और वह द्रव्य तीन कालवर्ती पर्यायों की परिणति रूप से अथवा द्रव्य-गुण-पर्याय रूप से और उसीप्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप से तीन प्रकार का कहा गया है । *दव्व ति पुणो आदा परं च*– और वह ज्ञेयभूत द्रव्य आत्मा और पर है । ज्ञेयभूत द्रव्य आत्मा और पर कैसे है ?

१.प्रवचनसार,गाथा,३५,तत्त्वप्रदीपिका टीका अन्तिम पंक्ति ।

जानाति परं चेति प्रदीपवत्। तच्च स्वपरद्रव्यं कथंभूतम्। *परिणामसंबद्धं* कथंचित्परिणामीत्यर्थः। नैयायिकमतानुसारी कश्चिदाह– ज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यं प्रमेयत्वात् घटादिवत्। परिहारमाह–प्रदीपेन व्यभिचारः, प्रदीपस्तावत्प्रमेयः परिच्छेद्यो ज्ञेयो भवति न च प्रदीपान्तरेण प्रकाश्यते, तथा ज्ञानमपि स्वयमेवात्मानं प्रकाशयति न च ज्ञानान्तरेण प्रकाश्यते। यदि पुनर्ज्ञानान्तरेण प्रकाश्यते तर्हि गगनावलम्बिनी महती दुर्निवारानवस्था प्राप्नोतीति सूत्रार्थः ॥ ३७ ॥

एवं निश्चयश्रुतकेवलिव्यवहारश्रुतकेवलिकथनमुख्यत्वेन भिन्नज्ञाननिराकरणेन ज्ञानज्ञेयस्वरूपकथनेन च चतुर्थस्थले गाथाचतुष्टयं गतम्।

दीपक के समान ज्ञान स्व और पर को जानता है; अतः ज्ञेयभूत द्रव्य स्व और पर हैं। और वे स्व-पर द्रव्य कैसे हैं ? ***परिणामसंबद्धं***– वे स्व-पर द्रव्य कथंचित् परिणामी हैं– यह अर्थ है।

यहाँ नैयायिक मत का अनुसरण करने वाला कोई कहता है– घट आदि के समान प्रमेयता होने से ज्ञान ज्ञानान्तर से (अन्य ज्ञान से) जानने योग्य है ? आचार्य उसका निराकरण करते हैं– आपका यह कथन दीपक के साथ दोष को प्राप्त है। जिसप्रकार दीपक प्रमेय-परिच्छेद्यज्ञेय– जानने योग्य होने पर भी दूसरे दीपक से प्रकाशित नहीं होता (अपितु स्वयं प्रकाशित है); उसीप्रकार ज्ञान भी स्वयं ही स्वयं को प्रकाशित करता है, दूसरे ज्ञान से प्रकाशित नहीं होता। यदि वह ज्ञान स्वयं को प्रकाशित न करता हुआ दूसरे ज्ञान से प्रकाशित हो तो आकाश व्यापी महान दुर्निवार अनवस्था प्राप्त होती है– यह गाथा का अर्थ है।

भावार्थ– उपादान रूप से स्वयं ही ज्ञान रूप परिणमित होने तथा पदार्थों को जानने से आत्मा स्वयं ही ज्ञान है ; परिणाम-स्वभावी स्व और पर द्रव्य ज्ञेय हैं। वे द्रव्य तीनकालवर्ती पर्याय सम्बन्धी परिणति रूप से, अथवा द्रव्य-गुण-पर्याय रूप से, अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप से तीन स्वभाव वाले कहे गये हैं। उनमें से आत्मा स्वपर प्रकाशक स्वभावी होने से स्वयं ज्ञेय तथा ज्ञान दोनों है, तथा अन्य द्रव्य मात्र ज्ञेय हैं।

दीपक की तरह स्व-पर प्रकाशक होने से आत्मा को स्वयं को जानने के लिये नैयायिकों की मान्यता की भाँति अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती—वरन् स्वयं स्व-पर को जानने में समर्थ है।

विशेषार्थ– स्वज्ञायकता के सन्दर्भ में अत्यन्त पुरुषार्थ-प्रेरक 'आचार्य माणिक्यनन्दी' के विचार भी द्रष्टव्य हैं–

स्वसन्मुखता से होने वाली जानकारी स्वव्यवसाय है। पदार्थों की सन्मुखता से जैसे पदार्थों का ज्ञान होता है, उसीप्रकार आत्म-सन्मुखता से आत्मा का ज्ञान होता है। पर पदार्थों को जानते समय जैसे– "मैं स्वयं से घड़े को जानता हूँ; इसमें जिसप्रकार घड़े की प्रतीति होती है; उसीप्रकार कर्ता, करण और क्रिया की भी प्रतीति होती है। इसप्रकार दीपक के समान आत्मा के स्वपर ज्ञायकता प्रसिद्ध है।" अन्त में व्यंजना पद्धति से आचार्य कहते हैं कि "ऐसा कौन होगा जो ज्ञान से ज्ञात पदार्थ को प्रत्यक्ष स्वीकार करता हुआ भी स्वज्ञायकता को स्वीकार नहीं करेगा ? अर्थात् विचारक व परीक्षक तो आत्मा को स्व-पर ज्ञायक स्वभावी स्वीकार करेगा ही, इससे भिन्न ही स्वीकार नहीं करेगा।"[१] ॥ ३७ ॥

इसप्रकार निश्चयश्रुतकेवली-व्यवहारश्रुतकेवली कथन की मुख्यता से भिन्न ज्ञान निराकरण और ज्ञान-ज्ञेय स्वरूप कथन से चौथे स्थल में चार गाथायें पूर्ण हुईं।

१- परीक्षामुख, प्रथम परिच्छेद, क्रमशः सूत्र ६, ७, ८, ९, ११ व १२।

अथातीतानागतपर्याया वर्तमानज्ञाने सांप्रता इव दृश्यन्त इति निरूपयति–

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं ।(३७)

वट्टन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ॥ ३८ ॥

सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया सर्वे सद्भूता असद्भूता अपि पर्यायाः ये हि स्फुटं *वट्टंते ते* ते पूर्वोक्ताः पर्याया वर्तन्ते प्रतिभासन्ते प्रतिस्फुरन्ति । क्व । *णाणे* केवलज्ञाने । कथंभूता इव *तक्कालिगेव* तात्कालिकाइव वर्तमाना इव। कासां सम्बन्धिनः । *तासिं दव्वजादीणं* तासां प्रसिद्धानां शुद्धजीवद्रव्यादिद्रव्यजातीनामिति । व्यवहितसम्बन्धः । कस्मात् । *विसेसदो* स्वकीयस्वकीयप्रदेशकालाकारविशेषैः संकरव्यतिकरपरिहारेणेत्यर्थः ।

किंच– यथा छद्मस्थपुरुषस्यातीतानागतपर्याया मनसि चिन्तयतः प्रतिस्फुरन्ति, यथा च चित्रभित्तौ बाहुबलिभरतादिव्यतिक्रान्तरूपाणि श्रेणिकतीर्थकरादिभाविरूपाणि च वर्तमानानीव प्रत्यक्षेण दृश्यन्ते तथा चित्रभित्तिस्थानीयकेवलज्ञाने भूतभाविनश्च पर्याया युगपत्प्रत्यक्षेण दृश्यन्ते, नास्ति विरोधः । यथायं केवली

(अब, वर्तमानज्ञान तीनकाल को जानता है, इस तथ्य का प्रतिपादक पाँच गाथाओं में निबद्ध पाँचवां स्थल प्रारम्भ होता है)

अब, भूतभावि पर्यायें वर्तमानज्ञान में विद्यमान—वर्तमान की भाँति दिखाई देती हैं; ऐसा निरूपण करते हैं—

सद्भूत नासद्भूत भी तत्काल पर्ययवत् सभी ।

सविशेष वर्ते ज्ञान में पर्याय द्रव्यों की सभी ॥ ३८ ॥

गाथार्थ– उन जीवादि द्रव्य-समूहों की सभी विद्यमान-अविद्यमान पर्यायें वास्तव में वर्तमान पर्यायों की भाँति विशिष्ट रूप से उस ज्ञान में वर्तती हैं ।

टीकार्थ– *सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया*– जो सभी विद्यमान और अविद्यमान पर्यायें हैं, ***हि***– वास्तव में, ***वट्टंते ते***- वे पूर्वोक्त सभी पर्यायें वर्तती हैं, प्रतिभासित होती हैं, ज्ञात होती हैं । विद्यमान-अविद्यमान वे सभी पर्यायें कहाँ वर्तती हैं ? ***णाणे***– वे सभी पर्यायें केवलज्ञान में वर्तती हैं । वे पर्यायें किसके समान केवलज्ञान में वर्तती हैं ? ***तक्कालिगेव***– वे वर्तमान पर्यायों के समान केवलज्ञान में वर्तती हैं । वे पर्यायें किनसे सम्बन्धित–किनकी हैं ? ***तासिं दव्वजादीणं***– उन प्रसिद्ध शुद्ध जीवद्रव्य आदि द्रव्य-जातियों—समूहों की वे पर्यायें हैं । केवलज्ञान में एक साथ वर्तते हुये भी वे सभी पर्यायें परस्पर सम्बन्ध रहित हैं । युगपत् वर्तती हुई वे पर्यायें सम्बन्ध रहित कैसे हैं ? ***विसेसदो***– अपने-अपने प्रदेश, काल, आकार रूप विशेषों के द्वारा संकर[१], व्यतिकर[२] दोषों के निराकरण रूप रहने के कारण वे सर्व पर्यायें परस्पर सम्बन्ध रहित हैं— यह अर्थ है ।

विशेष यह है कि जैसे मन में विचार करते हुये छद्मस्थ पुरुष के भूत-भावि पर्यायें स्फुरायमान होती हैं, और जैसे चित्र-दीवाल पर (दीवाल पर बने हुये चित्रों में) बाहुबली-भरत आदि भूतकालीन रूप और श्रेणिक-तीर्थंकर आदि भावि रूप वर्तमान के समान प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं; उसीप्रकार चित्र दीवाल के स्थानीय (समान) केवलज्ञान में भूत-भावि पर्यायें एक साथ प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं, एक साथ दिखाई देने में कुछ भी विरोध नहीं है ।

१- सर्वेषां युगपत्प्राप्ति संकरः — सभी की एक साथ प्राप्ति संकर है ॥ सप्तभंगी तरंगिणी ॥

२- परस्परविषयगमनं व्यतिकरः — परस्पर एक दूसरे के धर्मों को ग्रहण करना व्यतिकर है ॥ वही ॥

भगवान् परद्रव्यपर्यायान् परिच्छित्तिमात्रेणजानाति, न च तन्मयत्वेन, निश्चयेन तु केवलज्ञानादिगुणाधारभूतं स्वकीयसिद्धपर्यायमेव स्वसंवित्त्याकारेण तन्मयो भूत्वा परिच्छिनत्ति जानाति, तथासन्नभव्यजीवेनापि निजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयपर्याय एव सर्वतात्पर्येण ज्ञातव्य इति तात्पर्यम् ॥ ३८ ॥

अथातीतानागतपर्यायाणामसद्भूतसंज्ञा भवतीति प्रतिपादयति-

जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया ।(३८)

ते होंति असब्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा ॥ ३९ ॥

जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया ये नैव संजाता नाद्यापि भवन्ति, भाविन इत्यर्थः । हि स्फुटं ये च खलु नष्टा विनष्टाः पर्यायाः । किं कृत्वा । भूत्वा । *ते होंति असब्भूदा पज्जाया* ते पूर्वोक्ता भूता भाविनश्च पर्याया अविद्यमानत्वादसद्भूता भण्यन्ते । *णाणपच्चक्खा* ते चाविद्यमानत्वादसद्भूता अपि वर्तमानज्ञानविषयत्वाद्व्यवहारेण भूतार्था भण्यन्ते, तथैव ज्ञानप्रत्यक्षाश्चेति ।

जैसे ये केवली भगवान परद्रव्य-पर्यायों को जानकारी मात्र से जानते हैं, तन्मय रूप से नहीं; निश्चय से केवलज्ञानादि गुणों की आधारभूत अपनी सिद्ध-पर्याय को ही केवली-भगवान स्वसंवित्ति आकार से तन्मय होकर जानते हैं; उसीप्रकार आसन्न भव्य-जीव को भी निज शुद्धात्मा के सम्यक्श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप निश्चय रत्नत्रय पर्याय ही सर्व प्रयोजन से जानने योग्य है— यह तात्पर्य है ।

विशेषार्थ– यहाँ टीका में आसन्न भव्य-जीवों को निश्चय रत्नत्रय रूप पर्याय ही सर्व प्रयोजन से जानने की प्रेरणा दी गई । एतदर्थ समयसार गाथा १६ की टीका में प्रदत्त आचार्य अमृतचन्द्र एवं आचार्य जयसेन के बिचार मूलतः पठनीय हैं ॥ ३८ ॥

अब, भूत-भावि पर्यायों की असद्भूत—अविद्यमान संज्ञा है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं–

उत्पन्न ना जो आज तक उत्पन्न होकर नष्ट जो ।

वे हैं नहीं सद्भूत पर प्रत्यक्ष केवलज्ञानी को ॥ ३९ ॥

गाथार्थ– वास्तव में जो पर्यायें उत्पन्न नहीं हुई हैं तथा जो उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं, वे सभी अविद्यमान पर्यायें भी ज्ञान-प्रत्यक्ष होती हैं ।

टीकार्थ– ***जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया–*** जो आज तक उत्पन्न नहीं हुई हैं अर्थात् भविष्य कालीन पर्यायें और वास्तव में नष्ट हुई पर्यायें । वे पर्यायें क्या करके नष्ट हुई हैं ? उत्पन्न होकर वे पर्यायें नष्ट हुई हैं । ***ते होंति असब्भूदा पज्जाया–*** वे पूर्वोक्त भूत-भावि पर्यायें विद्यमान नहीं होने से असद्भूत कही जाती हैं । ***णाणपच्चक्खा–*** विद्यमान नहीं होने से वे असद्भूत हैं तो भी वर्तमान ज्ञान की विषय होने के कारण व्यवहार से भूतार्थ कही जाती हैं, और उसीप्रकार वे ज्ञान की प्रत्यक्ष भी होती हैं ।

यथायं भगवान्निश्चयेन परमानन्दैकलक्षणसुखस्वभावं मोक्षपर्यायमेव तन्मयत्वेन परिच्छिनत्ति, परद्रव्यपर्यायं तु व्यवहारेणेति ; तथा भावितात्मना पुरुषेण रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वसंवेदनपर्याय एव तात्पर्येण ज्ञातव्यः, बहिर्द्रव्यपर्यायाश्च गौणवृत्त्येति भावार्थः ॥ ३९ ॥

अथासद्भूतपर्यायाणां वर्तमानज्ञानप्रत्यक्षत्वं दृढयति–

जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलयिदं च णाणस्स ।(३९)

ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति ॥ ४० ॥

जैसे ये भगवान निश्चय से परमानन्द एक लक्षण सुख स्वभावमय मोक्ष-पर्याय को ही तन्मयतापूर्वक जानते हैं, पर द्रव्य-पर्यायों को तो व्यवहार से जानते हैं; उसीप्रकार आत्मा की भावना करने वाले पुरुष के द्वारा रागादि विकल्पों की उपाधि रहित स्वसंवेदन पर्याय ही प्रधानता से जानने योग्य है, बाह्य द्रव्य और पर्यायें तो गौण रूप से हैं— यह भाव है ।

भावार्थ– भूत और भविष्य कालीन पर्यायें क्रमशः उत्पन्न होकर नष्ट हो जाने से तथा उत्पन्न नहीं होने से यद्यपि असद्भूत हैं, तथापि वर्तमान ज्ञान की विषय होने से भूतार्थ हैं, सद्भूत हैं ; अतः वर्तमानवत् ज्ञान की प्रत्यक्ष होती हैं ।

तात्पर्य यह है कि जैसे त्रिकालवर्ती पर्यायों की नियमितता को जानते हुये केवली भगवान स्वरूप-लीन हैं, उसीप्रकार साधक जीव को भी निर्विकल्प-स्वरूप-लीनता ही कर्तव्य है ।

विशेषार्थ– १- भूत-भावि अविद्यमान पर्यायों को विद्यमान बताते हुये 'आचार्य अमृतचन्द्र' पर्यायों के अकम्प स्वरूप को निम्न उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—

"—पाषाणस्तम्भ में उत्कीर्ण भूत और भावि देवों (तीर्थंकर देवों) के समान अकम्प रूप से स्वस्वरूप को अर्पित करती हुई (वे पर्यायें) विद्यमान ही हैं ।[१]"

२- असद्भूत पर्यायों की ज्ञान प्रत्यक्षता को 'आचार्य प्रभाचन्द्र' निम्न हेतु से स्पष्ट करते हैं—

"स्वदेशकालाकारनियतत्वेन तेषां तत्र परिस्फुरणात्–[२]

अपने क्षेत्र, काल, आकार से नियत होने के कारण उनका वहाँ परिस्फुरण होने से वे ज्ञान-प्रत्यक्ष हैं" ॥ ३९ ॥

अब, वर्तमान ज्ञान के असद्भूत पर्यायों का प्रत्यक्षपना दृढ़ करते हैं—

यदि अनुत्पन्न विनष्ट पर्यायें प्रत्यक्ष न ज्ञान के ।

तो ज्ञान है वह 'दिव्य' ऐसा कौन निश्चय से कहे ॥ ४० ॥

गाथार्थ– यदि अनुत्पन्न और नष्ट पर्यायें ज्ञान (केवलज्ञान) के प्रत्यक्ष नहीं होतीं, तो वास्तव में उस ज्ञान को 'दिव्य' कौन कहेगा ? (कोई नहीं कहेगा) ।

१- प्रवचनसार, गाथा ३८, तत्त्वप्रदीपिका टीका ।

२- प्रवचनसार, गाथा ३७, प्रवचनसार सरोज भास्कर टीका ।

जइ पच्चक्खमजायं पज्जायं पलइयं च णाणस्स ण हवदि वा यदि प्रत्यक्षो न भवति। स कः। अजातपर्यायो भाविपर्यायः। न केवलं भाविपर्यायः प्रलयितश्च वा। कस्य। ज्ञानस्य। *तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति* तद्ज्ञानं दिव्यमिति के प्ररूपयन्ति, न केऽपीति।

तथा हि–यदि वर्तमानपर्यायवदतीतानागतपर्यायं ज्ञानं कर्तृ क्रमकरणव्यवधानरहितत्वेन साक्षात्प्रत्यक्षं न करोति, तर्हि तत् ज्ञानं दिव्यं न भवति। वस्तुतस्तु ज्ञानमेव न भवतीति।

यथायं केवली परकीयद्रव्यपर्यायान् यद्यपि परिच्छित्तिमात्रेण जानाति, तथापि निश्चयनयेन सहजानन्दैकस्वभावे स्वशुद्धात्मनि तन्मयत्वेन परिच्छित्तिं करोति, तथा निर्मलविवेकिजनोऽपि यद्यपि व्यवहारेण परकीयद्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानं करोति तथापि निश्चयेन निर्विकारस्वसंवेदनपर्याये विषयत्वात्पर्यायेण परिज्ञानं करोतीति सूत्रतात्पर्यम्॥ ४०॥

टीकार्थ– *जइ पच्चक्खमजायं पज्जायं पलइयं च णाणस्स ण हवदि वा*– यदि प्रत्यक्ष नहीं है। वह कौन प्रत्यक्ष नहीं है? भविष्यकालीन पर्याय। भविष्यकालीन पर्याय ही नहीं, अपितु भूतकालीन पर्याय भी। भूत-भावि पर्याय किसके प्रत्यक्ष नहीं है? भूत-भावि पर्याय ज्ञान (केवलज्ञान) के प्रत्यक्ष नहीं है (तो)। *तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति* - उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगें? कोई भी नहीं कहेगें।

वह इसप्रकार—क्रम और साधन सम्बन्धी बाधा से रहित होने के कारण यदि ज्ञान रूप कर्ता वर्तमान पर्याय के समान भूत-भावि पर्यायों को साक्षात् प्रत्यक्ष नहीं करता, तो वह ज्ञान दिव्य नहीं है। वास्तव में वह ज्ञान ही नहीं है।

जैसे, केवली-भगवान, यद्यपि परद्रव्य-पर्यायों को जानकारी मात्र से जानते हैं, तथापि निश्चयनय से सहजानन्द एक स्वभावी स्वशुद्धात्मा में तन्मयरूप से उसकी जानकारी करते हैं; उसीप्रकार निर्मल भेदज्ञानी जीव भी, यद्यपि व्यवहार से पर द्रव्य-गुण-पर्यायों का ज्ञान करते हैं, तथापि निश्चय से स्व-विषय होने से निर्विकार स्वसंवेदन पर्याय में पर्याय द्वारा परिज्ञान करते हैं– यह गाथा का तात्पर्य है।

विशेषार्थ– 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने प्रस्तुत गाथा की टीका में केवलज्ञान और पर्यायों के स्वरूप को निम्न विशेषणों से स्पष्ट किया है—

"—निर्विरोध, पूर्ण विकसित, अखण्डित, प्रतापवंत, प्रभुशक्ति-सम्पन्नता से बलात्, अत्यन्त आक्रमित करके ज्ञान युगपत् स्व-स्व स्वरूप-सर्वस्व को समर्पित करने वाले पर्याय-समूह को— (जानता है)।"[1] ॥ ४० ॥

---

१. प्रवचनसार, गाथा ३९, तत्त्वप्रदीपिका टीका।

अथातीतानागतसूक्ष्मादिपदार्थानिन्द्रियज्ञानं न जानातीति विचारयति-

अत्थं अक्खणिवदिदं ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति।(४०)

तेसिं परोक्खभूदं णादुमसक्कं ति पण्णत्तं॥ ४१ ॥

अत्थं घटपटादिज्ञेयपदार्थं। कथंभूतं। *अक्खणिवदिदं* अक्षनिपतितं इन्द्रियप्राप्तं इन्द्रियसंबद्धं। इत्थंभूतमर्थं *ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति* अवग्रहेहावायादिक्रमेण ये पुरुषा विजानन्ति हि स्फुटं। *तेसिं परोक्खभूदं* तेषां सम्बन्धि ज्ञानं परोक्षभूतं सत् *णादुमसक्कं ति पण्णत्तं* सूक्ष्मादिपदार्थान् ज्ञातुमशक्यमिति प्रज्ञप्तं कथितम्। कैः। ज्ञानिभिरिति।

तद्यथा- चक्षुरादीन्द्रियं घटपटादिपदार्थपार्श्वे गत्वा पश्चादर्थं जानातीति सन्निकर्षलक्षणं नैयायिकमते। अथवा संक्षेपेणेन्द्रियार्थयोः संबंधः सन्निकर्षः स एव प्रमाणम्। स च सन्निकर्ष आकाशाद्यमूर्तपदार्थेषु देशांतरितमेर्वादिपदार्थेषु कालान्तरितरामरावणादिषु स्वभावान्तरितभूतादिषु तथैवातिसूक्ष्मेषु परचेतोवृत्ति-पुद्गलपरमाण्वादिषु च न प्रवर्तते। कस्मादिति चेत्। इन्द्रियाणां स्थूलविषयत्वात्, तथैव मूर्तविषयत्वाच्च। ततः कारणादिन्द्रियज्ञानेन सर्वज्ञो न भवति।

अब, भूत-भावि सूक्ष्मादि पदार्थों को इन्द्रिय ज्ञान नहीं जानता है; ऐसा विचार करते हैं—

ईहादि पूर्वक जानते जो अक्ष निपतित अर्थ को।

जिनदेव कहते जानना ना शक्य उन्हें परोक्ष को॥ ४१ ॥

गाथार्थ- जो इन्द्रिय ज्ञान-गोचर पदार्थों को ईहादि पूर्वक जानते हैं, उन्हें परोक्षभूत पदार्थों का जानना अशक्य है— ऐसा जिनेन्द्र देव कहते हैं।

टीकार्थ- ***अत्थं***- घट, पट आदि ज्ञेय पदार्थ। वे ज्ञेय पदार्थ कैसे हैं ? ***अक्खणिवदिदं***- इन्द्रियों से सम्बन्धित वे पदार्थ हैं। इसप्रकार के पदार्थ को ***ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति***- जो पुरुष अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा आदि क्रम से वास्तव में जानते हैं। ***तेसिं परोक्खभूदं***- उनका वह ज्ञान परोक्ष होता हुआ ***णादुमसक्कं ति पण्णत्तं***- सूक्ष्मादि पदार्थों को जानने में असमर्थ है— ऐसा कहा है। वह परोक्ष ज्ञान उनको जानने में असमर्थ है— ऐसा किनने कहा है ? ऐसा ज्ञानियों ने कहा है।

वह इसप्रकार— नेत्र आदि इन्द्रियाँ घट, पट आदि पदार्थों के निकट जाकर बाद में पदार्थ को जानती हैं— ऐसा सन्निकर्ष का लक्षण नैयायिक मत में कहा गया है। अथवा संक्षेप से, इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध ही सन्निकर्ष है, और वही प्रमाण है। और वह सन्निकर्ष आकाशादि अमूर्तिक पदार्थों में, दूर देशवर्ती मेरु आदि पदार्थों में, दूर कालवर्ती राम-रावणादि में, स्वभाव से अदृश्य भूतादि में, उसीप्रकार अत्यंत सूक्ष्म परकीय मनोवृत्ति तथा पुद्गल परमाणु आदि में प्रवृत्ति नहीं करता। सन्निकर्ष इन विषयों में प्रवृत्ति क्यों नहीं करता ? इन्द्रियों से स्थूल विषय और मूर्तिक विषय मात्र ज्ञात होने के कारण इन विषयों में सन्निकर्ष प्रवृत्ति नहीं करता। इस कारण इन्द्रिय ज्ञान से सर्वज्ञ नहीं होते हैं।

तत एव चातीन्द्रियज्ञानोत्पत्तिकारणं रागादिविकल्परहितं स्वसंवेदनज्ञानं विहाय पंचेन्द्रियसुखसाधनभूतेन्द्रियज्ञाने नानामनोरथविकल्पजालरूपे मानसज्ञाने च ये रतिं कुर्वन्ति ते सर्वज्ञपदं न लभन्ते इति सूत्राभिप्रायः ॥ ४१ ॥

अथातीन्द्रियज्ञानमतीतानागतसूक्ष्मादिपदार्थान् जानातीत्युपदिशति–

अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं । (४१)

पलयं गदं च जाणदि तं णाणमदिंदियं भणियं ॥ ४२ ॥

अपदेसं अप्रदेशं कालाणुपरमाण्वादि *सपदेसं* शुद्धजीवास्तिकायादिपंचास्तिकायस्वरूपं *मुत्तं* मूर्तं पुद्गलद्रव्यं *अमुत्तं च* अमूर्तं च शुद्धजीवद्रव्यादि *पज्जयमजादं पलयं गयं च* पर्यायमजातं भाविनं प्रलयं गतं चातीतमेतत्सर्वं पूर्वोक्तं ज्ञेयं वस्तु *जाणदि* जानाति यद्ज्ञानं कर्तृ *तं णाणमदिंदियं भणियं* तद्ज्ञानमतीन्द्रियं भणितं, तेनैव सर्वज्ञो भवति ।

इसलिये ही अतीन्द्रिय ज्ञान की उत्पत्ति के कारणभूत, रागादि विकल्प रहित, स्वसंवेदन ज्ञान को छोड़कर जो पंचेन्द्रिय-सुख के साधनभूत इन्द्रिय ज्ञान में और विविध इच्छाओं के विकल्प-जाल रूप मानस ज्ञान में स्नेह करते हैं, वे सर्वज्ञ-पद प्राप्त नहीं करते– यह गाथा का अभिप्राय है ।

भावार्थ– इन्द्रिय ज्ञान पदार्थों के साथ सम्बन्धित होकर अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा आदि क्रम से पदार्थों को जानता है ; यतः इसका अति स्थूल, इन्द्रियगम्य तथा मात्र मूर्तिक पदार्थ विषय होने से द्रव्य से सूक्ष्म पुद्गल परमाणु आदि, क्षेत्र से दूरवर्ती मेरु पर्वतादि, काल से दूरवर्ती राम-रावणादि, भाव से अदृश्य भूतादि तथा अमूर्तिक आकाशादि के साथ सम्बन्ध संभव नहीं है ; अतः यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रिय ज्ञान से सर्वज्ञ नहीं हो सकते, अतीन्द्रिय ज्ञान से ही सर्वज्ञ होते हैं ।

इसप्रकार इन्द्रिय ज्ञान से सर्वज्ञता-प्राप्ति के निषेध से नैयायिक मान्य सन्निकर्ष प्रमाण भी खण्डित हो गया है ॥४१ ॥

अब, अतीन्द्रिय ज्ञान भूत-भावि सूक्ष्मादि पदार्थों को जानता है ; ऐसा उपदेश देते हैं–

जो जानता अप्रदेश वा सप्रदेश मूर्त अमूर्त को ।

व भूत पर्यय भावि को जाने अतीन्द्रिय ज्ञान वो ॥ ४२ ॥

गाथार्थ– जो ज्ञान अप्रदेशी– एक प्रदेशी, सप्रदेशी–बहुप्रदेशी, मूर्तिक, अमूर्तिक पदार्थों को तथा अनुत्पन्न और नष्ट पर्यायों को जानता है, उसे अतीन्द्रिय ज्ञान कहते हैं ।

टीकार्थ– ***अपदेसं–*** अप्रदेशी- कालाणु, परमाणु आदि (एक प्रदेशी द्रव्य), ***सपदेसं–*** शुद्ध जीवास्तिकाय आदि पाँच अस्तिकाय स्वरूप (बहुप्रदेशी द्रव्य), ***मुत्तं-*** मूर्तिक पुद्गल द्रव्य, ***अमुत्तं च-*** और शुद्ध जीव द्रव्यादि अमूर्तिक द्रव्य ***पज्जयमजादं पलयं गयं च–*** अनुत्पन्न भावि तथा नष्ट हुई भूतकालीन पर्यायें– पूर्वोक्त इन सभी ज्ञेय वस्तुओं को, ***जाणदि–*** जो ज्ञान रूप कर्ता जानता है, ***तं णाणमदिंदियं भणियं–*** उस ज्ञान को अतीन्द्रिय ज्ञान कहते हैं, उससे ही सर्वज्ञ होते हैं ।

तत एव च पूर्वगाथोदितमिन्द्रियज्ञानं मानसज्ञानं च त्यक्त्वा ये निर्विकल्पसमाधिरूपस्वसंवेदनज्ञाने समस्तविभावपरिणामत्यागेन रतिं कुर्वन्ति त एव परमाह्लादैकलक्षणस्वभावं सर्वज्ञपदं लभन्ते इत्यभिप्रायः ॥४२॥

एवमतीतानागतपर्याया वर्तमानज्ञाने प्रत्यक्षा न भवन्तीति बौद्धमतनिराकरणमुख्यत्वेन गाथात्रयं, तदनन्तरमिन्द्रियज्ञानेन सर्वज्ञो न भवत्यतीन्द्रियज्ञानेन भवतीति नैयायिकमतानुसारिशिष्यसंबोधनार्थं च गाथाद्वयमिति समुदायेन पंचमस्थले गाथापञ्चकं गतम्।

इसलिये पहले (४१वीं) गाथा में कहे गये इन्द्रिय ज्ञान और मानसज्ञान को छोड़कर जो समस्त विभाव परिणामों के त्याग पूर्वक निर्विकल्प समाधिरूप स्वसंवेदन ज्ञान में प्रीति करते हैं, वे ही परमाह्लाद एक लक्षण स्वभाव वाले सर्वज्ञपद को प्राप्त करते हैं— यह अभिप्राय है।

भावार्थ– अतीन्द्रिय ज्ञान—केवलज्ञान ही एक प्रदेशी-बहुप्रदेशी, मूर्तिक-अमूर्तिक आदि सभी प्रकार के द्रव्यों, भूत-भावि-वर्तमान सभी पर्यायों को एक साथ प्रत्यक्ष जानता है। परमानन्दमय ऐसा केवलज्ञान एकमात्र स्वरूप में निर्विकल्प समाधिरूप स्वसंवेदन ज्ञान से ही प्रगट होता है।

विशेषार्थ– प्रस्तुत गाथा की टीका करते हुये 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने इन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय ज्ञान के विषय-सम्बन्ध को सहेतुक तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत किया है। वह इसप्रकार—

"इन्द्रिय ज्ञान उपदेश, मन, इन्द्रियादि विरूप कारणता से क्षयोपशम, संस्कार आदि को अंतरंग स्वरूप कारणता से ग्रहण कर प्रवृत्त होता है, प्रवृत्त होता हुआ स्थूल विषय को जानने वाला होने से सप्रदेश को ही जानता है, अप्रदेश को नहीं; उसीप्रकार के विषय (मूर्तिक विषय) सम्बन्ध का सद्भाव होने से मूर्त को ही जानता है, अमूर्त को नहीं; विषय-विषयी के सन्निपात का सद्भाव होने से वर्तमान को ही जानता है, भूत-भावि को नहीं; परन्तु जैसे विविध प्रकार का ईंधन ईंधनपने का उल्लंघन नहीं करने के कारण प्रज्वलित अग्नि का दाह्य ही है; उसी प्रकार अप्रदेश-सप्रदेश, मूर्त-अमूर्त, अनुत्पन्न और विनष्ट पर्याय-समूह ज्ञेयता का उल्लंघन नहीं करने से अनावरण, अतीन्द्रिय ज्ञान सम्पन्न आत्मा के ज्ञेय ही होते हैं।"[१] ॥४२॥

इसप्रकार भूत-भावि पर्यायें वर्तमान ज्ञान में प्रत्यक्ष नहीं होती हैं— इस मान्यता वाले बौद्धमत के निराकरण की मुख्यता से तीन गाथायें, और उसके बाद नैयायिक मतानुसारि शिष्य के सम्बोधन के लिए इन्द्रिय-ज्ञान से सर्वज्ञ नहीं होते, अतीन्द्रिय ज्ञान से सर्वज्ञ होते हैं— इसप्रकार दो गाथायें— इसप्रकार समूह रूप से पाँचवें स्थल में पाँच गाथायें पूर्ण हुईं।

१- प्रवचनसार, गाथा ४१, तत्त्वप्रदीपिका टीका।

अथ रागद्वेषमोहाः बन्धकारणं, न च ज्ञानमित्यादिकथनरूपेण गाथापंचकपर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तद्यथा–

यस्येष्टानिष्टविकल्परूपेण कर्मबन्धकारणभूतेन ज्ञेयविषये परिणमनमस्ति तस्य क्षायिकज्ञानं नास्तीत्यावेदयति–

परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि णेव खाइगं तस्स। (४२)
णाणं ति तं जिणिंदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता॥ ४३॥

परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि नीलमिदं पीतमिदमित्यादिविकल्परूपेण यदि ज्ञेयार्थं परिणमति ज्ञातात्मा *णेव खाइगं तस्स णाणं ति* तस्यात्मनः क्षायिकज्ञानं नैवास्ति। अथवा ज्ञानमेव नास्ति। कस्मान्नास्ति। *तं जिणिंदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता* तं पुरुषं कर्मतापन्नं जिनेन्द्राः कर्तारः उक्तवन्तः। किं कुर्वन्तम्। क्षपयन्तमनुभवन्तम्। किमेव। कर्मैव। निर्विकारसहजानन्दैकसुखस्वभावानुभवशून्यः सन्नुदयागतं स्वकीयकर्मैव स अनुभवन्नास्ते न च ज्ञानमित्यर्थः।

(अब, छठवाँ स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, राग-द्वेष-मोह बंध के कारण हैं, ज्ञान नहीं— इत्यादि कथन रूप से पाँच गाथा पर्यन्त व्याख्यान करते हैं। वह इसप्रकार है—

जिसके कर्मबन्ध के कारणभूत हितकारी-अहितकारी विकल्प रूप से, जानने योग्य विषयों में परिणमन है, उसके क्षायिक ज्ञान नहीं है; ऐसा प्रतिपादित करते हैं—

यदि आत्मा ज्ञेयार्थ परिणमता तो क्षायिक ज्ञान ना।
वह कर्म को ही भोगता जिनदेव ने ऐसा कहा॥ ४३॥

गाथार्थ– यदि आत्मा ज्ञेय-पदार्थ रूप परिणमन करता है, तो उसके क्षायिक ज्ञान नहीं है। जिनेन्द्र भगवान ने उसे कर्म का ही अनुभव करनेवाला कहा है।

टीकार्थ– ***परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि***– यदि ज्ञाता आत्मा यह नीला, यह पीला इत्यादि विकल्प-रूप से ज्ञेय-पदार्थों के प्रति परिणमन करता है, ***णेव खाइगं तस्स णाणं ति***– तो उस आत्मा को क्षायिक ज्ञान नहीं है। अथवा ज्ञान ही नहीं है। ज्ञेयार्थ परिणत उस आत्मा को ज्ञान कैसे नहीं है ? ***तं जिणिंदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता***- उस कर्मतापन्न पुरुष को (कर्म कारक में प्रयुक्त पुरुष को) जिनेन्द्र-भगवान रूपी कर्ता कहते हैं। जिनेन्द्र-भगवान उस पुरुष को क्या करता हुआ कहते हैं ? वे उसे अनुभव करता हुआ कहते हैं। वे उसे किसका अनुभव करता हुआ ही कहते हैं ? वे उसे कर्म का अनुभव करता हुआ ही कहते हैं। निर्विकार सहजानन्द एक सुख-स्वभाव के अनुभव से रहित होता हुआ वह उदय में आये हुये अपने कर्मों का ही अनुभव करता रहता है, ज्ञान का अनुभव नहीं करता— यह अर्थ है।

अथवा द्वितीयव्याख्यानम्– यदि ज्ञाता प्रत्यर्थं परिणम्य पश्चादर्थं जानाति तदा अर्थानामानन्त्यात्सर्वपदार्थपरिज्ञानं नास्ति।

अथवा तृतीयव्याख्यानम्–बहिरंगज्ञेयपदार्थान् यदा छद्मस्थावस्थायां चिन्तयति तदा रागादिविकल्परहितं स्वसंवेदनज्ञानं नास्ति, तदभावे क्षायिकज्ञानमेव नोत्पद्यते इत्यभिप्रायः ॥ ४३ ॥

अथानन्तपदार्थपरिच्छित्तिपरिणमनेऽपि ज्ञानं बन्धकारणं न भवति, न च रागादिरहितकर्मोदयोऽपीति निश्चिनोति-

उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया। (४३)

तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुभवदि ॥ ४४ ॥

उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया उदयगता उदयं प्राप्ताः कर्मांशा ज्ञानावरणादिमूलोत्तरकर्मप्रकृतिभेदाः जिनवरवृषभैर्नियत्या स्वभावेन भणिताः, किन्तु स्वकीयशुभाशुभफलं दत्वा गच्छन्ति,

---

अथवा दूसरा व्याख्यान-यदि ज्ञाता पदार्थ के प्रति परिणमन कर बाद में पदार्थ को जानता है तो पदार्थों के अनन्त होने से (उसे) सभी पदार्थों की जानकारी नहीं है।

अथवा तीसरा व्याख्यान— छद्मस्थावस्था में जब बाह्य ज्ञेय पदार्थों का विचार किया जाता है, तब रागादि विकल्प रहित स्वसंवेदन ज्ञान नहीं है, उसके अभाव में क्षायिक ज्ञान ही उत्पन्न नहीं होता है— यह अभिप्राय है।

विशेषार्थ— कर्मों के भोक्ता आत्मा को 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने निम्न शब्दों में सम्बोधित किया है—

"क्योंकि प्रत्येक पदार्थ रूप से परिणति के माध्यम से मृगतृष्णा में जल समूह की संभावना करने वाले मन से (वह आत्मा) अत्यन्त दु:सह कर्मभार को ही भोगता है—ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।[१]" ॥ ४३ ॥

अब, अनन्त पदार्थों की जानकारी रूप से परिणत होने पर भी ज्ञान बंध का कारण नहीं है, इसीप्रकार रागादि रहित कर्म का उदय भी बंध का कारण नहीं है; ऐसा निश्चित करते हैं—

हैं नियति से जो उदयगत कर्मांश जिनवर ने कहे।

उनमें विमोही रक्त द्वेषी बंध का अनुभव करे ॥ ४४ ॥

गाथार्थ— स्वभाव से उदय को प्राप्त कर्मांश (संसारी जीव के) तीर्थंकर देव ने कहे हैं। उनमें मोह, राग, द्वेष करने वाला जीव बंध का अनुभव करता है।

टीकार्थ—***उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया***—उदय को प्राप्त ज्ञानावरणादि मूल- उत्तर कर्म प्रकृति भेद वाले कर्मांश तीर्थंकरों ने स्वभाव से कहे हैं, किन्तु (वे) अपने-अपने शुभाशुभ फल को देकर चले जाते हैं, रागादि परिणामों से रहित होने पर बंध नहीं करते हैं। तो फिर जीव बंध कैसे करता है?

१- प्रवचनसार, गाथा ४२, तत्त्वप्रदीपिका टीका।

न च रागादिपरिणामरहिताः सन्तो बन्धं कुर्वन्ति। तर्हि कथं बन्धं करोति जीवः इति चेत्। *तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बन्धमणुभवदि* तेषु उदयागतेषु सत्सु कर्मांशेषु मोहरागद्वेषविलक्षणनिजशुद्धात्मतत्त्वभावनारहितः सन् यो विशेषेण मूढो रक्तो दुष्टो वा भवति सः केवलज्ञानाद्यनन्तगुणव्यक्तिलक्षणमोक्षाद्विलक्षणं प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदभिन्नं बन्धमनुभवति।

ततः स्थितमेतत् ज्ञानं बन्धकारणं न भवति कर्मोदयोऽपि, किंतु रागादयो बन्धकारणमिति॥ ४४॥

अथ केवलिनां रागाद्यभावाद्धर्मोपदेशादयोऽपि बन्धकारणं न भवन्तीति कथयति–

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं। (४४)

अरहंताणं काले मायाचारो व्व इत्थीणं॥ ४५॥

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य स्थानमूर्ध्वस्थितिर्निषद्या चासनं श्रीविहारो धर्मोपदेशश्च *णियदयो* एते व्यापारा नियतयः स्वभावा अनीहिताः। केषाम्। *तेसिं अरहंताणं* तेषामर्हतां निर्दोषिपरमात्मानम्। क्व। *काले* अर्हदवस्थायाम्। क इव। *मायाचारो व्व इत्थीणं* मायाचार इव स्त्रीणामिति।

यदि यह प्रश्न हो तो ? *तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बन्धमणुभवदि*– मोह, राग, द्वेष से विलक्षण निज शुद्धात्मतत्त्व की भावना से रहित होता हुआ उदय में आये हुये कर्मांशों में विशेष रूप से मोह, राग, द्वेष रूप होता है, वह केवलज्ञानादि अनन्त गुणों की प्रगटता स्वरूप मोक्ष से विलक्षण प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश भेद वाले बंध का अनुभव करता है।

इससे यह निश्चय हुआ कि ज्ञान बंध का कारण नहीं, इसी प्रकार कर्म का उदय भी बंध का कारण नहीं है; किन्तु रागादि बंध के कारण हैं॥ ४४॥

अब, केवली के रागादि का अभाव होने से धर्मोपदेशादि भी बंध के कारण नहीं हैं; यह कहते हैं–

धर्मोपदेश विहार आसन स्थान श्री अरहंत के।

होते सहज उस समय में ज्यों मायाचारी नारि के॥ ४५॥

गाथार्थ– स्त्रियों में मायाचार के समान उन अरहन्तों के समय पर खड़े होना, बैठना, विहार और धर्मोपदेश (—ये क्रियायें) स्वाभाविक ही होती हैं।

टीकार्थ– *ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य*– स्थान—ऊपर स्थिति—खड़ा होना, निषद्या—आसन—बैठना, श्रीविहार और धर्मोपदेश *णियदयो*– ये क्रियायें स्वाभाविक—बिना इच्छा के होती हैं। ये क्रियायें स्वाभाविक किनके होती हैं ? *तेसिं अरहंताणं*– उन अरहन्त निर्दोषी परमात्मा के ये क्रियायें स्वाभाविक होती हैं। उनके ये कब होती हैं ? *काले*– अरहन्त अवस्था में उनके ये क्रियायें होती हैं। उनके ये क्रियायें किसके समान होती हैं ? *मायाचारो व्व इत्थीणं*– स्त्रियों के मायाचार के समान उनके ये क्रियायें होती हैं।

तथा हि– यथा स्त्रीणां स्त्रीवेदोदयसद्भावात्प्रयत्नाभावेऽपि मायाचारः प्रवर्तते, तथा भगवतां शुद्धात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूतमोहोदयकार्येहापूर्वप्रयत्नाभावेऽपि श्रीविहारादयः प्रवर्तते। मेघानां स्थानगमनगर्जन-जलवर्षणादिवद्वा।

ततः स्थितमेतत् मोहाद्यभावात् क्रियाविशेषा अपि बन्धकारणं न भवन्तीति ॥ ४५ ॥

अथ पूर्वं यदुक्तं रागादिरहितकर्मोदयो बन्धकारणं न भवति विहारादिक्रिया च, तमेवार्थं प्रकारान्तरेण दृढयति–

पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया।(४५)

मोहादीहिं विरहिदा तम्हा सा खाइगं त्ति मदा ॥ ४६ ॥

पुण्णफला अरहंता पंचमहाकल्याणपूजाजनकं त्रैलोक्यविजयकरंयत्तीर्थंकरनामपुण्यकर्म तत्फलभूता अर्हन्तो भवन्ति। *तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया* तेषां या दिव्यध्वनिरूपवचनव्यापारादिक्रिया सा निःक्रियशुद्धात्मतत्त्वविपरीतकर्मोदयजनितत्वात्सर्वाप्यौदयिकी भवति हि स्फुटम्। *मोहादीहिं विरहिदा* निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वप्रच्छादकममकाराहंकारोत्पादनसमर्थमोहादिविरहितत्वाद्यतः *तम्हा सा खायग त्ति मदा* तस्मात् सा यद्यप्यौदयिकी तथापि निर्विकारशुद्धात्मतत्त्वस्य विक्रियामकुर्वती सती क्षायिकीति मता।

वह इसप्रकार– जैसे स्त्रीवेद के उदय का सद्भाव होने से स्त्रियों के प्रयत्न के बिना भी मायाचार होता है, उसीप्रकार शुद्धात्मतत्त्व के विरोधी मोह के उदय में होने वाले इच्छा पूर्वक प्रयत्न रूप कार्य का अभाव होने पर भी भगवान के श्रीविहारादि होते हैं। अथवा बादलों के ठहरने, गमन करने, गरजने, पानी बरसाने आदि के समान भगवान के ये क्रियायें सहज होती हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि मोहादि का अभाव होने पर क्रिया विशेष भी बंध का कारण नहीं है ॥ ४५ ॥

अब, रागादिरहित कर्मोदय तथा विहारादि क्रिया बंध का कारण नहीं है– ऐसा जो पहले (४४-४५वीं गाथा में) कहा था; उसी अर्थ को अन्य प्रकार से दृढ़ करते हैं–

हैं पुण्यफल अरहंत उनकी क्रिया औदयिकी कही।

मोहादि विरहित हैं इसी से क्षायिकी मानी गई ॥ ४६ ॥

गाथार्थ– अरहन्त भगवान पुण्यफल युक्त हैं और वास्तव में उनकी औदयिकी क्रिया मोहादि से रहित है, इसलिये वह क्षायिकी है– ऐसा माना गया है।

टीकार्थ– ***पुण्यफला अरहंता***–महाकल्याणक पूजा को उत्पन्न करने वाला, तीनों लोकों में विजय को करने वाला जो तीर्थंकर नामक पुण्य नाम कर्म, उसके फल स्वरूप अरहन्त तीर्थंकर होते हैं। ***तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया***– उनकी जो दिव्यध्वनि रूप वचन व्यापारादि क्रिया, वह निःक्रिय शुद्धात्मतत्त्व से विपरीत कर्मोदय से उत्पन्न होने के कारण वास्तव में सब ही औदयिकी है। ***मोहादीहिं विरहिदा***- क्योंकि निर्मोह शुद्धात्मतत्त्व को आवृत्त करने वाले ममकार-अहंकार को उत्पन्न करने में समर्थ मोहादि से रहित है, ***तम्हा सा खायग त्ति मदा***– इसलिये यद्यपि वह औदयिकी है, तथापि निर्विकार शुद्धात्मतत्त्व में विकारोत्पादक नहीं होने से क्षायिकी मानी गई है।

अत्राह शिष्यः– *'औदयिका भावाः बन्धकारणम्'* [१] इत्यागमवचनं तर्हि वृथा भवति। परिहारमाह– औदयिका भावा बन्धकारणं भवन्ति, परं किंतु मोहोदयसहिताः। द्रव्यमोहोदयेऽपि सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति तदा बंधो न भवति। यदि पुनः कर्मोदयमात्रेण बन्धो भवति तर्हि संसारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात् सर्वदैव बन्ध एव, न मोक्ष इत्यभिप्रायः ॥ ४६ ॥

अथ यथार्हतां शुभाशुभपरिणामविकारो नास्ति तथैकान्तेन संसारिणामपि नास्तीति सांख्यमतानुसारिशिष्येण पूर्वपक्षे कृते सति दूषणद्वारेण परिहारं ददाति –

जदि सो सुहो व असुहो ण हवदि आदा सयं सहावेण।(४६)
संसारो वि ण विज्जदि सव्वेसिं जीवकायाणं ॥ ४७ ॥

यहाँ शिष्य कहता है– (तीर्थंकरों की औदयिकी क्रिया बंध-कारक नहीं होने से क्षायिकी मानने पर) "औदयिक भाव बंध के कारण हैं"– यह आगम वचन व्यर्थ है।

आचार्य इसका निराकरण करते हैं– औदयिक भाव बंध के कारण हैं, किंतु मोह के उदय से सहित औदयिक भाव ही; अन्य नहीं। द्रव्य मोह का उदय होने पर भी यदि शुद्धात्म-भावना के बल से भाव मोह रूप परिणमन नहीं करता तो बंध नहीं होता। यदि पुनः कर्मोदय मात्र से बंध होता तो संसारियों के सदैव कर्म के उदय की विद्यमानता होने से सदैव–सर्वदा बंध ही होगा, (कभी भी) मोक्ष नहीं हो सकेगा– यह अभिप्राय है।

भावार्थ– अरहन्त भगवान के सर्वोत्कृष्ट पुण्यमयी तीर्थंकर नामक नामकर्म के उदय में होनेवाली दिव्यध्वनि आदि क्रियायें औदयिकी होने पर भी मोहादि से रहित होने के कारण विकारोत्पादक न होने से वे सभी क्षायिकी मानी गई हैं।

इससे स्पष्ट है कि सभी औदयिक भाव बन्ध के कारण नहीं होते हैं वरन् मोहादि सहित होने पर ही वे बन्ध कारक हैं। यदि कर्मोदय मात्र से बंध होता हो तो संसारी जीवों के सदैव कर्मोदय विद्यमान होने से मुक्ति का प्रसंग ही नहीं बन सकेगा।

विशेषार्थ– 'पुण्यफला' को 'आचार्य प्रभाचन्द्र' ने निम्न प्रकार से स्पष्ट किया है–

"पुण्यफला – शुभायुर्नामगौत्र लक्षणपुण्यपरिपाकवन्तोऽर्हन्तः। [२]

पुण्य फल अर्थात् शुभआयु, शुभनाम, शुभगौत्र रूप पुण्य प्रकृतियों के उदय से सहित अरहंत भगवान हैं" ॥ ४६ ॥

अब, जैसे अरहन्तों के शुभाशुभ परिणाम रूप विकार नहीं हैं, उसीप्रकार एकान्त से संसारियों के भी नहीं हैं– सांख्यमतानुसारि शिष्य द्वारा इसप्रकार शंका की जाने पर, उसमें दोष दिखाते हुये निराकरण करते हैं–

यदि आत्मा शुभ अशुभ स्वयं स्वभाव से होता नहीं।
तो सर्व जीव समूह के संसार भी बनता नहीं ॥ ४७ ॥

गाथार्थ– यदि यह आत्मा स्वयं स्वभाव से शुभ या अशुभ रूप नहीं होता तो सभी जीव समूहों के संसार भी नहीं होता।

१- धवला, पुस्तक ७, पृ.९ ।

२- प्रवचनसार, गाथा ४४, प्रवचनसार सरोज भास्कर टीका।

जदि सो सुहो व असुहो ण हवदि आदा सयं सहावेण यथैव शुद्धनयेनात्मा शुभाशुभाभ्यां न परिणमति तथैवाशुद्धनयेनापि स्वयं स्वकीयोपादानकारणेन स्वभावेनाशुद्धनिश्चयरूपेणापि यदि न परिणमति तदा। किं दूषणं भवति। *संसारो वि ण विज्जदि* निस्संसारशुद्धात्मस्वरूपात्प्रतिपक्षभूतो व्यवहारनयेनापि संसारो न विद्यते। केषाम्। *सव्वेसिं जीवकायाणं* सर्वेषां जीवसंघातानामिति।

तथा हि–आत्मा तावत्परिणामी, स च कर्मोपाधिनिमित्ते सति स्फटिकमणिरिवोपाधिं गृह्णाति, ततः कारणात्संसाराभावो न भवति। अथ मतम् – संसाराभावः सांख्यानां दूषणं न भवति, भूषणमेव। नैवम्। संसाराभावो हि मोक्षो भण्यते, स च संसारिजीवानां न दृश्यते, प्रत्यक्षविरोधादिति भावार्थः ॥ ४७ ॥

एवं रागादयो बन्धकारणं, न च ज्ञानमित्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन षष्ठस्थले गाथापंचकं गतम्।

टीकार्थ– ***जदि सो सुहो व असुहो ण हवदि आदा सयं सहावेण–*** जैसे शुद्धनय से आत्मा शुभाशुभरूप परिणमित नहीं होता, उसीप्रकार यदि अशुद्धनय से भी स्वयं अपने उपादान कारण स्वभाव रूप अशुद्ध निश्चय से भी नहीं परिणमता तो। अशुद्धनय से भी शुभाशुभ रूप न परिणमने में क्या दोष होता? ***संसारो वि ण विज्जदि–*** निःसंसार शुद्धात्मस्वरूप से विपरीत संसार व्यवहारनय से भी नहीं होता। अशुद्धनय से भी उसरूप न परिणमने पर संसार किनके नहीं होता ? ***सव्वेसिं जीवकायाणं–*** सभी जीव समूहों के संसार नहीं होता।

वह इसप्रकार— प्रथम तो आत्मा परिणामी है, और वह कर्मोपाधि का निमित्त होने पर स्फटिक मणि के समान उपाधि को ग्रहण करता है, इस कारण संसार का अभाव नहीं होता। और यदि ऐसा मत हो कि सांख्यों के लिये संसार का अभाव दोष नहीं, वरन् भूषण गुण ही है; तो ऐसा भी नहीं है। संसार का अभाव ही मोक्ष कहलाता है और वह प्रत्यक्ष विरोध रूप से संसारी जीवों के दिखाई नहीं देता— यह भाव है।

भावार्थ– आत्मा शुद्धनय से शुभाशुभ रूप परिणत नहीं होने पर भी कथंचित् परिणाम-स्वभावी होने से स्फटिक मणि के समान अशुद्धनय से कर्मोपाधि का निमित्त होने पर स्वयं ही स्वभाव से विकार रूप उपाधि को ग्रहण करता है। यदि इस तथ्य को अस्वीकृत कर आत्मा को सांख्यमतानुसार रागादि परिणामों से सर्वथा रहित ही माना जाये तो सभी जीवों के संसार का अभाव स्वीकृत करना होगा, परन्तु यह तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। क्योंकि मोक्ष संसार पूर्वक होता है, अतः संसार के अभाव में मोक्ष का भी अभाव मानना पड़ेगा; (परन्तु यह भी प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम विरुद्ध है।)

विशेषार्थ— १- सांख्य पुरुष (आत्मा) को सर्वथा नित्य अपरिणामी स्वीकार करते हैं। परन्तु वस्तुमात्र का स्वभाव अपरिणामी-परिणामी है, अतः इस गाथा-टीका में कथंचित् परिणाम स्वभाव को सिद्ध करते हुये, इस वस्तुगत स्वभाव को न मानने पर आने वाली आपत्तियों का दिग्दर्शन किया गया है।

२- इस गाथा-टीका के निष्कर्ष रूप में 'आचार्य प्रभाचन्द्र' लिखते हैं कि—

"तस्मात् संसारमोक्षव्यवस्थामिच्छता संसारिणामौपशमिकादयः पंचभावः प्रतिपत्तव्याः। मुक्तात्मनां तु क्षायिकपारिणामिकाविति।[1]

इसलिये संसार-मोक्षव्यवस्था चाहनेवालों को संसारियों के औपशमिक आदि पाँच भाव स्वीकार करना चाहिये। मुक्तात्माओं के तो क्षायिक और पारिणामिक ही हैं" ॥ ४७ ॥

१- प्रवचनसार, गाथा ४५, प्रवचनसार सरोज भास्कर टीका।

अथ प्रथमं तावत् केवलज्ञानमेव सर्वज्ञस्वरूपं, तदनन्तरं सर्वपरिज्ञाने सति एकपरिज्ञानं, एकपरिज्ञाने सति सर्वपरिज्ञानमित्यादिकथनरूपेण गाथापंचकपर्यन्तं व्याख्यानं करोति । तद्यथा–

अत्र ज्ञानप्रपंचव्याख्यानं प्रकृतं तावत्तत्प्रस्तुतमनुसृत्य पुनरपि केवलज्ञानं सर्वज्ञत्वेन निरूपयति–

जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं ।(४७)

अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं ।। ४८ ।।

जं यज्ज्ञानं कर्तृ ***जाणदि*** जानाति । कम् । ***अत्थं*** अर्थं पदार्थमिति विशेष्यपदम् । किंविशिष्टम् । ***तक्कालियमिदरं*** तात्कालिकं वर्तमानमितरं चातीतानागतम् । कथं जानाति । ***जुगवं*** युगपदेकसमये ***समंतदो*** समन्ततः सर्वात्मप्रदेशैः सर्वप्रकारेण वा । कतिसंख्योपेतम् । ***सव्वं*** समस्तम् । पुनरपि किंविशिष्टम् । ***विचित्तं*** नानाभेदभिन्नम् । पुनरपि किंरूपम् । ***विसमं*** मूर्तामूर्तचेतनाचेतनादिजात्यन्तरविशेषैर्विसदृशं । ***तं णाणं खाइयं भणियं***

इसप्रकार रागादि बंध के कारण हैं, ज्ञान बंध का कारण नहीं है— इत्यादि व्याख्यान की मुख्यता से छठवें स्थल में पाँच गाथायें पूर्ण हुईं ।

(अब, सातवाँ स्थल प्रारम्भ होता है ।)

अब, सर्वप्रथम केवलज्ञान ही सर्वज्ञ-स्वरूप है, इसके बाद सभी की जानकारी होने पर एक की जानकारी, एक की जानकारी होने पर सर्व की जानकारी— इत्यादि कथन रूप से पाँच गाथा पर्यन्त व्याख्यान करते हैं । वह इसप्रकार—

यहाँ ज्ञान प्रपंच का प्रकरण है, उस प्रकरण का अनुसरण कर फिर से केवलज्ञान को सर्वज्ञ रूप से निरूपित करते हैं—

जो तात्कालिक इतर युगपद् विषम सर्व पदार्थ को ।

जाने विचित्र समन्ततः क्षायिक कहें उस ज्ञान को ।। ४८ ।।

गाथार्थ— जो सब ओर से तात्कालिक-अतात्कालिक (वर्तमान-भूत और भावि) विविध प्रकार के विषम पदार्थों को एक साथ जानता है, उसे क्षायिकज्ञान कहा गया है ।

टीकार्थ— ***जं***-जो ज्ञान रूप कर्ता ***जाणदि***– जानता है । ज्ञान किसे जानता है ? ***अत्थं***-ज्ञान पदार्थ को जानता है । यहाँ पदार्थ यह विशेष पद है । किस विशेषतावाले पदार्थ को जानता है ? ***तक्कालियमिदरं***– तात्कालिक-वर्तमान, इतर-भूत-भावि काल सम्बन्धी पदार्थों को जानता है । ज्ञान इन पदार्थों को कैसे जानता है ? ***जुगवं***– एक साथ एक समय में और ***समंतदो***– सब ओर से— सर्व आत्मप्रदेशों से अथवा सर्व प्रकार से ज्ञान उनको जानता है । ज्ञान कितनी संख्या वाले पदार्थों को जानता है ? ***सव्वं***– सम्पूर्ण पदार्थों को वह जानता है । और किस विशेषता वाले पदार्थों को जानता है ? ***विचित्तं***–विविध भेद वाले पदार्थों को जानता है । वे पदार्थ और कैसे हैं ? ***विसमं***–मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन आदि विविध जाति विशेषों से असमान उन सभी पदार्थों को जानता है । ***तं णाणं खाइयं भणियं***– जो इस प्रकार के गुणों से विशिष्ट ज्ञान है, वह ज्ञान

यदेवंगुणविशिष्टं ज्ञानं तत्क्षायिकं भणितम्। अभेदनयेन तदेव सर्वज्ञस्वरूपं तदेवोपादेयभूतानन्तसुखाद्यनन्त-गुणानामाधारभूतं सर्वप्रकारोपादेयरूपेण भावनीयम्–इति तात्पर्यम्॥ ४८॥

अथ यः सर्वं न जानाति स एकमपि न जानातीति विचारयति–

जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे। (४८)

णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा॥ ४९॥

जो ण विजाणदि यः कर्ता नैव जानाति। कथम्। *जुगवं* युगपदेकक्षणे। कान्। *अत्थे* अर्थान्। कथंभूतान्। *तिक्कालिगे* त्रिकालपर्यायपरिणतान्। पुनरपि कथंभूतान्। *तिहुवणत्थे* त्रिभुवनस्थान्। *णादुं तस्स ण सक्कं* तस्य पुरुषस्य सम्बन्धि ज्ञानं ज्ञातुं समर्थं न भवति। किम्। *दव्वं* ज्ञेयद्रव्यम्। किंविशिष्टम्। *सपज्जयं* अनन्तपर्यायसहितम्। कतिसंख्योपेतम्। *एगं वा* एकमपीति।

क्षायिक कहा गया है। अभेदनय से वही सर्वज्ञ-स्वरूप है, वही उपादेयभूत अनन्त सुखादि अनन्त गुणों का आधारभूत ज्ञान सर्व प्रकार उपादेय रूप से भावना करने योग्य है– यह तात्पर्य है।

भावार्थ– जो ज्ञान भूत-वर्तमान-भावि त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों को, विविध भेद वाले सभी पदार्थों को तथा मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन आदि असमानजातीय सर्व पदार्थों को सम्पूर्ण आत्म-प्रदेशों से एक साथ जानता है; उसे क्षायिकज्ञान कहते हैं। यह क्षायिकज्ञान ही अभेदनय से सर्वज्ञ स्वरूप तथा उपादेयभूत अनन्त सुखादि अनन्त गुणों का आधारभूत होने से सर्वथा उपादेयरूप से भावना करने योग्य है।

विशेषार्थ– क्षायिक ज्ञान का विषय बताते हुये 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने गाथा गत सभी विशेषणों को सहेतुक सिद्ध किया है, जो मूलतः पठनीय है[१] ॥ ४८॥

अब, जो सबको नहीं जानता, वह एक को भी नहीं जानता; ऐसा विचार करते हैं–

जाने नहीं युगपत् त्रिकाल त्रिलोकवर्ती अर्थ को।

वह जानने में शक्य न पर्याययुत इक द्रव्य को॥ ४९॥

गाथार्थ– जो तीनलोक में स्थित त्रिकालवर्ती पदार्थों को एक साथ नहीं जानता है, वह पर्याय सहित एक द्रव्य को जानने में भी समर्थ नहीं हो सकता है।

टीकार्थ– *जो ण विजाणदि*– कर्तारूप जो (इस वाक्य में कर्ता कारक में प्रयुक्त जो) नहीं जानता है। जो कैसे नहीं जानता है? ***जुगवं*–** जो एक साथ एक समय में नहीं जानता है। एक साथ किन्हें नहीं जानता है? ***अत्थे*–** जो पदार्थों को एक साथ नहीं जानता है। कैसे पदार्थों को नहीं जानता? ***तिक्कालिगे*–**त्रिकालवर्ती पर्यायरूप परिणत पदार्थों को जो नहीं जानता है। और कैसे पदार्थों को नहीं जानता है? ***तिहुवणत्थे*–** तीनलोक में स्थित पदार्थों को नहीं जानता है। ***णादुं तस्स ण सक्कं*–** उस पुरुष का ज्ञान जानने में समर्थ नहीं है। किसे जानने में समर्थ नहीं है? ***दव्वं*–** ज्ञेयद्रव्य को जानने में समर्थ नहीं है। किस विशेषता वाले ज्ञेयद्रव्य को जानने में समर्थ नहीं है? ***सपज्जयं*–** अनन्त पर्याय सहित ज्ञेय द्रव्य को जानने में समर्थ नहीं है। कितनी संख्या सहित ज्ञेय द्रव्य को जानने में समर्थ नहीं है? ***एगं वा*–** एक भी ज्ञेयद्रव्य को जानने में समर्थ नहीं है।

१- प्रवचनसार, गाथा ४७, तत्त्वप्रदीपिका टीका।

तथा हि– आकाशद्रव्यं तावदेकं, धर्मद्रव्यमेकं, तथैवाधर्मद्रव्यं च लोकाकाशप्रमितासंख्येयकालद्रव्याणि, ततोऽनन्तगुणानि जीवद्रव्याणि, तेभ्योऽप्यनन्तगुणानि पुद्गलद्रव्याणि। तथैव सर्वेषां प्रत्येकमनन्तपर्यायाः, एतत्सर्वं ज्ञेयं तावत्तत्रैकः विवक्षितं जीवद्रव्यं ज्ञातृ भवति। एवं तावद्वस्तुस्वभावः।

तत्र यथा दहनः समस्तं दाह्यं दहन् सन् समस्तदाह्यहेतुकसमस्तदाह्याकारपर्यायपरिणतसकलैकदहनस्वरूपमुष्णपरिणततृणपर्णाद्याकारमात्मानं (स्वकीयस्वभावं) परिणमति, तथायमात्मा समस्तं ज्ञेयं जानन् सन् समस्तज्ञेयहेतुकसमस्तज्ञेयाकारपर्यायपरिणतसकलैकाखण्डज्ञानरूपं स्वकीयमात्मानं परिणमति जानाति परिच्छिनत्ति।

यथैव च स एव दहनः पूर्वोक्तलक्षणं दाह्यमदहन् सन् तदाकारेण न परिणमति, तथाऽऽत्मापि पूर्वोक्तलक्षणं समस्तं ज्ञेयमजानन् पूर्वोक्तलक्षणमेव सकलैकाखण्डज्ञानाकारं स्वकीयमात्मानं न परिणमति न जानाति न परिच्छिनत्ति।

अपरमप्युदाहरणं दीयते–यथा कोऽप्यन्धक आदित्यप्रकाश्यान् पदार्थानपश्यन्नादित्यमिव, प्रदीपप्रकाश्यान् पदार्थानपश्यन् प्रदीपमिव, दर्पणस्थबिम्बान्यपश्यन् दर्पणमिव, स्वकीयदृष्टिप्रकाश्यान् पदार्थानपश्यन् हस्तपादाद्यवयवपरिणतं स्वकीयदेहाकारमात्मानं स्वकीयदृष्ट्या न पश्यति, तथायं विवक्षितात्मापि केवलज्ञानप्रकाश्यान् पदार्थानजानन् सकलाखण्डैककेवलज्ञानरूपमात्मानमपि न जानाति।

तत एतत्स्थितं यः सर्वं न जानाति स आत्मानमपि न जानातीति ॥ ४९ ॥

वह इसप्रकार— आकाश द्रव्य एक, धर्म द्रव्य एक और इसी प्रकार अधर्म द्रव्य एक, लोकाकाश प्रमाण असंख्यातकालाणु ,उससे अनन्तगुणे जीव द्रव्य और उससे भी अनन्तगुणे पुद्गल द्रव्य हैं। उसीप्रकार सभी में से प्रत्येक की अनन्त पर्यायें ; ये सब ज्ञेय हैं तथा उनमें से एक विवक्षित जीव द्रव्य ज्ञाता है। इसप्रकार वस्तु का स्वभाव है।

वहाँ जैसे अग्नि समस्त जलाने योग्य पदार्थों को जलाती हुई सम्पूर्ण दाह्य के निमित्त से होने वाले सम्पूर्ण दाह्याकार पर्याय रूप से परिणत सम्पूर्ण एक दहन-स्वरूप उष्णरूप से परिणत घास-पत्ते आदि के आकार रूप स्वयं को परिणत करती है, उसीप्रकार यह आत्मा सम्पूर्ण ज्ञेयों को जानता हुआ सम्पूर्ण ज्ञेयों के निमित्त से होने वाले सम्पूर्ण ज्ञेयाकार पर्याय रूप से परिणत सकल एक अखण्ड ज्ञान रूप अपने आत्मा को परिणमित करता है, जानता है, निश्चित करता है।

और जैसे वही अग्नि पूर्वोक्त लक्षण दाह्य को नहीं जलाती हुई उस आकार रूप परिणत नहीं होती, उसी प्रकार आत्मा भी पूर्वोक्त लक्षण वाले सर्व ज्ञेयों को नहीं जानता हुआ पूर्वोक्त लक्षण वाले सकल एक अखण्ड ज्ञानाकार रूप अपने आत्मा को परिणमित नहीं करता, जानता नहीं, निश्चित नहीं करता है।

दूसरा भी उदाहरण देते हैं— जैसे कोई अन्धा सूर्य से प्रकाशित पदार्थों को नहीं देखता हुआ सूर्य को नहीं देखने के समान; दीपक से प्रकाशित पदार्थों को नहीं देखता हुआ दीपक को नहीं देखने के समान; दर्पण में स्थित बिम्ब को नहीं देखते हुये दर्पण को नहीं देखने के समान; अपनी दृष्टि से प्रकाशित पदार्थों को नहीं देखता हुआ हाथ-पैर आदि अंगों रूप से परिणत अपने शरीराकार स्वयं को अपनी दृष्टि से नहीं देखता; उसीप्रकार यह विवक्षित आत्मा भी केवलज्ञान से प्रकाशित पदार्थों को नहीं जानता हुआ सम्पूर्ण अखण्ड एक केवलज्ञान रूप आत्मा को भी नहीं जानता है।

इससे यह निश्चित हुआ कि जो सब को नहीं जानता, वह आत्मा को भी नहीं जानता ॥ ४९ ॥

अथैकमजानन् सर्वं न जानातीति निश्चिनोति-

दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादीणि।(४९)
ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि ॥ ५० ॥

दव्वं द्रव्यं *अणंतपज्जयं* अनन्तपर्यायं *एगं* एकं *अणंताणि दव्वजादीणि* अनन्तानि द्रव्यजातीनि *जो ण विजाणदि* यो न विजानाति अनन्तद्रव्यसमूहान् *किध सो सव्वाणि जाणादि* कथं स सर्वान् जानाति *जुगवं* युगपदेकसमये, न कथमपीति।

तथा हि- आत्मलक्षणं तावज्ज्ञानं तच्चाखण्डप्रतिभासमयं सर्वजीवसाधारणं महासामान्यम्। तच्च महासामान्यं ज्ञानमयानन्तविशेषव्यापि। ते च ज्ञानविशेषा अनन्तद्रव्यपर्यायाणां विषयभूतानां ज्ञेयभूतानां परिच्छेदका ग्राहकाः। अखण्डैकप्रतिभासमयं यन्महासामान्यं तत्स्वभावमात्मानं योऽसौ प्रत्यक्षं न जानाति स पुरुषः प्रतिभासमयेन महासामान्येन ये व्याप्ता अनन्तज्ञानविशेषास्तेषां विषयभूताः येऽनन्तद्रव्यपर्यायास्तान् कथं जानाति ? न कथमपि।

अब, एक को नहीं जानता हुआ सबको नहीं जानता है, ऐसा निश्चित करते हैं—

जो एक द्रव्य अनंत पर्यय नन्तद्रव्य समूह को।
नहिं जानता युगपत् यदि वह कैसे जाने सर्व को ॥ ५० ॥

गाथार्थ –यदि वह आत्मा अनन्त पर्यायों वाले एक द्रव्य (आत्मद्रव्य) को तथा अनन्त द्रव्य समूह को एक साथ नहीं जानता है तो वह सभी को कैसे जान सकेगा ? नहीं जान सकेगा।

प्रकारान्तर से गाथार्थ - यदि यह आत्मा अनन्त पर्याय युक्त एक द्रव्य को नहीं जानता है तो वह सर्व अनन्त द्रव्य समूह को एक साथ कैसे जान सकेगा ? नहीं जान सकेगा।

टीकार्थ– ***दव्वं***- द्रव्य ***अणंतपज्जयं***- अनन्त पर्याय ***एगं***- एक ***अणंताणि दव्वजादीणि***- अनन्त द्रव्य समूह को ***जो ण विजाणदि***– जो नहीं जानता है, ***किध सो सव्वाणि जाणादि***–वह सब को कैसे जान सकता है ? ***जुगवं*** - युगपत् - एक समय में, किसी भी तरह नहीं जान सकता है।

वह इसप्रकार- ज्ञान आत्मा का लक्षण है और वह अखण्ड प्रतिभासमय सभी जीवों में सामान्य रूप से पाया जाने वाला महा-सामान्य रूप है। और वह महासामान्य ज्ञानमय अनन्त विशेषों में व्याप्त है। और वे ज्ञान विशेष विषयभूत, ज्ञेयभूत अनन्त द्रव्य-पर्यायों के ज्ञायक—ग्राहक—जानने वाले हैं। अखण्ड एक प्रतिभासमय जो महासामान्य उस स्वभाव वाले आत्मा को जो वह प्रत्यक्ष नहीं जानता, तो वह पुरुष प्रतिभासमय महासामान्य से व्याप्त जो अनन्त ज्ञानविशेष, उनके विषयभूत जो अनन्त द्रव्य-पर्यायें, उन्हें कैसे जान सकता है ? किसी भी प्रकार नहीं जान सकता।

अथ एतदायातम्–यः आत्मानं न जानाति स सर्वं न जानातीति। तथा चोक्तम्–

"एको भावः सर्वभावस्वभावः सर्वे भावा एकभावस्वभावाः।

एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः, सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धाः"॥

अत्राह शिष्यः–आत्मपरिज्ञाने सति सर्वपरिज्ञानं भवतीत्यत्र व्याख्यातं, तत्र तु पूर्वसूत्रे भणितं सर्वपरिज्ञाने सत्यात्मपरिज्ञानं भवतीति। यद्येवं तर्हि छद्मस्थानां सर्वपरिज्ञानं नास्त्यात्मपरिज्ञानं कथं भविष्यति? आत्मपरिज्ञानाभावे चात्मभावना कथं? तदभावे केवलज्ञानोत्पत्तिर्नास्तीति।

परिहारमाह– परोक्षप्रमाणभूतश्रुतज्ञानेन सर्वपदार्था ज्ञायन्ते। कथमिति चेत्– लोकालोकादिपरिज्ञानं व्याप्तिज्ञानरूपेण छद्मस्थानामपि विद्यते, तच्च व्याप्तिज्ञानं परोक्षाकारेण केवलज्ञानविषयग्राहकं कथंचिदात्मैव भण्यते। अथवा स्वसंवेदनज्ञानेनात्मा ज्ञायते, ततश्च भावना क्रियते, तया रागादिविकल्परहितस्वसंवेदनभावनया केवलज्ञानं च जायते–इति नास्ति दोषः॥ ५०॥

अथ क्रमप्रवृत्तज्ञानेन सर्वज्ञो न भवतीति व्यवस्थापयति–

उप्पज्जदि जदि णाणं कमसो अट्ठे पडुच्च णाणिस्स। (५०)

तं णेव हवदि णिच्चं ण खाइगं णेव सव्वगदं॥ ५१॥

इससे यह निश्चित हुआ कि जो आत्मा को नहीं जानता वह सर्व को नहीं जानता। वैसा ही कहा है–

"एक भाव सर्वभाव-स्वभाव वाला है, सभी भाव एक भाव-स्वभाव वाले हैं; अतः जिसके द्वारा एक भाव वास्तविक रूप से जान लिया गया है, उसके द्वारा सभी भाव वास्तविक रूप से जान लिये गये हैं।"

यहाँ शिष्य कहता है– आत्मा की विशिष्ट जानकारी होने पर सभी की जानकारी होती है– ऐसा यहाँ कहा गया है, वहाँ पहले (४९ वीं गाथा में) सर्व की जानकारी होने पर आत्मा की जानकारी होती है–ऐसा कहा था। यदि ऐसा है तो छद्मस्थ जीवों को तो सभी की जानकारी नहीं है, उन्हें आत्मा की जानकारी कैसे होगी? आत्मा की जानकारी के अभाव में आत्मभावना कैसे होगी? और उसके अभाव में केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है।

आचार्य इसका निराकरण करते हैं–परोक्ष प्रमाणभूत श्रुतज्ञान द्वारा सभी पदार्थ जाने जाते हैं। श्रुतज्ञान द्वारा सभी पदार्थ कैसे जाने जाते हैं? यदि यह शंका हो तो कहते हैं– छद्मस्थों के भी व्याप्तिज्ञान (अनुमान ज्ञान) रूप से लोकालोकादि की जानकारी पाई जाती है। तथा केवलज्ञान सम्बन्धी विषय को ग्रहण करने वाला वह व्याप्तिज्ञान परोक्षरूप से कंथचित् आत्मा ही कहा गया है। अथवा स्वसंवेदनज्ञान से आत्मा जाना जाता है, और उससे भावना की जाती है, और उस रागादि विकल्प रहित स्वसंवेदन ज्ञान रूप भावना से केवलज्ञान उत्पन्न होता है– इसप्रकार दोष नहीं है॥५०॥

अब, क्रमप्रवृत्त (क्रम से पदार्थों को जानने वाले) ज्ञान से सर्वज्ञ नहीं होते हैं, ऐसी व्यवस्था करते हैं–ऐसा निश्चित करते हैं–

यदि ज्ञान ज्ञानी का प्रगट हो क्रमिक अर्थालम्ब से।

तो नहीं होता नित्य क्षायिक सर्वगत उस ज्ञान से॥ ५१॥

गाथार्थ– यदि ज्ञानी का ज्ञान क्रमशः पदार्थों का अवलम्बन कर उत्पन्न होता है, तो वह ज्ञान नित्य, क्षायिक एवं सर्वगत नहीं होता है।

उप्पज्जदि जदि णाणं उत्पद्यते ज्ञानं यदि चेत्। *कमसो* क्रमशः सकाशात्। किं कृत्वा। *अट्ठे पडुच्च* ज्ञेयार्थानाश्रित्य। कस्य। *णाणिस्स* ज्ञानिनः आत्मनः *तं णेव हवदि णिच्चं* उत्पत्तिनिमित्तभूतपदार्थविनाशे तस्यापि विनाश इति नित्यं न भवति। *ण खाइगं* ज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमाधीनत्वात् क्षायिकमपि न भवति। *णेव सव्वगदं*-यत एव पूर्वोक्तप्रकारेण पराधीनत्वेन नित्यं न भवति, क्षयोपशमाधीनत्वेन क्षायिकं च न भवति, तत एव युगपत्समस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावानां परिज्ञानसामर्थ्याभावात्सर्वगतं न भवति।

अत एतत्स्थितं यद्ज्ञानं क्रमेणार्थान् प्रतीत्य जायते तेन सर्वज्ञो न भवति इति ।। ५१ ।।

अथ युगपत्परिच्छित्तिरूपज्ञानेनैव सर्वज्ञो भवतीत्यावेदयति–

तिक्कालणिच्चविसमं सयलं सव्वत्थसंभवं चित्तं। (५१)

जुगवं जाणदि जोण्हं अहो हि णाणस्स माहप्पं ।। ५२ ।।

टीकार्थ– *उप्पज्जदि जदि णाणं*– यदि ज्ञान उत्पन्न होता है। *कमसो*–क्रम से। ज्ञान क्रम से क्या करके उत्पन्न होता है ? *अट्ठे पडुच्च*– ज्ञेय पदार्थों का आश्रय कर यदि ज्ञान उत्पन्न होता है ? *णाणिस्स*– ज्ञानी आत्मा का ज्ञान यदि क्रमशः ज्ञेयों का आश्रय कर उत्पन्न होता है, तो *तं णेव हवदि णिच्चं*– उत्पत्ति के निमित्तभूत पदार्थों का विनाश होने पर उसका भी विनाश हो जाता है; अतः वह ज्ञान नित्य नहीं है। *ण खाइगं*– ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की पराधीनता होने से क्षायिक भी नहीं है। *णेव सव्वगदं*- क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार से पराधीन होने के कारण नित्य नहीं है, क्षयोपशम के अधीन होने के कारण क्षायिक नहीं है ; इसलिए एक साथ सम्पूर्ण द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों, की जानकारी रूप सामर्थ्य का अभाव होने से सर्वगत नहीं है।

इससे यह निश्चित हुआ कि जो ज्ञान क्रम से पदार्थों का आश्रय लेकर उत्पन्न होता है, उस ज्ञान से सर्वज्ञ नहीं होते हैं।

भावार्थ– ज्ञानी आत्मा का जो ज्ञान क्रमशः पदार्थों का आश्रय लेकर उत्पन्न होता है, वह ज्ञान, पदार्थों के नष्ट हो जाने पर नष्ट हो जाने से नित्य नहीं है, ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के अधीन होने से क्षायिक नहीं है, तथा नित्य और क्षायिक नहीं होने से सर्व पदार्थों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को एक साथ जानने में असमर्थ होने से सर्वगत नहीं है।

अतः यह तथ्य फलित हुआ कि क्रम-प्रवृत्त क्षयोपशम ज्ञान से आत्मा सर्वज्ञ नहीं होता है ।। ५१ ।।

अब, एक साथ जानकारी रूप ज्ञान से ही सर्वज्ञ होते हैं, ऐसा आवेदन करते हैं–

त्रैकाल्य नित्य विषम सकल सर्वत्र स्थित विविध को।

जिन-ज्ञान का माहात्म्य यह जो जानता युगपद् अहो ।। ५२ ।।

गाथार्थ - त्रिकालवर्ती, सदा विषम, सर्वक्षेत्र के, विविध प्रकार के, सर्व पदार्थों को जिनदेव का ज्ञान एक साथ जानता है, अहो ! यह ज्ञान का माहात्म्य है।

जाणदि जानाति । किं कर्तृ । *जोण्हं* जैनज्ञानम् । कथम् । *जुगवं* युगपदेकसमये । *अहो हि णाणस्स माहप्पं* अहो हि स्फुटं जैनज्ञानस्य माहात्म्यं पश्यताम् । किं जानाति । अर्थमित्यध्याहारः । कथंभूतम् । *तिक्कालणिच्चविसयं* त्रिकालविषयं त्रिकालगतं नित्यं सर्वकालम् । पुनरपि किंविशिष्टम् । *सयलं* समस्तम् । पुनरपि कथंभूतम् । *सव्वत्थ संभवं* सर्वत्र लोके संभवं समुत्पन्नं स्थितम् । पुनश्च किंरूपम् । *चित्तं* नानाजातिभेदेन विचित्रमिति ।

तथा हि- युगपत्सकलग्राहकज्ञानेन सर्वज्ञो भवतीति ज्ञात्वा किं कर्तव्यम् । ज्योतिष्कमन्त्रवादरससिद्ध्यादीनि यानि खण्डविज्ञानानि मूढजीवानां चित्तचमत्कारकारणानि परमात्मभावनाविनाशकानि च तत्राग्रहं त्यक्त्वा जगत्त्रयकालत्रयसकलवस्तुयुगपत्प्रकाशकमविनश्वरमखण्डैकप्रतिभासरूपं सर्वज्ञशब्दवाच्यं यत्केवलज्ञानं तस्यैवोत्पत्तिकारणभूतं यत्समस्तरागादिविकल्पजालेन रहितं सहजशुद्धात्मनोऽभेदज्ञानं तत्र भावना कर्तव्या, इति तात्पर्यम् ।। ५२ ।।

एवं केवलज्ञानमेव सर्वज्ञ इति कथनरूपेण गाथैका, तदनन्तरं सर्वपदार्थपरिज्ञानात्परमात्मज्ञानमिति प्रथमगाथा परमात्मज्ञानाच्च सर्वपदार्थपरिज्ञानमिति द्वितीया चेति । ततश्च क्रमप्रवृत्तज्ञानेन सर्वज्ञो न भवतीति प्रथमगाथा, युगपद्ग्राहकेण स भवतीति द्वितीया चेति समुदायेन सप्तमस्थले गाथापंचकं गतम् ।

टीकार्थ—*जाणदि*—जानता है । इस क्रिया का कर्ता कौन है ? कौन जानता है ? *जोण्हं* - जिनेन्द्र भगवान का ज्ञान जानता है । उनका ज्ञान कैसे जानता है ? *जुगवं* - एक साथ-एक समय में जानता है । *अहो हि णाणस्स माहप्पं*- अहो ! स्पष्ट रूप से यह जैन-ज्ञान केवलज्ञान की महिमा देखो । वह ज्ञान किसे जानता है ? पदार्थ को जानता है । यहाँ अर्थ (पदार्थ) शब्द अध्याहार है अर्थात् पूर्व गाथा से लिया गया है । वे पदार्थ कैसे हैं ? *तिक्कालणिच्चविसयं*—तीन काल सम्बन्धी विषय-सर्वकाल स्थित हैं । वे पदार्थ और किस विशेषता वाले हैं ? *सयलं*—सम्पूर्ण हैं । वे पदार्थ और कैसे हैं ? *सव्वत्थसम्भवं*— लोक में सर्वत्र स्थित हैं । वे और कैसे हैं ? *चित्तं*—अनेक जातियों के भेद से विचित्र हैं ।

वह इसप्रकार—एक साथ सम्पूर्ण पदार्थों को जानने वाले ज्ञान से सर्वज्ञ होते हैं-ऐसा जानकर क्या करना चाहिये ? अज्ञानी जीवों के चित्त को चमत्कृत करने के कारण और परमात्मा सम्बन्धी भावना को नष्ट करने वाले जो ज्योतिष्क, मन्त्रवाद, रससिद्धि आदि खण्ड-विज्ञान—एकदेशज्ञान—क्षयोपशम-ज्ञान हैं; वहाँ आग्रह छोड़कर तीन लोक-तीन कालवर्ती सम्पूर्ण वस्तुओं को एक साथ प्रकाशित करने वाले अविनश्वर, अखण्ड, एक प्रतिभासमय सर्वज्ञ शब्द से वाच्य जो केवलज्ञान उसकी उत्पत्ति का कारणभूत जो सम्पूर्ण रागादि विकल्प जाल रहित सहज शुद्धात्मा से अभेदरूप ज्ञान उसकी ही भावना करना चाहिये—यह तात्पर्य है ।। ५२ ।।

इसप्रकार केवलज्ञान ही सर्वज्ञ है—इस कथन रूप से एक गाथा, इसके बाद सर्व पदार्थों की जानकारी से परमात्मज्ञान होता है—इस कथन परक पहली गाथा और परमात्मज्ञान से सभी पदार्थों की जानकारी होती है—इस प्रकार दूसरी गाथा है । इसकेबाद क्रमप्रवृत्त-ज्ञान से सर्वज्ञ नहीं होते हैं— इसप्रकार पहली गाथा तथा एक साथ सबको जानने वाले ज्ञान से सर्वज्ञ होते हैं—इस प्रकार दूसरी गाथा—इसप्रकार सामूहिक रूप से सातवें स्थल में पाँच गाथायें पूर्ण हुईं ।

अथ पूर्वं यदुक्तं पदार्थपरिच्छित्तिसद्भावेऽपि रागद्वेषमोहाभावात् केवलिनां बन्धो नास्तीति तमेवार्थं प्रकारान्तरेण दृढीकुर्वन् ज्ञानप्रपंचाधिकारमुपसंहरति–

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु। (५२)

जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो ॥ ५३ ॥

ण वि परिणमदि यथा स्वकीयात्मप्रदेशैः समरसीभावेन सह परिणमति तथा ज्ञेयरूपेण न परिणमति। *ण गेण्हदि* यथैव चानन्तज्ञानादिचतुष्टयरूपमात्मरूपमात्मरूपतया गृह्णाति तथा ज्ञेयरूपं न गृह्णाति। *उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु* यथा च निर्विकारपरमानन्दैकसुखरूपेण स्वकीयसिद्धपर्यायेणोत्पद्यते तथैव च ज्ञेयपदार्थेषु नोत्पद्यते। किं कुर्वन्नपि। *जाणण्णवि ते* तान् ज्ञेयपदार्थान् स्वस्मात् पृथग्रूपेण जानन्नपि। स कः कर्ता। *आदा* मुक्तात्मा। *अबंधगो तेण पण्णत्तो* ततः कारणात्कर्मणामबन्धकः प्रज्ञप्त इति।

तद्यथा — रागादिरहितज्ञानं बन्धकारणं न भवतीति ज्ञात्वा शुद्धात्मोपलम्भलक्षणमोक्षविपरीतस्य नारकादिदुःखकारणकर्मबन्धस्य कारणानीन्द्रियमनोजनितान्येकदेशविज्ञानानि त्यक्त्वा सकलविमलकेवलज्ञानस्य कर्मबन्धाकारणभूतस्य यद्बीजभूतं निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानं तत्रैव भावना कर्तव्येत्यभिप्रायः ॥ ५३ ॥

(अब, ज्ञान प्रपंचाधिकार उपसंहार परक एक गाथा वाला आठवाँ स्थल प्रारम्भ होता है ।)

अब, पूर्वोक्त पदार्थों की जानकारी का सद्भाव होने पर भी राग-द्वेष-मोह का अभाव होने से केवली के बंध नहीं है; पूर्वोक्त इसी अर्थ को दूसरे रूप में दृढ़ करते हुये ज्ञान प्रपंच अधिकार का उपसंहार करते हैं—

ना परिणमन ना ग्रहण ना उत्पन्न अर्थ समूह में।

जो मात्र जानें अर्थ को इससे अबंधक जिन कहे ॥ ५३ ॥

गाथार्थ-(केवली भगवान) उन पदार्थों को जानते हुये भी उस रूप परिणमित नहीं होते, उन्हें ग्रहण नहीं करते तथा उन रूप से उत्पन्न नहीं होते; इसलिये अबंधक कहे गये हैं ।

टीकार्थ - ***ण वि परिणमदि***—जैसे अपने आत्म-प्रदेशों के साथ समरसी भाव से परिणत होते हैं, वैसे ज्ञेयरूप से परिणत नहीं हैं । ***ण गेण्हदि***-और जैसे अनन्त-ज्ञानादि चतुष्टय-स्वरूप स्वयं को स्वयं से ग्रहण करते हैं, वैसे ज्ञेयरूप को ग्रहण नहीं करते हैं । ***उपज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु***-और जैसे निर्विकार परमानंद एक सुखरूप अपनी सिद्ध पर्याय से उत्पन्न होते हैं, वैसे ही ज्ञेय पदार्थों में उत्पन्न नहीं होते । क्या करते हुये भी ये सब नहीं करते हैं ? ***जाणण्णवि ते***-स्वयं से पृथक् रूप उन ज्ञेय पदार्थों को जानते हुये भी, उन रूप परिणमन आदि क्रियाओं को नहीं करते हैं । उनको जानते हुये भी, उन रूप परिणमन आदि, कौन नहीं करते —इस क्रिया का कर्ता कौन है ? ***आदा***-मुक्तात्मा-केवली भगवान, उन्हें जानते हुये भी, उन रूप परिणमन आदि नहीं करते हैं । ***अबंधगो तेण पण्णत्तो***— इस कारण उन्हें कर्मों का अबंधक कहा है ।

वह इस प्रकार—रागादि रहित ज्ञान बन्ध का कारण नहीं है—ऐसा जानकर शुद्धात्मा की परिपूर्ण प्राप्ति लक्षण मोक्ष से विपरीत नारकादि दुःखों के कारणभूत कर्मबन्ध के कारण इन्द्रिय-मन से उत्पन्न एकदेश-विज्ञान को छोड़कर, कर्मबंध के अकारणभूत परिपूर्ण निर्मल केवलज्ञान के बीजभूत निर्विकार स्वसंवेदन-ज्ञान में ही भावना करना चाहिये— यह अभिप्राय है ।

एवं रागद्वेषमोहरहितत्वात्केवलिनां बन्धो नास्तीति कथनरूपेण ज्ञानप्रपंचसमाप्तिमुख्यत्वेन चैकसूत्रेणाष्टमस्थलं गतम् ।

अथ ज्ञानप्रपंचव्याख्यानानन्तरं ज्ञानाधारसर्वज्ञं नमस्करोति—

तस्स णमाइं लोगो देवासुरमणुअरायसंबंधो ।
भत्तो करेदि णिच्चं उवजुत्तो तं तहा वि अहं ॥ ५४ ॥

करेदि करोति । स कः । *लोगो* लोकः । कथंभूतः । *देवासुरमणुअरायसंबंधो* देवासुरमनुष्यराजसंबंधः । पुनरपि कथंभूतः । *भत्तो* भक्तः । *णिच्चं* नित्यं सर्वकालम् । पुनरपि किंविशिष्टः । *उवजुत्तो* उपयुक्त उद्यतः ।

भावार्थ—मुक्तात्मा केवली भगवान सभी परद्रव्यों को युगपत् जानते हुये भी अपने आत्म-प्रदेशों के साथ समरसी भाव से परिणमित होने के समान अन्य ज्ञेयों रूप से परिणत नहीं होते, अनन्त-ज्ञानादि चतुष्टय रूप स्वयं को स्वयं से ग्रहण करते हुये के समान अन्य ज्ञेयों को ग्रहण नहीं करते तथा निर्विकार परमानन्द एक सुख-रूप अपनी सिद्ध पर्याय से उत्पन्न होने के समान ज्ञेय पदार्थ रूप से उत्पन्न नहीं होते; अतः उन्हें कर्मों का बन्धन नहीं होता—ऐसा कहा है ।

विशेषार्थ—(इस प्रकरण की पूर्णता में) ज्ञानी को मुक्त सिद्ध करते हुये "आचार्य अमृतचन्द्र" ने यहाँ एक पद्य काव्य लिखा है, जिसका भाव यह है—

"कर्मों को नष्ट कर देने वाला आत्मा, भूत-भावि-वर्तमान सम्पूर्ण विश्व को एक साथ जानता हुआ भी, मोह के अभाव में, उस रूप परिणमित नहीं होता; इससे तीनलोकवर्ती ज्ञेयाकारों को, अत्यन्त विकसित ज्ञप्ति के विस्तार से, पी गये की भाँति पृथक्-अपृथक् प्रकाशित करता हुआ वह ज्ञानमूर्ति, मुक्त ही है [१] ॥ ५३ ॥

इसप्रकार राग-द्वेष-मोह से रहित होने के कारण केवली को बंध नहीं है — इस कथन रूप ज्ञान प्रपंचाधिकार की समाप्ति की मुख्यता परक एक गाथा द्वारा आठवाँ स्थल पूर्ण हुआ ।

अब, ज्ञानप्रपंच व्याख्यान के बाद ज्ञान के आधारभूत सर्वज्ञ को नमस्कार करते हैं—

सुरपति असुरपति नरपति जिन-भक्त करते नमन नित ।
मैं भी उन्हीं सर्वज्ञ को करता नमन उपयुक्त चित ॥ ५४ ॥

गाथार्थ-देवराज, असुरराज और मनुजराज सम्बन्धी भक्तलोक उपयोगपूर्वक हमेशा उन सर्वज्ञ भग-वान को नमस्कार करते हैं; मैं भी उसीप्रकार उनको नमस्कार करता हूँ ।

टीकार्थ - ***करेदि***-करता है । वह कौन करता है ? ***लोगो***-लोक करता है । कैसा लोक करता है ? ***देवासुरमणुअरायसंबंधो***-देवेन्द्र, असुरेन्द्र और नरेन्द्र सम्बन्धी लोक करता है । और वह लोक कैसा है ? **भत्तो**-भक्त है । ***णिच्चं***-सदैव । और वह लोक किस विशेषता वाला है ? ***उवजुत्तो***-उपयोगयुक्त अथवा

१–तत्त्व प्रदीपिका टीका, पद्य ४ ।

इत्थंभूतो लोक: कां करोति। *णमाइं* नमस्यां नमस्क्रियाम्। कस्य। *तस्स* तस्य पूर्वोक्तसर्वज्ञस्य। *तं तहा वि अहं* तं सर्वज्ञं तथा तेनैव प्रकारेणाहमपि ग्रन्थकर्ता नमस्करोमीति। अयमत्रार्थ:— यथा देवेन्द्रचक्रवर्त्यादयोऽनन्ताक्षयसुखादिगुणास्पदं सर्वज्ञस्वरूपं नमस्कुर्वन्ति, तथैवाहमपि तत्पदाभिलाषी परमभक्त्या प्रणमामि ॥ ५४ ॥

एवमष्टाभि: स्थलैर्द्वात्रिंशद्गाथास्तदनन्तरं नमस्कारगाथा चेति समुदायेन त्रयस्त्रिंशत्सूत्रैर्ज्ञानप्रपंचनामा तृतीयोऽन्तराधिकार: समाप्त:।

अथ सुखप्रपंचाभिधानान्तराधिकारेऽष्टादश गाथा भवन्ति। अत्र पंचस्थलानि, तेषु प्रथमस्थले *'अत्थि अमुत्तं'* इत्याद्यधिकारगाथासूत्रमेकं, तदनन्तरमतीन्द्रियज्ञानमुख्यत्वेन *'जं पेच्छदो'* इत्यादि सूत्रमेकं, अथेन्द्रियज्ञानमुख्यत्वेन *'जीवो सयं अमुत्तो'* इत्यादि गाथाचतुष्टयं, तदनन्तरमतीन्द्रियसुखमुख्यतया *'जादं सयं'* इत्यादि गाथाचतुष्टयं, अथानन्तरमिन्द्रियसुखप्रतिपादनरूपेण गाथाष्टकम्।

तत्राप्यष्टकमध्ये प्रथमत इन्द्रियसुखस्य दु:खत्वस्थापनार्थं 'मणुआसुरा' इत्यादि गाथाद्वयं, अथ मुक्तात्मनां

प्रयत्नशील है। ऐसा लोक क्या करता है ? ***णमाइं***- नमस्कार करता है। किन्हें नमस्कार करता है ? उन पूर्वोक्त सर्वज्ञ को नमस्कार करता है। । ***तं तहा वि अहं***- मैं ग्रन्थकर्ता भी उन सर्वज्ञ को उसीप्रकार से नमस्कार करता हूँ।

यहाँ अर्थ यह है कि जैसे देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदि अनन्त, अक्षय सुखादि गुणों के स्थानभूत सर्वज्ञ स्वरूप को नमस्कार करते हैं; उसीप्रकार उस पद का अभिलाषी मैं भी परम भक्ति से उनको प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ - जैसे देवेन्द्र, असुरेन्द्र और नरेन्द्र सम्बन्धी लोक हमेशा भक्तिपूर्वक उपयोग युक्त मन से (उनके गुणों का स्मरण करते हुये) अनन्त, अक्षय सुखादि गुणों के आधारभूत सर्वज्ञ भगवान को नमस्कार करते हैं; उसीप्रकार उस पद का अभिलाषी मैं भी भक्तिपूर्वक उपयुक्त चित्त से उन्हें नमस्कार करता हूँ ॥ ५४ ॥

इसप्रकार आठ स्थलों द्वारा ३२ गाथायें और उसके बाद एक नमस्कार-गाथा— इसप्रकार सामूहिक रूप से ३३ गाथाओं द्वारा ***ज्ञानप्रपंच*** नामक तीसरा अन्तराधिकार पूर्ण हुआ।

अब ***'सुखप्रपंच'*** नामक चतुर्थान्तराधिकार में अठारह गाथायें हैं। यहाँ पाँच स्थल हैं- उनमें से पहले स्थल में ***'अत्थि अमुत्तं'*** इत्यादि एक अधिकार गाथा, इसके बाद दूसरे स्थल में अतीन्द्रियज्ञान की मुख्यता से ***'जं पेच्छदो'*** इत्यादि एक गाथा; इसके बाद तीसरे स्थल में इन्द्रियज्ञान की मुख्यता से ***'जीवो सयं अमुत्तो'*** इत्यादि चार गाथायें; तत्पश्चात् चौथे स्थल में अतीन्द्रियसुख की मुख्यता से ***'जादं सयं'*** इत्यादि चार गाथायें तथा तदनन्तर पाँचवे स्थल में इन्द्रियसुख के प्रतिपादन रूप से आठ गाथायें हैं।

पाँचवे स्थल की उन आठ गाथाओं में से भी सर्वप्रथम इन्द्रियसुख को दु:खरूप से स्थापन के लिये ***'मणुआसुरा '*** इत्यादि दो गाथायें, उसके बाद मुक्तात्माओं को शरीर के अभाव में भी सुख है— यह बताने

देहाभावेऽपि सुखमस्तीति ज्ञापनार्थं देहः सुखकारणं न भवतीति कथनरूपेण '*पप्पा इट्ठे विसये*' इत्यादि सूत्रद्वयं, तदनन्तरमिन्द्रियविषया अपि सुखकारणं न भवन्तीति कथनेन '*तिमिरहरा*' इत्यादि गाथाद्वयम्, अतोऽपि सर्वज्ञनमस्कारमुख्यत्वेन '*तेजोदिट्ठि*' इत्यादि गाथाद्वयम्। एवं पंचमस्थले अन्तरस्थलचतुष्टयं भवतीति सुखप्रपंचाधिकारे समुदायपातनिका ॥

अथातीन्द्रियसुखस्योपादेयभूतस्य स्वरूपं प्रपंचयन्नतीन्द्रियज्ञानमतीन्द्रियसुखं चोपादेयमिति, यत्पुनरिन्द्रियजं ज्ञानं सुखं च तद्धेयमिति प्रतिपादनरूपेण प्रथमतस्तावदधिकारस्थलगाथया स्थलचतुष्टयं सूत्रयति–

के लिये शरीर सुख का कारण नहीं है– इस कथनरूप से '*पप्पा इट्ठे विसये*' इत्यादि दो गाथायें, तत्पश्चात् इन्द्रिय- विषय भी सुख के कारण नहीं हैं– इस कथन रूप से '*तिमिरहरा*'- इत्यादि दो गाथायें और इसके बाद सर्वज्ञनमस्कार की मुख्यता से '*तेजोदिट्ठि*'- इत्यादि दो गाथायें हैं । इसप्रकार पाँचवें स्थल में चार अन्तर स्थल हैं ।

इसप्रकार सुखप्रपंचाधिकार में समुदायपातनिका हुई ।

सुखप्रपंच संज्ञक चतुर्थान्तराधिकार – स्थल विभाजन (गाथा ५५ से ७२)

स्थल क्रम	स्थल प्रतिपादित संक्षिप्त विषय-वस्तु	गाथा कहाँ से कहाँ तक	कुल गाथा संख्या
प्रथम	अधिकार गाथा	५५	१
द्वितीय	अतीन्द्रियज्ञान की प्रधानता परक	५६	१
तृतीय	इन्द्रियज्ञान की प्रधानता परक	५७ से ६०	४
चतुर्थ	अतीन्द्रियसुख की प्रधानता परक	६१ से ६४	४
पंचम	इन्द्रियसुख प्रतिपादन परक	६५ से ७२	८
पंचम क	इन्द्रियसुख दुःख प्रतिपादक	६५ व ६६	२
पंचम ख	शरीर सुख का कारण नहीं	६७ व ६८	२
पंचम ग	इन्द्रिय-विषय भी सुख के कारण नहीं	६९ व ७०	२
पंचम घ	सर्वज्ञ-नमस्कार परक	७१ व ७२	२
कुल पाँच स्थल			कुल १८ गाथायें

(अब, यहाँ अधिकार- गाथा रूप से पहला स्थल प्रारम्भ होता है ।)

अब, उपादेयभूत अतीन्द्रियसुख के स्वरूप का विस्तार करते हुये अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख उपादेय हैं, तथा इन्द्रिय जन्य ज्ञान और सुख हेय हैं– इसप्रकार प्रतिपादन रूप से सबसे पहले प्रथम अधिकार स्थल गाथा द्वारा चार स्थलों को सूत्रित करते हैं (व्यवस्थित करते हैं) –

अत्थि अमुत्तं मुत्तं अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु । (५३)

णाणं च तहा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं ॥ ५५ ॥

अत्थि अस्ति विद्यते । किं कर्तृ । *णाणं* ज्ञानमिति भिन्नप्रक्रमो व्यवहितसम्बन्धः । किंविशिष्टम्। *अमुत्तं मुत्तं* अमूर्तं मूर्तं च । पुनरपि किंविशिष्टम् । *अदिंदियं इंदियं च* यदमूर्तं तदतीन्द्रियं मूर्तं पुनरिन्द्रियजम् । इत्थंभूतं ज्ञानमस्ति । केषु विषयेषु । *अत्थेसु* ज्ञेयपदार्थेषु, *तहा सोक्खं* च तथैव ज्ञानवदमूर्तमतीन्द्रियं मूर्तमिन्द्रियजं च सुखमिति । *जं तेसु परं च तं णेयं* यत्तेषु पूर्वोक्तज्ञानसुखेषु मध्ये परमुत्कृष्टमतीन्द्रियं तदुपादेयमिति ज्ञातव्यम् ।

तदेव विव्रियते-अमूर्ताभिः क्षायिकीभिरतीन्द्रियाभिश्चिदानन्दैकलक्षणाभिः शुद्धात्मशक्तिभिरुत्पन्नत्वादतीन्द्रियज्ञानं सुखं चात्माधीनत्वेनाविनश्वरत्वादुपादेयमिति, पूर्वोक्तामूर्तशुद्धात्मशक्तिभ्योविलक्षणाभिः क्षायोपशमिकेन्द्रियशक्तिभिरुत्पन्नत्वादिन्द्रियजं ज्ञानं सुखं च परायत्तत्वेन विनश्वरत्वाद्धेयमिति तात्पर्यम् ॥ ५५ ॥

एवमधिकारगाथया प्रथमस्थलं गतम् ।

अनमूर्त मूर्त तथा अतीन्द्रिय इन्द्रियज सुख ज्ञान जो ।

हैं अर्थ सम्बन्धी उन्हीं में ग्राह्य जानो मुख्य जो ॥ ५५ ॥

गाथार्थ– पदार्थों सम्बन्धी ज्ञान और सुख अमूर्त, मूर्त, अतीन्द्रिय और इन्द्रिय रूप होता है । उनमें जो प्रधान है, वह उपादेय रूप जानना चाहिये ।

टीकार्थ– ***अत्थि–*** है । क्या है–इस क्रिया का कर्ता कौन है ? ***णाणं–*** ज्ञान है–यहाँ भिन्न विशिष्ट क्रम परस्पर सम्बन्ध-रहितता का सूचक है । वह ज्ञान किस विशेषता वाला है ? ***अमुत्तं मुत्तं–*** अमूर्त और मूर्त है । वह ज्ञान और किस विशेषता वाला है ? ***अदिंदियं इंदियं च–*** जो ज्ञान अमूर्त है, वह अतीन्द्रिय है और जो मूर्त है, वह इन्द्रियजन्य है । इन विशेषताओं वाला ज्ञान है । इन विशेषताओं वाला ज्ञान किन विषयों में है ? ***अत्थेसु–*** ऐसा ज्ञान, ज्ञेय पदार्थों के सम्बन्ध में है । ***तहा सोक्खं च–*** उसीप्रकार ज्ञान के समान अमूर्त, अतीन्द्रिय और मूर्त, इन्द्रिय जन्य सुख होता है । ***जं तेसु परं च तं णेयं–*** उन पूर्वोक्त ज्ञान और सुख के मध्य जो उत्कृष्ट अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख है, वह उपादेय है–ऐसा जानना चाहिये ।

उसका ही विस्तार करते हैं–अमूर्त, क्षायिकी, अतीन्द्रिय, चिदानन्द एक लक्षण वाली शुद्धात्म-शक्तियों से उत्पन्न होने के कारण स्वाधीन और अविनश्वर होने से अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख उपादेय है; तथा पूर्वोक्त अमूर्त शुद्धात्म-शक्तियों से विरुद्ध लक्षण वाली क्षायोपशमिक इन्द्रिय- शक्तियों से उत्पन्न होने के कारण पराधीन और विनश्वर होने से इन्द्रियजन्य ज्ञान और सुख हेय है– यह तात्पर्य है ॥ ५५ ॥

इसप्रकार एक अधिकार-गाथा रूप से पहला स्थल पूर्ण हुआ ।

अथ पूर्वोक्तमुपादेयभूतमतीन्द्रियज्ञानं विशेषेण व्यक्तीकरोति—

जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं।(५४)

सयलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं॥ ५६॥

जं यदतीन्द्रियं ज्ञानं कर्तृ। *पेच्छदो* प्रेक्षमाणपुरुषस्य जानाति। किं किम्। *अमुत्तं* अमूर्तमतीन्द्रियनिरुपरागसदानन्दैकसुखस्वभावं यत्परमात्मद्रव्यं तत्प्रभृति समस्तामूर्तद्रव्यसमूहं *मुत्तेसु अदिंदियं च* मूर्तेषु पुद्गलद्रव्येषु यदतीन्द्रियं परमाण्वादि। *पच्छण्णं* कालाणुप्रभृतिद्रव्यरूपेण प्रच्छन्नं व्यवहितमन्तरितं, अलोकाकाशप्रदेशप्रभृति क्षेत्रप्रच्छन्नं, निर्विकारपरमानन्दैकसुखास्वादपरिणतिरूपपरमात्मनो वर्तमानसमयगतपरिणामास्तत्प्रभृतयो ये समस्तद्रव्याणां वर्तमानसमयगतपरिणामास्ते कालप्रच्छन्नाः, तस्यैव परमात्मनः सिद्धरूपशुद्धव्यंजनपर्यायः शेषद्रव्याणां च ये यथासंभवं व्यंजनपर्यायास्तेष्वन्तर्भूताः प्रतिसमयप्रवर्तमानषट्प्रकारप्रवृद्धिहानिरूपा अर्थपर्याया भावप्रच्छन्ना भण्यन्ते। *सयलं* तत्पूर्वोक्तं समस्तं ज्ञेयं द्विधा भवति। कथमिति चेत्। *सगं च इदरं* किमपि यथासंभवं स्वद्रव्यगतं इतरत्परद्रव्यगतं च। तदुभयं यतः कारणाज्जानाति तेन कारणेन *तं णाणं* तत्पूर्वोक्तज्ञानं *हवदि* भवति। कथंभूतम्। *पच्चक्खं* प्रत्यक्षमिति।

(अब, यहाँ अतीन्द्रिय ज्ञान की प्रधानता परक दूसरा स्थल प्रारम्भ होता है ।)

अब, पूर्वोक्त उपादेयभूत अतीन्द्रिय ज्ञान को विशेष रूप से व्यक्त करते हैं—

जो हैं अमूर्त तथा अतीन्द्रिय मूर्त व्यवहित सर्व को।

जो जानता है स्वपर को प्रत्यक्ष होता ज्ञान वो॥ ५६॥

गाथार्थ - देखने वाले का जो ज्ञान अमूर्त, मूर्त में भी अतीन्द्रिय, प्रच्छन्न, सम्पूर्ण तथा स्व और पर को जानता है; वह ज्ञान प्रत्यक्ष है ।

टीकार्थ— *जं*— जो अतीन्द्रिय ज्ञान रूप कर्ता है, अर्थात् इस वाक्य का कर्ता जो ज्ञान है । *पेच्छदो*— देखने वाले पुरुष का वह ज्ञान जानता है । उसका वह ज्ञान क्या-क्या जानता है ? *अमुत्तं*— अमूर्त अतीन्द्रिय, निरुपराग, सदानन्द एक सुख स्वभाव वाले परमात्मद्रव्य प्रभृति सर्व अमूर्त द्रव्य-समूह को, *मुत्तेसु अदिंदियं च*— मूर्त पुद्‌गल द्रव्यों में जो अतीन्द्रिय पुद्‌गल परमाणु आदि हैं, उन्हें जानता है । *पच्छण्णं*— कालाणु आदि द्रव्य रूप से प्रच्छन्न व्यवहित-अन्तरित-सूक्ष्म; अलोकाकाश के प्रदेशों से लेकर (अन्य द्रव्यों के प्रदेश) क्षेत्र-प्रच्छन्न; निर्विकार परमानन्द एक सुखस्वाद रूप से परिणत परमात्मा के वर्तमान समयवर्ती परिणामों से लेकर जो सम्पूर्ण द्रव्यों के वर्तमान समयवर्ती परिणाम, वे काल रूप से प्रच्छन्न; तथा उन्हीं परमात्मा की सिद्धरूप शुद्ध व्यंजन पर्याय और शेष द्रव्यों की जो यथासंभव व्यंजन पर्यायें, उनमें गर्भित प्रति समय होने वाली षट्प्रकार हानि-वृद्धि रूप अर्थ पर्यायें भाव-प्रच्छन्न कही गई हैं । *सयलं*—वे पूर्वोक्त सर्व ज्ञेय दो प्रकार के हैं । वे ज्ञेय दो प्रकार के कैसे हैं ? *सगं च इदरं*— यथासंभव कोई ज्ञेय स्वद्रव्यगत है और अन्य पर द्रव्यगत हैं । उन दोनों को जिस कारण जानता है, उस कारण *तं णाणं*— वह पूर्वोक्त ज्ञान *हवदि*-है । वह ज्ञान कैसा है ? वह ज्ञान *पच्चक्खं*— प्रत्यक्ष है ।

अत्राह शिष्यः—ज्ञानप्रपंचाधिकारः पूर्वमेव गतः, अस्मिन् सुखप्रपंचाधिकारे सुखमेव कथनीयमिति। परिहारमाह – यदतीन्द्रियं ज्ञानं पूर्वं भणितं तदेवाभेदनयेन सुखं भवतीति ज्ञापनार्थं, अथवा ज्ञानस्य मुख्यवृत्त्या तत्र हेयोपादेयचिन्ता नास्तीति ज्ञापनार्थं वा ।।५६ ।।

एवमतीन्द्रियज्ञानमुपादेयमिति कथनमुख्यत्वेनैकगाथया द्वितीयस्थलं गतम् ।

अथ हेयभूतस्येन्द्रियसुखस्य कारणत्वादल्पविषयत्वाच्चेन्द्रियज्ञानं हेयमित्युपदिशति

जीवो सयं अमुत्तो मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं । (५५)
ओगेण्हित्ता जोग्गं जाणदि वा तं ण जाणादि ।। ५७ ।।

यहाँ शिष्य कहता है—ज्ञान-प्रपंचाधिकार पहले ही पूर्ण हो गया है, इस सुख-प्रपंचाधिकार में सुख ही कहना चाहिये । आचार्य उसका निराकरण करते हैं—जो अतीन्द्रिय-ज्ञान पहले कहा गया है, वही अभेदनय से सुख है— ऐसा बताने के लिये अथवा वहाँ ज्ञान की मुख्यता होने से हेयोपादेय विचार नहीं किया है—यह बताने के लिये सुखप्रपंचाधिकार में भी ज्ञान का स्वरूप स्पष्ट करते हैं ।

भावार्थ— केवली-भगवान का वह केवलज्ञान इन्द्रिय-रहित, उपराग (मलिनता) रहित, हमेशा आनन्दमय एक सुख-स्वभावी परमात्मा आदि सभी अमूर्त द्रव्यों और अतीन्द्रिय पुद्‌गल परमाणु आदि मूर्त द्रव्यों को तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से प्रच्छन्न (सूक्ष्म) सभी पदार्थों को तथा इसीप्रकार यथासंभव कोई एक जीव स्वद्रव्य रूप ज्ञेय और शेष परद्रव्य रूप ज्ञेय—इसप्रकार सभी ज्ञेयों को प्रत्यक्ष जानता है ।

कालाणु आदि द्रव्य-प्रच्छन्न, आकाश- प्रदेश आदि क्षेत्र-प्रच्छन्न, परमात्मद्रव्य आदि सभी द्रव्यों के वर्तमान समयवर्ती परिणाम काल-प्रच्छन्न तथा परमात्मा की सिद्ध रूप शुद्ध व्यंजन-पर्याय और शेष द्रव्यों की यथासंभव व्यंजन-पर्यायों में अन्तर्गर्भित प्रतिसमय होने वाली षट् प्रकार की हानि - वृद्धि रूप अर्थ पर्यायें भाव-प्रच्छन्न हैं ।

पहले ज्ञान का वर्णन हो चुकने पर भी, अभेदनय से ज्ञान ही सुख स्वरूप होने से तथा उसकी हेयोपादेयता का विचार करने के लिये, यहाँ पुनः ज्ञान का वर्णन किया गया है ।। ५६ ।।

इसप्रकार अतीन्द्रियज्ञान उपादेय है—इस कथन की मुख्यता से एक गाथा द्वारा दूसरा स्थल पूर्ण हुआ ।

(अब, हेयभूत इन्द्रियज्ञान की मुख्यता से चार गाथाओं में निबद्ध तीसरा स्थल प्रारम्भ होता है ।)

अब, हेयभूत इन्द्रिय-सुख का कारण होने से और अल्प-विषय होने से, इन्द्रिय-ज्ञान हेय है; ऐसा उपदेश देते हैं—

है जीव स्वयं अमूर्त मूर्तीगत स्वोचित मूर्त को ।
पा मूर्त से जाने न जाने कर अवग्रह ज्ञान को ।। ५७ ।।

गाथार्थ— स्वयं अमूर्तिक जीव मूर्त शरीर को प्राप्त कर, उस मूर्त शरीर द्वारा योग्य मूर्त पदार्थ को अवग्रह करके जानता अथवा नहीं जानता है ।

जीवो सयं अमुत्तो जीवस्तावच्छक्तिरूपेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेनामूर्तातीन्द्रियज्ञानसुखस्वभावः, पश्चादनादिबन्धवशात् व्यवहारनयेन *मुत्तिगदो* मूर्तशरीरगतो मूर्तशरीरपरिणतो भवति। *तेण मुत्तिणा* तेन मूर्तशरीरेण मूर्तशरीराधारोत्पन्नमूर्तद्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियाधारेण *मुत्तं* मूर्तं वस्तु *ओगेण्हित्ता* अवग्रहादिकेन क्रमकरणव्यवधानरूपं कृत्वा *जोग्गं* तत्स्पर्शादिमूर्तं वस्तु। कथंभूतम्। इन्द्रियग्रहणयोग्यं *जाणादि वा तण्ण जाणादि* स्वावरणक्षयोपशमयोग्यं किमपि स्थूलं जानाति, विशेषक्षयोपशमाभावात् सूक्ष्मं न जानातीति। अयमत्र भावार्थः-इन्द्रियज्ञानं यद्यपि व्यवहारेण प्रत्यक्षं भण्यते, तथापि निश्चयेन केवलज्ञानापेक्षया परोक्षमेव। परोक्षं तु यावतांशेन सूक्ष्मार्थं न जानाति तावतांशेन चित्तखेदकारणं भवति।खेदश्च दुःखं, ततो दुःखजनकत्वादिन्द्रियज्ञानं हेयमिति ॥ ५७ ॥

टीकार्थ- *जीवो सयं अमुत्तो*- प्रथम तो जीव शक्ति रूप से शुद्ध-द्रव्यार्थिक-नय से अमूर्त, अतीन्द्रिय ज्ञान-सुख स्वभावी है, बाद में अनादि बन्ध के वश व्यवहार-नय से *मुत्तिगदो*- मूर्त शरीरगत—मूर्त शरीर रूप से परिणत होता है । *तेण मुत्तिणा*- उस मूर्त शरीर से — मूर्त शरीर के आधार से उत्पन्न मूर्त द्रव्येन्द्रिय-भावेन्द्रिय के आधार से *मुत्तं* मूर्त वस्तु को *ओगेण्हित्ता*- अवग्रहादि रूप से क्रम और साधन सम्बन्धी व्यवधान रूप कर *जोग्गं*- उन स्पर्शादि मूर्त वस्तु को । कैसी स्पर्शादि मूर्त वस्तु को ? इन्द्रिय ग्रहण के योग्य मूर्त वस्तुओं को *जाणादि वा तण्ण जाणादि*- स्वावरण कर्म के क्षयोपशम योग्य कुछ स्थूल को जानता है तथा विशेष क्षयोपशम का अभाव होने से सूक्ष्म को नहीं जानता है ।

यहाँ भाव यह है— यद्यपि इन्द्रिय ज्ञान व्यवहार से प्रत्यक्ष कहा जाता है, तथापि निश्चय से केवलज्ञान की अपेक्षा परोक्ष ही है; और परोक्षज्ञान, जितने अंशों में सूक्ष्म पदार्थ को नहीं जानता उतने अंशों में मन के खेद का कारण होता है, और खेद दुःख है—इसप्रकार दुःख को उत्पन्न करने वाला होने से इन्द्रिय ज्ञान हेय है ।

भावार्थ— जीव शक्ति रूप से शुद्ध-द्रव्यार्थिक-नय से अमूर्त, अतीन्द्रिय ज्ञानानन्द स्वभावी होने पर भी व्यवहार-नय से अनादि-बंध वश मूर्त शरीर रूप परिणमता हुआ उस शरीर के आधार से उत्पन्न द्रव्येन्द्रिय - भावेन्द्रिय के माध्यम से क्रम-करण (क्रम से पदार्थों को जानना तथा प्रकाश-पदार्थ आदि करण - साधनों की) बाधा सहित तत्सम्बन्धी क्षयोपशमानुसार अपने योग्य स्पर्शादि कुछ मूर्त पदार्थों को स्थूल रूप से जानता है, सूक्ष्म रूप से नहीं ।

सूक्ष्म-विषयों सम्बन्धी जानकारी के अभाव में तत्सम्बन्धी आकुलतारूप दुःखोत्पादक होने से इन्द्रिय-ज्ञान हेय है ।

विशेषार्थ – परोक्ष-ज्ञान की हेयता के सम्बन्ध में 'आचार्य अमृतचन्द्र' प्रस्तुत गाथा की टीका करते हुये लिखते हैं—

"चैतन्य सामान्य के साथ अनादि-सिद्ध सम्बन्ध होने पर भी, अतिदृढ़तर अज्ञानान्धकार रूपी ग्रन्थि (गाँठ) से आक्रान्त हो जाने के कारण स्वयं पदार्थों को जानने में असमर्थ , निमीलित आत्मा का परोक्ष-ज्ञान, उपात्त-अनुपात्त पर-प्रत्यय सामग्री को खोजने की व्यग्रता से अत्यन्त अस्थिरता-विक्षुब्धता का अवलम्बन करता हुआ, अनन्त शक्ति से परिस्खलन के कारण अत्यन्त दुःखी होता हुआ, महामोहमल्ल के जीवित होने से परपरिणति रूप प्रवर्तित अभिप्राय से भी पद- पद पर ठगाया जाता हुआ, वास्तव में अनुपलम्भ की संभावना के योग्य ही है—अज्ञान में ही गिने जाने योग्य है । अतः वह परोक्ष-ज्ञान हेय है ।"[१] ॥ ५७ ॥

१. प्रवचनसार, गाथा ५५, तत्त्वप्रदीपिका टीका ।

अथ चक्षुरादीन्द्रियज्ञानं रूपादिस्वविषयमपि युगपन्न जानाति तेन कारणेन हेयमिति निश्चिनोति–

फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य पोग्गला होंति ।(५६)

अक्खाणं ते अक्खा जुगवं ते णेव गेण्हंति ।। ५८ ।।

फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो व पुग्गला होंति स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दाः पुद्गला मूर्ता भवन्ति । ते च विषयाः । केषाम् । *अक्खाणं* स्पर्शनादीन्द्रियाणां । *ते अक्खा* तान्यक्षाणीन्द्रियाणि कर्तृणि *जुगवं ते णेव गेण्हंति* युगपत्तान् स्वकीयविषयानपि न गृह्णन्ति न जानन्तीति ।

अयमत्राभिप्रायः—यथा सर्वप्रकारोपादेयभूतस्यानन्तसुखस्योपादानकारणभूतं केवलज्ञानं युगपत्समस्तं वस्तु जानत्सत् जीवस्य सुखकारणं भवति, तथेदमिन्द्रियज्ञानं स्वकीयविषयेऽपि युगपत्परिज्ञानाभावात्सुखकारणं न भवति ।। ५८ ।।

अब, चक्षु आदि इन्द्रिय-ज्ञान, रूपादि अपने विषय को भी एक साथ नहीं जानता है, अत: हेय है; ऐसा निश्चय करते हैं—

स्पर्श रस वा गंध वर्ण व शब्द पुद्गलमय कहे ।

वे इन्द्रियों के विषय इन्द्रिय एक साथ नहीं ग्रहे ।। ५८ ।।

गाथार्थ— स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द पुद्गल हैं, वे इन्द्रियों के विषय हैं, वे इन्द्रियाँ उन्हें एक साथ ग्रहण नहीं करती हैं—जानती नहीं हैं ।

टीकार्थ - *फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो व पुग्गला होंति* - स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द पुद्गल मूर्त हैं । और वे विषय हैं । वे किनके विषय हैं ? ***अक्खाणं***— वे स्पर्शनादि इन्द्रियों के विषय हैं । ***ते अक्खा***— वे इन्द्रिय रूप कर्ता (इस वाक्य में कर्ता के स्थानीय- वे इन्द्रियाँ) ***जुगवं ते णेव गेण्हंति***— एक साथ उन अपने विषयों को भी ग्रहण नहीं करतीं —जानती नहीं हैं ।

यहाँ अभिप्राय यह है— जैसे सर्व प्रकार से उपादेयभूत (प्रगट करने योग्य) अनन्तसुख का उपादान कारणभूत केवलज्ञान, एक साथ सम्पूर्ण वस्तुओं को जानता हुआ जीव के सुख का कारण है, वैसे अपने विषय में भी एक साथ जानकारी का अभाव होने से यह इन्द्रिय-ज्ञान, सुख का कारण नहीं है ।

विशेषार्थ - 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने प्रस्तुत गाथा की टीका में इन्द्रियों की एक साथ सर्व को जानने की असमर्थता को निम्न उदाहरण द्वारा इसप्रकार स्पष्ट किया है—

"इन्द्रियों की क्षयोपशम नामक जानकारी रूप अंतरंग शक्ति के, कौवे के नेत्र के तारक (पुतली) के समान क्रम-प्रवृत्ति के वश से अनेक पदार्थों को जानने में असमर्थ होने के कारण, द्रव्येन्द्रिय द्वारों के विद्यमान होने पर भी, (इन्द्रिय-ज्ञान के) परोक्ष होने के कारण एक साथ सर्व इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान सिद्ध नहीं होता है ।[१]" ।। ५८ ।।

---

१. प्रवचनसार. गाथा ५६, तत्त्वप्रदीपिका टीका ।

अथेन्द्रियज्ञानं प्रत्यक्षं न भवतीति व्यवस्थापयति-

परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा। (५७)

उवलद्धं तेहि कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि॥ ५९॥

परदव्वं ते अक्खा तानि प्रसिद्धान्यक्षाणीन्द्रियाणि परद्रव्यं भवन्ति। कस्य। आत्मनः। *णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा* योऽसौ विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभाव आत्मनः संबन्धी तत्स्वभावानि निश्चयेन न भणितानीन्द्रियाणि। कस्मात्। भिन्नास्तित्वनिष्पन्नत्वात। *उवलद्धं तेहि* उपलब्धं ज्ञातं यत्पंचेन्द्रियविषयभूतं वस्तु तैरिन्द्रियैः *कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि* तद्वस्तु कथं प्रत्यक्षं भवत्यात्मनो, न कथमपीति।

तथैव च नानामनोरथव्याप्तिविषये प्रतिपाद्यप्रतिपादकादिविकल्पजालरूपं यन्मनस्तदपीन्द्रियज्ञानवन्निश्चयेन परोक्षं भवतीति ज्ञात्वा किं कर्तव्यम्।

सकलैकाखण्डप्रत्यक्षप्रतिभासमयपरमज्योतिःकारणभूते स्वशुद्धात्मस्वरूपभावनासमुत्पन्नपरमाह्लादैकलक्षणसुखसंवित्त्याकारपरिणतिरूपे रागादिविकल्पोपाधिरहिते स्वसंवेदनज्ञाने भावना कर्तव्या इत्यभिप्रायः॥ ५९॥

अब, इन्द्रिय-ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है, यह निश्चित करते हैं—

वे इन्द्रियाँ परद्रव्य, आत्मा के स्वभाव नहीं कही।

हों कैसे उनसे प्राप्त जो प्रत्यक्ष आत्मा के कभी ?॥ ५९॥

गाथार्थ - (वे इन्द्रियाँ) आत्म- स्वभाव रूप नहीं है, अतः वे पर द्रव्य कही गई हैं; उनके द्वारा ज्ञात (पदार्थ) आत्मा के प्रत्यक्ष कैसे हो सकते हैं ? नहीं हो सकते हैं।

टीकार्थ— ***परंदव्वं ते अक्खा***- वे प्रसिद्ध इन्द्रियाँ परद्रव्य हैं। वे किसके परद्रव्य हैं ? वे आत्मा के परद्रव्य हैं। ***णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा***-आत्मा का जो वह विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाव है, इन्द्रियाँ निश्चय से उस स्वभाव रूप नहीं कही गई हैं। वे आत्मस्वभाव रूप क्यों नहीं कही गई हैं ? वे इन्द्रियाँ पृथक् अस्तित्व से रचित होने के कारण उस रूप नहीं कही गई हैं। ***उवलद्धं तेहिं***- जो पंचेन्द्रिय विषयभूत वस्तु उनके द्वारा ज्ञात है, ***कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि***-वह वस्तु आत्मा के प्रत्यक्ष कैसे हो सकती है ? (किसी भी प्रकार नहीं हो सकती)

और उसी प्रकार विविध मनोरथों की व्याप्ति के विषय में प्रतिपाद्य - प्रतिपादकादि (विषय-विषयी आदि) विकल्प-जाल रूप जो मन वह भी इन्द्रिय-ज्ञान के समान निश्चय से परोक्ष है-ऐसा जानकर क्या करना चाहिये ?

सम्पूर्ण एक अखण्ड प्रत्यक्ष प्रतिभासमय उत्कृष्ट ज्योति—केवलज्ञान के कारणभूत, शुद्धात्म-स्वरूप की भावना से उत्पन्न परमाह्लाद एक लक्षण सुखसंवित्ति (आनन्दानुभूति) के आकार परिणति रूप रागादि विकल्पों की उपाधि रहित स्वसंवेदनज्ञान में (उसी एक शुद्धात्मस्वरूप की) भावना करना चाहिये — यह अभिप्राय है।

भावार्थ—भिन्न अस्तित्व से रचित इन्द्रियाँ विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभावी आत्मा से भिन्न हैं— पर द्रव्य हैं। पर द्रव्य स्वरूप इन्द्रियों से ज्ञात विषय आत्मा के प्रत्यक्ष कैसे हो सकते हैं ? नहीं हो सकते हैं।

अनेकानेक विकल्प समूह रूप मन भी इसीप्रकार परोक्ष है, अतः इनसे दृष्टि हटाकर स्वशुद्धात्मा की ही भावना करना चाहिये॥ ५९॥

अथ पुनरपि प्रकारान्तरेण प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणं कथयति—

जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं ति भणिदमट्ठेसु ।(५८)

जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ।। ६० ।।

जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्ख त्ति भणिदं यत्परतः सकाशाद्विज्ञानं परिज्ञानं भवति तत्पुनः परोक्षमिति भणितम् । केषु विषयेषु । *अट्ठेसु* ज्ञेयपदार्थेषु । *जदि केवलेण णादं हवदि हि* यदि केवलेनासहायेन ज्ञातं भवति हि स्फुटम् । केन कर्तृभूतेन । *जीवेण* जीवेन । तर्हि *पच्चक्खं* प्रत्यक्षं भवतीति ।

अतो विस्तरः— इन्द्रियमनःपरोपदेशालोकादिबहिरंगनिमित्तभूतात्तथैव च ज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितार्थग्रहणशक्तिरूपाया उपलब्धेरर्थावधारणरूपसंस्काराच्चान्तरंगकारणभूतात्सकाशादुत्पद्यते यद्विज्ञानं तत्पराधीनत्वात्परोक्षमित्युच्यते । यदि पुनः पूर्वोक्तसमस्तपरद्रव्यमनपेक्ष्य केवलाच्छुद्धबुद्धैकस्वभावात्परमात्मनः सकाशात्समुत्पद्यते ततोऽक्षनामानमात्मानं प्रतीत्योत्पद्यमानत्वात्प्रत्यक्षं भवतीति सूत्राभिप्रायः ।। ६० ।।

एवं हेयभूतेन्द्रियज्ञानकथनमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन तृतीयस्थलं गतम् ।

अब, पुनः अन्य विधि से प्रत्यक्ष-परोक्ष का लक्षण कहते हैं—

हो अर्थ का जो ज्ञान पर से है परोक्ष कहा गया ।

यदि ज्ञात होता जीव से ही तो प्रत्यक्ष कहा गया ।। ६० ।।

गाथार्थ— पर द्वारा होने वाला पदार्थ सम्बन्धी विज्ञान परोक्ष तथा मात्र जीव द्वारा होने वाला विज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान कहा गया है ।

टीकार्थ— ***जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्ख त्ति भणिदं***-जो पर से ज्ञान होता है वह परोक्ष कहा गया है । किन विषयों सम्बन्धी ज्ञान को परोक्ष कहा गया है ? ***अट्ठेसु*** -ज्ञेय पदार्थों सम्बन्धी पर से होने वाले ज्ञान को परोक्ष कहा गया है । ***जदि केवलेण णादं हवदि हि***-यदि केवल—बिना किसी की सहायता के स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है । किस कर्ता द्वारा ज्ञात होता है ? जीव द्वारा ज्ञात होता है । तो ***पच्चक्खं*** -प्रत्यक्ष है ।

यहाँ विस्तार करते हैं—इन्द्रिय, मन, परोपदेश, प्रकाश आदि बाह्य कारणभूत और इसीप्रकार ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न पदार्थों को ग्रहण करने की शक्ति रूप उपलब्धि—लब्धि से और अंतरंग कारणभूत पदार्थ-ज्ञान के अवधारण रूप संस्कार से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह पराधीन होने से परोक्ष कहा गया है । और यदि पूर्वोक्त सर्व परद्रव्यों से निरपेक्ष मात्र शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावी परमात्मा से उत्पन्न होता है, तो वह ज्ञान अक्ष नामक आत्मा को लेकर (आत्मा के आश्रय से) उत्पन्न होने से प्रत्यक्ष है — यह गाथा का अभिप्राय है ।

विशेषार्थ—इस गाथा की टीका में 'आचार्य अमृतचन्द्र' दोनों ज्ञानों का स्वरूप स्पष्ट करते हुये निष्कर्ष रूप में लिखते हैं—

"यहाँ सहज- सुख का साधनभूत यह ही महाप्रत्यक्ष-ज्ञान अभिप्रेत—अभिलषित—इच्छा करने योग्य है ।"[१] ।। ६० ।।

इसप्रकार हेयभूत इन्द्रिय-ज्ञान के कथन की मुख्यता से चार गाथाओं में निबद्ध तीसरा स्थल पूर्ण हुआ ।

१. प्रवचनसार, गाथा ५८, तत्त्वप्रदीपिका टीका ।

अथाभेदनयेन पंचविशेषणविशिष्टं केवलज्ञानमेव सुखमिति प्रतिपादयति–

जादं सयं समंतं णाणमणंतत्थवित्थडं विमलं। (५९)

रहिदं तु ओग्गहादिहिं सुहं ति एगंतियं भणिदं ॥ ६१ ॥

जादं जातं उत्पन्नम्। किं कर्तृ। *णाणं* केवलज्ञानम्। कथं जातम्। *सयं* स्वयमेव। पुनरपि किंविशिष्टम्। *समत्तं* परिपूर्णम्। पुनरपि किंरूपम्। *अणंतत्थवित्थडं* अनन्तार्थविस्तीर्णम्। पुनः कीदृशम् *विमलं* संशयादिमलरहितम्। पुनरपि कीदृक्। *रहियं तु* ओग्गहादिहिं अवग्रहादिरहितं चेति। एवं पंचविशेषणविशिष्टं यत्केवलज्ञानं *सुहं ति एगंतियं भणियं* तत्सुखं भणितम्। कथंभूतम्। ऐकान्तिकं नियमेनेति।

तथा हि - परनिरपेक्षत्वेन चिदानन्दैकस्वभावं निजशुद्धात्मानमुपादानकारणं कृत्वा समुत्पद्यमानत्वात्स्वयं जायमानं सत्, सर्वशुद्धात्मप्रदेशाधारत्वेनोत्पन्नत्वात्समस्तं सर्वज्ञानाविभागपरिच्छेदपरिपूर्णं सत्, समस्तावरणक्षयेनोत्पन्नत्वात्समस्तज्ञेयपदार्थग्राहकत्वेन विस्तीर्णं सत्, संशयविमोहविभ्रमरहितत्वेन सूक्ष्मादिपदार्थपरिच्छित्तिविषयेऽत्यन्तविशदत्वाद्विमलं सत्, क्रमकरणव्यवधानजनितखेदाभावादवग्रहादिरहितं च सत्, यदेवं पंचविशेषणविशिष्टं क्षायिकज्ञानं तदनाकुलत्वलक्षणपरमानन्दैकरूपपारमार्थिकसुखात्संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि निश्चयेनाभिन्नत्वात्पारमार्थिकसुखं भण्यते– इत्यभिप्रायः ॥ ६१ ॥

(अब, चार गाथाओं में निबद्ध मुख्यतया अतीन्द्रिय-सुख का प्रतिपादक चौथा स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, अभेद नय से पाँच विशेषणों से विशिष्ट केवलज्ञान ही सुख है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

स्वोत्पन्न निर्मल पूर्ण विस्तृतनंत अर्थों में तथा।

जो अवग्रहादि से रहित वह ज्ञान ही सुखमय कहा ॥ ६१ ॥

गाथार्थ– स्वयं से उत्पन्न, समंत, अनन्त पदार्थों में विस्तृत, निर्मल और अवग्रहादि से रहित ज्ञान ऐकान्तिक सुख है— ऐसा सर्वज्ञ देव ने कहा है।

टीकार्थ - ***जादं***- उत्पन्न है। कर्तारूप कौन उत्पन्न है—इस वाक्य में कर्ता कौन है ? ***णाणं***- केवलज्ञान उत्पन्न है। वह कैसे उत्पन्न है ? ***सयं***-स्वयं ही वह उत्पन्न है। वह केवलज्ञान और किस विशेषता वाला है ? ***समत्तं*** - परिपूर्ण है। और किस स्वरूप वाला है ? ***अणंतत्थवित्थडं***-वह अनन्त पदार्थों में विस्तृत है। वह और कैसा है ? ***रहियं तु ओग्गहादिहिं*** - और वह अवग्रहादि से रहित है। वह और कैसा है ? ***विमलं***-संशयादि मल से रहित है। इसप्रकार पाँच विशेषणों सहित जो केवलज्ञान है ***सुहं ति एगंतियं भणियं***- वह सुख कहा गया है। वह कैसा सुख कहा गया है ? वह नियम से (सर्वथा) सुख कहा गया है।

वह इसप्रकार—पर-निरपेक्ष होने से ज्ञानानन्द एक स्वभावी निज शुद्धात्मा को उपादान-कारण करके (निज शुद्धात्मा रूप उपादान-कारण से) उत्पन्न होने से स्वयं उत्पन्न होता हुआ, सम्पूर्ण शुद्धात्म-प्रदेशों के आधारत्व से उत्पन्न होने के कारण समस्त अर्थात् सर्वज्ञान के अविभागी परिच्छेदों (प्रतिच्छेदों) से परिपूर्ण होता हुआ, सम्पूर्ण आवरण कर्म के क्षय से उत्पन्न होने के कारण सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थों को जानने वाला होने से विस्तृत होता हुआ, संशय-विमोह- विभ्रम रहित होने से सूक्ष्मादि पदार्थों की जानकारी के विषय में अत्यन्त स्पष्ट होने से विमल होता हुआ और क्रम- करण की बाधा से उत्पन्न खेद का अभाव होने से अवग्रहादि रहित होता हुआ — इसप्रकार पाँच विशेषणों से विशिष्ट जो क्षायिक ज्ञान है, वह अनाकुलता लक्षण वाले उत्कृष्ट आनन्दमय एक रूप वास्तविक सुख से नाम, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा भिन्न होने पर भी निश्चय से अभिन्न होने से पारमार्थिक सुख कहलाता है—यह अभिप्राय है ॥ ६१ ॥

अथानन्तपदार्थपरिच्छेदनात्केवलज्ञानेऽपि खेदोऽस्तीति पूर्वपक्षे सति परिहारमाह—

जं केवलं ति णाणं तं सोक्खं परिणमं च सो चेव।(६०)

खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घादी खयं जादा॥ ६२ ॥

जं केवलं ति णाणं तं सोक्खं यत्केवलमिति ज्ञानं तत्सौख्यं भवति, तस्मात् *खेदो तस्स ण भणिदो* तस्य केवलज्ञानस्य खेदो दुःखं न भणितम्। तदपि कस्मात्। *जम्हा घादी खयं जादा* यस्मान्मोहादिघातिकर्माणि क्षयं गतानि। तर्हि तस्यानन्तपदार्थपरिच्छित्तिपरिणामो दुःखकारणं भविष्यति। नैवम्। *परिणमं च सो चेव* तस्य केवलज्ञानस्य संबन्धी परिणामश्च स एव सुखरूप एवेति।

इदानीं विस्तरः— ज्ञानदर्शनावरणोदये सति युगपदर्थान् ज्ञातुमशक्यत्वात् क्रमकरणव्यवधानग्रहणे खेदो भवति, आवरणद्वयाभावे सति युगपद्ग्रहणे केवलज्ञानस्य खेदो नास्तीति सुखमेव। तथैव तस्य भगवतो जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसमस्तपदार्थयुगपत्परिच्छित्तिसमर्थमखण्डैकरूपं प्रत्यक्षपरिच्छित्तिमयं स्वरूपं परिणमत्सत् केवलज्ञानमेव परिणामो, न च केवलज्ञानाद्भिन्नपरिणामोऽस्ति येन खेदो भविष्यति।

अब, अनन्त पदार्थों की जानकारी होने से केवलज्ञान में भी खेद है, ऐसा पूर्व पक्ष (प्रश्न) होने पर निराकरण करते हैं—

जो ज्ञान 'केवल' वही सुख है परिणमन भी है वही।

व घाति रहित कहा इसी से खेद उसमें है नहीं॥ ६२ ॥

गाथार्थ-जो 'केवल' नामक ज्ञान है—केवलज्ञान है, वही सुख है, वही परिणाम है; क्योंकि उनके घातिकर्म क्षय को प्राप्त हुये हैं, अतः उन्हें खेद नहीं कहा गया है।

टीकार्थ -*जं केवलं ति णाणं तं सोक्खं* - जो केवलज्ञान है वही सुख है, इसलिये ***खेदो तस्स ण भणिदो***-उस केवलज्ञान के खेद—दुःख नहीं कहा है। केवलज्ञान के दुःख क्यों नहीं कहा है ? ***जम्हा घादी खयं जादा*** - क्योंकि मोहादि घातिकर्म क्षय को प्राप्त हुये हैं, इसलिये उसे खेद नहीं कहा है। तब फिर उसके अनन्त पदार्थों की जानकारी रूप परिणाम दुःख का कारण होता होगा ? ऐसा नहीं है। ***परिणमं च सो चेव***- उस केवलज्ञान का वह परिणाम भी सुखरूप ही है।

यहाँ उसका विस्तार करते हैं— ज्ञानावरण - दर्शनावरण के उदय होने पर एक साथ पदार्थों को जानने में असमर्थ होने से क्रम-करण व्यवधान (बाधा) रूप से ग्रहण होने पर खेद होता है। दोनों आवरण कर्मों का अभाव हो जाने पर (पदार्थों को) एक साथ ग्रहण करने (जानने) में केवल-ज्ञान को खेद नहीं है, अपितु सुख ही है। वैसे ही उन भगवान के,तीन लोक-तीन कालवर्ती सर्व पदार्थों को एक साथ जानने में समर्थ अखण्ड एक रूप प्रत्यक्ष जानकारी स्वरूप परिणमता हुआ केवलज्ञान ही परिणाम है; केवलज्ञान से भिन्न कोई परिणाम नहीं है,जिससे खेद होगा।

अथवा परिणामविषये द्वितीयव्याख्यानं क्रियते— युगपदनन्तपदार्थपरिच्छित्तिपरिणामेऽपि वीर्यान्तरायनिरवशेषक्षयादनन्तवीर्यत्वात् खेदकारणं नास्ति, तथैव च शुद्धात्मसर्वप्रदेशेषु समरसीभावेन परिणममानानां सहजशुद्धानन्दैकलक्षणसुखरसास्वादपरिणतिरूपामात्मनः सकाशादभिन्नामनाकुलतां प्रति खेदो नास्ति।

संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि निश्चयेनाभेदरूपेण परिणममानं केवलज्ञानमेव सुखं भण्यते। ततः स्थितमेतत्केवलज्ञानाद्भिन्नं सुखं नास्ति। तत एव केवलज्ञाने खेदो न संभवतीति ॥ ६२ ॥

अथ पुनरपि केवलज्ञानस्य सुखस्वरूपतां प्रकारान्तरेण दृढयति–

णाणं अत्थंतगयं लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी। (६१)

णट्ठमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं तु तं लद्धं ॥ ६३ ॥

णाणं अत्थंतगयं ज्ञानं केवलज्ञानमर्थान्तगतं ज्ञेयान्तप्राप्तं *लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी* लोकालोकयोर्विस्तृता दृष्टिः केवलदर्शनम्। *णट्ठमणिट्ठं सव्वं* अनिष्टं दुःखमज्ञानं च तत्सर्वं नष्टं *इट्ठं पुण जं हि तं लद्धं* इष्टं पुनर्यद् ज्ञानं सुखं च हि स्फुटं तत्सर्वं लब्धमिति।

अथवा परिणाम के विषय में दूसरा व्याख्यान करते हैं—एक साथ अनन्त पदार्थों की जानकारी रूप परिणाम होने पर भी, वीर्यान्तराय के पूर्ण क्षय से अनन्त वीर्यता हो जाने के कारण खेद का हेतु नहीं है; और उसीप्रकार शुद्धात्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों में समरसी भाव से परिणमित होते हुये सहज शुद्ध आनन्द एक स्वरूप सुखरस के आस्वादन रूप परिणमित आत्मा से अभिन्न अनाकुलता की अपेक्षा खेद नहीं है।

इसप्रकार संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि कृत भेद होने पर भी निश्चय से अभेदरूप से परिणमन करता हुआ केवलज्ञान ही सुख कहा गया है। इससे यह निश्चित हुआ कि केवलज्ञान से भिन्न सुख नहीं है। इसीलिये केवलज्ञान में खेद संभव नहीं है ॥ ६२ ॥

अब, और भी केवलज्ञान की सुखस्वरूपता दूसरी पद्धति से दृढ़ करते हैं—

अर्थान्तगत है ज्ञान लोकालोक विस्तृत दृष्टि है।

हैं नष्ट सर्व अनिष्ट वा सब इष्ट उनको प्राप्त हैं ॥ ६३ ॥

गाथार्थ—ज्ञान पदार्थों के पार को प्राप्त है और दर्शन लोकालोक में विस्तृत है; सर्व अनिष्ट नष्ट हो चुके हैं और जो इष्ट हैं वे सब प्राप्त हुये हैं; (अतः केवलज्ञान सुख स्वरूप है।)

टीकार्थ— ***णाणं अत्थंतगयं*** - केवलज्ञान ज्ञेय पदार्थों के अन्त-पार को प्राप्त है, ***लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी***- दृष्टि-केवलदर्शन लोकालोक में विस्तृत है। ***णट्ठमणिट्ठं सव्वं***- अनिष्ट- दुःख और अज्ञान सभी नष्ट हैं, ***इट्ठं पुण जं हि तं लद्धं*** - और जो वास्तविक इष्ट ज्ञान और सुख है, वे सभी प्राप्त हुये हैं।

तद्यथा- स्वभावप्रतिघाताभावहेतुकं सुखं भवति। स्वभावो हि केवलज्ञानदर्शनद्वयं, तयोः प्रतिघात आवरणद्वयं, तस्याभावः केवलिनां, ततः कारणात्स्वभावप्रतिघाताभावहेतुकमक्षयानन्तसुखं भवति। यतश्च परमानन्दैकलक्षणसुखप्रतिपक्षभूतमाकुलत्वोत्पादकमनिष्टं दुःखमज्ञानं च नष्टं, यतश्च पूर्वोक्तलक्षणसुखा-विनाभूतं त्रैलोक्योदरविवरवर्तिसमस्तपदार्थयुगपत्प्रकाशकमिष्टं ज्ञानं च लब्धं, ततो ज्ञायते केवलिनां ज्ञानमेव सुखमित्यभिप्रायः ॥ ६३ ॥

अथ पारमार्थिकसुखं केवलिनामेव, संसारिणां ये मन्यन्ते तेऽभव्या इति निरूपयति–

णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगदघादीणं।(६२)

सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति ॥ ६४ ॥

णो सद्दहंति **नैव श्रद्दधति न मन्यन्ते। किम्।** ***सोक्खं*** **निर्विकारपरमाह्लादैकसुखम्। कथंभूतं न मन्यन्ते।** ***सुहेसु परमं ति*** **सुखेषु मध्ये तदेव परमसुखम्। केषां संबन्धि यत्सुखम्।** ***विगदघादीणं*** **विगतघातिकर्मणां केवलिनाम्। किं कृत्वापि न मन्यन्ते।** ***सुणिदूण 'जादं सयं समत्तं '*** **इत्यादिपूर्वोक्तगाथात्रयकथितप्रकारेण**

वह इसप्रकार— स्वभाव- घात के अभाव से सुख होता है—स्वभाव का घात नहीं होना सुख है। केवलज्ञान और केवलदर्शन— ये दोनों स्वभाव हैं, उनका घात करने वाले दो आवरण कर्म हैं, केवली के उन आवरण कर्मों का अभाव है; इसलिये स्वभाव-घात के अभाव में होने वाला अक्षयानन्तसुख है। और क्योंकि परमानन्द एक लक्षण सुख से विपरीत, आकुलता के उत्पादक अनिष्ट रूप दुःख और अज्ञान नष्ट हुये हैं; तथा क्योंकि पूर्वोक्त लक्षण सुख के अविनाभावी तीन लोक के उदर-विवर (छिद्र) में स्थित सम्पूर्ण पदार्थों को एक साथ प्रकाशित करने वाला—जानने वाला इष्ट ज्ञान प्राप्त है — इससे ज्ञात होता है कि केवली का ज्ञान ही सुख है — यह अभिप्राय है।

विशेषार्थ - 'आचार्य प्रभाचन्द्र' ने अन्तराय और मोहनीय को अनिष्ट तथा अनन्तवीर्य और सुख को इष्ट लिखा है–

"अनिष्टं अन्तरायो मोहनीयं च... । इष्टं अनन्तवीर्यं सौख्यं ।[१]" ॥ ६३ ॥

अब, परमार्थिक सुख केवली के ही है, जो उसे संसारियों के मानते हैं, वे अभव्य हैं; ऐसा निरूपण करते हैं–

सब सुखों में उत्कृष्ट सुख है घाति रहित जिनेश के।

माने नहीं सुन भव्य ना श्रद्धान होता भव्य के ॥ ६४ ॥

गाथार्थ -घाति कर्म रहित केवली के ही सुखों में सर्वोत्कृष्ट सुख है—ऐसा सुनकर जो श्रद्धान नहीं करते वे अभव्य हैं, तथा जो श्रद्धान करते हैं वे भव्य हैं।

टीकार्थ - ***णो सद्दहंति*** -जो नहीं मानते हैं। किसे नहीं मानते हैं ? ***सोक्खं*** -निर्विकार परमाह्लादमय एक सुखको जो नहीं मानते हैं। उस सुख को कैसा नहीं मानते हैं ? ***सुहेसु परमं ति***-सुखों में वही निर्विकार परमाह्लादमय सुख ही सर्वोत्कृष्ट है— उस सुख को जो ऐसा नहीं मानते हैं। ऐसा सुख किन्हें होता है ? ***विगदघादीणं***- घाति कर्मों से रहित केवली भगवान को ऐसा सुख होता है। क्या करके भी नहीं मानते हैं ? ***सुणिदूण - "जादं सयं समत्तं"*** वह सुख स्वोत्पन्न है, परिपूर्ण है..... इत्यादि पूर्वोक्त (६१ से ६३) तीन गाथाओं में कही पद्धति से सुनकर

१. प्रवचनसार, गाथा ६१, प्रवचनसार सरोज भास्कर टीका।

श्रुत्वापि। *ते अभव्वा* ते अभव्याः। ते हि जीवा वर्तमानकाले सम्यक्त्वरूपभव्यत्वव्यक्त्यभावादभव्या भण्यन्ते, न पुनः सर्वथा। *भव्वा वा तं पडिच्छंति* ये वर्तमानकाले सम्यक्त्वरूपभव्यत्वव्यक्तिपरिणतास्तिष्ठन्ति ते तदनन्तसुखमिदानीं मन्यन्ते। ये च सम्यक्त्वरूपभव्यत्वव्यक्त्या भाविकाले परिणमिष्यन्ति ते च दूरभव्या अग्रे श्रद्धानं कुर्युरिति।

अयमत्रार्थः— मारणार्थं तलवरगृहीततस्करस्य मरणमिव यद्यपीन्द्रियसुखमिष्टं न भवति, तथापि तलवरस्थानीयचारित्रमोहोदयेन मोहितः सन्निरुपरागस्वात्मोत्थसुखमलभमानः सन् सरागसम्यग्दृष्टिरात्मनिन्दादिपरिणतो हेयरूपेण तदनुभवति। ये पुनर्वीतरागसम्यग्दृष्टयः शुद्धोपयोगिनस्तेषां, मत्स्यानां स्थलगमनमिवाग्निप्रवेश इव वा, निर्विकारशुद्धात्मसुखाच्च्यवनमपि दुःखं प्रतिभाति।

तथा चोक्तम्–

"समसुखशीलितमनसां च्यवनमपि द्वेषमेति किमु कामाः।

स्थलमपि दहति झषाणां किमंगपुनरंगमंगाराः" ॥ ६४ ॥

एवमभेदनयेन केवलज्ञानमेव सुखं भण्यते इति कथनमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन चतुर्थस्थलं गतम्।

भी जो नहीं मानते हैं। ***ते अभव्वा*** - वे अभव्य हैं। वे जीव वर्तमान समय में सम्यक्त्वरूपी भव्यत्व की प्रगटता का अभाव होने से अभव्य कहे जाते हैं, सर्वथा अभव्य नहीं हैं। ***भव्वा वा तं पडिच्छंति*** - जो वर्तमान काल में सम्यक्त्व रूप भव्यत्व की प्रगटता रूप से परिणमित हैं, वे उस अनन्त-सुख को अभी मानते हैं। और जो सम्यक्त्व रूप भव्यत्व की प्रगटता रूप से भविष्य में परिणमित होंगे,वे दूरभव्य आगे श्रद्धान करेंगे।

यहाँ अर्थ यह है— जैसे मारने के लिये कोतवाल द्वारा पकड़े गये चोर को मरण अच्छा नहीं लगता; उसी प्रकार यद्यपि इन्द्रिय-सुख इष्ट नहीं है; तथापि कोतवाल के समान चारित्र-मोहनीय के उदय से मोहित होता हुआ, उपराग रहित अपने आत्मा के आश्रय से उत्पन्न सुख को प्राप्त नहीं करता हुआ, आत्म-निन्दा आदि रूप से परिणत सरागसम्यग्दृष्टि, हेय रूप से उसका अनुभव करता है। और जो वीतराग सम्यग्दृष्टि शुद्धोपयोगी हैं उनको, मछलियों के भूमि पर आने के समान अथवा अग्नि में प्रवेश के समान, निर्विकार शुद्धात्म-सुख से च्युत होना भी दुःख प्रतीत होता है।

वैसा ही कहा है—

"समतारूपी सुख का अनुभव करने वाले मनुष्य को समता से च्युत होना ही अच्छा नहीं लगता, तब पंचेन्द्रिय विषय-भोगों की तो बात ही क्या ? अर्थात् वे वहाँ कैसे रम सकते हैं ? नहीं रम सकते। जैसे मछलियों को जब भूमि ही जलाती है, तब अग्नि-अंगारों का तो कहना ही क्या ? वे तो जलायेंगे ही।"

भावार्थ-सर्व घाति कर्मों के क्षय रूप केवली भगवान का निर्विकार परमाह्लादमयी सुख ही सुखों में सर्वोत्कृष्ट सुख है—इस तथ्य को विस्तार से सुनकर भी जो उसे स्वीकार नहीं करते, वे भव्यत्व की प्रगटता रूप सम्यग्दर्शन से रहित अभव्य जीव हैं। और जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे उसे अभी स्वीकार करते हैं; जो आगे सम्यग्दर्शन प्रगट करेंगे, वे दूरभव्य आगे उसे स्वीकार करेंगे।

ऐसा श्रद्धान हो जाने पर भी, परिपूर्ण अतीन्द्रिय-सुख की अप्राप्ति के कारण, अपनी कमजोरी से सम्यग्दृष्टि जीव भी, इन्द्रिय-सुख का अनुभव करता हुआ दिखाई देता है; परन्तु वह उसे दुःखकर ही मानता है ॥ ६४ ॥

इसप्रकार अभेदनय से केवलज्ञान ही सुख कहा गया है— इस कथन की मुख्यता से चार गाथाओं द्वारा चौथा स्थल पूर्ण हुआ।

अथ संसारिणामिन्द्रियज्ञानसाधकमिन्द्रियसुखं विचारयति-

मणुआसुरामरिंदा अहिद्दुदा इन्दिएहिं सहजेहिं ।(६३)

असहंता तं दुक्खं रमंति विसएसु रम्मेसु ॥ ६५ ॥

मणुआसुरामरिंदा मनुजासुरामरेन्द्राः । कथंभूताः । *अहिद्दुदा इंदियेहिं सहजेहिं* अभिद्रुताः कदर्थिताः दुःखिता । कैः । इन्द्रियैः सहजैः । *असहंता तं दुक्खं* तद्दुःखोद्रेकमसहमानाः सन्तः, *रमंते विसएसु रम्मेसु* रमन्ति विषयेषु रम्याभासेषु इति ।

अथ विस्तरः-मनुजादयो जीवा अमूर्तातींद्रियज्ञानसुखास्वादमलभमानाः सन्तः मूर्तेन्द्रियज्ञानसुखनिमित्तं तन्निमित्तपंचेन्द्रियेषु मैत्रीं कुर्वन्ति । ततश्च तप्तलोहगोलकानामुदकाकर्षणमिव विषयेषु तीव्रतृष्णा जायते । तां तृष्णामसहमाना विषयाननुभवन्ति इति। ततो ज्ञायते पंचेन्द्रियाणि व्याधिस्थानीयानि, विषयाश्च तत्प्रतीकारौषधस्थानीया इति संसारिणां वास्तवं सुखं नास्ति ॥ ६५ ॥

(अब, इन्द्रिय-सुख के प्रतिपादन की मुख्यता से आठ गाथाओं में निबद्ध पाँचवा स्थल प्रारम्भ होता है । यह स्थल चार भागों में विभक्त है । उनमें से सर्व प्रथम इन्द्रिय-सुख दुःख है — इस तथ्य का प्रतिपादक दो गाथाओं वाला प्रथम भाग प्रारम्भ होता है ।)

अब, संसारियों के साधक इन्द्रिय-ज्ञान के साध्यभूत इन्द्रिय-सुख का विचार करते हैं—

सुर असुर नरपति सहज इन्द्रिय दुःख से पीडित सभी ।

सहनीय ना दुख अतः रमते रम्य विषयों में सभी ॥ ६५ ॥

गाथार्थ - स्वाभाविक इन्द्रियों से दुःखित होते हुये मनुष्येन्द्र (चक्रवर्ती),असुरेन्द्र और सुरेन्द्र उस दुःख को सहन नहीं करते हुये रम्य विषयों में रमण करते हैं ।

टीकार्थ - ***मणुआसुरामरिंदा***- मनुष्येन्द्र—चक्रवर्ती, असुरेन्द्र और देवेन्द्र । ये सभी कैसे हैं ? ***अहिद्दुदा इंदियेहिं सहजेहिं***- कदर्थित—दुःखित—पीड़ित हैं । ये सभी किनसे पीड़ित हैं ? ये सभी स्वाभाविक इन्द्रियों से पीड़ित हैं । ***असहंता तं दुक्खं***- ये दुःखोद्रेक– दुःखों की तीव्रता को सहन नहीं करते हुये, ***रमंते विसएसु रम्मेसु***- रम्याभास विषयों में रमण करते हैं ।

अब विस्तार करते हैं—मनुष्य आदि जीव अमूर्त, अतीन्द्रिय ज्ञान-सुख के आस्वाद को प्राप्त नहीं करते हुये,मूर्त, इन्द्रिय ज्ञान-सुख के लिये उनके कारणभूत पंचेन्द्रियों में–पंचेन्द्रिय-विषयों में मित्रता करते हैं और इससे तप्त लोहे के गोले के जल खींचने-सोखने के समान विषयों में तीव्र तृष्णा उत्पन्न होती है । उस तृष्णा को सहन नहीं करते हुये,वे विषयों का अनुभव करते हैं । इससे ज्ञात होता है कि पाँचों इन्द्रियाँ रोग—बीमारी के समान हैं और विषय उनके निराकरण के लिये औषध के समान है — इसप्रकार संसारियों के वास्तविक सुख नहीं है ॥ ६५ ॥

अथ यावदिन्द्रियव्यापारस्तावद्दुःखमेवेति कथयति–

जेसिं विसएसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं।(६४)
जइ तं ण हि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं ॥ ६६ ॥

जेसिं विसयेसु रदी येषां निर्विषयातीन्द्रियपरमात्मस्वरूपविपरीतेषु विषयेषु रतिः *तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं* तेषां बहिर्मुखजीवानां निजशुद्धात्मद्रव्यसंवित्तिसमुत्पन्ननिरुपाधिपारमार्थिकसुखविपरीतं स्वभावेनैव दुःखमस्तीति विजानीहि । कस्मादिति चेत्। पंचेन्द्रियविषयेषु रतेरवलोकनात्। *जइ तं ण हि सब्भावं* यदि तद्दुःखं स्वभावेन नास्ति हि स्फुटं *वावारो णत्थि विसयत्थं* तर्हि विषयार्थं व्यापारो नास्ति न घटते। व्याधिस्थानामौषधेष्विव विषयार्थं व्यापारो दृश्यते चेत्तत एव ज्ञायते दुःखमस्तीत्यभिप्रायः ॥ ६६ ॥

एवं परमार्थेनेन्द्रियसुखस्य दुःखस्थापनार्थं गाथाद्वयं गतम्।

अब, जो इन्द्रिय-व्यापार है वह दुःख ही है, ऐसा कहते हैं–

है जिन्हें विषयों में रती, जानो वे स्वाभाविक दुखी।
यदि दुःख स्वाभाविक नहीं विषयार्थ न व्यापार भी ॥ ६६ ॥

गाथार्थ–जिन्हें विषयों में रति है उन्हें दुःख स्वाभाविक जानना चाहिये, क्योंकि यदि वह दुःख स्वाभाविक न हो तो विषयों के लिये व्यापार न हो।

टीकार्थ– ***जेसिं विसयेसु रदी***– जिनके निर्विषय अतीन्द्रिय परमात्मस्वरूप से विपरीत विषयों में प्रीति है, ***तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं***–उन बहिर्मुख जीवों के निज शुद्धात्मद्रव्य की संवित्ति से उत्पन्न निरुपाधि पारमार्थिक सुख से विपरीत दुःख स्वभाव से ही है–ऐसा जानना चाहिये। उनके स्वभाव से दुःख है–यह कैसे ज्ञात होता है ? पंचेन्द्रिय विषयों में प्रीति दिखाई देने से यह ज्ञात होता है। ***जइ तं ण हि सब्भावं***– यदि वास्तव में वह दुःख उनके स्वभाव से नहीं होता ***वावारो णत्थि विसयत्थं***– तो उनका विषयों के लिए व्यापार घटित नहीं होता। व्याधि-निवारण के लिये औषधि में प्रवृत्ति के समान यतः उनका विषयों में प्रवर्तन देखा जाता है– इससे ही यह ज्ञात होता है कि उनके दुःख है–यह अभिप्राय है।

भावार्थ- निर्विषय अतीन्द्रिय परमात्मस्वरूप से विपरीत पंचेन्द्रिय-विषयों में रति करने वाले बहिर्मुखजीवों के निज शुद्धात्मा के आश्रय से उत्पन्न निरुपाधि पारमार्थिक सुख से विपरीत दुःख स्वाभाविक ही है। जिसप्रकार व्याधि के बिना औषधि-सेवन दिखाई नहीं देता, उसीप्रकार दुःख के बिना विषयों में प्रवर्तन संभव नहीं है; अतः विषय- प्रवर्तन ही उनके स्वाभाविक दुःख को सिद्ध करता है॥ ६६ ॥

इसप्रकार परमार्थ से इन्द्रिय-सुख को दुःख रूप से स्थापन के लिये दो गाथायें पूर्ण हुईं।

अथ मुक्तात्मनां शरीराभावेऽपि सुखमस्तीति ज्ञापनार्थं शरीरं सुखकारणं न स्यादिति व्यक्तीकरोति—

पप्पा इट्ठे विसये फासेहिं समस्सिदे सहावेण।(६५)

परिणममाणो अप्पा सयमेव सुहं ण हवदि देहो ॥ ६७ ॥

पप्पा प्राप्य। कान्। *इट्ठे विसये* इष्टपंचेन्द्रियविषयान्। कथंभूतान्। *फासेहिं समस्सिदे* स्पर्शनादीन्द्रियरहितशुद्धात्मतत्त्वविलक्षणैः स्पर्शनादिभिरिन्द्रियैः समाश्रितान् सम्यक् प्राप्यान् ग्राह्यान्, इत्थंभूतान् विषयान् प्राप्य। स कः। *अप्पा* आत्मा कर्ता। किंविशिष्टः। *सहावेण परिणममाणो* अनन्तसुखोपादानभूतशुद्धात्मस्वभावविपरीतेनाशुद्धसुखोपादानभूतेनाशुद्धात्मस्वभावेन परिणममानः इत्थंभूतः सन् *सयमेव सुहं* स्वयमेवेन्द्रियसुखं भवति परिणमति। *ण हवदि देहो* देहः पुनरचेतनत्वात्सुखं न भवतीति।

अयमत्रार्थः-कर्मावृतसंसारिजीवानां यदिन्द्रियसुखं तत्रापि जीव उपादानकारणं, न च देहः। देहकर्मरहितमुक्तात्मनां पुनर्यदनन्तातीन्द्रियसुखं तत्र विशेषेणात्मैव कारणमिति ॥ ६७ ॥

(अब, शरीर सुख का कारण नहीं है—इस तथ्य की प्रतिपादक दो गाथाओं वाला पाँचवे स्थल का दूसरा भाग प्रारम्भ होता है ।)

अब, सिद्धात्माओं के शरीर का अभाव होने पर भी सुख है — यह बताने के लिये शरीर सुख का कारण नहीं है, यह स्पष्ट करते हैं —

स्पर्श आदि से रहित कर प्राप्त इष्ट पदार्थ को।

स्वयमेव सुखमय परिणमित हो आत्मा,न देह हो ॥ ६७ ॥

गाथार्थ -स्पर्शनादि इन्द्रियों द्वारा आश्रय लिये जाने वाले इष्ट-विषयों को पाकर स्वभाव से परिणमन करता हुआ आत्मा स्वयं ही सुखरूप है, शरीर सुखरूप नहीं है ।

टीकार्थ– ***पप्पा***- प्राप्त कर । किन्हें प्राप्त कर ? ***इट्ठे विसये*** - इष्ट-पंचेन्द्रिय-विषयों को प्राप्त कर । कैसे विषयों को प्राप्त कर ? ***फासेहिं समस्सिदे*** - स्पर्शनादि इन्द्रियों से रहित शुद्धात्मतत्त्व से विलक्षण स्पर्शनादि इन्द्रियों द्वारा अच्छी तरह से प्राप्त—ग्रहण करने के योग्य विषयों को प्राप्त कर । उन विषयों को वह कौन प्राप्त कर ? ***अप्पा*** - आत्मारूप कर्ता— इस वाक्य का कर्ता आत्मा उन्हें प्राप्त कर । वह आत्मा किस विशेषता वाला है ? ***सहावेण परिणममाणो***- अनन्त-सुख के उपादानभूत शुद्धात्म-स्वभाव से विपरीत अशुद्ध-सुख के उपादानभूत अशुद्धात्म-स्वभाव से परिणमित होता हुआ — ऐसा होता हुआ ***सयमेव सुहं*** - स्वयं ही इन्द्रिय-सुखरूप परिणमित होता है । ***ण हवदि देहो*** - तथा शरीर अचेतन होने से सुखरूप नहीं है ।

यहाँ अर्थ यह है—कर्म से आच्छादित संसारी जीवों के जो इन्द्रिय-सुख है, उसमें भी जीव उपादान कारण है; शरीर नहीं । और शरीर तथा कर्म से रहित मुक्तात्माओं के जो अनन्त अतीन्द्रिय-सुख है, उसमें तो विशेष रूप से आत्मा ही कारण है ॥ ६७ ॥

अथ मनुष्यशरीरं मा भवतु, देवशरीरं दिव्यं तत्किल सुखकारणं भविष्यतीत्याशंकां निराकरोति –

एगंतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणदि सग्गे वा। (६६)

विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा ॥ ६८ ॥

एगंतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणदि एकान्तेन हि स्फुटं देहः कर्ता सुखं न करोति। कस्य। देहिनः संसारिजीवस्य । क्व। *सग्गे वा* आस्तां तावन्मनुष्याणां मनुष्यदेहः सुखं न करोति, स्वर्गे वा योऽसौ दिव्यो देवदेहः सोऽप्युपचारं विहाय सुखं न करोति। *विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा* किंतु निश्चयेन निर्विषयामूर्तस्वाभाविकसदानन्दैकसुखस्वभावोऽपि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धवशाद्विषयाधीनत्वेन परिणम्य सांसारिकसुखं दुःखं वा स्वयमात्मैव भवति, न च देह इत्यभिप्रायः ॥ ६८ ॥

एवं मुक्तात्मनां देहाभावेऽपि सुखमस्तीति परिज्ञानार्थं संसारिणामपि देहः सुखकारणं न भवतीतिकथनरूपेण गाथाद्वयं गतम्।

अब, मनुष्य-शरीर सुख का कारण भले ही न हो, परन्तु देवों का दिव्य शरीर तो सुख का कारण होगा ? ऐसी आशंका का निराकरण करते हैं—

इस देह के कारण सुखी न दिविज देही भी कभी।

होता विषयवश से स्वयं ही जीव सुखमय या दुखी ॥ ६८ ॥

गाथार्थ- एकान्त से (नियम से) स्वर्ग में भी शरीर, शरीरी (आत्मा) को सुख नहीं देता, अपितु विषयों के वश से सुख अथवा दुःख रूप स्वयं आत्मा होता है ।

टीकार्थ - ***एगंतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणदि-*** एकान्त से-नियम रूप से वास्तव में देह रूप कर्ता सुख को नहीं करता है । किसके सुख को नहीं करता है ? संसारी जीव के सुख को नहीं करता है । ***सग्गे वा-*** मनुष्यों का मानव शरीर सुख नहीं करता— यह तथ्य तो रहने दो अर्थात् इसे तो सुखकारक कोई नहीं मानेगा, परन्तु स्वर्ग में जो वह देवों का दिव्य शरीर है — वैक्रियिक शरीर है; वह भी उपचार को छोड़कर (मात्र उपचार से सुख का कारण कहा जाता है, वास्तव में) सुख को नहीं करता । ***विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा-*** किन्तु निश्चय से निर्विषय अमूर्त स्वाभाविक सदानन्द एक सुख-स्वभावी होने पर भी, व्यवहार से अनादि कर्म बन्ध के वश विषयाधीनरूप परिणमन कर स्वयं आत्मा ही सांसारिक सुख-दुःख रूप होता है, शरीर सुख-दुःख रूप नहीं होता — यह अभिप्राय है ॥ ६८ ॥

इसप्रकार मुक्तात्माओं के शरीर का अभाव होने पर भी सुख है — इस परिज्ञान के लिये संसारियों के भी शरीर सुख का कारण नहीं है — इस कथनरूप से दो गाथायें पूर्ण हुईं ।

(अब, इन्द्रिय-विषय भी सुख के कारण नहीं हैं — इस तथ्य की प्रतिपादक दो गाथाओं वाला पाँचवे स्थल का तीसरा भाग प्रारम्भ होता है ।)

अथात्मनः स्वयमेव सुखस्वभावत्वान्निश्चयेन यथा देहः सुखकारणं न भवति तथा विषया अपीति प्रतिपादयति—

तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कायव्वं।(६७)

तह सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति ॥ ६९ ॥

जइ यदि *दिट्ठी* नक्तंचरजनस्य दृष्टिः *तिमिरहरा* अन्धकारहरा भवति *जणस्स* जनस्य *दीवेण णत्थि कायव्वं* दीपेन नास्ति कर्तव्यं। तस्य प्रदीपादीनां यथा प्रयोजनं नास्ति *तह सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति* तथा निर्विषयामूर्तसर्वप्रदेशाह्लादकसहजानन्दैकलक्षणसुखस्वभावो निश्चयेनात्मैव, तत्र मुक्तौ संसारे वा विषयाः किं कुर्वन्ति, न किमपीति भावः ॥ ६९ ॥

अब, आत्मा का, स्वयं ही सुख स्वभाव होने से, जैसे निश्चय से शरीर सुख का साधन नहीं है, उसी प्रकार निश्चय से विषय भी सुख के कारण नहीं है ; ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

यदि है तिमिरहर दृष्टि जन की दीप से फिर काम क्या ?

है स्वयं सुखमय आत्मा तो विषय से फिर काम क्या ? ॥ ६९ ॥

गाथार्थ - यदि प्राणी की दृष्टि ही अन्धकार-नाशक हो, तो दीपक से कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता; उसी प्रकार जहाँ आत्मा स्वयं सुखरूप परिणमन करता है, वहाँ विषय क्या कर सकते हैं ? कुछ भी नहीं।

टीकार्थ— ***जइ***- यदि ***दिट्ठी*** - निशाचर प्राणियों की दृष्टि ***तिमिरहरा***- अन्धकार को नष्ट करने वाली है, तो ***जणस्स***- प्राणी को ***दीवेण णत्थि कायव्वं***- दीपक से कोई कर्तव्य नहीं रहता। उसे जैसे दीपक से प्रयोजन ही नहीं है ***तह सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति***- उसीप्रकार निश्चय से आत्मा ही निर्विषय, अमूर्त, सर्व प्रदेशों से आह्लाद को उत्पन्न करने वाला सहजानन्द एक लक्षण सुख स्वभावी है, वहाँ मुक्त अथवा संसारी दशा में विषय क्या करते हैं? कुछ भी नहीं — यह भाव है।

विशेषार्थ-(१) वस्तु की स्वतंत्रता तथा पर-निरपेक्षता सिद्ध करते हुये 'आचार्य अमृतचन्द्र' लिखते हैं—

"स्वयं परिणमते हुये को दूसरे परिणमाने वाले की अपेक्षा नहीं रहती है, क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखतीं।[१]"

सुख स्वयं आत्मा का एक स्वभाव है — एक शक्ति है; अतः उसे सुख के लिये इन्द्रिय, इन्द्रिय-विषय अथवा शरीरादि किसी भी परपदार्थ की किंचित् भी आवश्यकता नहीं होती, स्वयं स्वरूपलीनता से परिपूर्ण सुखी हो जाता है।

अतः स्पष्ट है कि सुख स्वभावी आत्मा को इन्द्रिय - विषय भी सुख के कारण नहीं हैं।

(२) विषयों को सुख का अकारण सिद्ध करते हुये 'आचार्य प्रभाचन्द्र' निष्कर्ष रूप में लिखते हैं—

"अकिंचित्करास्ते तत्र साक्षात् आत्मनः एव सुखरूपेण विपरिवर्तनात्।[२]

साक्षात् आत्मा ही सुखरूप से परिणमित होने के कारण उसमें वे विषय अकिंचित्कर हैं " ॥ ६९ ॥

१- समयसार, गाथा ११६ से १२० तक की आत्मख्याति टीका।

२- प्रवचनसार, गाथा ६७, प्रवचनसार सरोज भास्कर टीका।

अथात्मनः सुखस्वभावत्वं ज्ञानस्वभावत्वं च पुनरपि दृष्टान्तेन दृढयति–

सयमेव जहादिच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि।(६८)

सिद्धो वि तहा णाणं सुहं च लोके तहा देवो ॥ ७० ॥

सयमेव जहादिच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि कारणान्तरं निरपेक्ष्य स्वयमेव यथादित्यः स्वपरप्रकाशरूपं तेजो भवति, तथैव च स्वयमेवोष्णो भवति, तथा चाज्ञानिजनानां देवता भवति। क्व स्थितः। नभसि आकाशे। *सिद्धो वि तहा णाणं सुहं च* सिद्धोऽपि भगवांस्तथैव कारणान्तरं निरपेक्ष्य स्वभावेनैव स्वपरप्रकाशकं केवलज्ञानं, तथैव परमतृप्तिरूपमनाकुलत्वलक्षणं सुखम्। क्व। *लोगे* जगति। *तहा देवो* निजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नसुन्दरानन्दस्यन्दिसुखामृतपानपिपासितानां गणधरदेवादिपरमयोगिनां देवेन्द्रादीनां चासन्नभव्यानां मनसि निरन्तरं परमाराध्यं, तथैवानन्तज्ञानादिगुणस्तवनेन स्तुत्यं च यद्दिव्यमात्मस्वरूपं तत्स्वभावत्वात्तथैव देवश्चेति। ततो ज्ञायते मुक्तात्मनां विषयैरपि प्रयोजनं नास्तीति ॥ ७० ॥

एवं स्वभावेनैव सुखस्वभावत्वाद्विषया अपि मुक्तात्मनां सुखकारणं न भवन्तीतिकथनरूपेण गाथाद्वयं गतम्।

अब, आत्मा के सुख-स्वभावता और ज्ञान-स्वभावता अन्य दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं–

है स्वयं नभ में सूर्य जैसे देव-उष्ण-प्रकाशमय।

हैं सिद्ध त्यों स्वयमेव जग में देव-सुख वा ज्ञानमय ॥ ७० ॥

गाथार्थ– जैसे आकाश में सूर्य स्वयं ही तेज, उष्ण और देवता है; उसीप्रकार लोक में सिद्ध भगवान भी ज्ञान, सुख और देव हैं।

टीकार्थ– *सयमेव जहादिच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि-* अन्य कारणों की अपेक्षा नहीं करके जैसे सूर्य स्वयं ही स्व-पर प्रकाश रूप से तेज है, उसीप्रकार स्वयं ही उष्ण है और वैसे ही अज्ञानी मनुष्यों का देवता है। कहाँ स्थित सूर्य इन रूप है ? आकाश में स्थित सूर्य इन रूप है। ***सिद्धो वि तहा णाणं सुहं च-*** उसीप्रकार सिद्ध भगवान भी अन्य कारणों की अपेक्षा नहीं करके स्वभाव से ही स्व-पर प्रकाशक केवलज्ञानमय और उसी प्रकार परम संतुष्टि स्वरूप अनाकुलता लक्षण सुखमय हैं। सिद्ध भगवान इनमय कहाँ है ? ***लोगे-*** वे लोक में इन मय हैं। ***तहा देवो*** - और उसीप्रकार निजशुद्धात्मा के सम्यग्दर्शन - ज्ञान-चारित्र रूप अभेद रत्नत्रय स्वरूप निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न सुन्दर आनन्द के तीव्र प्रवाह रूप सुखामृत पान के पिपासु गणधर देव आदि परमयोगियों और देवेन्द्र आदि आसन्नभव्य जीवों के मन में निरन्तर परम आराध्य और वैसे ही अनन्त ज्ञानादि गुणों के स्तवन से स्तुत्य जो पवित्र आत्म-स्वरूप– उस स्वभाव के कारण देव हैं।

इससे ज्ञात होता है कि मुक्तात्माओं को विषयों से भी प्रयोजन नहीं है ॥ ७० ॥

इसप्रकार स्वभाव से ही सुख-स्वभावी होने से विषय भी मुक्तात्माओं को सुख के कारण नहीं है–इस कथन रूप दो गाथायें पूर्ण हुईं।

अथेदानीं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवाः पूर्वोक्तलक्षणानन्तसुखाधारभूतं सर्वज्ञं वस्तुस्तवेन नमस्कुर्वन्ति-

तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं।

तिहुवणपहाणदइयं माहप्पं जस्स सो अरिहो ॥ ७१ ॥

तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं तिहुवणपहाणदइयं तेजः प्रभामण्डलं, जगत्त्रयकालत्रयवस्तुगतयुगपत्सामान्यास्तित्वग्राहकं केवलदर्शनं, तथैव समस्तविशेषास्तित्वग्राहकं केवलज्ञानं, ऋद्धिशब्देन समवशरणादिलक्षणा विभूतिः, सुखशब्देनाव्याबाधानन्तसुखं, तत्पदाभिलाषेण इन्द्रादयोऽपि भृत्यत्वं कुर्वन्तीत्येवंलक्षणमैश्वर्यं, त्रिभुवनाधीशानामपि वल्लभत्वं दैवं भण्यते। *माहप्पं जस्स सो अरिहो* इत्थंभूतं माहात्म्यं यस्य सोऽर्हन् भण्यते।

इति वस्तुस्तवनरूपेण नमस्कारं कृतवन्तः ॥ ७१ ॥

(अब, सर्वज्ञ-नमस्कार परक दो गाथाओं वाला पाँचवे स्थल का चौथा भाग प्रारम्भ होता है ।)

अब, यहाँ श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव पूर्वोक्त लक्षण अनन्त-सुख के आधारभूत सर्वज्ञ को वस्तुस्तवन रूप से नमस्कार करते हैं—

हैं तेज दृष्टी ज्ञान ऋद्धी सौख्य-युत ऐश्वर्य-युत।

माहात्म्ययुत त्रिभुवन-प्रधान जो वही अरंहत देवयुत ॥ ७१ ॥

गाथार्थ– जिनके प्रभामण्डल, केवलदर्शन, केवलज्ञान, ऋद्धि, अतीन्द्रिय सुख, ईश्वरता, तीन लोक में प्रधान देव आदि माहात्म्य हैं; वे अरहंत भगवान हैं ।

टीकार्थ– *तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं तिहुवणपहाणदइयं* - प्रभामण्डल, तीनलोक तीनकालवर्ती सम्पूर्ण वस्तुओं के सामान्य-अस्तित्व को एक साथ ग्रहण करने वाला केवलदर्शन, उसीप्रकार सभी के विशेष-अस्तित्व को ग्रहण करने वाला केवलज्ञान, ऋद्धि शब्द से समवशरणादि लक्षण विभूति, सुख शब्द से अव्याबाध अनन्तसुख, उस पद की इच्छा से इन्द्र आदि भी भृत्यता (सेवा-नौकरी) करते हैं–इस लक्षण वाली ईश्वरता, तीन लोकों के राजाओं के भी प्रिय-स्वामी देव कहे जाते हैं । ***माहप्पं जस्स सो अरिहो*** - इस प्रकार का माहात्म्य जिनका है, वे अरहंत कहलाते हैं ।

इसप्रकार वस्तु-स्तवन रूप से नमस्कार किया गया है ।

विशेषार्थ— आशीर्वचन, वस्तुस्वरूप कथन और नमस्कार-सम्बन्धी-क्रिया रूप से नमस्कार तीन प्रकार का है ।[१]

प्रस्तुत गाथा में सर्वज्ञ-भगवान रूप वस्तु का स्वरूप कथन है, अतः यह वस्तु-नमस्कार वस्तुस्तव नमस्कार परक गाथा है ॥ ७१ ॥

---

१. पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा १, तात्पर्यवृत्ति टीका ।

अथ तस्यैव भगवतः सिद्धावस्थायां गुणस्तवनरूपेण नमस्कारं कुर्वन्ति—

तं गुणदो अधिगदरं अविच्छिदं मणुवदेवपदिभावं।

अपुणब्भावणिबद्धं पणमामि पुणो पुणो सिद्धं॥ ७२॥

पणमामि नमस्करोमि *पुणो पुणो* पुनः पुनः। कम्। *तं सिद्धं* परमागमप्रसिद्धं सिद्धम्। कथंभूतम्। *गुणदो अधिगदरं* अव्याबाधानन्तसुखादिगुणैरधिकतरं समधिकतरगुणम्। पुनरपि कथंभूतम्। *अविच्छिदं मणुवदेवपदिभावं* यथा पूर्वमर्हदवस्थायां मनुजदेवेन्द्रादयः समवशरणे समागत्य नमस्कुर्वन्ति तेन प्रभुत्वं भवति, तदतिक्रान्तत्वादतिक्रान्तमनुजदेवपतिभावम्। पुनश्च किंविशिष्टम्। *अपुणब्भावणिबद्धं* द्रव्यक्षेत्रादिपंचप्रकार-भवाद्विलक्षणः शुद्धबुद्धैकस्वभावनिजात्मोपलम्भलक्षणो योऽसौ मोक्षस्तस्याधीनत्वादपुनर्भावनिबद्धमिति भावः॥ ७२॥

एवं नमस्कारमुख्यत्वेन गाथाद्वयं गतम्।

इति गाथाष्टकेन पंचमस्थलं ज्ञातव्यम्।

अब, उन्हीं भगवान को सिद्धावस्था सम्बन्धी गुणों के स्तवन रूप से नमस्कार करते हैं—

उन गुणों से सम्पन्न सुर-नर-नाथपद अविछिन्न जो।

हैं पुनर्भाव रहित निबद्ध प्रणाम पुन-पुन सिद्ध को॥ ७२॥

गाथार्थ— उन गुणों से परिपूर्ण, मनुष्य व देवों के स्वामीत्व से रहित, अपुनर्भाव निबद्ध-मोक्ष स्वरूप सिद्ध भगवान को मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ।

टीकार्थ— ***पणमामि***- नमस्कार करता हूँ। ***पुणो पुणो*** - बारम्बार। बारम्बार किन्हें नमस्कार करता हूँ? ***तं सिद्धं***- परमागम में प्रसिद्ध उन सिद्धों को नमस्कार करता हूँ। वे सिद्ध कैसे हैं? ***गुणदो अधिगदरं***- अव्याबाध-अनन्त सुखादि गुणों से अधिकतर—अच्छी तरह विशिष्टाधिक-परिपूर्ण गुण वाले हैं। वे सिद्ध और कैसे हैं? ***अविच्छिदं मणुवदेवपदिभावं*** - जैसे पहले अरहन्त अवस्था में चक्रवर्ती, देवेन्द्र आदि समवशरण में आकर नमस्कार करते हैं, उससे प्रभुता होती है; उससे उल्लंघित हो जाने के कारण मानवपति, देवपति भाव से रहित हैं। वे सिद्ध और किस विशेषता वाले हैं? ***अपुणब्भावणिबद्धं***- द्रव्य क्षेत्रादि पाँच प्रकार के भवों से विलक्षण शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावी निजात्मा की प्राप्ति लक्षण जो मोक्ष, उसके अधीन होने से अपुनर्भावनिबद्ध हैं—यह भाव है।

विशेषार्थ —***अविच्छिदं मणुवदेवपदिभावं*** - इसका ऐसा भी विश्लेषण हो सकता है कि सिद्ध भगवान सादि- अनन्त सिद्ध अवस्था रूप रहने के कारण अविनाशी हैं तथा अरहन्तों से भी उच्च पद प्राप्त होने के कारण चक्रवर्ती, देवेन्द्रादि सभी से पूज्य त्रैलोक्यपति हैं॥ ७२॥

इसप्रकार नमस्कार की मुख्यता से दो गाथायें पूर्ण हुईं।

इसप्रकार आठ गाथाओं वाला पाँचवा स्थल जानना चाहिये।

एवमष्टादशगाथाभिः स्थलपंचकेन सुखप्रपंचनामान्तराधिकारो गतः ।

इति पूर्वोक्तप्रकारेण *'एस सुरासुर'* इत्यादि चतुर्दशगाथाभिः पीठिका गता, तदनन्तरं सप्तगाथाभिः *सामान्यसर्वज्ञसिद्धि,* तदनन्तरं त्रयस्त्रिंशद्गाथाभिः ज्ञानप्रपंचः, तदनन्तरमष्टादशगाथाभिः सुखप्रपंच इति समुदायेन द्वासप्ततिगाथाभिरन्तराधिकारचतुष्टयेन *शुद्धोपयोगाधिकारः* समाप्तः ॥

इत उर्द्ध्वं पंचविंशतिगाथापर्यन्तं ज्ञानकण्डिकाचतुष्टयाभिधानोऽधिकारः प्रारभ्यते। तत्र पंचविंशतिगाथामध्ये प्रथमं तावच्छुभाशुभविषये मूढत्वनिराकरणार्थं *'देवदजदिगुरु'* इत्यादि दशगाथापर्यन्तं प्रथमज्ञानकण्डिका कथ्यते । तदनन्तरमाप्तात्मस्वरूपपरिज्ञानविषये मूढत्वनिराकरणार्थं *'चत्ता पावारंभं'* इत्यादि सप्तगाथापर्यन्तं द्वितीयज्ञानकण्डिका, अथानन्तरं द्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानविषये मूढत्वनिराकरणार्थं *'दव्वादिएसु'* इत्यादि गाथाषट्कपर्यन्तं तृतीयज्ञानकण्डिका। तदनन्तरं स्वपरतत्त्वपरिज्ञानविषये मूढत्वनिराकरणार्थं *'णाणप्पग'* इत्यादि गाथाद्वयेन चतुर्थज्ञानकण्डिका ।

इति ज्ञानकण्डिकाचतुष्टयाभिधानाधिकारे समुदायपातनिका ।

इसप्रकार अठारह गाथाओं द्वारा पाँच स्थलों में विभक्त 'सुख प्रपंच' नामक चतुर्थ अन्तराधिकार पूर्ण हुआ ।

इसप्रकार पूर्वोक्त प्रकार से *'एस सुरासुर'* इत्यादि चौदह गाथाओं द्वारा ***पीठिका*** पूर्ण हुई, उसके बाद सात गाथाओं द्वारा ***सामान्य-सर्वज्ञसिद्धि,*** तदनन्तर तेतीस गाथाओं द्वारा ***ज्ञानप्रपंच*** और उसके बाद अठारह गाथाओं द्वारा ***सुख प्रपंच***– इस प्रकार सामूहिक बहत्तर गाथाओं द्वारा चार अन्तराधिकार रूप से प्रथम ***शुद्धोपयोगाधिकार*** पूर्ण हुआ ।

इसके आगे पच्चीस गाथा पर्यन्त चलने वाला ***'ज्ञानकण्डिका चतुष्टय'*** नामक द्वितीयाधिकार प्रारम्भ होता है । वहाँ पच्चीस गाथाओं में सबसे पहले शुभाशुभ के विषय में मूढता-निराकरण के लिये ***'देवदजदिगुरु'*** इत्यादि दस गाथा पर्यन्त पहली ज्ञानकण्डिका कहते हैं । उसके बाद आप्त और आत्मा के स्वरूप परिज्ञान के विषय में मूढता-निराकरण के लिये ***'चत्ता पावारंभं'*** इत्यादि सात गाथा पर्यन्त दूसरी ज्ञान कण्डिका, अब उसके बाद द्रव्य-गुण-पर्याय सम्बन्धी परिज्ञान के विषय में मूढता-निराकरण के लिये ***'दव्वादिएसु'*** इत्यादि छह गाथा पर्यन्त तीसरी ज्ञान कण्डिका है । तत्पश्चात् स्व-पर तत्त्व परिज्ञान सम्बन्धी विषय में मूढता-निराकरण के लिये ***'णाणप्पग'*** इत्यादि दो गाथाओं द्वारा चौथी ज्ञान कण्डिका कही गई है ।

इसप्रकार ज्ञानकण्डिका चतुष्टय नामक दूसरे अधिकार में सामूहिक पातनिका हुई ।

अथेदानीं प्रथमज्ञानकण्डिकायां स्वतन्त्रव्याख्यानेन गाथाचतुष्टयं, तदनन्तरं पुण्यं जीवस्य विषयतृष्णामुत्पादयतीति कथनरूपेण गाथाचतुष्टयं, तदनन्तरमुपसंहाररूपेण गाथाद्वयं, इति स्थलत्रयपर्यन्तं क्रमेण व्याख्यानं क्रियते ।

ज्ञानकण्डिका चतुष्टय संज्ञक द्वितीयाधिकार

अन्तराधिकार विभाजन (गाथा ७३ से ९७ पर्यन्त)

अन्तराधिकार क्रम	ज्ञान कण्डिका अन्तराधिकार प्रतिपादित प्रधान विषय	गाथायें कहाँ से कहाँ तक	कुलगाथा
प्रथम ज्ञान कण्डिका	शुभाशुभ सम्बन्धी मूढता निराकरण प्रधानता	७३ से ८२	१०
द्वितीय ज्ञान कण्डिका	आप्तात्मा स्वरूप परिज्ञान विषयक मूढता निराकरण प्रधानता	८३ से ८९	७
तृतीय ज्ञान कण्डिका	द्रव्य-गुण-पर्याय परिज्ञान विषयक मूढता निराकरण प्रधानता	९० से ९५	६
चतुर्थ ज्ञान कण्डिका	स्व-पर तत्त्व परिज्ञान विषयक मूढता निराकरण प्रधानता	९६ व ९७	२
कुल चार ज्ञानकण्डिका अन्तराधिकार		कुल २५ गाथायें	

अब, इस समय पहली ज्ञान कण्डिका अन्तराधिकार में स्वतंत्र व्याख्यानरूप से चार गाथायें, उसके बाद पुण्य जीव को विषयतृष्णा का उत्पादक है–इस कथन रूप से चार गाथायें, उसके बाद उपसंहार रूप से दो गाथायें– इसप्रकार तीन स्थल पर्यन्त क्रम से व्याख्यान करते हैं ।

प्रथम ज्ञान कण्डिका अन्तराधिकार का स्थल विभाजन

(गाथा ७३ से ८२ पर्यन्त)

स्थल क्रम	स्थल प्रतिपादित प्रधान विषय	गाथायें कहाँ से कहाँ तक	कुल गाथायें
प्रथम स्थल	चार स्वतन्त्र विषय प्रतिपादक	७३ से ७६	४
द्वितीय स्थल	तृष्णोत्पादक पुण्य - प्रतिपादक	७७ से ८०	४
तृतीय स्थल	उपसंहार परक	८१ व ८२	२
कुल तीन स्थल		कुल १० गाथायें	

तद्यथा - अथ यद्यपि पूर्वं गाथाषट्केनेन्द्रियसुखस्वरूपं भणितं तथापि पुनरपि तदेव विस्तरेण कथयन् सन् तत्साधकं शुभोपयोगं प्रतिपादयति।

अथवा द्वितीयपातनिका - पीठिकायां यच्छुभोपयोगस्वरूपं सूचितं तस्येदानीमिन्द्रियसुखविशेषविचार-प्रस्तावे तत्साधकत्वेन विशेषविवरणं करोति-

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु। (६९)

उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा॥ ७३॥

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु देवतायतिगुरुपूजासु चैव दाने वा सुशीलेषु *उववासादिसु रत्तो* तथैवोपवासादिषु च रक्त आसक्तः *अप्पा* जीवः *सुहोवओगप्पगो* शुभोपयोगात्मको भण्यते इति।

तथा हि - देवता निर्दोषिपरमात्मा, इन्द्रियजयेन शुद्धात्मस्वरूपप्रयत्नपरो यतिः; स्वयं भेदाभेदरत्नत्रयाराधकस्तदर्थिनां भव्यानां जिनदीक्षादायको गुरुः, पूर्वोक्तदेवतायतिगुरूणां तत्प्रतिबिम्बादीनां च यथासंभवं द्रव्यभावरूपा पूजा, आहारादिचतुर्विधदानं च आचारादिकथितशीलव्रतानि तथैवोपवासादिजिनगुण संपत्त्यादिविधिविशेषाश्च। एतेषु शुभानुष्ठानेषु योऽसौ रतः द्वेषरूपे विषयानुरागरूपे चाशुभानुष्ठाने विरतः, स जीवः शुभोपयोगी भवतीति सूत्रार्थः॥ ७३॥

(अब, यहाँ द्वितीयाधिकार के अन्तर्गत प्रथम ज्ञानकण्डिका रूप प्रथम अन्तराधिकार का चार स्वतंत्र गाथा प्रतिपादक चार गाथाओं में निबद्ध पहला स्थल प्रारम्भ होता है।)

वह इसप्रकार— अब, यद्यपि पहले छह गाथाओं (६५ से ७०) द्वारा इन्द्रिय-सुख का स्वरूप कहा गया है, तथापि उसे ही और भी विस्तार से कहते हुये उसके साधक शुभोपयोग का प्रतिपादन करते हैं।

अथवा दूसरी पातनिका— पीठिका में जिस शुभोपयोग के स्वरूप की सूचना दी थी, उसका इस समय इन्द्रिय-सुख का साधक होने से इन्द्रिय-सुख के विशेष विचार के प्रसंग में विशेष विवरण करते हैं—

हो देव-गुरु पूजा यती पूजा सुशील व दान में।

है आत्मा उपयोग शुभयुत लीन उपवासादि में॥ ७३॥

गाथार्थ - देव-यति-गुरु की पूजा, दान, सुशील, उपवासादिक में लीन आत्मा शुभोपयोग स्वरूप है।

टीकार्थ— ***देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु***- देवता, यति और गुरु की पूजा में तथा दान और सुशीलों में ***उववासादिसु रत्तो***- और उसीप्रकार उपवासादि में आसक्त-लीन ***अप्पा*** - जीव ***सुहोवओगप्पगो***- शुभोपयोगात्मक कहा गया है।

वह इसप्रकार - निर्दोषी परमात्मा देव हैं, इन्द्रिय-जय से शुद्धात्म-स्वरूपलीनता में प्रयत्नशील यति हैं, स्वयं भेदाभेद रत्नत्रय के आराधक तथा उस रत्नत्रय के अभिलाषी भव्यों को जिनदीक्षा देने वाले गुरु हैं; पूर्वोक्त देवता, यति, गुरुओं तथा उनके प्रतिबिम्बादि के प्रति यथासम्भव द्रव्य - भावादि पूजा और आहारादि चार प्रकार का दान तथा आचारादि ग्रन्थों (चरणानुयोग के ग्रन्थों) में कहे हुये शील व्रत और उसीप्रकार जिनगुणसम्पत्ति आदि विधि-विशेष रूप उपवासादि। जो इन शुभ अनुष्ठानों में लीन है और द्वेषरूप, विषयानुरागरूप अशुभ- अनुष्ठानों से विरक्त है, वह जीव शुभोपयोगी है—यह गाथा का अर्थ है*॥ ७३॥

* (शुभोपयोग सम्बन्धी विशेष परिज्ञानार्थ देखिये— प्रस्तुत ग्रन्थ, गाथा १६९ तथा पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा १३६)

अथ पूर्वोक्तशुभोपयोगेन साध्यमिन्द्रियसुखं कथयति—

जुत्तो सुहेण आदा तिरिओ वा माणुसो व देवो वा।(७०)

भूदो तावदि कालं लहदि सुहं इन्दियं विविहं ॥ ७४ ॥

सुहेण जुत्तो आदा यथा निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धोपयोगेन युक्तो मुक्तो भूत्वाऽयं जीवोऽनन्तकालमतीन्द्रियसुखं लभते, तथा पूर्वसूत्रोक्तलक्षणशुभोपयोगेन युक्तः परिणतोऽयमात्मा *तिरियो वा माणुसो व देवो वा भूदो* तिर्यग्मनुष्यदेवरूपो भूत्वा *तावदि कालं* तावत्कालं स्वकीयायुःपर्यन्तं *लहदि सुहं इंदियं विविहं* इन्द्रियजं विविधं सुखं लभते, इति सूत्राभिप्रायः ॥ ७४ ॥

अथ पूर्वोक्तमिन्द्रियसुखं निश्चयनयेन दुःखमेवेत्युपदिशति—

सोक्खं सहावसिद्धं णत्थि सुराणं पि सिद्धमुवदेसे।(७१)

ते देहवेदणट्टा रमंति विसएसु रम्मेसु ॥ ७५ ॥

अब, पूर्वोक्त शुभोपयोग द्वारा साध्य इन्द्रिय-सुख को कहते हैं—

शुभ से सहित यह आत्मा तिर्यक् मनुज वा देव हो।

है एक सीमित समय पाता विविध इन्द्रिय-सौख्य को ॥ ७४ ॥

गाथार्थ— *शुभोपयोग से युक्त आत्मा उतने काल तक तिर्यंच, मनुष्य वा देव होकर विविध इन्द्रिय-सुख* को प्राप्त करता है।

टीकार्थ - ***सुहेण जुत्तो आदा***- जैसे निश्चय रत्नत्रयात्मक शुद्धोपयोग से सहित यह जीव, मुक्त होकर अनन्तकाल तक अतीन्द्रिय सुख पाता रहता है; उसीप्रकार पूर्व गाथा (७३ गाथा) में कहे लक्षण वाले शुभोपयोग से सहित—परिणत यह आत्मा ***तिरियो वा माणुसो वा देवो वा भूदो***— तिर्यंच, मनुष्य अथवा देव होकर ***तावदि कालं***-अपनी आयु पर्यन्त ***लहदि सुहं इन्दियं विविहं*** —इन्द्रियजन्य विविध सुखों को प्राप्त करता है—यह गाथा का अभिप्राय है ॥ ७४ ॥

अब, पूर्वोक्त इन्द्रिय-सुख निश्चय-नय से दुःख ही है; ऐसा उपदेश देते हैं—

है सुरों के भी सुख न स्वाभाविक प्रसिध उपदेश से।

वे रम्य विषयों में रमें हैं दुखित वेदन देह से ॥ ७५ ॥

गाथार्थ— जिनेन्द्र भगवान के उपदेश से सिद्ध है कि देवों के भी स्वभाव-सिद्ध सुख नहीं है, देह की वेदना से दुखित वे भी रम्य विषयों में रमण करते हैं।

सोक्खं सहावसिद्धं रागाद्युपाधिरहितं चिदानन्दैकस्वभावेनोपादानकारणभूतेन सिद्धमुत्पन्नं यत्स्वाभाविकसुखं तत्स्वभावसिद्धं भण्यते। *तच्च णत्थि सुराणं पि* आस्तां मनुष्यादीनां सुखं देवेन्द्रादीनामपि नास्ति *सिद्धमुवदेसे* इति सिद्धमुपदिष्टमुपदेशे परमागमे। *ते देहवेदणट्टा रमंति विसएसु रम्मेसु* तथाभूतसुखाभावात्ते देवादयो देहवेदनार्ताः पीडिताः कदर्थिताः सन्तो रमन्ते विषयेषु रम्याभासेष्विति।

अथ विस्तरः— अधोभागे सप्तनरकस्थानीयमहाऽजगरप्रसारितमुखे, कोणचतुष्के तु क्रोधमानमायालोभस्थानीयसर्पचतुष्कप्रसारितवदने देहस्थानीयमहान्धकूपे पतितः सन् कश्चित् पुरुषविशेषः, संसारस्थानीयमहारण्ये मिथ्यात्वादिकुमार्गे नष्टः सन् मृत्युस्थानीयहस्तिभयेनायुष्कर्मस्थानीये साटिकविशेषे शुक्लकृष्णपक्षस्थानीयशुक्लकृष्णमूषकद्वयछेद्यमानमूले व्याधिस्थानीयमधुमक्षिकावेष्टिते लग्नस्तेनैव हस्तिना हन्यमाने सति विषयसुखस्थानीय मधुबिन्दुसुस्वादेन यथा सुखं मन्यते, तथा संसारसुखम्। पूर्वोक्तमोक्षसुखं तु तद्विपरीतमिति तात्पर्यम् ॥ ७५ ॥

टीकार्थ— *सोक्खं सहावसिद्धं*—उपादान-कारणभूत ज्ञानानन्द एक स्वभाव से उत्पन्न जो रागादि उपाधि रहित स्वाभाविक सुख, वह स्वभाव-सिद्ध सुख कहलाता है। ***तच्च णत्थि सुराणं पि*** - वह सुख मनुष्यादि के तो दूर ही रहो, देवेन्द्रादि के भी नहीं है। ***सिद्धमुवदेसे***—ऐसा परमागम में कहा गया है। ***ते देहवेदणट्टा रमंति विसएसु रम्मेसु***—उसप्रकार के स्वभावसिद्ध सुख का अभाव होने से वे देवादि शरीर सम्बन्धी वेदना से पीडित-दु:खित होते हुये रम्याभास विषयों में रमण करते हैं।

अब, इसका विस्तार करते हैं—जैसे कोई पुरुष-विशेष नीचे भाग में सात नरक स्थानीय (रूपी) विशाल अजगर के फैलाये हुये मुख में, क्रोध-मान-माया-लोभ स्थानीय चारों कोनों पर स्थित चार सर्पों द्वारा फैलाये हुये मुख में, शरीर स्थानीय महान अन्धकूप में गिरा हुआ, संसार स्थानीय विशाल भयंकर वन में, मिथ्यात्वादि कुमार्ग में नष्ट होता हुआ, मृत्यु स्थानीय हाथी के भय से, जिसकी जड़ शुक्ल और कृष्ण पक्ष रूपी दो चूहे काट रहे हैं ऐसी आयुकर्म स्थानीय वृक्ष की शाखा-विशेष पर, रोग स्थानीय मधु-मक्खियों से घिरा हुआ, उसी हाथी द्वारा वृक्ष हिलाये जाने पर, विषय-सुख स्थानीय मधु-बिन्दु के स्वाद से सुख मानता है; वैसा यह संसार का सुख है। पूर्वोक्त मोक्षसुख इससे विपरीत है—यह तात्पर्य है।

विशेषार्थ—'आचार्य अमृतचन्द्र' ने प्रस्तुत गाथा की टीका में देवों के दु:ख को उनकी ही प्रवृत्ति रूप हेतु से इसप्रकार सिद्ध किया है—

"इन्द्रिय-सुख के भाजनों में प्रधान देव हैं। उनके भी वास्तव में स्वाभाविक सुख नहीं है, अपितु उनके स्वाभाविक दु:ख ही देखा जाता है, क्योंकि वे पंचेन्द्रियात्मक शरीर रूपी पिशाच की पीड़ा से परवश होते हुये भृगु-प्रपात के समान मनोज्ञ-विषयों की ओर दौड़ते हैं"[१]॥ ७५ ॥

---

१. प्रवचनसार, गाथा ७१ तत्त्व प्रदीपिका टीका।

अथ पूर्वोक्तप्रकारेण शुभोपयोगसाध्यस्येन्द्रियसुखस्य निश्चयेन दुःखत्वं ज्ञात्वा तत्साधकशुभोपयोगस्याप्यशुभोपयोगेन सह समानत्वं व्यवस्थापयति—

णरणारयतिरियसुरा भजन्ति जदि देहसंभवं दुक्खं ।(७२)
किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं ॥ ७६ ॥

णरणारयतिरियसुरा भजंति जदि देहसंभवं दुक्खं सहजातीन्द्रियामूर्तसदानन्दैकलक्षणं वास्तवसुखमलभमानाः सन्तो नरनारकतिर्यक्सुरा यदि चेदविशेषेण पूर्वोक्तपरमार्थसुखाद्विलक्षणं पंचेन्द्रियात्मकशरीरोत्पन्नं निश्चयनयेन दुःखमेव भजन्ते सेवन्ते, *किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं* व्यवहारेण विशेषेऽपि निश्चयेन सः प्रसिद्धः शुद्धोपयोगाद्विलक्षणः शुभाशुभोपयोगः कथं भिन्नत्वं लभते, न कथमपीति भावः ॥ ७६ ॥

एवं स्वतन्त्रगाथाचतुष्टयेन प्रथमस्थलं गतम् ।

अब, पूर्वोक्त प्रकार से शुभोपयोग द्वारा साध्य इन्द्रिय-सुख की, निश्चय से दुःख-रूपता जानकर उसके साधक शुभोपयोग की भी, अशुभोपयोग के साथ समानता व्यवस्थापित करते हैं—निश्चित करते हैं—

नर- नारकी-तिर्यंच-सुर सब देहगत दुख भोगते ।
तो जीव का उपयोग वह शुभ-अशुभ, कैसे बोलते ? ॥ ७६ ॥

गाथार्थ- यदि मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव सभी देहोत्पन्न दुःख का अनुभव करते हैं; तो जीवों का वह उपयोग शुभ-अशुभ भेद वाला कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता ।

टीकार्थ– ***णरणारयतिरियसुरा भजंति जदि देहसंभवं दुक्खं*–** सहज अतीन्द्रिय, अमूर्त, सदानन्द एक लक्षण वास्तविक सुख को प्राप्त नहीं करते हुये मनुष्य, नारकी, तिर्यंच, देव यदि समानरूप से पूर्वोक्त पारमार्थिक सुख से विलक्षण पंचेन्द्रियात्मक शरीर से उत्पन्न दुःख को ही निश्चय नय से भोगते हैं, ***किह सो सुहो व असुहो उवजोगो हवदि जीवाणं*–** व्यवहार से विशेष भेद होने पर भी निश्चय से शुद्धोपयोग से विलक्षण वह प्रसिद्ध शुभ-अशुभ उपयोग भिन्नता को कैसे प्राप्त हो सकता है ? किसी भी प्रकार प्राप्त नहीं हो सकता—यह भाव है ॥ ७६ ॥

इसप्रकार स्वतंत्र चार गाथाओं द्वारा प्रथम स्थल पूर्ण हुआ ।

अथ पुण्यानि देवेन्द्रचक्रवर्त्यादिपदं प्रयच्छन्ति इति पूर्वं प्रशंसां करोति। किमर्थम्। तत्फलाधारेणाग्रे तृष्णोत्पत्तिरूपदुःखदर्शनार्थं–

कुलिसाउहचक्कधरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं।(७३)

देहादीणं विद्धिं करेंति सुहिदा इवाभिरदा॥ ७७॥

कुलिसाउहचक्कधरा देवेन्द्राश्चक्रवर्तिनश्च कर्तारः। *सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं* शुभोपयोगजन्यभोगैः कृत्वा *देहादीणं विद्धिं करेंति* विकुर्वणारूपेण देहपरिवारादीनां वृद्धिं कुर्वन्ति। कथंभूताः सन्तः। *सुहिदा इवाभिरदा* सुखिता इवाभिरता आसक्ता इति।

अयमत्रार्थः– यत्परमातिशयतृप्तिसमुत्पादकं विषयतृष्णाविच्छित्तिकारकं च स्वाभाविकसुखं तदलभमाना दुष्टशोणिते जलयूका इवासक्ताः सुखाभासेन देहादीनां वृद्धिं कुर्वन्ति। ततो ज्ञायते तेषां स्वाभाविकं सुखं नास्तीति॥ ७७॥

(अब, तृष्णोत्पादक पुण्य प्रतिपादक चार गाथाओं में निबद्ध दूसरा स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, पुण्य देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदि पद देता है–इसप्रकार पहले प्रशंसा करते हैं। पुण्य की प्रशंसा किसलिये करते हैं ? उसके फल के आधार से आगे तृष्णा की उत्पत्तिरूप दुःख दिखाने के लिये पहले उसकी प्रशंसा करते हैं–

हैं सुखित सम आसक्त चक्री शक्र भी देहादि की।

वृद्धि करें भोगों से जो उपयोग मूलक शुभमयी॥ ७७॥

गाथार्थ– सुखी प्राणी के समान आसक्त इन्द्र-चक्रवर्ती शुभोपयोग-जन्य भोगों से शरीरादि की वृद्धि करते हैं।

टीकार्थ - *कुलिसाउहचक्कधरा* - देवेन्द्र और चक्रवर्ती रूप कर्ता– इस वाक्य में कर्ता कारक में प्रयुक्त देवेन्द्र और चक्रवर्ती। ***सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं*** - शुभोपयोग के फल से उत्पन्न भोगों द्वारा ***देहादीणं विद्धिं करेंति***- विशेष क्रियाओं के माध्यम से शरीर-परिवार आदि की वृद्धि करते हैं। वे कैसे होते हुये इनकी वृद्धि करते हैं ? ***सुहिदा इवाभिरदा*** - वे सुखी के समान आसक्त होते हुये शरीरादि की वृद्धि करते हैं।

यहाँ अर्थ यह है–जो परम अतिशय संतुष्टि को उत्पन्न करने वाला और विषय-तृष्णा को नष्ट करने वाला स्वाभाविक सुख है, उसे प्राप्त नहीं करने वाले दूषित रक्त में आसक्त जलयूका (जोंक) के समान आसक्त होते हुये सुखाभास से देहादि की वृद्धि करते हैं। इससे ज्ञात होता है कि उन्हें स्वाभाविक सुख नहीं है॥ ७७॥

अथ पुण्यानि जीवस्य विषयतृष्णामुत्पादयन्तीति प्रतिपादयति-

जदि संति हि पुण्णाणि य परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि ।(७४)

जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं ।। ७८ ।।

जदि संति हि पुण्णाणि य यदि चेन्निश्चयेन पुण्यपापरहितपरमात्मनो विपरीतानि पुण्यानि सन्ति । पुनरपि किंविशिष्टानि । *परिणामसमुब्भवाणि* निर्विकारस्वसंवित्तिविलक्षणशुभपरिणामसमुद्भवानि *विविहाणि* स्वकीयानन्तभेदेन बहुविधानि । तदा तानि किं कुर्वन्ति । *जणयंति विसयतण्हं* जनयन्ति । काम् विषयतृष्णाम् । केषाम् । *जीवाणं देवदंताणं* दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षारूपनिदानबन्धप्रभृतिनानामनोरथहयरूपविकल्पजालरहितपरमसमाधिसमुत्पन्नसुखामृतरूपां सर्वात्मप्रदेशेषु परमाह्लादोत्पत्तिभूतामेकाकारपरमसमरसीभावरूपां विषयाकांक्षाग्निजनितपरमदाहविनाशिकां स्वरूपतृप्तिमलभमानानां देवेन्द्रप्रभृतिबहिर्मुखसंसारिजीवानामिति ।

इदमत्र तात्पर्यम्— यदि तथाविधा विषयतृष्णा नास्ति तर्हि दुष्टशोणिते जलयूका इव कथं ते विषयेषु प्रवृत्तिं कुर्वन्ति । कुर्वन्ति चेत् पुण्यानि तृष्णोत्पादकत्वेन दुःखकारणानि इति ज्ञायन्ते ।। ७८ ।।

अब, पुण्य जीव की विषयतृष्णा को उत्पन्न करते हैं; ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

परिणाम से उत्पन्न विविध प्रकार के जो पुण्य हैं ।

वे शक्र आदि सभी को ही विषय-तृष्णा जनक हैं ।। ७८ ।।

गाथार्थ - यदि शुभ परिणामों से उत्पन्न विविध प्रकार के पुण्य विद्यमान हैं, तो वे देवों पर्यन्त जीवों को विषय-तृष्णा उत्पन्न करते हैं ।

टीकार्थ - ***जदि संति हि पुण्णाणि य*** - यदि निश्चय से पुण्य-पाप रहित परमात्मा से विपरीत पुण्य हैं । और वे भी पुण्य किस विशेषता वाले हैं ? ***परिणामसमुब्भवाणि***- निर्विकार स्वसंवेदन से विलक्षण शुभ परिणामों से उत्पन्न ***विविहाणि***- अपने अनन्त भेदों से अनेक प्रकार वाले हैं । तब वे पुण्य क्या करते हैं ? ***जणयंति विसयतण्हं***- उत्पन्न करते हैं । वे पुण्य क्या उत्पन्न करते हैं ? वे विषय-तृष्णा उत्पन्न करते हैं । वे किनकी विषय-तृष्णा उत्पन्न करते हैं ? ***जीवाणं देवदंताणं***- देखे हुये, सुने हुये, अनुभव किये हुये भोगों की आकांक्षा रूप निदान बंध से लेकर विविध प्रकार के इच्छा रूपी घोड़ों और विकल्प जालों से रहित परमसमाधि (स्वरूपलीनता) से उत्पन्न, सम्पूर्ण आत्म-प्रदेशों में परमाह्लाद को उत्पन्न करने वाले एकाकार परम समरसीभाव स्वरूप, विषयेच्छा रूप अग्नि से उत्पन्न तीव्रदाह की विनाशक, सुखामृत स्वरूप तृप्ति को प्राप्त नहीं करने वाले देवेन्द्रों से लेकर बहिर्मुख संसारी जीवों की विषय-तृष्णा को उत्पन्न करते हैं ।

यहाँ तात्पर्य यह है कि यदि (उक्त बहिर्मुखी जीवों के) उसप्रकार की विषय-तृष्णा नहीं होती, तो वे दूषित रक्त में आसक्त जलयूका (जोंक) के समान विषयों में प्रवृत्ति कैसे करते ? और यदि वे करते हैं, तो तृष्णा के उत्पादक होने से पुण्य दुःख के कारण ज्ञात होते हैं ।। ७८ ।।

अथ पुण्यानि दुःखकारणानीति पूर्वोक्तमेवार्थं विशेषेण समर्थयति–

ते पुण उदिण्णतण्हा दुहिदा तण्हाहिं विसयसोक्खाणि।(७५)

इच्छन्ति अणुभवंति य आमरणं दुक्खसंतत्ता ॥ ७९ ॥

ते पुणउदिण्णतण्हा सहजशुद्धात्मतृप्तेरभावात्ते निखिलसंसारिजीवाः पुनरुदीर्णतृष्णाः सन्तः *दुहिदा तण्हाहिं* स्वसंवित्तिसमुत्पन्नपारमार्थिकसुखाभावात्पूर्वोक्ततृष्णाभिर्दुःखिताः सन्तः। किं कुर्वन्ति। *विसयसोक्खाणि इच्छंति* निर्विषयपरमात्मसुखाद्विलक्षणानि विषयसुखानि इच्छन्ति। न केवलमिच्छन्ति, *अणुभवंति य* अनुभवन्ति च। किंपर्यन्तम्। *आमरणं* मरणपर्यन्तम्। कथंभूताः। *दुक्खसंतत्ता* दुःखसंतप्ता इति।

अयमत्रार्थः– यथा तृष्णोद्रेकेण प्रेरिताः जलौकसः कीलालमभिलषन्त्यस्तदेवानुभवन्त्यश्चामरणं दुःखिता भवन्ति, तथा निजशुद्धात्मसंवित्तिपराङ्मुखा जीवा अपि मृगतृष्णाभ्योऽम्भांसीव विषयानभिलषन्तस्तथैवानुभवन्तश्चामरणं दुःखिता भवन्ति।

तत एतदायातं तृष्णातंकोत्पादकत्वेन पुण्यानि वस्तुतो दुःखकारणानि इति ॥ ७९ ॥

अब, पुण्य दुःख के कारण हैं, इसप्रकार पूर्वोक्त ही अर्थ का विशेष रूप से समर्थन करते हैं —

वे उदित-तृष्णा जीव तृष्णा से तृषित हो चाहते।

हो आमरण संतप्त दुख से विषय सुख को भोगते ॥ ७९ ॥

गाथार्थ - और वे तृष्णा की प्रगटता वाले जीव तृष्णाओं से दुःखी होते हुये मरण पर्यन्त विषय-सुखों को चाहते हैं और दुःखों से संतप्त होते हुये उन्हें भोगते हैं।

टीकार्थ - ***ते पुण उदिण्णतण्हा*** - सहज शुद्धात्म-तृप्ति का अभाव होने से सर्व संसारी जीव तृष्णा की प्रगटता वाले होते हुये ***दुहिदा तण्हाहिं***- स्वसंवेदन से उत्पन्न पारमार्थिक सुख का अभाव होने से पूर्वोक्त तृष्णा से दुःखित होते हुये। तृष्णा से दुःखी वे क्या करते हैं ? ***विसयसोक्खाणि इच्छंति*** - उससे दुःखी वे, निर्विषय परमात्मसुख से विलक्षण, विषय-सुख की इच्छा करते हैं। वे मात्र उसकी इच्छा ही नहीं करते, अपितु ***अणुभवंति य*** - अनुभव भी करते हैं। वे विषय-सुख का अनुभव कब तक करते हैं ? ***आमरणं***- वे उसका अनुभव मरण पर्यन्त करते हैं। कैसे होते हुये, वे उसका अनुभव करते हैं ? ***दुक्खसंतत्ता***- दुःख से संतप्त होते हुये, वे उसका अनुभव करते हैं।

यहाँ अर्थ यह है –जैसे तृष्णा की वृद्धि से प्रेरित दूषित रक्त की इच्छा करते हुये जलौकस (जोंक), उसका ही अनुभव करते हुये मरण पर्यन्त दुःखी होते हैं; उसीप्रकार स्वशुद्धात्मा के संवेदन से रहित जीव भी, मृगतृष्णा के कारण जल की इच्छा के समान विषयों को चाहते हुये तथा उनका ही अनुभव करते हुये, मरण पर्यन्त दुखी होते हैं।

इससे यह निश्चित हुआ कि तृष्णा रूपी रोग को उत्पन्न करने वाले होने से पुण्य, वास्तव में दुःख के कारण हैं ॥ ७९ ॥

अथ पुनरपि पुण्योत्पन्नस्येन्द्रियसुखस्य बहुधा दुःखत्वं प्रकाशयति–

सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।(७६)

जं इन्दिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥ ८० ॥

सपरं सह परद्रव्यापेक्षया वर्तते सपरं भवतीन्द्रियसुखं, पारमार्थिकसुखं तु परद्रव्यनिरपेक्षत्वादात्माधीनं भवति । *बाधासहियं* तीव्रक्षुधातृष्णाद्यनेकबाधासहितत्वाद्बाधासहितमिन्द्रियसुखं, निजात्मसुखं तु पूर्वोक्तसमस्तबाधारहितत्वादव्याबाधम् । *विच्छिण्णं* प्रतिपक्षभूतासातोदयेन सहितत्वाद्विच्छिन्नं सान्तरितं भवतीन्द्रियसुखं, अतीन्द्रियसुखं तु प्रतिपक्षभूतासातोदयाभावान्निरन्तरम् । *बंधकारणं* दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षाप्रभृत्यनेकापध्यानवशेन भाविनरकादिदुःखोत्पादककर्मबन्धोत्पादकत्वाद्बन्धकारणमिन्द्रियसुखं, अतीन्द्रियसुखं तु सर्वापध्यानरहितत्वादबन्धकारणम् । *विसमं* विगतः शमः परमोपशमो यत्र तद्विषममतृप्तिकरं हानिवृद्धिसहितत्वाद्वा विषमं, अतीन्द्रियसुखं तु परमतृप्तिकरं हानिवृद्धिरहितम् । *जं इंदियेहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा* यदिन्द्रियैर्लब्धं संसारसुखं तत्सुखं यथा पूर्वोक्तपंचविशेषणविशिष्टं भवति तथैव दुःखमेवेत्यभिप्रायः ॥८० ॥

एवं पुण्यानि जीवस्य तृष्णोत्पादकत्वेन दुःखकारणानि भवन्तीति कथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाचतुष्टयं गतम् ।

अब, और भी पुण्य से उत्पन्न होने वाले इन्द्रिय-सुख की दुःखरूपता को अनेक प्रकार से प्रकाशित करते हैं—

परतन्त्र बाधासहित वा विच्छिन्न कारण बंध का ।

है विषम इन्द्रिय-प्राप्त सुख वह 'दुःख ही' ऐसा कहा ॥ ८० ॥

गाथार्थ - इन्द्रियों से प्राप्त होनेवाला वह सुख पराधीन, बाधा सहित, नाशशील, बंध का कारण तथा विषम है—इसप्रकार वह दुःख ही है ।

टीकार्थ - ***सपरं*** - इन्द्रिय-सुख पर-द्रव्य की अपेक्षा वाला होने से सपर-पराधीन है, और पारमार्थिक-सुख परद्रव्य से निरपेक्ष होने के कारण स्वाधीन है । ***बाधासहियं***- इन्द्रिय-सुख तीव्र क्षुधा (भूख), तृष्णा आदि अनेक बाधाओं से सहित होने के कारण विघ्न सहित है । और निजात्मसुख पूर्वोक्त सब बाधाओं से रहित होने के कारण अव्याबाध निर्विघ्न है । ***विच्छिण्णं*** - इन्द्रिय-सुःख अपने विरोधी असाता के उदय सहित होने के कारण विच्छिन्न-अन्तर सहित-खण्डित है और अतीन्द्रिय-सुख अपने विरोधी असाता के उदय का अभाव होने से अविच्छिन्न—अन्तर रहित—अखण्डित है । ***बंधकारणं*** - इन्द्रिय-सुख देखे हुये, सुने हुये, भोगे हुये भोगों की इच्छा को लेकर (इच्छा से) होने वाले अनेक प्रकार के अपध्यानों (खोटे-ध्यानों) के वश भविष्यकाल में नरकादि दुःखों को उत्पन्न करने वाले कर्मबन्ध का उत्पादक होने से बंध का कारण है और अतीन्द्रिय-सुख सम्पूर्ण अपध्यानों से रहित होने के कारण बन्ध का कारण नहीं है । ***विसमं***- वह शम अर्थात् परमोपशम से रहित है अथवा संतुष्टिकारक नहीं होने से या हानि-वृद्धि सहित होने के कारण विषम है और अतीन्द्रिय सुख परमसंतुष्टिकारक तथा हानि-वृद्धि रहित है । ***जं इंदियेहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा*** - जो इन्द्रियों से प्राप्त संसार-सुख है, वह सुख जिसप्रकार पूर्वोक्त पाँच विशेषणों सहित है, उसीप्रकार दुःख ही है—यह अभिप्राय है ।

विशेषार्थ - इस गाथा-टीका का अंतिम निष्कर्ष देते हुये 'आचार्य अमृतचन्द्र' लिखते हैं—
"इसप्रकार पुण्य भी पाप के समान दुःख का साधन है—यह निश्चय हुआ[१]" ॥८० ॥

इसप्रकार पुण्य जीव की तृष्णा के उत्पादक होने से दुःख के कारण हैं—इस कथनरूप से दूसरे स्थल में चार गाथायें पूर्ण हुईं ।

---

१. प्रवचनसार, गाथा ७६, तत्त्वप्रदीपिका टीका ।

अथ निश्चयेन पुण्यपापयोर्विशेषो नास्तीति कथयन् पुण्यपापयोर्व्याख्यानमुपसंहरति—

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं। (७७)

हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥ ८१ ॥

ण हि मण्णदि जो एवं न हि मन्यते य एवम्। किम्। *णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं* पुण्यपापयोर्निश्चयेन विशेषो नास्ति। स किं करोति। *हिंडदि घोरमपारं संसारं* हिण्डति भ्रमति। कम्। संसारम्। कथंभूतम्। घोरम् अपारं चाभव्यापेक्षया। कथंभूतः। *मोहसंछण्णो* मोहप्रच्छादित इति।

तथा हि– द्रव्यपुण्यपापयोर्व्यवहारेण भेदः, भावपुण्यपापयोस्तत्फलभूतसुखदुःखयोश्चाशुद्धनिश्चयेन भेदः, शुद्धनिश्चयेन तु शुद्धात्मनो भिन्नत्वाद्भेदो नास्ति। एवं शुद्धनयेन पुण्यपापयोरभेदं योऽसौ न मन्यते स देवेन्द्रचक्रवर्तिबलदेववासुदेवकामदेवादिपदनिमित्तं निदानबन्धेन पुण्यमिच्छन्निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वविपरीतदर्शन-चारित्रमोहप्रच्छादितः। सुवर्णलोहनिगडद्वयसमानपुण्यपापद्वयबद्धः सन् संसाररहितशुद्धात्मनो विपरीतं संसारं भ्रमतीत्यर्थः ॥ ८१ ॥

(अब, उपसंहार परक दो गाथाओं वाला तीसरा स्थल प्रारम्भ होता है ।)

अब, निश्चय से पुण्यपाप में भेद नहीं है, ऐसा कहते हुये पुण्य-पाप के व्याख्यान का उपसंहार करते हैं—

जो 'पुण्य एवं पाप में अन्तर नहीं' ना मानता।

हो मोह से आछन्न घोर अपार भव में घूमता ॥ ८१ ॥

गाथार्थ - इसप्रकार पुण्य और पाप में भेद नहीं है–ऐसा जो नहीं मानता है, वह मोहाच्छादित होता हुआ घोर अपार संसार में परिभ्रमण करता है ।

टीकार्थ - ***ण हि मण्णदि जो एवं*** - जो इसप्रकार नहीं मानता है । क्या नहीं मानता है ? ***णत्थि विसेसो त्ति पुण्ण पावाणं***- निश्चय से पुण्य और पाप मे विशेष (भेद-अन्तर) नहीं है–ऐसा नहीं मानता है । वह क्या करता है ? ***हिंडदि घोरमपारं संसारं***- वह घूमता है । कहाँ घूमता है ? संसार में घूमता है । कैसे संसार में घूमता है ? अभव्य की अपेक्षा से–वह घोर अपार संसार में घूमता है । वह ऐसे संसार में कैसा होता हुआ घूमता है ? ***मोहसंछण्णो***- वह मोह से आच्छादित होता हुआ (घिरा हुआ) ऐसे संसार में घूमता है ।

वह इसप्रकार–व्यवहार से द्रव्य पुण्य-पाप में भेद है, अशुद्ध निश्चयनय से भाव पुण्य-पाप और उनके फल स्वरूप होने वाले सुख-दुःख में भेद है, परन्तु शुद्ध निश्चय से शुद्धात्मा से भिन्न होने के कारण (इनमें) भेद नहीं है । इसप्रकार शुद्ध निश्चय नय से पुण्य और पाप में अभेद को जो नहीं मानता है, वह देवेन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, कामदेव आदि पदों के निमित्त निदानबन्ध रूप से पुण्य को चाहता हुआ, निर्मोह शुद्धात्मतत्त्व से विपरीत दर्शनमोह-चारित्र मोह से आच्छादित होता हुआ, सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी के समान पुण्य और पाप दोनों से बँधा हुआ, संसार रहित शुद्धात्मा से विपरीत संसार में भ्रमण करता है–यह अर्थ है ॥ ८१ ॥

अथैवं शुभाशुभयोः समानत्वपरिज्ञानेन निश्चितशुद्धात्मतत्त्वः सन् दुःखक्षयाय शुद्धोपयोगानुष्ठानं स्वीकरोति-

एवं विदिदत्थो जो दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा ।(७८)
उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं ॥ ८२ ॥

एवं विदिदत्थो जो एवं चिदानन्दैकस्वभावं परमात्मतत्त्वमेवोपादेयमन्यदशेषं हेयमिति हेयोपादेयपरिज्ञानेन विदितार्थतत्त्वो भूत्वा यः *दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा* निजशुद्धात्मद्रव्यादन्येषु शुभाशुभसर्वद्रव्येषु रागं द्वेषं वा न गच्छति *उवओगविसुद्धो सो* रागादिरहितशुद्धात्मानुभूतिलक्षणेन शुद्धोपयोगेन विशुद्धः सन् सः *खवेदि देहुब्भवं दुक्खं* तप्तलोहपिण्डस्थानीयदेहादुद्भवं अनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखाद्विलक्षणं परमाकुलत्वोत्पादकं लोहपिण्डरहितोऽग्निरिव घनघातपरंपरास्थानीयदेहरहितो भूत्वा शारीरं दुःखं क्षपयतीत्यभिप्रायः ॥ ८२ ॥

अब, इसप्रकार शुभ और अशुभ में समानता की जानकारी से शुद्धात्म-तत्त्व को (अपने ज्ञान में) निश्चित करता हुआ (जीव), दुःख विनाश के लिये शुद्धोपयोग रूप अनुष्ठान स्वीकार करता है—

जो जानकर तत्त्वार्थ राग न द्वेष अर्थों में करे।
उपयोग से हो शुद्धमय वह देहगत दुख-क्षय करे ॥ ८२ ॥

गाथार्थ— इसप्रकार अर्थ-पदार्थ-वस्तु स्वरूप को जानकर जो द्रव्यों में राग-द्वेष नहीं करता है, वह शुद्धोपयोग से विशुद्ध होता हुआ देहोत्पन्न दुःखों का क्षय करता है ।

टीकार्थ— *एवं विदिदत्थो जो* - इसप्रकार ज्ञानानन्द एक स्वभाव रूप परमात्म-तत्त्व ही उपादेय है, अन्य सर्व हेय हैं—इसप्रकार हेयोपादेय के परिज्ञान से अर्थ-तत्त्व को जानकर, जो ***दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा*** - निज शुद्धात्म-द्रव्य से भिन्न शुभाशुभ सम्पूर्ण द्रव्यों में राग अथवा द्वेष को प्राप्त नहीं होता है, ***उवओगविसुद्धो सो***- रागादि रहित शुद्धात्मानुभूति लक्षण शुद्धोपयोग से विशुद्ध होकर वह ***खवेदि देहुब्भवं दुक्खं*** - अनाकुलता लक्षण पारमार्थिक सुख से विलक्षण तपे हुये लोह-पिण्ड के समान देह से उत्पन्न तीव्र आकुलता के उत्पादक शारीरिक दुःख को, लोह-पिण्ड से रहित अग्नि के समान, घनघात परम्परा के स्थानीय देह से रहित होकर नष्ट कर देता है—यह अभिप्राय है ।

विशेषार्थ - (१) शुद्धोपयोग से सम्पूर्ण दुःखों का क्षय निरूपित करते हुये 'आचार्य अमृतचन्द्र' इस गाथा की टीका के निष्कर्ष रूप में लिखते हैं—

"इसलिये यह एक शुद्धोपयोग ही मुझे शरण है ।"[१]

१- प्रवचनसार, गाथा ७८ तत्त्वप्रदीपिका टीका ।

एवमुपसंहाररूपेण तृतीयस्थले गाथाद्वयं गतम्।

इति शुभाशुभमूढत्वनिरासार्थं गाथादशकपर्यन्तं स्थलत्रयसमुदायेन प्रथमज्ञानकण्डिका समाप्ता।

अथ शुभाशुभोपयोगनिवृत्तिलक्षणशुद्धोपयोगेन मोक्षो भवतीति पूर्वसूत्रे भणितम्। अत्र तु द्वितीयज्ञानकण्डिकाप्रारम्भे शुद्धोपयोगाभावे शुद्धात्मानं न लभते इति तमेवार्थं व्यतिरेकरूपेण दृढयति—

चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्मि। (७९)

ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं॥ ८३॥

चत्ता पावारंभं पूर्वं गृहवासादिरूपं पापारम्भं त्यक्त्वा *समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि* सम्यगुपस्थितो वा पुनः। क्व। शुभचरित्रे। *ण जहदि जदि मोहादी* न त्यजति यदि चेन्मोहरागद्वेषान् *ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं* न लभते स आत्मानं शुद्धमिति।

---

(२) इस गाथा-टीका के निष्कर्ष रूप में 'आचार्य प्रभाचन्द्र' लिखते हैं —

"तथा च रत्नत्रयात्प्रक्षीणमोहरागद्वेषो देहाद्भवदुःखविविक्तं विशुद्धमात्मानं लभते। नान्यथेत्युक्तं भवति।[1]

और इसप्रकार रत्नत्रय से मोह-राग-द्वेष का क्षय करने वाला जीव देह से उत्पन्न दुःखों से रहित विशुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है, अन्य किसी उपाय से नहीं—यह कहा गया है" ॥ ८२ ॥

इसप्रकार उपसंहार रूप से तीसरे स्थल में दो गाथायें पूर्ण हुईं।

इसप्रकार शुभाशुभ विषयक मूढता के निराकरण के लिये १० गाथा पर्यन्त ३ स्थलों के समूह द्वारा प्रथम ज्ञान कण्डिका नामक पहला अन्तराधिकार पूर्ण हुआ।

(अब, आप्त-आत्मा के स्वरूप परिज्ञान विषयक मूढ़ता निराकरण की प्रधानता वाला सात गाथाओं में निबद्ध द्वितीय ज्ञानकण्डिका नामक दूसरा अन्तराधिकार प्रारम्भ होता है।)

अब, शुभाशुभ उपयोग की निवृत्ति लक्षण शुद्धोपयोग से मोक्ष होता है—ऐसा पहले (गाथा ८२ वीं) में कहा गया था। यहाँ द्वितीय ज्ञानकण्डिका के प्रारम्भ में शुद्धोपयोग के अभाव में शुद्धात्मा को प्राप्त नहीं करता, इसप्रकार उसी अर्थ को व्यतिरेक रूप से दृढ़ करते हैं —

यदि त्याग पापारम्भ भी शुभचरित में उद्यममती।

मोहादि को ना छोड़ता शुद्धात्म-प्राप्ती ना कभी॥ ८३॥

गाथार्थ—पापारम्भ को छोड़कर शुभचारित्र में उद्यत होने पर भी यदि जीव मोहादि को नहीं छोड़ता है, तो वह शुद्धात्मा को प्राप्त नहीं करता है।

टीकार्थ— ***चत्ता पावारंभं*** - पहले घर में निवास आदि रूप पापारम्भ को छोड़कर ***समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि***— फिर अच्छी तरह स्थित होता है। अच्छी तरह कहाँ स्थित होता है ? शुभचारित्र में स्थित होता है। ***ण जहदि जदि मोहादि*** - यदि राग-द्वेष-मोह को नहीं छोड़ता है, ***ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं***— वह शुद्धात्मा को प्राप्त नहीं करता है।

---

१. प्रवचनसार, गाथा ८१, प्रवचनसार सरोज भास्कर टीका।

इतो विस्तरः— कोऽपि मोक्षार्थी परमोपेक्षालक्षणं परमसामायिकं पूर्वं प्रतिज्ञाय पश्चाद्विषयसुखसाधक-शुभोपयोगपरिणत्या मोहितान्तरंगः सन् निर्विकल्पसमाधिलक्षणपूर्वोक्तसामायिकचारित्राभावे सति निर्मोह-शुद्धात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूतान् मोहादीन्न त्यजति यदि चेत्तर्हि जिनसिद्धसदृशं निजशुद्धात्मानं न लभत इति सूत्रार्थः ॥८३ ॥

अथ शुद्धोपयोगाभावे यादृशं जिनसिद्धस्वरूपं न लभते तमेव कथयति –

तवसंजमप्पसिद्धो सुद्धो सग्गापवग्गमग्गकरो।

अमरासुरिंदमहिदो देवो सो लोयसिहरत्थो ॥ ८४ ॥

तवसंजमप्पसिद्धो समस्तरागादिपरभावेच्छात्यागेन स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं तपः, बहिरंगेन्द्रिय-प्राणसंयमबलेन स्वशुद्धात्मनि संयमनात्समरसीभावेन परिणमनं संयमः, ताभ्यां प्रसिद्धो जात उत्पन्नस्तपः-संयमप्रसिद्धः, *सुद्धो* क्षुधाद्यष्टादशदोषरहितः, *सग्गापवग्गमग्गकरो* स्वर्गः प्रसिद्धः केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयल-क्षणोऽपवर्गो मोक्षस्तयोर्मार्गं करोत्युपदिशति स्वर्गापवर्गमार्गकरः, *अमरासुरिंदमहिदो* तत्पदाभिलाषिभिरमरा-

यहाँ विस्तार करते हैं– यदि कोई मोक्षार्थी, पहले परमउपेक्षा लक्षण परम सामायिक की प्रतिज्ञा लेकर, बाद में विषय-सुख की साधक शुभोपयोग परिणति से मोहित चित्त वाला होता हुआ, निर्विकल्प समाधि स्वरूप पूर्वोक्त सामायिक का अभाव होने पर निर्मोह शुद्धात्म-तत्त्व से विरुद्ध मोहादि को नहीं छोड़ता है, तो जिन रूप सिद्ध भगवान के समान निज शुद्धात्मा को प्राप्त नहीं करता है– यह गाथा का अर्थ है।

विशेषार्थ– इस गाथा की टीका में 'आचार्य अमृतचन्द्र' निम्नलिखित रूप से शुभोपयोग में आसक्त जीव का फल बताते हुये अन्तिम निष्कर्ष इसप्रकार देते हैं –

"वास्तव में जो समस्त सावद्ययोग के त्याग रूप परमसामायिक चारित्र की प्रतिज्ञा लेकर भी, धूर्त अभिसारिका (संकेतानुसार प्रेमी से मिलने जाने वाली स्त्री) के समान शुभोपयोग वृत्ति से अभिसार (मिलन) करता हुआ, मोह रूपी सेना की अधीनता को नष्ट नहीं करता है, तो महादुःख संकट की अतिनिकटता वाला वह, वास्तव में शुद्धात्मा को कैसे प्राप्त कर सकता है ? इसलिये मैंने मोह रूपी सेना को जीतने के लिये कमर कसी है।"[१] ॥ ८३ ॥

अब, शुद्धोपयोग का अभाव होने पर जैसे (जिन के समान) जिन सिद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं करता है, उसे ही कहते हैं–

संयमन-तप से हैं प्रसिद्ध विशुद्ध दिव-शिव मार्गकर।

वे देव असुर सुरेन्द्र वन्दित लोक के शिखरस्थ वर ॥ ८४ ॥

गाथार्थ - तप और संयम से सिद्ध हुये वे देव स्वर्ग तथा मोक्षमार्ग के प्रदर्शक, देवेन्द्रों-असुरेन्द्रों से पूजित तथा लोक के शिखर पर स्थित हैं।

टीकार्थ - ***तवसंजमप्पसिद्धो***- सम्पूर्ण रागादि परभावों की इच्छा के त्याग से, स्वस्वरूप में प्रतपन-विजयन तप है; बाह्य में इन्द्रियसंयम और प्राणसंयम के बल से, शुद्धात्मा में संयमन पूर्वक समरसी भाव से परिणमन संयम है। उन दोनों से प्रसिद्ध– उत्पन्न– इसप्रकार तप और संयम से प्रसिद्ध *सुद्धो*- क्षुधादि अठारह दोषों से रहित, ***सग्गापवग्गमग्गकरो*** - स्वर्ग और प्रसिद्ध केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टय लक्षण मोक्ष– उन दोनों का मार्ग करते हैं अर्थात् मार्ग का उपदेश देते हैं – इसप्रकार स्वर्ग-मोक्ष मार्गकर, ***अमरासुरिंदमहिदो***-

१. प्रवचनसार, गाथा ७९, तत्त्वप्रदीपिका टीका।

सुरेन्द्रैर्महितः पूजितोऽमरासुरेन्द्रमहितः, *देवो सो* स एवंगुणविशिष्टोऽर्हन् देवो भवति। *लोयसिहरत्थो* स एव भगवान् लोकाग्रशिखरस्थः सन् सिद्धो भवतीति जिनसिद्धस्वरूपं ज्ञातव्यम् ॥ ८४ ॥

अथ तमित्थंभूतं निर्दोषिपरमात्मानं ये श्रद्दधंति मन्यन्ते तेऽक्षयसुखं लभन्त इति प्रज्ञापयति –

त देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरुं तिलोयस्स।
पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति॥ ८५ ॥

तं देवदेवदेवं देवदेवाः सौधर्मेन्द्रप्रभृतयस्तेषां देव आराध्यो देवदेवदेवस्तं देवदेवदेवं, *जदिवरवसहं* जितेन्द्रियत्वेन निजशुद्धात्मनि यत्नपरास्ते यतयस्तेषां वरा गणधरदेवादयस्तेभ्योऽपि वृषभः प्रधानो यतिवरवृषभस्तं यतिवरवृषभं, *गुरुं तिलोयस्स* अनन्तज्ञानादिगुरुगुणैस्त्रैलोक्यस्यापि गुरुस्तं त्रिलोकगुरुं, *पणमंति जे मणुस्सा* तमित्थंभूतं भगवन्तं ये मनुष्यादयो द्रव्यभावनमस्काराभ्यां प्रणमत्याराधयन्ति *ते सोक्खं अक्खयं जंति* ते तदाराधनाफलेन परंपरयाऽक्षयानन्तसौख्यं यान्ति लभन्त इति सूत्रार्थः ॥ ८५ ॥

उस पद के इच्छुक देवेन्द्रों-असुरेन्द्रों द्वारा पूजित हैं-- इसप्रकार अमरासुरेन्द्र महित, ***देवो सो***- इन गुणों से विशिष्ट वे अरहंत देव हैं। ***लोयसिहरत्थो***- वे ही भगवान लोक के अग्र शिखर पर स्थित होते हुये सिद्ध हैं— इसप्रकार जिनरूप सिद्ध भगवान का स्वरूप जानना चाहिये ॥ ८४ ॥

अब, इसप्रकार के उन निर्दोषी परमात्मा की जो श्रद्धा करते हैं— उन्हें मानते हैं—वे अक्षय सुख प्राप्त करते हैं, ऐसा प्रज्ञापन करते हैं—ज्ञान कराते हैं —

देवाधिदेव त्रिलोक-गुरु यतिवर वृषभ जिनदेव को।
जो मनुज करते नमन उनको सौख्य अक्षय प्राप्त हो॥ ८५ ॥

गाथार्थ— जो मनुष्य देवेन्द्रों के भी देव—देवाधिदेव, मुनिवरों में श्रेष्ठ, तीनलोक के गुरु (उन निर्दोषी परमात्मा) को नमस्कार करते हैं; वे अक्षय सुख प्राप्त करते हैं।

टीकार्थ - ***तं देवदेवदेवं***— सौधर्मेन्द्रादि देवों के भी देव—देवेन्द्र हैं, उनके देव—आराध्य—उन देवाधिदेव को, ***जदिवरवसहं***— जितेन्द्रियत्व होने से निजशुद्धात्मा में प्रयत्नशील यति हैं, उनमें श्रेष्ठ गणधर देवादि हैं, उनमें भी प्रधान यतिवर वृषभ—उन यतिवर वृषभ को ***गुरुं तिलोयस्स***- अनन्त ज्ञानादि महान गुणों के द्वारा तीन लोक के भी गुरु—उन त्रिलोक गुरु को ***पणमंति जे मणुस्सा***- इसप्रकार के उन भगवान को जो मनुष्यादि द्रव्य -भाव नमस्कार पूर्वक प्रणाम करते हैं— उनकी आराधना करते हैं, ***ते सोक्खं अक्खयं जंति*** - वे उस आराधना के फल-स्वरूप परम्परा से अक्षय-अनन्त सौख्य को प्राप्त करते हैं—यह गाथा का भाव है ॥ ८५ ॥

अथ *'चत्ता पावारंभं'* इत्यादिसूत्रेण यदुक्तं शुद्धोपयोगाभावे मोहादिविनाशो न भवति, मोहादिविनाशाभावे शुद्धात्मलाभो न भवति, तदर्थमेवेदानीमुपायं समालोचयति –

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।(८०)

सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥ ८६ ॥

जो जाणदि अरहंतं यः कर्ता जानाति। कम्। अर्हन्तम्। कैः कृत्वा। *दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं* द्रव्यत्वगुणत्वपर्यायत्वैः। ***सो जाणदि अप्पाणं*** स पुरुषोऽर्हत्परिज्ञानात्पश्चादात्मानं जानाति, *मोहो खलु जादि तस्स लयं* तत आत्मपरिज्ञानात्तस्य मोहो दर्शनमोहो लयं विनाशं क्षयं यातीति।

तद्यथा– केवलज्ञानादयो विशेषगुणा, अस्तित्वादयः सामान्यगुणाः परमौदारिकशरीराकारेण यदात्मप्रदेशानामवस्थानं स व्यंजनपर्यायः, अगुरुलघुकगुणषड्वृद्धिहानिरूपेण प्रतिक्षणं प्रवर्तमाना अर्थपर्यायाः, एवंलक्षणगुणपर्यायाधारभूतममूर्तमसंख्यातप्रदेशं शुद्धचैतन्यान्वयरूपं द्रव्यं चेति।

इत्थंभूतं द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपं पूर्वमर्हदभिधाने परमात्मनि ज्ञात्वा पश्चान्निश्चयनयेन तदेवागमसारपदभूतयाऽध्यात्मभाषया निजशुद्धात्मभावनाभिमुखरूपेण सविकल्पस्वसंवेदनज्ञानेन तथैवागमभाषयाधः –

अब, ***'चत्ता पावारंभं'*** इत्यादि तिरासीवीं गाथा द्वारा शुद्धोपयोग के अभाव में मोहादि का विनाश नहीं होता— ऐसा जो कहा था, मोहादि का विनाश नहीं होने पर शुद्धात्मा का लाभ नहीं होता है, उसके लिये ही अब उपाय का विचार करते हैं —

जो जानता अरहन्त को द्रव्यत्व-गुण-पर्याय से।

वह जानता है आत्मा हो मोहक्षय तब नियम से ॥ ८६ ॥

गाथार्थ - जो अरहंत को द्रव्य रूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है, वह आत्मा को जानता है और उसका मोह निश्चय से नष्ट होता है।

टीकार्थ - ***जो जाणदि अरहंतं***– कर्तारूप जो, जानता है — इस कथन में कर्ता कारक में प्रयुक्त जो, जानता है। किसे जानता है ? जो अरहन्त को जानता है। किस रूप से अरहंत को जानता है ? ***दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं***– जो द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से अरहन्त को जानता है। ***सो जाणदि अप्पाणं***- वह पुरुष अरहन्त के परिज्ञान के बाद आत्मा को जानता है, ***मोहो खलु जादि तस्स लयं***– उस आत्म-परिज्ञान से उसका मोह–दर्शनमोह विनाश को प्राप्त होता है।

वह इसप्रकार— केवलज्ञानादि विशेषगुण, अस्तित्वादि सामान्यगुण, परमौदारिक शरीराकार रूप जो आत्मप्रदेशों का अवस्थान (आकार) वह व्यंजन-पर्याय, अगुरुलघुक गुण की षड्वृद्धि-हानि रूप से प्रति समय होने वाली अर्थ-पर्यायें— इन लक्षण वाले गुण-पर्यायों का आधारभूत अमूर्त असंख्यात प्रदेशी शुद्ध चैतन्य के अन्वय रूप (नित्य-वही-वही) द्रव्य है।

इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप को पहले कहे हुये अरहन्त नामक परमात्मा में जानकर, तदनन्तर निश्चय नय से उसी आगम के सारपदभूत अध्यात्म-भाषा (की अपेक्षा) से स्वशुद्धात्म-भावना के सम्मुख रूप सविकल्प 'स्वसंवेदन ज्ञान से,' उसीप्रकार आगम भाषा (की अपेक्षा) से अधःप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण,

प्रवृत्तिकरणापूर्वकरणानिवृत्तिकरणसंज्ञदर्शनमोहक्षपणसमर्थपरिणामविशेषबलेन पश्चादात्मनि योजयति ।

तदनन्तरमविकल्पस्वरूपे प्राप्ते यथा पर्यायस्थानीयमुक्ताफलानि गुणस्थानीयं धवलत्वं चाभेदनयेन हार एव, तथापूर्वोक्तद्रव्यगुणपर्याया अभेदनयेनात्मैवेति भावयतो दर्शनमोहान्धकारः प्रलीयते ।इतिभावार्थः ॥८६ ॥

अथ प्रमादोत्पादकचारित्रमोहसंज्ञश्चौरोऽस्तीति मत्वाऽऽप्तपरिज्ञानादुपलब्धस्य शुद्धात्मचिन्तामणेः रक्षणार्थं जागर्तीति कथयति –

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं । (८१)
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥ ८७ ॥

अनिवृत्तिकरण नामक दर्शनमोह के क्षय में समर्थ परिणाम-विशेष के बल से पश्चात् (अपने ज्ञान को) आत्मा में जोड़ता है ।

इसके बाद निर्विकल्प स्वरूप प्राप्त होने पर, जैसे अभेदनय से पर्याय स्थानीय मुक्ताफल (मोती) और गुण स्थानीय धवलता (सफेदी) हार ही है, उसीप्रकार अभेद नय से पूर्वोक्त द्रव्य-गुण-पर्याय आत्मा ही हैं — इसप्रकार परिणमित होता हुआ (उसका) दर्शनमोहरूप अन्धकार विनाश को प्राप्त होता है — यह गाथा का भाव है ।

विशेषार्थ -'आचार्य अमृतचन्द्र' ने इस तथ्य को इसप्रकार स्पष्ट किया है —

"वहाँ सर्वतः विशुद्ध अरहन्त भगवान में 'यह चेतन है'— इसप्रकार अन्वय, वह द्रव्य; अन्वय के आश्रित रहने वाला चैतन्य विशेषण, वह गुण और चिद्विवर्तन (आत्मा के परिणमन) की ग्रन्थियाँ (गाँठे) स्वरूप एक समय मात्र की मर्यादा वाला काल परिमाण होने से परस्पर अप्रवृत्त अन्वय-व्यतिरेक, वे पर्यायें हैं ।[१]"

यहाँ ही अन्तिम निष्कर्ष रूप में वे लिखते हैं —"यदि ऐसा है तो मेरे द्वारा मोह रूपी सेना को जीतने का उपाय प्राप्त कर लिया गया है ।[२]" ॥ ८६ ॥

अब, प्रमाद को उत्पन्न करने वाला चारित्र-मोह नामक चोर है— ऐसा मानकर आप्त सम्बन्धी परिज्ञान (विशिष्ट जानकारी) से प्राप्त शुद्धात्मा रूप चिन्तामणि की रक्षा के लिये जागृत रहता है, ऐसा कहते हैं —

हो मोह विरहित जीव आत्म-स्वरूप सम्यक् प्राप्त हो ।
हो त्याग राग-द्वेष का तो शुद्ध आत्मा प्राप्त हो ॥ ८७ ॥

गाथार्थ - मोह से रहित आत्मा के सम्यक् तत्त्व (वास्तविक स्वरूप) को प्राप्त करने वाला जीव, यदि राग-द्वेष को छोड़ता है, तो वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है ।

---

१. प्रवचनसार, गाथा ८०, तत्त्वप्रदीपिका टीका ।

२. प्रवचनसार, गाथा ८०, तत्त्वप्रदीपिका टीका की अन्तिम पंक्ति ।

जीवो जीवः कर्ता । किंविशिष्टः । *ववगदमोहो* शुद्धात्मतत्त्वरुचिप्रतिबन्धकविनाशितदर्शनमोहः । पुनरपि किंविशिष्टः । *उवलद्धो* उपलब्धवान् ज्ञातवान् । किम् । *तच्चं* परमानन्दैकस्वभावात्मतत्त्वम् । कस्य संबन्धि । *अप्पणो* निजशुद्धात्मनः । कथम् । *सम्मं* सम्यक् संशयादिरहितत्वेन *जहदि जदि रागदोसे* शुद्धात्मानुभूतिलक्षणवीतरागचारित्रप्रतिबन्धकौ चारित्रमोहसंज्ञौ रागद्वेषौ यदि त्यजति। *सो अप्पाणं लहदि सुद्धं* स एवमभेदरत्नत्रयपरिणतो जीवः शुद्धबुद्धैकस्वभावमात्मानं लभते मुक्तो भवतीति ।

किंच पूर्वं ज्ञानकण्डिकायां *'उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं'* इत्युक्तं, अत्र तु *'जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं',* इति भणितम्, उभयत्र मोक्षोऽस्ति । को विशेषः ।

प्रत्युत्तरमाह—तत्र शुभाशुभयोर्निश्चयेन समानत्वं ज्ञात्वा पश्चाच्छुद्धे शुभरहिते निजस्वरूपे स्थित्वा मोक्षं लभते, तेन कारणेन शुभाशुभमूढत्वनिरासार्थं ज्ञानकण्डिका भण्यते । अत्र तु द्रव्यगुणपर्यायैराप्तस्वरूपं ज्ञात्वा पश्चात्तद्रूपे स्वशुद्धात्मनि स्थित्वा मोक्षं प्राप्नोति, ततः कारणादियमाप्तात्ममूढत्वनिरासार्थं ज्ञानकण्डिका इत्येतावान् विशेषः ॥ ८७ ॥

टीकार्थ — *जीवो-* जीव रूप कर्ता —इस गाथा में कर्ता कारक में प्रयुक्त जीव । वह जीव किस विशेषता वाला है । ***ववगदमोहो-*** शुद्धात्म-तत्त्व की रुचि को रोकने वाले दर्शन-मोह से रहित है । वह और किस विशेषता वाला है ? ***उवलद्धो*** — जानने वाला है । किसे जानने वाला है ? ***तच्चं*** - परमानन्द एक स्वभावी आत्म-तत्त्व को जानने वाला है । किसके आत्म-तत्त्व को जानने वाला है ? ***अप्पणो*** — निज शुद्धात्मा सम्बन्धी आत्म-तत्त्व को जानने वाला है । निज शुद्धात्म-तत्त्व को कैसे जानता है ? ***सम्मं*** — संशयादि दोषों से रहित होने के कारण अच्छी तरह जानता है । ***जहदि जदि रागदोसे*** - यदि शुद्धात्मानुभूति लक्षण वीतराग-चारित्र को रोकने वाले चारित्र-मोह नामक राग-द्वेष को छोड़ता है ***सो अप्पाणं लहदि सुद्धं*** —वही अभेद रत्नत्रय परिणत जीव शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावी आत्मा को प्राप्त करता है—मुक्त होता है ।

यहाँ प्रश्न है कि पहली ज्ञान कण्डिका में —

"उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं ... (गाथा ८२ उत्तरार्द्ध)

उपयोग की विशुद्धि (शुद्धोपयोग) वाला वह जीव, देहज दुःखों का क्षय करता है"।—

ऐसा कहा गया है, और यहाँ —

"जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ... (प्रकृत गाथा उत्तरार्द्ध)

यदि वह राग-द्वेष को छोड़ता है तो शुद्धात्मा को प्राप्त करता है"—ऐसा कहा गया है । दोनों ही गाथाओं से मोक्ष फलित होता है; अन्तर क्या है ?

आचार्य उसके प्रति उत्तर कहते हैं— वहाँ (गाथा ८२ में) निश्चय से शुभाशुभ में समानता जानकर, बाद में शुभ रहित निज शुद्ध स्वरूप में लीन होकर मोक्ष प्राप्त करता है, इस कारण शुभाशुभ-मूढ़ता के निराकरण के लिये (वह) ज्ञानकण्डिका कही गई है । और यहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय से आप्त का स्वरूप जानकर, बाद में उस रूप स्वशुद्धात्मा में लीन होकर मोक्ष प्राप्त करता है, इस कारण यह आप्त और आत्म-स्वरूप विषयक मूढ़ता के निराकरण के लिए ज्ञान कण्डिका है— इन दोनों में इतना ही अन्तर है ।

भावार्थ— शुद्धात्म-तत्त्व की रुचि को रोकने वाले दर्शन-मोह से रहित, परमानन्द एक स्वभावी निज शुद्धात्मतत्त्व को संशयादि दोषों से रहित अच्छी तरह जानने वाला जीव, यदि शुद्धात्मानुभूति लक्षण वीतराग चारित्र को रोकने वाले चारित्रमोह नामक राग-द्वेष को छोड़ता है; तो वह अभेद रत्नत्रय परिणत जीव, शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावी निजात्मा को प्राप्त करता है— मुक्त होता है ॥ ८७ ॥

अथ पूर्वं द्रव्यगुणपर्यायैराप्तस्वरूपं विज्ञाय पश्चात्तथाभूते स्वात्मनि स्थित्वा सर्वेऽप्यर्हन्तो मोक्षं गता इति स्वमनसि निश्चयं करोति –

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा ।(८२)
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं ॥ ८८ ॥

***सव्वे वि य अरहंता* सर्वेऽपि चार्हन्तः *तेण विधाणेण* द्रव्यगुणपर्यायैः पूर्वमर्हत्परिज्ञानात्पश्चात्तथाभूतस्वात्मावस्थानरूपेण तेन पूर्वोक्तप्रकारेण *खविदकम्मंसा* क्षपितकर्मांशा विनाशितकर्मभेदा भूत्वा, *किच्चा तधोवदेसं* अहो भव्या अयमेव निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धात्मोपलम्भलक्षणो मोक्षमार्गो नान्य इत्युपदेशं कृत्वा *णिव्वादा* निर्वृता अक्षयानन्तसुखेन तृप्ता जाताः *ते* ते भगवन्तः । *णमो तेसिं* एवं मोक्षमार्गनिश्चयं कृत्वा *श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवास्तस्मै* निजशुद्धात्मानुभूतिस्वरूपमोक्षमार्गाय तदुपदेशकेभ्योऽर्हद्भ्यश्च तदुभयस्वरूपाभिलाषिणः सन्तो *'नमोस्तु तेभ्य'* इत्यनेन पदेन नमस्कारं कुर्वन्तीत्यभिप्रायः ॥ ८८ ॥**

अब, पहले द्रव्य-गुण-पर्याय द्वारा आप्त के स्वरूप को जानकर,बाद में वैसे ही अपने आत्मा में स्थित होकर,सभी अरहन्त मोक्ष गये हैं — ऐसा अपने मन में निश्चय करते हैं —

अरहन्त सब ही उस विधि से नष्ट कर कर्मांश को ।
देकर तथाविध देशना मुक्ति गये हैं– नमन हो ॥ ८८ ॥

गाथार्थ– सभी अरहन्त उसी पद्धति से कर्मांशों का क्षय कर तथा उसीप्रकार उपदेश देकर मोक्ष गये हैं — उन्हें नमस्कार हो ।

टीकार्थ– ***सव्वे वि य अरहंता-*** और सभी अरहन्त ***तेण विधाणेण-*** द्रव्य-गुण-पर्याय द्वारा पहले अरहन्त को जानकर बाद में वैसे ही अपने आत्मा में स्थितिरूप-लीनतारूप — उस पूर्वोक्त प्रकार से ***खविदकम्मंसा-*** विविध कर्मों से रहित होकर ***किच्चा तधोवदेसं-*** हे भव्यो ! निश्चय रत्नत्रयात्मक शुद्धात्मा की प्राप्ति लक्षण यह ही मोक्षमार्ग है, दूसरा नहीं है — ऐसा उपदेश देकर ***णिव्वादा-*** अक्षय-अनन्त सुख से तृप्त हुये हैं — मुक्त हुये हैं ***ते-*** वे अरहन्त भगवान । ***णमो तेसिं-*** इसप्रकार मोक्षमार्ग का निश्चय करके,मोक्ष और मोक्षमार्ग–उन दोनों के इच्छुक ***"श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव"*** उस निज शुद्धात्मानुभूति स्वरूप मोक्षमार्ग तथा उसके उपदेशक अरहन्तों को 'उन्हें नमस्कार हो' इस पद द्वारा नमस्कार करते हैं — यह अभिप्राय है ।

भावार्थ- सभी अरहन्त पहले द्रव्य-गुण-पर्याय रूप से अरहन्त को जानकर तत्पश्चात् उस स्वरूप वाले स्वशुद्धात्मा में लीन हुये हैं । फलस्वरूप सर्व कर्मों से रहित होते हुये 'निश्चय रत्नत्रयात्मक शुद्धात्मा की प्राप्ति लक्षण यह ही मोक्षमार्ग है, अन्य नहीं ; ऐसा उपदेश देकर अक्षय-अनन्त सुख से संतुष्टिरूप मुक्ति को प्राप्त हुये हैं । इसप्रकार मोक्षमार्ग का निश्चय करके,उन दोनों के (मोक्ष एवं मोक्षमार्ग के) इच्छुक 'आचार्य कुन्दकुन्ददेव', निज शुद्धात्मानुभूति स्वरूप मोक्षमार्ग तथा उसके उपदेशक अरहन्त भगवन्तों को नमस्कार करते हैं ।

विशेषार्थ– इस गाथा-टीका के निष्कर्ष रूप में 'आचार्य अमृतचन्द्र' लिखते हैं—

"अथवा प्रलाप से (व्यर्थ की बकवास से–ज्यादा बोलने से) बस हो । मेरी मति व्यवस्थित हो गई है ।[१]" ॥ ८८ ॥

१.प्रवचनसार,गाथा ८२,तत्त्वप्रदीपिका टीका ।

अथ रत्नत्रयाराधका एव पुरुषा दानपूजागुणप्रशंसानमस्कारार्हा भवन्ति नान्या इति कथयति -

दंसणसुद्धा पुरिसा णाणपहाणा समग्गचरियत्था।

पूजासक्काररिहा दाणस्स य हि ते णमो तेसिं॥ ८९ ॥

दंसणसुद्धा निजशुद्धात्मरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वसाधकेन मूढत्रयादिपंचविंशतिमलरहितेन तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणेन दर्शनेन शुद्धा दर्शनशुद्धाः। *पुरिसा* पुरुषा जीवाः। पुनरपि कथंभूताः। *णाणपहाणा* निरुपरागस्वसंवेदनज्ञानसाधकेन वीतरागसर्वज्ञप्रणीतपरमागमाभ्यासलक्षणज्ञानेन प्रधानाःसमर्थाः प्रौढा ज्ञानप्रधानाः। पुनश्च कथंभूताः। *समग्गचरियत्था* निर्विकारनिश्चलात्मानुभूतिलक्षणनिश्चयचारित्रसाधकेनाचारादिशास्त्रकथितमूलोत्तरगुणानुष्ठानादिरूपेण चारित्रेण समग्राः परिपूर्णाः समग्रचारित्रस्थाः *पूजासक्काररिहा* द्रव्यभावलक्षणपूजा गुणप्रशंसा सत्कारस्तयोरर्हा योग्या भवन्ति। *दाणस्स य हि* दानस्य च हि स्फुटं *ते* ते पूर्वोक्तरत्नत्रयाधाराः। *णमो तेसिं* नमस्तेभ्य इति नमस्कारस्यापि त एव योग्याः ॥ ८९ ॥

एवमाप्तात्मस्वरूपविषये मूढत्वनिरासार्थं गाथासप्तकेन द्वितीयज्ञानकण्डिका गता।

अब, रत्नत्रय के आराधक पुरुष ही दान,पूजा,गुण-प्रशंसा एवं नमस्कार के योग्य हैं—अन्य नहीं; ऐसा कहते हैं—

दृगशुद्ध ज्ञान प्रधान नर चारित्र से भी पूर्ण हैं।

सत्कार-पूजा-दान के भी योग्य वही नमन उन्हें॥ ८९ ॥

गाथार्थ - जो पुरुष सम्यग्दर्शन से शुद्ध, ज्ञान में प्रधान और परिपूर्ण चारित्र में स्थित हैं, वे ही पूजा, सत्कार और दान के योग्य हैं ; उन्हें नमस्कार हो।

टीकार्थ— ***दंसणसुद्धा***- निज शुद्धात्मा की रुचि रूप निश्चय सम्यक्त्व को साधने वाले तीन मूढ़ता आदि पच्चीस दोषों से रहित तत्त्वार्थ-श्रद्धान लक्षण दर्शन से शुद्ध—दर्शनशुद्ध हैं। ***पुरिसा***- जीव। और वे जीव कैसे हैं ? ***णाणपहाणा***- उपराग रहित स्वसंवेदनज्ञान को साधने वाले वीतराग-सर्वज्ञ द्वारा कहे गये परमागम का अभ्यास लक्षण ज्ञान से प्रधान—ज्ञान से समर्थ—ज्ञान में प्रौढ़—ज्ञान प्रधान हैं। और वे जीव कैसे हैं ? ***समग्गचरियत्था***- विकार रहित, चंचलता रहित आत्मानुभूति लक्षण निश्चय चारित्र को साधने वाले आचारादि शास्त्रों में कहे गये मूलगुणों व उत्तरगुणों के अनुष्ठानादिरूप चारित्र से समग्र—परिपूर्ण—समग्र चारित्रवान हैं, ***पूजासक्काररिहा***- द्रव्य व भाव रूप पूजा व गुण-प्रशंसारूप सत्कार— उन दोनों के योग्य हैं। ***दाणस्स य हि***- और स्पष्टरूप से दान के योग्य हैं ***ते***- वे पहले कहे हुये रत्नत्रय के आधारभूत जीव। ***णमो तेसिं***- उन्हें नमस्कार हो— इसप्रकार वे ही नमस्कार-योग्य हैं।

भावार्थ— जो शुद्धात्मा की रुचि रूप निश्चय सम्यक्त्व के साधने वाले, तीन मूढ़ता आदि पच्चीस दोषों से रहित तत्त्वार्थश्रद्धान रूप दर्शन से शुद्ध, उपराग रहित स्वसंवेदनज्ञान को साधने वाले वीतराग-सर्वज्ञ द्वारा कहे गये परमागम के अभ्यास रूप ज्ञान में प्रधान, विकार व चंचलता रहित आत्मानुभूति रूप निश्चय चारित्र को साधने वाले,आचारादि शास्त्रों में कहे मूलगुणों व उत्तरगुणों के अनुष्ठान रूप चारित्र से परिपूर्ण रत्नत्रय के आधारभूत जीव हैं; वे ही द्रव्य-भावरूप पूजा, गुणप्रशंसारूप सत्कार तथा दानादि के योग्य हैं ; वे ही नमस्कार योग्य होने से,उन्हें नमस्कार हो ॥ ८९ ॥

इसप्रकार आप्त व आत्मा के स्वरूप के विषय में मूढता - निराकरण के लिये सात गाथाओं द्वारा दूसरी ज्ञान कण्डिका पूर्ण हुई।

अथ शुद्धात्मोपलम्भप्रतिपक्षभूतमोहस्य स्वरूपं भेदांश्च प्रतिपादयति--

दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहो त्ति। (८३)
खुब्भदि तेणुच्छण्णो पप्पा रागं व दोसं वा॥ ९०॥

दव्वादिएसु शुद्धात्मादिद्रव्येषु, तेषां द्रव्याणामनन्तज्ञानाद्यस्तित्वादिविशेषसामान्यलक्षणगुणेषु, शुद्धात्मपरिणतिलक्षणसिद्धत्वादिपर्यायेषु च यथासंभव पूर्वोपवर्णितेषु वक्ष्यमाणेषु च *मूढो भावो* एतेषु पूर्वोक्तद्रव्यगुणपर्यायेषु विपरीताभिनिवेशरूपेण तत्त्वसंशयजनको मूढो भावः *जीवस्स हवदि मोहो त्ति* इत्थंभूतो भावो जीवस्य दर्शनमोह इति भवति। *खुब्भदि तेणुच्छण्णो* तेन दर्शनमोहेनावच्छन्नो झम्पितः सन्नक्षुभितात्मतत्त्वविपरीतेन क्षोभेण क्षोभं स्वरूपचलनं विपर्ययं गच्छति। किं कृत्वा। *पप्पा रागं व दोसं वा* निर्विकारशुद्धात्मनो विपरीतमिष्टानिष्टेन्द्रियविषयेषु हर्षविषादरूपं चारित्रमोहसंज्ञं रागद्वेषं वा प्राप्य चेति।

(अब, द्रव्य-गुण-पर्याय परिज्ञानविषयक मूढ़ता का निराकरण करने वाला छह गाथाओं में निबद्ध तृतीय ज्ञान कण्डिका नामक तीसरा अन्तराधिकार प्रारम्भ होता है।)

अब, शुद्धात्मा की प्राप्ति के विरोधी मोह के स्वरूप और भेदों का प्रतिपादन करते हैं —

द्रव्यादि में अज्ञानता ही मोह है इस जीव का।
आच्छन्न उससे रागिद्वेषी क्षुब्ध रहता है सदा॥ ९०॥

गाथार्थ— द्रव्यादि सम्बन्धी जीव का मूढ़भाव मोह है, उससे आच्छादित जीव राग और द्वेष को प्राप्त कर क्षुब्ध(आकुलित) होता है।

टीकार्थ— ***दव्वादिएसु*** - शुद्धात्मादि द्रव्यों में, उन द्रव्यों के अनन्त-ज्ञानादि और अस्तित्वादि विशेष-सामान्य लक्षण गुणों में और शुद्धात्म-परिणति लक्षण सिद्धत्वादि पर्यायों में तथा यथासंभव पहले कहे गये तथा आगे कहे जाने वाले द्रव्य-गुण-पर्यायों में ***मूढो भावो***- इन पूर्वोक्त द्रव्य-गुण- पर्यायों में, विपरीत अभिप्राय रूप से तत्त्व में संशय उत्पन्न करने वाला मूढभाव ***जीवस्स हवदि मोहो त्ति***- जीव का इसप्रकार का भाव दर्शनमोह है। ***खुब्भदि तेणुच्छण्णो***- उस दर्शनमोह से घिरा हुआ, निराकुल आत्मतत्त्व से विपरीत आकुलता द्वारा क्षोभ, स्वरूप-चंचलता, विपरीतता को प्राप्त होता है। क्या करके स्वरूप-विपरीतता को प्राप्त होता है ? ***पप्पा रागं व दोसं वा***- विकार रहित शुद्धात्मा से विपरीत इष्टानिष्ट इन्द्रिय-विषयों में हर्ष-विषाद रूप चारित्रमोह नामक राग-द्वेष को प्राप्त कर स्वरूप-विपरीतता को प्राप्त होता है।

इससे क्या कहा गया है — यह सब कहने का तात्पर्य क्या है ? मोह—दर्शनमोह और राग-द्वेष दोनों चारित्रमोह— इसप्रकार मोह तीन भूमिका वाला— तीन भेद वाला है।

भावार्थ— शुद्धात्मादि द्रव्यों, उनके अनन्त-ज्ञानादि और अस्तित्वादि विशेष-सामान्य गुणों तथा शुद्धात्मपरिणतिरूप सिद्धत्वादि पर्यायों एवं यथासंभव अन्य भी द्रव्य-गुण-पर्यायों में, विपरीत अभिप्राय के कारण तत्त्व में संशय उत्पन्न करने वाला जीव का मूढ़ भाव, मोह-दर्शनमोह है। उस दर्शन-मोह से युक्त निर्विकार शुद्धात्मा से रहित इष्टानिष्ट इन्द्रिय-विषयों में हर्ष-विषाद रूप राग-द्वेष दोनों चारित्र-मोह हैं।

उपर्युक्त दर्शनमोह से घिरा हुआ जीव राग-द्वेष रूप होकर निराकुल आत्मतत्त्व से विपरीत आकुलता के कारण क्षोभ-अस्थिरता को प्राप्त होता है।

अनेन किमुक्तं भवति । मोहो दर्शनमोहो रागद्वेषद्वयं चारित्रमोहश्चेति त्रिभूमिको मोह इति ॥ ९० ॥

अथ दुःखहेतुभूतबन्धस्य कारणभूता रागद्वेषमोहा निर्मूलनीया इत्याघोषयति –

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स । (८४)

जायदि विविहो बंधो तम्हा ते संखवइदव्वा ॥ ९१ ॥

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स मोहरागद्वेषपरिणतस्य मोहादिरहितपरमात्मस्वरूप-परिणतिच्युतस्य बहिर्मुखजीवस्य *जायदि विविहो बंधो* शुद्धोपयोगलक्षणो भावमोक्षस्तद्बलेन जीवप्रदेशकर्म-प्रदेशानामत्यन्तविश्लेषो द्रव्यमोक्षः, इत्थंभूतद्रव्यभावमोक्षाद्विलक्षणः सर्वप्रकारोपादेयभूतस्वाभाविकसुख-विपरीतस्य नारकादिदुःखस्य कारणभूतो विविधबन्धो जायते। *तम्हा ते संखवइदव्वा* यतो रागद्वेष-मोहपरिणतस्य जीवस्येत्थंभूतो बन्धो भवति ततो रागादिरहितशुद्धात्मध्यानेन ते रागद्वेषमोहा सम्यक् क्षपयितव्या इति तात्पर्यम् ॥ ९१ ॥

इसप्रकार मोह, दर्शन मोह और राग-द्वेष रूप चारित्र मोह— इसप्रकार तीन भेद स्वरूप है ॥ ९० ॥

अब, दु:ख के कारणभूत बन्ध के कारणरूप राग-द्वेष-मोह जड़मूल से नष्ट करने योग्य हैं; ऐसी घोषणा करते हैं—

हैं मोह राग व द्वेष परिणत जीव के बन्धन विविध ।

इससे सभी वे नष्ट करने योग्य जानो सर्वविध ॥ ९१ ॥

गाथार्थ– मोह-राग अथवा द्वेष रूप से परिणमित जीव के विविध-बन्ध होते हैं, इसलिये वे पूर्ण रूप से नष्ट करने योग्य हैं ।

टीकार्थ– ***मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स-*** मोहादि रहित परमात्मस्वरूप परिणति से रहित मोह,राग, द्वेष परिणत बाह्यदृष्टिवाले (बहिरात्मा) जीव के ***जायदि विविहो बंधो-*** शुद्धोपयोग लक्षण भाव-मोक्ष तथा उसके बल से जीव-प्रदेश और कर्म-प्रदेशों का अत्यन्त पृथक् होना द्रव्यमोक्ष है— इसप्रकार द्रव्य-भाव मोक्ष से विलक्षण सभी प्रकार से उपादेयभूत-प्रगट करने योग्य स्वाभाविक सुख से विपरीत नारकादि दुःखों के कारणभूत विविध प्रकार के बंध होते हैं । ***तम्हा ते संखवइदव्वा*** - क्योंकि राग-द्वेष-मोह परिणत जीव के इसप्रकार बन्ध होता है, इसलिये रागादि से रहित शुद्धात्मा के ध्यान द्वारा, वे राग-द्वेष-मोह अच्छी तरह नष्ट करने योग्य हैं— यह तात्पर्य है ।

भावार्थ– मोहादि रहित परमात्मस्वरूप परिणति से रहित मोह-राग-द्वेष परिणत बहिरात्मा जीव के भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष से विपरीत, प्रगट करने योग्य स्वाभाविकसुख से विपरीत, नारकादि दुःखों के कारणभूत अनेक प्रकार का बंध होता है । अत: रागादि से रहित शुद्धात्मा के ध्यान द्वारा वे राग-द्वेष-मोह पूर्ण रूप से अच्छी तरह नष्ट करने योग्य हैं—यह कथन का प्रयोजन है ॥ ९१ ॥

अथ स्वकीयस्वकीयलिंगै रागद्वेषमोहान् ज्ञात्वा यथासंभवं त एव विनाशयितव्या इत्युपदिशति –

अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य तिरियमणुएसु ।(८५)

विसएसु य प्पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि ॥ ९२ ॥

अट्ठे अजधागहणं शुद्धात्मादिपदार्थे यथास्वरूपस्थितेऽपि विपरीताभिनिवेशरूपेणायथाग्रहणं *करुणाभावो य* शुद्धात्मोपलब्धिलक्षणपरमोपेक्षासंयमाद्विपरीतः करुणाभावो दयापरिणामश्च अथवा व्यवहारेण करुणाया अभावः । केषु विषयेषु । *मणुवतिरिएसु* मनुष्यतिर्यग्जीवेषु इति दर्शनमोहचिन्हम् । *विसएसु च प्पसंगो* निर्विषयसुखास्वादरहितबहिरात्मजीवानां मनोज्ञामनोज्ञविषयेषु च योऽसौ प्रकर्षेण संगः संसर्गस्तं दृष्ट्वा प्रीत्यप्रीतिर्लिंगाभ्यां चारित्रमोहसंज्ञौ रागद्वेषौ च ज्ञायेते विवेकिभिः, ततस्तत्परिज्ञानानन्तरमेव निर्विकारस्वशुद्धात्मभावनया रागद्वेषमोहा निहन्तव्या इति सूत्रार्थः ॥ ९२ ॥

अथ द्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानाभावे मोहो भवतीति यदुक्तं पूर्वं तदर्थमागमाभ्यासं कारयति ।

अब, अपने-अपने चिन्हों द्वारा राग-द्वेष-मोह को जानकर, यथासंभव वे ही नष्ट करने योग्य हैं; ऐसा उपदेश देते हैं —

अयथाग्रहण हो अर्थ करुणाभाव तिर्यक् मनुज में ।

विषयों में हो आसक्त ये सब मोह के ही चिन्ह हैं ॥ ९२ ॥

गाथार्थ– पदार्थों का अयथाग्रहण (पदार्थों के स्वरूप सम्बन्धी अन्यथा मान्यता), तिर्यंच-मनुष्यों के प्रति करुणाभाव तथा विषयों की संगति — ये सब मोह के चिन्ह हैं ।

टीकार्थ– ***अट्ठे अजधागहणं***– यथास्वरूप (अपने-अपने स्वरूप में) स्थित होने पर भी शुद्धात्मादि पदार्थों में विपरीत अभिप्राय के कारण जैसा नहीं है, वैसा ग्रहण करना (विपरीत जानना/मानना), ***करुणाभावो य***- शुद्धात्मा की प्राप्ति लक्षण परम उपेक्षा संयम से विपरीत करुणा भाव--दया परिणाम अथवा व्यवहार से करुणा का अभाव--किन विषयों में करुणा या करुणा का अभाव भाव? ***मणुवतिरिएसु***- मनुष्य और तिर्यंच जीवों में करुणा भाव या करुणा का अभाव ***(मोहस्सेदाणि लिंगाणि)***[1] - ये दर्शन मोह के चिन्ह हैं। ***विसएसु च प्पसंगो*** - विषय रहित सुख रूपी स्वाद से रहित बहिरात्मा जीवों को रुचिकर और अरुचिकर विषयों में जो वह विशेषरूप से संग-संसर्ग प्रवृत्ति है, उसे देखकर प्रीति और अप्रीति के चिन्हों से विवेकियों द्वारा चारित्रमोह नामक राग और द्वेष जाने जाते हैं; इसलिये उनके परिज्ञान के तत्काल बाद ही, निर्विकार निज शुद्धात्मा की भावना से, राग-द्वेष-मोह पूर्णरूप से नष्ट करने योग्य हैं-- यह गाथा का अर्थ है ।

विशेषार्थ– 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने इस गाथा की टीका में मोह (दर्शन-मोह) की पहिचान का चिन्ह इसप्रकार अभिव्यक्त किया है —

"पदार्थों का यथार्थज्ञान नहीं होने के कारण, (माध्यस्थ भाव से) मात्र देखने योग्य होने पर भी तिर्यंच और मनुष्यों के प्रति करुणा बुद्धि से मोह को (पहिचानकर)"[2] ॥ ९२ ॥

अब, द्रव्य-गुण-पर्याय सम्बन्धी जानकारी के अभाव में मोह होता है, ऐसा जो पहले (गाथा ९० में) कहा था, उन द्रव्य-गुण-पर्याय सम्बन्धी जानकारी के लिये आगम (जिनवाणी) का अभ्यास करने की प्रेरणा देते हैं—

---

१. प्रस्तुत वाक्य मुझे उपलब्ध किसी भी प्रति में प्राप्त नहीं हुआ है, अतः कोष्टक में दिया है - अनुवादिका ।

२. प्रवचनसार गाथा ८५ तत्त्वप्रदीपिका टीका ।

अथवा द्रव्यगुणपर्यायत्वैरर्हत्परिज्ञानादात्मपरिज्ञानं भवतीति यदुक्तं तदात्मपरिज्ञानमिममागमाभ्या-समपेक्षत इति पातनिकाद्वयं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति –

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।(८६)
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं॥ ९३ ॥

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा जिनशास्त्रात्सकाशाच्छुद्धात्मादिपदार्थान् प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्बुध्यमानस्य जानतो जीवस्य नियमान्निश्चयात्। किं फलं भवति। *खीयदि मोहोवचयो* दुरभिनिवेशसंस्कारकारी मोहोपचयः क्षीयते प्रलीयते क्षयं याति। *तम्हा सत्थं समधिदव्वं* तस्माच्छास्त्रं सम्यगध्येतव्यं पठनीयमिति।

तद्यथा - वीतरागसर्वज्ञप्रणीतशास्त्रात् *'एगो मे सस्सदो अप्पा'*[१] इत्यादि परमात्मोपदेशकश्रुतज्ञानेन तावदात्मानं जानीते कश्चिद्भव्यः, तदनन्तरं विशिष्टाभ्यासवशेन परमसमाधिकाले रागादिविकल्परहित-मानसप्रत्यक्षेण च तमेवात्मानं परिच्छिनत्ति, तथैवानुमानेन वा।

तथा हि -अत्रैव देहे निश्चयनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावः परमात्मास्ति। कस्माद्धेतोः। निर्विकारस्वसंवेदन-प्रत्यक्षत्वात् सुखादिवत् इति; तथैवान्येऽपि पदार्था यथासंभवमागमाभ्यासबलोत्पन्नप्रत्यक्षेणानुमानेन वा ज्ञायन्ते। ततो मोक्षार्थिना भव्येनागमाभ्यासः कर्तव्य इति तात्पर्यम्॥ ९३ ॥

अथवा द्रव्य-गुण-पर्याय रूप से अरहन्त की जानकारी से आत्मा की जानकारी होती है, ऐसा जो पहले (गाथा ८६ में) कहा था, वह आत्मा की जानकारी इस आगम के अभ्यास की अपेक्षा रखती है— आगम के अभ्यास से आत्मा तथा अरहन्त की जानकारी होती है— इसप्रकार दो पातनिकाओं को मन में धारण कर यह गाथा कहते हैं —

जिन शास्त्र-प्रत्यक्षादि से जो अर्थ जाने नियम से।
हो मोहचयक्षय शास्त्र अध्ययनीय सम्यक् इसलिये॥ ९३ ॥

गाथार्थ– जिन शास्त्र से प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा पदार्थों को जानने वाले जीव के मोह का समूह नियम से क्षय हो जाता है, अतः शास्त्र का सम्यक् प्रकार से अध्ययन करना चाहिये।

टीकार्थ– ***जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा-*** जिन शास्त्र से प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा शुद्धात्मादि पदार्थों को जानने वाले जीव का निश्चय से। उन्हें जानने का क्या फल है ? ***खीयदि मोहोवचयो–*** उन्हें जानने से विपरीत अभिप्रायरूप संस्कार करने वाला मोह समूह नष्ट हो जाता है। ***तम्हा सत्थं समधिदव्वं–*** इसलिये शास्त्र का अच्छी तरह से अध्ययन करना चाहिये।

वह इसप्रकार— कोई भव्य, वीतराग-सर्वज्ञ देव द्वारा कहे गये शास्त्र से "एक मेरा शाश्वत आत्मा" इत्यादि परमात्मा का उपदेश देने वाले श्रुतज्ञान द्वारा सर्वप्रथम आत्मा को जानता है और उसके बाद विशिष्ट अभ्यास के वश से परम समाधि (स्वरूप-लीनता) के समय रागादि विकल्पों से रहित मानस-प्रत्यक्ष (स्वसंवेदन प्रत्यक्ष) से उसी आत्मा को जानता है, अथवा उसीप्रकार अनुमान से जानता है।

वह इसप्रकार— निश्चयनय से शरीर में शुद्ध-बुद्ध एकस्वभाव-परमात्मा (त्रिकाली निज भगवान आत्मा) है। शरीर में ही निज परमात्मा है— यह कैसे जाना ? सुखादि के समान विकार रहित स्वसंवेदन प्रत्यक्ष रूप से यह जाना जाता है, उसीप्रकार अन्य भी पदार्थ यथासंभव आगम-अभ्यास के बल से उत्पन्न प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से जाने जाते हैं। इसलिये भव्य मोक्षार्थी को आगम का अभ्यास करना चाहिये— यह तात्पर्य है॥ ९३ ॥

---

१. नियमसार, गाथा १०२, प्रथमपाद।

अथ द्रव्यगुणपर्यायाणामर्थसंज्ञां कथयति –

दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया। (८७)

तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्व त्ति उवदेसो॥ ९४॥

दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया द्रव्याणि गुणास्तेषां द्रव्याणां पर्यायाश्च त्रयोऽप्यर्थसंज्ञया भणिताः कथिता अर्थसंज्ञा भवन्तीत्यर्थः। *तेसु* तेषु त्रिषु द्रव्यगुणपर्यायेषु मध्ये *गुणपज्जयाणं अप्पा* गुणपर्यायाणां संबंधी आत्मा स्वभावः। कः इति पृष्टे। *दव्व त्ति उवदेसो* द्रव्यमेव स्वभाव इत्युपदेशः, अथवा द्रव्यस्य कः स्वभाव इति पृष्टे गुणपर्यायाणामात्मा एव स्वभाव इति।

अथ विस्तरः– अनन्तज्ञानसुखादिगुणान् तथैवामूर्तत्वातीन्द्रियत्वसिद्धत्वादिपर्यायांश्च इयर्ति गच्छति परिणमत्याश्रयति येन कारणेन तस्मादर्थो भण्यते। किम्। शुद्धात्मद्रव्यम्।

तच्छुद्धात्मद्रव्यमाधारभूतमियृति गच्छन्ति परिणमन्त्याश्रयन्ति येन कारणेन ततोऽर्था भण्यन्ते। के ते। ज्ञानत्वसिद्धत्वादिगुणपर्यायाः।

अब, द्रव्य-गुण-पर्यायों की अर्थ संज्ञा (द्रव्य-गुण-पर्यायों का एक नाम अर्थ है, ऐसा) कहते हैं—

उन द्रव्य-गुण-पर्याय सबकी 'अर्थ' संज्ञा है कही।

उन गुणों पर्यायों का आत्मा द्रव्य जिन उपदेश ही॥ ९४॥

गाथार्थ– द्रव्य-गुण और उनकी पर्यायें 'अर्थ' नाम से कही गई हैं, उन गुण-पर्यायों का आत्मा (स्वरूप) द्रव्य है— ऐसा जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है।

टीकार्थ– ***दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया*** - द्रव्य-गुण और उन द्रव्यों की पर्यायें— तीनों को 'अर्थ' नाम से कहा गया है— इन सभी का अर्थ नाम है— यह अर्थ-भाव है। ***तेसु***– उन तीनों द्रव्य-गुण-पर्यायों के मध्य ***गुणपज्जयाणं अप्पा***- गुण-पर्यायों का सम्बन्धी आत्मा—स्वभाव है। गुण-पर्यायों का सम्बन्धी आत्मा कौन है ? ऐसा पूछने पर ***दव्व त्ति उवदेसो***- द्रव्य ही उन गुण-पर्यायों का आत्मा—स्वभाव है— ऐसा उपदेश है। अथवा— द्रव्य का क्या स्वभाव है ? ऐसा पूछने पर गुण-पर्यायों का आत्मा—स्वरूप ही उसका स्वभाव है— ऐसा उपदेश है।

अब, यहाँ उसका विस्तार करते हैं— जिस कारण अनन्तज्ञान-सुख आदि गुणों को और उसीप्रकार अमूर्तत्व, अतीन्द्रियत्व, सिद्धत्व आदि पर्यायों को प्राप्त करता है— उस रूप से परिणमन करता है— उनका आश्रय लेता है, उस कारण अर्थ कहलाता है। अर्थ कौन कहलाता है ? शुद्धात्म-द्रव्य अर्थ कहलाता है।

जिस कारण आधारभूत उस शुद्धात्मद्रव्य को प्राप्त करते हैं—उस रूप से परिणमन करते हैं—उसका आश्रय लेते हैं, उस कारण वे अर्थ कहलाते हैं। वे अर्थ कहलाने वाले कौन हैं ? वे अर्थ कहलाने वाले ज्ञानत्व आदि गुण तथा सिद्धत्वादि पर्यायें हैं।

ज्ञानत्वसिद्धत्वादिगुणपर्यायाणामात्मा स्वभावः क इति पृष्टे शुद्धात्मद्रव्यमेव स्वभावः, अथवा शुद्धात्मद्रव्यस्य कः स्वभाव इति पृष्टे पूर्वोक्तगुणपर्याया एव।

एवं शेषद्रव्यगुणपर्यायाणामप्यर्थसंज्ञा बोद्धव्येत्यर्थः ॥ ९४॥

अथ दुर्लभजैनोपदेशं लब्ध्वापि य एव मोहरागद्वेषान्निहन्ति स एवाशेष दुःखक्षयं प्राप्नोतीत्यावेदयति-

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्भ जोण्हमुवदेसं। (८८)

सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण॥ ९५॥

जो मोहरागदोसे णिहणदि य एव मोहरागद्वेषान्निहन्ति। किं कृत्वा *उवलब्भ* उपलभ्य प्राप्य। कम्। *जोण्हमुवदेसं* जैनोपदेशम्। *सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि* स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोति। केन। *अचिरेण कालेण* स्तोककालेनेति।

तद्यथा- एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपंचेन्द्रियादिदुर्लभपरंपरया जैनोपदेशं प्राप्य मोहरागद्वेषविलक्षणं निजशुद्धात्मनिश्चलानुभूतिलक्षणं निश्चयसम्यक्त्वज्ञानद्वयाविनाभूतं वीतरागचारित्रसंज्ञं निशितखड्गं य एव मोहरागद्वेषशत्रूणामुपरि दृढतरं पातयति स एव पारमार्थिकानाकुलत्वलक्षणसुखविलक्षणानां दुःखानां क्षयं करोतीत्यर्थः ॥ ९५॥

एवं द्रव्यगुणपर्यायविषये मूढत्वनिराकरणार्थं गाथाषट्केन तृतीयज्ञानकण्डिका गता।

ज्ञानत्व - सिद्धत्वादि गुण -पर्यायों का आत्मा अर्थात् स्वभाव क्या है ? ऐसा पूछने पर शुद्धात्मद्रव्य ही स्वभाव है, अथवा शुद्धात्मद्रव्य का स्वभाव क्या है ? ऐसा पूछने पर पूर्वोक्त गुण-पर्यायें ही उसका स्वभाव है।

इसीप्रकार शेष द्रव्य-गुण-पर्यायों की भी अर्थ संज्ञा जानना चाहिये—यह अर्थ है ॥ ९४ ॥

अब, दुर्लभ जैन-उपदेश प्राप्त कर लेने पर भी, जो मोह-राग-द्वेष को नष्ट करता है, वही सम्पूर्ण दुःखों के क्षय को प्राप्त करता है; ऐसा ज्ञान कराते हैं—

जो प्राप्त कर उपदेश जिन का नष्ट करता मोह को।

वा राग को वा द्वेष को वह शीघ्र सब दुख मुक्त हो ॥ ९५ ॥

गाथार्थ— जो जिनेन्द्र के उपदेश को प्राप्त कर मोह-राग-द्वेष को नष्ट करता है, वह अल्पकाल में सर्व दुःखों से मुक्त हो जाता है।

टीकार्थ— ***जो मोहरागदोसे णिहणदि*** - जो मोह-राग-द्वेष को नष्ट करता है। क्या करके उन्हें नष्ट करता है? ***उवलब्भ***- प्राप्त कर उन्हें नष्ट करता है। क्या प्राप्त कर उन्हें नष्ट करता है? ***जोण्हमुवदेसं*** - जिनेन्द्र भगवान का उपदेश प्राप्त कर उन्हें नष्ट करता है। ***सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि***- वह सर्व दुःखों से मोक्ष (छुटकारा) प्राप्त करता है। कैसे-कब प्राप्त करता है ? ***अचिरेण कालेण***- अल्प समय से—थोड़े ही समय में मोक्ष प्राप्त करता है।

वह इसप्रकार—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रियादि (जीवों की) दुर्लभ परम्परा से जिनेन्द्र भगवान का उपदेश प्राप्त कर मोह-राग-द्वेष से विलक्षण अविनाभावी निश्चयसम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान युक्त अपने शुद्धात्मा की निश्चल अनुभूति लक्षण वीतराग चारित्र नामक तीक्ष्ण (पैनी) तलवार को जो मोह-राग-द्वेष रूपी शत्रुओं के ऊपर दृढ़ता से गिराता है, वहीं वास्तविक अनाकुलता लक्षण सुख से विपरीत दुःखों का क्षय करता है—यह अर्थ है ॥९५ ॥

इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय के विषय में मूढ़ता निराकरण के लिये छह गाथाओं द्वारा तीसरी ज्ञानकण्डिका पूर्ण हुई।

अथ स्वपरात्मनोर्भेदज्ञानात् मोहक्षयो भवतीति प्रज्ञापयति –

णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं । (८९)

जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि ॥ ९६ ॥

णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं जाणदि जदि ज्ञानात्मकमात्मानं जानाति यदि। कथंभूतम्। स्वकीयशुद्धचैतन्यद्रव्यत्वेनाभिसंबद्धं। न केवलमात्मानम्, परं च यथोचितचेतनाचेतनपरकीयद्रव्यत्वेनाभिसंबद्धम्। कस्मात्। *णिच्छयदो* निश्चयतः निश्चयनयानुकूलं भेदज्ञानमाश्रित्य। *जो* यः कर्ता *सो* स *मोहक्खयं कुणदि* निर्मोहपरमानन्दैकस्वभावशुद्धात्मनो विपरीतस्य मोहस्य क्षयं करोतीति सूत्रार्थः ॥ ९६ ॥

(अब, स्व-पर तत्त्व परिज्ञान विषयक मूढ़ता का निराकरण करने वाला दो गाथाओं में निबद्ध चतुर्थ ज्ञान कण्डिका नामक चौथा अन्तराधिकार प्रारम्भ होता है ।)

अब, अपने और पर आत्मा के भेदज्ञान से मोह का क्षय होता है, ऐसा विशेष रूप से ज्ञान कराते हैं –

ज्ञानात्मक निज आत्मा वा अन्य को द्रव्यत्व से ।

सम्बद्ध जो जाने नियम से मोहक्षयं वह ही करे ॥ ९७ ॥

गाथार्थ– जो निश्चय से ज्ञान-स्वरूप स्वयं को और दूसरों को (अपने-अपने) द्रव्यरूप से सम्बद्ध (संयुक्त) जानता है, वह मोह का क्षय करता है ।

टीकार्थ– ***णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं जाणदि जदि*** - यदि ज्ञान-स्वरूपी आत्मा को जानता है । कैसे ज्ञान-स्वरूपी आत्मा को जानता है ? अपने शुद्ध चैतन्य द्रव्यत्व से अभिसम्बद्ध—बँधे हुये – जुड़े हुये आत्मा को जानता है । मात्र अपने आत्मा को ही नहीं जानता, अपितु अपने-अपने द्रव्य रूप से सम्बन्धित चेतन-अचेतन दूसरे द्रव्यों को जानता है । इन सबको कैसे जानता है ? ***णिच्छयदो*** - निश्चयनय के अनुकूल भेदज्ञान का आश्रय लेकर जानता है । ***जो***- जो कर्ता— इस वाक्य का कर्ता जो, ***सो***—वह ***मोहक्खयं कुणदि***- मोह रहित परमानन्द एक स्वभावी शुद्धात्मा से विपरीत मोह का क्षय करता है – यह गाथा का अर्थ है ।

भावार्थ– जो निश्चयनय से भेदज्ञान का आश्रय लेकर, अपने शुद्ध चैतन्य द्रव्यमय ज्ञान स्वरूपी अपने आत्मा को तथा अपने-अपने द्रव्यमय चेतन-अचेतन दूसरे द्रव्यों को जानता है, वह मोह रहित परमानन्दमयी एक स्वभावी स्व शुद्धात्मा के आश्रय से, उससे विपरीत मोह का क्षय करता है ।

इसप्रकार स्व और पर के भेदज्ञान पूर्वक स्वरूपलीनता से मोह का क्षय होता है–यह भाव है ॥ ९६ ॥

अथ पूर्वसूत्रे यदुक्तं स्वपरभेदविज्ञानं तदागमतः सिद्ध्यतीति प्रतिपादयति –

तम्हा जिणमग्गादो गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु। (९०)

अभिगच्छदु णिम्मोहं इच्छदि जदि अप्पणो अप्पा ॥ ९७ ॥

तम्हा जिणमग्गादो यस्मादेवं भणितं पूर्वं स्वपरभेदविज्ञानाद् मोहक्षयो भवति, तस्मात्कारणाज्जिन-मार्गाज्जिनागमात् *गुणेहिं* गुणैः *आदं* आत्मानं, न केवलमात्मानं *परं च* परद्रव्यं च। केषु मध्ये। *दव्वेसु* शुद्धात्मादिषड्द्रव्येषु *अभिगच्छदु* अभिगच्छतु जानातु। यदि किम्। *णिम्मोहं इच्छदि जदि* निर्मोहभावमिच्छति यदि चेत्। स कः। *अप्पा* आत्मा। कस्य संबन्धित्वेन। *अप्पणो* आत्मन इति।

तथा हि-यदिदं मम चैतन्यं स्वपरप्रकाशकं तेनाहं कर्ता विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं स्वकीयमात्मानं जानामि, परं च पुद्गलादिपंचद्रव्यरूपं शेषजीवान्तरं च पररूपेण जानामि, ततः कारणादेकापवरकप्रबोधितानेकप्रदीपप्रकाशेष्विव संभूयावस्थितेष्वपि सर्वद्रव्येषु मम सहजशुद्धचिदानन्दैकस्वभावस्य केनापि सह मोहो नास्तीत्यभिप्रायः ॥ ९७ ॥

एवं स्वपरपरिज्ञानविषये मूढत्वनिरासार्थं गाथाद्वयेन चतुर्थज्ञानकण्डिका गता।

इति पंचविंशतिगाथाभिर्ज्ञानकण्डिकाचतुष्टयाभिधानो द्वितीयोऽधिकारः समाप्तः।

अब, पहले (९६ वीं गाथा में) कहा गया जो स्व-पर भेदविज्ञान — वह आगम से सिद्ध होता है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं —

यदि चाहते निर्मोह अपने आत्म को जिन मार्ग से।

तो करो द्रव्यों में स्व-पर की भिन्नता उन गुणों से ॥ ९७ ॥

गाथार्थ– इसलिये यदि आत्मा, आत्मा को (स्वयं को) मोह रहित चाहता है, तो जिनमार्ग से गुणों द्वारा द्रव्यों में स्व और पर को जानो।

टीकार्थ– *तम्हा जिणमग्गादो* - जिस कारण पहले (९६ वीं गाथा में) स्वपर भेद-विज्ञान से मोह- क्षय होता है— ऐसा कहा था, उस कारण जिनमार्ग से-जिनागम/जिनवाणी से ***गुणेहिं***- गुणों द्वारा ***आदं***- आत्मा को–स्वयं को, मात्र आत्मा को ही नहीं ***परं च***- अपितु परद्रव्य को भी। गुणों द्वारा आत्मा और पर को किनके बीच जानो? ***दव्वेसु*** - शुद्धात्मादि छह द्रव्यों में ***अभिगच्छदु***- जानो। यदि क्या चाहते हो? ***णिम्मोहं इच्छदि जदि***- यदि निर्मोह भाव को चाहते हो तो। वह कौन निर्मोह भाव को चाहता है? ***अप्पा***- आत्मा निर्मोह भाव को चाहता है तो। किस सम्बन्धी उसे चाहता है? ***अप्पणो***- आत्मा का-स्वयं का निर्मोह भाव चाहता है तो।

वह इसप्रकार–जो यह मेरा स्व-पर को जानने वाला चैतन्य है, उसके द्वारा मैं कर्तारूप विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभावी अपने आत्मा को जानता हूँ तथा पुद्गलादि पाँच द्रव्य और शेष दूसरे जीव रूप पर को पर रूप से जानता हूँ, इस कारण एक अपवरक— अन्दर के कमरे में जलते हुये अनेक दीपकों के प्रकाश के समान एक साथ रहने पर भी सहजशुद्ध चिदानन्द एक स्वभावी मेरा सभी द्रव्यों में से किसी के साथ भी मोह नहीं है—यह अभिप्राय है ॥ ९७ ॥

इसप्रकार स्व और पर की जानकारी के विषय में मूढ़ता-निराकरण के लिये दो गाथाओं द्वारा चतुर्थ ज्ञानकण्डिका पूर्ण हुई।

इसप्रकार पच्चीस गाथाओं द्वारा ज्ञानकण्डिका चतुष्टय नामक दूसरा अधिकार पूर्ण हुआ।

अथ निर्दोषिपरमात्मप्रणीतपदार्थश्रद्धानमन्तरेण श्रमणो न भवति, तस्माच्छुद्धोपयोगलक्षणधर्मोऽपि न संभवतीति निश्चिनोति –

सत्तासंबद्धेदे सविसेसे जो हि णेव सामण्णे।(९१)

सद्दहदि ण सो समणो तत्तो धम्मो ण संभवदि ॥ ९८ ॥

सत्तासंबद्धे महासत्ता संबन्धेन सहितान् *एदे* एतान् पूर्वोक्तशुद्धजीवादिपदार्थान्। पुनरपि किंविशिष्टान्। *सविसेसे* विशेषसत्तावान्तरसत्ता स्वकीयस्वकीयस्वरूपसत्ता तया सहितान् *जो हि णेव सामण्णे सद्दहदि* यः कर्ता द्रव्यश्रामण्ये स्थितोऽपि न श्रद्धत्ते हि स्फुटं *ण सो समणो* निजशुद्धात्मरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वपूर्वकपरमसामायिकसंयमलक्षणश्रामण्याभावात्स श्रमणो न भवति। इत्थंभूतभावश्रामण्याभावात् *तत्तो धम्मो ण संभवदि* तस्मात्पूर्वोक्तद्रव्यश्रमणात्सकाशान्निरुपरागशुद्धात्मानुभूतिलक्षणधर्मोऽपि न संभवतीति सूत्रार्थः ॥ ९८ ॥

(अब, चार स्वतंत्र गाथायें प्रारम्भ होती हैं ।)

अब, निर्दोषी परमात्मा द्वारा कहे हुये पदार्थों के श्रद्धान बिना श्रमण नहीं होता, उससे शुद्धोपयोग लक्षण धर्म भी सम्भव नहीं है, ऐसा निश्चय करते हैं —

श्रद्धा करे सत्ता सहित सविशेष अर्थों की नहीं।

श्रामण्य में वह श्रमण नहिं तो धर्म भी उसके नहीं ॥ ९८ ॥

गाथार्थ– जो जीव श्रमणावस्था में इन भिन्न-भिन्न अस्तित्व वाले पदार्थों की श्रद्धा नहीं करता है, वह श्रमण नहीं है, उससे धर्म सम्भव नहीं है ।

टीकार्थ– ***सत्ता संबद्धे***- महासत्ता के सम्बन्ध से सहित ***एदे***- इन पूर्वोक्त (९४,९६ एवं ९७ वीं गाथा में कहे हुये) शुद्ध जीवादि पदार्थों की । वे जीवादि पदार्थ और किस विशेषता वाले हैं ? ***सविसेसे*** - विशेषसत्ता - अवान्तरसत्ता अर्थात् अपनी-अपनी स्वरूप सत्ता से सहित जीवादि पदार्थों की ***जो हि णेव सामण्णे सद्दहदि***- जो कर्ता— इस वाक्य का जो कर्ता है वह, द्रव्य श्रामण्य (द्रव्य-मुनिपना) में स्थित होते हुये भी श्रद्धान नहीं करता है, तो वास्तव में ***ण सो समणो***- निज शुद्धात्मा की रुचि रूप निश्चय-सम्यग्दर्शन पूर्वक परमसामायिक-संयम लक्षण श्रामण्य का अभाव होने से वह श्रमण नहीं है । इसप्रकार की भाव-श्रमणता का अभाव होने से ***तत्तो धम्मो ण संभवदि***- उस पहले कहे हुये द्रव्यश्रमण से रागादि मलिनता रहित शुद्धात्मानुभूति लक्षण धर्म भी संभव नहीं है—यह गाथा का अर्थ है ।

भावार्थ– जो जीव द्रव्यश्रामण्य (द्रव्य-मुनिपना) में स्थित होने पर भी महासत्ता से सहित अवान्तरसत्ता— अपनी-अपनी स्वरूप-सत्ता में स्थित शुद्ध जीवादि पदार्थों का श्रद्धान नहीं करता है, उसके स्वशुद्धात्मा की रुचि रूप निश्चय सम्यग्दर्शन पूर्वक परमसामायिक संयम (स्वस्वरूप-स्थिरता) स्वरूप भाव-श्रमणता का अभाव होने से वह श्रमण नहीं है ; अतः उसे मात्र द्रव्य-श्रमणता से रागादि मलिनता रहित शुद्धात्मानुभूति स्वरूप (शुद्धात्मा के आश्रय से होने वाला) धर्म भी संभव नहीं है ॥ ९८ ॥

अथ *'उवसंपयामि सम्मं'* इत्यादि नमस्कारगाथायां यत्प्रतिज्ञातं, तदनन्तरं *'चारित्तं खलु धम्मो'* इत्यादिसूत्रेण चारित्रस्य धर्मत्वं व्यवस्थापितम्। अथ *'परिणमदि जेण दव्वं'* इत्यादिसूत्रेणात्मनो धर्मत्वं भणितमित्यादि। तत्सर्वं शुद्धोपयोगप्रसादात्प्रसाध्येदानीं निश्चयरत्नत्रयपरिणत आत्मैव धर्म इत्यवतिष्ठते।

अथवा द्वितीयपातनिका – सम्यक्त्वाभावे श्रमणो न भवति, तस्मात् श्रमणाद्धर्मोऽपि न भवति। तर्हि कथं श्रमणो भवति, इति पृष्टे प्रत्युत्तरं प्रयच्छन् ज्ञानाधिकारमुपसंहरति –

जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्हि। (९२)

अब्भुट्ठिदो महप्पा धम्मो त्ति विसेसिदो समणो॥ ९९॥

जो णिहदमोहदिट्ठी तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणव्यवहारसम्यक्त्वोत्पन्नेन निजशुद्धात्मरुचिरूपेण निश्चय-सम्यक्त्वेन परिणतत्वान्निहतमोहदृष्टिर्विध्वंसितदर्शनमोहो यः। पुनश्च किंरूपः। *आगमकुसलो* निर्दोषिपर-मात्मप्रणीतपरमागमाभ्यासेन निरुपाधिस्वसंवेदनज्ञानकुशलत्वादागमकुशल आगमप्रवीणः। पुनश्च किंरूपः। *विरागचरियम्हि अब्भुट्ठिदो* व्रतसमितिगुप्त्यादिबहिरंगचारित्रानुष्ठानवशेन स्वशुद्धात्मनिश्चलपरिणतिरूपवी-तरागचारित्रपरिणतत्वात् परमवीतरागचारित्रे सम्यगभ्युत्थितः उद्यतः। पुनरपि कथंभूतः। *महप्पा* मोक्षलक्षण-महार्थसाधकत्वेन महात्मा *धम्मो त्ति विसेसिदो समणो* जीवितमरणलाभालाभादिसमताभावनापरिणतात्मा स श्रमण एवाभेदनयेन धर्म इति विशेषितो मोहक्षोभविहीनात्मपरिणामरूपो निश्चयधर्मो भणित इत्यर्थः॥ ९९॥

अब, ***"उवसंपयामि सम्मं***- साम्य का आश्रय ग्रहण करता हूँ" इत्यादि नमस्कार गाथा में जो प्रतिज्ञा की थी, उसके बाद ***"चारित्तं खलु धम्मो*** - चारित्र वास्तविक धर्म है—" इत्यादि गाथा द्वारा चारित्र का धर्मपना स्थापित किया था। इसके बाद ***"परिणमदि जेण दव्वं***- द्रव्य जिस रूप से परिणमित होता है—"इत्यादि गाथा द्वारा आत्मा का धर्मपना कहा था— इत्यादि। वह सब शुद्धोपयोग के प्रसाद से सिद्ध करने योग्य है। अब निश्चय रत्नत्रय परिणत आत्मा ही धर्म है, यह सिद्ध है।

अथवा दूसरी पातनिका- सम्यक्त्व के अभाव में श्रमण(मुनि) नहीं है, उस श्रमण से धर्म भी नहीं है। तो कैसे श्रमण हैं ? ऐसा प्रश्न पूछने पर उत्तर देते हुये ज्ञानाधिकार का उपसंहार करते हैं—

दृग मोह से जो रहित आगम कुशल चरित विराग में।

आरुढ़ हैं वे ही महात्मा श्रमण धर्म कहा उन्हें॥ ९९॥

गाथार्थ– आगम में कुशल, मोह-दृष्टि से रहित, वीतराग चारित्र में स्थित महात्मा श्रमण धर्म हैं— ऐसा (जिनवाणी में) कहा गया है।

टीकार्थ– *जो णिहदमोहदिट्ठी* - तत्वार्थ-श्रद्धान लक्षण व्यवहार-सम्यक्त्व से उत्पन्न निज शुद्धात्मा की रुचि रूप निश्चय-सम्यक्त्व रूप से परिणत होने के कारण जो मोहदृष्टि—दर्शन मोह से रहित हैं। और जो किस स्वरूप वाले हैं ? ***आगमकुसलो***- सर्व दोष रहित परमात्मा द्वारा कहे गये परमागम के अभ्यास से उपाधि रहित स्वसंवेदन ज्ञान में कुशल होने से आगम में कुशल—चतुर हैं। और जो किस स्वरूप वाले हैं ? ***विराग चरियम्हि अब्भुट्ठिदो*** - व्रत, समिति, गुप्ति आदि बाह्य चारित्र के अनुष्ठान के वश से स्वशुद्धात्मा में निश्चल परिणतिरूप वीतराग चारित्रमय परिणत होने के कारण परमवीतराग चारित्र में अच्छी तरह से स्थित हैं—तत्पर हैं। जो और कैसे हैं ? ***महप्पा*** - मोक्ष लक्षण रूप महान अर्थ— पुरुषार्थ के साधक होने से महात्मा हैं, ***धम्मो त्ति विसेसिदो समणो*** – जीवन-मरण, लाभ-अलाभ आदि में समता भाव रूप परिणत जो आत्मा हैं, वे श्रमण (मुनिराज) ही अभेदनय से धर्म हैं— ऐसा मोह और क्षोभ से रहित आत्मपरिणाम-रूप निश्चय-धर्म कहा गया है।— ऐसा अर्थ है॥ ९९॥

अथैवंभूतनिश्चयरत्नत्रयपरिणतमहातपोधनस्य योऽसौ भक्तिं करोति तस्य फलं दर्शयति –

जो तं दिट्ठा तुट्ठो अब्भुट्ठित्ता करेदि सक्कारं।

वंदणणमंसणादिहिं तत्तो सो धम्ममादियदि ॥ १०० ॥

जो तं दिट्ठा तुट्ठो यो भव्यवरपुण्डरीको निरुपरागशुद्धात्मोपलम्भलक्षणनिश्चयधर्मपरिणतं पूर्वसूत्रोक्तं मुनीश्वरं दृष्ट्वा तुष्टो निर्भरगुणानुरागेण संतुष्टः सन्। किं करोति। *अब्भुट्ठित्ता करेदि सक्कारं* अभ्युत्थानं कृत्वा मोक्षसाधकसम्यक्त्वादिगुणानां सत्कारं प्रशंसां करोति *वंदणणमंसणादिहिं तत्तो सो धम्ममादियदि 'तवसिद्धे णयसिद्धे '** इत्यादि वन्दना भण्यते, नमोऽस्त्विति नमस्कारो भण्यते, तत्प्रभृतिभक्तिविशेषैः तस्माद्यतिवरात्स भव्यः पुण्यमादत्ते पुण्यं गृह्णाति इत्यर्थः ॥ १०० ॥

अब, ऐसे निश्चय रत्नत्रय परिणत महान तपोधन (मुनिराज) की जो वह भक्ति करता है, उसका फल दिखाते हैं —

है देखकर जो उन्हें संतुष्टि से उठ वन्दन नमन।

सत्कार करता उन्हीं से वह धर्म को करता ग्रहण ॥ १०० ॥

गाथार्थ– जो कोई उन्हें (पूर्वोक्त मुनिराज को) देखकर संतुष्ट होता हुआ वन्दन-नमस्कार आदि द्वारा सत्कार करता है, वह उनसे धर्म ग्रहण करता है।

टीकार्थ– ***जो तं दिट्ठो तुट्ठो*** - जो भव्यों में प्रधान जीव उपराग रहित शुद्धात्मा की प्राप्ति लक्षण निश्चय धर्म परिणत पहले (९९ वीं गाथा में) कहे (स्वरूप वाले) मुनिराज को देखकर (विद्यमान) गुणों से पूर्ण भरे हुये होने के कारण अनुराग से संतुष्ट होता हुआ। संतुष्ट होता हुआ क्या करता है ? ***अब्भुट्ठित्ता करेदि सक्कारं*** - उठकर मोक्ष के साधक सम्यक्त्वादि गुणों की प्रशंसा करता है। ***वंदणणमंसणादिहिं तत्तो सो धम्ममादियदि*** - "तप से सिद्ध, नय से सिद्ध" इत्यादि रूप से वन्दना करता है, "आपको नमस्कार हो"– इसप्रकार नमस्कार करता है, इत्यादि रूप से उनके प्रति विशेष भक्ति द्वारा वह भव्य उन मुनिवरों से पुण्य ग्रहण करता है—उनके माध्यम से उस समय पुण्य बन्ध करता है।

भावार्थ– गुणों में अनुरागी होने से जो भव्य जीव, उपराग रहित शुद्धात्मा की प्राप्ति स्वरूप निश्चय धर्म परिणत मुनिराज को देखकर, तृप्त होता हुआ मोक्ष के साधक सम्यक्त्वादि गुणों की प्रशंसा करता है, वन्दना तथा नमस्कार आदि करता है; इसप्रकार उनके प्रति विशेष भक्ति द्वारा वह पुण्य का बन्ध करता है ॥ १०० ॥

---

* पाक्षिकादि प्रतिक्रमण – सिद्धभक्ति, २।

अथ तेन पुण्येन भवान्तरे किं फलं भवतीति प्रतिपादयति –

तेण णरा व तिरिच्छा देविं वा माणुसिं गदिं पप्पा।

विहविस्सरियेहिं सया संपुण्णमणोरहा होंति ॥ १०१ ॥

तेण णरा व तिरिच्छा तेन पूर्वोक्तपुण्येनात्र वर्तमानभवे नरा वा तिर्यंचो वा *देविं वा माणुसिं गदिं पप्पा* भवान्तरे दैवीं वा मानुषीं वा गतिं प्राप्य *विहविस्सरियेहिं सया संपुण्णमणोरहा होंति* राजाधिराजरूपलावण्य-सौभाग्यपुत्रकलत्रादिपरिपूर्णविभूतिर्विभवो भण्यते, आज्ञाफलमैश्वर्यं भण्यते, ताभ्यां विभवैश्वर्याभ्यां संपूर्णमनोरथा भवन्तीति। तदेव पुण्यं भोगादिनिदानरहितत्वेन यदि सम्यक्त्वपूर्वकं भवति तर्हि तेन परंपरया मोक्षं च लभन्ते इति भावार्थः ॥ १०१ ॥

इति *श्री जयसेनाचार्य*कृतायां *तात्पर्यवृत्तौ* पूर्वोक्तप्रकारेण *'एस सुरासुरमणुसिंदवंदियं'* इतीमां गाथामादिं कृत्वा द्वासप्ततिगाथाभिः शुद्धोपयोगाधिकारः, तदनन्तरं *'देवदजदिगुरुपूजासु'* इत्यादि पंचविंशतिगाथाभिर्ज्ञानकण्डिकाचतुष्टयाभिधानो द्वितीयोऽधिकारः, ततश्च *'सत्तासंबद्धेदे'* इत्यादि सम्यक्त्वकथनरूपेण प्रथमा गाथा, रत्नत्रयाधारपुरुषस्य धर्मः संभवतीति *'जो णिहदमोहदिट्ठी'* इत्यादि द्वितीया चेति स्वतन्त्रगाथाद्वयम्, तस्य निश्चयधर्मसंज्ञतपोधनस्य योऽसौ भक्तिं करोति तत्फलकथनेन *'जो तं दिट्ठा' इत्यादिगाथाद्वयम्-इत्यधिकारद्वयेन पृथग्भूतगाथाचतुष्टयसहितेनैकोत्तरशतगाथाभिः ज्ञानतत्त्वप्रतिपादक*नामा प्रथमो महाधिकारः समाप्तः ॥

अब, उस पुण्य से दूसरे भव में क्या फल होता है, यह प्रतिपादन करते हैं —

तिर्यंच नर उस पुण्य से पाकर सुरग नर गति को।

ऐश्वर्य वैभव से मनोरथवान सब ही सदा हों ॥ १०१ ॥

गाथार्थ– मनुष्य और तिर्यंच उस पुण्य द्वारा देव या मनुष्य गति को प्राप्त कर वैभव और ऐश्वर्य से सदा परिपूर्ण मनोरथ वाले होते हैं।

टीकार्थ– ***तेण णरा व तिरिच्छा***- उस पूर्वोक्त पुण्य से इस वर्तमान भव में मनुष्य और तिर्यंच ***देविं वा माणुसिं गदिं पप्पा*** - दूसरे भव में देव अथवा मनुष्य गति प्राप्त कर ***विहविस्सरियेहिं सया संपुण्णमणोरहा होंति***- राजाधिराज, रूप, लावण्य, सौभाग्य, पुत्र, स्त्री आदि परिपूर्ण सम्पत्ति विभव कहलाती है, आज्ञा के फल को ऐश्वर्य कहते हैं। उन विभव और ऐश्वर्य द्वारा परिपूर्ण मनोरथ वाले होते हैं। वही पुण्य भोगादि निदान रहित होने से यदि सम्यक्त्व पूर्वक है तो उससे परम्परा मोक्ष प्राप्त करते हैं - यह भाव है ॥ १०१ ॥

(इसप्रकार चार स्वतंत्र गाथायें पूर्ण हुई)

इसप्रकार ***'श्री जयसेनाचार्य'*** कृत ***'तात्पर्य वृत्ति'*** में पूर्वोक्त प्रकार से ***'एस सुरासुरमणुसिंदवंदिय'*** इसप्रकार इस गाथा को आदि लेकर बहत्तर गाथाओं द्वारा शुद्धोपयोगाधिकार; उसके बाद *'देवदजदिगुरुपूजासु'* इत्यादि पच्चीस गाथाओं द्वारा 'ज्ञानकण्डिका चतुष्टय नामक दूसरा अधिकार; और उसके बाद *'सत्ता संबद्धेदे'* इत्यादि सम्यक्त्व कथन रूप से पहली गाथा, रत्नत्रय के आधारभूत पुरुष के ही धर्म संभव है, इसप्रकार *'जो णिहदमोहदिट्ठी'* इत्यादि दूसरी गाथा - इसप्रकार दो स्वतंत्र गाथायें; उन निश्चय धर्मधारी मुनिराज की जो भक्ति करता है, उसके फल कथन रूप से *'जो तं दिट्ठा'* इत्यादि दो गाथायें— इसप्रकार पृथग्भूत चार गाथाओं से सहित दो अधिकारों द्वारा एक सौ एक गाथाओं में निबद्ध ***"ज्ञानतत्त्व प्रतिपादक"*** नामक पहला महाधिकार पूर्ण हुआ।

* * *

२- सम्यग्दर्शन महाधिकार

(ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापनाधिकार)

इतः ऊर्द्ध्वं *"सत्तासंबद्धेदे"* इत्यादिगाथासूत्रेण पूर्वं संक्षेपेण यद्व्याख्यातं सम्यग्दर्शनं तस्येदानीं विषयभूतपदार्थव्याख्यानद्वारेण त्रयोदशाधिकशतप्रमितगाथापर्यन्तं विस्तरव्याख्यानं करोति। अथवा द्वितीयपातनिका–पूर्वं यद्व्याख्यातं ज्ञानं तस्य ज्ञेयभूतपदार्थान् कथयति। तत्र त्रयोदशाधिकशतगाथासु मध्ये प्रथमतस्तावत् *"तम्हा तस्स णमाइं"* इमां गाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण पंचत्रिंशद्गाथापर्यन्तं सामान्यज्ञेयव्याख्यानं, तदनन्तरं *"दव्वं जीवमजीवं"* इत्याद्येकोनविंशतिगाथापर्यन्तं विशेषज्ञेयव्याख्यानं, अथानन्तरं *"सपदेसेहिं समग्गो लोगो"* इत्यादिगाथाष्टकपर्यन्तं सामान्यभेदभावना, ततश्च *"अत्थित्तणिच्छिदस्स हि"* इत्याद्येकपंचाशद्गाथापर्यन्तं विशेषभेदभावना चेति द्वितीयमहाधिकारे समुदायपातनिका।

"सत्तासंबद्धेदे......" इत्यादि (९८वीं) गाथा- सूत्र के द्वारा जिस सम्यग्दर्शन का संक्षेप रूप से व्याख्यान किया था; अब, इससे आगे उस सम्यग्दर्शन का उसके विषयभूत पदार्थों के व्याख्यान के माध्यम से ११३ प्रमाण गाथाओं पर्यन्त विस्तार से व्याख्यान करते हैं—

अथवा, दूसरी पातनिका— पहले जिस ज्ञान का व्याख्यान किया था, उसके ज्ञेयभूत पदार्थों को कहते हैं।

वहाँ ११३ गाथाओं में से सर्वप्रथम *"तम्हा तस्स णमाइं -"* इस गाथा को आदि लेकर पाठक्रम से ३५ गाथाओं तक ज्ञेयों का सामान्य व्याख्यान, उसके बाद *"दव्वं जीवमजीवं-"* इत्यादि १९ गाथाओं तक ज्ञेयों का विशेष व्याख्यान, तत्पश्चात् *"सपदेसेहिं समग्गो लोगो-"* इत्यादि ८ गाथा तक सामान्य भेदभावना तथा तदनन्तर *"अत्थित्तणिच्छिदस्स हि- "* इत्यादि ५१ गाथा पर्यन्त विशेष भेदभावना —इसप्रकार दूसरे महाधिकार में सामूहिक पातनिका है।

ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन अपरनाम सम्यग्दर्शन–द्वितीय महाधिकार का अधिकार विभाजन
(गाथा १०२ से २१४ पर्यन्त)

अधिकार क्रम	अधिकार का नाम	कहाँ से कहाँ तक	कुल गाथायें
प्रथम	सामान्य ज्ञेयाधिकार	१०२ से १३६	३५
द्वितीय	विशेष ज्ञेयाधिकार	१३७ से १५५	१९
तृतीय	सामान्य भेदभावनाधिकार	१५६ से १६३	८
चतुर्थ	विशेष भेदभावनाधिकार	१६४ से २१४	५१

अथेदानीं सामान्यज्ञेयव्याख्यानमध्ये प्रथमा नमस्कारगाथा, द्वितीया द्रव्यगुणपर्यायव्याख्यानगाथा, तृतीया स्वसमयपरसमयनिरूपणगाथा, चतुर्थी द्रव्यस्य सत्तादिलक्षणत्रयसूचनगाथा चेति पीठिकाभिधाने प्रथमस्थले स्वतन्त्रगाथाचतुष्टयम्। तदनन्तरं *"सब्भावो हि सहावो"* इत्यादिगाथाचतुष्टयपर्यन्तं सत्तालक्षण-व्याख्यानमुख्यत्वं, तदनन्तरं *"ण भवो भंगविहीणो"* इत्यादिगाथात्रयपर्यन्तमुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणकथन-मुख्यता, ततश्च *"पाडुब्भवदि य अण्णो '*इत्यादिगाथाद्वयेन द्रव्यपर्यायगुणपर्यायनिरूपणमुख्यता। अथानन्तरं *"ण हवदि जदि सद्दव्वं"* इत्यादिगाथाचतुष्टयेन सत्ताद्रव्ययोरभेदविषये युक्तिं कथयति, तदनन्तरं *"जो खलु दव्वसहावो"* इत्यादि सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिकथनेन प्रथमगाथा, द्रव्येण सह गुणपर्याययोरभेदमुख्यत्वेन *"णत्थि गुणो त्ति व कोई'* इत्यादि द्वितीया चेति स्वतन्त्रगाथाद्वयं, तदनन्तरं द्रव्यस्य द्रव्यार्थिकनयेन सदुत्पादो भवति, पर्यायार्थिकनयेनासदित्यादिकथनरूपेण *"एवंविहं"* इतिप्रभृति गाथाचतुष्टयं, ततश्च *"अत्थि त्ति य"* इत्याद्येकसूत्रेण नयसप्तभंगीव्याख्यानमिति समुदायेन चतुर्विंशतिगाथाभिरष्टभिः स्थलैर्द्रव्यनिर्णयं करोति।

(वहाँ *"सामान्यज्ञेयव्याख्यान"* नामक पहला अधिकार भी दो अन्तराधिकारों में विभक्त है — चौबीस गाथाओं में निबद्ध *सामान्य द्रव्य निर्णय* नामक पहला अन्तराधिकार तथा ग्यारह गाथाओं में निबद्ध *सामान्य भेदभावना* नामक दूसरा अन्तराधिकार।

"सामान्य द्रव्य निर्णय" नामक पहला अन्तराधिकार भी आठ स्थलों में विभक्त है। वह इसप्रकार—)

अब, इस समय *''सामान्य ज्ञेय व्याख्यान"* नामक प्रथम अधिकार के *"सामान्य द्रव्य निर्णय"* नामक प्रथम अन्तराधिकार में पहली नमस्कार गाथा, दूसरी द्रव्य-गुण-पर्याय व्याख्यान गाथा, तीसरी स्वसमय-परसमय निरूपण गाथा और चौथी द्रव्य के सत्तादि तीन लक्षण की सूचक गाथा— इसप्रकार "पीठिका" नामक प्रथम स्थल में स्वतंत्र चार गाथायें है। उसके बाद *"सब्भावो हि सहावो......"* इत्यादि *"सत्ता लक्षण व्याख्यान"* की मुख्यता से चार गाथा तक दूसरा स्थल, तत्पश्चात् *"ण भवो भंगविहीणो-"* इत्यादि "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण कथन" मुख्यता से तीन गाथा पर्यन्त तीसरा स्थल, तदनन्तर द्रव्य-गुण-पर्याय के निरूपण की मुख्यता से *"पाडुब्भवदि य अण्णो –"* इत्यादि दो गाथा पर्यन्त चौथा स्थल है। अब इसके बाद *'ण हवदि जदि सद्दव्वं—'* इत्यादि चार गाथाओं द्वारा पाँचवे स्थल में सत्ता-द्रव्य के अभेद विषय में युक्ति कहते हैं, उसके बाद *'जो खलु दव्वसहावो -'* इत्यादि सत्ता और द्रव्य में गुण-गुणी कथन रूप से पहली गाथा तथा द्रव्य के साथ गुण-पर्यायों के अभेद की मुख्यता से *'णत्थि गुणो त्ति व कोई—'* इत्यादि दूसरी गाथा— इसप्रकार छटवें स्थल में दो स्वतंत्र गाथायें, उसके बाद द्रव्य का द्रव्यार्थिक नय से सदुत्पाद और पर्यायार्थिक नय से असदुत्पाद होता है —इत्यादि कथन रूप से सातवें स्थल में *'एवंविहं —'* इत्यादि चार गाथायें और उसके बाद आठवें स्थल में *'अत्थि त्ति य—'* इत्यादि एक गाथा द्वारा नय-सप्तभंगी का व्याख्यान है— इसप्रकार सामूहिक रूप से आठ स्थलों में विभक्त चौबीस गाथाओं द्वारा द्रव्य का निर्णय करते हैं।

तद्यथा - अथ सम्यक्त्वं कथयति –

सामान्य ज्ञेयाधिकार का अन्तराधिकार विभाजन

अन्तराधिकार क्रम	अन्तराधिकार का नाम	गाथा कहाँ से कहाँ तक	कुल गाथायें
प्रथम	सामान्य द्रव्य निर्णय	१०२ से १२५	२४
द्वितीय	सामान्य भेद भावना	१२६ से १३६	११
कुल दो अन्तराधिकार		कुल ३५ गाथायें	

सामान्य द्रव्य निर्णय संज्ञक प्रथम अन्तराधिकार का स्थल विभाजन

स्थल क्रम	स्थल प्रतिपादित मुख्य विषय	कहाँ से कहाँ तक	कुल गाथायें
प्रथम	चार स्वतंत्र गाथा रूप से पीठिका	१०२ से १०५	४
द्वितीय	सत्ता लक्षण व्याख्यान	१०६ से १०९	४
तृतीय	उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण व्याख्यान	११० से ११२	३
चतुर्थ	द्रव्य पर्याय– गुण पर्याय निरूपण	११३ व ११४	२
पंचम	सत्ता–द्रव्य के अभेद विषय में युक्ति	११५ से ११८	४
षष्ठम	सत्ता - द्रव्य में गुण गुणी कथन, द्रव्य का गुण पर्यायों के साथ अभेद	११९ व १२०	२
सप्तम	द्रव्यार्थिक नय से सदुत्पाद, पर्यायार्थिक नय से असदुत्पाद	१२१ से १२४	४
अष्टम	नय सप्तभंगी	१२५	१
कुल आठ स्थल		कुल गाथायें २४	

(अब,"ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन" अपरनाम सम्यग्दर्शन महाधिकार के "सामान्य ज्ञेयाधिकार" नामक प्रथमाधिकार में "सामान्य द्रव्य निर्णय" नामक प्रथमान्तराधिकार का चार गाथाओं में निबद्ध पीठिका नामक प्रथम स्थल प्रारम्भ होता है ।)

वह इसप्रकार — अब, सम्यक्त्व (अधिकार) कहते हैं—

तम्हा तस्स णमाइं किच्चा णिच्चं पि तम्मणो होज्ज।
वोच्छामि संगहादो परमट्ठविणिच्छयाधिगमं ॥ १०२ ॥

तम्हा तस्स णमाइं किच्चा यस्मात्सम्यक्त्वं विना श्रमणो न भवति तस्मात्कारणात्तस्य सम्यक्चारित्र-युक्तस्य पूर्वोक्ततपोधनस्य नमस्यां नमस्क्रियां नमस्कारं कृत्वा *णिच्चं पि तम्मणो होज्ज* नित्यमपि तद्गतमना भूत्वा *वोच्छामि* वक्ष्याम्यहं कर्ता *संगहादो* संग्रहात्संक्षेपात् सकाशात्। किम्। *परमट्ठविणिच्छयाधिगमं* परमार्थविनिश्चयाधिगमं सम्यक्त्वमिति।

परमार्थविनिश्चयाधिगमशब्देन सम्यक्त्वं कथं भण्यत इति चेत्-परमोऽर्थः परमार्थः शुद्धबुद्धैकस्वभावः परमात्मा, परमार्थस्य विशेषेण संशयादिरहितत्वेन निश्चयः परमार्थविनिश्चयरूपोऽधिगमः शंकाद्यष्टदोष-रहितश्च यः परमार्थतोऽर्थावबोधो यस्मात्सम्यक्त्वात्तत् परमार्थविनिश्चयाधिगमम् ।

अथवा परमार्थविनिश्चयोऽनेकान्तात्मकपदार्थसमूहस्तस्याधिगमो यस्मादिति ॥ १०२ ॥

इसलिये उनको नमन कर नित उन्हीं में मन जोड़कर।
परमार्थ निश्चायक अधीगम कहूँगा संक्षेप कर॥ १०२ ॥

गाथार्थ- इसलिये उन्हें (सम्यक्चारित्र युक्त पूर्वोक्त मुनिराजों को) नमस्कार करके तथा हमेशा उनमें ही मन लगाकर संक्षेप से परमार्थ का निश्चय कराने वाला सम्यक्त्व (अधिकार) कहूँगा।

टीकार्थ- ***तम्हा तस्स णमाइं किच्चा-*** क्योंकि सम्यक्त्व के बिना श्रमण नहीं होते, इस कारण उन सम्यक्चारित्र युक्त पूर्वोक्त मुनिराजों को नमस्कार करके ***णिच्चं पि तम्मणो होज्ज***–हमेशा उनमें ही मन लगाकर ***वोच्छामि***- मैं कर्ता (इस क्रिया को करने वाला मैं) कहूँगा ***संगहादो***— संक्षेप से। नमस्कारादि करके क्या कहेंगे ? ***परमट्ठविणिच्छयाधिगमं*** - परमार्थ (त्रिकाली ध्रुवतत्त्व निज भगवान आत्मा) का निश्चय कराने वाले अधिगम—सम्यक्त्व को कहूँगा।

परमार्थ का निश्चय कराने वाले अधिगम शब्द से सम्यक्त्व कैसे कहते हैं ? यदि यह प्रश्न हो तो— परम अर्थ—परमार्थ—शुद्ध बुद्ध एक स्वभावी परमात्मा, परमार्थ का विशेष रूप से — संशय आदि से रहित निश्चय — परमार्थ विनिश्चय रूप अधिगम है, जो शंका आदि आठ दोषों से रहित, क्योंकि यथार्थ रूप से पदार्थों की जानकारी स्वरूप है, इसलिये परमार्थ विनिश्चय अधिगम सम्यक्त्व है— उसे कहूँगा।

अथवा, परमार्थ विनिश्चय अर्थात् अनेकान्तात्मक — अनन्त गुणों अथवा परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले धर्म-युगल सहित अनन्त धर्म युगलों स्वरूप पदार्थ समूह, उन का अधिगम— सम्यग्ज्ञान जिससे होता है, उसे कहूँगा ॥ १०२ ॥

अथ पदार्थस्य द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपं निरूपयति-

अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।(९३)
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया॥ १०३ ॥

अत्थो खलु दव्वमओ अर्थो ज्ञानविषयभूतः पदार्थः खलु स्फुटं द्रव्यमयो भवति। कस्मात् । तिर्यक्सामान्योर्द्ध्वतासामान्यलक्षणेन द्रव्येण निष्पन्नत्वात्। तिर्यक्सामान्योर्द्ध्वतासामान्यलक्षणं कथ्यते- एककाले नानाव्यक्तिगतोऽन्वयस्तिर्यक्सामान्यं भण्यते। तत्र दृष्टान्तो यथा-नानासिद्धजीवेषु सिद्धोऽयं सिद्धोऽयमित्यनुगताकारः सिद्धजातिप्रत्ययः। नानाकालेष्वेकव्यक्तिगतोन्वय ऊर्ध्वतासामान्यं भण्यते। तत्र दृष्टान्तः यथा-य एव केवलज्ञानोत्पत्तिक्षणे मुक्तात्मा द्वितीयादिक्षणेष्वपि स एवेति प्रतीतिः।

अथवा नानागोशरीरेषु गौरयं गौरयमिति गोजातिप्रतीतिस्तिर्यक्सामान्यम्। यथैव चैकस्मिन् पुरुषे बालकुमाराद्यवस्थासु स एवायं देवदत्त इति प्रत्यय ऊर्ध्वतासामान्यम्।

दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि द्रव्याणि गुणात्मकानि भणितानि। *अन्वयिनो गुणा* अथवा सहभुवो

अब, पदार्थ के द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप का निरूपण करते हैं—

हैं द्रव्यमय सब अर्थ द्रव्य गुणात्मक जिनवर कहे।
उनसे प्रगट पर्याय पर्ययमूढ परसमयी कहे॥ १०३ ॥

गाथार्थ - पदार्थ वास्तव में द्रव्यमय है, द्रव्य गुणात्मक कहे गये हैं, द्रव्य तथा गुणों से पर्यायें होती हैं; और पर्यायमूढ जीव ही परसमय है।

टीकार्थ- ***अत्थो खलु दव्वमओ***- अर्थ—ज्ञान का विषयभूत पदार्थ वास्तव में द्रव्यमय है। पदार्थ द्रव्यमय कैसे है ? तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य लक्षण द्रव्य से रचित होने के कारण पदार्थ द्रव्यमय है। तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य का लक्षण कहते हैं— एक समय में अनेक वस्तुओं में पाया जाने वाला अन्वय तिर्यक् सामान्य कहलाता है। वहाँ दृष्टांत देते हैं, जैसे—अनेक सिद्ध जीवों में "ये सिद्ध हैं, ये सिद्ध हैं"—इसप्रकार समान स्वभाव वाली सिद्धजाति का ज्ञान तिर्यक् सामान्य है। अनेक समयों में एक वस्तु सम्बन्धी समानता ऊर्ध्वता सामान्य कहलाती है। वहाँ दृष्टान्त देते हैं, जैसे — केवलज्ञान की उत्पत्ति के समय जो मुक्तात्मा हैं, दूसरे आदि समयों में भी वहीं हैं — ऐसी जानकारी ऊर्ध्वता सामान्य रूप है।

अथवा अनेक गाय शरीरों में यह गाय, यह गाय— इसप्रकार गो जाति का ज्ञान तिर्यक् सामान्य है और जैसे एक ही पुरुष सम्बन्धी बाल, कुमार आदि अवस्थाओं में 'यह वही देवदत्त है' —इसप्रकार का ज्ञान ऊर्ध्वता सामान्य है।

दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि—द्रव्य गुणात्मक-गुणस्वभावी कहे गये हैं। *अन्वयिनो गुणा*-

गुणा इति गुणलक्षणम्। यथा अनन्तज्ञानसुखादिविशेषगुणेभ्यस्तथैवागुरुलघुकादिसामान्यगुणेभ्यश्चाभिन्नत्वाद्गुणात्मकं भवति सिद्धजीवद्रव्यं, तथैव स्वकीयस्वकीयविशेषसामान्यगुणेभ्यः सकाशादभिन्नत्वात् सर्वद्रव्याणि गुणात्मकानि भवन्ति।

तेहिं पुणो पज्जाया तैः पूर्वोक्तलक्षणैर्द्रव्यैर्गुणैश्च पर्याया भवन्ति। व्यतिरेकिणः पर्याया अथवा क्रमभुवः पर्याया इति पर्यायलक्षणम्। यथैकस्मिन् मुक्तात्मद्रव्ये किंचिदूनचरमशरीराकारगतिमार्गणाविलक्षणः सिद्धगतिपर्यायः तथाऽगुरुलघुकगुणषड्वृद्धिहानिरूपाः साधारणस्वभावगुणपर्यायाश्च, तथा सर्वद्रव्येषु स्वभावद्रव्यपर्यायाः स्वजातीयविजातीयविभावद्रव्यपर्यायाश्च, तथैव स्वभावविभावगुणपर्यायाश्च *"जेसिं अत्थि सहाओ"*[1] इत्यादिगाथायां तथैव *"भावा जीवादीया"*[2] इत्यादिगाथायां च *"पंचास्तिकाये"* पूर्वं कथितक्रमेण यथासंभवं ज्ञातव्याः।

पज्जयमूढा हि परसमया यस्मादित्थंभूतद्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानमूढा अथवा नारकादिपर्यायरूपो न भवाम्यहमिति भेदविज्ञानमूढाश्च परसमया मिथ्यादृष्टयो भवन्तीति। तस्मादियं पारमेश्वरी द्रव्यगुणपर्यायव्याख्या समीचीना भद्रा भवतीत्यभिप्रायः ॥ १०३ ॥

— यह वही—यह वही—गुण हैं, अथवा *सहभुवो गुणा*— साथ-साथ रहने वाले गुण हैं— इसप्रकार गुण का लक्षण है। जैसे सिद्ध जीव द्रव्य अनन्त ज्ञान, सुख आदि विशेष गुणों के साथ और उसीप्रकार अगुरुलघुक आदि सामान्य गुणों के साथ अभिन्नता होने के कारण गुणात्मक हैं; उसीप्रकार अपने-अपने विशेष-सामान्य गुणों के साथ अभिन्नता होने से सभी द्रव्य गुणात्मक हैं।

तेहिं पुणो पज्जाया- उन पूर्वोक्त लक्षण द्रव्य और गुणों से पर्यायें होती हैं। *व्यतिरेकिणः पर्याया* —जो व्यतिरेकि— भिन्न-भिन्न हैं, वे पर्यायें हैं अथवा *क्रमभुवः पर्याया*-जो क्रम से होती हैं, वे पर्यायें हैं— इसप्रकार पर्याय का लक्षण है। जैसे एक मुक्तात्मा द्रव्य में गति मार्गणा से विलक्षण अन्तिम शरीर के आकार से कुछ कम आकार वाली सिद्ध गति पर्याय तथा अगुरुलघुक गुण की षड्वृद्धि-हानि रूप साधारण स्वभाव गुणपर्यायें हैं; उसीप्रकार सभी द्रव्यों में स्वभाव द्रव्य पर्यायें और स्वजातीय-विजातीय विभाव द्रव्य पर्यायें होती हैं; और उसीप्रकार *"पंचास्तिकाय"* ग्रन्थ में पहले कहे हुये क्रम से "जिनका अस्ति स्वभाव है-" इत्यादि गाथा में और उसीप्रकार "जीवादिक द्रव्य भाव है-" इत्यादि गाथा में यथासंभव जानना चाहिये।

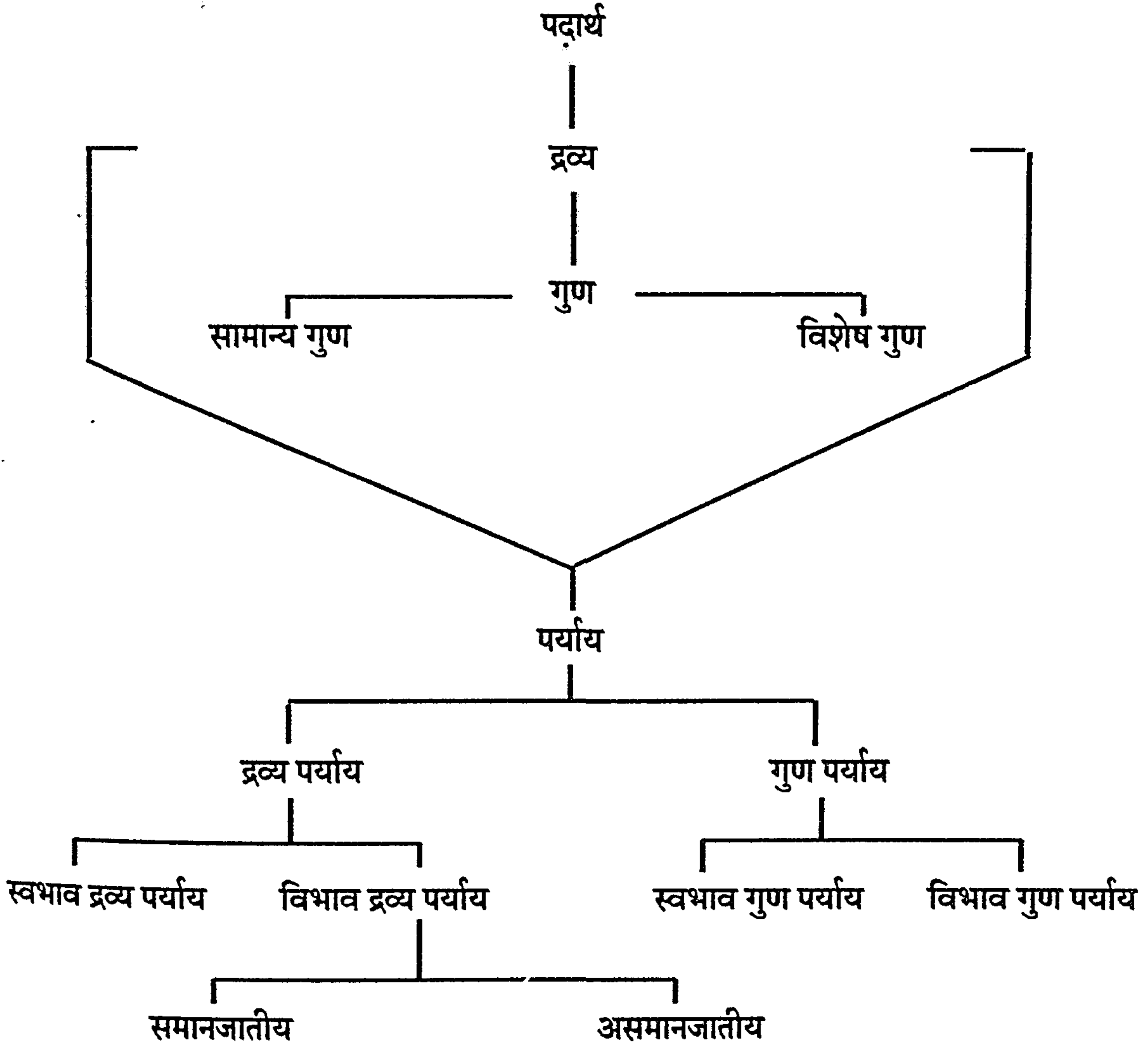
पज्जयमूढा हि परसमया— क्योंकि इसप्रकार द्रव्य -गुण-पर्याय की जानकारी के सम्बन्ध में जो मूढ—अज्ञानी हैं, अथवा नारकादि पर्याय रूप मैं नहीं हूँ— इसप्रकार के भेद-विज्ञान में जो अज्ञानी हैं—वे परसमय मिथ्यादृष्टि हैं। इसलिए यह परमेश्वर —वीतराग-सर्वज्ञ देव द्वारा कही गई द्रव्य -गुण-पर्याय की व्याख्या समीचीन, कल्याणकारी है— यह अभिप्राय है।

---

१. पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा ५।

२. वही, गाथा १६।

विशेषार्थ - (१) द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक वस्तु को निम्नसारणी द्वारा समझा जा सकता है—



(२) *पज्जयमूढा ही परसमया*—इस वाक्यांश को 'आचार्य प्रभाचन्द्र' ने निम्न प्रकार स्पष्ट किया है—

"सर्वज्ञप्रकाशितेषु समस्तार्थद्रव्यगुणपर्यायेषु मूढा यथावत् स्वरूपाप्रतिपत्तिलक्षणो मोहग्रस्ताः। द्रव्यमेव पर्याय एव तयोरत्यंतभेद एवाभेद एव इत्यादि विपर्ययमात्रावलम्बिनः परसमया इति।"[१]

सर्वज्ञ भगवान द्वारा कहे गये सम्पूर्ण पदार्थों—द्रव्य -गुण-पर्यायों में मूढ़ अर्थात् यथार्थ स्वरूप की अप्रतिपत्ति (अश्रद्धा-अजानकारी) लक्षण मोह से ग्रस्त हैं। द्रव्य ही है या पर्याय ही है, उन दोनों में अत्यन्त भेद ही है या अभेद ही है— इत्यादि विपरीतता का अवलम्बन करने वाले परसमय हैं ॥ १०३ ॥

१. प्रवचनसार, गाथा १०१, प्रवचनसार सरोज-भास्कर टीका।

अथ प्रसंगायातां परसमयस्वसमयव्यवस्थां कथयति–

जे पज्जएसु णिरदा जीवा परसमइग त्ति णिद्दिट्ठा।(९४)
आदसहावम्हि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा॥ १०४॥

जे पज्जयेसु णिरदा जीवा ये पर्यायेषु निरताः जीवाः *परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा* ते परसमया इति निर्दिष्टाः कथिताः। तथा हि- मनुष्यादिपर्यायरूपोऽहमित्यहंकारो भण्यते, मनुष्यादिशरीरं तच्छरीराधारोत्पन्नपंचेन्द्रियविषयसुखस्वरूपं च ममेति ममकारो भण्यते, ताभ्यां परिणताः ममकाराहंकाररहितपरमचैतन्यचमत्कारपरिणतेश्च्युता ये ते कर्मोदयजनितपरपर्यायनिरतत्वात्परसमया मिथ्यादृष्टयो भण्यन्ते।

आदसहावम्मिठिदा ये पुनरात्मस्वरूपे स्थितास्‌ *ते सगसमया मुणेदव्वा* स्वसमया मन्तव्या ज्ञातव्या इति। तद्यथा-अनेकापवरकसंचारितैकरत्नप्रदीप इवानेकशरीरेष्वप्येकोऽहमिति दृढसंस्कारेण निजशुद्धात्मनि स्थिता ये ते कर्मोदयजनितपर्यायपरिणतिरहितत्वात्स्वसमया भवन्तीत्यर्थः॥ १०४॥

अब, प्रसंग प्राप्त परसमय-स्वसमय व्यवस्था को कहते हैं–

हैं लीन जो पर्याय में वे परसमय निर्दिष्ट हैं।
हैं लीन आत्मस्वभाव में वे स्वसमय मंतव्य हैं॥ १०४॥

गाथार्थ – जो जीव पर्यायों में लीन हैं, वे परसमय हैं —ऐसा कहा गया है; जो जीव आत्म- स्वभाव में स्थित हैं, वे स्वसमय जानना चाहिये।

टीकार्थ - ***जे पज्जयेसु णिरदा जीवा***- जो पर्यायों में लीन—आसक्त जीव हैं, ***परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा***- वे परसमय हैं— ऐसा कहा गया है। वह इसप्रकार—मनुष्यादि पर्याय रूप मैं हूँ—ऐसी परिणति को अहंकार कहते हैं। मनुष्यादि शरीर, उस शरीर के आधार से उत्पन्न पाँच इन्द्रियाँ, उनके विषय तथा तज्जन्य सुख —ये मेरे हैं— ऐसी परिणति ममकार हैं, ममकार- अहंकार रहित परम चैतन्य चमत्कार परिणति से रहित जो जीव उन दोनों रूप परिणत हैं, वे जीव कर्म के उदय में उत्पन्न पर-पर्याय में लीन — आसक्त होने से परसमय— मिथ्यादृष्टि कहे गये हैं।

आदसहावम्मिठिदा-और जो आत्म- स्वरूप में स्थित हैं— लीन हैं, ***ते सगसमया मुणेदव्वा***-वे स्वसमय हैं, ऐसा मानना— जानना चाहिये। वह इसप्रकार—जो अनेक कमरों में ले जाये गये एक रत्नदीप के समान अनेक शरीरों में भी "मैं एक हूँ-" इसप्रकार के दृढ़ संस्कार से निज शुद्धात्मा में स्थित रहते हैं —लीन रहते हैं, वे कर्म के उदय से उत्पन्न पर्याय रूप परिणमन से रहित होने के कारण स्वसमय हैं— यह अर्थ है * ॥ १०४॥

* स्वसमय - परसमय सम्बन्धी विस्तृत जानकारी के लिए समयसार गाथा २, पंचास्तिकाय गाथा १५४ से १५८ पर्यन्त तथा इन सभी की टीकायें मूलतः पठनीय तथा मननीय हैं।

अथ द्रव्यस्य सत्तादिलक्षणत्रयं सूचयति-

अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंबद्धं ।(९५)

गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति ॥ १०५ ॥

अपरिच्चत्तसहावेण अपरित्यक्तस्वभावमस्तित्वेन सहाभिन्नं *उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं* उत्पादव्ययध्रौव्यैः सह संयुक्तं *गुणवं च सपज्जायं* गुणवत्पर्यायसहितं च *जं* यदित्थंभूतं सत्तादिलक्षणत्रयसंयुक्तं *तं दव्वं ति वुच्चंति* तद्द्रव्यमिति ब्रुवन्ति सर्वज्ञाः ।

इदं द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्यैर्गुणपर्यायैश्च सह लक्ष्यलक्षणभेदे अपि सति सत्ताभेदं न गच्छति । तर्हि किं करोति । स्वरूपतयैव तथाविधत्वमवलम्बते । तथाविधत्वमवलम्बते कोऽर्थः । उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूपं गुण-पर्यायस्वरूपं च परिणमति शुद्धात्मवदेव ।

तथा हि-केवलज्ञानोत्पत्तिप्रस्तावे शुद्धात्मरुचिपरिच्छित्तिनिश्चलानुभूतिरूपकारणसमयसारपर्यायस्य विनाशे सति शुद्धात्मोपलम्भव्यक्तिरूपकार्यसमयसारस्योत्पादः कारणसमयसारस्य व्ययस्तदुभयाधारभूतपर-मात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यं च । तथानन्तज्ञानादिगुणाः, गतिमार्गणाविपक्षभूतसिद्धगतिः, इन्द्रियमार्गणाविपक्षभूतातीन्द्रियत्वादिलक्षणाः शुद्धपर्यायाश्च भवन्तीति । यथा शुद्धसत्तया सहाभिन्नं परमात्मद्रव्यं पूर्वोक्तोत्पादव्ययध्रौव्यै-

---

अब, द्रव्य के सत्ता आदि तीन लक्षणों की सूचना देते हैं— द्रव्य के तीन लक्षण कहते हैं —

निजभाव को छोड़े बिना उत्पाद व्यय ध्रुवता सहित ।

पर्याय गुण से सहित जो है द्रव्य वह जिनवर कथित ॥ १०५ ॥

गाथार्थ-जो स्वभाव को छोड़े बिना उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त तथा गुणयुक्त और पर्याय सहित है, वह द्रव्य है—ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं ।

टीकार्थ- ***अपरिच्चत्तसहावेण***- स्वभाव को नहीं छोड़ने वाले अस्तित्व के साथ अभिन्न ***उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं***-उत्पाद,व्यय, ध्रौव्य के साथ संयुक्त ***गुणवं च सपज्जायं***- गुणयुक्त और पर्याय सहित ***जं***- जो इसप्रकार सत्ता आदि तीन लक्षणों से सहित है, ***तं दव्वं ति वुच्चंति***- वह द्रव्य है—ऐसा सर्वज्ञ कहते हैं ।

यह द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य और गुणपर्याय के साथ लक्ष्यलक्षण भेद होने पर भी सत्ता से भिन्न नहीं है । यदि सत्ताभेद नहीं है तो क्या करता है ? स्वरूप से ही उस प्रकारता का अवलम्बन करता है । उस प्रकारता का अवलम्बन करता है—इसका क्या अर्थ है ? शुद्धात्मा के समान ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप और गुण- पर्याय स्वरूप परिणमित होता है—यह अर्थ है ।

वह इसप्रकार—केवलज्ञान की उत्पत्ति के प्रसंग में शुद्धात्मा की रुचि, जानकारी, निश्चल अनुभूति—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप कारण-समयसार पर्याय का विनाश होने पर शुद्धात्मा की प्राप्ति रूप कार्य-समयसार का उत्पाद, कारण-समयसार का व्यय तथा उन दोनों का आधारभूत परमात्मा द्रव्यरूप से ध्रौव्य है । वैसे ही अनन्त ज्ञानादि गुण, गतिमार्गणा से विपरीत सिद्धगति, इन्द्रिय मार्गणा से विपरीत अतीन्द्रियता आदि लक्षण वाली शुद्ध पर्यायें हैं । जैसे— शुद्ध सत्ता के साथ अभिन्न परमात्मद्रव्य पूर्वोक्त उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य और

गुणपर्यायैश्च सह संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि सति तैः सह सत्ताभेदं न करोति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते। तथाविधत्वं कोऽर्थः। उत्पादव्ययध्रौव्यगुणपर्यायस्वरूपेण परिणमति।

तथा सर्वद्रव्याणि स्वकीयस्वकीययथोचितोत्पादव्ययध्रौव्यैस्तथैव गुणपर्यायैश्च सह यद्यपि संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभिर्भेदं कुर्वन्ति तथापि सत्तास्वरूपेण भेदं न कुर्वन्ति, स्वभावत एव तथाविधत्वमवलम्बन्ते। तथाविधत्वं कोऽर्थः। उत्पादव्ययादिस्वरूपेण परिणमन्ति।

अथवा यथा वस्त्रं निर्मलपर्यायेणोत्पन्नं मलिनपर्यायेण विनष्टं तदुभयाधारभूतवस्त्ररूपेण ध्रुवमविनश्वरं, तथैव शुक्लवर्णादिगुणनवजीर्णादिपर्यायसहितं च सत् तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैस्तथैव च स्वकीयगुणपर्यायैः सह संज्ञादिभेदेऽपि सति सत्तारूपेण भेदं न करोति। तर्हि किं करोति। स्वरूपत एवोत्पादादिरूपेण परिणमति, तथा सर्वद्रव्याणीत्यभिप्रायः ॥ १०५ ॥

एवं नमस्कारगाथा, द्रव्यगुणपर्यायकथनगाथा, स्वसमयपरसमयनिरूपणगाथा, सत्तादिलक्षणत्रयसूचनगाथा चेति स्वतन्त्रगाथाचतुष्टयेन पीठिकाभिधानं प्रथमस्थलं गतम्।

गुण-पर्यायों के साथ संज्ञा-लक्षण-प्रयोजन आदि का भेद होने पर भी उनके साथ सत्ताभेद नहीं करता, स्वरूप से ही उस प्रकारता का अवलम्बन करता है। उस प्रकारता का क्या अर्थ है ? उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य,गुण-पर्याय स्वरूप से परिणमित होता है–यह अर्थ है।

उसीप्रकार सभी द्रव्य अपने-अपने यथोचित उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य और उसीप्रकार गुण-पर्यायों के साथ यद्यपि संज्ञा-लक्षण-प्रयोजन आदि के द्वारा भेद करते हैं; तथापि सत्ता-स्वरूप से भेद नहीं करते हैं, स्वभाव से ही उस प्रकारता का अवलम्बन करते हैं। उस प्रकारता का क्या अर्थ है ? उत्पाद-व्यय आदि स्वरूप से परिणमित होते हैं– यह अर्थ है।

अथवा, जैसे कपड़ा निर्मल पर्याय से उत्पन्न, मलिन पर्याय से नष्ट और उन दोनों के आधारभूत कपड़े रूप से ध्रुव–अविनश्वर है और उसीप्रकार सफेद रंग आदि गुण तथा नवीन- पुरानी पर्याय सहित है; उसीप्रकार सत् उन उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य और अपने गुण-पर्यायों के साथ संज्ञा आदि भेद होने पर भी सत्ता रूप से भेद नहीं करता है। सत्तारूप से भेद नहीं करता है, तो क्या करता है ? स्वरूप से ही उत्पादादि रूप परिणमित होता है; इसीप्रकार सभी द्रव्य भी जानना चाहिये– यह अभिप्राय है।

भावार्थ- प्रस्तुत गाथा में आचार्य देव ने द्रव्य को सत्ता, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, तथा गुण-पर्याय वाला– इन तीन लक्षणों से लक्षित किया है। द्रव्य और इन सभी में यद्यपि लक्ष्य-लक्षण[१] भेद है, तथापि सत्ता का भेद नहीं है ॥ १०५ ॥[२]

इस प्रकार नमस्कार गाथा, द्रव्य-गुण-पर्याय कथन गाथा, स्वसमय-परसमय निरूपण गाथा और सत्ता आदि तीन लक्षण सूचक गाथा– इसप्रकार चार स्वतंत्र गाथाओं द्वारा पीठिका नामक पहला स्थल समाप्त हुआ।

---

१. जो पहिचाना जाता है– पहिचानने– जानने योग्य होता है, उसे लक्ष्य तथा जिससे पहिचाना– जाना जाता है, उसे लक्षण कहते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में द्रव्य लक्ष्य तथा सत्तादि सभी लक्षण हैं।

२. एतदर्थ "पंचास्तिकाय संग्रह" गाथा १० तथा तत्त्वार्थसूत्र, पंचमोध्याय, सूत्र २९, ३० और ३८ एवं उन सभी की टीकायें मूलतः पठनीय हैं।

अथ प्रथमं तावत्स्वरूपास्तित्वं प्रतिपादयति–

सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सगपज्जएहिं चित्तेहिं । (९६)

दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं ॥ १०६ ॥

सहावो हि स्वभावः स्वरूपं भवति हि स्फुटम् । कः कर्ता । *सब्भावो* सद्भावः शुद्धसत्ता शुद्धास्तित्वम् । कस्य स्वभावो भवति । *दव्वस्स* मुक्तात्मद्रव्यस्य । तच्च स्वरूपास्तित्वं यथा मुक्तात्मनः सकाशात्पृथग्भूतानां पुद्गलादिपंचद्रव्याणां शेषजीवानां च भिन्नं भवति, न च तथा । कैः सह । *गुणेहिं सगपज्जएहिं* केवलज्ञानादि-गुणैः किंचिदूनचरमशरीराकारादिस्वकपर्यायैश्च सह । कथंभूतैः । *चित्तेहिं* सिद्धगतित्वमतीन्द्रियत्वमकायत्वम-योगत्वमवेदत्वमित्यादिबहुभेदभिन्नैः । न केवलं गुणपर्यायैः सह भिन्नं न भवति । *उप्पादव्वयधुवत्तेहिं* शुद्धात्म-प्राप्तिरूपमोक्षपर्यायस्योत्पादो रागादिविकल्परहितपरमसमाधिरूपमोक्षमार्गपर्यायस्य व्ययस्तथा मोक्षमोक्ष-मार्गाधारभूतान्वयद्रव्यत्वलक्षणं ध्रौव्यं चेत्युक्तलक्षणोत्पादव्ययध्रौव्यैश्च सह भिन्नं न भवति। कथम्। *सव्वकालं* सर्वकालपर्यन्तं यथा भवति । कस्मात्तैः सह भिन्नं न भवतीति चेत् । यतः कारणाद्गुणपर्यायास्ति–

(अब, सत्तालक्षण व्याख्यान परक चार गाथाओं में निबद्ध दूसरा स्थल प्रारम्भ होता है ।)

अब, सबसे पहले स्वरूपास्तित्व का प्रतिपादन करते हैं–

उत्पाद ध्रौव्य विनाश से गुण से विविध पर्याय से ।

है द्रव्य का सद्भाव सब समयों में स्वयं स्वभाव से ॥ १०६ ॥

गाथार्थ- गुणों तथा अनेक प्रकार की अपनी पर्यायों से और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप से सर्वकाल में द्रव्य का अस्तित्व वास्तव में (द्रव्य का) स्वभाव है ।

टीकार्थ- ***सहावो हि***– वास्तव में स्वभाव-स्वरूप है । स्वभाव रूपकर्ता कौन है– स्वभाव क्या है ? ***सब्भावो***– सद्भाव-शुद्धसत्ता अथवा शुद्धअस्तित्व स्वभाव है । शुद्धअस्तित्व किसका स्वभाव है ? ***दव्वस्स***– मुक्तात्मद्रव्य का स्वभाव है । और वह स्वरूपास्तित्व जैसे मुक्तात्माओं से भिन्नभूत पुद्गलादि पाँच द्रव्यों का और शेष जीव द्रव्यों का भिन्न है, वैसा भिन्न नहीं है । वह स्वरूप किनके साथ भिन्न नहीं है ? ***गुणेहिं सगपज्जएहिं***– केवलज्ञानादि गुणों और कुछ कम अन्तिम शरीर के आकार आदि अपनी पर्यायों के साथ भिन्न नहीं है । वे पर्यायें कैसी हैं ? ***चित्तेहिं***– सिद्धगतित्व, अतीन्द्रियत्व, अशरीरत्व, अयोगत्व, अवेदत्व इत्यादि अनेक भेदों से पृथक्-पृथक् हैं ।मात्र गुण-पर्यायों के साथ भिन्न नहीं है–ऐसा ही नहीं है, अपितु ***उप्पादव्वयधुवत्तेहिं***– शुद्धात्मा की प्राप्ति रूप मोक्षपर्याय का उत्पाद, रागादि विकल्प रहित परमसमाधिरूप मोक्षमार्ग—रत्नत्रयपर्याय का व्यय तथा मोक्ष एवं मोक्षमार्ग के आधारभूत अन्वयरूप से रहने वाली द्रव्यता लक्षण ध्रौव्य — इसप्रकार कहे गये लक्षण वाले उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के साथ भिन्न नहीं है । उन सबसे भिन्न कैसे नहीं हैं ? ***सव्वकालं***– हमेशा ही उस रूप से रहने के कारण भिन्न नहीं है । अथवा उन उत्पादादि से भिन्न कब नही हैं ? सव्वकालं-हमेशा ही (कभी भी) उनसे भिन्न नही हैं । उन सबके साथ भिन्न क्यों नहीं है ?

त्वेनोत्पादव्ययध्रौव्यास्तित्वेन च कर्तृभूतेन शुद्धात्मद्रव्यास्तित्वं साध्यते, शुद्धात्मद्रव्यास्तित्वेन च गुणपर्यायोत्पादव्ययध्रौव्यास्तित्वं साध्यत इति ।

तद्यथा–यथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावैः सुवर्णादभिन्नानां पीतत्वादिगुणकुण्डलादिपर्यायाणां सम्बन्धि यदस्तित्वं स एव सुवर्णस्य सद्भावः, तथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परमात्मद्रव्यादभिन्नानां केवलज्ञानादिगुणकिंचिदूनचरमशरीराकारादिपर्यायाणां सम्बन्धि यदस्तित्वं स एव मुक्तात्मद्रव्यस्य सद्भावः ।

यथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावैः पीतत्वादिगुणकुण्डलादिपर्यायेभ्यःसकाशादभिन्नस्य सुवर्णस्य सम्बन्धि यदस्तित्वं स एव पीतत्वादिगुणकुण्डलादिपर्यायाणां स्वभावो भवति, तथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावैः केवलज्ञानादिगुणकिंचिदूनचरमशरीराकारपर्यायेभ्यः सकाशादभिन्नस्य मुक्तात्मद्रव्यस्य सम्बन्धि यदस्तित्वं स एव केवलज्ञानादिगुणकिंचिदूनचरमशरीराकारपर्यायाणां स्वभावो ज्ञातव्यः ।

अथेदानीमुत्पादव्ययध्रौव्याणामपि द्रव्येण सहाभिन्नास्तित्वं कथ्यते। यथा स्वकीयद्रव्यादिचतुष्टयेन सुवर्णादभिन्नानां कटकपर्यायोत्पादकंकणपर्यायविनाशसुवर्णत्वलक्षणध्रौव्याणां सम्बन्धि यदस्तित्वं स एव सुवर्णसद्भावः, तथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन परमात्मद्रव्यादभिन्नानां मोक्षपर्यायोत्पादमोक्षमार्गपर्यायव्ययतदुभयाधारभूतपरमात्मद्रव्यत्वलक्षणध्रौव्याणां सम्बन्धि यदस्तित्वं स एव मुक्तात्मद्रव्यसद्भावः ।

क्योंकि कर्ताभूत गुण-पर्याय के अस्तित्व से और उत्पाद-व्यय -ध्रौव्य के अस्तित्व से शुद्धात्मद्रव्य का अस्तित्व सिद्ध होता है, तथा शुद्धात्मद्रव्य के अस्तित्व से गुण-पर्याय,उत्पाद-व्यय -ध्रौव्य का अस्तित्व सिद्ध होता है; इसलिये ये सब परस्पर में भिन्न-भिन्न नहीं हैं ।

वह इसप्रकार—जैसे अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव द्वारा स्वर्ण से अभिन्न पीलापन आदि गुणों तथा कुण्डल आदि पर्यायों सम्बन्धी जो अस्तित्व है, वह ही स्वर्ण का शुद्ध अस्तित्व है; वैसे ही अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव द्वारा परमात्म-द्रव्य से अभिन्न केवलज्ञानादि गुणों तथा अन्तिम शरीराकार से कुछ कम आकार आदि पर्यायों का जो अस्तित्व है, वही मुक्तात्मद्रव्य का शुद्ध अस्तित्व है ।

जैसे—अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव द्वारा पीलेपन आदि गुणों तथा कुण्डल आदि पर्यायों से अभिन्न स्वर्ण सम्बन्धी जो अस्तित्व है, वही पीलेपन आदि गुणों तथा कुण्डल आदि पर्यायों का स्वभाव है ; उसीप्रकार अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव द्वारा केवलज्ञानादि गुणों तथा अन्तिम शरीराकार से कुछ कम आकार आदि पर्यायों से अभिन्न मुक्तात्मा द्रव्य सम्बन्धी जो अस्तित्व है,वही केवलज्ञानादि गुणों तथा अन्तिम शरीराकार से कुछ कम आकारादि पर्यायों का स्वभाव जानना चाहिये ।

अब, यहाँ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का भी द्रव्य के साथ अभिन्न अस्तित्व कहते हैं । जैसे— अपने द्रव्यादि चतुष्टय द्वारा स्वर्ण से अभिन्न कटक (कड़ा) पर्याय से उत्पाद, कंकण पर्याय का विनाश और स्वर्णता लक्षण ध्रौव्य सम्बन्धी जो अस्तित्व है, वही स्वर्ण का शुद्ध अस्तित्व है ; उसीप्रकार स्वद्रव्यादि चतुष्टय द्वारा परमात्मा द्रव्य से अभिन्न मोक्षपर्याय का उत्पाद, मोक्षमार्ग पर्याय का व्यय तथा उन दोनों की आधारभूत परमात्मद्रव्यता लक्षण ध्रौव्य सम्बन्धी जो अस्तित्व है, वही मुक्तात्मा द्रव्य का शुद्ध अस्तित्व है ।

यथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन कटकपर्यायोत्पादकंकणपर्यायव्ययसुवर्णत्वलक्षणध्रौव्येभ्यः सकाशादभिन्नस्य सुवर्णस्य सम्बन्धि यदस्तित्वं स एव कटकपर्यायोत्पादकंकणपर्यायव्ययतदुभयाधारभूतसुवर्णत्वलक्षणध्रौव्याणां स्वभावः, तथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन मोक्षपर्यायोत्पादमोक्षमार्गपर्यायव्ययतदुभयाधारभूतमुक्तात्मद्रव्यत्वलक्षणध्रौव्येभ्यःसकाशादभिन्नस्य परमात्मद्रव्यस्य संबन्धि यदस्तित्वं स एव मोक्षपर्यायोत्पादमोक्षमार्गपर्यायव्ययतदुभयाधारभूतमुक्तात्मद्रव्यत्वलक्षणध्रौव्याणां स्वभाव इति।

एवं यथा मुक्तात्मद्रव्यस्य स्वकीयगुणपर्यायोत्पादव्ययध्रौव्यैः सह स्वरूपास्तित्वाभिधानमवान्तरास्तित्वमभिन्नं व्यवस्थापितं तथैव समस्तशेषद्रव्याणामपि व्यवस्थापनीयमित्यर्थः ॥ १०६ ॥

जैसे स्वद्रव्यादि चतुष्टय द्वारा कटक पर्याय का उत्पाद, कंकण पर्याय का व्यय तथा स्वर्णता लक्षण ध्रौव्य से अभिन्न स्वर्ण सम्बन्धी जो अस्तित्व है वही कटक पर्याय का उत्पाद, कंकण पर्याय का व्यय तथा उन दोनों के आधारभूत स्वर्णत्व लक्षण ध्रौव्य का स्वभाव है; उसीप्रकार स्वद्रव्यादि चतुष्टय द्वारा मोक्षपर्याय का उत्पाद, मोक्षमार्ग पर्याय का व्यय तथा उन दोनों के आधारभूत मुक्तात्मद्रव्यत्व लक्षण ध्रौव्य से अभिन्न परमात्मद्रव्य संबंधी जो अस्तित्व है, वही मोक्षपर्याय का उत्पाद, मोक्षमार्ग पर्याय का व्यय तथा उन दोनों के आधारभूत मुक्तात्मद्रव्यत्व लक्षण ध्रौव्य का स्वभाव है।

इसप्रकार जैसे मुक्तात्म-द्रव्य की अपने गुण-पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के साथ स्वरूपास्तित्व नामक अवान्तरसत्ता अभिन्न स्थापित की है; वैसे ही सम्पूर्ण शेष द्रव्यों की भी स्थापित करना चाहिये—यह अर्थ है।

भावार्थ- शुद्ध अस्तित्व वास्तव में द्रव्य का स्वरूप है और वह प्रत्येक द्रव्य का पृथक्-पृथक् होने से जैसे मुक्तात्मद्रव्य का अस्तित्व शेष सर्व पुद्गलादि पाँच द्रव्यों तथा शेष जीव द्रव्यों से भिन्न है, उसीप्रकार वह अपने गुणों-पर्यायों तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से भिन्न नहीं, वरन् सदाकाल अभिन्न है।

जैसे मुक्तात्मद्रव्य का शुद्ध अस्तित्व केवलज्ञानादि गुणों, अन्तिम शरीराकार से कुछ कम आकार, सिद्धगतित्व, अतीन्द्रियत्व, अशरीरत्व, अयोगत्व, अवेदत्व इत्यादि विविध पर्यायों से तथा शुद्धात्मा की प्राप्ति रूप पर्याय के उत्पाद, रागादि विकल्प रहित परम समाधि रूप मोक्षमार्ग —रत्नत्रय पर्याय का व्यय और उन दोनों के आधारभूत अन्वयरूप द्रव्यता लक्षण ध्रौव्य से सदाकाल अभिन्न रहता है; उसीप्रकार सभी द्रव्यों का अस्तित्व अपने-अपने गुणादि सभी से सदाकाल अभिन्न रहता है।

क्योंकि गुण-पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का अस्तित्व द्रव्य के अस्तित्व से और द्रव्य का अस्तित्व गुण-पर्याय, उत्पादादि के अस्तित्व से ही सिद्ध होता है; अतः ये सब परस्पर में भिन्न-भिन्न नहीं, वरन् अभिन्न ही हैं।

विशेषार्थ- 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने द्रव्य के साथ अस्तित्व की एकता को सहेतुक निम्नप्रकार सिद्ध किया है—

"अस्तित्व वास्तव में द्रव्य का स्वभाव है, और वह अन्य साधन से निरपेक्ष होने के कारण अनादि-अनन्त, अहेतुक, एक रूप वृत्ति से सदा ही प्रवर्तित होने से और विभावधर्म से विलक्षण होने से, भाव और भाववान की अपेक्षा भिन्नता होने पर भी, प्रदेशभेद का अभाव होने से द्रव्य के साथ एकत्व का अवलम्बन करता हुआ द्रव्य का स्वभाव कैसे नहीं होगा ? अर्थात् होगा।"

"इसीप्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा द्रव्य- गुण - पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के बीच की परस्पर अभिन्नता कर्ता, करण और अधिकरण रूप हेतु से स्पष्ट की है।" [1] ॥ १०६ ॥

---

१. प्रवचनसार, गाथा ९६, तत्त्व प्रदीपिका टीका।

अथ सादृश्यास्तित्वशब्दाभिधेयां महासत्तां प्रज्ञापयति –

इह विविहलक्खणाणं लक्खणमेगं सदित्ति सव्वगयं।(९७)
उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं॥ १०७॥

इह विविहलक्खणाणं इह लोके प्रत्येकसत्ताभिधानेन स्वरूपास्तित्वेन विविधलक्षणानां भिन्नलक्षणानां चेतनाचेतनमूर्तामूर्तपदार्थानां *लक्खणमेगं* तु एकमखण्डलक्षणं भवति। किं कर्तृ। *सदिति* सर्वं सदिति महासत्तारूपम्। किंविशिष्टम्। *सव्वगयं* संकरव्यतिकरपरिहाररूपस्वजात्यविरोधेन शुद्धसंग्रहनयेन सर्वगतं सर्वपदार्थव्यापकम्। इदं केनोक्तम्। *उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं* धर्मं वस्तुस्वभावसंग्रहमुपदिशता खलु स्फुटं जिनवरवृषभेण प्रज्ञप्तमिति।

तद्यथा-यथा सर्वे मुक्तात्मानः सन्तीत्युक्ते सति परमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादभरितावस्थ-लोकाकाशप्रमितशुद्धासंख्येयात्मप्रदेशैस्तथा किंचिदूनचरमशरीराकारादिपर्यायैश्च संकरव्यतिकरपरिहार-रूपजातिभेदेन भिन्नानामपि सर्वेषां सिद्धजीवानां ग्रहणं भवति, तथा 'सर्वं सत्' इत्युक्ते संग्रहनयेन सर्वपदार्थानां ग्रहणं भवति।

अब, सादृश्यास्तित्व के द्वारा कही जाने वाली महासत्ता का प्रज्ञापन करते हैं (उसकी विशेष जानकारी कराते हैं) —

विविध लक्षणवान का 'सत्' एक लक्षण सर्वगत।
है वास्तविक धर्मोपदेशक तीर्थकर द्वारा कथित॥ १०७॥

गाथार्थ- वास्तविक धर्म का उपदेश देने वाले तीर्थंकरों ने इस विश्व में विविध लक्षण वाले सभी द्रव्यों का 'सत्' —यह एक सर्वगत लक्षण कहा है।

टीकार्थ- ***इह विविहलक्खणाणं*** - इस लोक में प्रत्येक सत्ता नामक स्वरूपास्तित्व के द्वारा भिन्न-भिन्न लक्षण वाले चेतन-अचेतन, मूर्त-अमूर्त पदार्थों का ***लक्खणमेगं तु*** — एक अखण्ड लक्षण है। वह अखण्ड लक्षण क्या है ? अथवा अखण्ड लक्षण रूप कर्ता कौन है ? ***सदिति*** सब 'सत्' है — इसप्रकार महासत्ता रूप अखण्ड लक्षण है। वह लक्षण किस विशेषता वाला है ? ***सव्वगयं***-संकर और व्यतिकर दोषों से रहित अपनी जाति का विरोध नहीं करने वाले शुद्ध- संग्रहनय से सर्वगत — सभी पदार्थों में व्यापक— पाया जाता है। यह किसने कहा है ? ***उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं***—वस्तु का स्वभाव धर्म है— ऐसा स्पष्ट रूप से उपदेश देने वाले जिनवरों में प्रधान —तीर्थंकरों ने संक्षेप में यह कहा है।

वह इसप्रकार—जैसे सभी मुक्तात्मा हैं— ऐसा कहने पर परमानन्द एक लक्षण सुखरूपी अमृतरस के आस्वाद से भरित अवस्थ—परिपूर्ण भरे हुये, लोकाकाश के बराबर शुद्ध —मात्र असंख्यात आत्मप्रदेशों से, तथा अन्तिम शरीर के आकार से कुछ कम आकार आदि पर्यायों से, तथा संकर-व्यतिकर दोषों के निराकरण रूप जाति-भेद से भिन्न-भिन्न होने पर भी, सर्व सिद्धों का ग्रहण होता है; उसी प्रकार 'सभी सत् हैं'— ऐसा कहने पर संग्रहनय से सभी पदार्थों का ग्रहण होता है।

अथवा सेनेयं वनमिदमित्युक्ते अश्वहस्त्यादिपदार्थानां निम्बाम्रादिवृक्षाणां स्वकीयस्वकीयजातिभेद-भिन्नानां युगपद्ग्रहणं भवति, तथा सर्वं सदित्युक्ते सति सादृश्यसत्ताभिधानेन महासत्तारूपेण शुद्धसंग्रहनयेन सर्वपदार्थानां स्वजात्यविरोधेन ग्रहणं भवतीत्यर्थः ॥ १०७ ॥

अथ यथा द्रव्यं स्वभावसिद्धं तथा तत्सदपि स्वभावत एवेत्याख्याति –

दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादा। (९८)

सिद्धं तध आगमदो णेच्छदि जो सो हि परसमओ ॥ १०८ ॥

दव्वं सहावसिद्धं द्रव्यं परमात्मद्रव्यं स्वभावसिद्धं भवति। कस्मात्। अनाद्यनन्तेन परहेतुनिरपेक्षेण स्वतःसिद्धेन केवलज्ञानादिगुणाधारभूतेन सदानन्दैकरूपसुखसुधारसपरमसमरसीभावपरिणतसर्वशुद्धात्म-प्रदेशभरितावस्थेन शुद्धोपादानभूतेन स्वकीयस्वभावेन निष्पन्नत्वात्। यच्च स्वभावसिद्धं न भवति तद्द्रव्यमपि न भवति। द्व्यणुकादिपुद्गलस्कन्धपर्यायवत् मनुष्यादिजीवपर्यायवच्च। *सदिति* यथा स्वभावतः सिद्धं तद्द्रव्यं तथा सदिति सत्तालक्षणमपि स्वभावत एव भवति, न च भिन्नसत्तासमवायात्।

अथवा यथा द्रव्यं स्वभावतः सिद्धं तथा तस्य योऽसौ सत्तागुणः सोऽपि स्वभावसिद्ध एव। कस्मादिति चेत्। सत्ताद्रव्ययोः संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि दण्डदण्डिवद्भिन्नप्रदेशाभावात्।

अथवा, जैसे यह सेना है, यह वन है—ऐसा कहने पर अपनी-अपनी जाति के भेद से भिन्न-भिन्न क्रमशः घोड़ा, हाथी आदि पदार्थों का और नीम, आम आदि वृक्षों का एक साथ ग्रहण होता है; उसीप्रकार 'सभी सत् हैं' —ऐसा कहने पर शुद्धसंग्रहनय के द्वारा सादृश्यसत्ता नामक महासत्तारूप, अपनी जाति के अविरोधरूप से सभी पदार्थों का ग्रहण होता है— यह अर्थ है ॥ १०७ ॥

अब, जैसे द्रव्य स्वभाव से सिद्ध है, उसीप्रकार वह सत् भी स्वभाव से ही सिद्ध है, ऐसा प्रसिद्ध करते हैं—

है द्रव्य सिद्ध स्वभाव सत् ये तत्त्वतः जिनवर कहा।

है सिद्ध आगम से तथा वह परसमय ना मानता ॥ १०८ ॥

गाथार्थ–द्रव्य स्वभाव से सिद्ध और सत् है— ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने तत्त्वरूप से— वास्तविक कहा है और वह आगम से सिद्ध है—जो ऐसा स्वीकार नहीं करता, वह वास्तव में परसमय है।

टीकार्थ– *दव्वं सहावसिद्धं*- द्रव्य—परमात्मद्रव्य स्वभावसिद्ध है। परमात्मद्रव्य स्वभावसिद्ध कैसे है ? अनादि-अनन्त, अन्य कारणों से निरपेक्ष, स्वयं से ही सिद्ध केवलज्ञानादि गुणों के आधारभूत, हमेशा आनन्दमयी एकरूप सुखरूपी अमृतरसमयी परमसमतारस भाव से परिणत सभी शुद्धात्मप्रदेशों में परिपूर्ण भरे हुये शुद्ध उपादानभूत अपने स्वभाव से निष्पन्न होने के कारण परमात्मद्रव्य स्वभावसिद्ध है। और जो स्वभावसिद्ध नहीं है, वह द्रव्य भी नहीं है। द्व्यणुक आदि पुद्गलस्कंध पर्यायों के समान और मनुष्यादि जीवपर्यायों के समान स्वभाव-सिद्ध नहीं होने वाला द्रव्य भी नहीं है। *सदिति*- जैसे जो स्वभाव से सिद्ध है वह द्रव्य है; उसी प्रकार "सत्" ऐसा सत्ता का लक्षण भी स्वभाव से ही है, भिन्न सत्ता के समवाय से सत् नहीं है।

अथवा, जैसे द्रव्य स्वभाव से ही सिद्ध है, उसीप्रकार उसका जो वह सत्तागुण है, वह भी स्वभावसिद्ध ही है। द्रव्य के समान उसका गुण सत् स्वभावसिद्ध कैसे है ? यदि ऐसा प्रश्न हो तो— सत्ता और द्रव्य के संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि का भेद होने पर भी, दण्ड और दण्डी के समान प्रदेशभेद का अभाव होने से; द्रव्य का गुण होने से; द्रव्य के समान सत् भी स्वभावसिद्ध है।

इदं के कथितवन्तः । *जिणा तच्चदो समक्खादा* जिनाः कर्तारः तत्त्वतः सम्यगाख्यातवन्तः कथितवन्तः *सिद्धं तह आगमदो* सन्तानापेक्षया द्रव्यार्थिकनयेनानादिनिधनागमादपि तथा सिद्धं *णेच्छदि जो सो हि परसमओ* नेच्छति न मन्यते य इदं वस्तुस्वरूपं स हि स्फुटं परसमयो मिथ्यादृष्टिर्भवति ।

एवं यथा परमात्मद्रव्यं स्वभावतः सिद्धमवबोद्धव्यं तथा सर्वद्रव्याणीति ।
अत्र द्रव्यं केनापि पुरुषेण न क्रियते । सत्तागुणोऽपि द्रव्याद्भिन्नो नास्तीत्यभिप्रायः ॥ १०८ ॥
अथोत्पादव्ययध्रौव्यत्वे सति सत्तैव द्रव्यं भवतीति प्रज्ञापयति–

सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो । (९९)
अत्थेसु सो सहावो ठिदिसंभवणाससंबद्धो ॥ १०९ ॥

सदवट्ठिदं सहावे दव्वं द्रव्यं मुक्तात्मद्रव्यं भवति । किं कर्तृ । सदिति शुद्धचेतनान्वयरूपमस्तित्वम् । किंविशिष्टम् । अवस्थितम् । क्व । स्वभावे । स्वभावं कथयति- *दव्वस्स जो हि परिणामो* तस्य परमात्मद्रव्यस्य संबन्धी हि स्फुटं यः परिणामः । केषु विषयेषु । *अत्थेसु* परमात्मपदार्थस्य धर्मत्वादभेदनयेनार्था भण्यन्ते । के ते । केवलज्ञानादिगुणाः सिद्धत्वादिपर्यायाश्च, तेष्वर्थेषु विषयेषु योऽसौ परिणामः । *सो सहावो* केवलज्ञानादिगुणसिद्ध-

---

उपर्युक्त यह सब कौन कहते हैं ? ***जिणा तच्चदो समक्खादा***- जिनेन्द्र भगवान रूप कर्ता वास्तव में भलीभाँति यह कहते हैं, ***सिद्धं तह आगमदो***-द्रव्यार्थिकनय से परम्परा की अपेक्षा अनादि-अनन्त आगम से भी वैसा ही सिद्ध है, ***णेच्छदि जो सो हि परसमओ***- जो इस वस्तुस्वरूप को नहीं मानता है, वह स्पष्ट परसमय—मिथ्यादृष्टि है ।

इसप्रकार जैसे परमात्मद्रव्य स्वभाव से सिद्ध है, उसीप्रकार सभी द्रव्यों को जानना चाहिये ।

यहाँ, द्रव्य किसी भी पुरुष के द्वारा नहीं किया गया है, सत्ता गुण भी द्रव्य से भिन्न नहीं है—यह अभिप्राय है ॥ १०८ ॥

अब, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित होने पर सत्ता ही द्रव्य है, ऐसा प्रज्ञापन करते हैं (ऐसी विशेष जानकारी कराते हैं) —

स्व भाव स्थित द्रव्य सत् परिणाम जो उस द्रव्य का ।
उत्पाद-व्यय-ध्रुवता सहित वह ही स्वभाव पदार्थ का ॥ १०९ ॥

गाथार्थ - स्व भाव में स्थित द्रव्य सत् है, वास्तव में द्रव्य का जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित परिणाम है—वह पदार्थों का स्वभाव है ।

टीकार्थ- ***सदवट्ठिदं सहावे दव्वं***- द्रव्य —मुक्तात्मा द्रव्य है । वह द्रव्य क्या है ? इस वाक्य में कर्ता क्या है ? 'सत्' - ऐसा शुद्धचेतना का अन्वय (वही-वही) रूप अस्तित्व द्रव्य है । वह अस्तित्व किस विशेषता वाला है ? वह अच्छी तरह से स्थित है । अच्छी तरह से कहाँ स्थित है ? वह स्वभाव में अच्छी तरह स्थित है । (उस) स्वभाव (को) कहते हैं- ***दव्वस्स जो हि परिणामो***- उस परमात्मद्रव्य सम्बन्धी स्पष्ट जो परिणाम है । किन विषयों में वह परिणाम है ? ***अत्थेसु***- परमात्मपदार्थ का धर्म — स्वभाव होने से अभेदनय से उन्हें अर्थ कहते हैं । वे अर्थ कौन हैं ? केवलज्ञानादि गुण और सिद्धत्वादि पर्यायें अर्थ हैं । उन अर्थों — विषयों में जो वह परिणाम है । ***सो सहावो***- केवलज्ञानादि गुण और सिद्धत्वादि पर्याय रूप

त्वादिपर्यायरूपस्तस्य परमात्मद्रव्यस्य स्वभावो भवति। स च कथंभूतः। *ठिदिसंभवणाससंबद्धो* स्वात्मप्राप्तिरूपमोक्षपर्यायस्य संभवस्तस्मिन्नेव क्षणे परमागमभाषयैकत्ववितर्कावीचारद्वितीयशुक्लध्यान-संज्ञस्य शुद्धोपादानभूतस्य समस्तरागादिविकल्पोपाधिरहितस्वसंवेदनज्ञानपर्यायस्य नाशस्तस्मिन्नेव समये तदुभयाधारभूतपरमात्मद्रव्यस्य स्थितिरित्युक्तलक्षणोत्पादव्ययध्रौव्यत्रयेण संबन्धो भवतीति।

एवमुत्पादव्ययध्रौव्यत्रयेणैकसमये यद्यपि पर्यायार्थिकनयेन परमात्मद्रव्यं परिणतं, तथापि द्रव्यार्थिकन-येन सत्तालक्षणमेव भवति। त्रिलक्षणमपि सत्सत्तालक्षणं कथं भण्यत इति चेत् *"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"*[१] इति वचनात्।

यथेदं परमात्मद्रव्यमेकसमयेनोत्पादव्ययध्रौव्यैः परिणतमेव सत्तालक्षणं भण्यते तथा सर्वद्रव्याणी-त्यर्थः ॥ १०९ ॥

परिणमन उन परमात्मद्रव्य का स्वभाव है। और वह स्वभाव कैसा है ? ***ठिदिसंभवणाससंबद्धो***— निजा-त्मा की प्राप्तिरूप मोक्षपर्याय की उत्पत्ति, उसी समय परमागम की भाषा से एकत्ववितर्कअवीचाररूप द्वितीयशुक्लध्यान नामक शुद्ध उपादानभूत समस्त रागादि विकल्पों की उपाधि (संयोग) रहित स्वसं-वेदनज्ञानपर्याय का नाश और उसी समय उन दोनों के आधारभूत परमात्मद्रव्य की स्थिति —ध्रुवता— इसप्रकार कहे गये लक्षण वाले उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य —इन तीनों से सहित वह स्वभाव है।

इसप्रकार यद्यपि पर्यायार्थिकनय से एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य —इन तीनरूप परमात्मद्रव्य परिणत है, तथापि द्रव्यार्थिकनय से सत्तालक्षण ही है। तीन लक्षण वाला होने पर भी सत् का सत्ता लक्षण कैसे कहा जाता है ? यदि यह प्रश्न हो तो उत्तर देते हैं — "सत् उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य सहित है"—ऐसा वचन होने से सत्ता लक्षण वाला कहा जाता है।

जैसे यह परमात्मद्रव्य,एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप से परिणमता हुआ ही सत्ता लक्षण वाला कहा गया है; उसीप्रकार सभी द्रव्य,एक ही समय में उत्पादादि रूप से परिणमित होते हुये सत्ता लक्षण वाले हैं—यह अर्थ है।

भावार्थ- वस्तु और वस्तु के गुण - पर्याय वस्तु का स्वभाव होने के कारण अभेदनय से अर्थ कहे जाते हैं,उन अर्थों का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप परिणाम स्वभाव है। उस स्वभाव में अच्छी तरह स्थित अस्तित्व द्रव्य कहलाता है। इसे परमात्मद्रव्य पर घटित कर टीका में स्पष्ट किया गया है।

विशेषार्थ- 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने इस गाथा की टीका में क्षेत्र की निश्चितता एवं प्राप्ति की अपेक्षा क्रमबद्धता के माध्यम से पर्यायों की निश्चितता एवं क्रमबद्धता को स्पष्ट करते हुये निष्कर्ष रूप में लिखा है—

"इसप्रकार स्वभाव से ही तीन लक्षण वाली परिणाम पद्धति में प्रवर्तमान द्रव्य स्वभाव का उल्लंघन नहीं करने से तीन लक्षण वाले सत्त्व की ही अनुमोदना करना चाहिये— उसे आनन्द से सम्मत करना चाहिये, मोतियों के हार की भाँति।"

तदनन्तर मोतियों के हार द्वारा द्रव्य के उत्पाद - व्यय-ध्रौव्य को स्पष्ट किया है[२] ॥ १०९ ॥

१- तत्त्वार्थसूत्र,पंचमाध्याय,सूत्र ३०।

२- प्रवचनसार,गाथा ९९,तत्त्वप्रदीपिका टीका।

एवं स्वरूपसत्तारूपेण प्रथमगाथा, महासत्तारूपेण द्वितीया, यथा द्रव्यं स्वतःसिद्धं तथा सत्तागुणोऽपीति कथनेन तृतीया, उत्पादव्ययध्रौव्यत्वेऽपि सत्तैव द्रव्यं भण्यत इति कथनेन चतुर्थीति गाथाचतुष्टयेन सत्तालक्षणविवरणमुख्यतया द्वितीयस्थलं गतम्।

अथोत्पादव्ययध्रौव्याणां परस्परसापेक्षत्वं दर्शयति-

ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो।(१००)

उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण॥ ११०॥

ण भवो भंगविहीणो निर्दोषपरमात्मरुचिरूपसम्यक्त्वपर्यायस्य भव उत्पादः तद्विपरीतमिथ्यात्वपर्यायस्य भंगं विना न भवति। कस्मात्। उपादानकारणाभावात्, मृत्पिण्डभंगाभावे घटोत्पाद इव। द्वितीयं च कारणं मिथ्यात्वपर्यायभंगस्य सम्यक्त्वपर्यायरूपेण प्रतिभासनात्। तदपि कस्मात्। *"भावान्तरस्वभावरूपो भवत्यभाव"*[१] इति वचनात्, घटोत्पादरूपेण मृत्पिण्डभंग इव।

इस प्रकार स्वरूपसत्तारूप से पहली गाथा, महासत्तारूप से दूसरी गाथा, जैसे द्रव्य स्वतः-सिद्ध है वैसे सत्तागुण भी, इस कथन रूप तीसरी गाथा और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित होने पर भी सत्ता ही द्रव्य कही गयी है—इस कथन रूप चौथी गाथा— इसप्रकार चार गाथाओं द्वारा सत्तालक्षण विवरण की मुख्यता से दूसरा स्थल पूर्ण हुआ।

(अब, तीन गाथाओं में निबद्ध उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण व्याख्यान परक तीसरा स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की परस्पर सापेक्षता दिखाते हैं—

उत्पाद भंग बिना नहीं व्यय के बिना उत्पाद ना।

हैं ध्रौव्य अर्थ बिना नहीं उत्पाद और विनाश ना॥ ११०॥

गाथार्थ - उत्पाद व्यय रहित नहीं होता, व्यय उत्पाद रहित नहीं होता है तथा उत्पाद और व्यय ध्रौव्य रूप पदार्थ के बिना नहीं होते हैं।

टीकार्थ - *ण भवो भंगविहीणो*— निर्दोष परमात्मा की रुचिरूप सम्यक्त्वपर्याय का उत्पाद, वह उससे विपरीत मिथ्यात्वपर्याय के विनाश बिना नहीं होता। मिथ्यात्वपर्याय के विनाश बिना सम्यक्त्वपर्याय का उत्पाद क्यों नहीं होता ? उपादानकारण का अभाव होने से जैसे मिट्टी के पिण्ड के विनाश बिना घड़े की उत्पत्ति नहीं होती, उसीप्रकार मिथ्यात्वपर्याय के विनाश बिना सम्यक्त्वपर्याय की उत्पत्ति नहीं होती है। और दूसरा भी कारण है — मिथ्यात्वपर्याय के विनाश का सम्यक्त्वपर्यायरूप से प्रतिभासन होने से उसके विनाश बिना सम्यक्त्वपर्याय उत्पन्न नहीं होती है। उसके विनाश का सम्यक्त्वपर्यायरूप से प्रतिभासन कैसे होता है ? "अभाव अन्य पदार्थ के स्वभावरूप होता है"— ऐसा वचन होने से, जैसे, मिट्टी के पिण्ड का अभाव घड़े की

१- युक्त्यनुशासन, ५९ वीं कारिका पूर्वार्द्ध *"भवत्यभावोऽपि च वस्तु धर्मो, भावान्तरं भाववदर्हतस्ते"*— इति पाठः।

यदि पुनर्मिथ्यात्वपर्यायभंगस्य सम्यक्त्वोपादानकारणभूतस्याभावेऽपि शुद्धात्मानुभूतिरुचिरूपसम्यक्त्वस्योत्पादो भवति, तर्ह्युपादानकारणरहितानां खपुष्पादीनामप्युत्पादो भवतु । न च तथा ।

भंगो वा णत्थि संभवविहीणो परद्रव्योपादेयरुचिरूपमिथ्यात्वस्य भंगो नास्ति । कथंभूतः । पूर्वोक्तसम्यक्त्वपर्यायसंभवरहितः । कस्मादिति चेत् । भंगकारणाभावात्, घटोत्पादाभावे मृत्पिण्डस्येव । द्वितीयं च कारणं–सम्यक्त्वपर्यायोत्पादस्य मिथ्यात्वपर्यायाभावरूपेण दर्शनात् । तदपि कस्मात् । पर्यायस्य पर्यायान्तराभावरूपत्वात्, घटपर्यायस्य मृत्पिण्डाभावरूपेणेव ।

यदि पुनः सम्यक्त्वोत्पादनिरपेक्षो भवति मिथ्यात्वपर्यायाभावस्तर्ह्यभाव एव न स्यात् । कस्मात् । अभावकारणाभावादिति, घटोत्पादाभावे मृत्पिण्डाभावस्य इव ।

उत्पत्तिरूप से प्रतिभासित होता है; उसीप्रकार मिथ्यात्वपर्याय का अभाव सम्यक्त्वपर्याय की उत्पत्तिरूप से प्रतिभासित होता है ।

यदि सम्यक्त्व के उपादानकारणभूत मिथ्यात्वपर्याय के विनाश बिना ही शुद्धात्मा की अनुभूति-रुचि रूप सम्यक्त्व का उत्पाद होता है, तो उपादानकारण से रहित आकाशफूल आदि का भी उत्पाद हो । परन्तु वैसा तो नहीं होता है ।

भंगो वा णत्थि संभवविहीणो- परद्रव्य उपादेय है ऐसी रुचिरूप मिथ्यात्व का विनाश नहीं होता है । कैसे मिथ्यात्व का विनाश नहीं होता है ? पहले कहे हुये सम्यक्त्वपर्याय के उत्पाद से रहित मिथ्यात्व का विनाश नहीं होता है । सम्यक्त्वपर्याय की उत्पत्ति के बिना मिथ्यात्वपर्याय का विनाश क्यों नहीं होता है ? विनाश के कारण का अभाव होने से,घड़े की उत्पत्ति के अभाव में मिट्टी के पिण्ड का विनाश नहीं होने के समान, सम्यक्त्व की उत्पत्ति के अभाव में मिथ्यात्व का विनाश नहीं होता है । और दूसरा भी कारण है-सम्यक्त्व पर्याय के उत्पाद का मिथ्यात्वपर्याय के अभावरूप दर्शन होने के कारण,उसकी उत्पत्ति के बिना मिथ्यात्वपर्याय नष्ट नहीं होती है ।उसका उत्पाद मिथ्यात्वपर्याय के विनाश बिना क्यों दिखाई नहीं देता है ? एक पर्याय के अन्य पर्याय की अभावरूपता होने से,जैसे,घटपर्याय का दर्शन मिट्टी के पिण्ड के अभावरूप से होता है; उसीप्रकार सम्यक्त्वपर्याय का दिखाई देना मिथ्यात्वपर्याय के विनाशरूप से होता है ।

यदि सम्यक्त्व की उत्पत्ति के बिना ही मिथ्यात्वपर्याय का अभाव होता है,तो उसका अभाव ही नहीं होगा । सम्यक्त्व की उत्पत्ति बिना मिथ्यात्व का अभाव क्यों नहीं होगा ? अभाव के कारण का अभाव होने से (विनाश का कारण उत्पाद है, उसके नहीं होने से) घड़े की उत्पत्ति के अभाव में मिट्टी के पिण्ड का विनाश नहीं होने के समान, सम्यक्त्व की उत्पत्ति के अभाव में मिथ्यात्व का विनाश नहीं होगा ।

उप्पादो वि य भंगो ण विणा दव्वेण अत्थेण परमात्मरुचिरूपसम्यक्त्वस्योत्पादस्तद्विपरीतमिथ्यात्वस्य भंगो व नास्ति। कं विना। तदुभयाधारभूतपरमात्मरूपद्रव्यपदार्थं विना। कस्मात्। द्रव्याभावे व्ययोत्पादाभावान्मृत्तिकाद्रव्याभावे घटोत्पादमृत्पिण्डभंगाभाववदिति।

यथा सम्यक्त्वमिथ्यात्वपर्यायद्वये परस्परसापेक्षमुत्पादादित्रयं दर्शितं तथा सर्वद्रव्यपर्यायेषुद्रष्टव्यमित्यर्थः ॥ ११० ॥

उप्पादो वि य भंगो ण विणा दव्वेण अत्थेण - परमात्मा की रुचिरूप सम्यक्त्व का उत्पाद तथा उससे विपरीत मिथ्यात्व का विनाश नहीं होता है । उन दोनों का उत्पाद-विनाश किसके बिना नहीं होता है ? उन दोनों के आधारभूत परमात्मारूप द्रव्य—पदार्थ के बिना उन दोनों का उत्पाद-विनाश नहीं होता है । दोनों के आधारभूत परमात्मपदार्थ के बिना दोनों का उत्पाद- विनाश क्यों नहीं होता है ? द्रव्य के अभाव में विनाश और उत्पत्ति का अभाव होने से मिट्टी द्रव्य के अभाव में घड़े की उत्पत्ति तथा मिट्टी के पिण्ड का विनाश नहीं होने के समान, परमात्मद्रव्य के अभाव में सम्यक्त्व की उत्पत्ति और मिथ्यात्व का विनाश नहीं होता है ।

इसप्रकार जैसे सम्यक्त्व और मिथ्यात्व— इन दो पर्यायों में एक दूसरे की अपेक्षा सहित उत्पाद आदि तीनों दिखाये हैं, उसीप्रकार सभी द्रव्यों की पर्यायों में देख लेना चाहिये-समझ लेना चाहिये ।

विशेषार्थ :- १- इस गाथा-टीका के निष्कर्ष में 'आचार्य अमृतचन्द्र' लिखते हैं—

"इसलिये आगे -आगे की पर्यायों के उत्पादरूप से, पहले-पहले की पर्यायों के विनाशरूप से और अन्वय के ध्रौव्यरूप से अविनाभावी प्रकाशमान निर्बाध त्रिलक्षणता चिन्हवाले द्रव्य को अवश्य सम्मत करना चाहिये ।"[१]

२.'आचार्य समन्तभद्र' ने उत्पादादि की परस्पर सापेक्षता को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है—

"उत्पाद और व्यय दोनों के हेतु का नियम होने से हेतु का क्षय (पूर्वाकार से विनाश) उत्तराकार रूप से कार्य का उत्पाद है । ये दोनों लक्षण-भेद से कथंचित् भिन्न हैं, परन्तु जाति आदि के अवस्थान रूप से वे भिन्न नहीं हैं, अपितु कथंचित् अभिन्न हैं । यदि उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य परस्पर सापेक्ष न हों तो तीनों ही आकाशपुष्प के समान अवस्तु सिद्ध होंगे ।"[२] ॥ ११० ॥

१- प्रवचनसार, गाथा १००, तत्त्वप्रदीपिका टीका ।

२- आप्त- मीमांसा, परिच्छेद ३, कारिका ५८ ।

अथोत्पादव्ययध्रौव्याणि द्रव्येण सह परस्पराधाराधेयभावत्वादन्वयद्रव्यार्थिकनयेन द्रव्यमेव भवतीत्युपदिशति–

उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया।(१०१)

दव्वे हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं॥ १११॥

उप्पादट्ठिदिभंगा विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्मतत्त्वनिर्विकारस्वसंवेदनज्ञानरूपेणोत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे स्वसंवेदनज्ञानविलक्षणाज्ञानपर्यायरूपेण भंगः, तदुभयाधारात्मद्रव्यत्वावस्थारूपेण स्थितिरित्युक्तलक्षणास्त्रयो भंगाः कर्तारः। *विज्जंते* विद्यन्ते तिष्ठन्ति। केषु। *पज्जएसु* सम्यक्त्वपूर्वकनिर्विकारस्वसंवेदनज्ञानपर्याये तावदुत्पादस्तिष्ठति स्वसंवेदनज्ञानविलक्षणाज्ञानपर्यायरूपेण भंगस्तदुभयाधारात्मद्रव्यत्वावस्थारूपपर्यायेण ध्रौव्यं चेत्युक्तलक्षणस्वकीयस्वकीयपर्यायेषु। *पज्जाया दव्वं हि संति ते* चोक्तलक्षणज्ञानाज्ञानतदुभयाधारात्मद्रव्यत्वावस्थारूपपर्याया हि स्फुटं द्रव्यं सन्ति। *णियदं* निश्चितं प्रदेशाभेदेऽपि स्वकीयस्वकीयसंज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेन। *तम्हा दव्वं हवदि सव्वं* यतो निश्चयाधाराधेयभावेन तिष्ठन्त्युत्पादादयस्तस्मात्कारणादुत्पादादित्रयं स्वसंवेदनज्ञानादिपर्यायत्रयं चान्वयद्रव्यार्थिकनयेन सर्वं द्रव्यं भवति।

अब, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्रव्य के साथ परस्पर आधार-आधेय भावरूप होने के कारण अन्वय-द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य ही हैं, ऐसा उपदेश देते हैं —

उत्पाद व्यय वा ध्रौव्य होते हैं सदा पर्याय में।

पर्याय होती द्रव्य में इससे सभी वे द्रव्य हैं॥ १११॥

गाथार्थ- उत्पाद -व्यय और ध्रौव्य पर्यायों में होते हैं, पर्यायें निश्चित द्रव्य में होती हैं; इसलिए वे सब द्रव्य हैं।

टीकार्थ - *उप्पादट्ठिदिभंगा-* विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाव आत्मतत्त्व का निर्विकार स्वसंवेदन-ज्ञानरूप से उत्पाद, उसी समय स्वंसवेदनज्ञान से विपरीत अज्ञानपर्यायरूप से व्यय तथा उन दोनों के आधारभूत आत्मद्रव्यत्व की अवस्थारूप से स्थिति — इसप्रकार कहे गये लक्षण वाले तीनों भंगरूप कर्ता— इस वाक्य में कर्ता कारक में प्रयुक्त ये तीनों ***विज्जंते-*** होते हैं। ये तीनों किनमें होते हैं ? ***पज्जएसु-*** सम्यक्त्व पूर्वक निर्विकार स्वसंवेदनज्ञानपर्याय में उत्पाद होता है, तब स्वसंवेदनज्ञान से विपरीत अज्ञान पर्यायरूप से व्यय और उन दोनों के आधारभूत आत्मद्रव्यत्व की अवस्थारूप पर्याय से ध्रौव्य— इसप्रकार कहे गये लक्षण वाली अपनी-अपनी पर्यायों में, वे सब रहते हैं। ***पज्जाया दव्वं हि संति*** - वे कहे गये लक्षण वाली ज्ञान, अज्ञान और उन दोनों के आधारभूत आत्मद्रव्यत्व की अवस्थारूप पर्यायें स्पष्ट रूप से द्रव्य हैं। ***णियदं-*** प्रदेशों का अभेद होने पर भी अपने-अपने संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि के भेद से वे वास्तव में द्रव्य हैं। ***तम्हा दव्वं हवदि सव्वं-*** क्योंकि उत्पादादि निश्चय आधार-आधेय भाव से रहते हैं, उस कारण उत्पादादि तीनों और स्वसंवेदनज्ञानादि तीनों पर्यायें—ये सभी अन्वय-द्रव्यार्थिकनय से सर्वद्रव्य हैं।

पूर्वोक्तोत्पादादित्रयस्य तथैव स्वसंवेदनज्ञानादिपर्यायत्रयस्य चानुगताकारेणान्वयरूपेण यदाधारभूतं तदन्वयद्रव्यं भण्यते, तद्विषयो यस्य स भवत्यन्वयद्रव्यार्थिकनयः ।

यथेदं ज्ञानाज्ञानपर्यायद्वये भंगत्रयं व्याख्यातं तथापि सर्वद्रव्यपर्यायेषु यथासंभवं ज्ञातव्यमित्यभिप्रायः ॥ १११ ॥

पूर्वोक्त उत्पादादि तीनों और उसीप्रकार स्वसंवेदनज्ञानादि तीनों पर्यायों का साथ-साथ रहने वाला अन्वयरूप से जो आधारभूत है, वह अन्वय द्रव्य कहा गया है ; वह जिसका विषय होता है, वह अन्वय-द्रव्यार्थिकनय है ।

जैसे यह ज्ञान-अज्ञान दो पर्यायों में (उत्पादादि) तीनों भंगों का व्याख्यान किया गया है, उसीप्रकार सभी द्रव्य -पर्यायों में यथासंभव जानना चाहिये — ऐसा अभिप्राय है ।

विशेषार्थ–१-'आचार्य अमृतचन्द्र' ने गाथागत इस वस्तु-व्यवस्था को न मानने पर आने वाली आपत्तियों को निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया है —

"यदि व्यय, उत्पाद, ध्रौव्य को (पर्यायों का न मानकर) द्रव्य का ही स्वीकार किया जाय तो सब ही विप्लव (विरोध-विनाश) को प्राप्त होता है । वह इसप्रकार—द्रव्य का ही व्यय मानने पर, विनाश लक्षण वाले व्यय से लक्षित सभी द्रव्यों का एक ही समय विनाश हो जाने से, द्रव्य-शून्यता अथवा सत् का उच्छेद हो जायेगा । द्रव्य का ही उत्पाद मानने पर, प्रत्येक समय में होने वाले उत्पाद से चिन्हित द्रव्यों में से, प्रत्येक द्रव्य की अनन्तता तथा असद् का उत्पाद हो जायेगा । द्रव्य का ही ध्रौव्य मानने पर, क्रम से होने वाले भावों का अभाव होने से, द्रव्य का अभाव अथवा क्षणिकता हो जायेगी ।

इसलिए उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के द्वारा पर्यायें आलम्बित हों और पर्यायों के द्वारा द्रव्य आलम्बित हों, जिससे यह सभी एक ही द्रव्य (सिद्ध) होता है ।" [१]

२— इसी वस्तु- व्यवस्था को 'आचार्य समन्तभद्र' ने इसप्रकार व्यक्त किया है—

"प्रगट अन्वयरूप होने से सामान्य स्वरूप में न तो कोई वस्तु उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है, विशेष रूप से वस्तु नष्ट होती है और उत्पन्न होती है । एक वस्तु में एक साथ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य का होना सत् कहलाता है ।" [२] ॥ १११ ॥

---

१. प्रवचनसार, गाथा १०१, तत्त्वप्रदीपिका टीका ।

२- आप्त- मीमांसा, तृतीय परिच्छेद, कारिका ५७ ।

अथोत्पादादीनां पुनरपि प्रकारान्तरेण द्रव्येण सहाभेदं समर्थयति समयभेदं च निराकरोति-

समवेदं खलु दव्वं संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं ।(१०२)

एक्कम्मि चेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं ॥ ११२ ॥

समवेदं खलु दव्वं समवेतमेकीभूतमभिन्नं भवति खलु स्फुटम् । किम् । आत्मद्रव्यम् । कैः सह। *संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं* सम्यक्त्वज्ञानपूर्वकनिश्चलनिर्विकारनिजात्मानुभूतिलक्षणवीतरागचारित्रपर्यायेणोत्पादः तथैव रागादिपरद्रव्यैकत्वपरिणतिरूपाचारित्रपर्यायेण नाशस्तदुभयाधारात्मद्रव्यत्वावस्थारूपपर्यायेण स्थितिरित्युक्तलक्षणसंज्ञित्वोत्पादव्ययध्रौव्यैः सह। तर्हि किं , बौद्धमतवद्भिन्नभिन्न त्रयं भविष्यति । नैवम्। *एक्कम्मि चेव समये* अंगुलिद्रव्यस्य वक्रपर्यायवत्संसारिजीवस्य मरणकाले ऋजुगतिवत् क्षीणकषायचरमसमये केवलज्ञानोत्पत्तिवदयोगिचरमसमये मोक्षवच्चेत्येकस्मिन्समय एव । *तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं* यस्मात्पूर्वोक्तप्रकारेणैकसमये भंगत्रयेण परिणमति तस्मात्संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि प्रदेशानामभेदात्त्रयमपि खु स्फुटं द्रव्यं भवति ।

अब, और भी दूसरी पद्धति से द्रव्य के साथ उत्पादि के अभेद का समर्थन करते हैं और समय-भेद का निराकरण करते हैं —

अभिन्न निश्चित ध्रौव्य व्यय उत्पाद अर्थों से सदा ।
है द्रव्य एक ही काल में इससे त्रितय तन्मय कहा ॥ ११२ ॥

गाथार्थ- द्रव्य एक ही समय में उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य नामक अर्थों के साथ वास्तव में तादात्म्य सहित संयुक्त (एकमेक) है, इसलिये यह (उत्पादादि) त्रितय वास्तव में द्रव्य है ।

टीकार्थ— ***समवेदं खुल दव्वं-*** स्पष्ट रूप से एकीभूत—अभिन्न है । अभिन्न कौन है ? आत्मद्रव्य अभिन्न है । आत्मद्रव्य किनके साथ (किनसे) अभिन्न है ? ***संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं-*** सम्यक्त्व, ज्ञान पूर्वक निश्चल निर्विकार निजात्मानुभूतिलक्षण वीतराग चारित्र पर्यायरूप से उत्पाद, उसीप्रकार रागादि परद्रव्यों के साथ एकत्व परिणतिरूप चारित्रपर्याय से नाश और उन दोनों के आधारभूत आत्मद्रव्यत्व की अवस्थितिरूप पर्याय से स्थिति—ध्रौव्य—इसप्रकार कहे गये लक्षण और नाम वाले उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के साथ आत्मद्रव्य अभिन्न है । तो क्या बौद्धमत के समान भिन्न-भिन्न समय में तीन होते होगें ? (परन्तु) ऐसा नहीं है । ***एक्कम्मि चेव समये-*** अंगुलि द्रव्य की वक्र (टेढी) पर्याय के समान, संसारी जीव की मरण समय में ऋजुगति के समान, क्षीणकषाय (१२ वें गुणस्थान) के अन्तिम समय में केवलज्ञान की उत्पत्ति के समान और अयोगी (१४ वें गुणस्थान) के अन्तिम समय में मोक्ष के समान एक समय में ही उत्पादादि तीनों आत्मद्रव्य में होते हैं । ***तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं*** - क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार से एक समय में तीनों भंग रूप से परिणमित होता है; इसलिये संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा भेद होने पर भी प्रदेशों का अभेद होने से तीनों ही स्पष्ट रूप से द्रव्य हैं ।

यथेदं चारित्राचारित्रपर्यायद्वये भंगत्रयमभेदेन दर्शितं तथा सर्वद्रव्यपर्यायेष्ववबोद्धव्यमित्यर्थः ॥ ११२ ॥

एवमुत्पादव्ययध्रौव्यरूपलक्षणव्याख्यानमुख्यतया गाथात्रयेण तृतीयस्थलं गतम् ।

अथ द्रव्यपर्यायेणोत्पादव्ययध्रौव्याणि दर्शयति –

पाडुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो ।(१०३)

दव्वस्स तं पि दव्वं णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं ॥ ११३ ॥

पाडुब्भवदि य प्रादुर्भवति च जायते । *अण्णो* अन्यः कश्चिदपूर्वानन्तज्ञानसुखादिगुणास्पदभूतः शाश्वतिकः । स कः । *पज्जाओ* परमात्मावाप्तिरूपः स्वभावद्रव्यपर्यायः । *पज्जओ वयदि अण्णो* पर्यायो व्येति विनश्यति । कथंभूतः । अन्यः पूर्वोक्तमोक्षपर्यायाद्भिन्नो निश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपस्यैव मोक्षपर्यायस्योपादानकारणभूतः । कस्य संबन्धी पर्यायः । *दव्वस्स* परमात्मद्रव्यस्य । *तं पि दव्वं* तदपि परमा-

---

जैसे यह तीन भंग चारित्र और अचारित्र दो पर्यायों में अभेद रूप से दिखाये हैं, उसीप्रकार सभी द्रव्यों में जान लेना चाहिये — ऐसा अर्थ है ॥ ११२ ॥

विशेषार्थ–'आचार्य अमृतचन्द्र' ने उत्पादादि में समय-भेद सम्बन्धी मान्यता को निम्नलिखित रूप में निराकृत किया है–

"यदि द्रव्य स्वयं उत्पादादि रूप होता, तो समय-भेद की संभावना थी, परन्तु उत्पादादि द्रव्य में नहीं वरन् पर्याय में होते हैं ; अतः एक ही समय में तीनों की उपस्थिति विरुद्ध नहीं है ।"

तदनन्तर रामपात्र (विशेष आकार वाली मिट्टी की तश्तरी), मिट्टी पिण्ड और मिट्टी के उदाहरण द्वारा उत्पादादि तीनों में समय-भेद का अभाव तथा द्रव्य के साथ अभेदता सिद्ध की है[1] ॥ ११२ ॥

इसप्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप लक्षण के व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथाओं द्वारा तीसरा स्थल समाप्त हुआ ।

(अब,द्रव्य पर्याय- गुण पर्याय निरूपक दो गाथाओं में निबद्ध चौथा स्थल प्रारम्भ होता है ।)

अब, द्रव्यपर्याय द्वारा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य दिखाते हैं —

उत्पन्न होती अन्य पर्यय नष्ट होती अन्य है ।

हैं द्रव्य की ही द्रव्य पर न नष्ट न उत्पन्न है ॥ ११३ ॥

गाथार्थ – द्रव्य की अन्य पर्याय उत्पन्न होती है और कोई अन्य पर्याय नष्ट होती है, फिर भी द्रव्य न तो नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है ।

टीकार्थ- ***पाडुब्भवदि य***-और उत्पन्न होती है । ***अण्णो***-शाश्वत रहने वाली (वैसी की वैसी रहने वाली) कोई नवीन अनन्त ज्ञान- सुखादि गुणों की स्थानभूत दूसरी । वह दूसरी कौन है ? ***पज्जाओ***-परमात्मा (दशा) की प्राप्ति रूप स्वभाव-द्रव्यपर्याय । ***पज्जओ वयदि अण्णो***-पर्याय नष्ट होती है । कैसी पर्याय नष्ट होती है ? पूर्वोक्त मोक्षपर्याय से भिन्न निश्चय रत्नत्रय स्वरूप निर्विकल्प समाधिरूप मोक्षपर्याय की उपादानकारणभूत पर्याय नष्ट होती है । वह पर्याय किस सम्बन्धी—किसकी है ? ***दव्वस्स***– परमात्मद्रव्य की वह पर्याय है । ***तं पि***

---

१ प्रवचनसार, गाथा १०२, तत्त्व प्रदीपिका टीका (हिन्दी सार) ।

-त्मद्रव्यं *णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं* शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन नैव नष्टं न चोत्पन्नम् ।

अथवा संसारिजीवापेक्षया देवादिरूपो विभावद्रव्यपर्यायो जायते मनुष्यादिरूपो विनश्यति तदेव जीवद्रव्यं निश्चयेन न चोत्पन्नं न च विनष्टं, पुद्‌गलद्रव्यं वा द्व्यणुकादिस्कन्धरूपस्वजातीयविभावद्रव्यपर्यायाणां विनाशोत्पादेऽपि निश्चयेन न चोत्पन्नं न च विनष्टमिति ।

ततः स्थितं यतः कारणादुत्पादव्ययध्रौव्यरूपेण द्रव्यपर्यायाणां विनाशोत्पादेऽपि द्रव्यस्य विनाशो नास्ति, ततः कारणाद्द्रव्यपर्याया अपि द्रव्यलक्षणं भवन्तीत्यभिप्रायः ॥ ११३ ॥

अथ द्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्याणि गुणपर्यायमुख्यत्वेन प्रतिपादयति—

परिणमदि सयं दव्वं गुणदो य गुणंतरं सदविसिट्ठं ।(१०४)

तम्हा गुणपज्जाया भणिया पुण दव्वमेव त्ति ॥ ११४ ॥

दव्वं - तो भी परमात्मद्रव्य *णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं* - शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से न तो नष्ट होता है और न उत्पन्न ही होता है ।

अथवा संसारीजीव की अपेक्षा देवादिरूप विभाव-द्रव्यपर्याय उत्पन्न होती है, मनुष्यादिरूप पर्याय नष्ट होती है और वह जीवद्रव्य निश्चय से न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है, अथवा पुद्‌गलद्रव्य द्व्यणुकादि स्कन्ध रूप स्वजातीय-विभाव-द्रव्यपर्यायों के नष्ट और उत्पन्न होने पर भी निश्चय से उत्पन्न और विनष्ट नहीं होता है ।

इससे यह फलित हुआ कि जिस कारण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप से द्रव्यपर्यायों का विनाश और उत्पाद होने पर भी द्रव्य का विनाश नहीं होता है, उस कारण द्रव्यपर्यायें भी द्रव्य का लक्षण होती हैं—यह अभिप्राय है ।

विशेषार्थ - 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने इस गाथा-टीका में समानजातीय और असमानजातीय द्रव्यपर्यायों के माध्यम से इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुये निष्कर्ष रूप में निम्न वाक्य लिखा है—

"इसप्रकार स्वयं से (द्रव्यरूप से) ध्रुव और द्रव्यपर्याय की अपेक्षा उत्पाद-व्यय —इसप्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप द्रव्य है" [१] ॥ ११३ ॥

अब, द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य गुणपर्याय की मुख्यता से प्रतिपादित करते हैं —

अभिन्न है सत् से स्वयं गुण से गुणांतर परिणमित ।

है द्रव्य, गुणपर्याय इससे द्रव्य ही जिनवर कथित ॥ ११४ ॥

गाथार्थ – अपनी सत्ता से अभिन्न द्रव्य स्वयं गुण से गुणान्तर रूप परिणमित होता है, इसलिये गुणपर्यायें द्रव्य ही कही गई हैं ।

---

१. प्रवचनसार, गाथा १०३, तत्त्व प्रदीपिका टीका, अन्तिम वाक्य ।

परिणमदि सयं दव्वं परिणमति स्वयं स्वयमेवोपादानकारणभूतं जीवद्रव्यं कर्तृ । कं परिणमति । *गुणदो य गुणंतरं* निरुपरागस्वसंवेदनज्ञानगुणात् केवलज्ञानोत्पत्तिबीजभूतात्सकाशात्सकलविमलकेवलज्ञान-गुणान्तरम् । कथंभूतं सत्परिणमति । *सदविसिट्ठं* स्वकीयस्वरूपत्वाच्चिद्रूपास्तित्वादविशिष्टमभिन्नम् । *तम्हा गुणपज्जाया भणिया पुण दव्वमेव 'त्ति'* तस्मात् कारणान्न केवलं पूर्वसूत्रोदिताः द्रव्यपर्यायाः द्रव्यं भवन्ति, गुणरूपपर्याया गुणपर्याया भण्यन्ते तेऽपि द्रव्यमेव भवन्ति ।

अथवा संसारिजीवद्रव्यं मतिस्मृत्यादिविभावगुणं त्यक्त्वा श्रुतज्ञानादिविभावगुणान्तरं परिणमति, पुद्गलद्रव्यं वा पूर्वोक्तशुक्लवर्णादिगुणं त्यक्त्वा रक्तादिगुणान्तरं परिणमति, हरितगुणं त्यक्त्वा पाण्डुरगुणान्त-रमाम्रफलमिवेति भावार्थः ॥ ११४ ॥

एवं स्वभावविभावरूपा द्रव्यपर्याया गुणपर्यायाश्च नयविभागेन द्रव्यलक्षणं भवन्ति इति कथनमुख्यतया गाथाद्वयेन चतुर्थस्थलं गतम् ।

अथ सत्ताद्रव्ययोरभेदविषये पुनरपि प्रकारान्तरेण युक्तिं दर्शयति –

ण हवदि जदि सद्दव्वं असद्धुवं हवदि तं कहं दव्वं ।(१०५)

हवदि पुणो अण्णं वा तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥ ११५ ॥

टीकार्थ– ***परिणमदि सयं दव्वं***–स्वयं ही उपादानकारणभूत जीवद्रव्यरूप कर्ता परिणमित होता है । जीवद्रव्य किस रूप परिणमित होता है ? *गुणदो य गुणंतरं*- केवलज्ञान की उत्पत्ति के बीजभूत उपराग रहित –वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान गुण से परिपूर्ण निर्मल केवलज्ञान गुण स्वरूप दूसरी पर्यायरूप परिणमित होता है । सत् कैसा होता हुआ परिणमित होता है ? *सदविसिट्ठं*– अपने स्वरूप चैतन्यरूप अस्तित्व से अविशिष्ट–अभिन्न होता हुआ परिणमित होता है । ***तम्हा गुण पज्जाया भणिया पुण दव्वमेव त्ति***–इस कारण न केवल पूर्व गाथा (गाथा नं. ११३) में कही हुई द्रव्यपर्यायें द्रव्य हैं, वरन् गुणरूप पर्यायें–गुणपर्यायें कहलाती हैं, वे भी द्रव्य ही हैं ।

अथवा संसारीजीवद्रव्य मति-स्मृति आदि विभावगुणों को छोड़कर श्रुतज्ञानादि दूसरे विभावगुण रूप परिणमित होता है, अथवा पुद्गलद्रव्य हरे गुण को छोड़कर दूसरे पीले गुण रूप बदलने वाले आम्रफल (आम) के समान पूर्वोक्त सफेद रंग आदि गुणों को छोड़कर लाल आदि दूसरे गुण रूप परिणमित होता है– यह गाथा का भाव है ॥ ११४ ॥

इसप्रकार स्वभाव-विभाव रूप द्रव्यपर्यायें और गुणपर्यायें नय –विभाग से द्रव्य का लक्षण हैं – इस कथन की मुख्यता वाली दो गाथाओं द्वारा चौथा स्थल पूर्ण हुआ ।

(अब, सत्ता-द्रव्य के अभेद विषय में युक्ति परक चार गाथाओं में निबद्ध पाँचवा स्थल प्रारम्भ होता है ।)

अब , सत्ता और द्रव्य के अभेद विषय में और भी दूसरी पद्धति से युक्ति दिखाते हैं –

यदि द्रव्य सत् न हो कहो तो असत् कैसे द्रव्य हो ?

या भिन्न हो सत् से अतः स्वयमेव सत्मय द्रव्य हो ॥ ११५ ॥

ण हवदि जदि सद्दव्वं परमचैतन्यप्रकाशरूपेण स्वरूपेण स्वरूपसत्तास्तित्वगुणेन यदि चेत् सन्न भवति । किं कर्तृ । परमात्मद्रव्यं । तदा *असद्धुवं होदि* असदविद्यमानं भवति ध्रुवं निश्चितम् । अविद्यमानं सत् *तं कहं दव्वं* तत्परमात्मद्रव्यं कथं भवति, किंतु नैव । स च प्रत्यक्षविरोधः । कस्मात् । स्वसंवेदनज्ञानेन गम्यमानत्वात् ।

अथाविचारितरमणीयन्यायेन सत्तागुणाभावेऽप्यस्तीति चेत्, तत्र विचार्यते-यदि केवलज्ञानदर्शन-गुणाविनाभूतस्वकीयस्वरूपास्तित्वात्पृथग्भूता तिष्ठति तदा स्वरूपास्तित्वं नास्ति, स्वरूपास्तित्वाभावे द्रव्यमपि नास्ति । अथवा स्वकीयस्वरूपास्तित्वात्संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि प्रदेशरूपेणाभिन्नं तिष्ठति तदा संमतमेव ।

अत्रावसरे सौगतमतानुसारी कश्चिदाह – सिद्धपर्यायसत्तारूपेण शुद्धात्मद्रव्यमुपचारेणास्ति, न च मुख्यवृत्त्येति ।

परिहारमाह – सिद्धपर्यायोपादानकारणभूतपरमात्मद्रव्याभावे सिद्धपर्यायसत्तैव न संभवति, वृक्षाभावे फलमिव ।

गाथार्थ–यदि द्रव्य सत् नहीं होगा, तो निश्चित असत् होगा और जो असत् होगा, वह द्रव्य कैसे होगा ? और यदि वह सत्ता से भिन्न है, तो भी द्रव्य कैसे होगा; इसलिये द्रव्य स्वयं ही सत्ता है ।

टीकार्थ–***ण हवदि जदि सद्दव्वं***-परमचैतन्य प्रकाश रूप, स्वरूप-सत्तामय अस्तित्वगुण के द्वारा यदि सत् नहीं है । कर्तारूप कौन सत् नहीं है ? परमात्मद्रव्य सत् नहीं है । *तब **असद्धुवं होदि***- परमात्मद्रव्य निश्चित असत् होगा । असत् होता हुआ ***तं कहं दव्वं***- वह परमात्मद्रव्य कैसे होगा ? अपितु नहीं होगा । और परमात्मद्रव्य का सत् द्रव्य नहीं होना प्रत्यक्ष-विरुद्ध है । उसका सत् द्रव्य नहीं होना प्रत्यक्ष-विरुद्ध कैसे है ? स्वसंवेदनज्ञान से ज्ञात होने के कारण परमात्मद्रव्य को सत् नहीं मानना प्रत्यक्ष-विरुद्ध है ।

अब, अविचारितरमणीय न्याय से (विचार नहीं करने पर सुन्दर प्रतीत होने वाले न्याय से) सत्तागुण का अभाव होने पर भी वह रहता है; यदि ऐसा माना जाये, तो वहाँ विचार करते हैं — यदि द्रव्य केवलज्ञानदर्शनगुण के अविनाभावि अपने स्वरूपास्तित्व से पृथक् रहता है, तो स्वरूपास्तित्व नहीं बनेगा और स्वरूपास्तित्व के अभाव में द्रव्य भी सिद्ध नहीं होगा । अथवा, अपने स्वरूपास्तित्व से संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि का भेद होने पर भी यदि प्रदेश रूप से अभिन्न रहता है, तो वह स्वीकृत ही है ।

इस प्रसंग में बौद्धमत का अनुसरण करने वाला कोई कहता है — सिद्धपर्याय की सत्तारूप से शुद्धात्मद्रव्य उपचार से है, मुख्यरूप से नहीं है ।

आचार्य उसका निराकरण करते हैं — वृक्ष के अभाव में फल के अभाव के समान, सिद्धपर्याय के उपादानकारणभूत परमात्मद्रव्य के अभाव में, सिद्धपर्याय की सत्ता ही संभव नहीं है; अतः वहाँ शुद्धात्मद्रव्य मुख्यरूप से ही है, उपचार से नहीं ।

अत्र प्रस्तावे नैयायिकमतानुसारी कश्चिदाह-*हवदि पुणो अण्णं* वा तत्परमात्मद्रव्यं भवति पुनः किंतु सत्तायाः सकाशादन्यद्भिन्नं भवति पश्चात्सत्तासमवायात्सद्भवति ।

आचार्याः परिहारमाहुः– सत्तासमवायात्पूर्वं द्रव्यं सदसद्वा, यदि सत्तदा सत्तासमवायो वृथा, पूर्वमेवास्तित्वं तिष्ठति ; अथासत्तर्हि खपुष्पवदविद्यमानद्रव्येण सह कथं सत्ता समवायं करोति, करोतीति चेत्तर्हि खपुष्पेणापि सह सत्ता कर्तृ समवायं करोतु, न च तथा । *तम्हा दव्वं सयं सत्ता* तस्मादभेदनयेन शुद्धचैतन्यस्वरूपसत्तैव परमात्मद्रव्यं भवतीति।

यथेदं परमात्मद्रव्येण सह शुद्धचेतनासत्ताया अभेदव्याख्यानं कृतं तथा सर्वेषां चेतनाचेतनद्रव्याणां स्वकीयस्वकीयसत्तया सहाभेदव्याख्यानं कर्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ ११५ ॥

अथ पृथक्त्वलक्षणं किमन्यत्वलक्षणं च किमिति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति–

पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स ।(१०६)

अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं होदि कधमेगं॥ ११६ ॥

पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तं पृथक्त्वं भवति पृथक्त्वाभिधानो भेदो भवति । किंविशिष्टम् । प्रकर्षेण विभक्त-प्रदेशत्वं भिन्नप्रदेशत्वम् । किंवत् । दण्डदण्डिवत् । इत्थंभूतं पृथक्त्वं शुद्धात्मद्रव्यशुद्धसत्तागुणयोर्न घटते । कस्माद्धेतोः । भिन्नप्रदेशाभावात् । कयोरिव । शुक्लवस्त्रशुक्लगुणयोरिव । *इदि सासणं हि वीरस्स* इति

इस प्रसंग में नैयायिकमत का अनुसरण करने वाला कोई कहता है — *हवदि पुणो अण्णं वा*–वह परमात्मद्रव्य है, किन्तु सत्ता से भिन्न है, बाद में सत्ता के साथ समवाय से सत् है ।

आचार्य निराकरण करते हुये कहते हैं कि सत्ता के समवाय से पहले द्रव्य सत् था अथवा असत् ? यदि पहले से ही सत् था तो सत्ता का समवाय व्यर्थ है, पहले से ही अस्तित्व विद्यमान है, और यदि पहले असत् था तो आकाश-कुसुम के समान अभाव रूप द्रव्य के साथ सत्ता समवाय कैसे करती है ? यदि करती है तो आकाश-कुसुम के साथ भी कर्तारूप सत्ता समवाय को करे ? परन्तु वैसा तो नहीं करती । *तम्हा दव्वं सयं सत्ता* –इसलिये अभेदनय से शुद्धचैतन्यस्वरूपसत्ता ही परमात्मद्रव्य है ।

यह जैसे परमात्मद्रव्य के साथ शुद्धचेतना सत्ता का अभेद व्याख्यान किया, उसी प्रकार सभी चेतन-अचेतन द्रव्यों का अपनी-अपनी सत्ता के साथ अभेद व्याख्यान करना चाहिये — यह अभिप्राय है ॥ ११५ ॥

अब, पृथक्त्व का लक्षण क्या है ? और अन्यत्व का लक्षण क्या है ? ऐसा पूछे जाने पर उत्तर देते हैं —

है भिन्न-भिन्न प्रदेशता, पृथक्त्व है, तद्भाव ना।

अन्यत्व है, जिन कहें, कैसे एक हों तद्भाव ना ? ॥ ११६ ॥

गाथार्थ - भिन्न-भिन्न प्रदेशता पृथक्त्व और अतद्भाव (उस रूप नहीं होना) अन्यत्व है, जो उस रूप न हो वह एक कैसे हो सकता है ? ऐसा भगवान महावीर का उपदेश है ।

टीकार्थ – ***पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तं***- पृथक्त्व नामक भेद है । वह पृथक्त्व भेद किस विशेषता वाला है ? विशेष रूप से प्रदेशों की भिन्नता वाला है । किसके समान विशेष रूप से प्रदेशभिन्नता वाला है ? दण्ड और दण्डी के समान विशेष रूप से प्रदेशभिन्नता वाला है । इसप्रकार का पृथक्त्व शुद्धात्मद्रव्य और शुद्धसत्तागुण में घटित नहीं होता है । उन दोनों में यह भेद क्यों नहीं घटित होता है ?

शासनमुपदेश आज्ञेति । कस्य । वीरस्य वीराभिधानान्तिमतीर्थकरपरमदेवस्य । *अण्णत्तं* तथापि प्रदेशाभेदेऽपि मुक्तात्मद्रव्यशुद्धसत्तागुणयोरन्यत्वं भिन्नत्वं भवति। कथंभूतम्। *अतब्भावो* अतद्भावरूपं संज्ञालक्षण-प्रयोजनादिभेदस्वभावम् ।

यथा प्रदेशरूपेणाभेदस्तथा संज्ञादिलक्षणरूपेणाप्यभेदो भवतु, को दोष इति चेत् । नैवम् । *ण तब्भवं होदि* तन्मुक्तात्मद्रव्यं शुद्धात्मसत्तागुणेन सह प्रदेशाभेदेऽपि संज्ञादिरूपेण तन्मयं न भवति। *कथमेगं* तन्मयत्वं हि किलैकत्वलक्षणं । संज्ञादिरूपेण तन्मयत्वाभावे कथमेकत्वं, किंतु नानात्वमेव।

यथेदं मुक्तात्मद्रव्ये प्रदेशाभेदेऽपि संज्ञादिरूपेण नानात्वं कथितं तथैव सर्वद्रव्याणां स्वकीयस्वकीयस्वरूपास्तित्वगुणेन सह ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥ ११६ ॥

उन दोनों में भिन्न-भिन्न प्रदेशों का अभाव होने से वह भेद घटित नहीं होता है । किनके समान उनमें यह घटित नहीं होता है ? सफेदवस्त्र और सफेदगुण के समान उनमें यह भेद घटित नहीं होता है । ***इदि सासणं हि वीरस्स***- इसप्रकार शासन—उपदेश — आदेश है । ऐसा किसका उपदेश — आदेश है ? वीर नामक अन्तिम तीर्थंकर परमदेव का यह उपदेश— आदेश है । ***अण्णत्तं***- मुक्तात्मद्रव्य और शुद्धसत्तागुण के प्रदेशों का अभेद होने पर भी अन्यता-भिन्नता है । उन दोनों में अन्यत्व कैसा है ? ***अतब्भावो***- संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि भेद — भिन्न स्वभाव रूप अतद्भाव रूप अन्यत्व है ।

जैसे प्रदेशों की अपेक्षा अभेद है, वैसे ही संज्ञादि लक्षणरूप से भी अभेद हो — क्या दोष है ? यदि ऐसा प्रश्न हो तो आचार्य उत्तर देते हैं — ऐसा नहीं है । ***ण तब्भवं होदि***—वह मुक्तात्मद्रव्य शुद्धात्मसत्तागुण के साथ प्रदेशों का अभेद होने पर भी संज्ञादि रूप से तन्मय नहीं है । ***कधमेगं***—वास्तव में तन्मयता ही एकता का लक्षण है । संज्ञादि रूप से तन्मयता के अभाव में एकता कैसे हो सकती है ? अपितु भिन्नता ही है ।

जैसे यह मुक्तात्मद्रव्य में प्रदेश अभेद होने पर भी, संज्ञादि रूप से भिन्नता कही गई है; उसीप्रकार सभी द्रव्यों की, अपने-अपने स्वरूपास्तित्वगुण के साथ जानना चाहिये — यह अर्थ है ।

भावार्थ - जिसप्रकार सफेदवस्त्र और उसकी सफेदी में, दण्ड-दण्डी के समान प्रदेशभेद नहीं होने से, प्रदेशभिन्नता वाला पृथक्त्व नहीं है, उसीप्रकार शुद्धात्मद्रव्य और शुद्धसत्तागुण में, प्रदेशभेद नहीं होने से, प्रदेश-भिन्नता वाला पृथक्त्व नहीं है—ऐसा अंतिम तीर्थंकर परमदेव महावीर भगवान का उपदेश—आदेश है । तथापि शुद्धात्मद्रव्य और शुद्धसत्तागुण में संज्ञा, लक्षण, प्रयोजनादि की अपेक्षा भेद होने से भिन्न-स्वभावी अतद्भाव रूप अन्यत्व पाया जाता है ।

इसप्रकार प्रदेशों की अपेक्षा अभेद होने पर भी, संज्ञादि कृत भेद होने से, उनमें तन्मयता लक्षण एकत्व नहीं है अर्थात् शुद्धात्मद्रव्य और शुद्धसत्तागुण में कथंचित् भेदाभेद है ।

इसप्रकार जैसे शुद्धात्मद्रव्य और शुद्धसत्तागुण में प्रदेशभिन्नतारूप पृथक्त्व का निषेध कर तथा परस्पर में संज्ञादि भेद बताकर, उनका कथंचित् भेदाभेद-स्वरूप प्रतिपादित किया है, उसीप्रकार अपने-अपने स्वरूपास्तित्व के साथ सभी द्रव्यों में समझ लेना चाहिये ।

अथातद्भावं विशेषेण विस्तार्य कथयति–

सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ त्ति वित्थारो।(१०७)

जो खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतब्भावो ॥ ११७ ॥

सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ त्ति वित्थारो सद्द्रव्यं संश्च गुणः संश्चैव पर्याय इति सत्तागुणस्य द्रव्यगुणपर्यायेषु विस्तारः । तथा हि - यथा मुक्ताफलहारे सत्तागुणस्थानीयो योऽसौ शुक्लगुणः स प्रदेशाभेदेन किं किं भण्यते । शुक्लो हार इति शुक्लं सूत्रमिति शुक्लं मुक्ताफलमिति भण्यते, यश्च हारः सूत्रं मुक्ताफलं वा तैस्त्रिभिः प्रदेशाभेदेन शुक्लो गुणो भण्यत इति तद्भावस्य लक्षणमिदम् ।

तद्भावस्येति कोऽर्थः । हारसूत्रमुक्ताफलानां शुक्लगुणेन सह तन्मयत्वं प्रदेशाभिन्नत्वमिति ।

तथा मुक्तात्मपदार्थे योऽसौ शुद्धसत्तागुणः स प्रदेशाभेदेन किं किं भण्यते । सत्तालक्षणः परमात्मपदार्थ इति सत्तालक्षणः केवलज्ञानादिगुण इति सत्तालक्षणः सिद्धपर्याय इति भण्यते । यश्च परमात्मपदार्थः केवलज्ञानादिगुणः सिद्धत्वपर्याय इति तैश्च त्रिभिः (प्रदेशाभेदेन ?) शुद्धसत्तागुणो भण्यत इति तद्भावस्य लक्षणमिदम् ।

विशेषार्थ-गुण और गुणी के भेदाभेद स्वरूप को 'आचार्य समन्तभद्र' ने निम्नप्रकार व्यक्त किया है—

"द्रव्य और पर्याय (सहभावीपर्याय—गुण और क्रमभावी पर्याय—पर्याय)—दोनों में अभिन्नता होने से उन दोनों में एकता है तथा परिणामविशेष से , शक्तिमान् और शक्ति भाव के भेद से, संज्ञा और संख्या के भेद से, अपने लक्षण के भेद से और प्रयोजनादि के भेद से उनमें भिन्नता है; परन्तु यह एकता और भिन्नता सर्वथा नहीं वरन् कथंचित् है"[१] ॥ ११६ ॥

अब, अतद्भाव को विशेषरूप से विस्तृत कर कहते हैं—

सत् द्रव्य सत् पर्याय सत् गुण सत्त्व का विस्तार है ।

अन्यान्य जो उस रूप ना तदभाव वाऽतद्भाव है ॥ ११७ ॥

गाथार्थ— सत् द्रव्य, सत् गुण और सत् पर्याय— इसप्रकार सत् का विस्तार है । (उनमें) वास्तव में जो उसका—उसरूप होने का अभाव है,वह तदभाव — अतद्भाव है ।

टीकार्थ— ***सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ त्ति वित्थारो***- सत् द्रव्य, सत् गुण और सत् ही पर्याय—इसप्रकार द्रव्य, गुण, पर्यायों में सत्तागुण का विस्तार है । वह इसप्रकार— जैसे मोतियों के हार में सत्तागुण के स्थान पर—जो वहाँ सफेद गुण है,वह प्रदेशों का अभेद होने से क्या-क्या कहा जाता है ? वह सफेद हार, सफेद सूत्र (धागा), सफेद मोती— ऐसा कहा जाता है, और जो हार, सूत्र तथा मोती हैं — ये तीनों, तीनों के साथ (परस्पर) प्रदेशों का अभेद होने से,सफेद गुण कहे जाते हैं — इसप्रकार यह तद्भाव का लक्षण है ।

तद्भाव का क्या अर्थ है ? हार, सूत्र और मोतियों की सफेद गुण के साथ तन्मयता— प्रदेशों की अभिन्नता— एकता तद्भाव का अर्थ है ।

उसीप्रकार मुक्तात्मपदार्थ(सिद्धभगवान) में जो वह शुद्ध सत्तागुण है, वह प्रदेशों का अभेद होने से क्या-क्या कहा जाता है ? वह सत्ता लक्षण परमात्मपदार्थ, सत्ता लक्षण केवलज्ञानादिगुण, सत्ता लक्षण सिद्धपर्याय—ऐसा कहा जाता है । और जो परमात्मपदार्थ, केवलज्ञानादिगुण और सिद्धत्वपर्याय है — ये तीनों (परस्पर) तीनों के साथ (प्रदेशों का अभेद होने से) शुद्धसत्तागुण कहे जाते हैं—इसप्रकार यह तद्भाव का लक्षण है ।

१-आप्तमीमांसा, चतुर्थ परिच्छेद, कारिका ७१-७२।

तद्भावस्येति कोऽर्थः । परमात्मपदार्थकेवलज्ञानादिगुणसिद्धत्वपर्यायाणां शुद्धसत्तागुणेन सह संज्ञादिभेदेऽपि प्रदेशैस्तन्मयत्वमिति ।

जो खलु तस्स अभावो यस्तस्य पूर्वोक्तलक्षणतद्भावस्य खलु स्फुटं संज्ञादिभेदविवक्षायामभावः *सो तदभावो* स पूर्वोक्तलक्षणस्तदभावो भण्यते । स च तदभावः किं भण्यते । *अतब्भावो* न तद्भावस्तन्मयत्वम् किंच अतद्भावः संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदः इत्यर्थः ।

तद्यथा- यथा मुक्ताफलहारे योऽसौ शुक्लगुणस्तद्वाचकेन शुक्लमित्यक्षरद्वयेन हारो वाच्यो न भवति सूत्रं वा मुक्ताफलं वा, हारसूत्रमुक्ताफलशब्दैश्च शुक्लगुणो वाच्यो न भवति । एवं परस्परं प्रदेशाभेदेऽपि योऽसौ संज्ञादिभेदः स तस्य पूर्वोक्तलक्षणतद्भावस्याभावस्तदभावो भण्यते । स च तदभावः पुनरपि किं भण्यते । अतद्भावः संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेद इति ।

तथा मुक्तजीवे योऽसौ शुद्धसत्तागुणस्तद्वाचकेन सत्ताशब्देन मुक्तजीवो वाच्यो न भवति केवलज्ञानादिगुणो वा सिद्धपर्यायो वा, मुक्तजीवकेवलज्ञानादिगुणसिद्धपर्यायशब्दैश्च शुद्धसत्तागुणो वाच्यो न भवति । इत्येवं परस्परं प्रदेशाभेदेऽपि योऽसौ संज्ञादिभेदः स तस्य पूर्वोक्तलक्षणतद्भावस्याभावस्तदभावो भण्यते । स च तदभावः पुनरपि किं भण्यते । अतद्भावः संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेद इत्यर्थः ।

यथात्र शुद्धात्मनि शुद्धसत्तागुणेन सहाभेदः स्थापितस्तथा यथासंभवं सर्वद्रव्येषु ज्ञातव्य इत्यभिप्रायः ॥ ११७ ॥

तद्भाव का क्या अर्थ है ? परमात्मपदार्थ, केवलज्ञानादिगुण, सिद्धत्वपर्यायों का शुद्धसत्तागुण के साथ संज्ञादि भेद होने पर भी प्रदेशों के साथ तन्मयता तद्भाव का अर्थ है ।

जो खलु तस्स अभावो–जो इस पूर्वोक्त लक्षण तद्भाव का स्पष्ट रूप से संज्ञादि भेद की विवक्षा में अभाव है ***सो तदभावो***- वह पूर्वोक्त लक्षण तदभाव कहा जाता है । वह तदभाव क्यों कहा जाता है ? ***अतब्भावो***–तद्भाव नहीं है, तन्मयता नहीं है अथवा अतद्भाव है अर्थात् संज्ञा, लक्षण, प्रयोजनादिकृत भेद है — यह अर्थ है ।

वह इसप्रकार—जैसे मोतियों के हार में जो वह सफेदगुण है, उसके वाचक शुक्ल (सफेद) — इन दो अक्षरों द्वारा हार वाच्य नहीं होता है, सूत्र अथवा मोती भी वाच्य नहीं होते हैं; तथा हार, सूत्र और मोतियों के वाचक शब्दों द्वारा सफेद गुण वाच्य नहीं होता है । इसप्रकार परस्पर प्रदेशों का अभेद होने पर भी जो वह संज्ञादि भेद है, वह उस पूर्वोक्त लक्षण तद्भाव का अभाव (होने से) तद्भाव कहलाता है । वह तदभाव और भी क्या कहलाता है ? वह अतद्भाव, संज्ञा-लक्षण-प्रयोजनादिकृत भेद भी कहलाता है ।

उसीप्रकार मुक्तजीव में जो वह शुद्धसत्तागुण है, उसके वाचक सत्ताशब्द द्वारा मुक्तजीव वाच्य नहीं होते हैं, अथवा केवलज्ञानादिगुण और सिद्धपर्यायें भी वाच्य नहीं होती हैं; मुक्तजीव, केवलज्ञानादिगुण और सिद्धपर्याय शब्दों द्वारा भी शुद्धसत्तागुण वाच्य नहीं होता है । इसप्रकार परस्पर प्रदेशों का अभेद होने पर भी जो वह संज्ञादि भेद है, वह उस पूर्वोक्त लक्षण तद्भाव का अभाव–तदभाव कहलाता है । और वह तदभाव और भी क्या कहलाता है ? अतद्भाव, संज्ञा-लक्षण-प्रयोजन आदि कृत भेद इत्यादि कहलाता है—यह अर्थ है ।

जैसे यहाँ शुद्धात्मा में शुद्धसत्तागुण के साथ अभेद स्थापित किया है, उसीप्रकार यथासंभव सभी द्रव्यों में जानना चाहिये— यह अभिप्राय है ।

भावार्थ—द्रव्य-गुण-पर्याय— तीनों एक सत् का ही विस्तार होने से, सत्-स्वरूप होने पर भी, सत् से प्रदेशों की अभेदता के साथ-साथ संज्ञा, लक्षण, प्रयोजनादि की अपेक्षा कथंचित् भेदरूप हैं । इसप्रकार वस्तु का कथंचित् भेदाभेदस्वरूप इस गाथा, टीका में स्पष्ट किया गया है ॥ ११७ ॥

अथ गुणगुणिनोः प्रदेशभेदनिषेधेन तमेव संज्ञादिभेदरूपमतद्भावं दृढयति –

जं दव्वं तं ण गुणो जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो ।(१०८)

एसो हि अतब्भावो णेव अभावो त्ति णिद्दिट्ठो ॥ ११८ ॥

जं दव्वं तण्ण गुणो यद्द्रव्यं स न गुणः, यन्मुक्तजीवद्रव्यं स शुद्धः सन् गुणो न भवति। मुक्तजीवद्रव्यशब्देन शुद्धसत्तागुणो वाच्यो न भवतीत्यर्थः । *जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो* योऽपि गुणः स न तत्त्वं द्रव्यमर्थतः परमार्थतः, यः शुद्धसत्तागुणः स मुक्तात्मद्रव्यं न भवति । शुद्धसत्ताशब्देन मुक्तात्मद्रव्यं वाच्यं न भवतीत्यर्थः । *एसो हि अतब्भावो* एष उक्तलक्षणो हि स्फुटमतद्भावः । उक्तलक्षण इति कोऽर्थः। गुणगणिनोः संज्ञादिभेदेऽपि प्रदेशभेदाभावः। *णेव अभावो त्ति णिद्दिट्ठो* नैवाभाव इति निर्दिष्टः। नैव अभाव इति कोऽर्थः। यथा सत्तावाचकशब्देन मुक्तात्मद्रव्यं वाच्यं न भवति तथा यदि सत्ताप्रदेशैरपि सत्तागुणात्सकाशादिभन्नं भवति तदा यथा जीवप्रदेशेभ्यः पुद्गलद्रव्यं भिन्नं सद्द्रव्यान्तरं भवति तथा सत्तागुणप्रदेशेभ्यो मुक्तजीवद्रव्यं सत्तागुणाद्भिन्नं सत्पृथग्द्रव्यान्तरं प्राप्नोति । एवं किं सिद्धम्। सत्तागुणरूपं पृथग्द्रव्यं मुक्तात्मद्रव्यं च पृथगिति द्रव्यद्वयं जातं, न च तथा ।

अब, गुण-गुणी में प्रदेशभेद के निषेध से उसी संज्ञादि-भेदरूप अतद्भाव को दृढ़ करते हैं–

परमार्थ से जो द्रव्य है वह गुण नहीं, गुण द्रव्य ना ।

तदभाव ऐसा जिन कथित है सर्वथा तदभाव ना ॥ ११८ ॥

गाथार्थ- वास्तव में जो द्रव्य है वह गुण नहीं है, जो गुण है वह द्रव्य नहीं है — यह अतद्भाव है, सर्वथा अभाव रूप अतद्भाव नहीं है — ऐसा जिनेन्द्रभयवान ने कहा है ।

टीकार्थ- ***जं दव्वं तण्ण गुणो***–जो द्रव्य है, वह गुण नहीं है—जो मुक्तजीवद्रव्य है, वह शुद्ध सत् गुण नहीं है । मुक्तजीवद्रव्य शब्द से शुद्धसत्तागुण वाच्य नहीं है — ऐसा अर्थ है । ***जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो***–जो भी गुण है, वह परमार्थ से तत्त्व—द्रव्य नहीं है, जो शुद्धसत्तागुण है, वह मुक्तजीवद्रव्य नहीं है । शुद्धसत्ता शब्द के द्वारा मुक्तजीवद्रव्य वाच्य नहीं होता है —ऐसा अर्थ है । ***एसो हि अतब्भावो***– यह कहा गया लक्षण ही वास्तव में अतद्भाव है । कहा गया लक्षण — इसका क्या अर्थ है ? गुण और गुणी में संज्ञादि भेद होने पर भी प्रदेशभेद का अभाव है —इस कहे गये लक्षण वाला अतद्भाव है— यह इसका अर्थ है । ***णेव अभावो त्ति णिद्दिट्ठो***— (सर्वथा) अभाव नहीं है — ऐसा कहा है । (सर्वथा) अभाव नहीं है — इसका क्या अर्थ है ? जैसे सत्ता वाचक शब्द से मुक्तजीवद्रव्य वाच्य नहीं होता है, वैसे ही यदि सत्ता के प्रदेशों द्वारा भी सत्तागुण से वह भिन्न है , तो जैसे— जीव के प्रदेशों से भिन्न पुद्गलद्रव्य भिन्न सत्—दूसरा द्रव्य है; उसीप्रकार सत्तागुण के प्रदेशों से भिन्न मुक्तजीवद्रव्य, सत्तागुण से भिन्न होते हुये पृथक् दूसरे द्रव्य प्राप्त होते हैं। इससे क्या सिद्ध होगा ? इससे सत्तागुण रूप पृथक् द्रव्य और मुक्तजीवद्रव्य रूप पृथक् द्रव्य — इसप्रकार दो द्रव्य सिद्ध होते हैं; परन्तु ऐसा नहीं है ।

द्वितीयं च दूषणं प्राप्नोति-यथा सुवर्णत्वगुणप्रदेशेभ्यो भिन्नस्य सुवर्णस्याभावस्तथैव सुवर्णप्रदेशेभ्यो भिन्नस्य सुवर्णत्वगुणस्याप्यभाव:, तथा सत्तागुणप्रदेशेभ्यो भिन्नस्य मुक्तजीवद्रव्यस्याभावस्तथैव मुक्तजीव-द्रव्यप्रदेशेभ्यो भिन्नस्य सत्तागुणस्याप्यभाव: इत्युभयशून्यत्वं प्राप्नोति ।

यथेदं मुक्तजीवद्रव्ये संज्ञादिभेदभिन्नस्यातद्भावस्तस्य सत्तागुणेन सह प्रदेशाभेदव्याख्यानं कृतं तथा सर्वद्रव्येषु यथासंभवं ज्ञातव्यमित्यर्थ: ॥ ११८ ॥

एवं द्रव्यस्यास्तित्वकथनरूपेण प्रथमगाथा, पृथक्त्वलक्षणातद्भावाभिधानान्यत्वलक्षणयो: कथनेन द्वितीया, संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदरूपस्यातद्भावस्य विवरणरूपेण तृतीया, तस्यैव दृढीकरणार्थं च चतुर्थीति द्रव्यगुणयोरभेदविषये युक्तिकथनमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन पंचमस्थलं गतम् ।

और दूसरा दोष (भी) प्राप्त होता है — जैसे सुवर्णत्वगुण के प्रदेशों से भिन्न सुवर्ण का अभाव है, वैसे ही सुवर्ण के प्रदेशों से भिन्न सुवर्णत्वगुण का भी अभाव है; उसीप्रकार सत्तागुण के प्रदेशों से भिन्न मुक्तजीवद्रव्य का अभाव तथा मुक्तजीवद्रव्य के प्रदेशों से भिन्न सत्तागुण का भी अभाव सिद्ध होगा — इसप्रकार दोनों का ही अभाव प्राप्त होगा (परन्तु ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है) ।

जैसे यह मुक्तजीवद्रव्य में,संज्ञा आदि भेदों से पृथक् उसका (सत्ता का) अतद्भाव तथा सत्तागुण के साथ (जीव सम्बन्धी) प्रदेशों के अभेद का व्याख्यान किया है; उसीप्रकार यथासंभव सभी द्रव्यों में ज़ानना चाहिये-यह अर्थ है ।

विशेषार्थ - 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने द्रव्य और गुण में सर्वथा अभाव का निषेध करते हुये, सर्वथा अभाव मानने पर उपर्युक्त दो दोषों के साथ ही, एक अन्य तीसरे दोष का भी प्रतिपादन किया है । वह इसप्रकार—

"(यदि द्रव्य और गुणों के प्रदेशों को सर्वथा भिन्न माना जावे तो) ऐसा होने पर द्रव्य के अनेकता,(द्रव्य और गुण) दोनों की शून्यता तथा अपोहरूपता होगी ।--------जैसे पटाभाव मात्र ही घट है, घटाभाव मात्र ही पट है — इसप्रकार दोनों के अपोहरूपता (सर्वथा नकारात्मकता, सर्वथा भिन्नता) है ; उसीप्रकार द्रव्य का अभाव मात्र ही गुण और गुण का अभाव मात्र ही द्रव्य— इसप्रकार यहाँ भी अपोहरूपता (सर्वथा भिन्नता) होगी ।

इसलिये द्रव्य और गुण के एकता, अशून्यता, अनपोहता चाहने वालों को यथोक्त ही (जैसा कहा वैसा ही) अतद्भाव स्वीकार करना चाहिये [१]"॥११८ ॥

इसप्रकार द्रव्य का अस्तित्व कथन रूप से पहली गाथा, पृथक्त्व का लक्षण तथा अतद्भाव नामक अन्यत्व का लक्षण रूप से दूसरी गाथा, संज्ञा-लक्षण-प्रयोजन आदि भेद रूप अतद्भाव के विशेष कथन रूप से तीसरी, उसे ही दृढ़ करने के लिये चौथी— इसप्रकार द्रव्य-गुण के अभेद विषय में युक्ति-कथन की मुख्यता से चार गाथाओं द्वारा पाँचवा स्थल पूर्ण हुआ ।

---

१. प्रवचनसार, गाथा १०८, तत्त्वप्रदीपिका टीका ।

अथ सत्ता गुणो भवति, द्रव्यं च गुणी भवतीति प्रतिपादयति-

जो खलु दव्वसहावो परिणामो सो गुणो सदविसिट्ठो ।(१०९)
सदवट्ठिदं सहावे दव्वं ति जिणोवदेसोयं ॥ ११९ ॥

जो खलु दव्वसहावो परिणामो यः खलु स्फुटं द्रव्यस्य स्वभावभूतः परिणामः पंचेन्द्रियविषयानुभवरूपमनोव्यापारोत्पन्नसमस्तमनोरथरूपविकल्पजालाभावे सति यश्चिदानन्दैकानुभूतिरूपः स्वस्थभावस्तस्योत्पादः, पूर्वोक्तविकल्पजालविनाशो व्ययः, तदुभयाधारभूतजीवत्वं ध्रौव्यमित्युक्तलक्षणोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकजीवद्रव्यस्य स्वभावभूतो योऽसौ परिणामः *सो गुणो* स गुणो भवति । स परिणामः कथंभूतः सन्गुणो भवति । *सदविसिट्ठो* सतोऽस्तित्वादविशिष्टोऽभिन्नस्तदुत्पादादित्रयं तिष्ठत्यस्तित्वं चैकं तिष्ठत्यस्तित्वेन सह कथमभिन्नो भवतीति चेत् । "*उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्*"[१] इति वचनात् । एवं सति सत्तैव गुणो भवतीत्यर्थः ।

इति गुणव्याख्यानं गतम् ।

(अब, सत्ता और द्रव्य में गुण-गुणी कथन तथा द्रव्य का गुण-पर्यायों के साथ अभेद कथन परक दो गाथाओं में निबद्ध छठवाँ स्थल प्रारम्भ होता है)

अब, सत्ता गुण है और द्रव्य गुणी, ऐसा प्रतिपादन करते हैं —

सत् से अभिन्न वही है गुण परिणाम द्रव्य स्वभाव मय ।
स्व भाव स्थित द्रव्य सत्, भगवान का उपदेश यह ॥ ११९ ॥

गाथार्थ - वास्तव में जो द्रव्य का स्वभावभूत (उत्पाद- व्यय- ध्रौव्यात्मक) परिणाम है, वह सत् से अभिन्न गुण है, स्वभाव में अवस्थित द्रव्य सत् है — ऐसा यह जिनेन्द्र-भगवान का उपदेश है ।

टीकार्थ - ***जो खलु दव्वसहावो परिणामो***- जो वास्तव में द्रव्य का स्वभावभूत परिणाम- पंचेन्द्रियविषयों के भोगरूप मन की क्रिया से उत्पन्न सम्पूर्ण मनोरथरूपी विकल्पसमूह का अभाव होने पर ज्ञानानन्द एक स्वभाव की अनुभूतिरूप निज में स्थिरतामय जो परिणाम — उसका उत्पाद, पहले कहे हुये विकल्पसमूहों का अभावरूप व्यय और उन दोनों का आधारभूत जीवत्व रूप ध्रौव्य— इसप्रकार कहे गये लक्षण वाले उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप स्वभावभूत जो वह जीवद्रव्य का परिणाम है, ***सो गुणो***-वह गुण है । वह परिणाम कैसा होता हुआ गुण है ? ***सदविसिट्ठो***-वे उत्पादादि तीनों एक अस्तित्व से अभिन्न— एक अस्तित्व रूप रहते हैं । वे अस्तित्व के साथ अभिन्न कैसे होते हैं ? यदि ऐसा प्रश्न हो तो (उत्तर देते हैं) 'सत् उत्पाद-व्ययध्रौव्यस्वरूप है ' — ऐसा वचन होने से वे सब अस्तित्व से अभिन्न हैं । ऐसा होने पर सत्ता ही गुण है — यह अर्थ है ।

इसप्रकार गुण का कथन हुआ ।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, पंचमाध्याय, सूत्र ३० ।

सदवट्ठिदं सहावे दव्वं ति सदवस्थितं स्वभावे द्रव्यमिति, द्रव्यं परमात्मद्रव्यं भवति । किं कर्तृ । सदिति । केन । अभेदनयेन । कथंभूतम् । सत् अवस्थितम् । क्व । उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकस्वभावे । *जिणोवदेसोयं* अयं जिनोपदेश इति *'सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हु परिणामो'* इत्यादिपूर्वसूत्रे यदुक्तं तदेवेदं व्याख्यानम्, गुणकथनं पुनरधिकमिति तात्पर्यम् ।

यथेदं जीवद्रव्ये गुणगुणिनोर्व्याख्यानं कृतं तथा सर्वद्रव्येषु ज्ञातव्यमिति ॥ ११९ ॥

अथ गुणपर्यायाभ्यां सह द्रव्यस्याभेदं दर्शयति–

णत्थि गुणो त्ति व कोई पज्जाओ त्तीह वा विणा दव्वं ।(११०)

दव्वत्तं पुण भावो तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥ १२० ॥

सदवट्ठिदं सहावे दव्वं ति–स्वभाव में स्थित सत् द्रव्य है, द्रव्य अर्थात् परमात्मद्रव्य है । सत् द्रव्य कैसे है ? अभेदनय से सत् द्रव्य है । कैसा सत् द्रव्य है ? अच्छी तरह से स्थित सत् द्रव्य है । कहाँ स्थित सत् द्रव्य है ? उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप स्वभाव में स्थित सत् द्रव्य है । ***जिणोवदेसोयं***- यह जिनोपदेश है । "***सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हु परिणामो***–स्वभाव में अवस्थित द्रव्य सत् है, वास्तव में द्रव्य का जो परिणमन है------" इत्यादि पहले (प्रवचनसार,गाथा १०९) गाथा में जो कहा था, वही यह व्याख्यान है; मात्र गुण का कथन अधिक है— यह तात्पर्य है ।

जैसे यह जीवद्रव्य में गुण-गुणी का व्याख्यान किया है, उसीप्रकार सभी द्रव्यों में जानना चाहिये ।

विशेषार्थ - द्रव्य का स्वभावभूत परिणाम सत् से अभिन्न गुण है— इसे 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने निम्न तर्क से स्पष्ट किया है —

"द्रव्यप्रधान कथन से जो द्रव्य के स्वरूप का वृत्तिभूत अस्तित्व 'सत्' इस शब्द से कहा जाता है, उससे अभिन्न गुणभूत ही द्रव्य का स्वभावभूत परिणाम, तीन प्रकार के काल को स्पर्श करने वाली प्रतिसमय उस-उस स्वभावरूप से परिणमित होने के कारण द्रव्य की वृत्तिरूप से द्रव्यस्वभावभूत ही है। और वह अस्तित्वभूतद्रव्य की वृत्तिरूप होने से सत् से अभिन्न द्रव्य का विधायक (रचयिता–निर्माता) गुण ही है ।

इसप्रकार सत्ता और द्रव्य के गुण-गुणी भाव सिद्ध हुआ ।"[१] ॥ ११९ ॥

अब, गुणपर्यायों के साथ द्रव्य का अभेद दिखाते हैं —

द्रव्य बिन कोई भी गुण पर्याय जग में नहीं है ।

द्रव्यत्व उसका भाव इससे स्वयं सत्ता द्रव्य है ॥ १२० ॥

गाथार्थ– इस विश्व में कोई भी गुण या पर्याय द्रव्य के बिना नहीं है, और द्रव्यत्व (द्रव्य का) भाव–स्वभाव है, इसलिये द्रव्य स्वयं-सत्ता है ।

---

१. प्रवचनसार, गाथा १०९, तत्त्वप्रदीपिका टीका ।

णत्थि नास्ति न विद्यते । स कः । *गुणो त्ति व कोई* गुण इति कश्चित् । न केवलं गुणः *पज्जाओ त्तीह वा* पर्यायो वेतीह । कथम् । *विणा* विना । किं विना । *दव्वं* द्रव्यम् ।

इदानीं द्रव्यं कथ्यते । *दव्वत्तं पुण भावो* द्रव्यत्वमस्तित्वम् । तत्पुनः किं भण्यते । भावः । भावः कोऽर्थः । उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकसद्भावः । *तम्हा दव्वं सयं सत्ता* तस्मादभेदनयेन सत्ता स्वयमेव द्रव्यं भवतीति ।

तद्यथा- मुक्तात्मद्रव्ये परमावाप्तिरूपो मोक्षपर्यायः केवलज्ञानादिरूपो गुणसमूहश्च येन कारणेन तद्द्वयमपि परमात्मद्रव्यं विना नास्ति, न विद्यते। कस्मात्। प्रदेशाभेदादिति। उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकशुद्ध-सत्तारूपं मुक्तात्मद्रव्यं भवति । तस्मादभेदेन सत्तैव द्रव्यमित्यर्थः ।

यथा मुक्तात्मद्रव्ये गुणपर्यायाभ्यां सहाभेदव्याख्यानं कृतं तथा यथासंभवं सर्वद्रव्येषु ज्ञातव्यमिति ॥ १२० ॥

एवं गुणगुणिव्याख्यानरूपेण प्रथमगाथा, द्रव्यस्य गुणपर्यायाभ्यां सह भेदो नास्तीति कथनरूपेण द्वितीया

टीकार्थ - ***णत्थि***- नहीं पाया जाता है । वह कौन नहीं पाया जाता है ? ***गुणो त्ति व कोई***- कोई गुण नहीं पाया जाता है । मात्र गुण ही नहीं ***पज्जाओ त्तीह वा***- कोई पर्याय भी इस लोक में नहीं पाई जाती है । ये दोनों कैसे नहीं पाये जाते हैं ? ***विणा***- ये बिना नहीं पाये जाते हैं । ये किसके बिना नहीं पाये जाते हैं ? ***दव्वं***- ये द्रव्य के बिना नहीं पाये जाते हैं ।

अब द्रव्य (के सम्बन्ध में) कहते हैं- ***दव्वत्तं पुण भावो***-द्रव्यत्व अर्थात् अस्तित्व । वह अस्तित्व और क्या कहलाता है ? भावः— वह भाव कहलाता है । भाव का क्या अर्थ है ? उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप सद्भाव—विद्यमानता भाव का अर्थ है । ***तम्हा दव्वं सयं सत्ता***- इसलिये अभेदनय से सत्ता स्वयं ही द्रव्य है ।

वह इसप्रकार—मुक्तात्मद्रव्य में स्वभाव की उत्कृष्ट परिपूर्ण प्राप्तिरूप मोक्षपर्याय और केवलज्ञानादिरूप गुणसमूह — जिसकारण ये दोनों भी परमात्मद्रव्य के बिना नहीं हैं— नहीं पाये जाते हैं । ये किसकारण नहीं पाये जाते हैं ? प्रदेशों का अभेद होने से ये द्रव्य के बिना नहीं पाये जाते हैं । उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप शुद्धसत्तारूप मुक्तात्मद्रव्य है । इसलिये अभेदनय से सत्ता ही द्रव्य है — ऐसा अर्थ है ।

जैसे मुक्तात्मद्रव्य में गुण-पर्यायों के साथ अभेद व्याख्यान किया है, वैसा ही यथासंभव सभी द्रव्यों में जानना चाहिये ।

भावार्थ - इस लोक में कोई भी गुण-पर्याय द्रव्य के बिना नहीं पाये जाते हैं । उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप सद्भाव—विद्यमानता द्रव्यत्व है, इसलिये अभेदनय से सत्ता स्वयं ही द्रव्य है । इसी वस्तुव्यवस्था को मुक्तात्माजीव पर घटित कर स्पष्ट किया गया है ।

विशेषार्थ- 'आचार्य कुन्दकुन्द' ने स्वयं इसी वस्तुव्यवस्था को अन्यत्र निम्न शब्दों में व्यक्त किया है—

"पर्याय से रहित द्रव्य और द्रव्य से रहित पर्याय नहीं होती है, ये दोनों अनन्यभूत हैं — ऐसा जिनेन्द्रभगवान कहते हैं"[१] ॥ १२० ॥

इसप्रकार गुण-गुणी कथन रूप से पहली गाथा और द्रव्य का गुण-पर्याय के साथ भेद नहीं है —इस

---

१. पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा १२ ।

चेति स्वतन्त्रगाथाद्वयेन षष्ठस्थलं गतम् ।

अथ द्रव्यस्य द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्यां सदुत्पादासदुत्पादौ दर्शयति –

एवंविहं सहावे दव्वं दव्वत्थपज्जयत्थेहिं ।(१११)

सदसब्भावणिबद्धं पादुब्भावं सदा लभदि ॥ १२१ ॥

एवंविहसब्भावे एवंविधसद्भावे सत्तालक्षणमुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं गुणपर्यायलक्षणं द्रव्यं चेत्येवंविध-पूर्वोक्तसद्भावे स्थितं, अथवा *एवंविहं सहावे* इति पाठान्तरम् । तत्रैवंविधं पूर्वोक्तलक्षणं स्वकीयसद्भावे स्थितम् । किम्। *दव्वं* द्रव्यं कर्तृ । किं करोति । *सदा लभदि* सदा सर्वकालं लभते। किं कर्मतापन्नम् । *पादुब्भावं* प्रादुर्भावमुत्पादम् । कथंभूतम् । *सदसब्भावणिबद्धं* सद्भावनिबद्धमसद्भावनिबद्धं च। काभ्यां कृत्वा । *दव्वत्थपज्जयत्थेहिं* द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्यामिति ।

कथन रूप से दूसरी गाथा— इसप्रकार दो स्वतंत्र गाथाओं द्वारा छठवाँ स्थल समाप्त हुआ ।

(अब, द्रव्यार्थिकनय से सदुत्पाद तथा पर्यायार्थिकनय से असदुत्पाद कथन परक चार गाथाओं में निबद्ध सातवाँ स्थल प्रारम्भ होता है ।)

अब, द्रव्य का द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय से सदुत्पाद और असदुत्पाद दिखाते हैं —

सद्भाव स्थित द्रव्य नित द्रव्यार्थ पर्यायार्थ से ।

सद्भाव न सद्भाव युत उत्पाद की प्राप्ति करे ॥ १२१ ॥

गाथार्थ- इसप्रकार सद्भाव में अवस्थित द्रव्य द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय से सद्भाव निबद्ध और असद्भावनिबद्ध उत्पाद को हमेशा प्राप्त करता है ।

टीकार्थ - ***एवंविहसब्भावे***- इसप्रकार के सद्भाव में — सत्तालक्षण, उत्पाद- व्यय-ध्रौव्य लक्षण और गुण-पर्याय लक्षण द्रव्य— इसप्रकार पहले कहे हुये सद्भाव—सत्तारूप भाव में स्थित अथवा ***एवंविहं सहावे***- ऐसा दूसरा पाठ-भेद है । वहाँ इसप्रकार पूर्वोक्त लक्षण अपने सद्भाव में स्थित है । अपने सद्भाव में कौन स्थित है ? ***दव्वं***- द्रव्यरूप कर्ता (कर्ताकारक में प्रयुक्त द्रव्य) अपने सद्भाव में स्थित है । अपने सद्भाव में स्थित द्रव्य क्या करता है ? ***सदा लभदि***- हमेशा प्राप्त करता है । वह किस कर्म को — किसे प्राप्त करता है ? ***पादुब्भावं***- वह उत्पाद को प्राप्त करता है। वह कैसे उत्पाद को प्राप्त करता है ? ***सदसब्भावणिबद्धं***-सद्भाव—विद्यमानता से सहित और अविद्यमानता से सहित उत्पाद को प्राप्त करता है । किनके द्वारा— किनकी विवक्षा से इन्हें प्राप्त करता है ? ***दव्वत्थपज्जयत्थेहिं***- द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय द्वारा अथवा इनकी विवक्षा में, इन्हें प्राप्त करता है ।

तथा हि- यथा यदा काले द्रव्यार्थिकनयेन विवक्षा क्रियते, यदेव कटकपर्याये सुवर्णं तदेव कंकणपर्याये नान्यदिति, तदा काले सद्भावनिबद्ध एवोत्पादः । कस्मादिति चेत् । द्रव्यस्य द्रव्यरूपेणाविनष्टत्वात् ।

यदा पुनः पर्यायविवक्षा क्रियते, कटकपर्यायात् सकाशादन्यो यः कंकणपर्यायः सुवर्णसम्बन्धी स एव न भवति, तदा पुनरसदुत्पादः । कस्मादिति चेत् । पूर्वपर्यायस्य विनष्टत्वाद् ।

तथा यदा द्रव्यार्थिकनयविवक्षा क्रियते, य एव पूर्वं गृहस्थावस्थायामेवमेवं गृहव्यापारं कृतवान् पश्चाज्जिनदीक्षां गृहीत्वा स एवेदानीं रामादिकेवलिपुरुषो निश्चयरत्नत्रयात्मकपरमात्मध्यानेनानन्तसुखामृततृप्तो जातः, न चान्य इति, तदा सद्भावनिबद्ध एवोत्पादः । कस्मादिति चेत् । पुरुषत्वेनाविनष्टत्वात् ।

यदा तु पर्यायनयविवक्षा क्रियते, पूर्वं सरागावस्थायाः सकाशादन्योऽयं भरतसगररामपाण्डवादिकेवलिपुरुषाणां संबन्धी निरुपरागपरमात्मपर्यायः स एव न भवति, तदा पुनरसद्भावनिबद्ध एवोत्पादः । कस्मादिति चेत् । पूर्वपर्यायादन्यत्वादिति ।

यथेदं जीवद्रव्ये सदुत्पादासदुत्पादव्याख्यानं कृतं तथा सर्वद्रव्येषु यथासंभवं ज्ञातव्यमिति ॥ १२१ ॥

वह इसप्रकार— जैसे जिससमय द्रव्यार्थिकनय से विवक्षा की जाती है, तो कटक (कड़ा) पर्याय में जो स्वर्ण है, वही कंकण पर्याय में है, दूसरा नहीं है; उससमय सद्भावनिबद्ध— विद्यमान— वस्तु का ही उत्पाद है । (अविद्यमान नवीनपर्याय उत्पन्न होने पर भी) विद्यमानवस्तु का ही उत्पाद कैसे है ? द्रव्य का द्रव्यरूप से अविनाशी होने के कारण, विद्यमान वस्तु का ही उत्पाद है ।

और जब पर्याय (पर्यायार्थिकनय) से विवक्षा की जाती है, तब कटकपर्याय से भिन्न जो सुवर्ण सम्बन्धी कंकण पर्याय, वह होती ही नहीं है, तब फिर असत् का उत्पाद है । असत् पर्याय का उत्पाद कैसे है ? पूर्व पर्याय का विनाश हो जाने के कारण असत् का उत्पाद है ।

वैसे ही जब द्रव्यार्थिकनय से विवक्षा की जाती है, तब पहले गृहस्थदशा में इस-इस प्रकार के गृह-व्यापार (घर-गृहस्थी के कार्यों) को करते थे, बाद में जिन-दीक्षा (मुनि-दीक्षा) ग्रहण कर, अब वे ही रामादि केवलीपुरुष, निश्चयरत्नत्रयस्वरूप उत्कृष्ट आत्मध्यान से अनन्तसुखरूपी अमृत से तृप्त हुये हैं, और दूसरे नहीं; तब सद्भावनिबद्ध— विद्यमानता सहित ही उत्पाद हुआ है । अविद्यमान नवीनपर्याय उत्पन्न होने पर भी विद्यमान का ही उत्पाद कैसे हुआ ? पुरुष (जीव) रूप से नष्ट नहीं होने के कारण, विद्यमान का ही उत्पाद हुआ है ।

और जब पर्यायनय से विवक्षा की जाती है; तब पहले सरागअवस्था से भिन्न यह भरत, सगर, राम, पाण्डव आदि केवलीपुरुषों की उपरागरहित—वीतरागपरमात्मपर्याय वही नहीं है; तब फिर असद्भावनिबद्ध—अविद्यमान का ही उत्पाद हुआ है । अविद्यमान का उत्पाद कैसे होता है ? पहले की पर्याय से भिन्नता के कारण अविद्यमान का उत्पाद होता है ।

जैसे यह जीवद्रव्य में सत्‌उत्पाद और असत्‌उत्पाद का विशेष कथन किया है, उसीप्रकार सभी द्रव्यों में यथासंभव जानना चाहिये ।

अथ पूर्वोक्तमेव सदुत्पादं द्रव्यादभिन्नत्वेन विवृणोति –

जीवो भवं भविस्सदि णरोऽमरो वा परो भवीय पुणो ।(११२)

किं दव्वत्तं पजहदि ण जहं अण्णो कहं होदि ॥ १२२ ॥

जीवो जीवः कर्ता *भवं* भवन् परिणमन् सन् *भविस्सदि* भविष्यति तावत् । किं किं भविष्यति । निर्विकार-शुद्धोपयोगविलक्षणाभ्यां शुभाशुभोपयोगाभ्यां परिणम्य *णरोऽमरो वा परो* नरो देवः परस्तिर्यङ्नारकरूपो वा निर्विकारशुद्धोपयोगेन सिद्धो वा भविष्यति । *भवीय पुणो* एवं पूर्वोक्तप्रकारेण पुनर्भूत्वापि ।

अथवा द्वितीयव्याख्यानम् । भवन् वर्तमानकालापेक्षया, भविष्यति भाविकालापेक्षया, भूत्वा भूतकाला-पेक्षया चेति कालत्रये चैवं भूत्वापि *किं दव्वत्तं पजहदि* किं द्रव्यत्वं परित्यजति । *ण चयदि* द्रव्यार्थि-

---

भावार्थ– सत्तास्वरूप, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक, गुण-पर्याय वाला सद्भावस्वरूप अपने स्वभाव में स्थित द्रव्य, द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय की विवक्षा में क्रमशः सत्उत्पाद और असत्उत्पाद को प्राप्त होता है । इसी नयविवक्षा में प्रयुक्त वस्तुव्यवस्था को सुवर्ण के उदाहरण द्वारा जीव पर घटित कर स्पष्ट किया गया है ।

विशेषार्थ - 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने द्रव्यविवक्षा में सदुत्पाद और पर्यायविवक्षा में असदुत्पाद को स्पष्ट करते हुये अन्त में लिखा है कि द्रव्य और पर्याय भिन्न-भिन्न वस्तु नहीं होने से सदुत्पाद रूप द्रव्य, पर्याय ही है; तथा असदुत्पादरूप पर्याय द्रव्य ही है [१] ॥ १२१ ॥

अब, पहले कहे हुये ही सद्उत्पाद का, द्रव्य से अभिन्नरूप से विशेष वर्णन करते हैं –

परिणमित होता जीव नर वा अमर होगा अन्य भी ।

क्या द्रव्यता को छोड़ता ? यदि नहीं तो ना अन्य भी ॥ १२२ ॥

गाथार्थ- जीव परिणमित होता हुआ मनुष्य, देव अथवा अन्य (तिर्यंच, नारकी, सिद्ध) होगा । परन्तु मनुष्यादि होकर क्या वह द्रव्यत्व को छोड़ देता है ? (यदि नहीं तो) द्रव्यत्व को न छोड़ता हुआ वह अन्य कैसे हो सकता है ? (नहीं हो सकता है)।

टीकार्थ- ***जीवो***- जीवरूपी कर्ता (कर्ताकारक में प्रयुक्त जीव) ***भवं***–परिणमित होता हुआ ***भविस्सदि***–होगा । परिणमित होता हुआ जीव क्या-क्या होगा ? विकार रहित शुद्धोपयोग से विलक्षण शुभाशुभ उपयोगरूप से परिणमन कर ***णरोऽमरो वा परो***–मनुष्य, देव और अन्य तिर्यंच, नारकीरूप अथवा पूर्ण विकार रहित शुद्धोपयोग से सिद्ध होगा । ***भवीय पुणो***–इसप्रकार पहले कहे हुये मनुष्यादि रूप होकर भी ।

अथवा दूसरा व्याख्यान–होता हुआ-वर्तमानकाल की अपेक्षा से, होगा–भविष्यकाल की अपेक्षा से, और होकर–भूतकाल की अपेक्षा से– इसप्रकार तीनों कालों में (इनरूप) होकर भी ***किं दव्वत्तं पजहदि***-क्या द्रव्यता को छोडता है ? ***ण चयदि***- द्रव्यार्थिकनय से द्रव्यता को नहीं छोड़ता है, द्रव्य से भिन्न नहीं

---

१. प्रवचनसार, गाथा १११, तत्त्वप्रदीपिका टीका, हिन्दी सार ।

-कनयेन द्रव्यत्वं न त्यजति, द्रव्यादिभन्नो न भवति । *अण्णो कहं हवदि* अन्यो भिन्नः कथं भवति । किंतु द्रव्यान्वयशक्तिरूपेण सद्भावनिबद्धोत्पादः स एवेति द्रव्यादभिन्न इति भावार्थः ॥ १२२ ॥

अथ द्रव्यस्यासदुत्पादं पूर्वपर्यायादन्यत्वेन निश्चिनोति –

मणुवो ण होदि देवो देवो वा माणुसो व सिद्धो वा ।(११३)
एवं अहोज्जमाणो अणण्णभावं कधं लहदि ॥ १२३ ॥

मणुवो ण हवदि देवो आकुलत्वोत्पादकमनुजदेवादिविभावपर्यायविलक्षणमनाकुलत्वरूपस्वभावपरिणतिलक्षणं परमात्मद्रव्यं यद्यपि निश्चयेन मनुष्यपर्याये देवपर्याये च समानं तथापि मनुजो देवो न भवति । कस्मात् । देवपर्यायकाले मनुष्यपर्यायस्यानुपलम्भात् । *देवो वा माणुसो व सिद्धो वा* देवो वा मनुष्यो न भवति स्वात्मोपलब्धिरूपसिद्धपर्यायो वा न भवति । कस्मात् । पर्यायाणां परस्परं भिन्नकालत्वात्, सुवर्णद्रव्ये कुण्डलादिपर्यायाणामिव । *एवं अहोज्जमाणो* एवमभवन्सन् *अणण्णभावं कधं लहदि* अनन्यभावमेकत्वं कथं लभते, न कथमपि ।

है । *अण्णो कहं हवदि*-(तव वह जीवद्रव्य से) भिन्न कैसे है ? (नहीं है) वरन् अन्वयशक्ति रूप से द्रव्य का सद्भावनिबद्धउत्पाद-सदुत्पाद वही है; इसप्रकार उत्पाद द्रव्य से अभिन्न है — ऐसा भाव है ।

भावार्थ- परिणमित होता हुआ जीवद्रव्य रागादि विकार रहित शुद्धोपयोग से विलक्षण शुभाशुभ उपयोगरूप से परिणमन कर मनुष्य, देव, तिर्यंच, नारकी रूप अथवा पूर्ण विकाररहित शुद्धोपयोग से सिद्ध होगा । परन्तु इसप्रकार मनुष्यादि रूप होकर भी अथवा तीनों कालों में इनरूप होकर भी क्या द्रव्यता को छोड़ता है ? यदि द्रव्यार्थिकनय से द्रव्यता को नहीं छोड़ता, द्रव्य से भिन्न नहीं है, तो वह उत्पाद द्रव्य से भिन्न कैसे हो सकता है ? वरन् वह सदुत्पाद द्रव्य से अभिन्न द्रव्य ही है ॥ १२२ ॥

अब, पूर्वपर्याय से भिन्नता होने के कारण,द्रव्य का असदुत्पाद निश्चित करते हैं —

नर देव ना वा देव मानव मुक्त भी होता नहीं ।
तद्रूप होते ही नहीं तो एक कैसे हों सभी ? ॥ १२३ ॥

गाथार्थ - मनुष्य, देव नहीं है; देव, मनुष्य अथवा सिद्ध नहीं है; ऐसा नहीं होने पर वह अनन्यभाव-अभिन्नता को कैसे प्राप्त कर सकता है ?

टीकार्थ- ***मणुवो ण हवदि देवो***-आकुलता को उत्पन्न करने वाली मनुष्य, देव आदि विभाव-पर्यायों से विलक्षण अनाकुलता रूप स्वभाव-परिणति लक्षण परमात्मद्रव्य,यद्यपि निश्चय से मनुष्यपर्याय व देवपर्याय में समान है; तो भी मनुष्य, देव नहीं है । मनुष्य, देव क्यों नहीं है ? देवपर्याय के समय मनुष्यपर्याय की प्राप्ति नहीं होने के कारण मनुष्य, देव नहीं है । ***देवो वा माणुसो वा सिद्धो वा***- अथवा देव, मनुष्य नहीं है; अथवा अपनेआत्मा की पूर्णप्राप्तिरूप सिद्धपर्याय नहीं है । ये सब पर्यायें एक दूसरे रूप क्यों नहीं हैं ? जैसे सुवर्णद्रव्य में कुण्डल आदि पर्यायों का पृथक्- पृथक् समय होने से (किसी विशिष्टसुवर्ण की) एक समय में सभी पर्यायें नहीं हो सकतीं, उसीप्रकार मनुष्यादि सभी पर्यायों का पृथक्-पृथक् समय होने से,वे सब एक दूसरे रूप नहीं हैं । ***एवं अहोज्जमाणो***-इसप्रकार एक दूसरे रूप नहीं होते हुए ***अणण्णभावं कधं लहदि***- अनन्यभाव—अभिन्नता—एकता को कैसे प्राप्त हो सकतीं हैं ? कैसे भी नहीं अर्थात् वे एक नहीं हो सकतीं हैं ।

तत एतावदायाति असद्भावनिबद्धोत्पादः पूर्वपर्यायादिभन्नो भवतीति ॥ १२३ ॥

अथैकद्रव्यस्य पर्यायैस्सहानन्यत्वाभिधानमेकत्वमन्यत्वाभिधानमनेकत्वं च नयविभागेन दर्शयति, अथवा पूर्वोक्तसद्भावनिबद्धासद्भावनिबद्धमुत्पादद्वयं प्रकारान्तरेण समर्थयति –

दव्वट्ठिएण सव्वं दव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो ।(११४)

हवदि य अण्णमणण्णं तक्काले तम्मयत्तादो ॥ १२४ ॥

हवदि भवति । किं कर्तृ । *सव्वं दव्वं* सर्वं विवक्षिताविवक्षितजीवद्रव्यम् । किंविशिष्टं भवति । *अणण्णं* अनन्यमभिन्नमेकं तन्मयमिति । केन सह । तेन नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवरूपविभावपर्यायसमूहेन केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयशक्तिरूपसिद्धपर्यायेण च । केन कृत्वा । *दव्वट्ठिएण* शुद्धान्वयद्रव्यार्थिकनयेन । कस्मात् । कुण्डलादिपर्यायेषु सुवर्णस्येव भेदाभावात् ।

इससे इतना सिद्ध हुआ कि असद्भावनिबद्धोत्पाद—असदुत्पाद पूर्वपर्याय से भिन्न होता है ॥

भावार्थ- जैसे कुण्डलादि सभी पर्यायों में सुवर्ण व्याप्त होने पर भी, वे पर्यायें भिन्न-भिन्न कालवर्ती होने के कारण एक दूसरे रूप नहीं हैं —एक दूसरे से भिन्न हैं; उसीप्रकार आकुलता को उत्पन्न करने वाली मनुष्य, देव आदि विभावपर्यायों से भिन्न अनाकुलतास्वभावी परमात्मद्रव्य वास्तव में मनुष्य, देव आदि सभी पर्यायों में समान रूप से व्याप्त होने पर भी, वे पर्यायें पृथक्-पृथक् कालवर्ती होने के कारण, एक दूसरे रूप नहीं हैं; वरन् परस्पर पृथक्-पृथक् हैं ॥ १२३ ॥

अब, एक द्रव्य का पर्यायों के साथ अनन्यत्व नामक एकत्व और अन्यत्व नामक अनेकत्व नय-विभाग से दिखाते हैं—

अथवा, पहले कहे हुये सदसद् दोनों उत्पादों का दूसरे रूप में समर्थन करते हैं—

द्रव्यार्थनय से सर्वद्रव्य अनन्य हैं तत्काल ही ।

हैं अन्य पर्यायार्थ से है क्योंकि तन्मयता वहीं ॥ १२४ ॥

गाथार्थ – द्रव्यार्थिकनय से सभी द्रव्य (अपनी-अपनी पर्यायों से) अनन्य हैं तथा पर्यायार्थिकनय से उससमय उस पर्याय से (द्रव्य) तन्मय होने के कारण, वह अन्य-अन्य होता है ।

टीकार्थ – *हवदि* है ।कर्तारूप कौन है ? *सव्वं दव्वं*- सभी विवक्षित -अविवक्षित जीवद्रव्य हैं । वे किस विशेषता वाले हैं ? *अणण्णं*- वे अनन्य — अभिन्न—एक अथवा तन्मय हैं । वे किसके साथ अभिन्न हैं ? वे उन नारक, तिर्यंच, मनुष्य वा देव रूप विभावपर्यायसमूह और केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टयशक्ति (गुण) रूप सिद्धपर्याय के साथ अभिन्न हैं । वे इनके साथ किसके द्वारा—किस अपेक्षा से अभिन्न हैं ? *दव्वट्ठिएण* — शुद्धअन्वयद्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा वे इनसे अभिन्न हैं । इस नय की अपेक्षा वे उनसे अभिन्न क्यों है ? कुण्डल आदि पर्यायों में व्याप्त सुवर्ण के समान, भेद का अभाव होने से वे उनसे अभिन्न हैं ।

तं पज्जयट्ठिएण पुणो तद्द्रव्यं पर्यायार्थिकनयेन पुनः *अण्णं* अन्यद्भिन्नमनेकं पर्यायैः सह पृथग्भवति । कस्मादिति चेत् । *तक्काले तम्मयत्तादो* तृणाग्निकाष्ठाग्निपत्राग्निवत् स्वकीयपर्यायैः सह तत्काले तन्मयत्वादिति ।

एतावता किमुक्तं भवति । द्रव्यार्थिकनयेन यदा वस्तुपरीक्षा क्रियते तदा पर्यायसन्तानरूपेण सर्वं पर्यायकदम्बकं द्रव्यमेव प्रतिभाति । यदा तु पर्यायनयविवक्षा क्रियते तदा द्रव्यमपि पर्यायरूपेण भिन्नं भिन्नं प्रतिभाति । यदा च परस्परसापेक्षनयद्वयेन युगपत्समीक्ष्यते, तदैकत्वमनेकत्वं च युगपत्प्रतिभातीति ।

यथेदं जीवद्रव्ये व्याख्यानं कृतं तथा सर्वद्रव्येषु यथासंभवं ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥ १२४ ॥

एवं सदुत्पादासदुत्पादकथनेन प्रथमा, सदुत्पादविशेषविवरणरूपेण द्वितीया, तथैवासदुत्पादविशेष-विवरणरूपेण तृतीया, द्रव्यपर्याययोरेकत्वानेकत्वप्रतिपादनेन चतुर्थीति सदुत्पादासदुत्पादव्याख्यानमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन सप्तमस्थलं गतम् ।

तं पज्जयट्ठिएण पुणो –और वह द्रव्य पर्यायार्थिकनय से ***अण्णं***– दूसरा–भिन्न अनेक पर्यायों के साथ पृथक्-पृथक् है । पर्यायार्थिकनय से वह पृथक्-पृथक् क्यों है ? यदि ऐसा प्रश्न हो तो (आचार्य उत्तर देते हैं) ***तक्काले तम्मयत्तादो***– घास की अग्नि ,लकड़ी की अग्नि, पत्ते की अग्नि के समान अपनी पर्यायों के साथ,उस काल में तन्मय होने से वह पृथक्-पृथक् है ।

इससे क्या कहा गया है ?अर्थात् इस सब कथन का तात्पर्य क्या है ? (इस सब कथन का तात्पर्य यह है कि) द्रव्यार्थिकनय से जब वस्तु की परीक्षा की जाती है, तब पर्यायों के क्रमरूप से सभी पर्यायों का समूह द्रव्य ही ज्ञात होता है । और जब पर्यायार्थिकनय से विवक्षा की जाती है, तब पर्यायरूप से द्रव्य भी भिन्न-भिन्न ज्ञात होता है । और जब परस्पर सापेक्ष दोनों नयों से (प्रमाणदृष्टि से) एक साथ अच्छी तरह देखा जाता है ,तब एकता और अनेकता एक साथ ज्ञात होती है ।

जैसे यह जीवद्रव्य में विशेष कथन किया है,वैसा यथासंभव सभी द्रव्यों में जानना चाहिये — यह अर्थ है ।

भावार्थ - जैसे कुण्डल आदि सभी पर्यायों में व्याप्त सुवर्ण भेद का अभाव होने से उनसे अभिन्न है; उसीप्रकार नारक, तिर्यंच ,मनुष्य ,देवरूप विभावपर्यायसमूहों और केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टय गुणरूप सिद्धपर्याय में व्याप्त होने के कारण,सभी विवक्षित -अविवक्षित जीवद्रव्य शुद्धअन्वयद्रव्यार्थिकनय से उनसे अभिन्न हैं ।

तथा जैसे घास की अग्नि, लकड़ी की अग्नि, पत्ते की अग्नि आदि में अग्नि उन सभी से तन्मय होने के कारण भिन्न-भिन्न है; उसीप्रकार नारकादि पृथक्-पृथक् पर्यायों के साथ उस -उस समय तन्मय होने से वह द्रव्य पर्यायार्थिकनय से भिन्न-भिन्न है ।

इसीप्रकार समग्र द्रव्य को एकसाथ प्रमाणदृष्टि से देखने पर वह भिन्नाभिन्न प्रतीत होता है । यह प्रत्येक द्रव्य का अनेकान्तात्मक स्वभाव है ॥ १२४ ॥

इसप्रकार सदुत्पाद और असदुत्पाद कथनरूप से पहली, सदुत्पाद के विशेष विवरण रूप दूसरी, उसीप्रकार असदुत्पाद के विशेष विवरणरूप से तीसरी तथा द्रव्य और पर्याय के एकत्व और अनेकत्व प्रतिपादनरूप से चौथी — इसप्रकार सदुत्पाद और असदुत्पाद के विशेषकथन की मुख्यता से चार गाथाओं द्वारा सातवाँ स्थल समाप्त हुआ ।

अथ समस्तदुर्नयैकान्तरूपविवादनिषेधिकां नयसप्तभंगीं विस्तारयति–

अत्थि त्ति य णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं।(११५)

पज्जाएण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा॥ १२५॥

अत्थि त्ति य स्यादस्त्येव। स्यादिति कोऽर्थः। कथंचित्। कथंचित्कोऽर्थः। विवक्षितप्रकारेण स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन। तच्चतुष्टयं शुद्धजीवविषये कथ्यते। शुद्धगुणपर्यायाधारभूतं शुद्धात्मद्रव्यं द्रव्यं भण्यते, लोकाकाशप्रमिताः शुद्धासंख्येयप्रदेशाः क्षेत्रं भण्यते, वर्तमानशुद्धपर्यायरूपपरिणतो वर्तमानसमयः कालो भण्यते, शुद्धचैतन्यं भावश्चेत्युक्तलक्षणद्रव्यादिचतुष्टय इति प्रथमभंगः १।

णत्थि त्ति य स्यान्नास्त्येव। स्यादिति कोऽर्थः। कथंचिद्विवक्षितप्रकारेण परद्रव्यादि चतुष्टयेन २।

हवदि भवति। कथंभूतम्। *अवत्तव्वमिदि* स्यादवक्तव्यमेव। स्यादिति कोऽर्थः। कथंचिद्विवक्षितप्रकारेण युगपत्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन ३।

(अब, नयसप्तभंगीपरक एक गाथा वाला अन्तिम आठवाँ स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, संपूर्ण दुर्नयों के एकान्तरूप विवाद का निषेध करने वाली नयसप्तभंगी का विस्तार करते हैं—

होता किसी पर्याय से अस्ति व नास्ति द्रव्य वा।

है अवक्तव्य तथा उभय वा अन्य भी जिनवर कहा॥ १२५॥

गाथार्थ—द्रव्य किसी पर्याय से अस्ति, किसी पर्याय से नास्ति, किसी पर्याय से अवक्तव्य और किसी पर्याय से अस्ति-नास्ति अथवा किसी पर्याय से अन्य तीन भंग रूप कहा गया है।

टीकार्थ—***अत्थि त्ति य***- स्यात् अस्ति ही है। स्यात् का क्या अर्थ है ? कथंचित्—यह स्यात् का अर्थ है। कथंचित् का क्या अर्थ है ? विवक्षित प्रकार से—किसी अपेक्षा से—स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से अस्ति है— यह कथंचित् का अर्थ है। शुद्धजीव के विषय में उस स्वचतुष्टय को कहते हैं— शुद्धगुण और शुद्धपर्यायों का आधारभूत शुद्धात्मद्रव्य—द्रव्य कहा जाता है, लोकाकाश प्रमाण शुद्ध असंख्यातप्रदेश—क्षेत्र कहलाता है, वर्तमान शुद्धपर्यायरूप परिणत वर्तमान समय—काल है और शुद्धचैतन्य—भाव; इसप्रकार कहे गये लक्षण वाले द्रव्यादि चतुष्टय रूप "अस्ति" है— यह पहला भंग है।

णत्थि त्ति य— स्यात् नहीं ही है। स्यात् का क्या अर्थ है ? कथंचित्— किसी अपेक्षा से—विवक्षित प्रकार से— परद्रव्यादि चतुष्टयरूप से नहीं ही है— यह स्यात् शब्द का अर्थ है— यह दूसरा भंग है।

हवदि- है। कैसा है ? ***अवत्तव्वमिदि***- स्यात् अवक्तव्य ही है। स्यात् का क्या अर्थ है ? कथंचित्— किसी अपेक्षा से— विवक्षित प्रकार से —एक साथ स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयरूप से स्यात् अवक्तव्य ही है—यह स्यात् का अर्थ है— यह तीसरा भंग है।

स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्यं। स्यादस्तिनास्ति, स्यादस्त्येवावक्तव्यं, स्यान्नास्त्येवावक्तव्यं, स्यादस्तिनास्त्येवावक्तव्यम्। *पुणो* पुनः इत्थंभूतम् किं भवति। *दव्वं* परमात्मद्रव्यं कर्तृ। पुनरपि कथंभूतं भवति। *तदुभयं* स्यादस्तिनास्त्येव। स्यादिति कोऽर्थः। कथंचिद्विवक्षितप्रकारेण क्रमेण स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन ४।

कथंभूतंसदित्थमित्थं भवति। *आदिट्ठं* आदिष्टं विवक्षितं सत्। केन कृत्वा। *पज्जायेण दु* पर्यायेण तु प्रश्नोत्तररूपनयविभागेन तु। कथंभूतेन। *केण वि* केनापि विवक्षितेन नैगमादिनयरूपेण। *अण्णं वा* अन्यद्वा संयोगभंगत्रयरूपेण।

तत्कथ्यते – स्यादस्त्येवावक्तव्यं। स्यादिति कोऽर्थः। कथंचित् विवक्षितप्रकारेण स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन युगपत्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन च ५।

स्यान्नास्त्येवावक्तव्यं। स्यादिति कोऽर्थः। कथंचित् विवक्षितप्रकारेण परद्रव्यादिचतुष्टयेन युगपत्स्व-परद्रव्यादिचतुष्टयेन च ६।

स्यादस्तिनास्त्येवावक्तव्यं। स्यादिति कोऽर्थः। कथंचित् विवक्षितप्रकारेण क्रमेण स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन युगपत्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन च ७।

इसप्रकार स्यात् अस्ति ही है, स्यात् नास्ति ही है, स्यात् अवक्तव्य ही है, स्यात् अस्ति-नास्ति ही है, स्यात् अस्ति अवक्तव्य ही है, स्यात् नास्ति अवक्तव्य ही है और स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य ही है – ये सात भंग हैं। ***पुणो***–ऐसा कौन है ? ***दव्वं***- परमात्मद्रव्यरूप कर्ता ऐसा है। और भी वह कैसा है ? ***तदुभयं*** - और वह स्यात् अस्ति - नास्ति ही है। स्यात् का क्या अर्थ है ? ***कथंचित्***—किसी अपेक्षा से —विवक्षित प्रकार से —क्रम से स्वपरद्रव्यादिचतुष्टय की अपेक्षा स्यात् अस्ति-नास्ति ही है — यह स्यात् का अर्थ है— यह चौथा भंग है।

कैसा सत् इस-इस प्रकार का है ? ***आदिट्ठं*** - कहा हुआ विवक्षित प्रकार का सत् इस-इस प्रकार का है। विवक्षित सत् कैसे इस-इस प्रकार का है ? ***पज्जायेण दु*** -पर्याय से —प्रश्नोत्तररूप नयविभाग से विवक्षित सत् इस-इस प्रकार का है। कैसी पर्याय से अथवा कैसे प्रश्नोत्तररूप नयविभाग से उस रूप है ? ***केण वि***–किसी भी विवक्षितपर्याय से अथवा नैगमादि नयरूप से उस रूप है। ***अण्णं वा***- और दूसरे तीन संयोगीभंगरूप से उस रूप है।

उन संयोगीभंगों को कहते हैं — स्यात् अस्ति - अवक्तव्य ही है। स्यात् का क्या अर्थ है? कथंचित्—विवक्षित प्रकार से —स्वद्रव्यादि चतुष्टय और एकसाथ स्वपरद्रव्यादि चतुष्टय से स्यात् अस्ति - अवक्तव्य ही है— यह स्यात् का अर्थ है— यह पाँचवाँ भंग है।

स्यात् नास्ति-अवक्तव्य ही है। स्यात् का क्या अर्थ है ? कथंचित्— विवक्षित प्रकार से— परद्रव्यादि चतुष्टय और युगपत् (एक साथ) स्व-पर-द्रव्यादिचतुष्टय के द्वारा स्यात् नास्ति-अवक्तव्य ही है — यह स्यात् का अर्थ है— यह छठवाँ भंग है।

स्यात् अस्ति-नास्ति- अवक्तव्य ही है। स्यात् का क्या अर्थ है ? कथंचित् —विवक्षितप्रकार से— क्रम से स्व-पर द्रव्यादि चतुष्टय और एक साथ स्व-पर द्रव्यादिचतुष्टय से स्यात् अस्ति-नास्ति- अवक्तव्य ही है — यह स्यात् का अर्थ है— यह सातवाँ भंग है।

पूर्वं *पंचास्तिकाये* स्यादस्तीत्यादिप्रमाणवाक्येन प्रमाणसप्तभंगी व्याख्याता, अत्र तु स्यादस्त्येव, यदेवकारग्रहणं तन्नयसप्तभंगीज्ञापनार्थमिति भावार्थः ।

यथेदं नयसप्तभंगीव्याख्यानं शुद्धात्मद्रव्ये दर्शितं तथा यथासंभवं सर्वपदार्थेषु द्रष्टव्यमिति ॥ १२५ ॥

एवं नयसप्तभंगीव्याख्यानगाथयाष्टमस्थलं गतम् ।

पहले 'पंचास्तिकाय संग्रह' नामक ग्रन्थ में 'स्यात् अस्ति' इत्यादि प्रमाण वाक्य द्वारा (गाथा १४- टीका) प्रमाण सप्तभंगी का व्याख्यान किया था और यहाँ जो 'स्यात् अस्ति एव — स्यात् है ही' इसप्रकार एवकार— 'ही' शब्द का ग्रहण किया है, वह नय सप्तभंगी को बताने के लिये किया है — यह भाव है ।

जैसे यह नय सप्तभंगी का विशेष कथन शुद्धात्मद्रव्य में घटित कर दिखाया है, उसीप्रकार यथासंभव सभी पदार्थों में देखना चाहिये ।

भावार्थ- कोई भी विवक्षित सत् किसी भी विवक्षित पर्याय से अथवा प्रश्नोत्तररूप नैगमादि नय-विभाग से सातरूपों में कहा जाता है । वे सातरूप इसप्रकार हैं — स्यात् अस्ति एव, स्यात् नास्ति एव, स्यात् अवक्तव्य एव, स्यात् अस्ति-नास्ति एव, स्यात् अस्ति-अवक्तव्य एव, स्यात् नास्ति- अवक्तव्य एव, स्यात् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य एव ।

इन्हें शुद्धजीवद्रव्य के स्वद्रव्यादिचतुष्टय पर घटित कर स्पष्ट करते हैं— स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को द्रव्यादि का स्वचतुष्टय कहते हैं । शुद्धगुण और शुद्धपर्यायों का आधारभूत शुद्धात्मद्रव्य शुद्ध जीव का स्वद्रव्य है, लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेश उसका स्वक्षेत्र है, वर्तमान शुद्ध जीव पर्याय रूप परिणत वर्तमान समय उसका स्वकाल है और शुद्ध चैतन्य उसका स्वभाव है ।

(१) शुद्ध जीव द्रव्य स्यात् अस्ति एव — कथंचित् है ही । अर्थात् उपर्युक्त स्वद्रव्यादिचतुष्टय की अपेक्षा है ही । (कथंचित्— किसी अपेक्षा)

(२) वह स्यात् नास्ति एव— कथंचित् नहीं ही है । उपर्युक्त स्वद्रव्यादिचतुष्टय से भिन्न अन्य सभी की अपेक्षा अर्थात् पर द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा नहीं ही है ।

(३) वह स्यात् अवक्तव्य ही है— कथंचित् कहने योग्य नहीं ही है— किसी अपेक्षा कहा ही नहीं जा सकता है । अर्थात् उपर्युक्त स्व-पर चतुष्टय रूप अस्ति-नास्ति को एक साथ कहने पर कहा ही नहीं जा सकता ।

(४) वह स्यात् अस्ति-नास्ति ही है — कंथचिंत् है ही और नहीं ही है । उपर्युक्त स्व-पर-चतुष्टयरूप अस्ति- नास्ति की क्रम से विवक्षा में कथंचित्— स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा है ही और परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा नहीं ही है ।

(५) वह स्यात् अस्ति-अवक्तव्य ही है — कथंचित् है ही और कथंचित् कहा ही नहीं जा सकता । स्वचतुष्टयरूप अस्ति की मुख्यतापूर्वक स्व-पर-चतुष्टयरूप अस्ति-नास्ति को एक साथ कहने की अपेक्षा कथंचित् है ही और कहा ही नहीं जा सकता है ।

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण प्रथमा नमस्कारगाथा, द्रव्यगुणपर्यायकथनरूपेण द्वितीया, स्वसमयपरसमयप्रतिपादनेन तृतीया, द्रव्यस्य सत्तादिलक्षणत्रयसूचनरूपेण चतुर्थीति स्वतन्त्रगाथाचतुष्टयेन पीठिकास्थलम्। तदनन्तरमवान्तरसत्ताकथनरूपेण प्रथमा, महासत्तारूपेण द्वितीया, यथा द्रव्यं स्वभावसिद्धं तथा सत्तागुणोऽपीति कथनरूपेण तृतीया, उत्पादव्ययध्रौव्यत्वेऽपि सत्तैव द्रव्यं भवतीति कथनेन चतुर्थीति गाथाचतुष्टयेन सत्तालक्षणविवरणमुख्यता। तदनन्तरमुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणविवरणमुख्यत्वेन गाथात्रयं, तदनन्तरं द्रव्यपर्यायकथनेन गुणपर्यायकथनेन च गाथाद्वयं, ततश्च द्रव्यस्यास्तित्वस्थापनारूपेण प्रथमा, पृथक्त्वलक्षणस्यातद्भावाभिधानान्यत्वलक्षणस्य च कथनरूपेण द्वितीया, संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदरूपस्यातद्भावस्य विवरणरूपेण तृतीया, तस्यैव दृढीकरणार्थं चतुर्थीति गाथाचतुष्टयेन सत्ताद्रव्ययोरभेदविषये

---

(६) वह स्यात् नास्ति-अवक्तव्य ही है— कथंचित् नहीं ही है और कथंचित् कहा ही नहीं जा सकता है। पर चतुष्टयरूप नास्ति की मुख्यतापूर्वक स्व-पर-चतुष्टयरूप अस्ति-नास्ति को एक साथ कहने की अपेक्षा कथंचित् नहीं ही है और कहा ही नहीं जा सकता है।

(७) वह स्यात् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य ही है—कथंचित् है ही, नहीं ही है और कथंचित् कहा ही नहीं जा सकता है । स्व-पर-चतुष्टयरूप अस्ति-नास्ति की क्रम से मुख्यतापूर्वक इन्हीं को एक साथ कहने की अपेक्षा कथंचित् है ही, नहीं ही है, और कहा ही नहीं जा सकता है।

इनमें से पहला, दूसरा और तीसरा— ये तीन भंग स्वतंत्र तथा शेष चार उन्हीं तीन के परस्पर संयोग से बने हुये भंग हैं।

विशेषार्थ - 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने नयसप्तभंगी का व्याख्यान करते हुये अन्तिम निष्कर्ष निम्नरूप में दिया है—

"........अनन्त धर्मों वाले द्रव्य के एक-एक धर्म का आश्रय कर विवक्षित - अविवक्षित में विधि-निषेध द्वारा प्रगट होने वाली सप्तभंगी एवकार में रहने वाले सतत समुच्चरित स्यात्काररूप अमोघ मंत्र पद से सम्पूर्ण विरोध-विषरूपी मोह को नष्ट कर देती है।"[१] ॥ १२५ ॥

इसप्रकार पूर्वोक्त प्रकार से पहली नमस्कार गाथा, द्रव्य-गुण-पर्याय कथनरूप से दूसरी, स्वसमय-परसमय प्रतिपादनरूप से तीसरी, द्रव्य के सत्ता आदि तीन लक्षणों की सूचनारूप से चौथी—इसप्रकार चार स्वतंत्र गाथाओं द्वारा पहला पीठिका स्थल है। उसके बाद अवान्तर-सत्ता कथनरूप पहली, महासत्तारूप दूसरी, जैसे द्रव्य स्वभावसिद्ध है उसीप्रकार सत्तागुण भी स्वभावसिद्ध है—इस कथनरूप तीसरी, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप से भी सत्ता ही द्रव्य है — इस कथनरूप चौथी— इसप्रकार चार गाथाओं द्वारा सत्तालक्षण विवरण की मुख्यता वाला दूसरा स्थल है। तत्पश्चात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के लक्षण विवरण-परक तीन गाथाओं वाला तीसरा स्थल, उसके बाद द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय के कथनरूप दो गाथाओं वाला चौथा स्थल, तदनन्तर द्रव्य के अस्तित्व की स्थापनारूप पहली, पृथक्त्व लक्षण और अतद्भाव नाम अन्यत्व लक्षण के कथनरूप दूसरी, संज्ञा-लक्षण-प्रयोजन आदि भेदरूप अतद्भाव के विवरणरूप तीसरी, उसे

---

१. प्रवचनसार, गाथा ११५, तत्त्वप्रदीपिका टीका।

युक्तिकथनमुख्यता। तदनन्तरं सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिकथनेन प्रथमा, गुणपर्यायाणां द्रव्येण सहाभेदकथनेन द्वितीया चेति स्वतन्त्रगाथाद्वयम्। तदनन्तरं द्रव्यस्य सदुत्पादासदुत्पादयो: सामान्यव्याख्यानेन विशेषव्याख्यानेन च गाथाचतुष्टयं, ततश्च सप्तभंगीकथनेन गाथैका चेति समुदायेन चतुर्विंशतिगाथाभिरष्टभि: स्थलै: सामान्यज्ञेयव्याख्यानमध्ये सामान्यद्रव्यप्ररूपणं समाप्तम्।

अत: परं तत्रैव सामान्यद्रव्यनिर्णयमध्ये सामान्यभेदभावनामुख्यत्वेनैकादशगाथापर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तत्र क्रमेण पंचस्थलानि भवन्ति। प्रथमतस्तावद्वार्तिकव्याख्यानाभिप्रायेण सांख्यैकान्तनिराकरणं, अथवा शुद्धनिश्चयनयेन जैनमतमेवेति व्याख्यानमुख्यतया '*एसो त्ति णत्थि कोई*' इत्यादि सूत्रगाथैका। तदनन्तरं मनुष्यादिपर्याया निश्चयनयेन कर्मफलं भवति, न च शुद्धात्मस्वरूपमिति तस्यैवाधिकारसूत्रस्य विवरणार्थं '*कम्मं णामसमक्खं*' इत्यादिपाठक्रमेण गाथाचतुष्टयं, तत: परं रागादिपरिणाम एव द्रव्यकर्मकारणत्वाद्भावकर्म भण्यत इति परिणाममुख्यत्वेन '*आदा कम्ममलिमसो*' इत्यादिसूत्रद्वयं, तदनन्तरं कर्मफलचेतना कर्मचेतना ज्ञानचेतनेति त्रिविधचेतनाप्रतिपादनरूपेण '*परिणमदि चेदणाए*' इत्यादिसूत्रत्रयं, तदनन्तरं शुद्धात्मभेदभावनाफलं कथयन् सन् '*कत्ताकरणं*' इत्याद्येकसूत्रेणोपसंहरति।

एवं भेदभावनाधिकारे स्थलपंचकेन समुदायपातनिका।

ही दृढ़ करने के लिये चौथी—इसप्रकार चार गाथाओं द्वारा सत्ता-द्रव्य के अभेद विषय में युक्ति पूर्वक कथन की मुख्यता वाला पाँचवाँ स्थल है। उसके बाद सत्ता और द्रव्य के गुण-गुणी कथनरूप पहली, गुण-पर्यायों का द्रव्य के साथ अभेद कथनरूप दूसरी—इसप्रकार दो स्वतन्त्र गाथाओं वाला छठवाँ स्थल है। तदुपरान्त द्रव्य के सदुत्पाद और असदुत्पाद के सामान्य और विशेष व्याख्यानरूप से चार गाथाओं वाला सातवाँ स्थल है और उसके बाद सप्तभंगी के कथनरूप एक गाथा वाला आठवाँ स्थल है।

इसप्रकार सामूहिक रूप से चौबीस गाथाओं में निबद्ध आठ स्थलों वाला 'ज्ञेय-तत्त्व-प्रज्ञापन' नामक द्वितीयमहाधिकार के प्रथम 'सामान्य-ज्ञेय-व्याख्यानाधिकार' में 'सामान्य-द्रव्य-प्ररूपण' नामक प्रथम अन्तराधिकार समाप्त हुआ।

अब, इसके बाद वहाँ सामान्यज्ञेयव्याख्यान नामक प्रथमाधिकार में ही प्रथम सामान्यद्रव्यनिर्णय अन्तराधिकार के बाद सामान्यभेदभावना नामक द्वितीय अन्तराधिकार में सामान्यभेदभावना की मुख्यता से ग्यारह गाथाओं तक व्याख्यान करते हैं। वहाँ क्रम से पाँच स्थल हैं।

सर्वप्रथम वार्तिक व्याख्यान के अभिप्राय से सांख्य-एकान्तमत का निराकरण, अथवा शुद्धनिश्चयनय से जैनमत ही है— इसप्रकार व्याख्यान की मुख्यता से "**एसो त्ति णत्थि कोई -**" इत्यादि एक गाथा वाला पहला स्थल है। उसके बाद मनुष्यादि पर्यायें निश्चयनय से कर्म के फल हैं, शुद्धात्मा का स्वरूप नहीं हैं— इसप्रकार उस ही अधिकारसूत्र के विवरण के लिये "**कम्मं णामसमक्खं—**" इत्यादि पाठक्रम से चार गाथाओं वाला दूसरा स्थल है; तत्पश्चात् रागादि परिणाम ही द्रव्यकर्म के कारण होने से भावकर्म कहलाते हैं— इसप्रकार परिणाम की मुख्यता से "**आदा कम्ममलिमसो-**" इत्यादि दो गाथाओं वाला तीसरा स्थल है; उसके बाद कर्मफल चेतना, कर्मचेतना, ज्ञान चेतना— इसप्रकार त्रिविध चेतना के प्रतिपादन रूप "***परिणमदि चेदणाए—***" इत्यादि तीन गाथाओं वाला चौथास्थल है और उसके बाद शुद्धात्मभेदभावना का फल कहते हुये "***कत्ताकरणं—***" इत्यादि एक गाथा द्वारा उपसंहार करते हैं— यह पाँचवाँ स्थल है।

इसप्रकार सामान्यभेदभावना अन्तराधिकार में पाँच स्थलों द्वारा सामूहिक पातनिका पूर्ण हुई।

तद्यथा-अथ मनुष्यादिपर्यायाः कर्माधीनत्वेन विनश्वरत्वादेव शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्वरूपं न भवन्तीति भेदभावना कथयति -

एसो त्ति णत्थि कोई ण णत्थि किरिया सहावणिव्वत्ता।(१२६)

किरिया हि णत्थि अफला धम्मो जदि णिप्फलो परमो ॥ १२६ ॥

सामान्य-भेद-भावना संज्ञक द्वितीयान्तराधिकार - स्थल विभाजन

स्थल क्रम	स्थल प्रतिपादित विषय	कहाँ से कहाँ तक गाथायें	कुल गाथायें
प्रथम	सांख्यमत का निराकरण कर शुद्धनिश्चयनय से जैनमत निरूपण	१२६ वीं	१
द्वितीय	मनुष्यादि पर्यायें कर्मजनित हैं - शुद्धात्म स्वरूप नहीं हैं	१२७ से १३०	४
तृतीय	द्रव्यकर्मबन्ध के कारण मनुष्यादि परिणमन हो जाता है	१३१ से १३२	२
चतुर्थ	निश्चय भेदरूप जीवस्वरूपक	१३३ से १३५	३
पंचम	शुद्धात्मभेदभावना का कथन-उपसंहार	१३६	१
कुल पाँच स्थल		कुल ११ गाथायें	

(अब, यहाँ सांख्यमत का निराकरण कर शुद्धनिश्चयनय से जैनमत-निरूपक एक गाथा वाला सामान्यभेदभावना नामक दूसरे अन्तराधिकार का प्रथम स्थल प्रारम्भ होता है ।)

वह इसप्रकार— अब, मनुष्य-नारक आदि पर्यायें कर्मों के (उदय के) आधीन होने से विनाशशील होने के कारण, शुद्धनिश्चयनय से जीव का स्वरूप नहीं है, ऐसी भेद-भिन्नता की भावना को कहते हैं—

'यही' ऐसा कोइ ना नहि ना स्वभाव रचित क्रिया।

हो धर्म निष्फल परम यदि पर अफल ना कोई क्रिया ॥ १२६ ॥

गाथार्थ - (मनुष्यादि पर्यायों में) 'यही' ऐसी कोई भी पर्याय नहीं है अर्थात् कोई भी पर्याय शाश्वत नहीं है, तथा (संसारी जीवों के) स्वभाव (विभाव स्वभाव) निष्पन्न क्रिया नहीं है— ऐसा नहीं है । और यदि उत्कृष्ट धर्म (संसार-प्राप्ति के लिये) निष्फल है, तो क्रिया वास्तव में अफल नहीं है अर्थात् उससे तो संसार-प्राप्ति होती ही है ।

एसो त्ति णत्थि कोई टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावपरमात्मद्रव्यवत्संसारे मनुष्यादिपर्यायेषु मध्ये सर्वदैवैष एकरूप एव नित्यः कोऽपि नास्ति। तर्हि मनुष्यादिपर्यायनिर्वर्तिका संसारक्रिया सापि न भविष्यति। ण णत्थि किरिया न नास्ति क्रिया मिथ्यात्वरागादिपरिणतिस्संसारः कर्मेति यावत् इति पर्यायनामचतुष्टयरूपा क्रियास्त्येव। सा च कथंभूता। *सभावणिव्वत्ता* शुद्धात्मस्वभावाद्विपरीतापि नरनारकादिविभावपर्यायस्वभावेन निर्वृत्ता। तर्हि किं निष्फला भविष्यति। *किरिया हि णत्थि अफला* क्रिया हि नास्त्यफला सा मिथ्यात्वरागादिपरिणतिरूपा क्रिया यद्यप्यनन्तसुखादिगुणात्मकमोक्षकार्यं प्रति निष्फला तथापि नानादुःखदायकस्वकीयकार्यभूतमनुष्यादिपर्यायनिर्वर्तकत्वात्सफलेति मनुष्यादिपर्यायनिष्पत्तिरेवास्याः फलम्। कथं ज्ञायत इति चेत्। *धम्मो जदि णिप्फलो परमो* धर्मो यदि निष्फलः परमः नीरागपरमात्मोपलम्भपरिणतिरूपः आगमभाषया परमयथाख्यातचारित्ररूपो वा योऽसौ परमो धर्मः, स केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादकत्वात्सफलोऽपि नरनारकादिपर्यायकारणभूतं ज्ञानावरणादिकर्मबन्धं नोत्पादयति, ततः कारणान्निष्फलः।

ततो ज्ञायते नरनारकादिसंसारकार्यं मिथ्यात्वरागादिक्रियायाः फलमिति।

अथवास्य सूत्रस्य द्वितीयव्याख्यानं क्रियते– यथा शुद्धनयेन रागादिविभावेन न परिणमत्ययं जीवस्तथैवाशुद्धनयेनापि न परिणमतीति यदुक्तं सांख्येन तन्निराकृतम्। कथमिति चेत्। अशुद्धनयेन मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणतजीवानां नरनारकादिपर्यायपरिणतिदर्शनादिति ॥ १२६ ॥

एवं प्रथमस्थले सूत्रगाथा गता।

टीकार्थ- *एसो त्ति णत्थि कोई*- टाँकी से उकेरे हुये के समान ज्ञायक एक स्वभावी परमात्मद्रव्य के सदृश संसार में मनुष्यादि पर्यायों में से 'हमेशा ही यह एक रूप ही नित्य है'–ऐसा कोई भी नहीं है। तो मनुष्यादि पर्यायों को रचने वाली संसार सम्बन्धी क्रिया– वह भी नहीं होगी ? ***ण णत्थि किरिया*-** मिथ्यात्व, रागादि परिणतिरूप संसार-क्रिया नहीं है– ऐसा नहीं है; अपितु चार पर्याय रूप क्रिया है ही। और वह क्रिया कैसी है ? ***सभावणिव्वत्ता*-**शुद्धात्म-स्वभाव से विपरीत होने पर भी मनुष्य, नारकी आदि विभाव पर्याय स्वभाव से रची हुई है– उस रूप है। तो क्या वह क्रिया निष्फल होगी ? ***किरिया हि णत्थि अफला*-** वह मिथ्यात्व रागादि परिणति रूप क्रिया,यद्यपि अनन्तसुख आदि गुणस्वरूप मोक्षरूपी कार्य के प्रति निष्फल है; तथापि अनेक प्रकार के दुखों को देने वाली, अपने कार्यरूप मनुष्य आदि पर्यायों को रचने वाली होने से सफल–फल सहित ही है, मनुष्यादि पर्यायों की उत्पत्ति ही उसका फल है। यह कैसे जाना जाता है ? यदि ऐसा कहो तो कहते हैं– ***धम्मो जदि णिप्फलो परमो*-** रागरहितपरमात्मा की प्राप्तिरूप से परिणत अथवा आगमभाषा से परमयथाख्यातचारित्ररूप परिणत जो वह उत्कृष्टधर्म है – वह केवलज्ञान आदि अनन्तचतुष्टय की प्रगटतारूप कार्यसमयसार को उत्पन्न करने वाला होने से फल सहित होने पर भी मनुष्य, नारकी आदि पर्यायों के कारणभूत ज्ञानावरणादि कर्मों के बन्ध को उत्पन्न नहीं करता है, इसलिये निष्फल–फल रहित है।

इससे जाना जाता है कि मनुष्य, नारकी आदि संसाररूपकार्य मिथ्यात्व, रागादि क्रियाओं के फल हैं।

अथवा इस गाथा का दूसरा अर्थ करते हैं– जैसे यह जीव शुद्धनय से रागादिविभावरूप परिणमित नहीं होता है, वैसे ही अशुद्धनय से भी परिणमित नहीं होता है– ऐसा जो सांख्यमत के द्वारा कहा गया है, उसका निराकरण किया है। इससे उनका निराकरण कैसे किया है ? इसका उत्तर देते हैं–अशुद्धनय से मिथ्यात्व रागादि विभावरूप परिणत जीवों के मनुष्य, नारकी आदि पर्यायों रूप परिणति दिखाई देने के कारण. वे इस रूप परिणमित होते हैं–यह स्पष्ट हुआ– इससे उनका निराकरण हो गया।

अथ मनुष्यादिपर्याया: कर्मजनिता इति विशेषेण व्यक्तीकरोति –

कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण ।(११७)
अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि ॥ १२७ ॥

कम्मं कर्मरहितपरमात्मनो विलक्षणं कर्म कर्तृ । किंविशिष्टम् । *णामसमक्खं* निर्नामनिर्गोत्रमुक्तात्मनो - विपरीतं नामेति सम्यगाख्या संज्ञा यस्य तद्भवति नामसमाख्यं नामकर्मेत्यर्थः । *सभावं* शुद्धबुद्धैकपरमात्मस्वभावं *अह* अथ *अप्पणो सहावेण* आत्मीयेन ज्ञानावरणादिस्वकीयस्वभावेन करणभूतेन *अभिभूय* तिरस्कृत्य प्रच्छाद्य तं पूर्वोक्तमात्मस्वभावम् । पश्चात्किं करोति । *णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि* नरतिर्यग्नारकसुररूपं करोतीति ।

भावार्थ- मिथ्यात्व, रागादि परिणति रूप संसारक्रिया से उत्पन्न होने वाली, शुद्धात्मस्वभाव से विपरीत मनुष्य, नारकी आदि कोई भी संसारीपर्यायें, विभाव स्वभाव से रचित होने के कारण टाँकी से उकेरे हुये के समान ज्ञायक एकस्वभावी परमात्मद्रव्य के सदृश शाश्वत–नित्य–यही है, ऐसी सदैव एकरूप नहीं हैं । उन मिथ्यात्वादि क्रिया का फल मनुष्यादि पर्यायें, स्थाई न होने से वे क्रियायें हैं ही नहीं– ऐसा भी नहीं है । वे क्रियायें हैं तथा वे यद्यपि अनन्त सुख आदि गुण स्वरूप मोक्ष रूपी कार्य के प्रति निष्फल–फल रहित– व्यर्थ हैं, तथापि अनेक प्रकार के दु:खों को देने वाली मनुष्यादि पर्यायों को अपने कार्य रूप से रचने वाली होने से सफल–फल सहित ही हैं ।

इसीप्रकार रागादि-रहित-परमात्मा की पूर्ण प्राप्तिरूप तथा आगमभाषा में परमयथाख्यातचरित्र से कहा जाने वाला उत्कृष्टधर्म केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टय की प्रगटतारूप कार्यसमयसार को उत्पन्न करने वाला होने से फल सहित होने पर भी मनुष्य, नारकी आदि पर्यायों के कारणभूत ज्ञानावरणादिकर्मों का बन्ध करने वाला नहीं होने से संसार की अपेक्षा निष्फल–फल रहित–व्यर्थ ही है, उससे संसार नहीं मिलता है ॥ १२६ ॥

इसप्रकार प्रथम स्थल में अधिकारसूत्ररूप एक गाथा पूर्ण हुई ।

(अब, प्रथम स्थल के अधिकारसूत्र का विवरणपरक अथवा मनुष्यादिपर्यायें वास्तव में कर्मफल हैं, शुद्धात्मस्वरूप नहीं– इस तथ्य का प्रतिपादक चार गाथाओं वाला दूसरा स्थल प्रारम्भ होता है ।)

अब, मनुष्यादि पर्यायें कर्मजनित हैं, ऐसा विशेष रूप से स्पष्ट करते हैं–

निजभाव से ही 'नाम' नामक कर्म जीव स्वभाव को ।
अभिभूत कर करता तिर्यग्-नर-अमर-नारक जीव को ॥ १२७ ॥

गाथार्थ- 'नाम' नामक कर्म अपने स्वभाव से जीव के स्वभाव का पराभव करके मनुष्य, तिर्यंच, नारक और देव पर्यायों को करता है ।

टीकार्थ– *कम्मं*- कर्म रहित परमात्मा से विलक्षण कर्मरूप कर्ता । कर्म किस विशेषता वाला है ? ***णामसमक्खं***-नाम रहित, गोत्र रहित मुक्तात्मा से विपरीत 'नाम' ऐसा सम्यक् नाम है जिसका वह 'नाम' नामक कर्म–नामकर्म है– ऐसा अर्थ है । ***सभावं***- शुद्ध-बुद्ध एक परमात्मस्वभाव को, ***अह***- अब ***अप्पणो सहावेण***- अपने–ज्ञानावरणादि अपने स्वभावरूप साधन द्वारा ***अभिभूय***- उस पूर्वोक्त आत्मस्वभाव का तिरस्कार कर । बाद में क्या करता है ? ***णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि***- मनुष्य, तिर्यंच, नारक और देवरूप करता है ।

अयमत्रार्थः— यथाग्निः कर्ता तैलस्वभावं कर्मतापन्नमभिभूय तिरस्कृत्य वर्त्याधारेण दीपशिखारूपेण परिणमयति, तथा कर्माग्निः कर्ता तैलस्थानीयं शुद्धात्मस्वभावं तिरस्कृत्य वर्तिस्थानीयशरीराधारेण दीपशिखास्थानीयनरनारकादिपर्यायरूपेण परिणमयति । ततो ज्ञायते मनुष्यादिपर्यायाः निश्चयनयेन कर्मजनिता इति ॥ १२७ ॥

अथ नरनारकादिपर्यायेषु कथं जीवस्य स्वभावाभिभवो जातस्तत्र किं जीवाभाव इति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति—

णरणारयतिरियसुरा जीवा खलु णामकम्मणिव्वत्ता ।(११८)
ण हि ते लद्धसहावा परिणममाणा सकम्माणि ॥ १२८ ॥

यहाँ अर्थ यह है— जैसे अग्निरूपी कर्ता, कर्मरूपी तैल के स्वभाव का तिरस्कार कर, बत्ती के माध्यम से दीपशिखा—दीपक की लों —ज्योतिरूप से परिणमन करता है, उसीप्रकार कर्माग्निरूपी कर्ता, तैल के स्थान पर शुद्धात्मस्वभाव का तिरस्कार कर, बत्ती के स्थान पर शरीर के माध्यम से दीपशिखा के समान मनुष्य, नारक आदि पर्यायरूप परिणमन करता है । इससे ज्ञात होता है कि मनुष्यादि पर्यायें निश्चयनय से कर्म-जनित हैं ।

भावार्थ— नाम, गोत्र आदि सर्वकर्मों से रहित परमात्मा से विपरीत 'नाम' नामक कर्म ज्ञानावरणादि अपनेस्वभावरूप साधन द्वारा शुद्ध-बुद्ध एक परमात्म-स्वभाव का तिरस्कार कर आत्मा को मनुष्य, नारक, तिर्यंच और देव रूप करता है । इसे ही टीका में अग्नि, तैल, बत्ती के उदाहरण से स्पष्ट किया है ।

विशेषार्थ - इस प्रकरण में 'आचार्य प्रभाचन्द्र' ने 'वा' शब्द से मार्गणास्थान, गुणस्थान, जीवस्थान आदि विकल्पों को भी (कर्म ही) करने वाला लिखा है । मूल वाक्य इसप्रकार है—

"वा शब्दात् मार्गणा-गुण-जीवस्थानविकल्पानपि करोति ।"[1] ॥ १२७ ॥

अब, मनुष्य-नारक आदि पर्यायों में जीव के स्वभाव का तिरस्कार कैसे होता है, वहाँ (उस स्वभावतिरस्कार में) क्या जीव का अभाव हो जाता है ? ऐसा प्रश्न होने पर उसका उत्तर देते हैं—

हैं नामकर्म रचित अमर नर नारकी तिर्यग सभी ।
निज-निज करम से परिणमित निजभाव उपलब्धी नहीं ॥ १२८ ॥

गाथार्थ— वास्तव में नामकर्म से रचे हुये वे मनुष्य , नारक, तिर्यंच और देव अपने-अपने कर्मरूप से परिणमन करते हुये स्वभाव को प्राप्त नहीं हैं ।

१. प्रवचनसार, गाथा १२५, प्रवचनसार सरोजभास्करटीका ।

णरणारयतिरियसुरा जीवा नरनारकतिर्यक्सुरनामानो जीवाः सन्ति तावत् । *खलु* स्फुटम् । कथंभूताः । *णामकम्मणिव्वत्ता* नरनारकादिस्वकीयस्वकीयनामकर्मणा निर्वृत्ताः । *ण हि ते लद्धसहावा* किंतु यथा माणिक्य-बद्धसुवर्णकंकणेषु माणिक्यस्य हि मुख्यता नास्ति, तथा ते जीवाश्चिदानन्दैकशुद्धात्मस्वभावमलभमानाः सन्तो लब्धस्वभावा न भवन्ति, तेन कारणेन स्वभावाभिभवो भण्यते, न च जीवाभावः । कथंभूताः सन्तो लब्ध-स्वभावा न भवन्ति । *परिणममाणा सकम्माणि* स्वकीयोदयागतकर्माणि सुखदुःखरूपेण परिणममाना इति ।

अयमत्रार्थः–यथा वृक्षसेचनविषये जलप्रवाहश्चन्दनादिवनराजिरूपेण परिणतः सन्स्वकीयकोमल-शीतल निर्मलादिस्वभावं न लभते, तथायं जीवोऽपि वृक्षस्थानीयकर्मोदयपरिणतः सन्परमाह्लादैकलक्षण-सुखामृतास्वादनैर्मल्यादिस्वकीयगुणसमूहं न लभत इति ॥ १२८ ॥

टीकार्थ- ***णरणारयतिरियसुरा जीवा***– मनुष्य, नारक, तिर्यंच, देव नाम वाले जीव हैं । ***खलु***- वास्तव में । मनुष्यादि जीव कैसे हैं ? ***णामकम्मणिव्वत्ता***– वे मनुष्य, नारक आदि अपने-अपने नामकर्म से रचित हैं । ***ण हि ते लद्धसहावा***- किन्तु जैसे माणिक्य से जड़े हुये सुवर्णकंकणों में वास्तव में माणिक्य की मुख्यता नहीं है, उसीप्रकार वे जीव ज्ञानानन्द एक शुद्धात्मस्वभाव को प्राप्त नहीं करते हुये प्राप्तस्वभाव वाले नहीं हैं; उसकारण स्वभाव का तिरस्कार कहा जाता है; जीव का अभाव स्वभाव का तिरस्कार नहीं है । वे जीव कैसे होते हुये प्राप्तस्वभाववाले (शुद्धोपयोगरूप अतीन्द्रियानन्दमय परिणमित) नहीं हैं ? ***परिणममाणा सकम्माणि***- अपने उदय में आये हुये कर्मों के प्रति सुख-दुःख रूप से परिणमन करते हुये वे जीव प्राप्तस्वभाव वाले नहीं हैं ।

यहाँ अर्थ यह है — जैसे वृक्षसिंचन के विषय में प्रवाहित जल, चन्दन आदि वनों की पंक्ति रूप से परिणत होता हुआ अपने कोमल, शीतल, निर्मल आदि स्वभाव को प्राप्त नहीं होता है; उसीप्रकार यह जीव भी वृक्षों के समान कर्मों के उदय से परिणत होता हुआ उत्कृष्ट आह्लाद एक लक्षण सुखरूपी अमृत का आस्वाद, नैर्मल्य (सर्वविकार रहितता—निर्मलता) आदि अपने गुण- समूह को प्राप्त नहीं करता है ।

भावार्थ- जैसे किसी अज्ञानी जन को माणिक्य से जड़े हुये सुवर्णकंकणों में माणिक्य मुख्य नहीं होता है; उसीप्रकार वास्तव में अपने-अपने नामकर्म से रचित मनुष्य, नारक, तिर्यंच, देव उदय में आये हुये कर्मों के प्रति सुख-दुःख रूप परिणमन करते हुये, ज्ञानानन्द एक शुद्धात्मस्वभाव को प्राप्त न करते हुये लब्धस्वभाव (अतीन्द्रियानन्दमय) नहीं हैं; अतः 'स्वभाव का तिरस्कार' ऐसा कहा गया है; जीव का सर्वथा अभाव स्वभाव का तिरस्कार नहीं हैं ।

विशेषार्थ- 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने स्वकर्मरूप परिणमन को ही स्वभाव की अप्राप्ति का प्रधान कारण कहा है [१] ॥ १२८ ॥

---

१. प्रवचनसार, गाथा ११८, तत्त्वप्रदीपिका टीका ।

अथ जीवस्य द्रव्येण नित्यत्वेऽपि पर्यायेण विनश्वरत्वं दर्शयति –

जायदि णेव ण णस्सदि खणभंगसमुब्भवे जणे कोई।(११९)

जो हि भवो सो विलओ संभवविलय त्ति ते णाणा॥ १२९ ॥

जायदि णेव ण णस्सदि जायते नैव न नश्यति द्रव्यार्थिकनयेन। क्व। *खणभंगसमुब्भवे जणे कोई* क्षणभंगसमुद्भवे जने कोऽपि। क्षणं क्षणं प्रति भंगसमुद्भवो यत्र संभवति क्षणभंगसमुद्भवस्तस्मिन्क्षण-भंगसमुद्भवे विनश्वरे पर्यायार्थिकनयेन जने लोके जगति कश्चिदपि, तस्मान्नैव जायते न चोत्पद्यत इति हेतुं वदति। *जो हि भवो सो विलओ* द्रव्यार्थिकनयेन यो हि भवस्स एव विलयो यतः कारणात्।

तथा हि– मुक्तात्मनां य एव सकलविमलकेवलज्ञानादिरूपेण मोक्षपर्यायेण भव उत्पादः स एव निश्चय-रत्नत्रयात्मकनिश्चयमोक्षमार्गपर्यायेण विलयो विनाशस्तौ च मोक्षपर्यायमोक्षमार्गपर्यायौ कार्यकारणरूपेण भिन्नौ, तदुभयाधारभूतं यत्परमात्मद्रव्यं तदेव, मृत्पिण्डघटाधारभूतमृत्तिकाद्रव्यवत् मनुष्यपर्यायदेवपर्यायाधार-भूतसंसारिजीवद्रव्यवद्वा।

अब, जीव का द्रव्य से नित्यपना होने पर भी पर्याय से अनित्यपना दिखाते हैं—

उत्पाद ना कोई न व्यय उत्पाद व्यय युत जगत में।

उत्पाद है जो व्यय वही उत्पाद-व्यय नाना बने॥ १२९ ॥

गाथार्थ– प्रतिसमय उत्पन्न और नष्ट होने वाले जीवलोक में कोई उत्पन्न और नष्ट नहीं होता है, जो उत्पन्न है वही नष्ट है— इसप्रकार उत्पन्न और नष्ट अनेक हैं, भिन्न-भिन्न हैं।

टीकार्थ- ***जायदि णेव ण णस्सदि***-द्रव्यार्थिकनय से न उत्पन्न होता है न नष्ट होता है। कहाँ उत्पन्न और नष्ट नहीं होता है ? ***खणभंगसमुब्भवे जणे कोई***-पर्यायार्थिकनय से प्रतिसमय उत्पाद और व्यय जिसमें संभव हैं—हो रहे हैं, वह क्षणभंग समुद्भव है; उस प्रतिसमय नश्वर उत्पाद- व्यय वाले इस लोक में कोई भी उसकारण से ही न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है — इसप्रकार हेतु कहते हैं। ***जो हि भवो सो विलओ***-जिस कारण द्रव्यार्थिकनय से उत्पाद का ही नाश होता है।

वह इसप्रकार— मुक्तात्मा के जो ही परिपूर्ण, निर्मल केवलज्ञानादिरूप मोक्षपर्याय से उत्पाद है, वही निश्चयरत्नत्रयस्वरूप निश्चयमोक्षमार्गपर्याय से विनाश है और वे दोनों मोक्षपर्याय और मोक्षमार्गपर्याय कार्य-कारण रूप से पृथक्-पृथक् हैं; तथापि मिट्टी के पिण्ड और घड़े के आधारभूत मिट्टी द्रव्य के समान और मनुष्यपर्याय वा देवपर्याय के आधारभूत संसारी जीव के समान,उन दोनों का आधारभूत जो परमात्मद्रव्य है, वह वही है।

क्षणभंगसमुद्भवे हेतुः कथ्यते। *संभवविलय त्ति ते णाणा* संभवविलयौ द्वाविति तौ नाना भिन्नौ यतः कारणात्ततः पर्यायार्थिकनयेन भंगोत्पादौ। तथा हि - य एव पूर्वोक्तमोक्षपर्यायस्योत्पादो मोक्षमार्गपर्यायस्य विनाशस्तावेव भिन्नौ न च तदाधारभूतपरमात्मद्रव्यमिति।

ततो ज्ञायते द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वेऽपि पर्यायरूपेण विनाशोऽस्तीति ॥ १२९ ॥

अथ विनश्वरत्वे कारणमुपन्यस्यति, अथवा प्रथमस्थलेऽधिकारसूत्रेण मनुष्यादिपर्यायाणां कर्मजनितत्वेन यद्विनश्वरत्वं सूचितं तदेव गाथात्रयेण विशेषेण व्याख्यातमिदानीं तस्योपसंहारमाह –

तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदो त्ति संसारे।(१२०)

संसारो पुण किरिया संसरमाणस्स दव्वस्स॥ १३० ॥

तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदो त्ति तस्मान्नास्ति कश्चित्स्वभावसमवस्थित इति। यस्मात्पूर्वोक्तप्रकारेण मनुष्यादिपर्यायाणां विनश्वरत्वं व्याख्यातं तस्मादेव ज्ञायते परमानन्दैकलक्षण परमचैतन्यचमत्कार-

---

प्रतिसमय के उत्पाद और विनाश में हेतु कहते हैं— ***संभवविलय त्ति ते णाणा***- जिसकारण उत्पाद और विनाश दोनों भिन्न हैं, इसलिये पर्यायार्थिकनय से उत्पाद और विनाश हैं। वह इसप्रकार-जो ही पूर्वोक्त मोक्षपर्याय का उत्पाद और मोक्षमार्गपर्याय का विनाश है— वे दोनों भिन्न ही हैं, परन्तु उन दोनों का आधारभूत परमात्मद्रव्य भिन्न नहीं है।

इससे ज्ञात होता है कि द्रव्यार्थिकनय से नित्य होने पर भी पर्यायरूप से विनाशशील है।

भावार्थ - पर्यायार्थिकनय से प्रतिसमय उत्पाद और व्ययरूप इस जगत में,द्रव्यार्थिकनय से वास्तव में कोई भी उत्पन्न और नष्ट नहीं होता है। क्योंकि द्रव्यार्थिकनय से जो उत्पन्न होता है वही नष्ट होता है अर्थात् पर्याय उत्पन्न और नष्ट होती है, द्रव्य उत्पन्न और नष्ट नहीं होता है ॥ १२९ ॥

अब,अनित्यता में कारण का कथन करते हैं।

अथवा पहले स्थल में अधिकारगाथा द्वारा मनुष्यादि पर्यायों का कर्मजनित रूप से जो विनाशीपना सूचित किया था, उसका ही तीन गाथाओं द्वारा विशेषरूप से कथन किया; अब, उसका उपसंहार करते हैं—

संसार में स्व भाव स्थित अतः कोई है नहीं।

संसार है संसरण करते द्रव्य की वह क्रिया ही ॥ १३० ॥

गाथार्थ—इसलिये संसार में 'स्वभाव में अवस्थित' ऐसा कोई भी नहीं है और संसार तो संसरण करते हुये (घूमते हुये जीव) द्रव्य की क्रिया है।

टीकार्थ - ***तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदो त्ति***— इसलिये कोई स्वभाव में समवस्थित नहीं है। जिसकारण पूर्वोक्तप्रकार से मनुष्यादि पर्यायों की नश्वरता का व्याख्यान किया है,उससे ही यह जाना जाता है कि परमानन्द एक लक्षण परमचैतन्यचमत्कारपरिणत शुद्धात्मस्वभाव के समान अवस्थित—नित्य— स्थायी कोई

परिणतशुद्धात्मस्वभाववदवस्थितो नित्यः कोऽपि नास्ति। क्व। *संसारे* निस्संसारशुद्धात्मनो विपरीते संसारे। संसारस्वरूपं कथयति – *संसारो पुण किरिया* संसारः पुनः क्रिया। निष्क्रियनिर्विकल्पशुद्धात्मपरिणतेर्विसदृशी मनुष्यादिविभावपर्यायपरिणतिरूपा क्रिया संसारस्वरूपम् । सा च कस्य भवति। *संसरमाणस्स जीवस्स* विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावमुक्तात्मनो विलक्षणस्य संसरतः परिभ्रमतः संसारिजीवस्येति।

ततः स्थितं मनुष्यादिपर्यायात्मकः संसार एव विनश्वरत्वे कारणमिति ॥ १३० ॥

एवं शुद्धात्मनो भिन्नानां कर्मजनितमनुष्यादिपर्यायाणां विनश्वरत्वकथनमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन द्वितीयस्थलं गतम्।

भी नहीं है। कोई भी स्थायी कहाँ नहीं है ? *संसारे*-संसार से रहित शुद्धात्मा से विपरीत संसार में कोई भी स्थायी नहीं है। संसार का स्वरूप कहते हैं ? *संसारो पुण किरिया*- और संसार क्रिया है। क्रिया रहित, विकल्प रहित शुद्धात्मा की परिणति से विपरीत मनुष्यादि विभाव पर्याय परिणति रूप क्रिया संसार का स्वरूप है। और वह क्रिया किसके होती है ? *संसरमाणस्स जीवस्स*-विशुद्ध - ज्ञान-दर्शन स्वभावी मुक्तात्मा से विपरीत घूमते हुये संसारीजीव के वह क्रिया होती है।

इससे सिद्ध हुआ कि मनुष्यादिपर्यायस्वरूप संसार ही नश्वरता—विनाशीपना में कारण है।

भावार्थ- पूर्वोक्त १२९वीं गाथा से स्पष्ट है कि संसार से रहित शुद्धात्मा से विपरीत इस संसार में परमानन्द एक लक्षण परमचैतन्यचमत्कारपरिणत शुद्धात्मस्वभाव के समान नित्य-स्थायी कोई भी विनाशशील मनुष्यादि पर्यायें नहीं हैं। तथा विशुद्धज्ञान-दर्शन स्वभावी सिद्धभगवान से विपरीत घूमते हुये संसारीजीव की सर्व क्रिया एवं विकल्पों से रहित शुद्धात्मा की परिणति से विपरीत मनुष्यादि विभाव परिणति रूप क्रिया संसार का स्वरूप है।

इससे यह निश्चित हुआ कि मनुष्यादिपर्यायस्वरूप संसार ही उनकी नश्वरता—विनाशशीलता में कारण है।

विशेषार्थ– १. 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने संसार का स्वरूप निम्न प्रकार व्यक्त किया है—

"अब जो परिणमन करते हुये द्रव्य की पूर्व और उत्तर दशा के परित्याग और ग्रहण स्वरूप क्रिया नामक परिणाम—वह संसार का स्वरूप है।"[१]

२. 'आचार्य प्रभाचन्द्र' संसार का स्वरूप निम्न प्रकार व्यक्त करते हैं—

"स्वोपात्तकर्मवशाद् भवाद् भवान्तरावाप्तिः संसारः इति अभिधानात्।[२]

अपने प्राप्त कर्मों के वश से एक पर्याय से दूसरी पर्याय की प्राप्ति संसार है— ऐसा कथन होने से।" ॥१३०॥

इसप्रकार शुद्धात्मा से भिन्न कर्मजनित मनुष्यादि पर्यायों की विनश्वरता के कथन की मुख्यता से चार गाथाओं द्वारा दूसरा स्थल समाप्त हुआ।

१- प्रवचनसार,गाथा १२०, तत्त्वप्रदीपिका टीका।

२- प्रवचनसार,गाथा १२८, प्रवचनसार सरोज भास्कर टीका।

अथ संसारस्य कारणं ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तस्य तु कारणं मिथ्यात्वरागादिपरिणाम इत्यावेदयति-

आदा कम्ममलिमसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्तं। (१२१)

तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो॥ १३१॥

आदा निर्दोषिपरमात्मा निश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावोऽपि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धवशात् *कम्ममलिमसो* कर्ममलीमसो भवति। तथाभवन्सन् किं करोति। *परिणामं लहदि* परिणामं लभते। कथंभूतम्। *कम्मसंजुत्तं* कर्म रहितपरमात्मनो विसदृशकर्मसंयुक्तं मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणामं। *तत्तो सिलिसदि कम्मं* ततः परिणामात् श्लिष्यति बध्नाति। किम्। कर्म। यदि पुनर्निर्मलविवेकज्योतिःपरिणामेन परिणमति तदा तु कर्म मुञ्चति। *तम्हा कम्मं तु परिणामो* तस्मात् कर्मतु परिणामः। यस्माद्रागादिपरिणामेन कर्म बध्नाति, तस्माद्रागादि-विकल्परूपो भावकर्मस्थानीयः सरागपरिणाम एव कर्मकारणत्वादुपचारेण कर्मेति भण्यते।

ततः स्थितं रागादिपरिणामः कर्मबन्धकारणमिति॥ १३१॥

(अब, द्रव्य-बन्ध के कारण रागादि परिणाम ही भाव-बंध है—इस कथन परक दो गाथाओं में निबद्ध तीसरा स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, संसार के कारण ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म हैं और उसके कारण मिथ्यात्व-रागादि परिणाम हैं, ऐसा आवेदन करते हैं—मर्यादा पूर्वक ज्ञान कराते हैं—

हो कर्म से आत्मा मलिन पा कर्म युत परिणाम को।

बंधते हैं उससे कर्म यों कहते कर्म परिणाम को॥ १३१॥

गाथार्थ— कर्म से मलिन आत्मा कर्म संयुक्त परिणाम को प्राप्त करता है, उससे कर्म का बन्ध होता है; इसलिये ये परिणाम ही कर्म हैं।

टीकार्थ— ***आदा***- निर्दोषी परमात्मा निश्चय से शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावी होने पर भी व्यवहार से अनादि कर्म बंध के वश ***कम्ममलिमसो***- कर्म से मलिन है। कर्म से मलिन होने पर वह क्या करता है ? ***परिणामं लहदि***— परिणाम को प्राप्त करता है। कैसे परिणाम को प्राप्त करता है ? ***कम्मसंजुत्तं***- कर्म रहित परमात्मा से विपरीत कर्म सहित मिथ्यात्व रागादि विभाव परिणाम को प्राप्त करता है। ***तत्तो सिलिसदि कम्मं***- उस परिणाम से बँधते हैं। उस परिणाम से क्या बँधते हैं ? उससे कर्म बँधते हैं। और यदि निर्मल भेदज्ञान ज्योति रूप परिणाम से परिणमन करता है, तब कर्म छूट जाते हैं। क्योंकि रागादि परिणाम से कर्म बँधते हैं, इसलिये रागादि विकल्प रूप भावकर्म के स्थानीय सराग परिणाम ही कर्म के कारण होने से उपचार से कर्म कहलाते हैं।

इससे निश्चित हुआ कि रागादि परिणाम कर्म-बंध के कारण हैं।

भावार्थ— निर्दोषी परमात्मा निश्चय से शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावी होने पर भी,व्यवहार से अनादि कर्म बंध के वश कर्म से मलिन होता हुआ,कर्म रहित परमात्मा से विपरीत,कर्म सहित मिथ्यात्व रागादि विभाव परिणामों को प्राप्त करता है, जिससे कर्म बँधते हैं; तथा यदि निर्मल भेदविज्ञान रूप परिणामों से परिणमित होता है, तो कर्म वंध छूट जाता है।

अथात्मा निश्चयेन स्वकीयपरिणामस्यैव कर्ता, न च द्रव्यकर्मण इति प्रतिपादयति।

अथवा द्वितीयपातनिका–शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धनयेन यथैवाकर्ता तथैवाशुद्धनयेनापि सांख्येन यदुक्तं तन्निषेधार्थमात्मनो बन्धमोक्षसिद्ध्यर्थं कथंचित्परिणामित्वं व्यवस्थापयतीति पातनिकाद्वयं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं निरूपयति–

परिणामो सयमादा सा पुण किरिय त्ति होदि जीवमया।(१२२)

किरिया कम्म त्ति मदा तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता॥ १३२ ॥

परिणामो सयमादा परिणामः स्वयमात्मा, आत्मपरिणामस्तावदात्मैव। कस्मात्। परिणामपरिणामिनो-

---

विशेषार्थ– 'आचार्य अमृतचन्द्र' कर्मबन्ध सम्बन्धी इस तथ्य को निम्न प्रकार से स्पष्ट करते हैं–

"जो यह आत्मा का संसार नामक उसप्रकार का परिणाम है, वही द्रव्य कर्म के बंध का कारण है। इस प्रकार के परिणाम का भी कारण कौन है ? (इस प्रश्न का उत्तर देते हुये आचार्य लिखते हैं) द्रव्यकर्म उस परिणाम का हेतु है, द्रव्यकर्म की संयुक्तता से पाया जाने के कारण।

प्रश्न– ऐसा होने पर परस्पराश्रय दोष आता है ?

उत्तर– अनादि प्रसिद्ध द्रव्य कर्म से सम्बन्धित आत्मा के पहले बँधे हुये कर्म का, वहाँ कारणरूप से ग्रहण होने से परस्पराश्रय दोष नहीं आता है।"[१] ॥ १३१ ॥

अब, आत्मा निश्चय से अपने परिणामों का ही कर्ता है, द्रव्यकर्मों का नहीं, ऐसा प्रतिपादित करते हैं–

अथवा दूसरी पातनिका–शुद्ध-पारिणामिक-परमभाव-ग्राहक-शुद्ध- नय से जैसे आत्मा अकर्ता है, उसी प्रकार अशुद्ध- नय से भी अकर्ता है–ऐसा सांख्यों द्वारा जो कहा गया है, उसके निषेध के लिये और आत्मा का बंध-मोक्ष सिद्ध करने के लिए कथंचित् परिणामीपने की व्यवस्था करते हैं–

इसप्रकार दोनों पातनिकाओं को मन में धारणकर यह गाथा कहते हैं–

परिणाम है स्वयमेव आतम आत्ममय क्रिया वही।

क्रिया करम मानी इसी से कर्म का कर्ता नहीं॥ १३२ ॥

गाथार्थ– परिणाम स्वयं आत्मा है और वह क्रिया–परिणाम जीवमय है, क्रिया कर्म मानी गई है; इसलिये कर्म (द्रव्यकर्म) का कर्ता आत्मा नहीं है।

टीकार्थ– ***परिणामो सयमादा***–परिणाम स्वयं आत्मा है, आत्मा का परिणाम आत्मा ही है। आत्मा का

१- प्रवचनसार, गाथा १२१, तत्त्वप्रदीपिका टीका।

स्तन्मयत्वात्। *सा पुण किरिय त्ति* होदि सा पुनः क्रियेति भवति, स च परिणामः क्रिया परिणतिरिति भवति। कथंभूता। *जीवमया* जीवेन निर्वृत्तत्वाज्जीवमयी। *किरिया कम्म त्ति मदा* जीवेन स्वतन्त्रेण स्वाधीनेन शुद्धाशुद्धोपादानकारणभूतेन प्राप्यत्वात्सा क्रिया कर्मेति मता संमता। कर्मशब्देनात्र यदेव चिद्रूपं जीवादभिन्नं भावकर्मसंज्ञं निश्चयकर्म तदेव ग्राह्यम्। तस्यैव कर्ता जीवः। *तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता* तस्माद्द्रव्यकर्मणो न कर्तेति।

अत्रैतदायाति – यद्यपि कथंचित् परिणामित्वे सति जीवस्य कर्तृत्वं जातं तथापि निश्चयेन स्वकीयपरिणामानामेव कर्ता, पुद्गलकर्मणां व्यवहारेणेति। तत्र तु यदा शुद्धोपादानकारणरूपेण शुद्धोपयोगेन परिणमति तदा मोक्षं साधयति, अशुद्धोपादानकारणेन तु बन्धमिति। पुद्गलोऽपि जीववन्निश्चयेन स्वकीयपरिणामानामेव कर्ता, जीवपरिणामानां व्यवहारेणेति ॥ १३२ ॥

एवं रागादिपरिणामाः कर्मबन्धकारणं, तेषामेव कर्ता जीव इतिकथनमुख्यतया गाथाद्वयेन तृतीयस्थलं गतम्।

परिणाम आत्मा क्यों है ? परिणाम और परिणामी (द्रव्य) के तन्मयता (उस रूपता) होने से आत्मा का परिणाम आत्मा है। ***सा पुण किरिय त्ति होदि***— और वह परिणाम क्रिया—परिणति है। वह क्रिया कैसी है ? ***जीवमया***— जीव से रचित होने के कारण जीवमयी है। ***किरिया कम्म त्ति मदा***— स्वतंत्र स्वाधीन शुद्धाशुद्ध उपादान कारणभूत जीव द्वारा प्राप्य होने से वह क्रिया कर्म है—ऐसा स्वीकार किया गया है। कर्म शब्द से यहाँ जो चैतन्य रूप जीव से अभिन्न भावकर्म नामक निश्चय कर्म है, वही ग्रहण करना चाहिये। जीव उसका ही कर्ता है। ***तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता***— इसलिये द्रव्य कर्म का कर्ता नहीं है।

यहाँ यह निश्चय हुआ— यद्यपि कथंचित् परिणामी होने से जीव का कर्तापन सिद्ध है, तथापि निश्चय से अपने परिणामों का ही कर्ता है, पुद्गल कर्मों का कर्ता व्यवहार से है। वहाँ जब शुद्ध उपादानकारण रूप शुद्धोपयोग से परिणत होता है, तब मोक्ष को सिद्ध करता है—प्राप्त करता है और जब अशुद्धउपादानकारण रूप से परिणमित होता है, तब बंध को प्राप्त करता है। पुद्गल भी जीव के समान निश्चय से अपने परिणामों का ही कर्ता है, व्यवहार से जीव परिणामों का कर्ता है।

भावार्थ— परिणाम और परिणामी के तन्मयता होने से आत्मा का परिणाम स्वयं आत्मा ही है। और वह परिणाम-क्रिया-परिणति जीव से रचित होने के कारण जीवमयी है। वही स्वतन्त्र,स्वाधीन,शुद्धाशुद्ध उपादान कारणभूत जीव के द्वारा प्राप्त की जाने वाली होने से चैतन्य रूप जीव से अभिन्न भावकर्म नामक निश्चय कर्म रूप स्वीकार की गई है। जीव उसका ही कर्ता है; अतः वह द्रव्य कर्म का कर्ता नहीं है ॥ १३२ ॥

इसप्रकार रागादि परिणाम कर्म बन्ध के कारण हैं, उनका ही कर्ता जीव है— इस कथन की मुख्यता से दो गाथाओं द्वारा तीसरा स्थल समाप्त हुआ।

अथ येन परिणामेनात्मा परिणमति तं परिणामं कथयति-

परिणमदि चेदणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा।(१२३)

सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा ॥ १३३ ॥

परिणमदि चेदणाए आदा परिणमति चेतनया करणभूतया। स कः। आत्मा। यः कोऽप्यात्मनः शुद्धाशुद्धपरिणामः स सर्वोऽपि चेतनां न त्यजति इत्यभिप्रायः। *पुण चेदणा तिधाभिमदा सा* सा चेतना पुनस्त्रिधाभिमता। कुत्र कुत्र। *णाणे* ज्ञानविषये *कम्मे* कर्मविषये *फलम्मि* वा फले वा। कस्य फले। *कम्मणो* कर्मणः। *भणिदा* भणिता कथितेति। ज्ञानपरिणतिः ज्ञानचेतना अग्रे वक्ष्यमाणा, कर्मपरिणतिः कर्मचेतना, कर्मफलपरिणतिः कर्मफलचेतनेति भावार्थः ॥ १३३ ॥

अथ ज्ञानकर्मकर्मफलरूपेण त्रिधा चेतनां विशेषेण विचारयति-

णाणं अट्ठवियप्पो कम्मं जीवेण जं समारद्धं।(१२४)

तमणेगविधं भणिदं फलं ति सोक्खं व दुक्खं वा ॥ १३४ ॥

(अब, त्रिविध चेतना के प्रतिपादन रूप से तीन गाथाओं में निबद्ध चौथा स्थल प्रारम्भ होता है ।)

अब, जिस परिणाम से आत्मा परिणमित होता है, उस परिणाम को कहते हैं—

परिणमित होता चेतना से आत्मा माना गया।

वह चेतना त्रिविधा कर्मफल-कर्म-ज्ञानमयी कहा ॥ १३३ ॥

गाथार्थ— आत्मा चेतना रूप से परिणमित होता है, तथा चेतना तीन प्रकार की स्वीकार की गई है । और वह ज्ञान सम्बन्धी, कर्मसम्बन्धी तथा कर्मफल सम्बन्धी कही गई है ।

टीकार्थ— ***परिणमदि चेदणाए आदा***-चेतनारूप साधन से परिणमित होता है । चेतनारूप से वह कौन परिणमित होता है ? आत्मा उस रूप से परिणमित होता है । आत्मा का जो कोई भी शुद्धाशुद्ध परिणाम है, वह सभी चेतना को नहीं छोड़ता है— ऐसा अभिप्राय है । ***पुण चेदणा तिधाभिमदा सा***– और वह चेतना तीन प्रकार की स्वीकार की गई है । तीन प्रकार की वह किस-किस रूप में स्वीकार की गई है ? ***णाणे***– ज्ञान के विषय में, ***कम्मे***– कर्म के विषय में, ***फलम्मि वा***– तथा फल में स्वीकार की गई है । किसके फल में स्वीकार की गई है ? ***कम्मणो***– कर्म के फल में स्वीकार की गई है । ***भणिदा***– ऐसा कहा गया है ।

ज्ञानरूप परिणति ज्ञान चेतना है, उसे आगे कहेंगे, कर्मरूप परिणति कर्म चेतना और कर्म के फलरूप परिणति कर्म फल चेतना है— यह भाव है ॥ १३३ ॥

अब, ज्ञान-कर्म-कर्मफल रूप तीन चेतना का विशेष रूप से विचार करते हैं—

है ज्ञान अर्थ विकल्प कर्म जो जीव से प्रारब्ध है।

है कर्म बहुविध कर्मफल सुख-दुःख जिनवर कथित है ॥ १३४ ॥

णाणं अट्ठवियप्पं ज्ञानं मत्यादिभेदेनाष्टविकल्पं भवति। अथवा पाठान्तरम्- *णाणं अट्ठवियप्पो* ज्ञानमर्थविकल्पः। तथा हि – अर्थः परमात्मादिपदार्थः अनन्तज्ञानसुखादिरूपोऽहमिति रागाद्यास्रवास्तु मत्तो भिन्ना इति स्वपराकारावभासेनादर्श इवार्थपरिच्छित्तिसमर्थो विकल्पः विकल्पलक्षणमुच्यते। स एव ज्ञानं ज्ञानचेतनेति।

कम्मं जीवेण जं समारद्धं कर्म जीवेन यत्समारब्धम्। बुद्धिपूर्वकमनोवचनकायव्यापाररूपेण जीवेन यत्सम्यक्कर्तुमारब्धं तत्कर्म भण्यते। सैव कर्मचेतनेति। *तमणेगविधं भणिदं* तच्च कर्म शुभाशुभशुद्धोपयोगभेदेनानेकविधं त्रिविधं भणितम्।

इदानीं फलचेतना कथ्यते- *फलं ति सोक्ख व दुक्खं वा* फलमिति सुखं दुःखं वा। विषयानुरागरूपं यदशुभोपयोगलक्षणं कर्म तस्य फलमाकुलत्वोत्पादकं नारकादिदुःखं यच्च धर्मानुरागरूपं शुभोपयोगलक्षणं कर्म तस्य फलं चक्रवर्त्यादिपंचेन्द्रियभोगानुभवरूपं, तच्चाशुद्धनिश्चयेन सुखमप्याकुलोत्पादकत्वात् शुद्धनिश्चयेन दुःखमेव। यच्च रागादिविकल्परहितशुद्धोपयोगपरिणतिरूपं कर्म तस्य फलमनाकुलत्वोत्पादकं परमानन्दैकरूपसुखामृतमिति।

एवं ज्ञानकर्मकर्मफलचेतनास्वरूपं ज्ञातव्यम्॥ १३४॥

गाथार्थ– अर्थ विकल्प (स्व-पर पदार्थों का भिन्नतापूर्वक एक साथ अवभासन-जानना) ज्ञान है; जीव के द्वारा जो किया जा रहा है, वह कर्म है और वह अनेक प्रकार का है; तथा सुख-दुःख को कर्मफल कहा गया है।

टीकार्थ– ***णाणं अट्ठवियप्पं***– ज्ञान मति आदि के भेद से आठ प्रकार का है। अथवा दूसरा पाठ– ***णाणं अट्ठवियप्पो***– ज्ञान अर्थ विकल्प है। वह इसप्रकार– अर्थ अर्थात् परमात्मा आदि पदार्थ, अनन्त ज्ञान-सुखादि रूप मैं हूँ, रागादि आस्रव मुझसे भिन्न हैं– इसप्रकार निज और पर के स्वरूप की जानकारी रूप से, दर्पण के समान पदार्थों को जानने में समर्थ (ज्ञान) विकल्प है– यह विकल्प का लक्षण कहा गया है। वही ज्ञान ज्ञानचेतना है।

कम्मं जीवेण जं समारद्धं– जीव द्वारा जो किया जा रहा है, वह कर्म है। बुद्धिपूर्वक मन-वचन-काय के व्यापार (की क्रिया) रूप से जीव द्वारा जो अच्छी तरह करने के लिये प्रारम्भ किया जाता है, वह कर्म कहलाता है। वही कर्मचेतना है। ***तमणेगविधं भणिदं***– और वह कर्म शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग के भेद से अनेक प्रकार का– तीन प्रकार का कहा गया है।

अब, फल चेतना (कर्मफल चेतना) कहते हैं– ***फलं ति सोक्खं व दुक्खं वा***– फल सुख अथवा दुःख है। विषयानुराग रूप जो अशुभोपयोग लक्षण कर्म है, उसका फल आकुलता को उत्पन्न करने वाला नारक आदि दुःख है, और जो धर्मानुराग रूप शुभोपयोग लक्षण कर्म है, उसका फल चक्रवर्ती आदि पंचेन्द्रिय- भोगों के अनुभव रूप है और वह अशुद्ध निश्चय नय से सुख कहलाने पर भी आकुलता को उत्पन्न करने वाला होने से शुद्ध निश्चय से दुःख ही है। और जो रागादि विकल्प रहित शुद्धोपयोग परिणति रूप कर्म है, उसका फल अनाकुलता को उत्पन्न करने वाला होने से उत्कृष्ट आनन्द एक रूप सुखामृत है।

इसप्रकार ज्ञान चेतना, कर्म चेतना और कर्मफल चेतना का स्वरूप जानना चाहिये* ॥ १३४॥

* 'आचार्य कुन्दकुन्द' ने 'पंचास्तिकाय संग्रह', गाथा ३८-३९ में त्रिविध चेतना को अन्य रूप से भी व्यक्त किया है, जो दोनों टीकाओं सहित मूलतः पठनीय है।

अथ ज्ञानकर्मकर्मफलान्यभेदमयेनात्मैव भवतीति प्रज्ञापयति–

अप्पा परिणामप्पा परिणामो णाणकम्मफलभावी ।(१२५)

तम्हा णाणं कम्मं फलं च आदा मुणेदव्वो ॥ १३५ ॥

अप्पा परिणामप्पा आत्मा भवति । कथंभूतः । परिणामात्मा परिणामस्वभावः । कस्मादिति चेत् *'परिणामो सयमादा'* इति पूर्वं स्वयमेव भणितत्वात् । परिणामः कथ्यते– *परिणामो णाणकम्मफलभावी* परिणामो भवति । किंविशिष्टः । ज्ञानकर्मकर्मफलभावी ; ज्ञानकर्मकर्मफलरूपेण भवितुं शील इत्यर्थः । *तम्हा* यस्मादेवं तस्मात्कारणात् । *णाणं* पूर्वसूत्रोक्ता ज्ञानचेतना । *कम्मं* तत्रैवोक्तलक्षणा कर्मचेतना । *फलं च* पूर्वोक्तलक्षणफलचेतना च । *आदा मुणेदव्वो* इयं चेतना त्रिविधाप्यभेदनयेनात्मैव मन्तव्यो ज्ञातव्य इति ।

एतावता किमुक्तं भवति । त्रिविधचेतनापरिणामेन परिणामी सन्नात्मा किं करोति । निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धपरिणामेन मोक्षं साधयति, शुभाशुभाभ्यां पुनर्बन्धमिति ॥ १३५ ॥

एवं त्रिविधचेतनाकथनमुख्यतया गाथात्रयेण चतुर्थस्थलं गतम् ।

अब, ज्ञान, कर्म और कर्मफल— तीनों चेतनायें अभेदनय से आत्मा ही हैं, ऐसा विशेष रूप से ज्ञान कराते हैं—

है जीव परिणामी तथा परिणाम कर्म व कर्मफल ।

व ज्ञान ही है जीव इससे ज्ञान कर्म व कर्मफल ॥ १३५ ॥

गाथार्थ– आत्मा परिणामस्वभावी है, परिणाम ज्ञान-कर्म व कर्मफल रूप हैं; इसलिये ज्ञान, कर्म व कर्मफल आत्मा ही जानना चाहिये ।

टीकार्थ– ***अप्पा परिणामप्पा***- आत्मा है । आत्मा कैसा है ? आत्मा परिणाम स्वभावी है । आत्मा परिणाम स्वभावी क्यों है ? ***परिणामो सयमादा***-परिणाम स्वयं आत्मा है,ऐसा पहले (गाथा नं. १३२ में) स्वयं ही कहा गया होने से आत्मा परिणाम-स्वभावी है । परिणाम कहा जाता है— ***परिणामो णाणकम्मफलभावी***– परिणाम है । परिणाम किस विशेषता वाला है ? ज्ञानभावी, कर्मभावी और कर्मफलभावी है— ज्ञानरूप से, कर्मरूप से और कर्मफलरूप से होने के स्वभाव वाला है— ऐसा अर्थ है । ***तम्हा***– जिस कारण ऐसा परिणामस्वभावी है,उस कारण ***णाणं***– पहले (गाथा नं. १३४ में) कही हुई ज्ञान चेतना है । ***कम्मं***– वहाँ ही कहे गये लक्षण वाली कर्म चेतना है । ***फलं च***- और पहले (वहीं) कहे हुये लक्षण वाली कर्मफल चेतना है । ***आदा मुणेदव्वो***– यह चेतना तीन प्रकार की होने पर भी,अभेदनय से आत्मा ही जानना चाहिये ।

इससे क्या कहा गया है ? तीन प्रकार के चेतना परिणाम से परिणमित होता हुआ आत्मा क्या करता है ? परिणामी आत्मा निश्चय रत्नत्रय स्वरूप शुद्धोपयोग से मोक्ष को तथा शुभ-अशुभ परिणाम से बन्ध को साधता है—प्राप्त करता है ॥ १३५ ॥

इसप्रकार तीन प्रकार की चेतना के कथन की मुख्यता से तीन गाथाओं द्वारा चौथा स्थल पूर्ण हुआ ।

अथ सामान्यज्ञेयाधिकारसमाप्तौ पूर्वोक्तभेदभावनायाः शुद्धात्मप्राप्तिरूपं फलं दर्शयति–

कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो।(१२६)

परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं॥ १३६॥

कत्ता स्वतन्त्रः स्वाधीनः कर्ता साधको निष्पादकोऽस्मि भवामि। स कः। *अप्प त्ति* आत्मेति। आत्मेति कोऽर्थः। अहमिति। कथंभूतः। एकः। कस्याः साधकः। निर्मलात्मानुभूतेः। किंविशिष्टः। निर्विकारपरम-चैतन्यपरिणामेन परिणतः सन्।

करणं अतिशयेन साधकं साधकतमं करणमुपकरणं करणकारकमहमेक एवास्मि भवामि। कस्याः साधकम्। सहजशुद्धपरमात्मानुभूतेः। केन कृत्वा। रागादिविकल्परहितस्वसंवेदनज्ञानपरिणतिबलेन।

कम्मं शुद्धबुद्धैकस्वभावेन परमात्मना प्राप्यं व्याप्यमहमेक एव कर्मकारकमस्मि।

फलं च शुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मनः साध्यं निष्पाद्यं निजशुद्धात्मरुचिपरिच्छित्तिनिश्चलानुभूतिरूपा-भेदरत्नत्रयात्मकपरमसमाधिसमुत्पन्नसुखामृतरसास्वादपरिणतिरूपमहमेक एव फलं चास्मि।

(अब, शुद्धात्म-भेद-भावना का फल परक उपसंहार रूप से एक गाथा वाला पाँचवा स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, सामान्य ज्ञेयाधिकार की समाप्ति पर पहले कही हुई भेद- भावना का शुद्धात्मा की प्राप्ति रूप फल दिखाते हैं—

कर्ता-करम-फल-करण आत्मा ही ये निश्चय श्रमण को।

हो अन्य रूप न परिणमित तो शुद्ध आत्मा प्राप्त हो॥ १३६॥

गाथार्थ– कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है—ऐसा निश्चय करने वाला श्रमण (मुनि), यदि अन्य—दूसरे रूप से परिणमित नहीं होता है, तो शुद्धात्मा को प्राप्त करता है।

टीकार्थ– *कत्ता*–स्वतन्त्र-स्वाधीन-कर्ता-साधना करने वाला—निष्पन्न करने वाला हूँ—होता हूँ। ऐसा करने वाला वह कौन है ? *अप्प त्ति*– ऐसा करने वाला आत्मा ही है। आत्मा—इसका क्या अर्थ है ? मैं ऐसा करने वाला हूँ— यह आत्मा का अर्थ है। मैं कैसा हूँ ? मैं एक हूँ। मैं किसका साधक हूँ ? मैं निर्मल आत्मानुभूति का साधक हूँ। साधना करने वाला मैं किस विशेषता वाला हूँ ? विकार रहित परम चैतन्य परिणाम से परिणत होता हुआ मैं, निर्मल आत्मानुभूति की साधना करने वाला हूँ।

करणं– अतिशय रूप से—नियम रूप से साधक—साधकतम करण—उपकरण अर्थात् साधन, नियामक साधन रूप करण कारक मैं एक ही हूँ— होता हूँ। मैं ही करण-कारक रूप से किसका साधक हूँ ? करण-कारकरूप से मैं सहज शुद्ध परमात्मा की अनुभूति का साधक हूँ। किसके द्वारा उसका साधक हूँ ? रागादि विकल्प रहित स्वसंवेदन ज्ञान रूप परिणति के बल से उस अनुभूति का साधक हूँ।

कम्मं– शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावी परमात्मा द्वारा प्राप्त करने योग्य—व्याप्त होने योग्य मैं एक ही कर्म-कारक हूँ।

फलं च– और शुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभावी परमात्मा का सिद्ध करने योग्य, रचने योग्य, स्वशुद्धात्मा की रुचि-जानकारी-निश्चल अनुभूति अर्थात् सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप अभेद रत्नत्रय स्वरूप परम समाधि—पूर्णस्वरूप लीनता से उत्पन्न सुखरूपी अमृतरस के आस्वादमयी परिणति रूप में एक ही फल हूँ।

णिच्छिदो एवमुक्तप्रकारेण निश्चितमतिः सन् *समणो* सुखदुःखजीवितमरणशत्रुमित्रादिसमताभाव-नापरिणतः श्रमणः परममुनिः *परिणमदि णेव अण्णं जदि* परिणमति नैवान्यं रागादिपरिणामं यदि चेत्, *अप्पाणं लहदि सुद्धं* तदात्मानं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितत्वेन शुद्धं शुद्धबुद्धैकस्वभावं लभते प्राप्नोति इत्यभिप्रायो भगवतां श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवानाम् ॥ १३६ ॥

एवमेकसूत्रेण पंचमस्थलं गतम् ।

इति सामान्यज्ञेयाधिकारमध्ये स्थलपंचकेन भेदभावना गता ।

इत्युक्तप्रकारेण *'तम्हा तस्स णमाइं'* इत्यादिपंचत्रिंशत्सूत्रैः *सामान्यज्ञेयाधिकार* व्याख्यानं समाप्तम् ।

णिच्छिदो– इसप्रकार कही गई पद्धति से निश्चितमति– दृढ़ निश्चयी होता हुआ ***समणो***– सुख-दुःख, जीवन-मरण, शत्रु-मित्र आदि में समभावरूप से परिणत श्रमण—महामुनि ***परिणमदि णेव अण्णं जदि***– यदि अन्य रागादि परिणामरूप परिणमित नहीं होते हैं, ***अप्पाणं लहदि सुद्धं***– तो भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म से रहित होने के कारण शुद्ध-शुद्धबुद्ध एक-स्वभावी आत्मा को प्राप्त करते हैं– ऐसा *भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव* का अभिप्राय है ।

भावार्थ– यहाँ सम्पूर्ण परपदार्थों से अत्यन्त भिन्न, स्वतन्त्र, स्वाधीन षट्कारकमयी पर से पूर्ण निरपेक्ष, परिपूर्ण, स्वशुद्धात्मतत्त्व की भावना का प्रयोगात्मक पद्धति से चित्रण किया गया है । वह इसप्रकार —

विकार रहित परम चैतन्य परिणाम से परिणत होता हुआ निर्मल आत्मानुभूति की साधना करने वाला मैं एक स्वतन्त्र—स्वाधीन कर्ता कारक हूँ ।

रागादि विकल्प रहित स्वसंवेदन ज्ञान रूप परिणति के बल से स्वशुद्धात्मा की साधना करनेवाला मैं एक ही नियामक साधन रूप करण कारक हूँ ।

शुद्ध-बुद्ध एक-स्वभावी परमात्मा के द्वारा प्राप्त करने योग्य होने से मैं एक ही कर्मकारक हूँ ।

तथा शुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभावी परमात्मा द्वारा सिद्ध करने योग्य स्वशुद्धात्मा की रुचि-जानकारी-लीनता लक्षण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप, अभेद रत्नत्रय स्वरूप पूर्ण स्वरूपलीनता से उत्पन्न, सुखरूपी अमृतरस के आस्वादमयी परिणति रूप मैं एक ही फल हूँ ।

इसप्रकार कर्ता, करण, कर्म और फल रूप से स्वयं एक को ही निश्चित करते हुये सुख-दुःख, जीवन-मरण, शत्रु-मित्र आदि में समताभाव से परिणत महामुनि यदि अन्य रागादि रूप परिणमित नहीं होते हैं, तो भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म से रहित शुद्ध-बुद्ध एक-स्वभावी आत्मा को प्राप्त करते हैं– ऐसा 'भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव' का अभिप्राय है ॥ १३६ ॥

इसप्रकार एक गाथा द्वारा पाँचवा स्थल पूर्ण हुआ ।

इसप्रकार 'सामान्य ज्ञेयाधिकार' के बीच पाँच स्थलों द्वारा (ग्यारह गाथाओं में निबद्ध) 'सामान्य भेद-भावना' नामक दूसरा अन्तराधिकार पूर्ण हुआ ।

इसप्रकार कहे गये प्रकार से '**तम्हा तस्स णमाइं**–' इत्यादि ३५ गाथाओं द्वारा '**सामान्य ज्ञेयाधिकार**' नामक प्रथम अधिकार का व्याख्यान पूर्ण हुआ ।

इत ऊर्ध्वमेकोनविंशतिगाथाभिर्जीवाजीवद्रव्यादिविवरणरूपेण विशेषज्ञेयव्याख्यानं करोति। तत्राष्ट-स्थलानि भवन्ति।

तेष्वादौ जीवाजीवत्वकथनेन प्रथमगाथा, लोकालोकत्वकथनेन द्वितीया, सक्रियनि:क्रियत्वव्याख्यानेन तृतीया चेति। *'दव्वं जीवमजीवं'* इत्यादिगाथात्रयेण प्रथमस्थलम्। तदनन्तरं ज्ञानादिविशेषगुणानां स्वरूपकथनेन *'लिंगेहिं जेहिं'* इत्यादिगाथाद्वयेन द्वितीयस्थलम्। अथानन्तरं स्वकीयस्वकीयविशेषगुणोपल-क्षितद्रव्याणां निर्णयार्थं *'वण्णरस'* इत्यादिगाथात्रयेण तृतीयस्थलम्। अथ पंचास्तिकायकथनमुख्यत्वेन *'जीवा पोग्गलकाया'* इत्यादिगाथाद्वयेन चतुर्थस्थलम्। अत: परं द्रव्याणां लोकाकाशमाधार इति कथनेन प्रथमा, यदेवाकाशद्रव्यस्य प्रदेशलक्षणं तदेव शेषाणामिति कथनरूपेण द्वितीया चेति *'लोगालोगेसु'* इत्यादिसूत्रद्वयेन पंचमस्थलम्। तदनन्तरं कालद्रव्यस्याप्रदेशत्वस्थापनरूपेण प्रथमा, समयरूप: पर्यायकाल: कालाणुरूपो द्रव्यकाल इति कथनरूपेण द्वितीया चेति *'समओ दु अप्पदेसो'* इत्यादिगाथाद्वयेन षष्ठस्थलम्। अथ प्रदेशलक्ष-णकथनेन प्रथमा, तिर्यक्प्रचयोर्ध्वप्रचयस्वरूपकथनेन द्वितीया चेति *'आगासमणुणिविट्ठं'* इत्यादिसूत्रद्वयेन सप्तमस्थलम्। तदनन्तरं कालाणुरूपद्रव्यकालस्थापनरूपेण *'उप्पादो पद्धंसो',* इत्यादिगाथात्रयेणाष्टमस्थलमिति *विशेषज्ञेयाधिकारे* समुदायपातनिका।

इससे आगे १९ गाथाओं द्वारा जीव-अजीव द्रव्यादि विवरण रूप से विशेष-ज्ञेय-व्याख्यान करते हैं। वहाँ ८ स्थल हैं—

वहाँ सबसे पहले जीव-अजीवत्व के कथन रूप पहली गाथा, लोक-अलोकत्व के कथन रूप दूसरी, सक्रिय-नि:क्रियत्व के कथन रूप तीसरी— इसप्रकार *'दव्वं जीवमजीवं—'* इत्यादि तीन गाथाओं द्वारा पहला स्थल है। उसके बाद ज्ञानादि विशेष गुणों के स्वरूप कथन रूप से *'लिंगेहिं जेहिं—'* इत्यादि दो गाथाओं द्वारा दूसरा स्थल है। तदनन्तर अपने-अपने विशेष गुणों से उपलक्षित द्रव्यों के निर्णय के लिये *'वण्णरस—'* इत्यादि तीन गाथाओं द्वारा तीसरा स्थल है। तत्पश्चात् पाँच अस्तिकायों के कथन की मुख्यता से *'जीवा पोग्गलकाया—'* इत्यादि दो गाथाओं द्वारा चौथा स्थल है। तदुपरान्त द्रव्यों का आधार लोकाकाश है— इस कथन रूप से पहली; जो आकाश द्रव्य का प्रदेशलक्षण है,वही शेष द्रव्यों का है,इस कथन रूप से दूसरी— इस-प्रकार *'लोगालोगेसु—'* इत्यादि दो गाथाओं द्वारा पाँचवा स्थल है। उसके बाद काल द्रव्य के अप्रदेशत्व की स्थापना रूप से पहली, समय रूप पर्यायकाल, कालाणुरूप द्रव्यकाल—इस कथन रूप से दूसरी— इसप्रकार *'समओ दु अप्पदेसो—'* इत्यादि दो गाथाओं द्वारा छठवाँ स्थल है। तदनन्तर प्रदेशलक्षण कथन रूप से पहली, तिर्यक्प्रचय और ऊर्ध्वप्रचय के स्वरूप कथन रूप से दूसरी— इसप्रकार *'आगासमणुणिविट्ठं—'* इत्यादि दो गाथाओं द्वारा सातवाँ स्थल है। और तत्पश्चात् कालाणुरूप द्रव्यकाल की स्थापनारूप से *'उप्पादो पद्धंसो—'* इत्यादि तीन गाथाओं द्वारा आठवाँ स्थल है— इसप्रकार *विशेषज्ञेयाधिकार* (नामक दूसरे अधिकार) में सामूहिक पातनिका हुई।

तद्यथा-

अथ जीवाजीवलक्षणमावेदयति-

दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवओगमओ। (१२७)
पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि य अजीवं॥ १३७॥

विशेष-ज्ञेयाधिकार संज्ञक द्वितीयाधिकार का स्थल विभाजन
(१३७वीं गाथा से १५५वीं गाथा पर्यन्त)

स्थल क्रम	स्थल प्रतिपादित विषय	कहाँ से कहाँ तक गाथायें	कुल गाथायें
प्रथम	जीवाजीवादि,लोकालोकत्व,सक्रिय-निष्क्रियत्व द्रव्य विवरण	१३७ से १३९	३
द्वितीय	ज्ञानादि विशेष गुणों का स्वरूप कथन	१४० व १४१	२
तृतीय	विशेष गुणों द्वारा द्रव्यों का निर्णय	१४२ से १४४	३
चतुर्थ	पंचास्तिकाय व्याख्यान	१४५ व १४६	२
पंचम	द्रव्यों का आधार लोकाकाश,आकाश का प्रदेश लक्षण	१४७ व १४८	२
षष्टम	काल द्रव्य का अप्रदेशत्व तथा पर्याय काल,द्रव्यकाल	१४९ व १५०	२
सप्तम	प्रदेशलक्षण,तिर्यक्प्रचय-ऊर्ध्वप्रचय लक्षण	१५१ व १५२	२
अष्टम	कालाणु रूप द्रव्य काल व्याख्यान	१५३ से १५५	३
कुल ८ स्थल		कुल १९ गाथायें	

(अब, द्वितीय महाधिकार के *'विशेष ज्ञेयाधिकार'* नामक दूसरे अधिकार में जीवाजीवत्व आदि द्रव्य विवरण परक ३ गाथाओं में निबद्ध पहला स्थल प्रारम्भ होता है।)

वह इसप्रकार—

अब, जीव और अजीव के लक्षण का आवेदन करते हैं (मर्यादापूर्वक ज्ञान कराते हैं) —

हैं द्रव्य जीव-अजीव चित-उपयोगमय वे जीव हैं।
जो अचेतन पुद्गल प्रमुख वे सभी द्रव्य अजीव हैं॥ १३७॥

गाथार्थ— द्रव्य जीव और अजीव हैं। उनमें से चेतना उपयोगमय जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य प्रमुख अचेतन अजीव द्रव्य हैं।

दव्वं जीवमजीवं द्रव्यं जीवाजीवलक्षणं भवति। *जीवो पुण चेदणो* जीवः पुनश्चेतनः स्वतःसिद्धया बहिरंगकारणनिरपेक्षया बहिरन्तश्च प्रकाशमानया नित्यरूपया निश्चयेन परमशुद्धचेतनया, व्यवहारेण पुनरशुद्धचेतनया च युक्तत्वाच्चेतनो भवति। पुनरपि किंविशिष्टः। *उवजोगमओ* उपयोगमयः अखण्डैकप्रतिभासमयेन सर्वविशुद्धेन केवलज्ञानदर्शनलक्षणेनार्थग्रहणव्यापाररूपेण निश्चयनयेनेत्थंभूतशुद्धोपयोगेन, व्यवहारेण पुनर्मतिज्ञानाद्यशुद्धोपयोगेन च निर्वृत्तत्वान्निष्पन्नत्वादुपयोगमयः।

पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि य अजीवं पुद्गलद्रव्यप्रमुखमचेतनं भवत्यजीवद्रव्यं; पुद्गलधर्माधर्माकाशकालसंज्ञं द्रव्यपंचकं पूर्वोक्तलक्षणचेतनाया उपयोगस्य चाभावादजीवमचेतनं भवतीत्यर्थः ॥ १३७ ॥

टीकार्थ– ***दव्वं जीवमजीवं–*** द्रव्य जीव और अजीव लक्षण वाला है। ***जीवो पुण चेदणो–*** उनमें से जीव चेतन है– स्वयंसिद्ध (अपने आप से ही सिद्ध-अस्तित्व वाले), बाह्य कारणों की अपेक्षा के बिना बाहर और अन्दर प्रकाशमान, स्थायी, निश्चय से परमशुद्ध चेतना के साथ और व्यवहार से अशुद्ध चेतना के साथ सम्बद्ध होने से चेतन है। जीव और किस विशेषता वाला है ? ***उवजोगमओ–*** उपयोगमय है– निश्चय नय से अखण्ड एक प्रतिभासमय (ज्ञानस्वरूप), परिपूर्ण शुद्ध, केवलज्ञान-केवलदर्शन लक्षण से पदार्थों को जानने की क्रिया रूप– ऐसे शुद्धोपयोग से और व्यवहार से मतिज्ञान आदि अशुद्धोपयोग से निर्वृत्त होने के कारण– निष्पन्न-रचित होने के कारण वह उपयोगमय है।

पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि य अजीवं– पुद्गल द्रव्य प्रमुख अचेतन अजीव द्रव्य हैं, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल नामक पाँच द्रव्य पहले कहे हुये लक्षण वाले चेतना और उपयोग का अभाव होने से अजीव–अचेतन हैं–यह अर्थ है।

भावार्थ– यहाँ सम्पूर्ण द्रव्यों को जीव और अजीव दो भागों में विभक्त किया गया है। उनमें से जीव द्रव्य निश्चय से अपने से ही अपने अस्तित्व वाला, बाह्य कारणों की अपेक्षा के बिना बाहर और अन्दर प्रकाशमान, शाश्वत परमशुद्ध चेतना के साथ और व्यवहार से अशुद्ध चेतना के साथ सम्बद्ध होने से चेतना स्वरूप है, तथा निश्चय नय से अखण्ड एक प्रतिभासमय (ज्ञान-स्वरूप) परिपूर्ण शुद्ध, केवलज्ञान-केवलदर्शन लक्षण वाला, पदार्थों को जानने की क्रिया रूप शुद्धोपयोग से और व्यवहार से मतिज्ञान आदि अशुद्धोपयोग से रचित होने के कारण उपयोगमय है।

चेतना - उपयोग लक्षण से रहित शेष पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल– ये पाँच अजीव द्रव्य हैं ॥ १३७ ॥

अथ लोकालोकरूपेण पदार्थस्य द्वैविध्यमाख्याति–

पोग्गलजीवणिबद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो ।(१२८)

वट्टदि आगासे जो लोगो सो सव्वकाले दु ॥ १३८ ॥

पोग्गलजीवणिबद्धो अणुस्कन्धभेदभिन्नाः पुद्गलास्तावत्तथैवामूर्तत्वातीन्द्रियज्ञानमयत्वनिर्विकारपरमानन्दैकसुखमयत्वादिलक्षणा जीवाश्चेत्थंभूतजीवपुद्गलैर्निबद्धः संबद्धो भृतः पुद्गलजीवनिबद्धः । *धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो* धर्माधर्मास्तिकायौ च कालश्च धर्माधर्मास्तिकायकालास्तैराढ्यो भृतो धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्यः । *जो* यः एतेषां पंचानामित्थंभूतसमुदायो राशिः समूहः *वट्टदि* वर्तते । कस्मिन् । *आगासे* अनन्तानन्ताकाशद्रव्यस्य मध्यवर्तिनि लोकाकाशे । *सो लोगो* स पूर्वोक्तपंचानां समुदायस्तदाधारभूतं लोकाकाशं चेति षड्द्रव्यसमूहो लोको भवति । क्व । *सव्वकाले दु* सर्वकाले तु ।

तद्बहिर्भूतमनन्तानन्ताकाशमलोक इत्यभिप्रायः ॥ १३८ ॥

अब, लोक और अलोक रूप से पदार्थ की द्विविधता को प्रसिद्ध करते हैं–

आकाश में जो अंश पुद्गल-जीव से संयुक्त है ।

अधर्म धर्म व काल से समृद्ध नित वह लोक है ॥ १३८ ॥

गाथार्थ– आकाश में जो भाग जीव और पुद्गल से संयुक्त तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और काल से समृद्ध है, वह सर्वकाल (हमेशा) लोक है ।

टीकार्थ– ***पोग्गलजीवणिबद्धो***– अणु व स्कन्ध के भेद से भेद वाले पुद्गल और उसीप्रकार अमूर्तत्व, अतीन्द्रियज्ञानमयत्व, विकाररहित उत्कृष्ट आनन्द एक सुखमयत्व आदि लक्षण वाले जीव– इसप्रकार जीव और पुद्गलों से निबद्ध–सम्बद्ध–भरा हुआ होने से पुद्गल-जीव-निबद्ध है । ***धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो***– धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और काल–धर्माधर्मास्तिकाय-काल उनसे आढ्य-भरा हुआ होने से धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्य है । ***जो***-जो इन पाँच का ऐसा समुदाय–राशि–समूह ***वट्टदि***-वर्तता है–रहता है । वह समूह किसमें रहता है ? ***आगासे***– अनन्तानन्त आकाश द्रव्य के मध्य में स्थित लोकाकाश में वह समूह रहता है । ***सो लोगो***– वह पहले कहा हुआ पाँचों का समूह और उसका आधारभूत लोकाकाश– इसप्रकार छह द्रव्यों का समूह लोक ***भवति***– है । छह द्रव्यों का समूह लोक कहाँ–कब है ? ***सव्व काले दु***-सभी कालों में–हमेशा छह द्रव्यों का समूह लोक है ।

उससे बाहर अनन्तानन्त आकाश–अलोक है– ऐसा अभिप्राय है ।

भावार्थ– अणु व स्कन्ध के भेद वाले पुद्गल; अमूर्तत्व, अतीन्द्रिय ज्ञानमयत्व, विकार रहित उत्कृष्ट आनन्द स्वरूप एक सुखमयत्व आदि लक्षण वाले जीव; धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल और अनन्तानन्त आकाश द्रव्य के मध्य में स्थित उन जीवादि पाँचों का आधारभूत लोकाकाश– इन छह द्रव्यों का समूह हमेशा लोक कहलाता है ।

तथा उससे बाहर अनन्तानन्त आकाश अलोक कहलाता है ।

अथ द्रव्याणां सक्रियनिःक्रियत्वेन भेदं दर्शयतीत्येका पातनिका, द्वितीया तु जीवपुद्गलयोरर्थव्यंजन-पर्यायौ द्वौ शेषद्रव्याणां तु मुख्यवृत्त्यार्थपर्याय इति व्यवस्थापयति-

उप्पादट्ठिदिभंगा पोग्गलजीवप्पगस्स लोगस्स।(१२९)

परिणामा जायंते संघादादो व भेदादो॥ १३९॥

जायंते जायन्ते। के कर्तारः। *उप्पादट्ठिदिभंगा* उत्पादस्थितिभंगा। कस्य संबन्धिनः। *लोगस्स* लोकस्य। किंविशिष्टस्य। *पोग्गलजीवप्पगस्स* पुद्गलजीवात्मकस्य, पुद्गलजीवावित्युपलक्षणं षड्द्रव्यात्मकस्य। कस्मात्सकाशात् जायन्ते। *परिणामादो* परिणामात् एकसमयवर्तिनोऽर्थपर्यायात्, *संघादादो व भेदादो* न केवलमर्थपर्यायात्सकाशाज्जायन्ते जीवपुद्गलानामुत्पादादयः संघाताद्वा, भेदाद्वा व्यंजनपर्यायादित्यर्थः।

तथा हि-धर्माधर्माकाशकालानां मुख्यवृत्त्यैकसमयवर्तिनोऽर्थपर्याया एव, जीवपुद्गलानामर्थपर्याय-व्यंजनपर्यायाश्च। कथमिति चेत्। प्रतिसमयपरिणतिरूपा अर्थपर्याया भण्यन्ते। यदा जीवोऽनेन शरीरेण सह भेदं वियोगं त्यागं कृत्वा भवान्तरशरीरेण सह संघातं मेलापकं करोति तदा विभावव्यंजनपर्यायो भवति, तस्मादेव

इसप्रकार जीवादि छहों द्रव्यों को आकाश की मुख्यता से लोक और अलोक— दो भागों में विभक्त किया गया है ॥ १३८ ॥

अब,द्रव्यों के सक्रिय और निःक्रिय रूप से भेद दिखाते हैं— इसप्रकार एक पातनिका है।

तथा दूसरी पातनिका— जीव और पुद्गल के अर्थ और व्यंजन दोनों पर्यायें हैं और शेष द्रव्यों के मुख्य रूप से अर्थ पर्याय है, ऐसी व्यवस्था दिखाते हैं—

है जीव पुद्गलमयी जग के हैं सभी परिणाम से।

उत्पाद-ध्रौव्य-विनाश ये संघात से वा भेद से॥ १३९॥

गाथार्थ— पुद्गल-जीवात्मक लोक में परिणमन से, संघात और भेद से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होते हैं।

टीकार्थ— *जायन्ते*- उत्पन्न होते हैं। कर्ता रूप कौन उत्पन्न होते हैं ? अथवा उत्पन्न होने की क्रिया को करने वाला कौन है ? ***उप्पादट्ठिदिभंगा***— उत्पत्ति, स्थिति और विनाश उत्पन्न होते हैं। ये तीनों किसके हैं ? ***लोगस्स***— ये तीनों लोक के हैं। वे किस विशेषता वाले लोक के हैं ? ***पोग्गलजीवप्पगस्स***- वे पुद्गल-जीवात्मक लोक के हैं, यहाँ पुद्गल और जीव उपलक्षण (संकेत) हैं, इससे षडद्रव्यात्मक-छह द्रव्य स्वरूप लोक के वे हैं। उस लोक के वे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य कैसे होते हैं ? ***परिणामादो***— परिणाम से, एक-एक समय-प्रति समयवर्ती अर्थपर्याय से, ***संघादादो व भेदादो***— जीव पुद्गलों के उत्पाद आदि मात्र अर्थ पर्याय से ही नहीं होते हैं वरन् संघात से, भेद से अर्थात् व्यंजनपर्याय से भी होते हैं।

वह इसप्रकार— धर्म, अधर्म, आकाश और काल के मुख्य रूप से एक-एक समयवर्ती अर्थ पर्यायें ही होती हैं; तथा जीव और पुद्गलों के अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय दोनों होती हैं। उनके दोनों कैसे होती हैं ? यदि ऐसा प्रश्न हो तो उत्तर कहते हैं— प्रति समय परिणमन रूप अर्थपर्यायें कहलाती हैं। जब जीव इस शरीर को भेद कर-त्याग कर,दूसरे भव में शरीर के साथ संघात करता है—

भवान्तरसंक्रमणात्सक्रियत्वं भण्यते। पुद्गलानां तथैव विवक्षितस्कन्धविघटनात्सक्रियत्वेन स्कन्धान्तरसंयोगे सति विभावव्यंजनपर्यायो भवति।

मुक्तजीवानां तु निश्चयरत्नत्रयलक्षणेन परमकारणसमयसारसंज्ञेन निश्चयमोक्षमार्गबलेनायोगिचरमसमये नखकेशान्विहाय परमौदारिकशरीरस्य विलीयमानरूपेण विनाशे सति केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिलक्षणेन परमकार्यसमयसाररूपेण स्वभावव्यंजनपर्यायेण कृत्वा योऽसावुत्पादः स भेदादेव भवति, न संघातात्। कस्मादिति चेत्, शरीरान्तरेण सह संबन्धाभावादिति भावार्थः ॥ १३९ ॥

एवं जीवाजीवत्वलोकालोकत्वसक्रियनिःक्रियत्वकथनक्रमेण प्रथमस्थले गाथात्रयं गतम्।

अथ ज्ञानादिविशेषगुणभेदेन द्रव्यभेदमावेदयति-

लिंगेहिं जेहिं दव्वं जीवमजीवं च हवदि विण्णादं। (१३०)

तेऽतब्भावविसिट्ठा मुत्तामुत्ता गुणा णेया ॥ १४० ॥

व्यंजनपर्याय होती है, उस कारण ही दूसरे भव में संक्रमण होने से—परिवर्तन होने से सक्रियत्व-क्रिया (स्थान से स्थानान्तर रूप क्रिया) सहितपना कहते हैं। उसीप्रकार पुद्गलों की, विवक्षित स्कन्ध के विघटन से—खण्डित होने से सक्रियता होने के कारण दूसरे स्कन्ध के साथ संयोग होने पर विभाव व्यंजनपर्याय होती है।

परन्तु मुक्तजीवों के निश्चय रत्नत्रय लक्षण परम कारणसमयसार नामक निश्चय मोक्षमार्ग के बल से अयोगी (चौदहवें गुणस्थान) के अंतिम समय में नख और केश (नाखून और बाल) को छोड़कर परमौदारिक शरीर के विलीयमान रूप से (कपूर के समान उड़ जाने रूप से) नष्ट हो जाने पर केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टय की (अव्याबाध-सुख की मुख्यता से) प्रगटता लक्षण परम कार्यसमयसार रूप स्वभाव व्यंजनपर्याय रूप से जो वह उत्पाद है, वह भेद से ही होता है, संघात से नहीं। वह स्वभाव व्यंजनपर्याय उनके संघात से क्यों नहीं होती है ? यदि ऐसा प्रश्न हो तो उत्तर कहते हैं— दूसरे शरीर के साथ सम्बन्ध का अभाव होने से उनके वह भेद से ही उत्पन्न होती है, संघात से नहीं— ऐसा भाव है ॥ १३९ ॥

इसप्रकार जीव-अजीवत्व, लोक-अलोकत्व, सक्रिय-निःक्रियत्व के कथन क्रम से पहले स्थल में तीन गाथायें समाप्त हुईं।

(अब, ज्ञानादि विशेषगुणों के स्वरूप कथन परक दो गाथाओं में निबद्ध दूसरा स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, ज्ञानादि विशेष गुणों के भेद से द्रव्य के भेद का आवेदन करते हैं (मर्यादापूर्वक ज्ञान कराते है) —

जिन चिह्न द्वारा द्रव्य जीव-अजीव होते ज्ञात हैं।

वे अतद्भाव विशिष्ट मूर्त-अमूर्त गुण ज्ञातव्य हैं ॥ १४० ॥

गाथार्थ— जिन चिन्हों से जीव और अजीव द्रव्य ज्ञात होते हैं, वे अतद्भाव विशिष्ट (द्रव्य से अतद्भाव के द्वारा भिन्न) मूर्त और अमूर्त गुण जानना चाहिये।

लिंगेहिं जेहिं लिंगै र्यैः सहजशुद्धपरमचैतन्यविलासरूपैस्तथैवाचेतनैर्जड़रूपैर्वा लिंगैश्चिह्नै र्विशेषगुणैर्यैः करणभूतैर्जीवेन कर्तृभूतेन *हवदि विण्णादं* विशेषेण ज्ञातं भवति। किं कर्मतापन्नम्। *दव्वं* द्रव्यम्। कथंभूतम्। *जीवमजीवं च* जीवद्रव्यमजीवद्रव्यं च। *ते मुत्तामुत्ता गुणा णेया* ते तानि पूर्वोक्तचेतनाचेतनलिंगानि मूर्तामूर्तगुणा ज्ञेया ज्ञातव्याः। ते च कथंभूताः। *अतब्भावविसिट्ठा* अतद्भावविशिष्टाः।

तद्यथा–शुद्धजीवद्रव्ये ये केवलज्ञानादिगुणास्तेषां शुद्धजीवप्रदेशैः सह यदेकत्वमभिन्नत्वं तन्मयत्वं स तद्भावो भण्यते, तेषामेव गुणानां तैः प्रदेशैः सह यदा संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदः क्रियते तदा पुनरतद्भावो भण्यते, तेनातद्भावेन संज्ञादिभेदरूपेण स्वकीयस्वकीयद्रव्येण सह विशिष्टा भिन्ना इति।

द्वितीयव्याख्यानेन पुनः स्वकीयद्रव्येण सह तद्भावेन तन्मयत्वेनान्यद्रव्याद्विशिष्टा भिन्ना इत्यभिप्रायः।

एवं गुणभेदेन द्रव्यभेदो ज्ञातव्यः ॥ १४० ॥

टीकार्थ– *लिंगेहिं जेहिं*- जिन सहज शुद्ध परम चैतन्य विलास रूप अथवा उसीप्रकार अचेतन जड़ रूप लिंगों–चिन्हों–विशेष गुणों रूप साधनों से जीव रूपी कर्ता द्वारा *हवदि विण्णादं*– विशेष रूप से ज्ञात होता है। इस गाथा में कर्मपने को प्राप्त कौन है ? कौन ज्ञात होता है ? *दव्वं*- द्रव्य ज्ञात होता है। कैसा द्रव्य ज्ञात होता है ? ***जीवमजीवं च***– जीव और अजीव द्रव्य ज्ञात होता है। ***ते मुत्तामुत्तागुणा णेया***– उन पहले कहे हुये चेतन-अचेतन (द्रव्यों के) चिन्ह मूर्त-अमूर्त गुण जानना चाहिये। वे गुण कैसे हैं ? ***अतब्भावविसिट्ठा***– वे अतद्भाव विशिष्ट हैं (द्रव्य से अतद्भाव रूप भिन्न हैं)।

वह इसप्रकार– शुद्ध जीव द्रव्य में जो केवलज्ञानादि गुण हैं,उनका शुद्ध जीव के प्रदेशों के साथ जो एकत्व–अभिन्नत्व–तन्मयत्व–एकरूपत्व है, वह तद्भाव कहलाता है। उन ही गुणों का उन प्रदेशों के साथ जब संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि भेद किया जाता है,तब फिर अतद्भाव कहलाता है; इस संज्ञादि भेदरूप अतद्भाव द्वारा (वे) अपने-अपने द्रव्य के साथ विशिष्ट–कथंचित् भिन्न हैं।

अथवा दूसरे व्याख्यान से अपने द्रव्य के साथ तद्भाव–तन्मयता के कारण अन्य द्रव्य से विशिष्ट–भिन्न हैं– ऐसा अभिप्राय है।

इसप्रकार गुणभेद से द्रव्य का भेद जानना चाहिये।

भावार्थ– जीव द्रव्य,निज सहज शुद्ध परम चैतन्य विलास रूप चेतन तथा इससे भिन्न अचेतन चिन्हों रूपी साधनों द्वारा विशेष रूप से जीव-अजीव द्रव्यों को जानता है; वे चेतन और अचेतन चिन्ह द्रव्य के साथ अतद्भाव रूप से भिन्न मूर्त-अमूर्त गुण जानना चाहिये।

विशेषार्थ– 'आचार्य प्रभाचन्द्र' की गाथा-टीका में '***ते सब्भावविसिट्ठा***' ऐसा पाठ है,जिसका उन्होंने निम्नप्रकार से विश्लेषण किया है–

"ते गुणाः सद्भावविशिष्टाः–तैरुपयोगादिस्वभावैः विशिष्टा, पृथक्कृताः सन्तः[१] *।*

उन उपयोग आदि अपने-अपने भावों से विशिष्ट भिन्न-भिन्न होते हुये।" ॥ १४० ॥

१- प्रवचनसार, गाथा १३८, प्रवचनसार सरोजभास्कर टीका।

अथ मूर्तामूर्तगुणानां लक्षणं संबन्धं च निरूपयति—

मुत्ता इंदियगेज्झा पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा।(१३१)

दव्वाणममुत्ताणं गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा॥ १४१ ॥

मुत्ता इंदियगेज्झा मूर्ता गुणा इन्द्रियग्राह्या भवन्ति, अमूर्ताः पुनरिन्द्रियविषया न भवन्ति इति मूर्तामूर्तगुणानामिन्द्रियानिन्द्रियविषयत्वं लक्षणमुक्तम्। इदानीं मूर्तगुणाः कस्य संबन्धिनो भवन्तीति संबन्धं कथयति। *पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा* मूर्तगुणाः पुद्गलद्रव्यात्मका अनेकविधा भवन्ति; पुद्गलद्रव्यसंबन्धिनो भवन्तीत्यर्थः। अमूर्तगुणानां संबन्धं प्रतिपादयति। *दव्वाणममुत्ताणं* विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं यत्परमात्मद्रव्यं तत्प्रभृतीनाममूर्तद्रव्याणां संबन्धिनो भवन्ति। ते के। *गुणा अमुत्ता* अमूर्ताः गुणाः, केवलज्ञानादय (ज्ञातव्याः) इत्यर्थः।

इति मूर्तामूर्तगुणानां लक्षणसंबन्धौ ज्ञातव्यौ॥ १४१ ॥

एवं ज्ञानादिविशेषगुणभेदेन द्रव्यभेदो भवतीति कथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाद्वयं गतम्।

अब, मूर्त-अमूर्त गुणों का लक्षण और सम्बन्ध निरूपित करते हैं—

गुण-मूर्त इन्द्रिय ग्राह्य विविध प्रकार पुद्गल रूप हैं।

अमूर्त द्रव्यों के सभी हि अमूर्त गुण ज्ञातव्य हैं॥ १४१ ॥

गाथार्थ— पुद्गल द्रव्यात्मक मूर्त-गुण इन्द्रियों से ग्राह्य और अनेक प्रकार के हैं, तथा अमूर्त द्रव्यों के गुण अमूर्त जानना चाहिये।

टीकार्थ— ***मुत्ता इंदियगेज्झा***— मूर्त गुण इन्द्रियग्राह्य-इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने योग्य होते हैं, और अमूर्त गुण इन्द्रियों के विषय नहीं होते हैं— इसप्रकार मूर्त-अमूर्त गुणों का इन्द्रिय और अनिन्द्रिय विषयतारूप लक्षण कहा। अब मूर्तगुण किस सम्बन्धी—किसके होते हैं— इसप्रकार सम्बन्ध कहते हैं। ***पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा***— मूर्त गुण पुद्गल द्रव्य स्वरूप अनेक प्रकार के होते हैं, पुद्गल द्रव्य सम्बन्धी—पुद्गल द्रव्य के हैं— ऐसा अर्थ है।

अमूर्त गुणों का सम्बन्ध बताते हैं— ***दव्वाणममुत्ताणं-विशुद्ध*** ज्ञान-दर्शन स्वभावी जो परमात्मद्रव्य तत्प्रभृति अमूर्त द्रव्यों सम्बन्धी—अमूर्त द्रव्यों के हैं। अमूर्त द्रव्यों के कौन हैं? ***गुणा अमुत्ता (मुणेदव्वा)***— वे अमूर्त गुण-केवलज्ञानादि गुण अमूर्त द्रव्यों के हैं— ऐसा जानना चाहिये; यह अर्थ है।

इसप्रकार मूर्त और अमूर्त गुणों के लक्षण और सम्बन्ध जानना चाहिये।

भावार्थ— जो इन्द्रियों के द्वारा (इन्द्रिय-ज्ञान के द्वारा) भी ग्रहण किये जाते हैं; वे मूर्त गुण हैं; वे विविध प्रकार के मूर्त गुण मात्र पुद्गल द्रव्य के ही हैं, अन्य द्रव्यों के नहीं।

जो इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किये जा सकते, वे अमूर्त गुण हैं; वे केवलज्ञानादि विविध प्रकार के अमूर्त गुण, पुद्गल को छोड़कर शेष विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभावी परमात्मद्रव्य आदि पाँच द्रव्यों के हैं।

अथ मूर्तपुद्गलद्रव्यस्य गुणानावेदयति–

वण्णरसगंधफासा विज्जंते पुग्गलस्स सुहुमादो ।(१३२)

पुढवीपरियंतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो ॥ १४२ ॥

वण्णरसगंधफासा विज्जंते पोग्गलस्स वर्णरसगन्धस्पर्शा विद्यन्ते । कस्य । पुद्गलस्य । कथंभूतस्य । *सुहुमादो पुढवीपरियंतस्स य* –

"पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसयकम्मपरमाणू ।
छव्विहभेयं भणियं पोग्गलदव्वं जिणवरेहिं ।"[२]

इति गाथाकथितक्रमेण परमाणुलक्षणसूक्ष्मस्वरूपादेः पृथ्वीस्कन्धलक्षणस्थूलस्वरूपपर्यन्तस्य च ।

विशेषार्थ– सूक्ष्म परमाणु इन्द्रिय-ज्ञान द्वारा कैसे ग्रहण हो सकता है ? इसे *'आचार्य प्रभाचन्द्र'* निम्न प्रकार स्पष्ट करते हैं–

"इन्द्रियग्रहणयोग्यताशक्तिव्यक्तापेक्षया सूक्ष्मपरमाणु गता ।[१]

इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होने की योग्यतारूप शक्ति की प्रगटता की अपेक्षा सूक्ष्म परमाणु भी उनके द्वारा ज्ञात हो जाते हैं ।"

इसीप्रकार *'अणेयविहा'* के विश्लेषण में काला आदि बीस गुणों को गिनाया है ।– ॥ १४१ ॥

इसप्रकार ज्ञानादि विशेषगुणों के भेद से द्रव्यों के भेद होते हैं– इस कथन रूप दूसरे स्थल में दो गाथायें पूर्ण हुईं ।

(अब, विशेष गुणों के द्वारा द्रव्यों का निर्णय परक तीन गाथाओं में निबद्ध तीसरा स्थल प्रारम्भ होता है ।)

अब, मूर्त पुद्गल द्रव्यों के गुणों का ज्ञान कराते हैं–

हैं पुद्गलों के वर्ण रस व गंध वा स्पर्श भी ।
पर्यन्त पृथ्वी सूक्ष्म से सब शब्द पुद्गल दशा ही ॥ १४२ ॥

गाथार्थ– सूक्ष्म से लेकर पृथ्वी पर्यन्त सर्व पुद्गल के वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श विद्यमान हैं ; तथा जो शब्द है, वह पुद्गल की विविध प्रकार की पर्याय है ।

टीकार्थ– ***वण्णरसगंधफासा विज्जंते पोग्गलस्स***– वर्ण, रस, गंध, स्पर्श विद्यमान हैं । ये किसके विद्यमान हैं ? ये पुद्गल के विद्यमान हैं । ये कैसे पुद्गल के विद्यमान हैं ? ***सुहुमादो पुढवीपरियंतस्स य***– "पुद्गल द्रव्य को जिनेन्द्रदेव ने पृथ्वी, जल, छाया, (नेत्र को छोड़कर) चार इन्द्रियों के विषय, कर्म और परमाणु– इसप्रकार छह भेद वाला कहा है ।"

इस गाथा में कहे हुये क्रम से परमाणु लक्षण सूक्ष्म स्वरूप से पृथ्वी स्कन्ध लक्षण स्थूल स्वरूप वाले पुद्गल के विद्यमान हैं ।

१- प्रवचनसार, गाथा १३९, प्रवचनसार सरोजभास्कर टीका ।
२- गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ६०२ ।

तथा हि – यथानन्तज्ञानादिचतुष्टयं विशेषलक्षणभूतं यथासंभवं सर्वजीवेषु साधारणं तथा वर्णादिचतुष्टयं विशेषलक्षणभूतं यथासंभवं सर्वपुद्गलेषु साधारणम्। यथैव चानन्तज्ञानादिचतुष्टयं मुक्तजीवेऽतीन्द्रियज्ञान-विषयमनुमानगम्यमागमगम्यं च, तथा शुद्धपरमाणुद्रव्ये वर्णादिचतुष्टयमप्यतीन्द्रियज्ञानविषयमनुमानगम्यमागम-गम्यं च।

यथा वानन्तचतुष्टयस्य संसारिजीवे रागादिस्नेहनिमित्तेन कर्मबन्धवशादशुद्धत्वं भवति तथा वर्णादिचतु-ष्टयस्यापि स्निग्धरूक्षगुणनिमित्तेन द्व्यणुकादिबन्धावस्थायामशुद्धत्वम्। यथा वानन्तज्ञानादिचतुष्टयस्य रागादि-स्नेहरहितशुद्धात्मध्यानेन शुद्धत्वं भवति तथा वर्णादिचतुष्टयस्यापि स्निग्धगुणाभावे बन्धनेऽसति परमाणु-पुद्गलावस्थायां शुद्धत्वमिति।

सद्दो सो पोग्गलो यस्तु शब्दः स पौद्गलः। यथा जीवस्य नरनारकादिविभावपर्यायाः तथायं शब्दः पुद्गलस्य विभावपर्यायो, न च गुणः। कस्मात्। गुणस्याविनश्वरत्वात्, अयं च विनश्वरो।

नैयायिकमतानुसारी कश्चिद्वदत्याकाशगुणोऽयं शब्दः। परिहारमाह–आकाशगुणत्वे सत्यमूर्तो भवति। अमूर्तश्च श्रवणेन्द्रियविषयो न भवति, दृश्यते च श्रवणेन्द्रियविषयत्वम्। शेषेन्द्रियविषयः कस्मान्न भवतीति चेत्– अन्येन्द्रियविषयोऽन्येन्द्रियस्य न भवति वस्तुस्वभावादेव, रसादिविषयवत्।

पुनरपि कथंभूतः। *चित्तो* चित्रः भाषात्मकाभाषात्मकरूपेण प्रायोगिकवैश्रसिकरूपेण च नानाप्रकारः। तच्च "*सद्दो खंधप्पभवो*"[१] इत्यादिगाथायां *पंचास्तिकाये* व्याख्यातं तिष्ठत्यत्रालं प्रसंगेन॥ १४२॥

वह इसप्रकार– जैसे विशेषणभूत अनन्तज्ञानादि चतुष्टय यथासंभव सभी जीवों में साधारण हैं, उसी-प्रकार विशेष लक्षणभूत वर्णादि चतुष्टय यथासंभव सभी पुद्गलों में साधारण हैं। और जैसे मुक्त जीव में अनन्तज्ञानादि चतुष्टय, अतीन्द्रिय-ज्ञान के विषय तथा अनुमानगम्य और आगमगम्य हैं, उसीप्रकार शुद्ध परमाणु द्रव्य में वर्णादि चतुष्टय भी अतीन्द्रिय-ज्ञान के विषय तथा अनुमानगम्य और आगमगम्य हैं।

जैसे संसारी जीव में रागादि स्नेह (स्निग्ध-चिकनाई) के निमित्त से, कर्मबन्ध के वश अनन्त चतुष्टय के अशुद्धता होती है, उसीप्रकार वर्णादि चतुष्टय के भी द्व्यणुक आदि बंध की अवस्था में, स्निग्ध-रूक्ष गुण के निमित्त से अशुद्धता होती है। तथा जैसे रागादि स्नेह रहित शुद्धात्मा के ध्यान से अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय के शुद्धता होती है, उसीप्रकार (बँधने योग्य) स्निग्ध गुण के अभाव में बन्धन नहीं होने पर, पुद्गल की परमाणु अवस्था में वर्णादि चतुष्टय के भी शुद्धता होती है।

सद्दो सो पोग्गलो– और जो शब्द है, वह पुद्गल है। जैसे जीव की मनुष्य, नारक आदि विभाव पर्यायें हैं; उसीप्रकार यह शब्द पुद्गल की विभाव पर्याय है, गुण नहीं है। वह गुण क्यों नहीं है ? गुणों के अविनश्वरता–नित्यता–नष्ट नहीं होने से शब्द गुण नहीं है, यह नश्वर है–नष्ट होता है।

नैयायिक मत का अनुसरण करने वाला कोई कहता है– यह शब्द आकाश का गुण है। आचार्य उसका निराकरण करते हैं– आकाश का गुण होने पर वह अमूर्त (सिद्ध) होता है। और अमूर्त कर्णेन्द्रिय का विषय नहीं होता, परन्तु उसके कर्णेन्द्रिय की विषयता देखी जाती है।

प्रश्न- वह शेष इन्द्रियों का विषय किस कारण–क्यों नहीं होता है ?

उत्तर- वस्तु के स्वभाव से ही रसादि विषयों के समान, किसी अन्य इन्द्रिय का विषय दूसरी अन्य इन्द्रिय का विषय नहीं होता है।

१- पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा ७९।

अथाकाशाद्यमूर्तद्रव्याणां विशेषगुणान्प्रतिपादयति–

आगासस्सवगाहो धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं ।(१३३)
धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा ॥ १४३ ॥
कालस्स वट्टणा से गुणोवओगो त्ति अप्पणो भणिदो ।(१३४)
णेया संखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं ॥ १४४ ॥ जुगलं ॥

आगासस्सवगाहो आकाशस्यावगाहहेतुत्वं, *धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं* धर्मद्रव्यस्य गमनहेतुत्वं, *धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा* धर्मेतरद्रव्यस्य तु पुनः स्थानकारणतागुणो भवतीति प्रथमगाथा गता।

कालस्स वट्टणा से कालस्य वर्तना स्याद्गुणः, *गुणोवओगो त्ति अप्पणो भणिदो* ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयमित्यात्मनो गुणो भणितः । *णेया संखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं* एवं संक्षेपादमूर्तद्रव्याणां गुणा ज्ञेया इति।

वह शब्द भी कैसा है ? *चित्तो*– विविधप्रकार का—भाषात्मक, अभाषात्मक रूप से, कृत्रिम तथा स्वाभाविक रूप से अनेक प्रकार का है। और वह "शब्द स्कन्ध से उत्पन्न है—" इत्यादि गाथा में 'पंचास्तिकाय' में कहा गया है; इसप्रकार यहाँ इस अति प्रसंग से बस हो।

विशेषार्थ– 'आचार्य प्रभाचन्द्र' ने गाथागत "*चित्तो*" शब्द* का विश्लेषण करते हुये भाषात्मक-अभाषात्मक, आर्य-अनार्य इत्यादि भेद-प्रभेदों को स्पष्ट किया है ॥ १४२ ॥

अब, आकाश आदि अमूर्त द्रव्यों के विशेष गुण कहते हैं–

आकाश का अवगाह गुण है धर्म का गतिहेतुता।
है और द्रव्य अधर्म का गुण स्थिति में हेतुता ॥ १४३ ॥
है वर्तना गुणकाल का उपयोग गुण है जीव का।
ये गुण अमूर्तिक द्रव्य के संक्षेप से जानो कहा ॥ १४४ ॥

गाथार्थ– आकाश का अवगाह, धर्म द्रव्य का गमनहेतुत्व, अधर्म द्रव्य का स्थिति हेतुत्व, काल का गुण वर्तना और आत्मा का गुण उपयोग कहा गया है; इसप्रकार संक्षेप से अमूर्तद्रव्यों के गुण जानना चाहिये।

टीकार्थ– ***आगासस्सवगाहो***– आकाश का अवगाहहेतुता (जगह देने में निमित्त होना) ***धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं***– धर्म द्रव्य का गमनहेतुता (चलने में निमित्त होना) ***धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा***– और धर्मेतर द्रव्य का—अधर्म द्रव्य का स्थानकारणता (ठहरने में निमित्त होना) गुण है—इस प्रकार पहली (१४३वी) गाथा पूर्ण हुई।

कालस्स वट्टणा से– काल का वर्तना गुण है। ***गुणोवओगो त्ति अप्पणो भणिदो***– ज्ञान-दर्शन दोनों उपयोग आत्मा के गुण कहे गये हैं। ***णेया संखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं***– इसप्रकार संक्षेप से अमूर्त द्रव्यों के गुण जानना चाहिये।

---

* प्रवचनसार गाथा १४०, प्रवचनसार सरोजभास्कर टीका।

तथा हि– सर्वद्रव्याणां साधारणमवगाहहेतुत्वं विशेषगुणत्वादेवान्यद्रव्याणामसंभवत्सदाकाशं निश्चिनोति।गतिपरिणतसमस्तजीवपुद्गलानामेकसमये साधारणं गमनहेतुत्वं विशेषगुणत्वादेवान्यद्रव्याणामसंभवत्सद्धर्मद्रव्यं निश्चिनोति। तथैव च स्थितिपरिणतसमस्तजीवपुद्गलानामेकसमये साधारणं स्थितिहेतुत्वं विशेषगुणत्वादेवान्यद्रव्याणामसंभवत्सदधर्मद्रव्यं निश्चिनोति। सर्वद्रव्याणां युगपत्पर्यायपरिणतिहेतुत्वं विशेषगुणत्वादेवान्यद्रव्याणामसंभवत्सत्कालद्रव्यं निश्चिनोति। सर्वजीवसाधारणं सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनद्वयं विशेषगुणत्वादेवान्याचेतनपंचद्रव्याणामसंभवत्सच्छुद्धबुद्धैकस्वभावं परमात्मद्रव्यं निश्चिनोति।

अयमत्रार्थः– यद्यपि पंचद्रव्याणि जीवस्योपकारं कुर्वन्ति तथापि तानि दुःखकारणान्येवेति ज्ञात्वाक्षयानन्तसुखादिकारणं विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावं परमात्मद्रव्यं तदेव मनसा ध्येयं वचसा वक्तव्यं कायेन तत्साधकमनुष्ठानं च कर्तव्यमिति ॥ १४३ । १४४ ॥

एवं कस्य द्रव्यस्य के विशेषगुणा भवन्तीति कथनरूपेण तृतीयस्थले गाथात्रयं गतम्।

वह इसप्रकार– अन्य द्रव्यों के असम्भव–नहीं पाये जाने वाले सभी द्रव्यों को साधारण–समान रूप से, अवगाह-हेतुत्वरूप विशेषगुण से ही विद्यमान आकाश का निश्चय किया जाता है। अन्य द्रव्यों के असम्भव, गति रूप परिणत सम्पूर्ण जीव-पुद्‌गलों के एक समय में समानरूप से गमन में हेतुरूप विशेष गुण से ही विद्यमान धर्म द्रव्य का निश्चय किया जाता है। और उसी प्रकार अन्य द्रव्यों के असम्भव, स्थिति रूप परिणत सम्पूर्ण जीव-पुद्‌गलों की एक समय में समान रूप से स्थिति में हेतु रूप विशेष गुण से ही विद्यमान अधर्म द्रव्य का निश्चय किया जाता है। अन्य द्रव्यों के असम्भव, सभी द्रव्यों को एक साथ पर्याय रूप परिणमन में हेतु रूप विशेष गुण से ही विद्यमान काल द्रव्य का निश्चय किया जाता है। अन्य अचेतन पाँचों द्रव्यों के असम्भव, सभी जीवों में पाये जाने वाले परिपूर्ण निर्मल केवलज्ञान-केवलदर्शन (मात्र ज्ञान-दर्शन) दो विशेष गुणों से ही विद्यमान शुद्ध बुद्ध एक स्वभावी परमात्मद्रव्य का निश्चय किया जाता है।

यहाँ अर्थ यह है कि यद्यपि पाँच द्रव्य जीव का उपकार करते हैं, तथापि वे दुःख के कारण ही हैं– ऐसा जानकर अक्षय-अनन्त सुखादि के कारणभूत विशुद्ध ज्ञान-दर्शन उपयोग स्वभावी परमात्मद्रव्य का ही मन द्वारा ध्यान करना चाहिये, उसे ही वचनों से बोलना चाहिये और शरीर से उसके ही साधक अनुष्ठान करना चाहिये।

विशेषार्थ– उपकार का अर्थ मात्र भलाई करना ही नहीं होता है वरन् 'निमित्त' अर्थ भी होता है। प्रस्तुत प्रकरण में 'निमित्त' अर्थ ही विवक्षित है। एतदर्थ देखिये — इष्टोपदेश, पद्य ३५ ; तत्त्वार्थवार्तिक, अध्याय ५, सूत्र १७, वार्तिक ३ ; सर्वार्थसिद्धि, सूत्र २२ की वचनिका ; अर्थप्रकाशिका, सूत्र १९ की वचनिका — इत्यादि ॥१४३ । १४४ ॥

इसप्रकार किस द्रव्य के कौन से विशेष गुण हैं– इस कथन रूप तीसरे स्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुईं।

अथ कालद्रव्यं विहाय जीवादिपंचद्रव्याणामस्तिकायत्वं व्याख्याति–

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा पुणो य आगासं।(१३५)

सपदेसेहिं असंखा णत्थि पदेस त्ति कालस्स॥ १४५॥

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा पुणो य आगासं जीवाः पुद्गलकायाः धर्माधर्मौ पुनश्चाकाशम्। एते पंचास्तिकायाः किंविशिष्टाः। *सपदेसेहिं असंखा* स्वप्रदेशैरसंख्येयाः। अत्रासंख्येयप्रदेशशब्देन प्रदेशबहुत्वं ग्राह्यम्। तच्च यथासंभवं योजनीयम्।

जीवस्य तावत्संसारावस्थायां विस्तारोपसंहारयोरपि प्रदीपवत्प्रदेशानां हानिवृद्ध्योरभावाद्व्यवहारेण देहमात्रेऽपि निश्चयेन लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशत्वम्। धर्माधर्मयोः पुनरवस्थितरूपेण लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशत्वम्। स्कन्धाकारपरिणतपुद्गलानां तु संख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशत्वम्। किंतु पुद्गलव्याख्याने प्रदेशशब्देन परमाणवो ग्राह्या, न च क्षेत्रप्रदेशाः। कस्मात्। पुद्गलानामनन्तप्रदेशक्षेत्रेऽवस्थानाभावादिति। परमाणोर्व्यक्तिरूपेणैकप्रदेशत्वं शक्तिरूपेणोपचारेण बहुप्रदेशत्वं च। आकाशस्यानन्ता इति। *णत्थि पदेस त्ति कालस्स* न सन्ति प्रदेशा इति कालस्य। कस्मात्। द्रव्यरूपेणैकप्रदेशत्वात्, परस्परबन्धाभावात्पर्यायरूपेणापीति॥१४५॥

(अब, पंचास्तिकाय व्याख्यान परक दो गाथाओं में निबद्ध चौथा स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, काल द्रव्य को छोड़कर जीवादि पाँच द्रव्यों के अस्तित्व की व्याख्या करते हैं (अस्तिकायपने का कथन करते हैं)–

हैं जीव पुद्गलकाय धर्म अधर्म वा आकाश ये।

अपने प्रदेशों से बहुत पर बहु प्रदेश न काल के॥ १४५॥

गाथार्थ– जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म, और आकाश अपने प्रदेशों की अपेक्षा असंख्यात (अनेक प्रदेशी) हैं; परन्तु काल के प्रदेश (अनेक प्रदेश) नहीं हैं।

टीकार्थ– ***जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा पुणो य आगासं***–जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म और आकाश। ये पाँच अस्तिकाय किस विशेषता वाले हैं? ***सपदेसेहिं असंखा***–अपने प्रदेशों से असंख्यात हैं। यहाँ 'असंख्यात प्रदेश' शब्द से बहुप्रदेशता ग्रहण करना चाहिये। और वह यथासंभव लगाना चाहिये।

उनमें से जीव के संसार अवस्था में दीपक के प्रकाश के समान प्रदेशों का संकोच-विस्तार होने पर भी हीनाधिकता का अभाव होने के कारण व्यवहार से शरीर के बराबर आकार वाला होने पर भी, निश्चय से लोकाकाश के बराबर असंख्यात प्रदेशता है। धर्म और अधर्म द्रव्य के अवस्थित–स्थायी रूप से लोकाकाश के बराबर असंख्यात प्रदेशता है। स्कन्ध के आकार परिणत पुद्गलों के संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशता है। परन्तु पुद्गल के कथन में प्रदेश शब्द के द्वारा परमाणु ग्रहण करना चाहिये, क्षेत्र रूप प्रदेश नहीं। क्षेत्र रूप प्रदेश क्यों ग्रहण नहीं करना चाहिये? पुद्गलों का अनन्त प्रदेश क्षेत्र में निवास का अभाव होने से प्रदेश शब्द से क्षेत्र रूप प्रदेश ग्रहण न कर परमाणु ग्रहण करना चाहिये। परमाणु के प्रगट रूप से एक प्रदेशता और शक्ति रूप से, उपचार से बहुप्रदेशता है। आकाश के अनन्त प्रदेशता है। ***णत्थि पदेस त्ति कालस्स***– काल के प्रदेश (बहुप्रदेश)

अथ तमेवार्थं दृढयति-

एदाणि पंचदव्वाणि उज्झियकालं तु अत्थिकाय त्ति।

भण्णंते काया पुण बहुप्पदेसाण पचयत्तं ॥ १४६ ॥

एदाणि पंचदव्वाणि एतानि पूर्वसूत्रोक्तानि जीवादिषड्द्रव्याण्येव *उज्झिय कालं तु* कालद्रव्यं विहाय *अत्थिकाय त्ति भण्णंते* अस्तिकायाः पंचास्तिकाया इति भण्यन्ते। *काया पुण* कायाः, कायशब्देन पुनः किं भण्यते। *बहुप्पदेसाण पचयत्तं* बहुप्रदेशानां संबन्धि प्रचयत्वं समूह इति।

अत्र पंचास्तिकायमध्ये जीवास्तिकाय उपादेयस्तत्रापि पंचपरमेष्ठिपर्यायावस्था, तस्यामप्यर्हत्सिद्धावस्था, तत्रापि सिद्धावस्था। वस्तुतस्तु रागादिसमस्तविकल्पजालपरिहारकाले सिद्धजीवसदृशा स्वकीयशुद्धात्मावस्थेति भावार्थः ॥ १४६ ॥

एवं पंचास्तिकायसंक्षेपसूचनरूपेण चतुर्थस्थले गाथाद्वयं गतम्।

नहीं हैं। काल के बहुप्रदेश क्यों नहीं हैं ? द्रव्यरूप से एक प्रदेशी होने तथा परस्पर बन्ध का अभाव होने के कारण पर्यायरूप से भी उसके बहुप्रदेश नहीं हैं ॥ १४५ ॥

अब, उसी अर्थ को दृढ़ करते हैं—

ये काल द्रव्य विहीन अस्ति-काय पाँचों द्रव्य हैं।

सर्वज्ञ कहते काय बहुत-प्रदेश के समुदाय हैं ॥ १४६ ॥

गाथार्थ— काल द्रव्य को छोड़कर,ये पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं और बहुप्रदेशों के समूह को काय कहते हैं।

टीकार्थ— ***एदाणि पंचदव्वाणि***— ये पहले (१४५वी) गाथा में कहे हुये जीवादि छह द्रव्य ही ***उज्झिय-कालं तु***— काल द्रव्य को छोड़कर ***अत्थिकाय त्ति भण्णंते***— अस्तिकाय-पाँच अस्तिकाय कहे जाते हैं। ***काया पुण***—काय—और काय शब्द से क्या कहा गया है ? ***बहुप्पदेसाण पचयत्तं***— बहुप्रदेशों का प्रचयपना—समूह काय शब्द से कहा गया है।

यहाँ पाँच अस्तिकायों में जीवास्तिकाय उपादेय है, वहाँ भी पंच परमेष्ठी रूप पर्याय दशा उपादेय है, उसमें भी अरहन्त और सिद्ध दशा उपादेय है, उसमें भी सिद्ध दशा उपादेय है। वास्तव में तो रागादि सम्पूर्ण विकल्प समूहों के निषेध के समय सिद्ध जीव के समान अपना शुद्धात्मस्वरूप ही उपादेय है— ऐसा भाव है ॥ १४६ ॥

विशेषार्थ— सिद्ध दशा की उपादेयता को 'आचार्य कुन्दकुन्द' ने इसप्रकार व्यक्त किया है—

"इसलिये मोक्षार्थी जीव निःसंग और निर्मम होकर सिद्धों की भक्ति करता है, उससे निर्वाण प्राप्त करता है।"[१]

तदनन्तर मात्र स्वशुद्धात्मा को ही उपादेय बताते हुये आचार्य लिखते हैं—

"संयम और तप से संयुक्त होने पर भी, जिस जीव की बुद्धि पदार्थों सहित तीर्थंकरों की ओर लगी हुई है तथा सूत्र (आगम) में आसक्त है, उस जीव को मोक्ष बहुत दूर है।"[२] ॥ १४६ ॥

इसप्रकार पाँच अस्तिकायों के संक्षिप्त कथन रूप से चौथे स्थल में दो गाथायें पूर्ण हुईं।

१- पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा १६९।

२- वही, गाथा १७०।

अथ द्रव्याणां लोकाकाशेऽवस्थानमाख्याति–

लोगालोगेसु णभो धम्माधम्मेहिं आददो लोगो। (१३६)
सेसे पडुच्च कालो जीवा पुण पोग्गला सेसा ॥ १४७ ॥

लोगालोगेसु णभो लोकालोकयोरधिकरणभूतयोर्णभ आकाशं तिष्ठति। *धम्माधम्मेहिं आददो लोगो* धर्माधर्मास्तिकायाभ्यामाततो व्याप्तो भृतो लोकः। किं कृत्वा। *सेसे पडुच्च* शेषौ जीवपुद्गलौ प्रतीत्याश्रित्य। अयमत्रार्थः– जीवपुद्गलौ तावल्लोके तिष्ठतस्तयोर्गतिस्थित्योः कारणभूतौ धर्माधर्मावपि लोके। *कालो* कालोऽपि शेषौ जीवपुद्गलौ प्रतीत्य लोके। कस्मादिति चेत्। जीवपुद्गलाभ्यां नवजीर्णपरिणत्या व्यज्यमान-समयघटिकादिपर्यायत्वात्। शेषशब्देन किं भण्यते। *जीवा पुण पुग्गला सेसा* जीवाः पुद्गलाश्च पुनः शेषा भण्यन्त इति।

(अब, द्रव्यों का आधार लोकाकाश और लोकाकाश का प्रदेश लक्षण है, इस परक दो गाथाओं में निबद्ध पाँचवा स्थल प्रारम्भ होता है ।)

अब, द्रव्यों का लोकाकाश में अवगाह है, ऐसा प्रसिद्ध करते हैं—

है लोक और अलोक में नभ लोक धर्म अधर्म से।
है व्याप्त शेषाश्रित है काल व शेष पुद्गल जीव ये ॥ १४७ ॥

गाथार्थ– आकाश लोकालोक में है, लोक धर्म और अधर्म से व्याप्त है, शेष दो द्रव्यों का आश्रय लेकर काल है, और वे शेष दो द्रव्य जीव और पुद्गल हैं ।

टीकार्थ– ***लोगालोगेसु णभो***– आधारभूत लोक और अलोक में आकाश है । ***धम्माधम्मेहिं आददो लोगो***– लोक धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय से व्याप्त—भरा हुआ है । लोक क्या करने वाले उनसे भरा हुआ है । ***सेसे पडुच्च***- शेष जीव और पुद्गल का आश्रय लेकर रहने वाले धर्म और अधर्म से यह लोक भरा हुआ है । यहाँ अर्थ यह है कि जीव और पुद्गल लोक में रहते हैं, उन दोनों की गति-स्थिति में कारणभूत धर्म और अधर्म भी लोक में रहते हैं । ***कालो***- काल भी शेष—जीव-पुद्गलों का आश्रय लेकर लोक में रहता है । वह जीव-पुद्गलों का आश्रय क्यों लेता है ? नवीन और पुरानी पर्याय रूप से परिणमित जीव-पुद्गलों के द्वारा व्यक्त होने वाली समय, घटिका (घड़ी) आदि पर्याय रूप होने के कारण वह शेष जीव-पुद्गलों का आश्रय लेकर लोक में रहता है । शेष शब्द से क्या कहा गया है ? ***जीवा पुण पुग्गला सेसा***– जीव और पुद्गल शेष (शब्द से) कहे गये हैं ।

अयमत्र भावः– यथा सिद्धा भगवन्तो यद्यपि निश्चयेन लोकाकाशप्रमितशुद्धासंख्येयप्रदेशे केवलज्ञानादिगुणाधारभूते स्वकीयस्वकीयभावे तिष्ठन्ति तथापि व्यवहारेण मोक्षशिलायां तिष्ठन्तीति भण्यन्ते। तथा सर्वे पदार्था यद्यपि निश्चयेन स्वकीयस्वकीयस्वरूपे तिष्ठन्ति तथापि व्यवहारेण लोकाकाशे तिष्ठन्तीति।

अत्र यद्यप्यनन्तजीवद्रव्येभ्योऽनन्तगुणपुद्गलास्तिष्ठन्ति तथाप्येकदीपप्रकाशे बहुदीपप्रकाशवद्विशिष्टावगाहशक्तियोगेनासंख्येयप्रदेशेऽपि लोकेऽवस्थानं न विरुध्यते ॥ १४७ ॥

अथ यदेवाकाशस्य परमाणुव्याप्तक्षेत्रं प्रदेशलक्षणमुक्तं शेषद्रव्यप्रदेशानां तदेवेति सूचयति–

जध ते णभप्पदेसा तधप्पदेसा हवंति सेसाणं। (१३७)

अपदेसो परमाणू तेण पदेसुब्भवो भणिदो ॥ १४८ ॥

यहाँ भाव यह है– जैसे सिद्ध भगवान यद्यपि निश्चय से लोकाकाश प्रमाण अपने शुद्ध असंख्यात प्रदेशों में, केवलज्ञानादि गुणों के आधारभूत अपने-अपने भावों में रहते हैं, तथापि व्यवहार से मोक्षशिला (सिद्धशिला) में रहते हैं– ऐसा कहते हैं। उसीप्रकार सभी पदार्थ यद्यपि निश्चय से अपने-अपने स्वरूप में रहते हैं, तथापि व्यवहार से लोकाकाश में रहते हैं।

यहाँ यद्यपि अनन्तजीव द्रव्यों से अनन्तगुणे पुद्गल हैं, फिर भी एक दीपक के प्रकाश में अनेक दीपकों के प्रकाश के समान विशिष्ट अवगाहन शक्ति के योग से, असंख्यात प्रदेशी लोक में भी (इन सभी का) अवस्थान विरोध को प्राप्त नहीं होता है।

विशेषार्थ– आकाश के लोक और अलोक में रहने को 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने निम्नलिखित हेतु से व्यक्त किया है–

"छह द्रव्यों के समवाय और असमवाय में अविभागरूप से रहने के कारण आकाश लोक और अलोक दोनों में ही रहता है।"[१]

तदनन्तर अपने-अपने प्रदेशों के अनुसार अन्य पाँचों द्रव्यों की स्थिति को सहेतुक स्पष्ट करते हुये सम्पूर्ण लोक में उनकी स्थिति को अंजन चूर्ण से भरी हुई डिब्बी के न्याय से स्पष्ट किया है।– ॥ १४७ ॥

अब, जो परमाणु से घिरे हुये आकाश के क्षेत्र को प्रदेश का लक्षण कहा है, वही शेष सभी द्रव्यों के प्रदेशों का लक्षण है; ऐसी सूचना देते हैं–ऐसा बताते हैं–

हैं यथा वे नभ के प्रदेश तथा प्रदेश हैं शेष के।

परमाणु है अप्रदेश कहते माप हो प्रदेश से ॥ १४८ ॥

गाथार्थ– जैसे वे आकाश के प्रदेश हैं, वैसे ही शेष द्रव्यों के प्रदेश हैं। परमाणु अप्रदेशी है, उसके द्वारा प्रदेशों (को मापने सम्बन्धी) की उत्पत्ति कही गई है।

१- प्रवचनसार, गाथा १३६, तत्त्वप्रदीपिका टीका।

जध ते णभप्पदेसा यथा ते प्रसिद्धाः परमाणुव्याप्तक्षेत्रप्रमाणाकाशप्रदेशाः *तधप्पदेसा हवंति सेसाणं* तेनैवाकाशप्रदेशप्रमाणेन प्रदेशा भवन्ति। केषाम्। शुद्धबुद्धैकस्वभावं यत्परमात्मद्रव्यं तत्प्रभृतिशेषद्रव्याणाम्। *अपदेसो परमाणू* अप्रदेशो द्वितीयादिप्रदेशरहितो योऽसौ पुद्गलपरमाणुः *तेण पदेसुब्भवो भणिदो* तेन परमाणुना प्रदेशस्योद्भव उत्पत्तिर्भणिता। परमाणुव्याप्तक्षेत्रं प्रदेशो भवति। तदग्रे विस्तरेण कथयति इह तु सूचितमेव ॥ १४८ ॥

एवं पञ्चमस्थले स्वतन्त्रगाथाद्वयं गतम्।

अथ कालद्रव्यस्य द्वितीयादिप्रदेशरहितत्वेनाप्रदेशत्वं व्यवस्थापयति–

समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स। (१३८)
वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदव्वस्स ॥ १४९ ॥

टीकार्थ– *जध ते णभप्पदेसा*– जैसे वे प्रसिद्ध परमाणु से व्याप्त क्षेत्र के बराबर आकाश के प्रदेश हैं, *तधप्पदेसा हवंति सेसाणं*– उसी आकाश के प्रदेश के प्रमाण से प्रदेश हैं। आकाश प्रदेश के प्रमाण से किनके प्रदेश हैं ? शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव जो परमात्मद्रव्य तत्प्रभृति शेष द्रव्यों के प्रदेश हैं। *अपदेसो परमाणु*– अप्रदेश-दूसरे आदि प्रदेशों से रहित जो वह पुद्गल परमाणु है, *तेण पदेसुब्भवो भणिदो*– उस परमाणु द्वारा प्रदेशों की उत्पत्ति कही गई है। परमाणु से व्याप्त क्षेत्र प्रदेश है। वह आगे (१५१वीं गाथा में) विस्तार से कहा जायेगा, यहाँ तो सूचना मात्र दी है।

भावार्थ– एक अविभागी परमाणु आकाश के जितने क्षेत्र को व्याप्त करता है, वह एक प्रदेश कहलाता है। इस प्रदेश से ही अन्य द्रव्यों के प्रदेश नापे जाते हैं ॥ १४८ ॥

इसप्रकार पाँचवे स्थल में दो स्वतंत्र गाथायें समाप्त हुईं।

(अब, काल द्रव्य का अप्रदेशत्व तथा पर्यायकाल-द्रव्य काल परक दो गाथाओं वाला छठवाँ स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, काल द्रव्य के दूसरे आदि प्रदेशों से रहित होने के कारण अप्रदेशता की व्यवस्था बताते हैं–

है अप्रदेशी काल पुद्गल द्रव्य मात्र प्रदेश से।
वह वर्तता आकाश-द्रव्य-प्रदेश के व्यतिपात से ॥ १४९ ॥

गाथार्थ– काल तो अप्रदेशी है, और वह प्रदेशमात्र–एक प्रदेशी पुद्गल द्रव्य द्वारा आकाश-द्रव्य के एक प्रदेश को मंद गति से उल्लंघन करते हुये वर्तता है– परिणमन करता है।

समओ समयपर्यायस्योपादानकारणत्वात्समयः कालाणु। *दु* पुनः। स च कथंभूतः। *अप्पदेसो* अप्रदेशो द्वितीयादिप्रदेशरहितो भवति। स च किं करोति। *सो वट्टदि* स पूर्वोक्तकालाणुः परमाणोर्गतिपरिणतेः सहकारित्वेन वर्तते। कस्य संबन्धी योऽसौ परमाणुः। *पंदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स* प्रदेशमात्रपुद्गलजातिरूपपर-माणुद्रव्यस्य। किं कुर्वतः। *वदिवददो* व्यतिपततो मन्दगत्या गच्छतः। कं प्रति। *पदेसं* कालाणुव्याप्तमेकप्र-देशम्। कस्य संबन्धिनम्। आगासदव्वस्स आकाशद्रव्यस्येति।

तथा हि– कालाणुरप्रदेशो भवति। कस्मात्। द्रव्येणैकप्रदेशत्वात्। अथवा यथा स्नेहगुणेन पुद्गलानां परस्परबन्धो भवति तथाविधबन्धाभावात्पर्यायेणापि।

अयमत्रार्थः– यस्मात्पुद्गलपरमाणोरेकप्रदेशगमनपर्यन्तं सहकारित्वं करोति न चाधिकं तस्मादेव ज्ञायते सोऽप्येकप्रदेश इति॥ १४९॥

टीकार्थ– ***समओ***– समय पर्याय का उपादान कारण होने से समय–कालाणु–कालद्रव्य ***दु*** - और। वह काल द्रव्य कैसा है ? ***अप्पदेसो***– अप्रदेश–दूसरे आदि प्रदेशों से रहित है। वह अप्रदेशी काल द्रव्य क्या करता है ? ***सो वट्टदि***– वह पूर्वोक्त कालाणु परमाणु के गतिरूप परिणमन के निमित्त से वर्तता है– परिणमन करता है। जो गति परिणत है, वह परमाणु किस सम्बन्धी है– गतिपरिणत वह परमाणु किसका है ? ***पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स***– प्रदेशमात्र–एक प्रदेशी पुद्गल जाति रूप परमाणु द्रव्य का वह गति परिणत परमाणु है। क्या करते हुये परमाणु के माध्यम से काल द्रव्य परिणमित होता है ? ***वदिवददो***– मन्दगति से जाते हुये परमाणु के माध्यम से वह परिणमित होता है। वह परमाणु किसकी ओर मन्दगति से जाता है ? ***पदेसं***– वह कालाणु से व्याप्त एक प्रदेश की ओर जाता है। वह प्रदेश किसका है ? ***आगासदव्वस्स***– वह प्रदेश आकाश द्रव्य का है।

वह इसप्रकार– कालाणु अप्रदेशी (एक प्रदेशी) है। वह अप्रदेशी कैसे है ? द्रव्य की अपेक्षा एक प्रदेशी होने के कारण वह अप्रदेशी है। अथवा जैसे स्नेह गुण (स्निग्ध गुण–चिकनाई) द्वारा पुद्गलों का परस्पर बन्ध होता है, उसप्रकार के बन्ध का अभाव होने से पर्याय अपेक्षा भी वह अप्रदेशी है।

यहाँ अर्थ यह है कि जिस कारण पुद्गल परमाणु के एक प्रदेश पर्यन्त गमन में सहकार्य करता है– निमित्त होता है, अधिक में नहीं; इससे ज्ञात होता है कि काल द्रव्य भी एक प्रदेशी ही है।

भावार्थ– जब मन्दगति से गमन करता पुद्गल परमाणु कालाणु से व्याप्त आकाश द्रव्य के एक प्रदेश की ओर जाता है, तब उस जाते हुये परमाणु के निमित्त से, समय-पर्यय का उपादान कारण, दूसरे आदि प्रदेशों से रहित–अप्रदेशी–एकप्रदेशी कालाणु वर्तता है–ज्ञात होता है।

अथ पूर्वोक्तकालपदार्थस्य पर्यायस्वरूपं द्रव्यस्वरूपं च प्रतिपादयति-

वदिवददो तं देसं तस्सम समओ तदो परो पुव्वो ।(१३९)

जो अत्थो सो कालो समओ उप्पण्णपद्धंसी ॥ १५० ॥

वदिवददो तस्य पूर्वसूत्रोदितपुद्गलपरमाणोर्व्यतिपततो मन्दगत्या गच्छतः । कं कर्मतापन्नम् । *तं देसं* तं पूर्वगाथोदितं कालाणुव्याप्तमाकाशप्रदेशम् । *तस्सम* तेन कालाणुव्याप्तैकप्रदेशपुद्गलपरमाणुमन्दगतिगमनेन समः समानः सदृशस्तत्समः *समओ* कालाणुद्रव्यस्य सूक्ष्मपर्यायभूतः समयो व्यवहारकालो भवतीति पर्यायव्याख्यानं गतम् ।

विशेषार्थ- 'आचार्य प्रभाचन्द्र' इसी कालद्रव्य की वृत्ति को निम्न प्रकार से स्पष्ट करते हैं-

"अयमर्थः- पुद्गलपरमाणुः स्वव्यवस्थिताकाशानंतरप्रदेशं यावता कालेन व्याप्नोति, तावत्कालो व्यवहारकालः समयो भवतीति ।[1]

अर्थ यह है- पुद्गल परमाणु स्वस्थित आकाश प्रदेश से उसके ही बाद स्थित आकाश प्रदेश को जितने समय में व्याप्त करता है, उतना काल व्यवहार काल-समय है ।" ॥ १४९ ॥

अब, पहले (१४९वीं गाथा में) कहे हुये काल पदार्थ के पर्यायस्वरूप और द्रव्यस्वरूप का प्रतिपादन करते हैं-

व्यतिपात से नभ देश को उस सम समय वह है समय ।

जो पूर्व-पर है अर्थकाल उत्पन्नध्वंशी है समय ॥ १५० ॥

गाथार्थ- उस आकाश प्रदेश को उल्लंघन करते हुये (पुद्गल का) काल के बराबर जो काल है, वह समय है; उससे आगे-पीछे (हमेशा रहने वाला) जो पदार्थ है, वह काल द्रव्य है । समय उत्पन्न और नष्ट होता है ।

टीकार्थ- ***वदिवददो***- उस पहले (१४९वीं) गाथा में कहे हुये पुद्गल परमाणु के व्यतिपात से- मदं गति से जाते हुये । इस गाथा में कर्मता को प्राप्त कौन है- कर्म कारक में कौन है- मंद गति से कहाँ जाते हुये ? ***तं देसं***- पहले गाथा में कहे हुये कालाणु से व्याप्त उस आकाशप्रदेश को जाते हुये । ***तस्सम***- कालाणु से व्याप्त एक प्रदेशी पुद्गल परमाणु के मन्दगति से जाते हुये के समान- सदृश अर्थात उसके समान ***समओ***-कालाणु द्रव्य का सूक्ष्म पर्यायभूत समय व्यवहार काल है- इसप्रकार पर्याय का कथन पूर्ण हुआ ।

१- प्रवचनसार, गाथा १४७, प्रवचनसार सरोज भास्कर टीका ।

तदो परो पुव्वो तस्मात्पूर्वोक्तसमयरूपकालपर्यायात्परो भाविकाले पूर्वमतीतकाले च *जो अत्थो* यः पूर्वापरपर्यायेष्वन्वयरूपेण वृत्तपदार्थो द्रव्यं *सो कालो* स कालः कालपदार्थो भवतीति द्रव्यव्याख्यानम्।

समओ उप्पण्णपद्धंसी स पूर्वोक्तसमयपर्यायो यद्यपि पूर्वापरसमयसन्तानापेक्षया संख्येयासंख्येयानन्त-समयो भवति, तथापि वर्तमानसमयं प्रत्युत्पन्नप्रध्वंसी। यस्तु पूर्वोक्तद्रव्यकालः स त्रिकालस्थायित्वेन नित्य इति।

एवं कालस्य पर्यायस्वरूपं द्रव्यस्वरूपं च ज्ञातव्यम्।

अथवानेन गाथाद्वयेन समयरूपव्यवहारकालव्याख्यानं क्रियते। निश्चयकालव्याख्यानं तु *'उप्पादो पद्धंसो'* इत्यादि गाथात्रयेणाग्रे करोति।

तद्यथा–

समओ परमार्थकालस्य पर्यायभूतसमयः। *अवप्पदेसो* अपगतप्रदेशो द्वितीयादिप्रदेशरहितो निरंश इत्यर्थः। कथं निरंश इति चेत्। *पदेसमेत्तस्स दवियजादस्स* प्रदेशमात्रपुद्गलद्रव्यस्य सम्बन्धी योऽसौ परमाणुः *वदिवादादो वट्टदि* व्यतिपातात् मन्दगतिगमनात्सकाशात्स परमाणुस्तावद्गमनरूपेण वर्तते। कं प्रति। *पदेसमागासदवियस्स* विवक्षितैकाकाशप्रदेशं प्रति।

इति प्रथमगाथाव्याख्यानम्।

तदो पुरो पुव्वो– उस पहले कही हुई समयरूप काल पर्याय से पर–भविष्य काल में और पूर्व-भूतकाल में ***जो अत्थो***– जो भूत और भावि पर्यायों में अन्वय रूप से रहने वाला पदार्थ– द्रव्य है, ***सो कालो***– वह काल नामक पदार्थ है– इसप्रकार द्रव्य का कथन हुआ।

समओ उप्पण्णपद्धंसी– वह पहले कही हुई समय-पर्याय यद्यपि भूत-भावि समय-पर्यायों की परम्परा अपेक्षा संख्यात, असंख्यात और अनन्त समय वाली है; तथापि वर्तमान समय की अपेक्षा उत्पन्न और नष्ट होने वाली है और जो पहले कहा हुआ द्रव्य काल है, वह तीनों कालों में स्थायी होने से नित्य है।

इसप्रकार काल का द्रव्य -स्वरूप और पर्याय-स्वरूप जानना चाहिये।

अथवा इन दो गाथाओं द्वारा समय– व्यवहारकाल का विशेष कथन किया गया है। निश्चय काल का विशेष कथन तो "***उप्पादो पद्धंसो***–" इत्यादि तीन गाथाओं द्वारा आगे करेंगे।

वह इसप्रकार–

समओ– निश्चय काल का पर्यायभूत समय। ***अवप्पदेसो***– अपगत प्रदेश–दूसरे आदि प्रदेशों से रहित अर्थात् निरंश– ऐसा अर्थ है। वह निरंश कैसे है ? यदि ऐसा प्रश्न हो तो उत्तर कहते हैं– ***पदेसमेत्तस्स दवियजादस्स***–प्रदेश मात्र पुद्गल द्रव्य सम्बन्धी जो वह परमाणु है, ***वदिवादादो वट्टदि***– व्यतिपात से– मंद गति से गमन करने के कारण वह परमाणु उस गमनरूप से वर्तता है– परिणमन करता है। वह किसके प्रति गमनरूप से वर्तता है ? ***पदेसमागासदवियस्स***– वह विवक्षित एक आकाश प्रदेश के प्रति गमनरूप से वर्तता है।

इसप्रकार पहली (१४९वी) गाथा का विशेष कथन हुआ।

वदिवददो तं देसं स परमाणुस्तमाकाशप्रदेशं यदा व्यतिपतितोऽतिक्रान्तो भवति *तस्सम समओ* तेन पुद्गलपरमाणुमन्दगतिगमनेन समः समानः समयो भवतीति निरंशत्वमिति वर्तमानसमयो व्याख्यातः।

इदानीं पूर्वापरसमयौ कथयति– *तदो परो पुव्वो* तस्मात्पूर्वोक्तवर्तमानसमयात्परो भावो कोऽपि समयो भविष्यति पूर्वमपि कोऽपि गतः *अत्थो जो* एवं यः समयत्रयरूपोऽर्थः *सो कालो* सोऽतीतानागतवर्तमानरूपेण त्रिविधव्यवहारकालो भण्यते। *समओ उप्पण्णपद्धंसी* तेषु त्रिषु मध्ये योऽसौ वर्तमानः स उत्पन्नप्रध्वंसी अतीतानागतौ तु संख्येयासंख्येयानन्तसमयावित्यर्थः।

एवमुक्तलक्षणे काले विद्यमानेऽपि परमात्मतत्त्वमलभमानोऽतीतानन्तकाले संसारसागरे भ्रमितोऽयं जीवो यतस्ततः कारणात्तदेव निजपरमात्मतत्त्वं सर्वप्रकारोपादेयरूपेण श्रद्धेयं, स्वसंवेदनज्ञानरूपेण ज्ञातव्यमाहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञास्वरूपप्रभृतिसमस्तरागादिविभावत्यागेन ध्येयमिति तात्पर्यम्॥ १५०॥

एवं कालव्याख्यानमुख्यत्वेन षष्ठस्थले गाथाद्वयं गतम्।

वदिवददो तं देसं स– वह परमाणु उस आकाश प्रदेश का जब व्यतिपात–अतिक्रान्त–उल्लंघन करता है, ***तस्सम समओ***– मन्दगति से गमन करने वाले उस पुद्गल परमाणु के सम–समान समय है– इसप्रकार वह समय निरंश है।

इसप्रकार वर्तमान समय का विशेष कथन किया।

अब, भूत और भावि समय कहते हैं– ***तदो परो पुव्वो***– उस पहले कहे हुये वर्तमान समय से आगे दूसरे भाव रूप कोई भी समय होगा और पहले भी कोई भी समय था, ***अत्थो जो***– इसप्रकार जो तीन समय रूप अर्थ है ***सो कालो***– वह भूत, भविष्यत्, वर्तमान रूप से तीन प्रकार का व्यवहार काल कहलाता है। ***समओ उप्पण्णपद्धंसी***– उन तीनों के बीच में जो वह वर्तमान समय है, वह उत्पन्न और नष्ट स्वरूप है; और भूत और भावी काल तो संख्यात, असंख्यात और अनन्त समयों का है– ऐसा अर्थ है।

इसप्रकार कहे गये लक्षण वाले काल के विद्यमान होने पर भी, क्योंकि परमात्मतत्त्व को प्राप्त नहीं करता हुआ यह जीव, भूतकालीन अनन्तकाल से संसार-सागर में घूम रहा है, इस कारण वही निज परमात्म-तत्त्व सभी प्रकार से उपादेय रूप श्रद्धा करने योग्य है; स्वसंवेदन ज्ञान रूप से जानने योग्य है; तथा आहार, भय, मैथुन, परिग्रह संज्ञाओं के स्वरूप से लेकर सम्पूर्ण रागादि विभावों के त्याग रूप से वही ध्यान करने योग्य है– ऐसा तात्पर्य है।

विशेषार्थ–१- 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने मंदगति से गमन करते हुये परमाणु के माध्यम से, समय की निरंशता सिद्ध करने के साथ ही, तीव्रगति से गमन करने वाले परमाणु के द्वारा भी समय की निरंशता सिद्ध की है। वह इसप्रकार है–

"विशिष्ट गति परिणाम से विशिष्ट अवगाह परिणाम के समान, एक समय में परमाणु के लोकान्त पर्यन्त गमन होने पर भी समय के सांशता नहीं आती है।

वह इसप्रकार–

जैसे विशिष्ट अवगाह परिणाम के कारण एक परमाणु के बराबर अनन्त परमाणुओं का एक स्कन्ध हो जाने पर भी, परमाणु के अनंश–निरंश–अखण्ड होने से उसके अनन्त अंशों को सिद्ध नहीं करता है; उसीप्रकार

अथ पूर्वं यत्सूचितं प्रदेशस्वरूपं तदिदानीं विवृणोति–

आगासमणुणिविट्ठं आगासपदेससण्णया भणिदं।(१४०)

सव्वेसिं च अणूणं सक्कदि तं देदुमवगासं॥ १५१ ॥

आगासमणुणिविट्ठं आकाशं अणुनिविष्टं पुद्गलपरमाणुव्याप्तम्। *आगासपदेससण्णया भणिदं* आकाशप्रदेशसंज्ञया भणितं कथितम्। *सव्वेसिं च अणूणं* सर्वेषामणूनां चकारात्सूक्ष्मस्कन्धानां च *सक्कदि तं देदुमवगासं* शक्नोति स आकाशप्रदेशो दातुमवकाशम्। तस्याकाशप्रदेशस्य यदीत्थंभूतमवकाशदानसामर्थ्यं न

विशिष्ट गति परिणाम के कारण एक कालाणु से व्याप्त एक आकाश प्रदेश के उल्लंघन में लगने वाले समय के बराबर एक समय में ही, लोक के एक ओर के अन्तिम स्थान से दूसरी ओर के अन्तिम स्थान पर्यन्त लोक का उल्लंघन कर जाने वाले परमाणु के असंख्यात कालाणु, समय के अनंश–अखण्ड होने से उसके असंख्यात अंशों को सिद्ध नहीं करते हैं।"[१]

२- 'आचार्य प्रभाचन्द्र' ने इस गाथा- टीका में तीनों कालों को परिभाषित किया है। वह इसप्रकार–

परमाणुना ह्यन्यतराकाशप्रदेशाक्रमणसमयः वर्तमानः कालः। आक्रमिष्यमाणो भविष्यत्। आक्रम्य व्यक्तोऽतीतः।[२]

"परमाणु के द्वारा दूसरे आकाश प्रदेश को लाँघने का समय वर्तमान काल है, आगे लगने वाला काल भविष्यकाल है तथा लाँघकर छोड़ा गया काल भूतकाल है।" ॥ १५० ॥

इसप्रकार काल के विशेष कथन की मुख्यता से छठवें स्थल में दो गाथायें पूर्ण हुईं।

(अब, प्रदेश लक्षण तथा तिर्यक् प्रचय-ऊर्ध्व प्रचय लक्षण परक दो गाथाओं में निबद्ध सातवाँ स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, पहले (१४८वीं गाथा में) जिसकी सूचना दी थी, उस प्रदेश के स्वरूप का वर्णन करते हैं–

है नाम कहते नभ प्रदेश निविष्ट अणु आकाश जो।

अवकाश देने में समर्थ है वह सभी परमाणु को॥ १५१ ॥

गाथार्थ– एक परमाणु से आविष्ट (घिरे हुये) आकाश को 'आकाश प्रदेश' नाम से कहा जाता है, और वह सभी परमाणुओं को अवकाश (स्थान) देने में समर्थ है।

टीकार्थ– ***आगासमणुणिविट्ठं***– अणु से निविष्ट-पुद्गल परमाणु से व्याप्त–घिरा हुआ आकाश। ***आगासपदेससण्णया भणिदं***– आकाश प्रदेश के नाम से कहा गया है। ***सव्वेसिं च अणूणं***– सभी परमाणुओं को और चकार शब्द से सूक्ष्म स्कन्धों को ***सक्कदि तं देदुमवगासं***– वह आकाश- प्रदेश

१- प्रवचनसार, गाथा १३९, तत्त्वप्रदीपिका टीका।

२- प्रवचनसार, गाथा १४८, प्रवचनसार सरोजभास्कर टीका।

भवति तदानन्तानन्तो जीवराशिस्तस्मादप्यनन्तगुणपुद्गलराशिश्चासंख्येयप्रदेशलोके कथमवकाशं लभते। तच्च विस्तरेण पूर्वं भणितमेव।

अथ मतम्-अखण्डाकाशद्रव्यस्य प्रदेशविभागः कथं घटते।

परिहारमाह- चिदानन्दैकस्वभावनिजात्मतत्त्वपरमैकाग्र्यलक्षणसमाधिसंजातनिर्विकाराह्लादैकरूपसुखसुधारसास्वादतृप्तमुनियुगलस्यावस्थितक्षेत्रं किमेकमनेकं वा। यद्येकं तर्हि द्वयोरप्येकत्वं प्राप्नोति। न च तथा। भिन्नं चेत्तदा अखण्डस्याप्याकाशद्रव्यस्य प्रदेशविभागो न विरुध्यत इत्यर्थः ॥ १५१ ॥

अथ तिर्यक्प्रचयोर्ध्वप्रचयौ निरूपयति-

एक्को व दुगे बहुगा संखातीदा तदो अणंता य।(१४१)

दव्वाणं च पदेसा संति हि समय त्ति कालस्स ॥ १५२ ॥

एक्को व दुगे बहुगा संखातीदा तदो अणंता य एको वा द्वौ बहवः संख्यातीतास्ततोऽनन्ताश्च। *दव्वाणं च पदेसा संति हि* कालद्रव्यं विहाय पंचद्रव्याणां संबन्धिन एते प्रदेशा यथासंभवं सन्ति हि स्फुटम्। *समय त्ति कालस्स* कालस्य पुनः पूर्वोक्तसंख्योपेताः समयाः सन्तीति।

अवकाश—स्थान देने में समर्थ है। उस आकाश-प्रदेश के, यदि इसप्रकार की स्थान देने की सामर्थ्य नहीं होती, तो अनन्तानन्त जीव राशि और उससे भी अनन्तगुणी पुद्गल राशी असंख्यात प्रदेशी लोक में कैसे अवकाश— स्थान प्राप्त करती ? (नहीं कर सकती है) और उसे पहले विस्तार से कहा ही है।

अब प्रश्न है कि— अखण्ड आकाश द्रव्य के प्रदेशों का विभाग कैसे घटित होता है ?

उसका उत्तर कहते हैं— ज्ञानानन्द एक स्वभावी स्वआत्मतत्त्व में परम एकाग्रता लक्षण—पूर्ण लीनता रूप समाधि से उत्पन्न विकार रहित आह्लाद एक रूप सुखसुधारस (सुखरूपी अमृतरस) के आस्वाद से तृप्त दो मुनिराजों के बैठने का स्थान क्या एक है अथवा अनेक है ? यदि एक है, तो दोनों मुनिराजों के एकता प्राप्त होती है— दोनों मिलकर एक हो जायेंगे। परन्तु वैसा तो है नहीं। और यदि उन दोनों मुनिराजों के बैठने का स्थान पृथक्-पृथक् है, तो अखण्ड आकाश द्रव्य के प्रदेशों का विभाग विरुद्ध नहीं है—ऐसा अर्थ है ॥ १५१ ॥

अब, तिर्यक्प्रचय और ऊर्ध्वप्रचय का निरूपण करते हैं—

हैं एक दो या अधिक संख्यातीत और अनन्त हैं।

प्रदेश द्रव्यों के यही वा काल के सब समय हैं ॥ १५२ ॥

गाथार्थ— द्रव्यों के एक, दो, बहुत—अनेक, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं; काल के समय हैं।

टीकार्थ— ***एक्को व दुगे बहुगा संखातीदा तदो अणंता य***— एक, दो, अनेक अथवा संख्यातीत—असंख्यात और अनन्त। ***दव्वाणं च पदेसा संति हि***— वास्तव में काल द्रव्य को छोड़कर सम्बन्धित पाँच द्रव्यों के यथासम्भव ये प्रदेश हैं। ***समय त्ति कालस्स***— और काल के पहले कही हुई संख्या से सहित समय हैं।

तद्यथा–एकाकारपरमसमरसीभावपरिणतपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतभरितावस्थानां केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपानन्तगुणाधारभूतानां लोकाकाशप्रमितशुद्धासंख्येयप्रदेशानां मुक्तात्मपदार्थे योऽसौ प्रचयः समूहः समुदायो राशिः, स किं किं भण्यते। तिर्यक्प्रचय इति तिर्यक्सामान्यमिति विस्तारसामान्यमिति अक्रमानेकान्त इति च भण्यते।

स च प्रदेशप्रचयलक्षणस्तिर्यक्प्रचयो यथा मुक्तात्मद्रव्ये भणितस्तथा कालं विहाय स्वकीयस्वकीयप्रदेशसंख्यानुसारेण शेषद्रव्याणां स भवतीति तिर्यक्प्रचयो व्याख्यातः।

प्रतिसमयवर्तिनां पूर्वोत्तरपर्यायाणां मुक्ताफलमालावत्सन्तान ऊर्ध्वप्रचय इत्यूर्ध्वसामान्यमित्यायतसामान्यमिति क्रमानेकान्त इति च भण्यते। स च सर्वद्रव्याणां भवति। किंतु पंचद्रव्याणां सम्बन्धी पूर्वापरपर्यायसन्तानरूपो योऽसावूर्ध्वताप्रचयस्तस्य स्वकीयस्वकीयद्रव्यमुपादानकारणम्। कालस्तु प्रतिसमयं सहकारिकारणं भवति। यस्तु कालस्य समयसन्तानरूप ऊर्ध्वताप्रचयस्तस्य काल एवोपादानकारणं सहकारिकारणं च। कस्मात्। कालस्य भिन्नसमयाभावात्पर्याया एव समया भवन्तीत्यभिप्रायः ॥ १५२ ॥

एवं सप्तमस्थले स्वतन्त्रगाथाद्वयं गतम्।

वह इसप्रकार— एकाकार परम समरसी भाव से परिणत परमानन्द एक लक्षण सुखरूपी अमृत से भरितावस्थ, केवलज्ञानादि की प्रगटता रूप अनन्त गुणों के आधारभूत लोकाकाश प्रमाण शुद्ध (मात्र) असंख्यात प्रदेशों का सिद्ध भगवान रूप आत्मपदार्थ में जो वह प्रचय, समूह, समुदाय, राशि है; वह क्या-क्या कहलाती है ? वह असंख्यात प्रदेशों की राशि तिर्यक् प्रचय, तिर्यक् सामान्य, विस्तार सामान्य और अक्रम-अनेकान्त कहलाती है।

और वह प्रदेशों का समूह लक्षण तिर्यक् प्रचय, जैसे सिद्ध भगवान रूप आत्मपदार्थ में कहा गया है, उसीप्रकार काल को छोड़कर अपने-अपने प्रदेशों की संख्या के अनुसार वह शेष द्रव्यों के होता है— इसप्रकार तिर्यक् प्रचय का व्याख्यान किया।

मुक्ताफल की माला (मोतियों के हार) के समान प्रत्येक समयवर्ती पहले और आगे की पर्यायों की परम्परा रूप ऊर्ध्वप्रचय है। इसे ऊर्ध्व सामान्य, आयत सामान्य और क्रम-अनेकान्त कहते हैं। और वह सभी द्रव्यों के होता है। परन्तु पाँच द्रव्यों से सम्बन्धित पहले और आगे की परम्परा रूप जो वह ऊर्ध्वता प्रचय है, उसका अपना-अपना द्रव्य उपादान-कारण है; काल के प्रत्येक समय सहकारी-कारण—निमित्त-कारण हैं। परन्तु जो काल द्रव्य के समय की परम्परा रूप ऊर्ध्व प्रचय है, उसका काल ही उपादान-कारण और काल ही सहकारी-कारण—निमित्त-कारण है।

काल सम्बन्धी ऊर्ध्वताप्रचय के दोनों ही कारण काल क्यों है ? काल के भिन्न समय का अभाव होने से पर्यायें ही समय हैं, अतः दोनों कारण काल ही है— ऐसा अभिप्राय है ॥ १५२ ॥

इसप्रकार सातवें स्थल में दो स्वतंत्र गाथायें पूर्ण हुईं।

अथ समयसन्तानरूपस्योर्ध्वप्रचयस्यान्वयिरूपेणाधारभूतं कालद्रव्यं व्यवस्थापयति-

उप्पादो पद्धंसो विज्जदि जदि जस्स एगसमयम्हि।(१४२)

समयस्स सो वि समओ सभावसमवट्ठिदो हवदि ॥ १५३ ॥

उप्पादो पद्धंसो विज्जदि जदि उत्पादः प्रध्वंसो विद्यते यदि चेत्। कस्य। *जस्स* यस्य कालाणोः। क्व। *एगसमयम्हि* एकसमये वर्तमानसमये। *समयस्स* समयोत्पादकत्वात्समयः कालाणुस्तस्य। *सो वि समओ* सोऽपि कालाणुः *सभावसमवट्ठिदो हवदि* स्वभावसमवस्थितो भवति। पूर्वोक्तमुत्पादप्रध्वंसद्वयं तदाधारभूतं कालाणुद्रव्यरूपं ध्रौव्यमिति त्रयात्मकः स्वभावः सत्तास्तित्वमिति यावत्। तत्र सम्यगवस्थितः स्वभावसमवस्थितो भवति।

तथा हि- यथांगुलिद्रव्ये यस्मिन्नेव वर्तमानक्षणे वक्रपर्यायस्योत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे तस्यैवांगुलिद्रव्यस्य पूर्वर्जुपर्यायेण प्रध्वंसस्तदाधारभूतांगुलिद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति द्रव्यसिद्धिः।

अथवा स्वस्वभावरूपसुखेनोत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे तस्यैवात्मद्रव्यस्य पूर्वानुभूताकुलत्वदुःखरूपेण प्रध्वंसस्तदुभयाधारभूतपरमात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति द्रव्यसिद्धिः।

(अब, कालाणु रूप द्रव्य काल का व्याख्यान परक तीन गाथाओं वाला अन्तिम आठवाँ स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, समय की परम्परा—पर्यायों के प्रवाह रूप ऊर्ध्वप्रचय के अन्वयिरूप से आधारभूत काल द्रव्य की व्यवस्था बताते हैं—

उत्पाद व्यय जिस काल के होते यदि इक काल में।

वह काल भी रहता है समवस्थित सदा स्व भाव में ॥ १५३ ॥

गाथार्थ- जिस काल का यदि एक समय में उत्पाद-व्यय पाया जाता है, तो वह काल भी स्वभाव से समवस्थित—ध्रुव है।

टीकार्थ- ***उप्पादो पद्धंसो विज्जदि जदि***— यदि उत्पाद और व्यय विद्यमान हैं। उत्पाद-व्यय किसके विद्यमान हैं ? ***जस्स***— जिसके—कालाणु के उत्पाद-व्यय विद्यमान हैं। उसके वे कहाँ विद्यमान हैं ? ***एगसमयम्हि***— एक समय में— वर्तमान समय में विद्यमान हैं—पाये जाते हैं। ***समयस्स***— समय का उत्पादक होने से समय कालाणु है, उस कालाणु के पाये जाते हैं। ***सो वि समओ***— वह भी कालाणु ***सभावसमवट्ठिदो हवदि***— स्वभाव में समवस्थित है। पहले कहे हुये उत्पाद और व्यय— उन दोनों का आधारभूत कालाणु द्रव्यरूप ध्रौव्य है— इसप्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तीन रूप स्वभाव वाला सत्त्व—अस्तित्व है। उसमें अच्छी तरह से स्थित रहता है—स्वभाव में समवस्थित है।

वह इसप्रकार— जैसे अंगुली द्रव्य में जिस वर्तमान समय में वक्र (टेढ़ी) पर्याय का उत्पाद है, उसी समय उसी अंगुली द्रव्य की पूर्ववर्ती सीधी पर्याय का व्यय है और उन दोनों की आधारभूत अंगुली द्रव्यरूप से ध्रौव्य है— इसप्रकार द्रव्य की सिद्धि हुई।

अथवा अपने स्वभावरूप सुख से उत्पाद, उसी समय उसी आत्मद्रव्य के पहले अनुभव किये गये आकुलतामयी दुःखरूप से विनाश और उन दोनों के आधारभूत परमात्मद्रव्य रूप से ध्रौव्य— इसप्रकार द्रव्य की सिद्धि हुई।

अथवा मोक्षपर्यायरूपेणोत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे रत्नत्रयात्मकनिश्चयमोक्षमार्गपर्यायरूपेण प्रध्वंसस्तदुभयाधारपरमात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति द्रव्यसिद्धिः ।

तथा वर्तमानसमयरूपपर्यायेणोत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे तस्यैव कालाणुद्रव्यस्य पूर्वसमयरूपपर्यायेण प्रध्वंसस्तदुभयाधारभूताङ्गुलिद्रव्यस्थानीयेन कालाणुद्रव्यरूपेण ध्रौव्यमिति कालद्रव्यसिद्धिरित्यर्थः ॥ १५३ ॥

अथ पूर्वोक्तप्रकारेण यथा वर्तमानसमये कालद्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्यत्वं स्थापितं तथा सर्वसमयेष्वस्तीति निश्चनोति –

एगम्हि संति समये संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा ।(१४३)

समयस्स सव्वकालं एस हि कालाणुसब्भावो ॥ १५४ ॥

एगम्हि संति समये संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा एकस्मिन्समये सन्ति विद्यन्ते। के। संभव–स्थितिनाशसंज्ञिता अर्थाः धर्माः स्वभावा इति यावत्। कस्य संबन्धिनः। *समयस्स* समयरूपपर्यायस्योत्पाद–कत्वात् समयः कालाणुस्तस्य। *सव्वकालं* यद्येकस्मिन् वर्तमानसमये सर्वदा तथैव। *एस हि कालाणुसब्भावो* एषः प्रत्यक्षीभूतो हि स्फुटमुत्पादव्ययध्रौव्यात्मककालाणुसद्भाव इति।

अथवा मोक्ष पर्याय रूप से उत्पाद, उसी समय रत्नत्रय स्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग पर्याय रूप से विनाश और उन दोनों के आधारभूत परमात्मद्रव्य रूप से ध्रौव्य– इसप्रकार द्रव्य की सिद्धि हुई ।

उसीप्रकार वर्तमान समय रूप पर्याय से उत्पाद, उसी समय उसी कालाणु द्रव्य का पहले समय की समय पर्याय रूप से विनाश और दोनों के आधारभूत अंगुली द्रव्य के स्थानीय कालाणु द्रव्य से ध्रौव्य– इसप्रकार काल द्रव्य सिद्ध हुआ– ऐसा अर्थ है ॥ १५३ ॥

अब, पूर्वोक्त प्रकार से जैसे वर्तमान समय में कालद्रव्य का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप स्थापित किया, उसी प्रकार सभी समयों में है, ऐसा निश्चित करते हैं–

उत्पाद-ध्रौव्य-विनाश नामक अर्थ है इक समय में ।

यह ही समय सद्भाव होता समय का सब समय में ॥ १५४ ॥

गाथार्थ– एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य नामक अर्थ काल के हमेशा होते हैं, यही कालाणु का सद्भाव है ।

टीकार्थ– ***एगम्हि संति समये संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा***– एक समय में पाये जाते हैं । एक समय में कौन पाये जाते हैं ? उत्पाद-ध्रौव्य और व्यय नामक अर्थ–धर्म–स्वभाव एक समय में पाये जाते हैं । ये उत्पादादि स्वभाव किसके हैं ? ***समयस्स***– समयरूप पर्याय को उत्पन्न करने वाला होने से समय अर्थात् कालाणु, उसके ये उत्पादादि हैं । ***सव्वकालं***– यदि एक वर्तमान समय में उत्पादादि रूप हैं, तो उसीप्रकार हमेशा ही उन रूप हैं । *एस हि कालाणुसब्भावो*– यह प्रत्यक्षीभूत वास्तव में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप कालाणु का सद्भाव है ।

तद्यथा– यथा पूर्वमेकसमयोत्पादप्रध्वंसाधारेणांगुलिद्रव्यादिदृष्टान्तेन वर्तमानसमये कालद्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्यत्वं स्थापितं तथा सर्वसमयेषु ज्ञातव्यमिति।

अत्र यद्यप्यतीतानन्तकाले दुर्लभायाः सर्वप्रकारोपादेयभूतायाः सिद्धगतेः काललब्धिरूपेण बहिरंगसहकारी भवति कालस्तथापि निश्चयनयेन निजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानसमस्तपरद्रव्येच्छानिरोधलक्षणतपश्चरणरूपा या तु निश्चयचतुर्विधाराधना सैव तत्रोपादानकारणं, न च कालस्तेन कारणेन स हेय इति भावार्थः ॥ १५४ ॥

अथोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकास्तित्वावष्टम्भेन कालस्यैकप्रदेशत्वं साधयति–

जस्स ण संति पदेसा पदेसमेत्तं व तच्चदो णादुं। (१४४)

सुण्णं जाण तमत्थं अत्थंतरभूदमत्थीदो ॥ १५५ ॥

जस्स ण संति यस्य पदार्थस्य न सन्ति न विद्यन्ते। के। *पदेसा* प्रदेशाः। *पदेसमेत्तं तु* प्रदेशमात्रमेकप्रदेशप्रमाणं पुनस्तद्वस्तु *तच्चदो णादुं* तत्त्वतः परमार्थतो ज्ञातुं शक्यते। *सुण्णं जाण तमत्थं* यस्यैकोऽपि प्रदेशो नास्ति तमर्थं पदार्थं शून्यं जानीहि हे शिष्य। कस्माच्छून्यमिति चेत्। *अत्थंतरभूदं* एकप्रदेशाभावे सत्यर्थान्तरभूतं भिन्नं भवति यतः कारणात्। कस्याः सकाशाद्भिन्नम्। *अत्थीदो* उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकसत्ताया इति।

वह इसप्रकार– जैसे पहले एक समय सम्बन्धी उत्पाद-व्यय के आधार रूप अंगुली द्रव्य आदि उदाहरण द्वारा, वर्तमान समय में काल द्रव्य का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप स्थापित किया था, उसी प्रकार सभी समयों में जानना चाहिये।

यहाँ यद्यपि भूतकालीन अनन्त समयों में दुर्लभ, सभी प्रकार से उपादेयभूत सिद्ध गति का काललब्धि रूप से काल बहिरंग सहकारी है; तथापि निश्चयनय से स्वशुद्धात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठान स्वरूप सम्पूर्ण पर द्रव्यों की इच्छा के निरोध लक्षण तपश्चरण रूप जो चार प्रकार की निश्चय आराधना, वही वहाँ (सिद्धदशा की प्राप्ति में) उपादान कारण है; काल उपादान कारण नहीं है, इस कारण वह हेय है– ऐसा भाव है ॥ १५४ ॥

अब, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप अस्तित्व के अवलम्बन से काल द्रव्य के एकप्रदेशता सिद्ध करते हैं–

जिसके प्रदेश प्रदेशमात्र न ज्ञात हों परमार्थ से।

उस अर्थ को ही शून्य जानो पृथक् है वह सत्त्व से ॥ १५५ ॥

गाथार्थ–जिसका परमार्थ से प्रदेश अथवा प्रदेशमात्र–एक प्रदेश भी ज्ञात नहीं होता है, अस्तित्व से पृथक्भूत उस पदार्थ को शून्य जानो।

टीकार्थ– ***जस्स ण संति***– जिस पदार्थ के नहीं हैं– पाये नहीं जाते हैं। क्या नहीं पाये जाते हैं? ***पदेसा***– जिसके प्रदेश नहीं पाये जाते हैं। ***पदेसमेत्तं तु***– प्रदेशमात्र अथवा एकप्रदेश प्रमाण भी (जिसके नहीं पाया जाता है), तो फिर वह वस्तु ***तच्चदो णादुं***– परमार्थ से वास्तव में ज्ञात होने के लिये समर्थ हो सकती है? (अर्थात् नहीं हो सकती है।) ***सुण्णं जाणं तमत्थं***– जिसके एक भी प्रदेश नहीं हैं उस पदार्थ को हे शिष्य! शून्य जानो। उसे शून्य क्यों जानें? यदि यह प्रश्न हो तो उत्तर कहते हैं– ***अत्थंतरभूदं***– जिस कारण एक प्रदेश का अभाव होने पर अर्थान्तरभूत–भिन्न है, इसलिये उसे शून्य जानो। वह किससे भिन्न है? ***अत्थीदो***– वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय सत्ता से भिन्न है।

तथा हि– कालपदार्थस्य तावत्पूर्वसूत्रोदितप्रकारेणोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकमस्तित्वं विद्यते; तच्चास्तित्वं प्रदेशं विना न घटते। यश्च प्रदेशवान् स कालपदार्थ इति। अथ मतं कालद्रव्याभावेऽप्युत्पादव्ययध्रौव्यत्वं घटते। नैवम्। अंगुलिद्रव्याभावे वर्तमानवक्रपर्यायोत्पादो भूतर्जुपर्यायस्य विनाशस्तदुभयाधारभूतं ध्रौव्यं कस्य भविष्यति। न कस्यापि। तथा कालद्रव्याभावे वर्तमानसमयरूपोत्पादो भूतसमयरूपो विनाशस्तदुभयाधारभूतं ध्रौव्यं कस्य भविष्यति। न कस्यापि।

एवं सत्येतदायाति– अन्यस्य भंगोऽन्यस्योत्पादोऽन्यस्य ध्रौव्यमिति सर्वं वस्तुस्वरूपं विप्लवते। तस्माद्वस्तुविप्लवभयादुत्पादव्ययध्रौव्याणां कोऽप्येक आधारभूतोऽस्तीत्यभ्युपगन्तव्यम्। स चैकप्रदेशरूपः कालाणुपदार्थ एवेति।

अत्रातीतानन्तकाले ये केचन सिद्धसुखभाजनं जाताः, भाविकाले च *'आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद्'*[१] इत्यादिविशेषणविशिष्टसिद्धसुखस्य भाजनं भविष्यन्ति ते सर्वेऽपि काललब्धिवशेनैव। तथापि तत्र निजपरमात्मोपादेयरुचिरूपं वीतरागचारित्राविनाभूतं यन्निश्चयसम्यक्त्वं तस्यैव मुख्यत्वं, न च कालस्य, येन स हेय इति। तथा चोक्तम्–

"किं पलविएण बहुणा जे सिद्धा णरवरा गये काले।
सिज्झहहि जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं" [२] ॥ १५५ ॥

वह इसप्रकार– पहले (१५४वी) गाथा में कहे अनुसार, काल पदार्थ के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप अस्तित्व पाया जाता है, और वह अस्तित्व, प्रदेश के बिना घटित नहीं हो सकता है। और जो प्रदेशवान है, वह काल पदार्थ है।

(यहाँ कोई कहता है कि) काल द्रव्य के अभाव में भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य घटित होते हैं, यदि ऐसा माना जाये तो ? (आचार्य कहते हैं) ऐसा नहीं माना जा सकता। अंगुली द्रव्य के अभाव में, वर्तमान वक्र(टेढ़ी) पर्याय का उत्पाद, पहले की ऋजु (सीधी) पर्याय का व्यय और उन दोनों का आधारभूत ध्रौव्य किसका होगा ? किसी का भी नहीं होगा। उसीप्रकार काल द्रव्य के अभाव में, वर्तमान समयरूप उत्पाद, भूत समयरूप विनाश और उन दोनों का आधारभूत ध्रौव्य किसका होगा ? किसी का भी नहीं होगा।

ऐसा होने पर यह सिद्ध हुआ कि अन्य का व्यय, अन्य का उत्पाद और अन्य का ध्रौव्य– इसप्रकार मानने पर सम्पूर्ण वस्तु-स्वरूप का विप्लव–विनाश होता है। इसलिये वस्तु-विनाश के भय से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का कोई भी एक आधारभूत है– ऐसा स्वीकार करना चाहिये। और वह एक प्रदेशरूप कालाणु पदार्थ ही है।

यहाँ भूतकालीन अनन्तकाल में जो सिद्ध-सुख के पात्र हुये हैं और भविष्य में "अपने आत्मरूप उपादान से सिद्ध, स्वयं सातिशय–" इत्यादि विशेषणों से विशिष्ट सिद्ध सुख के पात्र होंगे, वे सभी काललब्धि के वश से ही हुये हैं ; तथापि निज परमात्मा ही उपादेय है ऐसी रुचि रूप वीतराग चारित्र का अविनाभावी जो निश्चय सम्यक्त्व है, उसकी ही मुख्यता है; काल की नहीं, जिस कारण वह हेय है। वैसा ही कहा है–

"अधिक कहने से क्या ? जो श्रेष्ठ पुरुष भूतकाल में सिद्ध हुये हैं और जो भविष्यकाल में सिद्ध होंगे, वह सम्यक्त्व का ही माहात्म्य जानो" ॥ १५५ ॥

१- सिद्धभक्ति, स्रग्धरा पद्य ७।

२- मोक्ष पाहुड़, गाथा ८८, प्रथम पाद "किं बहुणा भणिएणं" है।

एवं निश्चयकालव्याख्यानमुख्यत्वेनाष्टमस्थले गाथात्रयं गतम्।

इति पूर्वोक्तप्रकारेण '*दव्वं जीवमजीवं*' इत्याद्येकोनविंशतिगाथाभिः स्थलाष्टकेन विशेषज्ञेयाधिकारः समाप्तः।

अतः परं शुद्धजीवस्य द्रव्यभावप्राणैः सह भेदनिमित्तं '*सपदेसेहिं समग्गो*' इत्यादि यथाक्रमेण गाथाष्टकपर्यन्तं सामान्यभेदभावनाव्याख्यानं करोति।

तद्यथा–

अथ ज्ञानज्ञेयज्ञापनार्थं तथैवात्मनःप्राणचतुष्केन सह भेदभावनार्थं वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति–

सपदेसेहिं समग्गो लोगो अट्ठेहिं णिट्ठिदो णिच्चो।(१४५)

जो तं जाणदि जीवो पाणचदुक्काभिसंबद्धो॥ १५६॥

लोगो लोको भवति। कथंभूतः। *णिट्ठिदो* निष्ठितः समाप्तिं नीतो भृतो वा। कैः कर्तृभूतैः। *अट्ठेहिं* सहजशुद्धबुद्धैकस्वभावो योऽसौ परमात्मपदार्थस्तत्प्रभृतयो येऽर्थास्तैः। पुनरपि किंविशिष्टः। *सपदेसेहिं समग्गो*

इसप्रकार निश्चय काल के व्याख्यान की मुख्यता से आठवें स्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुईं।

इसप्रकार पहले कहे अनुसार ***"दव्वं जीवमजीवं–"*** इत्यादि १९ गाथाओं द्वारा आठ स्थल रूप से ***"विशेष ज्ञेयाधिकार"*** समाप्त हुआ।

अब, इसके बाद शुद्ध जीव का द्रव्य-भाव प्राणों के साथ भेद में निमित्त ***"सपदेसेहिं समग्गो–"*** इत्यादि यथाक्रम से आठ गाथा पर्यन्त ***"सामान्य भेद भावना"*** (नामक तीसरे अधिकार) का विशेष कथन करते हैं–

वह इसप्रकार–

अब, ज्ञान और ज्ञेय के ज्ञापन के लिये (ज्ञान कराने के लिये) अथवा उसीप्रकार आत्मा की चार प्राणों के साथ भेदरूप भावना के लिये, इस गाथा का प्रतिपादन करते हैं–

है सप्रदेशी अर्थ निष्ठित नित्य लोक समग्र है।

जो जानता उसको, सहित चतुप्राण से वह जीव है॥ १५६॥

गाथार्थ– सप्रदेश पदार्थों द्वारा समाप्ति को प्राप्त सम्पूर्ण लोक नित्य है; उसे जो जानता है, वह चार प्राणों से संयुक्त जीव है।

टीकार्थ– ***लोगो***– लोक है। लोक कैसा है? ***णिट्ठिदो***– निष्ठित, समाप्ति को प्राप्त अथवा भरा हुआ है। किन कर्ताओं से भरा हुआ है? ***अट्ठेहिं***– सहज शुद्धबुद्ध एक स्वभावी जो वह परमात्मपदार्थ, तत्प्रभृति जो पदार्थ, उनसे भरा हुआ है। वह लोक और किन विशेषताओं वाला है? ***सपदेसेहिं समग्गो***– अपने प्रदेशों द्वारा समग्र–परिपूर्ण है। अथवा पदार्थों से परिपूर्ण है। कैसे पदार्थों से परिपूर्ण है? *सप्रदेशी*– प्रदेश

स्वकीयप्रदेशैः समग्रः परिपूर्णः । अथवा पदार्थैः । कथंभूतैः । सप्रदेशैः प्रदेशसहितैः । पुनरपि किंविशिष्टो लोकः । *णिच्चो* द्रव्यार्थिकनयेन नित्यः लोकाकाशापेक्षया वा अथवा नित्यो, न केनापि पुरुषविशेषेण कृतः । *जो तं जाणदि* यः *कर्ता तं ज्ञेयभूतं लोकं जानाति जीवो* स जीवपदार्थो भवति ।

एतावता किमुक्तं भवति। योऽसौ विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावो जीवः स ज्ञानं ज्ञेयश्च भण्यते। शेषपदार्थास्तु ज्ञेया एवेति ज्ञातृज्ञेयविभागः ।

पुनरपि किंविशिष्टो जीवः । *पाणचदुक्केण संबद्धो* यद्यपि निश्चयेन स्वतःसिद्धपरमचैतन्यस्वभावेन निश्चयप्राणेन जीवति तथापि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धवशादायुराद्यशुद्धप्राणचतुष्केनापि संबद्धः सन् जीवति । तच्च शुद्धनयेन जीवस्वरूपं न भवतीति भेदभावना ज्ञातव्येत्यभिप्रायः ॥ १५६ ॥

अथेन्द्रियादिप्राणचतुष्कस्वरूपं प्रतिपादयति–

इंदियपाणो य तधा बलपाणो तह य आउपाणो य । (१४६)

आणप्पाणप्पाणो जीवाणं होंति पाणा ते ॥ १५७ ॥

अतीन्द्रियानन्तसुखस्वभावात्मनो विलक्षण इन्द्रियप्राणः, मनोवाक्कायव्यापाररहितात्परमात्मद्रव्याद्विसदृशो बलप्राणः, अनाद्यनन्तस्वभावात्परमात्मपदार्थाद्विपरीतः साद्यन्त आयुः प्राणः, उच्छ्वासनिश्वासज–

सहित पदार्थों से परिपूर्ण है । लोक और किस विशेषता वाला है ? ***णिच्चो***– द्रव्यार्थिकनय से नित्य है अथवा लोकाकाश की अपेक्षा नित्य है । अथवा किसी पुरुष विशेष द्वारा किया गया नहीं है, अतः नित्य है । ***जो तं जाणदि***– जो कर्ता उस ज्ञेयभूत लोक को जानता है, ***जीवो***– वह जीव पदार्थ है ।

इससे क्या कहा गया है ? जो वह विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभावी जीव है वह ज्ञान और ज्ञेय कहा गया है; परन्तु शेष पदार्थ तो ज्ञेय ही हैं– इसप्रकार ज्ञाता और ज्ञेय का विभाग–भेद है ।

जीव और किस विशेषता वाला है ? ***पाणचदुक्केण संबद्धो***– यद्यपि निश्चय से जीव स्वतःसिद्ध परम चैतन्य स्वभाव रूप निश्चय प्राण से जीता है, तथापि व्यवहार से अनादि कर्म बन्धन वश आयु आदि अशुद्ध चार प्राणों द्वारा सम्बद्ध–सहित होता हुआ जीता है । और वह शुद्धनय से जीव का स्वरूप नहींहै– इसप्रकार भेदरूप भावना जाननी चाहिये– ऐसा अभिप्राय है ॥ १५६ ॥

अब, इन्द्रिय आदि चार प्राणों का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं–

हैं कहे इन्द्रिय प्राण, आयु प्राण व बल प्राण भी ।

है प्राण स्वासोच्छवास वे जीवों के होते हैं सभी ॥ १५७ ॥

गाथार्थ– इन्द्रिय प्राण, बल प्राण, आयु प्राण और स्वासोच्छवास– ये चार प्राण जीवों के होते हैं ।

टीकार्थ– अतीन्द्रिय-अनन्त सुख स्वभावी आत्मा से विलक्षण इन्द्रिय प्राण; मन, वचन और शरीर के व्यापार से रहित परमात्मद्रव्य से विसदृश–भिन्न बल प्राण; अनादि-अनन्त स्वभावी परमात्मपदार्थ से विपरीत सादि-सान्त आयु प्राण और उच्छ्वास-निश्वास– स्वासोच्छ्वास से उत्पन्न खेद से रहित शुद्धात्मतत्त्व से

नितखेदरहिताच्छुद्धात्मतत्त्वात्प्रतिपक्षभूत आनपानप्राणः । एवमायुरिन्द्रियबलोच्छ्वासरूपेणाभेदनयेन जीवानां संबन्धिनश्चत्वारः प्राणा भवन्ति । ते च शुद्धनयेन जीवादि्भन्ना भावयितव्या इति ॥ १५७ ॥

अथ त एव प्राणा भेदनयेन दशविधा भवन्तीत्यावेदयति–

पंच वि इंदियपाणा मणवचिकाया य तिण्णि बलपाणा ।

आणप्पाणप्पाणो आउगपाणेण होंति दसपाणा ॥ १५८ ॥

इन्द्रियप्राणः पंचविधः, त्रिधा बलप्राणः, पुनश्चैक आनपानप्राणः, आयुःप्राणश्चेति भेदेन दश प्राणास्तेऽपि चिदानन्दैकस्वभावात्परमात्मनो निश्चयेन भिन्ना ज्ञातव्या इत्यभिप्रायः ॥ १५८ ॥

अथ प्राणशब्दव्युत्पत्त्या जीवस्य जीवत्वं प्राणानां पुद्गलस्वरूपत्वं च निरूपयति–

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं । (१४७)

सो जीवो पाणा पुण पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता ॥ १५९ ॥

विरुद्ध आनपान—स्वासोच्छ्वास प्राण —इसप्रकार अभेद नय से आयु, इन्द्रिय, बल और स्वासोच्छ्वास रूप से चार प्राण जीवों के होते हैं । और वे शुद्ध नय से जीव से भिन्न हैं— ऐसी भावना करना चाहिये ॥ १५७ ॥

अब, वे ही प्राण भेद नय से दस प्रकार के होते हैं, ऐसा आवेदन करते हैं (मर्यादा पूर्वक ज्ञान कराते हैं)—

है पाँच इन्द्रिय प्राण, मन-वच-काय बल त्रय प्राण हैं ।

है प्राण स्वासोच्छ्वास आयु प्राण ये दश प्राण हैं ॥ १५८ ॥

गाथार्थ— पाँच इन्द्रिय प्राण, मन-वचन और काय— तीन बल प्राण, स्वासोच्छ्वास और आयु प्राण रूप से दश प्राण होते हैं ।

टीकार्थ— पाँच प्रकार के इन्द्रिय प्राण, तीन प्रकार के बल प्राण और एक स्वासोच्छ्वास और एक आयु प्राण— इसप्रकार भेद से दस प्राण हैं; वे भी निश्चय से ज्ञानानन्द एक स्वभावी परमात्मा से भिन्न जानना चाहिये— ऐसा अभिप्राय है ॥ १५८ ॥

अब, प्राण शब्द की व्युत्पत्ति से जीव का जीवत्व और प्राणों का पुद्गल स्वरूपत्व निरूपित करते हैं—

जीता है जो चतु प्राण से जीता था जीवेगा वही ।

वह जीव है पर प्राण पुद्गल द्रव्य से हैं रचित ही ॥ १५९ ॥

गाथार्थ— जो चार प्राणों से जीता है, जियेगा और पहले जीता था, वह जीव है । फिर भी प्राण पुद्गल द्रव्यों से रचित हैं ।

पाणेहिं चदुहिं जीवदि यद्यपि निश्चयेन सत्ताचैतन्यसुखबोधादिशुद्धभावप्राणैर्जीवति तथापि व्यवहारेण वर्तमानकाले द्रव्यभावरूपैश्चतुर्भिरशुद्धप्राणैर्जीवति *जीविस्सदि* जीविष्यति भाविकाले *जो हि जीविदो* यो हि स्फुटं जीवितः *पुव्वं* पूर्वकाले *सो जीवो* स जीवो भवति। *ते पाणा* ते पूर्वोक्ताः प्राणाः *पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता* उदयागतपुद्गलकर्मणा निर्वृत्ता निष्पन्ना इति। तत एव कारणात्पुद्गलद्रव्यविपरीतादनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्याद्यनन्तगुणस्वभावात्परमात्मतत्त्वाद्भिन्ना भावयितव्या इति भावः ॥ १५९ ॥

अथ प्राणानां यत्पूर्वसूत्रोदितं पौद्गलिकत्वं तदेव दर्शयति–

जीवो पाणणिबद्धो बद्धो मोहादिएहिं कम्मेहिं ।(१४८)

उवभुंजं कम्मफलं बज्झदि अण्णेहिं कम्मेहिं ॥ १६० ॥

जीवो पाणणिबद्धो जीवः कर्ता चतुर्भिः प्राणैर्निबद्धः संबद्धो भवति। कथंभूतः सन्। *बद्धो* शुद्धात्मोपलम्भलक्षणमोक्षाद्विलक्षणैर्बद्धः। कैर्बद्धः। *मोहादिएहिं कम्मेहिं* मोहनीयादिकर्मभिर्बद्धस्ततो ज्ञायते मोहादिकर्मभिर्बद्धः सन् प्राणनिबद्धो भवति, न च कर्मबन्धरहित इति। तत एव ज्ञायते प्राणाः पुद्गलकर्मोदयजनिता इति।

टीकार्थ– *पाणेहिं चदुहिं जीवदि–* यद्यपि निश्चय से सत्ता, चैतन्य, सुख, बोध आदि शुद्ध भाव प्राणों से जीता है; तथापि व्यवहार से वर्तमान समय में द्रव्य -भाव रूप चार अशुद्ध प्राणों से जीता है, *जीविस्सदि–* भविष्य काल में उनसे जियेगा, *जो हि जीविदो–* जो वास्तव में जीवित था *पुव्वं–* पहले भूतकाल में । *सो जीवो–* वह जीव है । *ते पाणा–* वे पहले कहे हुये प्राण *पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता–* उदय में आये हुये पुद्गल कर्मों से रचित हैं। इस कारण ही पुद्गल द्रव्य से विपरीत अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्तगुण स्वभाव रूप परमात्मतत्त्व से (प्राणों की) भिन्न भावना करना चाहिये— ऐसा भाव है ॥ १५९ ॥

अब, प्राणों का जो पहले (१५९वी) गाथा में कहा हुआ पौद्गलिकत्व—पुद्गलपना है, उसे ही दिखाते हैं—

हो जीव प्राणनिबद्ध मोहादिक कर्म से बद्ध है।

है भोगता फल कर्म का वा नव कर्म से बद्ध है ॥ १६० ॥

गाथार्थ– मोहादि कर्मों से बँधा हुआ जीव,प्राणों से संयुक्त होता हुआ, कर्मों के फल को भोगता हुआ; अन्य कर्मों से बँधता है ।

टीकार्थ– *जीवो पाणणिबद्धो–* जीव रूप कर्ता चार प्राणों से निबद्ध—सम्बद्ध—सहित है । वह कैसा होता हुआ प्राणों से सहित है ? *बद्धो–* शुद्धात्मा की प्राप्ति रूप लक्षण मोक्ष से विलक्षण,बँधा हुआ उनसे सहित है । मोक्ष से विलक्षण किनसे बँधा है ? *मोहादियेहिं कम्मेहिं–* वह मोहनीय आदि कर्मों से बँधा है, इससे ज्ञात होता है कि मोहादि कर्मों से बँधा जीव,प्राणों से निबद्ध होता है (कर्मों के बन्धन से रहित जीव प्राणों से निबद्ध नहीं होता है); इससे ही ज्ञात होता है कि प्राण पुद्गल कर्म के उदय से उत्पन्न हैं ।

तथाविधः सन् किं करोति । *उवभुंजदि कम्मफलं* परमसमाधिसमुत्पन्ननित्यानन्दैकलक्षणसुखामृतभोजनमलभमानः सन् कटुकविषसमानमपि कर्मफलमुपभुङ्क्ते । *बज्झदि अण्णेहिं कम्मेहिं* तत्कर्मफलमुपभुंजानः सन्नयं जीवः कर्मरहितात्मनो विसदृशैरन्यकर्मभिर्नवतरकर्मभिर्बध्यते । यतः कारणात्कर्मफलं भुंजानो नवतरकर्माणि बध्नाति, ततो ज्ञायते प्राणा नवतरपुद्गलकर्मणां कारणभूता इति ॥ १६० ॥

अथ प्राणा नवतरपुद्गलकर्मबन्धस्य कारणं भवन्तीति पूर्वोक्तमेवार्थं विशेषेण समर्थयति–

पाणाबाधं जीवो मोहपदेसेहिं कुणदि जीवाणं । (१४९)

जदि सो हवदि हि बंधो णाणावरणादिकम्मेहिं ॥ १६१ ॥

पाणाबाधं आयुरादिप्राणानां बाधां पीडां *कुणदि* करोति । स कः । *जीवो* जीवः । काभ्यां कृत्वा । *मोहपदेसेहिं* सकलविमलकेवलज्ञानप्रदीपेन मोहान्धकारविनाशकात्परमात्मनो विपरीताभ्यां मोहप्रद्वेषाभ्यां ।

इसप्रकार का (कर्म-बद्ध, प्राणनिबद्ध) होता हुआ वह क्या करता है ? ***उवभुंजदि कम्मफलं***– परम समाधि (उत्कृष्ट स्वरूपलीनता) से उत्पन्न नित्यानन्द एक लक्षण सुखरूपी अमृत भोजन को नहीं प्राप्त करता हुआ, कड़वे विष के समान कर्मफल को ही भोगता है । ***बज्झदि अण्णेहिं कम्मेहिं***– उन कर्म के फल को भोगता हुआ यह जीव, कर्म से रहित आत्मा से विपरीत अन्य नवीन कर्मों से बँधता है । जिस कारण कर्मफल को भोगता हुआ नवीन कर्मों से बँधता है, उससे ज्ञात होता है कि प्राण नवीन पुद्गल कर्मों के कारणभूत हैं ।

भावार्थ– शुद्धात्मा की प्राप्ति स्वरूप मोक्ष से विपरीत मोहनीय आदि कर्मों से बँधा हुआ जीव, प्राणों से संयुक्त होता है; कर्म बन्धन से रहित नहीं । इससे ज्ञात होता है कि प्राण, पुद्गल कर्मों के उदय में उत्पन्न होते हैं ।

इन कर्मों से बँधा हुआ प्राणों से सहित जीव, स्वरूप-लीनता रूप परम समाधि से उत्पन्न नित्यानन्दमयी सुखरूप अमृत-भोजन को नहीं पाता हुआ, कड़वे विष के समान कर्मफल को ही भोगता हुआ, कर्म रहित आत्मा से विपरीत, अन्य नवीन कर्मों से बँधता है । इससे ज्ञात होता है कि प्राण, नवीन कर्मों के कारणभूत हैं ।

इसप्रकार उदयागत पुद्गल कर्मों के कार्य तथा नवीन पुद्गल कर्मों के कारण होने से प्राण पुद्गलमय ही हैं ॥ १६० ॥

अब, प्राण नवीन कर्मबन्ध के कारण हैं, ऐसे पहले (१६०वीं गाथा में) कहे गये अर्थ का ही विशेषरूप से समर्थन करते हैं–

यदि प्राण-बाधा जीव जीवों की करे प्रद्वेष से ।

वा मोह से हो बन्ध ज्ञानावरण आदिक कर्म से ॥ १६१ ॥

गाथार्थ– यदि जीव, मोह और द्वेष से जीवों के प्राणों को बाधा पहुँचाता है, तो ज्ञानावरणादि कर्मों के द्वारा वास्तव में वह बन्ध को प्राप्त होता है ।

टीकार्थ– ***पाणाबाधं***– आयु आदि प्राणों की बाधा—पीड़ा—कष्ट को ***कुणदि***– करता है । प्राणों की बाधा करने वाला वह कौन है ? ***जीवो***– जीव प्राणों को बाधित करता है । वह किनके द्वारा उसे करता है ?

केषां प्राणबाधां करोति। *जीवाणं* एकेन्द्रियप्रमुखजीवानाम्। *जदि* यदि चेत् *सो हवदि बंधो* तदा स्वात्मोपलम्भ-प्राप्तिरूपान्मोक्षाद्विपरीतो मूलोत्तरप्रकृत्यादिभेदभिन्नः स परमागमप्रसिद्धो *हि* स्फुटं बन्धो भवति। कैः कृत्वा। *णाणावरणादिकम्मेहिं* ज्ञानावरणादिकर्मभिरिति।

ततो ज्ञायते प्राणाः पुद्गलकर्मबन्धकारणं भवन्तीति।

अयमत्रार्थः– यथा कोऽपि तप्तलोहपिण्डेन परं हन्तुकामः सन् पूर्वं तावदात्मानमेव हन्ति, पश्चादन्यघाते नियमो नास्ति, तथायमज्ञानी जीवोऽपि तप्तलोहपिण्डस्थानीयमोहादिपरिणामेन परिणतः सन् पूर्वं निर्विकार-स्वसंवेदनज्ञानस्वरूपं स्वकीयशुद्धप्राणं हन्ति, पश्चादुत्तरकाले परप्राणघाते नियमो नास्तीति॥ १६१॥

अथेन्द्रियादिप्राणोत्पत्तेरन्तरंगहेतुमुपदिशति–

आदा कम्ममलिमसो धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे। (१५०)

ण चयदि जाव ममत्तिं देहपधाणेसु विसयेसु॥ १६२॥

मोहपदेसेहिं– परिपूर्ण निर्मल केवलज्ञानरूपी महान दीपक द्वारा मोहरूपी अंधकार को नष्ट करने वाले परमात्मा से विपरीत,मोह और द्वेष से उसे करता है। वह मोह-द्वेष से किनके प्राणों को बाधित करता है ? ***जीवाणं***– वह इनसे एकेन्द्रिय प्रमुख जीवों के प्राणों को बाधित करता है। ***जदि***– यदि वह ऐसा करता है, ***सो हवदि बंधो***– तब निज परमात्मा की प्राप्तिरूप मोक्ष से विपरीत मूल और उत्तर प्रकृतियों के भेद से अनेक भेद वाला परमागम में प्रसिद्ध वह बंध *हि*– वास्तव में होता है। वह प्रसिद्ध बंध किनसे होता है ? ***णाणावरणादि कम्मेहिं***-ज्ञानावरणादि कर्मों से वह बन्ध होता है।

इससे ज्ञात होता है कि प्राण पुद्गल कर्मबन्ध के कारण हैं।

यहाँ अर्थ यह है– जैसे तपे हुये लोहे के गोले से दूसरे को मारने का इच्छुक होता हुआ कोई भी,पहले स्वयं को ही मारता है, बाद में दूसरे के घात का नियम नहीं है (हो भी, न भी हो); उसीप्रकार तपे हुये लोहे के गोले के समान मोहादि रूप परिणमित होता हुआ यह अज्ञानी जीव भी,पहले विकार रहित स्वसंवेदन ज्ञान स्वरूप अपने शुद्ध प्राणों का घात करता है, पश्चात् दूसरे के प्राणों के घात का नियम नहीं है (हो भी, नहीं भी हो)।

भावार्थ– यदि परिपूर्ण निर्मल ज्ञानरूपी विशाल दीप द्वारा मोहरूपी अन्धकार को नष्ट करनेवाले परमात्मा से विपरीत,मोह और द्वेष से जीव,एकेन्द्रिय आदि जीवों के आयु आदि प्राणों को बाधा पहुँचाता है, तो वास्तव में निज परमात्मा की पूर्ण प्राप्तिरूप मोक्ष से विपरीत,मूल और उत्तर प्रकृतियों के अनेक भेदोंवाले ज्ञानावरणादि कर्मों के साथ परमागम में प्रसिद्ध बन्ध को प्राप्त होता है॥ १६१॥

अब, इन्द्रिय आदि प्राणों की उत्पत्ति के अन्तरंग कारण का उपदेश देते हैं (कथन करते हैं) –

कर्म मल से मलिन आतम प्राण पुनः पुनः धरे।

जब तक शरीर प्रधान विषयों में ममत्व नहीं तजे॥ १६२॥

गाथार्थ– कर्म से मलिन आत्मा,जब तक शरीर प्रधान विषयों में ममत्व को नहीं छोड़ता है, तब तक बारम्बार अन्य-अन्य प्राणों को धारण करता है।

आदा कम्ममलिमसो अयमात्मा स्वभावेन भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममलरहितत्वेनात्यन्तनिर्मलोऽपि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धवशान्मलीमसो भवति। तथाभूतः सन् किं करोति। *धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे* धारयति प्राणान् पुनः पुनः अन्यान्नवतरान्। यावत्किम्। *ण चयदि जाव ममत्तं* निस्नेहचिच्चमत्कारपरिणतेर्विपरीतां ममतां यावत्कालं न त्यजति। केषु विषयेषु। *देहपधाणेसु विसयेसु* देहविषयरहितपरमचैतन्यप्रकाशपरिणतेः प्रतिपक्षभूतेषु देहप्रधानेषु पंचेन्द्रियविषयेष्विति।

ततः स्थितमेतत्-इन्द्रियादिप्राणोत्पत्तेर्देहादिममत्वमेवान्तरंगकारणमिति ॥ १६२ ॥

अथेन्द्रियादिप्राणानामभ्यन्तरं विनाशकारणमावेदयति-

जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि।(१५१)
कम्मेहिं सो ण रज्जदि किह तं पाणा अणुचरंति ॥ १६३ ॥

टीकार्थ- ***आदा कम्ममलिमसो-*** यह आत्मा स्वभाव से भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म रूपी कर्ममल से रहित होने के कारण अत्यन्त निर्मल होने पर भी, व्यवहार से अनादि (से चले आये) कर्मों के बन्धवश मलिन होता है। वैसा होता हुआ (मलिन होता हुआ आत्मा) क्या करता है ? ***धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे-*** बारम्बार दूसरे-दूसरे नवीन प्राणों को धारण करता है। जब तक क्या नहीं करता है ? ***ण चयदि जाव ममत्तं-*** स्नेह से रहित चैतन्य चमत्कार परिणति से विपरीत, ममता (मेरेपन) को जितने समय तक—जबतक नहीं छोड़ता है। वह किन विषयों में ममता को जब तक नहीं छोड़ता है ? ***देहपधाणेसु विसयेसु-*** शरीर और विषयों से रहित उत्कृष्ट चैतन्य प्रकाशरूप परिणति से विपरीत, शरीर है प्रधान जिसमें ऐसे पाँचों इन्द्रियों के विषयों में जब तक ममता को नहीं छोड़ता है।

इससे यह निश्चित हुआ कि शरीरादि में ममता ही इन्द्रिय आदि प्राणों की उत्पत्ति का अन्तरंग कारण है।

भावार्थ- स्वभाव से ही भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म से रहित होने के कारण अत्यन्त निर्मल होने पर भी, व्यवहार से अनादिकालीन कर्मों के बन्धनवश मलिन होता हुआ यह जीव, जब तक शरीर और विषयों से रहित उत्कृष्ट चैतन्य प्रकाशरूप परिणति से विपरीत, शरीर प्रधान पाँचों इन्द्रियों के विषयों में, स्नेह रहित चैतन्य चमत्कार परिणति से विपरीत, ममता को नहीं छोड़ता है; तब तक दूसरे-दूसरे नवीन प्राणों को बारम्बार धारण करता रहता है ॥ १६२ ॥

अब, इन्द्रिय आदि प्राणों के विनाश का अन्तरंग कारण आवेदित करते हैं— मर्यादापूर्वक कहते हैं—

जो इन्द्रियादि जीतकर उपयोगमय निज जीव को।
ध्याते, न कर्मों से बँधें, अनुचरें कैसे प्राण तो ? ॥ १६३ ॥

गाथार्थ— जो इन्द्रिय आदि का विजयी होकर, उपयोग स्वरूप आत्मा का ध्यान करता है। वह कर्मों से रंजित नहीं होता है, तब प्राण उसका अनुचरण कैसे करेंगे ? नहीं करेंगे।

जो इंदियादिविजई भवीय यः कर्तातीन्द्रयात्मोत्थसुखामृतसंतोषबलेन जितेन्द्रियत्वेन निःकषायनिर्मलानुभूतिबलेन कषायजयेन चेन्द्रियादिविजयी भूत्वा *उवओगमप्पगं झादि* केवलज्ञानदर्शनोपयोगं निजात्मानं ध्यायति, *कम्मेहिं सो ण रज्जदि* कर्मभिश्चिच्चमत्कारात्मनः प्रतिबन्धकैर्ज्ञानावरणादिकर्मभिः स न रज्यते, न बध्यते। *किह तं पाणा अणुचरंति* कर्मबन्धाभावे सति तं पुरुषं प्राणाः कर्तारः कथमनुचरन्ति कथमाश्रयन्ति। न कथमपीति।

ततो ज्ञायते कषायेन्द्रियविजय एव पंचेन्द्रियादिप्राणानां विनाशकारणमिति ॥ १६३ ॥

टीकार्थ- ***जो इंदियादिविजई भवीय-*** जो कर्ता,अतीन्द्रिय आत्मा से उत्पन्न सुखरूपी अमृत में सन्तोष के माध्यम से,जितेन्द्रिय होने के कारण कषाय रहित निर्मल अनुभूति के बल से और कषायों को जीतने से,पंच इन्द्रियों आदि पर विजय प्राप्त कर ***उवओगमप्पगं झादि-*** केवलज्ञान, केवलदर्शन उपयोगमयी निज आत्मा का ध्यान करता है, ***कम्मेहिं सो ण रज्जदि-*** कर्मों से — वह चैतन्य चमत्कारी आत्मा के प्रतिबन्धक— आत्मा को बाँधनेवाले ज्ञानावरणादि कर्मों से रँगता नहीं, बँधता नहीं है। ***किह तं पाणा अणुचरंति-*** कर्मों के बंध का अभाव होने पर,उस पुरुष का प्राणरूपी कर्ता अनुचरण कैसे करेंगे, आश्रय कैसे करेंगे ? किसी भी प्रकार से उसका अनुचरण नहीं कर सकते।

इससे ज्ञात होता है कि कषाय और इन्द्रियों पर विजय ही,पाँच इन्द्रियों आदि प्राणों के विनाश का कारण है।

विशेषार्थ- 'आचार्य प्रभाचन्द्र' ने ***'इंदियादिविजयी भवीय'*** तथा ***'उवओगमप्पगं'*** को निम्न प्रकार स्पष्ट किया है—

"जो इंदियादिविजयी भवीय-यो इन्द्रियाद्याश्रवद्वाराणां विजयनशीलो भूत्वा उवओगमप्पगं झाई शुद्धोपयोगरूपं आत्मस्वरूपं ध्यायति।[1]

जो इन्द्रिय आदि आस्रव द्वारों का विजयनशील होकर — शुद्धोपयोगरूप आत्मस्वरूप को ध्याता है.............।"

ऐसे जीव का प्राण अनुचरण नहीं करते' इस तथ्य को वे सहेतुक इसप्रकार स्पष्ट करते हैं—

"अभिनवकर्मनिरोधे पूर्वकर्मनिर्जरायां च कारणाभावात् कर्मकार्याणां प्राणानामनुगामित्वानुपपत्ते।[2]

नवीन कर्मों के निरोध और पूर्व कर्मों की निर्जरा हो जाने पर,कारण का अभाव हो जाने से,कर्मों के कार्यरूप प्राणों का अनुगामिपना सिद्ध नहीं होने से (वे प्राण,उस जीव का अनुचरण नहीं करते है) ।" ॥ १६३ ॥

१- प्रवचनसार,गाथा १६१,प्रवचनसार सरोजभास्कर टीका।

२- वही।

एवं *'सपदेसेहिं समग्गो'* इत्यादि गाथाष्टकेन सामान्यभेदभावनाधिकारः समाप्तः ।

अथानन्तरमेकपंचाशद्गाथापर्यन्तं *विशेषभेदभावनाधिकारः* कथ्यते। तत्र विशेषान्तराधिकारचतुष्टयं भवति। तेषु चतुर्षु मध्ये शुभाद्युपयोगत्रयमुख्यत्वेनैकादशगाथापर्यन्तं प्रथमविशेषान्तराधिकारः प्रारभ्यते। तत्र चत्वारि स्थलानि भवन्ति। तस्मिन्नादौ नरादिपर्यायैः सह शुद्धात्मस्वरूपस्य पृथक्त्वपरिज्ञानार्थं *'अत्थित्तणिच्छिदस्स हि'* इत्यादि यथाक्रमेण गाथात्रयम्। तदनन्तरं तेषां संयोगकारणं *'अप्पा उवओगप्पा'* इत्यादि गाथाद्वयम्। तदनन्तरं शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयसूचनमुख्यत्वेन *'जो जाणादि जिणिंदे'* इत्यादि गाथात्रयम्। तदनन्तरं कायवाङ्मनसां शुद्धात्मना सह भेदकथनरूपेण *'णाहं देहो'* इत्यादि गाथात्रयम्। एवमेकादशगाथाभिः प्रथमविशेषान्तराधिकारे समुदायपातनिका।

इसप्रकार *"सपदेसेहिं समग्गो"*-- इत्यादि आठ गाथाओं द्वारा *"सामान्य भेद भावना"* अधिकार (नामक तीसरा अधिकार) समाप्त हुआ ।

अब, इसके बाद ५१ गाथा पर्यन्त *'विशेष भेदभावनाधिकार'* (नामक चौथा अधिकार) कहते हैं। वहाँ चार विशेष अन्तराधिकार हैं। उन चारों के बीच शुभ आदि तीन उपयोगों की मुख्यता से ग्यारह गाथा पर्यन्त पहला विशेष अन्तराधिकार प्रारम्भ होता है ।

उसमें चार स्थल हैं। उसमें सबसे पहले, मनुष्यादि पर्यायों के साथ शुद्धात्मस्वरूप की पृथक्ता के परिज्ञान के लिए *'अत्थित्तणिच्छिदस्स हि-'* इत्यादि यथाक्रम से तीन गाथायें, प्रथम स्थल में हैं। उसके बाद उनके संयोग के कारणरूप *'अप्पा उवओगप्पा-'* इत्यादि दो गाथायें, दूसरे स्थल में हैं। उसके बाद शुभ-अशुभ और शुद्धोपयोग-- इन तीन उपयोगों की सूचना की मुख्यता से *'जो जाणादि जिणिंदे-'* इत्यादि तीन गाथायें, तीसरे स्थल में हैं। तत्पश्चात् शरीर-वचन और मन का, शुद्धात्मा के साथ भेद कथनरूप से *'णाहं देहो-'* इत्यादि तीन गाथायें, चौथे स्थल में हैं ।

इसप्रकार ग्यारह गाथाओं के द्वारा पहले विशेष अन्तराधिकार में सामूहिक पातनिका हुई ।

प्रथम विशेषान्तराधिकार का स्थल विभाजन (गाथा १६४ से १७४ पर्यन्त)

स्थल क्रम	प्रतिपादित प्रधान विषय	कहाँ से कहाँ पर्यन्त	कुल गाथायें
प्रथम स्थल	मनुष्यादि पर्यायों के साथ शुद्धात्मस्वरूप की भिन्नता	१६४ से १६६	३
द्वितीय स्थल	उनके संयोग कारणों का प्रतिपादन	१६७ व १६८	२
तृतीय स्थल	शुभादि उपयोगत्रय सूचन मुख्यता	१६९ से १७१	३
चतुर्थ स्थल	शरीर-मन-वचन के साथ शुद्धात्मस्वरूप की भिन्नता	१७२ से १७४	३
कुल ४ स्थल		कुल ११ गाथायें	

तद्यथा–

अथ पुनरपि शुद्धात्मनो विशेषभेदभावनार्थं नरनारकादिपर्यायरूपं व्यवहारजीवत्वहेतुं दर्शयति–

अत्थित्तणिच्छिदस्स हि अत्थस्सत्थंतरम्हि संभूदो ।(१५२)

अत्थो पज्जाओ सो संठाणादिप्पभेदेहिं ॥ १६४ ॥

अत्थित्तणिच्छिदस्स हि चिदानन्दैकलक्षणस्वरूपास्तित्वेन निश्चितस्य ज्ञातस्य हि स्फुटम्। कस्य। *अत्थस्स* परमात्मपदार्थस्य *अत्थंतरम्मि* शुद्धात्मार्थादन्यस्मिन् ज्ञानावरणादिकर्मरूपे अर्थान्तरे *संभूदो* संजात उत्पन्नः *अत्थो* यो नरनारकादिरूपोऽर्थः, *पज्जाओ सो* निर्विकारशुद्धात्मानुभूतिलक्षणस्वभावव्यंजनपर्यायाद-न्यादृशः सन् विभावव्यंजनपर्यायो भवति स इत्थंभूतपर्यायो जीवस्य। कैः कृत्वा जातः। *संठाणादिप्पभेदेहिं* संस्थानादिरहितपरमात्मद्रव्यविलक्षणैः संस्थानसंहननशरीरादिप्रभेदैरिति ॥ १६४ ॥

वह इसप्रकार—

(अब,प्रथम विशेषान्तराधिकार का मनुष्यादि पर्यायों के साथ शुद्ध आत्मस्वरूप की भिन्नता प्रतिपादक, तीन गाथाओं में निबद्ध प्रथम स्थल प्रारम्भ होता है ।)

अब, फिर से शुद्धात्मा की विशेष भेद-भावना के लिये मनुष्य, नारक आदि पर्यायरूप व्यवहार जीवत्व के हेतु को दिखाते हैं—

अस्तित्व निश्चित अर्थ का उत्पाद अन्य पदार्थ में ।

वह अर्थ संस्थानादि भेदों से सहित पर्याय है ॥ १६४ ॥

गाथार्थ– अस्तित्व से निश्चित पदार्थ का,अन्य अर्थ में उत्पन्न संस्थान (आकार) आदि प्रभेदों सहित जो अर्थ है, वह पर्याय है ।

टीकार्थ– ***अत्थित्तणिच्छिदस्स हि***– वास्तव में ज्ञानानन्द एक लक्षण स्वरूपास्तित्व द्वारा निश्चित —ज्ञात का । इस स्वरूपवाले किसका ? ***अत्थस्स***– इस स्वरूपवाले परमात्मपदार्थ का ***अत्थंतरम्मि***– शुद्धात्मपदार्थ से अन्य— भिन्न ज्ञानावरणादि कर्मरूप अर्थान्तर में ***संभूदो***– संजात—उत्पन्न ***अत्थो***– जो मनुष्य, नारक आदि रूप अर्थ— पदार्थ है, ***पज्जाओ सो***– जीव की वह इसप्रकार की पर्याय,विकार रहित शुद्धात्मा की अनुभूति लक्षण स्वभाव व्यंजन पर्याय से भिन्न के समान होती हुई,विभाव व्यंजन पर्याय होती है । वह किनसे सहित उत्पन्न होती है ? ***संठाणादिप्पभेदेहिं***– संस्थान-आकार आदि से रहित परमात्मद्रव्य से विलक्षण,संस्थान, संहनन, शरीर आदि प्रभेदों से सहित उत्पन्न होती है ।

भावार्थ– वास्तव में ज्ञानानन्द एक स्वभावी स्वरूपास्तित्त्व के द्वारा जाने हुये परमात्मपदार्थ का, उससे भिन्न ज्ञानावरणादि कर्मरूप दूसरे पदार्थ में उत्पन्न (ज्ञानावरणादि कर्मों के निमित्त में उत्पन्न),जो संस्थान, संहनन, शरीर आदि प्रभेदों से सहित मनुष्य, नारक आदि रूप अर्थ— पदार्थ है, वह विकार रहित शुद्धात्मा की अनुभूति स्वरूप स्वभाव व्यंजन पर्याय से भिन्न,विभावव्यंजनपर्याय है ॥ १६४ ॥

अथ तानेव पर्यायभेदान् व्यक्तिकरोति –

णरणारयतिरियसुरा संठाणादीहिं अण्णहा जादा। (१५३)

पज्जाया जीवाणं उदयादिहिं णामकम्मस्स ॥ १६५ ॥

णरणारयतिरियसुरा नरनारकतिर्यग्देवरूपा अवस्थाविशेषाः *संठाणादीहिं अण्णहा जादा* संस्थानादिभिरन्यथा जाताः; मनुष्यभवे यत्समचतुरस्रादिसंस्थानमौदारिकशरीरादिकं च तदपेक्षया भवान्तरेऽन्यद्विसदृशं संस्थानादिकं भवति। तेन कारणेन ते नरनारकादिपर्याया अन्यथा जाता भिन्ना भण्यन्ते; न च शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मद्रव्यत्वेन। कस्मात्। तृणकाष्ठपत्राकारादिभेदभिन्नस्याग्नेरिव स्वरूपं तदेव। *पज्जाया जीवाणं* ते च नरनारकादयो जीवानां विभावव्यञ्जनपर्याया भण्यन्ते। कैः कृत्वा। *उदयादिहिं णामकम्मस्स* उदयादिभिर्नामकर्मणो निर्दोषपरमात्मशब्दवाच्यान्निर्णामनिर्गोत्रादिलक्षणाच्छुद्धात्मद्रव्यादन्यादृशैर्नामकर्मजनितैर्बन्धोदयोदीरणादिभिरिति।

यत एव ते कर्मोदयजनितास्ततो ज्ञायते शुद्धात्मस्वरूपं न संभवन्तीति ॥ १६५ ॥

अब, उन्हीं पर्याय के भेदों को व्यक्त करते हैं –

नर-नारकी-तिरयग-अमर आकार आदि से विविध।

पर्याय हैं जीवों की ये उदयादि नामकरम रचित ॥ १६५ ॥

गाथार्थ– जीवों की, नामकर्म के उदयादि के कारण संस्थानादि द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार की मनुष्य, नारक, तिर्यंच और देव पर्यायें हैं।

टीकार्थ– ***णरणारयतिरियसुरा–*** मनुष्य, नारक, तिर्यंच, देव रूप अवस्थाविशेष ***संठाणादीहिं अण्णहा जादा–*** संस्थानादि द्वारा दूसरे प्रकार की होती हैं ; मनुष्यभव में जो समचतुरस्रादि संस्थान और औदारिकशरीर आदि हैं, उनकी अपेक्षा दूसरे भव में, उनसे भिन्न दूसरे संस्थानादिक होते हैं। उसकारण वे मनुष्य, नारक, आदि पर्यायें ***'अन्यथा जाता'*** भिन्न-भिन्न कही गई हैं; शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावी परमात्मद्रव्यत्व की अपेक्षा भिन्न नहीं हैं। शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावी परमात्मद्रव्यत्व की अपेक्षा, वे भिन्न क्यों नहीं हैं ? तृण, लकड़ी, पत्ते के आकार आदि भेद से भिन्न (होने पर भी उन सबमें व्याप्त एक) अग्नि के समान, उन सभी का वह एक ही स्वरूप होने से, वे उसकी अपेक्षा भिन्न नहीं हैं। ***पज्जाया जीवाणं ते च–*** मनुष्य, नारक आदि, जीवों की विभाव व्यंजनपर्यायें कहलाती हैं। वे पर्यायें किनके द्वारा की जाती हैं ? ***उदयादिहिं णामकम्मस्स-*** नामकर्म के उदय आदि द्वारा, दोषरहित परमात्मा शब्द से कहने योग्य नामरहित, गोत्ररहित आदि लक्षणवाले शुद्धात्मद्रव्य से भिन्न, नामकर्म जनित बन्ध, उदय, उदीरणा आदि द्वारा की जाती हैं।

जिसकारण वे कर्म के उदय से उत्पन्न हैं, उससे ही ज्ञात होता है कि वे, शुद्धात्मा का स्वरूप नहीं हैं।

भावार्थ– मनुष्य आदि भव के विद्यमान वर्तमान समचतुरस्रादि संस्थान और औदारिकशरीर आदि, दूसरे भव में दूसरे संस्थान तथा दूसरे शरीर आदि रूप से बदल जाते हैं ; इसलिये मनुष्य, नारक, तिर्यंच, देव रूप अवस्थाविशेष संस्थानादि की अपेक्षा भिन्न-भिन्न हैं ; यह ज्ञात होता है। जीवों की ये मनुष्यादि पर्यायें; दोषरहित परमात्मा शब्द से कहे जाने वाले नामरहित, गोत्ररहित शुद्धात्मद्रव्य से भिन्न नामकर्म के बंध, उदय,

अथ स्वरूपास्तित्वलक्षणं परमात्मद्रव्यं योऽसौ जानाति स परद्रव्ये मोहं न करोतीति प्रकाशयति—

तं सब्भावणिबद्धं दव्वसहावं तिहा समक्खादं।(१५४)

जाणदि जो सवियप्पं ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि ॥ १६६ ॥

जाणदि जानाति। *जो* यः कर्ता। कम्। *तं* पूर्वोक्तं *दव्वसहावं* परमात्मद्रव्यस्वभावम्। किंविशिष्टम्। *सब्भावणिबद्धं* स्वभावः स्वरूपसत्ता तत्र निबद्धमाधीनं तन्मयं सद्भावनिबद्धम्। पुनरपि किंविशिष्टम्। *तिहा समक्खादं* त्रिधा समाख्यातं कथितम्। केवलज्ञानादयो गुणाः सिद्धत्वादिविशुद्धपर्यायास्तदुभयाधारभूतं परमात्मद्रव्यत्वमित्युक्तलक्षणत्रयात्मकं तथैव शुद्धोत्पादव्ययध्रौव्यत्रयात्मकं च यत्पूर्वोक्तं स्वरूपास्तित्वं तेन कृत्वा त्रिधा सम्यगाख्यातं कथितं प्रतिपादितम्। पुनरपि कथंभूतं आत्मस्वभावम्। *सवियप्पं* सविकल्पं पूर्वोक्तद्रव्यगुणपर्यायरूपेण सभेदम्।

उदीरणा आदि से रचित हैं; तथा विभाव व्यंजनपर्यायें कहलाती हैं।

यद्यपि ये मनुष्यादि पर्यायें पर्याय अपेक्षा से भिन्न-भिन्न हैं; तथापि जिसप्रकार तृण, लकड़ी, पत्ते के आकार आदि से भिन्न-भिन्न आकारवान अग्नि भी अग्नित्वरूप अपने स्वभाव की अपेक्षा एक ही है; उसीप्रकार शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावी परमात्मद्रव्यत्व की अपेक्षा वे एक हैं, भिन्न-भिन्न नहीं हैं; तथा कर्मोदयादि जन्य होने से वे शुद्धात्मा का स्वरूप नहीं हैं ॥ १६५ ॥

अब, जो वह स्वरूपास्तित्व लक्षण परमात्मद्रव्य को जानता है, वह पर द्रव्य में मोह नहीं करता है, ऐसा प्रकाशित करते हैं— बताते हैं —

सद्भावबद्ध स्वभाव द्रव्य त्रिधा कथित भेदादि को।

जो जानता वह अन्य द्रव्यों में न पावे मोह को ॥ १६६ ॥

गाथार्थ— जो जीव, उस (गाथा १०५, १०६, १०९ एवं ११९ में कहे हुये) सद्भाव से तन्मय, तीन प्रकार से कथित, तथा भेदोंवाले द्रव्य-स्वभाव को जानता है; वह अन्य द्रव्यों में मोहित नहीं होता है।

टीकार्थ— *जाणदि*— जानता है। *जो*— जो- कर्ता। जो किसे जानता है? *तं*— उस पहले कहे हुये *दव्वसहावं*— परमात्मद्रव्य के स्वभाव को जानता है। वह परमात्मद्रव्य किस विशेषतावाला है? *सब्भावणिबद्धं*— स्वभाव अर्थात् स्वरूपसत्ता, उसमें निबद्ध — उसके आधीन — उसमें ही तन्मयरूप सद्भावनिबद्ध है। वह और भी किस विशेषतावाला है? *तिहा समक्खादं*— वह तीन प्रकार से कहा गया है। केवलज्ञानादि गुण, सिद्धत्व आदि विशुद्ध पर्यायें और उन दोनों के आधारभूत परमात्मद्रव्यत्व — इसप्रकार कहे गये लक्षण वाले तीन स्वरूप, और वैसे ही शुद्ध उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य — तीन स्वरूप सहित जो पहले कहा हुआ स्वरूपास्तित्व; उसके द्वारा अच्छी तरह से आख्यात है — कहा गया है — प्रतिपादित किया गया है। और वह आत्मा का स्वभाव कैसा है? *सवियप्पं*— सविकल्प — पहले कहे गये द्रव्य-गुण-पर्याय रूप से भेद सहित है।

य इत्थंभूतमात्मस्वभावं जानाति, *ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि* न मुह्यति सोऽन्यद्रव्ये, स तु भेदज्ञानी विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावमात्मतत्त्वं विहाय देहरागादिपरद्रव्ये मोहं न गच्छतीत्यर्थः ॥ १६६ ॥

एवं नरनारकादिपर्यायैः सह परमात्मनो विशेषभेदकथनरूपेण प्रथमस्थले गाथात्रयं गतम्।

अथात्मनःपूर्वोक्तप्रकारेण नरनारकादिपर्यायैः सह भिन्नत्वपरिज्ञानं जातं, तावदिदानीं तेषां संयोगकारणं कथ्यते —

अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाणदंसणं भणिदो।(१५५)

सो वि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि ॥ १६७ ॥

अप्पा आत्मा भवति। कथंभूतः। *उवओगप्पा* चैतन्यानुविधायी योऽसावुपयोगस्तेन निर्वृत्तत्वादुपयोगात्मा। *उवओगो णाणदंसणं भणिदो* स चोपयोगः सविकल्पं ज्ञानं निर्विकल्पं दर्शनमिति भणितः। *सो वि सुहो* सोऽपि ज्ञानदर्शनोपयोगो धर्मानुरागरूपः शुभः, *असुहो* विषयानुरागरूपो द्वेषमोहरूपश्चाशुभः। *वा* वाशब्देन शुभाशुभानुरागरहितत्वेन शुद्धः। *उवओगो अप्पणो हवदि* इत्थंभूतस्त्रिलक्षण उपयोग आत्मनः संबन्धी भवतीत्यर्थः ॥ १६७ ॥

जो इसप्रकार आत्मा के स्वभाव को जानता है, ***ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि*** - वह अन्य द्रव्य में मोहित नहीं होता है; वह भेदज्ञानी, विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभावी आत्मतत्त्व को छोड़कर शरीर, रागादि परद्रव्य में मोह को प्राप्त नहीं होता है — ऐसा अर्थ है ॥ १६६ ॥

इसप्रकार मनुष्य-नारक आदि पर्यायों के साथ परमात्मा के विशेषभेद कथनरूप से पहले स्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुईं।

(अब, मनुष्यादि पर्यायों के साथ संयोग का कारण परक दो गाथाओं में निबद्ध दूसरा स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, पहले कहे अनुसार मनुष्य, नारक आदि पर्यायों के साथ आत्मा की भिन्नता का परिज्ञान (तो) हुआ; अब, उनके संयोग का कारण कहते हैं —

उपयोग आत्मक आत्मा है ज्ञान दृग उपयोग ही।

उपयोग आत्मा का कहा शुभ व अशुभ होता वही ॥ १६७ ॥

गाथार्थ– आत्मा उपयोगस्वरूप है, उपयोग ज्ञान-दर्शन कहा गया है और आत्मा का वह उपयोग शुभ अथवा अशुभ होता है।

टीकार्थ– ***अप्पा–*** आत्मा है। आत्मा कैसा है ? ***उवओगप्पा–*** चैतन्य का अनुसरण करनेवाला जो वह उपयोग, उससे रचा हुआ होने से उपयोगात्मा — उपयोगस्वरूप है। ***उवओगो णाणदंसणं भणिदो–*** और वह उपयोग सविकल्प-ज्ञान, निर्विकल्प-दर्शन — ऐसा कहा है। ***सो वि सुहो–*** वह ज्ञान-दर्शन उपयोग भी धर्मानुरागरूप शुभ, ***असुहो–*** विषयानुरागरूप और द्वेष, मोह रूप अशुभ। ***वा–*** वा शब्द से शुभ-अशुभ अनुराग रहित होने के कारण शुद्धरूप है। ***उवओगो अप्पणो हवदि–*** इसप्रकार आत्मा का तीन लक्षण (वाला) उपयोग है — ऐसा अर्थ है ॥ १६७ ॥

अथोपयोगस्तावन्नरनारकादिपर्यायकारणभूतस्य कर्मरूपस्य परद्रव्यस्य संयोगकारणं भवति। तावदिदानीं कस्य कर्मणः क उपयोगः कारणं भवतीति विचारयति –

उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि।(१५६)
असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि ॥ १६८ ॥

उवओगो जदि हि सुहो उपयोगो यदि चेत् हि स्फुटं शुभो भवति । *पुण्णं जीवस्स संचयं जादि* तदा काले द्रव्यपुण्यं कर्तृ जीवस्य संचयमुपचयं वृद्धिं याति बध्यत इत्यर्थः । *असुहो वा तह पावं* अशुभोपयोगो वा तथा तेनैव प्रकारेण पुण्यवद्द्रव्यपापं संचयं याति । *तेसिमभावे ण चयमत्थि* तयोरभावे न चयोऽस्ति । निर्दोषिनिजपरमात्मभावनारूपेण शुद्धोपयोगबलेन यदा तयोर्द्वयोः शुभाशुभोपयोगयोरभावः क्रियते तदोभयः संचयः कर्मबन्धो नास्तीत्यर्थः ॥ १६८ ॥

एवं शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयस्य सामान्यकथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाद्वयं गतम् ।

अब, उपयोग मनुष्य, नारक आदि पर्यायों के कारणभूत कर्मरूप परद्रव्य के संयोग का कारण है । उसमें से इससमय किस कर्म का कौनसा उपयोग कारण है ; ऐसा विचार करते हैं –

हो जीव का उपयोग यदि शुभ पुण्य का संचय करे ।
यदि अशुभ हो तो पाप का,उनका अभाव न चय करे ॥ १६८ ॥

गाथार्थ– जीव का उपयोग,यदि शुभ हो तो पुण्य का संचय होता है, यदि अशुभ हो तो पाप का संचय होता है तथा उन दोनों के अभाव में संचय नहीं होता है . ।

टीकार्थ– ***उवओगो जदि हि सुहो***– यदि उपयोग वास्तव में शुभ है,तो ***पुण्णं जीवस्स संचयं जादि***– उससमय जीव का द्रव्यपुण्यरूप कर्ता संचय – उपचय – वृद्धि को प्राप्त होता है, अर्थात् द्रव्यपुण्य बँधता है – ऐसा अर्थ है । ***असुहो वा तह पावं***– तथा यदि अशुभोपयोग है,तो उसीप्रकार पुण्य के समान द्रव्यपाप संचय को प्राप्त होता है – बँधता है । ***तेसिमभावे ण चयमत्थि***– उन दोनों के अभाव में चय–बंधन नहीं होता है । दोष-रहित निजपरमात्मा की भावनारूप शुद्धोपयोग के बल से,जब उन दोनों शुभ-अशुभ उपयोग का अभाव किया जाता है, तब उन दोनों ही प्रकार का संचय – कर्मों का बंधन नहीं होता है – ऐसा अर्थ है ॥ १६८ ॥

इसप्रकार शुभ-अशुभ-शुद्ध – तीनों उपयोगों के सामान्य कथनरूप से दूसरे स्थल में दो गाथायें पूर्ण हुईं ।

अथ विशेषेण शुभोपयोगस्वरूपं व्याख्याति –

जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे ।(१५७)

जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स ॥ १६९ ॥

जो जाणादि जिणिंदे यः कर्ता जानाति । कान् । अनन्तज्ञानादिचतुष्टयसहितान् क्षुधाद्यष्टादशदोषरहितांश्च जिनेन्द्रान् । *पेच्छदि सिद्धे* पश्यति । कान् । ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मरहितान्सम्यक्त्वाद्यष्टगुणान्तर्भूतानन्तगुणसहितांश्च सिद्धान् । *तहेव अणगारे* तथैवानागारान् । अनागारशब्दवाच्यान्निश्चयव्यवहारपञ्चाचारादियथोक्तलक्षणानाचार्योपाध्यायसाधून् । *जीवेसु साणुकंपो* त्रसस्थावरजीवेषु सानुकम्पः सदयः । *उवओगो सो सुहो* स इत्थंभूत उपयोगः शुभो भण्यते । स च कस्य भवति । *तस्स* तस्य पूर्वोक्तलक्षणजीवस्येत्यभिप्रायः ॥ १६९ ॥

(अव, शुभादि तीन उपयोगों की सूचनापरक तीन गाथाओं में निवद्ध तीसरा स्थल प्रारम्भ होता है ।)

अव, विशेपरूप से शुभोपयोग के स्वरूप का व्याख्यान — विशेपकथन करते हैं—

जो जानता अरहंत को श्रद्धान साधु सिद्ध का ।

जीवों में अनुकम्पा सहित उपयोग शुभ वह उसी का ॥ १६९ ॥

गाथार्थ– जो जिनेन्द्रों को जानता है, सिद्धों तथा अनागारों (आचार्य-उपाध्याय-साधुओं) का श्रद्धान करता है, और जीवों के प्रति अनुकम्पा–दया सहित है ; उसका वह उपयोग शुभोपयोग है ।

टीकार्थ– *जो जाणादि जिणिंदे*– कर्तारूप जो जानता है । किन्हें जानता है ? अनन्तज्ञान आदि चतुष्टय सहित और क्षुधा (भूख) आदि अठारह दोषों से रहित जिनेन्द्र भगवन्तों को जानता है । *पेच्छदि सिद्धे*–श्रद्धान करता है । किनका श्रद्धान करता है ? ज्ञानावरणादि आठ कर्म रहित और सम्यक्त्व आदि आठ गुणों में गर्भित अनन्तगुण सहित सिद्धों का श्रद्धान करता है । *तहेव अणगारे*– उसीप्रकार अनागारों–मुनिराजों का श्रद्धान करता है । अनागार शब्द से वाच्य — कहे जाने वाले निश्चय-व्यवहार पाँच आचार आदि यथोक्त (जैसे आगम में कहे हैं, वैसे) लक्षण वाले आचार्य-उपाध्याय-साधुओं का श्रद्धान करता है । *जीवेसु साणुकम्पो*– त्रस और स्थावर जीवों में सानुकम्प–दया से सहित है । *उवओगो सो सुहो*– वह इसप्रकार का उपयोग शुभ कहलाता है । और वह शुभ उपयोग किसके होता है ? *तस्स*– उस पहले कहे हुये लक्षण वाले जीव के होता है — ऐसा अभिप्राय है ।

भावार्थ– जो जीव, अनन्तज्ञान आदि चतुष्टयसहित और क्षुधा (भूख) आदि अठारह दोषों से रहित, जिनेन्द्र भगवन्तों को जानता है ; ज्ञानावरणादि आठ कर्मों रहित और सम्यक्त्व आदि आठ गुणों में गर्भित अनन्त गुणों सहित, सिद्धों तथा आगम में कहे गये निश्चय-व्यवहार पंचाचार आदि लक्षणवाले आचार्य, उपाध्याय, साधुओं का श्रद्धान करता है तथा त्रस और स्थावर जीवों में अनुकम्पा — दया परिणामों से सहित है; उस जीव का वह उपयोग शुभोपयोग है ॥ १६९ ॥*

* प्रस्तुत ग्रंथ की ७३वीं गाथा तथा पंचास्तिकायसंग्रह ग्रंथ की १३६वीं गाथा में भी 'आचार्य कुन्दकुन्ददेव' ने शुभोपयोग का स्वरूप बताया है ।

अथाशुभोपयोगस्वरूपं निरूपयति –

विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो।(१५८)

उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो॥ १७०॥

विसयकसाओगाढो विषयकषायावगाढः। *दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो* दुःश्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्ठियुतः। *उग्गो* उग्रः। *उम्मग्गपरो* उन्मार्गपरः। *उवओगो* एवं विशेषणचतुष्टययुक्त उपयोगः परिणामः *जस्स* यस्य जीवस्य भवति *सो असुहो* स उपयोगस्त्वशुभो भण्यते, अभेदेन पुरुषो वा। तथाहि-विषयकषायरहित-शुद्धचैतन्यपरिणतेः प्रतिपक्षभूतो विषयकषायावगाढो विषयकषायपरिणतः। शुद्धात्मतत्त्वप्रतिपादिका श्रुतिः सुश्रुतिस्तद्विलक्षणा दुःश्रुतिः मिथ्याशास्त्रश्रुतिर्वा; निश्चिन्तात्मध्यानपरिणतं सुचित्तं, तद्विनाशकं दुश्चित्तं, स्वपरनिमित्तेष्टकामभोगचिन्तापरिणतं रागाद्यपध्यानं वा; परमचैतन्यपरिणतेर्विनाशिका दुष्टगोष्ठी, तत्प्रतिपक्ष-भूतकुशीलपुरुषगोष्ठी वा। इत्थंभूतदुःश्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्ठीभिर्युतो दुःश्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्ठियुक्तः। परमोप-शमभावपरिणतपरमचैतन्यस्वभावात्प्रतिकूलः उग्रः। वीतरागसर्वज्ञप्रणीतनिश्चयव्यवहारमोक्षमार्गाद्विलक्षण उन्मार्गपरः।

इत्थंभूतविशेषणचतुष्टयसहित उपयोगः परिणामः तत्परिणतपुरुषो वेत्यशुभोपयोगो भण्यत इत्यर्थः॥ १७०॥

अब, अशुभोपयोग के स्वरूप का निरूपण करते हैं –

आसक्त विषय कषाय में, दुःश्रुति-विचार दुःसंगति।

उन्मार्ग तत्पर उग्र वह उपयोग उसका अशुभ ही॥ १७०॥

गाथार्थ– जिसका उपयोग विषय-कषायों में अवगाढ़ – आसक्त है, दुःश्रुति, दुर्विचार, दुष्ट-संगति से संयुक्त है, उग्र तथा उन्मार्ग में तत्पर है; वह अशुभ है।

टीकार्थ– ***विसयकसाओगाढो***– विषय-कषायों में अवगाढ़ – आसक्त, ***दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठ-गोट्ठिजुदो***– दुःश्रुति–बुरा सुनने या पढ़ने, दुश्चित्त–बुरामन–बुरा सोचने, दुष्टगोष्ठी–बुरी संगति से सहित। ***उग्गो***– उग्र। ***उम्मग्गपरो***– उन्मार्ग–विपरीत मार्ग में तत्पर। ***उवओगो***– इसप्रकार चार विशेषणों से सहित उपयोगरूप परिणाम ***जस्स***– जिस जीव के होते हैं; ***सो असुहो***–वह उपयोग अशुभ कहलाता है अथवा अभेदरूप से (वह) पुरुष ही अशुभ कहलाता है।

वह इसप्रकार– विषय-कषाय रहित शुद्ध चैतन्यपरिणति से विपरीत विषय-कषाय में अवगाढ़ अर्थात् विषय-कषायरूप से परिणत। शुद्धात्मतत्त्व की प्रतिपादक श्रुति–जिनवाणी–आगम सुश्रुति है, उससे विपरीत दुःश्रुति अथवा मिथ्याशास्त्ररूप श्रुति दुःश्रुति है। चिंता रहित होकर आत्मध्यान परिणत–आत्मा में लीन मन सुचित्त है, उस आत्मलीनता का विनाश करनेवाला मन दुश्चित्त है अथवा स्व और पर के लिये इच्छित–अनुकूल काम-भोग की चिन्तारूप परिणत रागादि अपध्यान–बुरे ध्यान दुश्चित्त हैं। परमचैतन्यपरिणति को नष्ट करने वाली दुष्ट गोष्ठी है, अथवा उस परम चैतन्यपरिणति के विरोधी कुशील पुरुष आदि की गोष्ठी-दुष्ट गोष्ठी–बुरी संगति है। इसप्रकार दुःश्रुति, दुश्चित्त, दुष्टगोष्ठी से सहित दुःश्रुति-दुश्चित्त-दुष्टगोष्ठी सहित है (तृतीया-तत्पुरुषसमास किया है)। परम उपशमभावरूप परिणत परमचैतन्य स्वभाव के प्रतिकूल उग्र है। वीतराग-सर्वज्ञ भगवान द्वारा कहे गये निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग से विरुद्ध उन्मार्ग में तत्पर हैं।

इसप्रकार चार विशेषणों से सहित उपयोगरूप परिणाम अथवा उनरूप परिणत पुरुष अशुभोपयोग कहलाता है – ऐसा अर्थ है ॥ १७०॥ *

* पंचास्तिकायसंग्रह,गाथा १३९,१४० में भी 'आचार्य कुन्दकुन्ददेव' ने अशुभोपयोग का स्वरूप बताया है।

अथ शुभाशुभरहितशुद्धोपयोगं प्ररूपयति –

असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्हि ।(१५९)

होज्जं मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पगं झाए ॥ १७१ ॥

असुहोवओगरहिदो अशुभोपयोगरहितो भवामि । स कः । *अहं* अहं कर्ता । पुनरपि कथंभूतः । *सुहोवजुत्तो ण* शुभोपयोगयुक्तः परिणतो न भवामि । क्व । विषयेऽसौ शुभोपयोगः । *अण्णदवियम्हि* निजपरमात्मद्रव्याद-न्यद्रव्ये । तर्हि कथंभूतो भवामि । *होज्जं मज्झत्थो* जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखशत्रुमित्रनिन्दाप्रशंसादिविषये मध्यस्थो भवामि । इत्थंभूतः सन् किं करोमि । *णाणप्पगमप्पगं झाए* ज्ञानात्मकमात्मानं ध्यायामि । ज्ञानेन निर्वृत्तं ज्ञानात्मकं केवलज्ञानान्तर्भूतानन्तगुणात्मकं निजात्मानं शुद्धध्यानप्रतिपक्षभूतसमस्तमनोरथरूपचिन्ताजालत्यागेन ध्यायामीति शुद्धोपयोगलक्षणं ज्ञातव्यम् ॥ १७१ ॥

एवं शुभाशुभशुद्धोपयोगविवरणरूपेण तृतीयस्थले गाथात्रयं गतम् ।

अब, शुभाशुभ रहित शुद्धोपयोग का प्ररूपण — कथन करते हैं —

अशुभोपयोग रहित न शुभ उपयुक्त हो पर-द्रव्य में ।

मध्यस्थ हो ज्ञानात्मक निज आत्मा ध्याता हूँ मैं ॥ १७१ ॥

गाथार्थ– अन्य द्रव्यों में मध्यस्थ होता हुआ मैं, अशुभोपयोग और शुभोपयोग से रहित होता हुआ ज्ञान स्वरूप आत्मा का ध्यान करता हूँ ।

टीकार्थ– ***असुहोवओगरहिदो–*** अशुभोपयोग से रहित होता हूँ । अशुभोपयोग से रहित वह कौन है ? ***अहं–*** कर्तारूप मैं अशुभोपयोग से रहित हूँ । और भी मैं कैसा होता हूँ ? ***सुहोवजुत्तो ण–*** शुभोपयोग में युक्त—शुभोपयोगरूप से परिणत नहीं होता हूँ । किसमें परिणत नहीं होता हूँ ? उस शुभोपयोगरूप विषय में परिणत नहीं होता हूँ । ***अण्णदवियम्हि–*** निज परमात्मद्रव्य से भिन्न अन्य द्रव्य में (परिणत नहीं होता हूँ) । तो मैं कैसा होता हूँ ? ***होज्जं मज्झत्थो–*** जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, निन्दा-प्रशंसा आदि विषय में मध्यस्थ होता हूँ । ऐसा होता हुआ क्या करता हूँ ? ***णाणप्पगमप्पगं झाए–*** ज्ञानात्मक आत्मा का ध्यान करता हूँ । ज्ञान से रचित ज्ञानात्मक—ज्ञानस्वरूप—केवलज्ञान में गर्भित अनन्तगुण स्वरूपी निजात्मा का, शुद्ध ध्यान के विरोधी सम्पूर्ण इच्छारूपी चिन्ताओं के जाल (समूह) के त्याग पूर्वक ध्यान करता हूँ — इसप्रकार शुद्धोपयोग का लक्षण जानना चाहिये ।

भावार्थ– अशुभोपयोग और शुभोपयोगरूप से परिणत नहीं होता हुआ मैं, निज परमात्मद्रव्य से भिन्न, अन्य द्रव्य सम्बन्धी जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, निन्दा-प्रशंसा आदि विषयों में मध्यस्थ होता हुआ, सम्पूर्ण इच्छाओं रूपी चिन्ताओं से रहित होकर अनन्तगुण गर्भित केवल ज्ञान स्वरूपी निजात्मा का ध्यान करता हूँ ॥ १७१ ॥*

इसप्रकार शुभ-अशुभ और शुद्धोपयोग के विवरण — विशेष कथनरूप से तीसरे स्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुईं ।

---

* प्रस्तुत ग्रंथ की १४वीं गाथा में भी शुद्धोपयोग का स्वरूप वर्णित है ।

अथ देहमनोवचनविषयेऽत्यन्तमाध्यस्थ्यमुद्योतयति –

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं ।(१६०)

कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ १७२ ॥

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी नाहं देहो न मनो न चैव वाणी। मनोवचनकायव्यापाररहितात्परमात्मद्रव्यादि्भन्नं यन्मनोवचनकायत्रयं निश्चयनयेन तन्नाहं भवामि। ततः कारणात्तत्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मि। *ण कारणं तेसिं* न कारणं तेषाम्। निर्विकारपरमाह्लादैकलक्षणसुखामृतपरिणतेर्यदुपादानकारणभूतमात्मद्रव्यं तद्विलक्षणो मनोवचनकायानाम्पादानकारणभूतः पुद्गलपिण्डो न भवामि। ततः कारणात्तत्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मि। *कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं* कर्ता न हि कारयिता अनुमन्ता नैव कर्तृणाम्। स्वशुद्धात्मभावनाविषये यत्कृतकारितानुमतस्वरूपं तद्विलक्षणं यन्मनोवचनकायविषयेकृतकारितानुमतस्वरूपं तन्नाहं भवामि। ततः कारणात्तत्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मीति तात्पर्यम् ॥ १७२ ॥

(अब, शरीर-वचन-मन के साथ शुद्धात्मस्वरूप की भिन्नता परक तीन गाथाओं में निबद्ध अन्तिम चौथा स्थल प्रारम्भ होता है ।)

अब, शरीर-मन-वचन के सम्बन्ध में अत्यन्त मध्यस्थता को प्रगट करते हैं —

मैं देह न न मन न वाणी सभी का कारण नहीं ।

कर्ता न कारयिता नहीं कर्ता का अनुमोदक नहीं ॥ १७२ ॥

गाथार्थ– मैं देह नहीं हूँ, मन नहीं हूँ और वाणी नहीं ही हूँ, उनका कारण नहीं हूँ, कर्ता नहीं हूँ, करानेवाला नहीं हूँ और कर्ता की अनुमोदना करनेवाला नहीं ही हूँ ।

टीकार्थ– ***णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी***– मैं शरीर नहीं हूँ, मन नहीं हूँ और वाणी नहीं ही हूँ । मन, वचन, शरीर के व्यापार से रहित परमात्मद्रव्य से भिन्न जो मन, वचन, शरीर — वे तीनों निश्चयनय से मैं नहीं हूँ । इसप्रकार उनके प्रति पक्षपात को छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हूँ । ***ण कारणं तेसिं***– उनका मैं कारण नहीं हूँ । विकार रहित परमाह्लाद एक लक्षण सुखरूप अमृतमयी परिणति का जो उपादान कारणभूत आत्मद्रव्य है, उससे विलक्षण मन, वचन, काय के उपादान कारणभूत पुद्गल पिण्डरूप मैं नहीं हूँ । इसकारण उनके प्रति पक्षपात को छोड़कर मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ । ***कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं***– कर्ता नहीं हूँ, कारयिता (करानेवाला) नहीं हूँ, करने वाले का अनुमोदक (अनुमोदना करनेवाला) नहीं ही हूँ । निज शुद्धात्मा की भावना के विषय में जो कृत-कारित-अनुमोदना का स्वरूप है, उससे विलक्षण जो मन-वचन-शरीर के विषय में कृत-कारित-अनुमोदना का स्वरूप है, उन रूप मैं नहीं हूँ । इसकारण उनके प्रति पक्षपात को छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हूँ — ऐसा तात्पर्य है ॥ १७२ ॥ *

---

* इसी भेदभावना को 'आचार्य कुन्दकुन्ददेव' ने 'नियमसार' गाथा ७७ से ८२ पर्यन्त भी वर्णित किया है ।

अथ कायवाङ्मनसां शुद्धात्मस्वरूपात्परद्रव्यत्वं व्यवस्थापयति –

देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा ।(१६१)

पोग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं ॥ १७३ ॥

देहो य मणो वाणी पुग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा देहश्च मनो वाणी तिस्रोऽपि पुद्गलद्रव्यात्मका इति निर्दिष्टाः । कस्मात् । व्यवहारेण जीवेन सहैकत्वेऽपि निश्चयेन परमचैतन्यप्रकाशपरिणतेर्भिन्नत्वात् । पुद्गलद्रव्यं किं भण्यते । *पुग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं* पुद्गलद्रव्यं हि स्फुटं पुनः पिण्डः समूहो भवति । केषाम् । परमाणुद्रव्याणामित्यर्थः ॥ १७३ ॥

अथात्मनः शरीररूपपरद्रव्याभावं तत्कर्तृत्वाभावं च निरूपयति –

णाहं पोग्गलमइओ ण ते मया पोग्गला कया पिंडं ।(१६२)

तम्हा हि ण देहोऽहं कत्ता वा तस्स देहस्स ॥ १७४ ॥

अब, शरीर-वचन और मन का शुद्धात्मा के स्वरूप से पर द्रव्यत्व व्यवस्थापित करते हैं (ये शुद्धात्मा से भिन्न हैं, पर द्रव्य हैं ; ऐसा निश्चय करते है) –

निर्दिष्ट पुद्गल द्रव्य रूपी देह-मन-वाणी सभी ।

परमाणु द्रव्यों के तथा हैं पिण्ड पुद्गल द्रव्य ही ॥ १७३ ॥

गाथार्थ– देह, मन और वाणी पुद्गल द्रव्य स्वरूप हैं – ऐसा कहा गया है । तथा पुद्गलद्रव्य परमाणुद्रव्यों का पिण्ड है ।

टीकार्थ– ***देहो य मणो वाणी पुग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा–*** शरीर और मन, वाणी – तीनों ही पुद्गलद्रव्य स्वरूप हैं – ऐसा कहा गया है । वे पुद्गलद्रव्य स्वरूप क्यों हैं ? व्यवहार से जीव के साथ एकत्व होने पर भी, निश्चय से चैतन्यप्रकाश-परिणति से भिन्नता होने के कारण, वे पुद्गलद्रव्य स्वरूप हैं । पुद्गलद्रव्य क्या कहलाता है ? ***पुग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं–*** और पुद्गलद्रव्य वास्तव में पिण्ड–समूह है । किनका समूह है ? वह परमाणुद्रव्यों का समूह है – ऐसा अर्थ है ।

भावार्थ– व्यवहार से जीव के साथ (संयोग सम्बन्धरूप) एकत्व होने पर भी, निश्चय से परम चैतन्य प्रकाशरूप परिणति से भिन्नता के कारण शरीर, मन और वाणी – ये तीनों स्कन्धरूप पुद्गलद्रव्य हैं ; अतः ये सभी शुद्धात्मस्वरूप से भिन्न हैं ॥ १७३ ॥

अब, आत्मा के शरीररूप परद्रव्यों का अभाव और उसके कर्तृत्व का अभाव निरूपित करते हैं –

पुद्गलमयी मैं नहीं, पुद्गलपिण्ड वे मुझ कृत नहीं ।

इसलिये मैं न देह वा उस देह का कर्ता नहीं ॥ १७४ ॥

गाथार्थ– मैं पुद्गलमय नहीं हूँ, वे पुद्गल मेरे द्वारा पिण्डरूप नहीं किये गये हैं ; इसलिए वास्तव में मैं शरीर नहीं हूँ, तथा उस शरीर का कर्ता नहीं हूँ ।

णाहं पुग्गलमइओ नाहं पुद्गलमयः । *ण ते मया पुग्गला कया पिंडा* न च ते पुद्गला मया कृताः पिण्डाः । *तम्हा हि ण देहोऽहं* तस्माद्देहो न भवाम्यहं । हि स्फुटं । *कत्ता वा तस्स देहस्स* कर्ता वा न भवामि तस्य देहस्येति ।

अयमत्रार्थः – देहोऽहं न भवामि । कस्माद् । अशरीरसहजशुद्धचैतन्यपरिणतत्वेन मम देहत्वविरोधात् । कर्ता वा न भवामि तस्य देहस्य । तदपि कस्मात् । निःक्रियपरमचिज्ज्योतिःपरिणतत्वेन मम देहकर्तृत्वविरोधादिति ।। १७४ ।।

एवं कायवाङ्मनसां शुद्धात्मना सह भेदकथनरूपेण चतुर्थस्थले गाथात्रयं गतम् ।

इति पूर्वोक्तप्रकारेण *'अत्थित्तणिच्छिदस्स हि'* इत्याद्येकादशगाथाभिः स्थलचतुष्टयेन प्रथमो विशेषान्तराधिकारः समाप्तः ।

टीकार्थ– ***णाहं पुग्गलमइओ***– मैं पुद्गलमय नहीं हूँ । ***ण ते मया पुग्गला कया पिंडा***– और वे पुद्गलपिण्ड मेरे द्वारा नहीं किये गये हैं । ***तम्हा हि ण देहोऽहं***– इसलिये मैं शरीर नहीं हूँ । वास्तव में ***कत्ता वा तम्स देहस्स***– तथा उस देह का कर्ता नहीं हूँ ।

यहाँ अर्थ यह है — मैं देह नहीं हूँ । मैं देह — शरीर क्यों नहीं हूँ ? शरीर रहित सहज शुद्ध चैतन्यरूप से परिणत होने के कारण,मेरा देहत्व रूप से विरोध होने के कारण,मैं देह नहीं हूँ । तथा उस देह का मैं कर्ता नहीं हूँ । मैं उस शरीर का कर्ता भी क्यों नहीं हूँ ? क्रिया रहित परम चैतन्य ज्योतिरूप से परिणत होने के कारण,मेरा शरीर के कर्तृत्वरूप से विरोध होने के कारण,मैं शरीर का कर्ता भी नहीं हूँ ।

विशेषार्थ– 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने इस गाथा- टीका में शरीर के साथ वचन और मन को भी गर्भित कर "मैं" रूप से उनका निषेध किया है ; तथा कारण, कर्ता, कारयिता और अनुमंता रूप से भी इन सभी के कर्तृत्व का निषेध किया है । वह इसप्रकार —

"वचन और मन का द्वैत जिसमें गर्भित है ऐसा पुद्गलात्मक शरीर नामक परद्रव्य मैं नहीं हूँ ।------

और उसके कारणरूप से, कर्तारूप से, कर्ता के प्रयोजक–कारयितारूप से और कर्ता के अनुमोदकरूप से भी मैं शरीर का कर्ता नहीं हूँ" [१] ।। १७४ ।।

इसप्रकार शरीर, वचन, मन का शुद्धात्मा के साथ भेद कथनरूप से चौथे स्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुईं ।

इसप्रकार पहले कही हुई पद्धति से *"अत्थित्त णिच्छिदस्स हि"*- इत्यादि ग्यारह गाथाओं द्वारा चार स्थलरूप से पहला विशेषान्तराधिकार समाप्त हुआ ।

१- प्रवचनसार,गाथा १६२,तत्त्वप्रदीपिका टीका ।

अथ केवलपुद्गलबन्धमुख्यत्वेन नवगाथापर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तत्र स्थलद्वयं भवति। परमाणूनां परस्परबन्धकथनार्थं *'अपदेसो परमाणू'* इत्यादिप्रथमस्थले गाथाचतुष्टयम् । तदनन्तरं स्कन्धानां बन्धमुख्यत्वेन *'दुपदेसादी खंधा'* इत्यादिद्वितीयस्थले गाथापंचकम्। एवं द्वितीयविशेषान्तराधिकारे समुदायपातनिका।

अथ यद्यात्मा पुद्गलानां पिण्डं न करोति तर्हि कथं पिण्डपर्यायपरिणतिरिति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति -

अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य सयमसद्दो जो।(१६३)

णिद्धो वा लुक्खो वा दुपदेसादित्तमणुभवदि ॥ १७५ ॥

अब, मात्र पुद्गलबन्ध की मुख्यता से ९ गाथा पर्यन्त विशेष कथन करते हैं। वहाँ दो स्थल हैं। परमाणुओं के परस्पर बन्ध के कथन के लिये *'अपदेसो परमाणू-'* इत्यादि चार गाथायें पहले स्थल में हैं। उसके बाद स्कन्धों के बन्ध की मुख्यता से *'दुपदेसादि खंधा -'* इत्यादि पाँच गाथायें दूसरे स्थल में हैं।

इसप्रकार दूसरे विशेषान्तराधिकार में सामूहिक पातनिका पूर्ण हुई।

द्वितीय विशेषान्तराधिकार का स्थल विभाजन (गाथा १७५ से १८३ पर्यन्त)

स्थल क्रम	प्रतिपादित प्रधान विषय	कहाँ से कहाँ पर्यन्त गाथायें	कुल गाथायें
प्रथम स्थल	परमाणुओं का परस्पर बंध कथन	१७५ से १७८	४
द्वितीय स्थल	स्कन्धों का परस्पर बंध कथन	१७९ से १८३	५
कुल दो स्थल		कुल ९ गाथायें	

(अब, दूसरे विशेषान्तराधिकार का चार गाथाओं में निबद्ध परमाणुओं के परस्पर बन्ध को बताने वाला पहला स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, यदि आत्मा पुद्गलों का पिण्ड नहीं करता है, तो उनका पिण्ड पर्यायरूप परिणमन कैसे होता है ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं —

अप्रदेश परमाणु स्वयं ना शब्द मात्र प्रदेश जो।

अनुभवे रुक्ष-स्निग्ध से वह द्विप्रदेशादित्व को ॥ १७५ ॥

गाथार्थ– अप्रदेशी, प्रदेशमात्र, स्वयं अशब्द जो परमाणु है ; वह स्निग्ध अथवा रूक्ष होता हुआ द्विप्रदेशादित्व का अनुभव करता है।

अपदेसो अप्रदेशः । स कः । *परमाणू* पुद्गलपरमाणुः । पुनरपि कथंभूतः । *पदेसमेत्तो य* द्वितीयादिप्रदेशाभावात् प्रदेशमात्रश्च । पुनश्च किंरूपः । *सयमसद्दो* य स्वयं व्यक्तिरूपेणाशब्दः । एवं विशेषणत्रयविशिष्टः सन् *णिद्धो वा लुक्खो वा* स्निग्धो वा रूक्षो वा यतः कारणात्संभवति ततः कारणात् *दुपदेसादित्तमणुभवदि* द्विप्रदेशादिरूपं बन्धमनुभवतीति ।

तथा हि-यथायमात्मा शुद्धबुद्धैकस्वभावेन बन्धरहितोऽपि पश्चादशुद्धनयेन स्निग्धस्थानीयरागभावेन रूक्षस्थानीयद्वेषभावेन यदा परिणमति तदा परमागमकथितप्रकारेण बन्धमनुभवति, तथा परमाणुरपि स्वभावेन बन्धरहितोऽपि यदा बन्धकारणभूतस्निग्धरूक्षगुणेन परिणतो भवति तदा पुद्गलान्तरेण सह विभावपर्यायरूपं बन्धमनुभवतीत्यर्थः ॥ १७५ ॥

अथ कीदृशं तत्स्निग्धरूक्षत्वमिति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति –

एगुत्तरमेगादी अणुस्स णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं ।(१६४)
परिणामादो भणिदं जाव अणंतत्तमणुभवदि ॥ १७६ ॥

टीकार्थ– ***अपदेसो–*** अप्रदेशी–बहुप्रदेश रहित है । प्रदेश रहित वह कौन है ? ***परमाणू–*** पुद्गल परमाणु प्रदेश रहित है । वह पुद्गल परमाणु और कैसा है ? ***पदेसमेत्तो य–*** और दूसरे आदि प्रदेशों का अभाव होने से प्रदेशमात्र है । और वह कैसा है ? ***सयमसद्दो य–*** स्वयं प्रकटरूप से अशब्द है । इन तीन विशेषणों से सहित होता हुआ ***णिद्धो वा लुक्खो वा–*** जिसकारण स्निग्ध अथवा रूक्ष रूप से सम्भव होता है — परिणमित होता है, उसकारण ***दुपदेसादित्तमणुभवदि–*** दो प्रदेश आदि रूप बन्ध का अनुभव करता है ।

वह इसप्रकार– जैसे शुद्ध-बुद्ध स्वभाव द्वारा यह आत्मा बन्ध रहित होने पर भी, पश्चात् अशुद्धनय से स्निग्ध के स्थानीय रागभाव तथा रूक्ष के स्थानीय द्वेषभावरूप से जब परिणमित होता है, तब परमागम में कही गयी विधि से बन्ध का अनुभव करता है ; उसीप्रकार परमाणु भी स्वभाव से बन्ध रहित होने पर भी, जब बन्ध के कारणभूत स्निग्ध-रूक्ष गुणरूप से परिणमित होता है, तब दूसरे पुद्गल के साथ विभाव पर्यायरूप बन्ध का अनुभव करता है — ऐसा अर्थ है ॥ १७५ ॥

अब, वह स्निग्ध-रूक्षत्व कैसा है ? ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं —

परिणमन से एकैक बढ़ते एक आदि अणू के।
स्निग्धता कहि रूक्षता जब तक अनन्तता अनुभवे ॥ १७६ ॥

गाथार्थ– परमाणु के परिणमन के कारण, एक (अविभाग–प्रतिच्छेद) से प्रारम्भ कर एक-एक बढ़ते हुये तब तक स्निग्धत्व-रूक्षत्व कहे गये हैं, जब तक वे अनन्तता का अनुभव करते हैं ।

एगुत्तरमेगादी एकोत्तरमेकादि। किम्। *णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं* स्निग्धत्वं रूक्षत्वं च कर्मतापन्नं। *भणिदं* भणितं कथितम्। किंपर्यन्तम्। *जाव अणंतत्तमणुभवदि* अनन्तत्वमनन्तपर्यन्तं यावदनुभवति प्राप्नोति। कस्मात्सकाशात्। *परिणामादो* परिणतिविशेषात्परिणामित्वादित्यर्थः। कस्य संबन्धि। *अणुस्स* अणोः पुद्गल-परमाणोः।

तथा हि- यथा जीवे जलाजागोमहिषीक्षीरे स्नेहवृद्धिवत्स्नेहस्थानीयं रागत्वं रूक्षस्थानीयं द्वेषत्वं बन्धकारणभूतं जघन्यविशुद्धिसंक्लेशस्थानीयमादिं कृत्वा परमागमकथितक्रमेणोत्कृष्टविशुद्धिसंक्लेशपर्यन्तं वर्धते, तथा पुद्गलपरमाणुद्रव्येऽपि स्निग्धत्वं रूक्षत्वं च बन्धकारणभूतं पूर्वोक्तजलादितारतम्यशक्तिदृष्टान्ते-नैकगुणसंज्ञां जघन्यशक्तिमादिं कृत्वा गुणसंज्ञेनाविभागपरिच्छेदद्वितीयनामाभिधेयेन शक्तिविशेषेण वर्धते। किंपर्यन्तं। यावदनन्तसंख्यानम्। कस्मात्। पुद्गलद्रव्यस्य परिणामित्वात्, परिणामस्य वस्तुस्वभावादेव निषेधितुमशक्यत्वादिति ॥ १७६ ॥

टीकार्थ- *एगुत्तरमेगादी-* एक (अविभागीप्रतिच्छेद) से प्रारम्भ कर एक-एक आगे (बढ़ते हुये)। एक से प्रारम्भ कर बढ़ती हुई किस वस्तु को? *णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं-* कर्मता को प्राप्त (कर्मकारक या कर्मस्वरूप को प्राप्त) एक से प्रारम्भ कर बढ़ती हुई स्निग्धता-रूक्षता को। *भणिदं-* कहा गया है। कहाँ तक बढ़ती हुई स्निग्धता-रूक्षता को कहा गया है? *जाव अणंतत्तमणुभवदि-* जब तक अनन्तता का अनुभव करता है, अनन्त पर्यन्त (वृद्धि) को प्राप्त करता है। अनन्तता का अनुभव कैसे करता है? *परिणामादो-* परिणति विशेष से-परिणामी होने से अनन्तता का अनुभव करता है— ऐसा अर्थ है। किसके परिणामी होने से वे अनन्तता का अनुभव करते हैं? *अणुस्स-* अणु—पुद्गल परमाणु के परिणामी होने से वे उसका अनुभव करते हैं।

वह इसप्रकार— जल, बकरी के दूध में, गाय के दूध में, भैंस के दूध में स्नेह—चिकनाई की वृद्धि के समान, जैसे जीव में बन्ध के कारणभूत स्नेह के स्थानीय-रागपना तथा रूक्ष के स्थानीय-द्वेषपना, जघन्य विशुद्धि-संक्लेश स्थान से प्रारम्भ कर परमागम में कहे गये क्रम से उत्कृष्ट विशुद्धि - संक्लेश पर्यन्त बढ़ते हैं; उसीप्रकार पुद्गल परमाणु द्रव्य में भी, बन्ध के कारणभूत स्निग्धता और रूक्षता, पहले कहे गये जलादि की तारतम्य (क्रम से बढ़ती हुई) शक्ति के उदाहरण से एक गुण नामक जघन्य शक्ति से प्रारम्भ कर गुण नामक अविभागीप्रतिच्छेदरूप दूसरे आदि शक्ति विशेष से बढ़ते हैं। इसप्रकार वे कहाँ तक बढ़ते हैं? जब तक अनन्त संख्या को प्राप्त नहीं हो जाते, तब तक बढ़ते हैं। वे अनन्त संख्या पर्यन्त क्यों बढ़ते हैं? पुद्गलद्रव्य के परिणामी होने के कारण तथा वस्तु स्वभाव से ही (परिणामी होने के कारण) परिणाम का निषेध किया जाना अशक्य होने से, वे अनन्त पर्यन्त बढ़ते हैं।

भावार्थ- प्रत्येक वस्तु का परिणमन स्वभाव होने से तथा स्वभाव का निषेध करना अशक्य होने के कारण, परमाणु अपने परिणमन स्वभाव से एक अविभागीप्रतिच्छेद से बढ़ता-बढ़ता अनन्त अविभागी-प्रतिच्छेदोंरूप स्निग्धता- रूक्षता गुण का अनुभव करता है— उस रूप परिणमित होता है ॥ १७६ ॥

अथात्र कीदृशात्स्निग्धरूक्षत्वगुणात् पिण्डो भवतीति प्रश्ने समाधानं ददाति –

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा ।(१६५)

समदो दुराधिगा जदि बज्झन्ति हि आदिपरिहीणा ।। १७७ ।।

बज्झंति हि बध्यन्ते हि स्फुटम् । के । कर्मतापन्नाः *अणुपरिणामा* अणुपरिणामाः । अणुपरिणामशब्देनात्र परिणामपरिणता अणवो गृह्यन्ते। कथंभूताः। *णिद्धा वा लुक्खा वा* स्निग्धपरिणामपरिणता वा रूक्षपरिणामपरिणता वा । पुनरपि किंविशिष्टाः । *समा व विसमा वा* द्विशक्तिचतुशक्तिषट्शक्त्यादिपरिणतानां सम इति संज्ञा, त्रिशक्तिपंचशक्तिसप्तशक्त्यादिपरिणतानां विषम इति संज्ञा। पुनश्च किंरूपाः। *समदो दुराधिगा जदि* समतः समसंख्यानात्सकाशाद् द्वाभ्यां गुणाभ्यामधिका यदि चेत्। कथं द्विगुणाधिकत्वमिति चेत्। एको द्विगुणस्तिष्ठति द्वितीयोऽपि द्विगुण इति द्वौ समसंख्यानौ तिष्ठतस्तावत्, एकस्य विवक्षितद्विगुणस्य द्विगुणाधिकत्वे कृते सति सः चतुर्गुणो भवति शक्तिचतुष्टयपरिणतो भवति । तस्य चतुर्गुणस्य पूर्वोक्तद्विगुणेन

अब, यहाँ कैसे स्निग्ध - रूक्ष गुण से पिण्ड होता है (स्कन्ध बनता है) ? ऐसा प्रश्न होने पर समाधान देते हैं —

स्निग्ध रूक्ष वा सम विषम परिणाम अणु के यदि हों ।

सम से अधिक दो तो बँधे पर ना बँधे यदि आदि हो ।। १७७ ।।

गाथार्थ– स्निग्ध अथवा रूक्ष, सम अथवा विषम अणु परिणाम,यदि समान से दो अधिक हों,तो बँधते हैं; परन्तु आदि अर्थात् जघन्य अंशवाले परमाणु नहीं बँधते हैं ।

टीकार्थ– *बज्झंति हि*– वास्तव में बँधते हैं । कौन बँधते हैं ? कर्मता को प्राप्त *अणुपरिणामा*– अणुपरिणाम बँधते हैं । अणुपरिणाम शब्द से यहाँ परिणाम (पर्याय) रूप से परिणत अणु ग्रहण किये गये हैं । वे अणु परिणाम कैसे हैं ? *णिद्धा वा लुक्खा वा*– वे स्निग्ध परिणामरूप से परिणमित अथवा रूक्ष परिणामरूप परिणत हैं । वे और किस विशेषतावाले हैं ? *समा व विसमा वा*– दो शक्ति, चार शक्ति, छह शक्ति आदि रूप परिणत अणुओं की सम संज्ञा है ; तथा तीन शक्ति, पाँच शक्ति, सात शक्ति आदि रूप से परिणत अणुओं की विषम संज्ञा है (संज्ञा अर्थात् नाम) । और वे किस स्वरूपवाले हैं ? *समदो दुराधिगा जदि*– सम से — यदि समसंख्या से दो गुणों से अधिक हैं तो । दो गुणों की अधिकता कैसे है — यदि ऐसा प्रश्न हो तो (उत्तर कहते हैं) — एक दो गुणवाला है, दूसरा भी दो गुणवाला है — इसप्रकार दो समान संख्या वाले परमाणु हैं, एक विवक्षित दो गुणवाले के दो गुणों की अधिकता होने पर वह चार गुणवाला होता है — चार

सह बन्धो भवतीति। तथैव द्वौ त्रिशक्तियुक्तो तिष्ठतस्तावत्, तत्राप्येकस्य त्रिगुणशब्दाभिधेयस्य त्रिशक्तियुक्तस्य परमाणो:शक्तिद्वयमेलापके कृते सति पंचगुणत्वं भवति। तेन पंचगुणेन सह पूर्वोक्तत्रिगुणस्य बन्धो भवति।

एवं द्वयोर्द्वयो: स्निग्धयोर्द्वयोर्द्वयो रूक्षयोर्द्वयोर्द्वयो: स्निग्धरूक्षयोर्वा समयो: विषमयोश्च द्विगुणाधिकत्वे सति बन्धो भवतीत्यर्थ:, किंतु विशेषोऽस्ति। *आदिपरिहीणा* आदिशब्देन जलस्थानीयं जघन्यस्निग्धत्वं वालुकास्थानीयं जघन्यरूक्षत्वं भण्यते, ताभ्यां विहीना आदिपरिहीणा बध्यन्ते।

किंच– परमचैतन्यपरिणतिलक्षणपरमात्मतत्त्वभावनारूपधर्मध्यानशुक्लध्यानबलेन यथा जघन्यस्निग्धशक्तिस्थानीये क्षीणरागत्वे सति जघन्यरूक्षशक्तिस्थानीये क्षीणद्वेषत्वे च सति जलवालुकयोरिव जीवस्य बन्धो न भवति, तथा पुद्गलपरमाणोरपि जघन्यस्निग्धरूक्षशक्तिप्रस्तावे बन्धो न भवतीत्यभिप्राय: ॥ १७७॥

अथ तमेवार्थं विशेषेण समर्थयति –

णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुभवदि।(१६६)
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्झदि पंचगुणजुत्तो॥ १७८॥

शक्तियों रूप परिणत होता है। उस चार गुणवाले का पहले कहे हुये दो गुणवाले के साथ बन्ध होता है। उसीप्रकार कोई दो परमाणु तीन शक्तिवाले हैं, वहाँ भी एक तीन गुण शब्द से कहे जाने वाले तीन शक्ति से युक्त परमाणु के दो शक्तियों का मिलाप (दो गुणों की अधिकता) होने पर पाँच गुणवाला होता है। उस पाँच गुणवाले के साथ पहले कहे हुये तीन गुणवाले का बन्ध होता है।

इसप्रकार दो-दो स्निग्ध का, दो-दो रूक्ष का, दो-दो स्निग्ध-रूक्ष का अथवा सम का और विषम का दो गुण अधिक होने पर बन्ध होता है — ऐसा अर्थ है; परन्तु विशेषता यह है — *आदिपरिहीणा*– आदि शब्द से जल के स्थानीय जघन्य स्निग्धत्व और रेत के स्थानीय जघन्य रूक्षत्व कहा जाता है; उनसे रहित अर्थात् आदि परिहीणा बँधते हैं (एक अविभागीप्रतिच्छेदवाला परमाणु बन्ध योग्य नहीं है)।

विशेष यह है कि– परम चैतन्य परिणति लक्षण परमात्मतत्त्व की भावनारूप-धर्मध्यान, शुक्लध्यान के बल से, जैसे जघन्य स्निग्ध शक्ति के स्थानीय राग के क्षीण होने पर और जघन्य रूक्ष शक्ति के स्थानीय द्वेष के क्षीण होने पर, जल और रेत के समान जीव का बन्ध नहीं होता है; उसीप्रकार पुद्गलपरमाणु के भी जघन्य स्निग्ध और रूक्ष शक्ति का प्रसंग होने पर, बन्ध नहीं होता है — ऐसा अभिप्राय है ॥ १७७॥

अब, उसी अर्थ का विशेषरूप से समर्थन करते हैं—

स्निग्ध से दो गुण चतु: गुण स्निग्ध से बन्धन करे।
वा रूक्ष से त्रयगुण अणु गुण पाँच से बन्धन करे॥ १७८॥

गाथार्थ– स्निग्धरूप से दो गुणवाला परमाणु चार गुणवाले स्निग्ध के साथ बन्ध का अनुभव करता है अर्थात् बँधता है, अथवा रूक्षरूप से तीन गुणवाला परमाणु पाँच गुणवाले परमाणु के साथ बँधता है।

गुणशब्दवाच्यशक्तिद्वययुक्तस्य स्निग्धपरमाणोश्चतुर्गुणस्निग्धेन रूक्षेण वा समशब्दसंज्ञेन तथैव त्रिशक्तियुक्तरूक्षस्य पंचगुणरूक्षेण स्निग्धेन वा विषमसंज्ञेन द्विगुणाधिकत्वे सति बन्धो भवतीति ज्ञातव्यम्।

अयं तु विशेषः– परमानन्दैकलक्षणस्वसंवेदनज्ञानबलेन हीयमानरागद्वेषत्वे सति पूर्वोक्तजलवालुका-दृष्टान्तेन यथा जीवानां बन्धो न भवति तथा जघन्यस्निग्धरूक्षत्वगुणे सति परमाणूनां चेति।

तथा चोक्तम् –

"णिद्धस्स णिद्धेण दुराधिगेण लुक्खस्स लुक्खेण दुराधिगेण।

णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जघण्णवज्जे विसमे समे वा"[1] ॥ १७८ ॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण स्निग्धरूक्षपरिणतपरमाणुस्वरूपकथनेन प्रथमगाथा, स्निग्धरूक्षगुणविवरणेन द्वितीया, स्निग्धरूक्षगुणाभ्यां द्व्यधिकत्वे सति बन्धकथनेन तृतीया, तस्यैव दृढीकरणेन चतुर्थी चेति परमाणूनां परस्परबन्धव्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथम स्थले गाथाचतुष्टयं गतम्।

टीकार्थ– 'गुण' शब्द से कही जाने वाली दो शक्ति से सहित स्निग्ध परमाणु का चार गुणवाले सम शब्द नामरूप स्निग्ध अथवा रूक्ष के साथ, उसीप्रकार तीन शक्ति से सहित रूक्ष का पाँच गुणवाले विषम नामरूप रूक्ष अथवा स्निग्ध गुण के साथ,दो गुणों की अधिकता होने पर बन्ध होता है– ऐसा जानना चाहिये।

विशेष यह है कि– परमानन्द एक लक्षण स्वसंवेदनज्ञान के बल से राग-द्वेष के हीन होते जाने पर,पहले कहे हुऐ जल और रेत के उदाहरण द्वारा, जैसे जीवों के बन्ध नहीं होता है; उसीप्रकार स्निग्ध और रूक्ष गुण के जघन्य होने पर,परमाणुओं का बन्ध नहीं होता है।

वैसा ही कहा है–

"जघन्य को छोड़कर, स्निग्ध का दो अधिक स्निग्ध के साथ, रूक्ष का दो अधिक रूक्ष के साथ, स्निग्ध का रूक्ष के साथ विसम अथवा सम दशा में बंध होता है।" ॥ १७८ ॥

इसप्रकार पहले कहे अनुसार स्निग्ध और रूक्ष परिणत परमाणु के स्वरूप-कथनरूप से पहली गाथा, स्निग्ध और रूक्ष के विवरण रूप से दूसरी, स्निग्ध और रूक्ष गुणों की अपेक्षा दो अधिक होने पर बन्ध कथनरूप से तीसरी और उसे ही दृढ़ करने के लिये चौथी – इसप्रकार परमाणुओं के परस्पर बन्ध-व्याख्यान की मुख्यता से पहले स्थल में चार गाथायें पूर्ण हुईं।

१- गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ६१५।

अथात्मा द्व्यणुकादिपुद्गलस्कन्धानां कर्ता न भवतीत्युपदिशति –

दुपदेसादी खंधा सुहुमा वा बादरा ससंठाणा। (१६७)

पुढविजलतेउवाऊ सगपरिणामेहिं जायंते ॥ १७९ ॥

जायन्ते उत्पद्यन्ते। के कर्तारः। *दुपदेसादी खंदा* द्विप्रदेशाद्यनन्ताणुपर्यन्ताः स्कन्धाः। के जायन्ते। *पुढविजलतेउवाऊ* पृथ्वीजलतेजोवायवः। कथंभूताः सन्तः। *सुहुमा वा बादरा* सूक्ष्मा वा बादरा वा। पुनरपि किंविशिष्टाः सन्तः। *ससंठाणा* यथासंभवं वृत्तचतुरस्रादिस्वकीयस्वकीयसंस्थानाकारयुक्ताः। कैः कृत्वा जायन्ते। *सगपरिणामेहिं* स्वकीयस्वकीयस्निग्धरूक्षपरिणामैरिति।

अथ विस्तरः– जीवा हि तावद्वस्तुतष्टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकरूपेण शुद्धबुद्धैकस्वभावा एव पश्चाद्व्यवहारेणानादिकर्मबन्धोपाधिवशेन शुद्धात्मस्वभावमलभमानाः सन्तः पृथिव्यप्तेजोवातकायिकेषु समुत्पद्यन्ते, तथापि स्वकीयाभ्यन्तरसुखदुःखादिरूपपरिणतेरेवाशुद्धोपादानकारणं भवन्ति, न च पृथिव्यादिकायाकारपरिणतेः। कस्मादिति चेत्। तत्र स्कन्धानामेवोपादानकारणत्वादिति।

ततो ज्ञायते पुद्गलपिण्डानां जीवः कर्ता न भवतीति ॥ १७९ ॥

(अब, स्कन्धों का परस्पर बन्ध-कथन परक पाँच गाथाओं में निबद्ध दूसरा स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, आत्मा द्व्यणुक आदि पुद्गलस्कन्धों का कर्ता नहीं है, ऐसा उपदेश देते हैं —

द्वि प्रदेश आदि स्कन्ध बादर सूक्ष्म बहुआकार के।

उत्पन्न हैं भू, अम्बु, अग्नि, अनिल निज परिणाम से ॥ १७९ ॥

गाथार्थ– सूक्ष्म अथवा बादर संस्थानों — आकारों सहित पृथ्वी, जल, तेज, वायु रूप दो प्रदेश आदि रूप स्कन्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होते हैं।

टीकार्थ– ***जायन्ते–*** उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होने रूप क्रिया के कर्ता कौन हैं? ***दुपदेसादि खंदा–*** दो प्रदेशों से आरम्भ कर अनन्त अणु—परमाणु पर्यन्त स्कन्ध उत्पन्न होने रूप क्रिया के कर्ता हैं। कौन उत्पन्न होते हैं? ***पुढविजलतेउवाऊ–*** पृथ्वी, जल, तेज, और वायु उत्पन्न होते हैं। वे कैसे उत्पन्न होते हैं? ***सुहुमा वा बादरा–*** वे सूक्ष्म अथवा बादर रूप उत्पन्न होते हैं। और भी वे कैसे हैं? ***ससंठाणा–*** यथासंभव गोल, चौकोर आदि अपने-अपने संस्थान— आकार से सहित हैं। वे किनसे उत्पन्न होते हैं? ***सगपरिणामेहिं–*** अपने-अपने स्निग्ध-रूक्ष परिणाम से उत्पन्न होते हैं।

अब इसका विस्तार करते हैं — जीव वास्तव में टंकोत्कीर्ण (टाँकी से उकेरे हुये के समान स्थिर) ज्ञायक एक रूप से शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव ही हैं, पश्चात् व्यवहार से अनादि कर्मबन्ध की उपाधि के वश शुद्धात्म-स्वभाव को प्राप्त नहीं करते हुये पृथ्वी, जल, तेज (अग्नि), वायु कायिक (शरीरों) में उत्पन्न होते हैं; तथापि अपनी अंतरंग सुख-दुःखादि रूप परिणति (दशाओं) के ही अशुद्ध उपादानकारण हैं, पृथ्वी आदि शरीरों के आकाररूप परिणति के उपादानकारण नहीं हैं। पृथ्वी आदि शरीरों के उपादानकारण क्यों नहीं हैं? यदि ऐसा प्रश्न हो तो उत्तर कहते हैं— वहाँ स्कन्धों की ही उपादानकारणता होने से, जीव उनके उपादानकारण नहीं हैं।

इससे ज्ञात होता है कि जीव पुद्गलपिण्डों का कर्ता नहीं है ॥ १७९ ॥

अथात्मा बन्धकाले बन्धयोग्यपुद्गलान् बहिर्भागान्नैवानयतीत्यावेदयति –

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो ।(१६८)

सुहुमेहि बादरेहि य अप्पाओग्गेहिं जोग्गेहिं ॥ १८० ॥

ओगाढगाढणिचिदो अवगाह्यावगाह्य नैरन्तर्येण निचितो भृतः । स कः । *लोगो* लोकः । कथं भृतः । *सव्वदो* सर्वतः सर्वप्रदेशेषु । कैः कर्तृभूतैः । *पुग्गलकायेहिं* पुद्गलकायैः । किंविशिष्टैः । *सुहुमेहि बादरेहि य* इन्द्रियग्रहणायोग्यैः सूक्ष्मैस्तद्ग्रहणयोग्यैर्बादरैश्च । पुनश्च कथंभूतैः । *अप्पाओग्गेहिं* अतिसूक्ष्मस्थूलत्वेन कर्मवर्गणायोग्यतारहितैः । पुनश्च किंविशिष्टैः । *जोग्गेहिं* अतिसूक्ष्मस्थूलत्वाभावात्कर्मवर्गणायोग्यैरिति ।

अयमत्रार्थः– निश्चयेन शुद्धस्वरूपैरपि व्यवहारेण कर्मोदयाधीनतया पृथिव्यादिपंचसूक्ष्मस्थावरत्वं प्राप्तैर्जीवैर्यथा लोको निरन्तरं भृतस्तिष्ठति तथा पुद्गलैरपि । ततो ज्ञायते यत्रैव शरीरावगाढक्षेत्रे जीवस्तिष्ठति बन्धयोग्यपुद्गला अपि तत्रैव तिष्ठन्ति, न च बहिर्भागाज्जीव आनयतीति ॥ १८० ॥

अब, आत्मा बन्ध के समय बन्ध योग्य पुद्गलों को बहिर्भाग से नहीं लाता है, ऐसा आवेदन करते हैं (मर्यादा पूर्वक ज्ञान कराते हैं) –

अवगाढ़ गाढ़ भरा हुआ सर्वत्र पुद्गल काय से ।

यह लोक बादर-सूक्ष्म से कर्मत्व योग्य अयोग्य से ॥ १८० ॥

गाथार्थ– लोक सर्व ओर से सूक्ष्म -बादर और कर्मत्व के अयोग्य तथा कर्मत्व के योग्य पुद्गल स्कन्धों द्वारा अवगाहित होकर गाढ़रूप से भरा हुआ है ।

टीकार्थ– ***ओगाढगाढणिचिदो–*** अवगाहन - अवगाहन कर अन्तर के बिना परिपूर्ण भरा हुआ है । परिपूर्ण भरा हुआ वह कौन है ? ***लोगो–*** लोक परिपूर्ण भरा हुआ है । वह कैसा भरा हुआ है ? ***सव्वदो–*** सर्व ओर से सभी प्रदेशों में भरा हुआ है । वह कर्ताभूत किनसे भरा हुआ है ? ***पुग्गलकायेहिं–*** वह पुद्गलकायों– स्कन्धों से भरा है । किन विशेषतावाले पुद्गलकायों से भरा है ? ***सुहुमेहि बादरेहि य–*** इन्द्रियों से ग्रहण करने के अयोग्य सूक्ष्म और उनसे ग्रहण करने योग्य बादर पुद्गलकायों से भरा है । और कैसे पुद्गलकायों से भरा है ? ***अप्पाओग्गेहिं–*** अतिसूक्ष्म अथवा अतिस्थूलता के कारण, कर्मवर्गणा सम्बन्धी योग्यता से रहित पुद्गलों से भरा है । और किन विशेषतावाले पुद्गलों से भरा है ? ***जोग्गेहिं–*** अतिसूक्ष्मता और स्थूलता का अभाव होने से कर्मवर्गणा के योग्य पुद्गलकायों से भरा है ।

यहाँ अर्थ यह है–निश्चय से शुद्ध स्वरूप होने पर भी, व्यवहार से कर्म उदय के आधीन होने से, पृथ्वी आदि पाँच सूक्ष्म स्थावरत्व को प्राप्त जीवों से, जैसे लोक निरन्तर भरा रहता है; उसीप्रकार पुद्गलों से भी भरा रहता है । इससे ज्ञात होता है कि जिस शरीर अवगाढ़ क्षेत्र में जीव रहता है, वहीं बन्ध के योग्य पुद्गल भी रहते हैं; जीव उन्हें बाह्य भाग से नहीं लाता है ।

विशेषार्थ– 'आचार्य प्रभाचन्द्र' ने *'सर्वतः'* शब्द को निम्नप्रकार स्पष्ट किया है –

"सर्वतः उर्ध्व-अधो-मध्य-पार्श्वनाभिभागेसु[१]--।

सर्वतः अर्थात् ऊपर, नीचे, मध्य-बीच में, कोनों में, नाभिभागों में ।" ॥ १८० ॥

१- प्रवचनसार गाथा १७८, प्रवचनसार सरोजभास्कर टीका ।

अथ कर्मस्कन्धानां जीव उपादानकर्ता न भवतीति प्रज्ञापयति –

कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा। (१६९)
गच्छंति कम्मभावं ण हि ते जीवेण परिणमिदा॥ १८१॥

कम्मत्तणपाओग्गा खंधा कर्मत्वप्रायोग्याः स्कन्धाः कर्तारः *जीवस्स परिणइं पप्पा* जीवस्य परिणतिं प्राप्य निर्दोषिपरमात्मभावनोत्पन्नसहजानन्दैकलक्षणसुखामृतपरिणतेः प्रतिपक्षभूतां जीवसंबन्धिनीं मिथ्यात्वरागादि-परिणतिं प्राप्य *गच्छंति कम्मभावं* गच्छन्ति परिणमन्ति। कम्। कर्मभावं ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मपर्यायम्। *ण हि ते जीवेण परिणमिदा* न हि नैव ते कर्मस्कन्धा जीवेनोपादानकर्तृभूतेन परिणमिताः परिणतिं नीता इत्यर्थः।

अनेन व्याख्यानेनैतदुक्तं भवति कर्मस्कन्धानां निश्चयेन जीवः कर्ता न भवतीति॥ १८१॥

अब, जीव कर्मस्कन्धों का उपादानकर्ता नहीं है, ऐसा विशेषरूप से ज्ञान कराते हैं —

कर्मत्व योग्य स्कन्ध पाकर परिणमन को जीव के।
हैं कर्म रूप स्वयं हुये ना परिणमित वे जीव से॥ १८१॥

गाथार्थ– कर्मत्व के योग्य स्कन्ध, जीव की परिणति को पाकर, कर्मभाव को प्राप्त होते हैं, वे जीव से परिणमित नहीं किये जाते हैं।

टीकार्थ– ***कम्मत्तणपाओग्गा खंधा–*** कर्मपने को प्राप्त करने योग्य स्कन्धरूपी कर्ता, ***जीवस्स परिणइं पप्पा–*** जीव की परिणति को प्राप्त कर — निर्दोषी परमात्मा की भावना से उत्पन्न सहजानन्द एक लक्षण सुखरूपी अमृतमयी परिणति— पर्याय से विपरीत, जीव सम्बन्धी मिथ्यात्व रागादि परिणति — पर्याय को प्राप्त कर ***गच्छंति कम्मभावं–*** जाते हैं — परिणमन करते हैं। किसरूप परिणमन करते हैं? कर्मभावरूप— ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म पर्यायरूप परिणमन करते हैं। ***ण हि ते जीवेण परिणमिदा–*** वे कर्मस्कन्ध जीवरूप उपादानकर्ता से परिणमित नहीं हैं — परिणमन को प्राप्त नहीं किये जाते हैं।

इस विशेष कथन से यह कहा गया है कि कर्म स्कन्धों का कर्ता निश्चय से जीव नहीं है।

विशेषार्थ– इस गाथा-टीका में कर्म द्वारा प्राप्त जीव-परिणामों को 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने "बहिरंगसाधन" कहा है। वह इसप्रकार —

"समान क्षेत्र में रहनेवाले बहिरंगसाधनरूप जीव के परिणामों का आश्रय कर------"[१] ॥ १८१ ॥

१- प्रवचनसार, गाथा १६९, तत्त्वप्रदीपिका टीका।

अथ शरीराकारपरिणतपुद्गलपिण्डानां जीवः कर्ता न भवतीत्युपदिशति –

ते ते कम्मत्तगदा पोग्गलकाया पुणो वि जीवस्स ।(१७०)
संजायंते देहा देहंतरसंकमं पप्पा ॥ १८२ ॥

ते ते कम्मत्तगदा ते ते पूर्वसूत्रोदिताः कर्मत्वं गता द्रव्यकर्मपर्यायपरिणताः *पोग्गलकाया* पुद्गलस्कन्धाः *पुणो वि जीवस्स* पुनरपि भवान्तरेऽपि जीवस्य *संजायंते देहा* संजायंते सम्यग्जायन्ते देहाः शरीराणीति । किं कृत्वा । *देहंतरसंकमं पप्पा* देहान्तरसंक्रमं भवान्तरं प्राप्य लब्ध्वेति ।

अनेन किमुक्तं भवति – औदारिकादिशरीरनामकर्मरहितपरमात्मानमलभमानेन जीवेन यान्युपार्जिता-न्यौदारिकादिशरीरनामकर्माणि तानि भवान्तरे प्राप्ते सत्युदयमागच्छन्ति, तदुदयेन नोकर्मपुद्गला औदारिकादि-शरीराकारेण स्वयमेव परिणमन्ति । ततः कारणादौदारिकादिकायानां जीवः कर्ता न भवतीति ॥ १८२ ॥

अब, शरीराकार परिणत पुद्गलपिण्डों का जीव कर्ता नहीं है, ऐसा उपदेश देते हैं –

वे कर्मपरिणत काय पुद्गल जीव के पा दूसरा ।
तन परिणमन उत्पन्न करते देह देहान्तर दशा ॥ १८२ ॥

गाथार्थ– वे-वे कर्मरूप परिणमित पुद्गलस्कन्ध,दूसरे शरीररूप परिवर्तन को पाकर,जीव के और भी शरीरों रूप उत्पन्न होते हैं ।

टीकार्थ– ***ते ते कम्मत्तगदा–*** वे-वे पहले (१८१वीं) गाथा में कहे गये कर्मत्व को प्राप्त अर्थात् द्रव्यकर्म पर्यायरूप परिणमित ***पोग्गलकाया–*** पुद्गलस्कन्ध ***पुणो वि जीवस्स–*** फिर से भी – दूसरे भव में भी जीव के ***संजायंते देहा–*** अच्छी तरह से देह – शरीर को उत्पन्न करते हैं । क्या करके शरीर उत्पन्न करते हैं ? ***देहंतरसंकमं पप्पा–*** देहान्तर संक्रम – दूसरे भव को प्राप्त कर शरीर उत्पन्न करते हैं ।

इससे क्या कहा गया है – इस सब कथन का निष्कर्ष क्या है ? औदारिक आदि शरीर नामकर्म से रहित परमात्मा को प्राप्त नहीं करनेवाले जीव द्वारा जो उपार्जित किये गये – बाँधे गये औदारिक आदि शरीर नामकर्म– वे दूसरे भव की प्राप्ति होने पर उदय को प्राप्त होते हैं ; उनका उदय होने पर,नोकर्म पुद्गल औदारिक आदि शरीर के आकाररूप,स्वयं ही परिणमित होते हैं । इसकारण औदारिक आदि शरीरों का,जीव कर्ता नहीं है – ऐसा निष्कर्ष है ॥ १८२ ॥

अथ शरीराणि जीवस्वरूपं न भवन्तीति निश्चिनोति –

ओरालिओ य देहो देहो वेउव्विओ य तेजसिओ ।(१७१)
आहारय कम्मइओ पोग्गलदव्वप्पगा सव्वे ॥ १८३ ॥

ओरालिओ य देहो औदारिकश्च देहः *देहो वेउव्विओ य* देहो वैक्रियकश्च *तेजइओ* तैजसिकः *आहारय कम्मइयो* आहारकः कार्मणश्च *पुग्गलदव्वप्पगा सव्वे* एते पंच देहाः पुद्गलद्रव्यात्मकाः सर्वेऽपि मम स्वरूपं न भवन्ति । कस्मादिति चेत् । ममाशरीरचैतन्यचमत्कारपरिणतत्वेन सर्वदैवाचेतनशरीरत्वविरोधादिति ॥ १८३ ॥

एवं पुद्गलस्कन्धानां बन्धव्याख्यानमुख्यतया द्वितीयस्थले गाथापचकं गतम् ।

इति *'अपदेसो परमाणू'* इत्यादि गाथानवकेन परमाणुस्कन्धभेदभिन्नपुद्गलानां पिण्डनिष्पत्तिव्याख्यानमुख्यतया द्वितीयविशेषान्तराधिकारः समाप्तः ।

अब, शरीर जीव का स्वरूप नहीं है, ऐसा निश्चित करते हैं –

ये देह औदारिक तथा वैक्रियक तैजस देह हैं ।
कार्मण व आहारक सभी ये पुद्गलात्मक देह हैं ॥ १८३ ॥

गाथार्थ– औदारिक शरीर, वैक्रियक शरीर, तैजस शरीर, आहारक शरीर और कार्मण शरीर – ये सब पुद्गलद्रव्यात्मक हैं ।

टीकार्थ– ***ओरालिओ य देहो–*** और औदारिक शरीर, ***देहो वेउव्विओ य–*** वैक्रियक शरीर और ***तेजइओ–*** तैजसिक, ***आहारय कम्मइयो–*** आहारक और कार्मण शरीर ***पुग्गलदव्वप्पगा सव्वे–*** ये पाँचों शरीर पुद्गलद्रव्य स्वरूप हैं; सभी मेरे स्वरूप नहीं हैं । ये मेरे स्वरूप क्यों नहीं हैं ? यदि ऐसा प्रश्न हो तो (उत्तर कहते हैं) – शरीररहित चैतन्य चमत्कार परिणति होने के कारण मेरा, हमेशा ही अचेतन शरीरत्व के साथ विरोध होने से, ये मेरे नहीं हैं ॥ १८३ ॥

इसप्रकार पुद्गलस्कन्धों के बन्ध सम्बन्धी विशेष कथन की मुख्यता से दूसरे स्थल में पाँच गाथायें पूर्ण हुईं ।

इसप्रकार ***"अपदेसो परमाणू-"*** इत्यादि ९ गाथाओं द्वारा परमाणु और स्कन्ध के भेद से भेदित पुद्गलों के पिण्ड की उत्पत्ति सम्बन्धी विशेष कथन की मुख्यता से (दो स्थलों में विभक्त) दूसरा विशेषान्तराधिकार समाप्त हुआ ।

अथैकोनविंशतिगाथापर्यन्तं जीवस्य पुद्गलेन सह बन्धमुख्यतया व्याख्यानं करोति, तत्र षट्स्थलानि भवन्ति। तेष्वादौ *'अरसमरूवं'* इत्यादि शुद्धजीवव्याख्यानेन गाथैका, *'मुत्तो रूवादि'* इत्यादिपूर्वपक्षपरिहारमुख्यतया गाथाद्वयमिति प्रथमस्थले गाथात्रयम्। तदनन्तरं भावबन्धमुख्यत्वेन *'उवओगमओ'* इत्यादि गाथाद्वयम्। अथ परस्परं द्वयोः पुद्गलयोः बन्धो, जीवस्य रागादिपरिणामेन सह बन्धो, जीवपुद्गलयोर्बन्धश्चेति त्रिविधबन्धमुख्यत्वेन *'फासेहि पुग्गलाणं'* इत्यादि सूत्रद्वयम्। ततः परं निश्चयेन द्रव्यबन्धकारणत्वाद्रागादिपरिणाम एव बन्ध इति कथनमुख्यतया *'रत्तो बंधदि'* इत्यादि गाथात्रयम्। अथ भेदभावनामुख्यत्वेन *'भणिदा पुढवी'* इत्यादि सूत्रद्वयम्। तदनन्तरं जीवो रागादिपरिणामानामेव कर्ता, न च द्रव्यकर्मणामिति कथनमुख्यत्वेन *'कुव्वं सहावमादा'* इत्यादि षष्ठस्थले गाथासप्तकम्। यत्र मुख्यत्वमिति वदति तत्र यथासंभवमन्योऽप्यर्थो लभ्यत इति सर्वत्र ज्ञातव्यम्।

एवमेकोनविंशतिगाथाभिस्तृतीयविशेषान्तराधिकारे समुदायपातनिका।

अब १९ गाथा पर्यन्त जीव का पुद्गल के साथ बन्ध की मुख्यता से विशेष कथन करते हैं; वहाँ छह स्थल हैं। उनमें सबसे पहले *'अरसमरूवं'*- इत्यादि शुद्धजीव के विशेष कथनरूप एक गाथा, *'मुत्तो रूवादि-'* इत्यादि पूर्वपक्ष के निराकरण की मुख्यता से दो गाथायें— इसप्रकार पहले स्थल में तीन गाथायें हैं। इसके बाद भावबन्ध की मुख्यता से *'उवओगमओ-'* इत्यादि दूसरे स्थल में दो गाथायें हैं। अब, परस्पर दो पुद्गलों का बन्ध, जीव का रागादि परिणाम के साथ बन्ध और जीव-पुद्गल का बन्ध— इसप्रकार तीन प्रकार के बन्ध की मुख्यता से *'फासेहि पुग्गलाणं-'* इत्यादि तीसरे स्थल में दो गाथायें हैं। उससे आगे निश्चय से द्रव्यबंध का कारण होने से रागादि परिणाम ही बन्ध है — इस कथन की मुख्यता से *'रत्तो बंधदि-'* इत्यादि चौथे स्थल में तीन गाथायें हैं। तदनन्तर भेदभावना की मुख्यता से *'भणिदा पुढवी-'* इत्यादि पाँचवें स्थल में दो गाथायें हैं। तत्पश्चात् जीव रागादि परिणामों का ही कर्ता है और द्रव्यकर्मों का नहीं है — इस कथन की मुख्यता से *'कुव्वं सहावमादा -'* इत्यादि छठवें स्थल में सात गाथायें हैं। जहाँ 'मुख्यता' ऐसा कहा गया है, वहाँ यथासंभव दूसरा भी अर्थ प्राप्त होता है — ऐसा सर्वत्र जानना चाहिये।

इसप्रकार १९ गाथाओं द्वारा तीसरे विशेषान्तराधिकार में सामूहिकपातनिका हुई।

तृतीय विशेषान्तराधिकार-स्थल विभाजन (गाथा १८४ से २०२ पर्यन्त)

स्थल क्रम	स्थल प्रतिपादित प्रधान विषय	गाथायें कहाँ से कहाँ पर्यन्त	कुल गाथायें
प्रथम स्थल	शुद्ध जीव स्वरूप तथा पूर्वपक्ष परिहार	१८४ से १८६	३
द्वितीय स्थल	भावबन्ध की मुख्यता प्रतिपादक	१८७ व १८८	२
तृतीय स्थल	त्रिविध बन्ध प्रतिपादक	१८९ व १९०	२
चतुर्थ स्थल	रागादि परिणाम ही वास्तविक बन्ध प्रतिपादक	१९१ से १९३	३
पंचम स्थल	भेदभावना परक	१९४ व १९५	२
षष्टम स्थल	जीव रागादि का ही कर्ता है, द्रव्यकर्मों का नहीं	१९६ से २०२	७
कुल ६ स्थल		कुल १९ गाथायें	

तद्यथा - अथ किं तर्हि जीवस्य शरीरादिपरद्रव्येभ्यो भिन्नमन्यद्रव्यासाधारणं स्वस्वरूपमिति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति –

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।(१७२)

जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ।। *१८४ ।।

अरसमरूवमगंधं रसरूपगन्धरहितत्वात्तथा चाव्याहार्यमाणास्पर्शरूपत्वाच्च *अव्वत्तं* अव्यक्तत्वात् *असद्दं* अशब्दत्वात् *अलिंगग्गहणं* अलिंगग्रहणत्वात् *अणिद्दिट्ठसंठाणं* अनिर्दिष्टसंस्थानत्वाच्च *जाण जीवं* जानीहि जीवम्। अरसमरूपमगन्धमस्पर्शमव्यक्तमशब्दमलिंगग्रहणमनिर्दिष्टसंस्थानलक्षणं च हे शिष्य, जीवं जीवद्रव्यं जानीहि। पुनरपि कथंभूतम्। *चेदणागुणं* समस्तपुद्गलादिभ्योऽचेतनेभ्यो भिन्नः समस्तान्यद्रव्यासाधारणः स्वकीयानन्तजीवजातिसाधारणश्च चेतनागुणो यस्य तं चेतनागुणं च; अलिंगग्राह्यमिति वक्तव्ये यदलिंगग्रहण-मित्युक्तं तत्किमर्थमिति चेत्, बहुतरार्थप्रतिपत्यर्थम् ।

(अब, तीसरे विशेषान्तराधिकार का शुद्धजीवस्वरूप तथा पूर्वपक्षपरिहार प्रतिपादक तीन गाथाओं में निबद्ध पहला स्थल प्रारम्भ होता है ।)

वह इसप्रकार —

अब, तब शरीरादि परद्रव्यों से भिन्न, अन्य द्रव्यों से असाधारण जीव का अपना स्वरूप क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर उसके प्रति उत्तर देते हैं —

है चेतनागुण जीव अरस अरूप-गंध अव्यक्त है ।

जानो अलिंगग्रहण अशब्द व अनिर्दिष्ट-संस्थान है ।। १८४ ।।

गाथार्थ– जीव को अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, चेतनागुण युक्त, अशब्द, अलिंगग्रहण और अनिर्दिष्टसंस्थान जानो ।

टीकार्थ– ***अरसमरूवमगंधं***– रस-रूप-गंध रहित होने के कारण और उसीप्रकार विविधरूप से ग्रहण करने योग्य नहीं होने से तथा गाथा में जिसका ग्रहण नहीं हो पाया है ऐसा अस्पर्शरूप होने से ***अव्वत्तं***– अव्यक्त होने से, ***असद्दं***– अशब्द होने से, ***अलिंगग्गहणं***– अलिंगग्रहण होने से, ***अणिद्दिट्ठसंठाणं***– और अनिर्दिष्टसंस्थानवाला होने से ***जाण जीवं***– जीव को जानो । हे शिष्य ! जीवद्रव्य को अरस, अरूप, अगन्ध, अस्पर्श, अव्यक्त, अशब्द,अलिंगग्रहण और अनिर्दिष्टसंस्थान लक्षणवाला जानो । और वह जीव कैसा है ? ***चेदणागुणं***– सम्पूर्ण पुद्गलादि अचेतन द्रव्यों से भिन्न, सम्पूर्ण अन्य द्रव्यों से असाधारण और अपनी अनन्त जीव जाति में साधारण चेतनागुण है जिसका, उस चेतनागुणवाले जीव को जानो, तथा ***'अलिंगग्राह्य'***– ऐसा कहने योग्य होने पर भी जो ***'अलिंगग्रहण'***– ऐसा कहा गया है, वह किसलिये कहा गया है ? यदि ऐसा प्रश्न हो तो (उत्तर कहते हैं) अनेक अर्थों का ज्ञान कराने के लिये अलिंगग्राह्य के स्थान पर अलिंगग्रहण कहा गया है ।

---

*प्रस्तुत गाथा समयसार में ४९ वीं, नियमसार में ४६ वीं, पंचास्तिकायसंग्रह में १२७वीं, अष्टपाहुड़-भावपाहुड़ में ६४वीं, धवला पुस्तक ३ में पहली, लघु द्रव्यसंग्रह में ५वीं इत्यादि अनेक ग्रंथों में उपलब्ध है ।

तथा हि - लिंगमिन्द्रियं तेनार्थानां ग्रहणं परिच्छेदनं न करोति तेनालिंगग्रहणो भवति। तदपि कस्मात्। स्वयमेवातीन्द्रियाखण्डज्ञानसहितत्वात्। तेनैव लिंगशब्दवाच्येन चक्षुरादीन्द्रियेणान्यजीवानां यस्य ग्रहणं परिच्छेदनं कर्तुं नायाति तेनालिंगग्रहणं उच्यते। तदपि कस्मात्। निर्विकारातीन्द्रियस्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञान-गम्यत्वात्।

लिंग धूमादि तेन धूमलिंगोद्भवानुमानेनाग्निवदनुमेयभूतपरपदार्थानां ग्रहणं न करोति तेनालिंगग्रहणं इति। तदपि कस्मात्। स्वयमेवालिंगोद्भवातीन्द्रियज्ञानसहितत्वात्। तेनैव लिंगोद्भवानुमानेनाग्निग्रहणवत् परपुरुषाणां यस्यात्मनो ग्रहणं परिज्ञानं कर्तुं नायाति तेनालिंगग्रहणं इति। तदपि कस्मात्। अलिंगोद्भवातीन्द्रि-यज्ञानगम्यत्वात्।

अथवा लिंगं चिन्हं लांछनं शिखाजटाधारणादि तेनार्थानां ग्रहणं परिच्छेदनं न करोति तेनालिंगग्रहणं इति। तदपि कस्मात्। स्वाभाविकाचिन्होद्भवातीन्द्रियज्ञानसहितत्वात्। तेनैव चिन्होद्भवज्ञानेन परपुरुषाणां यस्यात्मनो ग्रहणं परिज्ञानं कर्तुं नायाति तेनालिंगग्रहणं इति। तदपि कस्मात्। निरुपरागस्वसंवेदनज्ञान-गम्यत्वादिति।

एवमलिंगग्रहणशब्दस्य व्याख्यानक्रमेण शुद्धजीवस्वरूपं ज्ञातव्यमित्यभिप्राय : ॥ १८४ ॥

वह इसप्रकार — लिंग अर्थात् इन्द्रिय, उसके द्वारा पदार्थों का ग्रहण अर्थात् ज्ञान नहीं करता है, उससे अलिंगग्रहण है। वह इन्द्रियों द्वारा पदार्थों का ज्ञान क्यों नहीं करता है ? स्वयं ही अतीन्द्रिय अखण्डज्ञान सहित होने के कारण,वह उनके द्वारा पदार्थों का ज्ञान नहीं करता है। उसी लिंग शब्द द्वारा कहने योग्य नेत्र आदि इन्द्रियों से,अन्य जीवों के जिसका ग्रहण — ज्ञान करने को नहीं आता है — जिसका जानना संभव नहीं है, उससे अलिंगग्रहण कहा है। अन्य जीव इसे नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा क्यों नहीं जान सकते हैं ? विकार रहित अतीन्द्रिय स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञान द्वारा गम्य होने से,वे उसे उनके द्वारा नहीं जान सकते हैं।

लिंग अर्थात् धूम (धुँआ) आदि कारण — साधन, उस धूम-लिंग से उत्पन्न अनुमान के द्वारा (ज्ञात हुई) अग्नि के समान अनुमेयभूत (अनुमान द्वारा जानने योग्य) पर पदार्थों का ग्रहण — ज्ञान नहीं करता है, उससे अलिंगग्रहण है। वह लिंग द्वारा पर पदार्थों का ज्ञान क्यों नहीं करता है ? स्वयं ही अलिंग — लिंग के बिना उत्पन्न अतीन्द्रियज्ञान से सहित होने के कारण,वह लिंग द्वारा उनका ज्ञान नहीं करता है। उसी लिंग से उत्पन्न अनुमान द्वारा अग्नि के ज्ञान के समान,दूसरे पुरुषों को जिस आत्मा का ग्रहण — ज्ञान करने को नहीं आता है— जानना संभव नहीं है, उससे अलिंगग्रहण है। लिंग द्वारा अन्य पुरुष इसे क्यों नहीं जान सकते हैं ? लिंग के बिना उत्पन्न अतीन्द्रियज्ञान से गम्य — ज्ञात होने के कारण,वे लिंग द्वारा उसे नहीं जान सकते हैं।

अथवा लिंग अर्थात् चिन्ह—लांछन—निशान ; शिखा—चोटी, जटाधारण आदि, उनसे पदार्थों का ग्रहण—ज्ञान नहीं करता है, उससे अलिंगग्रहण है। वह शिखा आदि चिन्हों द्वारा पदार्थों का ज्ञान क्यों नहीं करता है ? चिन्हों के बिना उत्पन्न स्वाभाविक अतीन्द्रियज्ञान से सहित होने के कारण,वह इनके द्वारा उनका ज्ञान नहीं करता है। उसी चिन्ह से उत्पन्न ज्ञान द्वारा,दूसरे पुरुषों को जिस आत्मा का ग्रहण—ज्ञान करने को नहीं आता है—जानना संभव नहीं है, उससे अलिंगग्रहण है। चिन्ह से उत्पन्न ज्ञान द्वारा दूसरे पुरुष इसे क्यों नहीं जान सकते हैं ? उपराग (रागादि मलिनता) रहित स्वसंवेदनज्ञान द्वारा गम्य होने से,वे इसके द्वारा उसे नहीं जान सकते हैं।

इसप्रकार अलिंगग्रहण* शब्द के विशेष कथन क्रम से शुद्धजीव का स्वरूप जानना चाहिये — ऐसा अभिप्राय है ॥ १८४ ॥

---

* प्रस्तुत गाथा-टीका में 'आचार्य अमृतचंद्र' ने 'अलिंगग्रहण' शब्द का विश्लेषण २० प्रकार से किया है।

अथामूर्तशुद्धात्मनो व्याख्याने कृते सत्यमूर्तजीवस्य मूर्तपुद्गलकर्मणा सह कथं बन्धो भवतीति पूर्वपक्षं करोति –

मुत्तो रूवादिगुणो बज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं ।(१७३)

तव्विवरीदो अप्पा बज्झदि किध पोग्गलं कम्मं ॥ १८५ ॥

मुत्तो रूवादिगुणो मूर्तो रूपरसगन्धस्पर्शत्वात् पुद्गलद्रव्यगुणः *बज्झदि* अन्योन्यसंश्लेषेण बध्यते बन्धमनुभवति, तत्र दोषो नास्ति । कैः कृत्वा । *फासेहिं अण्णमण्णेहिं* स्निग्धरूक्षगुणलक्षणस्पर्शसंयोगैः । किं-विशिष्टैः । अन्योन्यैः परस्परनिमित्तैः ।

तव्विवरीदो अप्पा बज्झदि किध पोग्गलं कम्मं तद्विपरीतात्मा बध्नाति कथं पौद्गलं कर्मेति । अयं परमात्मा निर्विकारपरमचैतन्यचमत्कारपरिणतत्वेन बन्धकारणभूतस्निग्धरूक्षगुणस्थानीयरागद्वेषादिविभावपरिणामर-हितत्वादमूर्तत्वाच्च पौद्गलं कर्म कथं बध्नाति, न कथमपीति पूर्वपक्षः ॥ १८५ ॥

अब, अमूर्त शुद्धात्मा का विशेष कथन किये जाने पर अमूर्त जीव का मूर्त पुद्गल कर्मों के साथ बन्ध कैसे होता है ? ऐसा पूर्वपक्ष — प्रश्न करते हैं —

रूपादि गुणयुत मूर्त बँधते परस्पर स्पर्श से ।

विपरीत उससे जीव बाँधे कर्म पुद्गल को कैसे ? ॥ १८५ ॥

गाथार्थ– रूपादि गुणवाले मूर्तपुद्गल परस्पर स्पर्श द्वारा बँधते हैं, परन्तु उससे विपरीत आत्मा पौद्गलिक कर्म को कैसे बाँधता है ?

टीकार्थ– ***मुत्तोरूवादिगुणो–*** मूर्त रूप, रस, गन्ध, स्पर्श होने से पुद्गलद्रव्य के गुण ***बज्झदि–*** परस्पर संश्लेषरूप से बँधते हैं — बन्ध का अनुभव करते हैं, वहाँ दोष नहीं है । वे किनसे बँधते हैं ? ***फासेहिं अण्णमण्णेहिं–*** वे स्निग्ध-रूक्ष गुण लक्षण स्पर्श के संयोग से बँधते हैं । किन विशेषताओं वाले स्पर्शों से वे बँधते हैं ? परस्पर में निमित्तरूप स्पर्शों से,वे बँधते हैं ।

तव्विवरीदो अप्पा बज्झदि किध पोग्गलं कम्मं– परन्तु उससे विपरीत आत्मा,पुद्गलकर्म को कैसे बाँधता है ? यह परमात्मा विकाररहित परम चैतन्य चमत्कार परिणतिवाला होने से बन्ध के कारणभूत स्निग्ध -रूक्ष गुण के स्थानीय राग-द्वेष आदि विभाव परिणाम से रहित होने के कारण और अमूर्त होने के कारण पुद्गलकर्म को कैसे बाँधता है ? किसी भी प्रकार से नहीं बाँध सकता है — ऐसा पूर्वपक्ष है ।

विशेषार्थ– 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने इस पूर्वपक्ष को ***"चैकांगविकलत्वात्–***[१] एक अंग की विकलता होने से " - इस वाक्य से स्पष्ट किया है, अर्थात् आत्मा अमूर्तिक और पुद्गल मूर्तिक है — इसप्रकार एक अंग विकल है, अतः दोनों का बँध नहीं हो सकता है (ऐसा प्रश्न है) ॥ १८५ ॥

---

१ - प्रवचनसार,गाथा १७३ ,तत्त्वप्रदीपिका टीका ।

अथैवममूर्तस्याप्यात्मनो नयविभागेन बन्धो भवतीति प्रत्युत्तरं ददाति-

रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि।(१७४)

दव्वाणि गुणे य जधा तह बंधो तेण जाणीहि ॥ १८६ ॥

रूवादिएहिं रहिदो अमूर्तपरमचिज्ज्योतिःपरिणतत्वेन तावदयमात्मा रूपादिरहितः। तथाविधः सन् किं करोति। *पेच्छदि जाणादि* मुक्तावस्थायां युगपत्परिच्छित्तिरूपसामान्यविशेषग्राहककेवलदर्शनज्ञानोपयोगेन यद्यपि तादात्म्यसंबन्धो नास्ति तथापि ग्राह्यग्राहकलक्षणसंबन्धेन पश्यति जानाति। कानि कर्मतापन्नानि। *रूवमादीणि दव्वाणि* रूपरसगन्धस्पर्शसहितानि मूर्तद्रव्याणि। न केवलं द्रव्याणि *गुणे य जधा* तद्गुणांश्च यथा।

अथवा यथा कश्चित्संसारी जीवो विशेषभेदज्ञानरहितः सन् काष्ठपाषाणाद्यचेतनजिनप्रतिमां दृष्ट्वा मदीयाराध्योऽयमिति मन्यते। यद्यपि तत्र सत्तावलोकदर्शनेन सह प्रतिमायास्तादात्म्यसंबन्धो नास्ति तथापि परिच्छेद्यपरिच्छेदकलक्षणसंबन्धोऽस्ति। यथा वा समवसरणे प्रत्यक्षजिनेश्वरं दृष्ट्वा विशेषभेदज्ञानी मन्यते मदीयाराध्योऽयमिति। तत्रापि यद्यप्यवलोकनज्ञानस्य जिनेश्वरेण सह तादात्म्यसंबन्धो नास्ति तथाप्याराध्याराधकसंबन्धोऽस्ति। *तह बंधो तेण जाणीहि* तथा बन्धं तेनैव दृष्टान्तेन जानीहि।

अब, ऐसे अमूर्त आत्मा का भी नय-विभाग से बन्ध होता है, ऐसा प्रत्युत्तर देते हैं —

रूपादि द्रव्यों व गुणों को जानता व देखता।

रूपादि बिन त्यों बंध होता जान उनसे जीव का ॥ १८६ ॥

गाथार्थ- रूपादि से रहित आत्मा जिसप्रकार रूपादि द्रव्यों और गुणों को देखता-जानता है, उसीप्रकार उनके साथ बन्ध जानो।

टीकार्थ- ***रूवादिएहिं रहिदो-*** प्रथम तो अमूर्त परम चैतन्य ज्योतिरूप से परिणत होने के कारण यह आत्मा रूपादि रहित है। वैसा होता हुआ वह क्या करता है ? ***पेच्छदि जाणादि-*** सिद्ध अवस्था में यद्यपि एक साथ जानकारीरूप सामान्य-विशेष को ग्रहण करने वाले केवलदर्शन-केवलज्ञान उपयोग के साथ तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है, तथापि ग्रहण करने योग्य— जानने योग्य और ग्रहण करने वाले— जानने वाले अर्थात् ज्ञेय-ज्ञायक लक्षण सम्बन्ध रूप से देखते और जानते हैं। कर्मता को प्राप्त इस गाथा में कर्मकारक में प्रयुक्त किन्हें वे जीव देखते-जानते हैं ? ***रूवमादीणि दव्वाणि-*** वे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श सहित मूर्त द्रव्यों को देखते-जानते हैं। न केवल द्रव्यों को देखते-जानते हैं, वरन् ***गुणे य जधा-*** और जैसे उनके गुणों को देखते-जानते हैं।

अथवा, कोई संसारी जीव, विशेष भेद-ज्ञान से रहित होता हुआ काठ, पत्थर आदि की अचेतन जिन-प्रतिमा को देखकर ये मेरे आराध्य हैं— ऐसा मानता है। यद्यपि वहाँ सत्ता को देखने वाले दर्शन के साथ प्रतिमा का तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं है, तथापि ज्ञेय-ज्ञायक लक्षण सम्बन्ध है। अथवा, जैसे विशेष भेदज्ञानी समवशरण में प्रत्यक्ष जिनेन्द्र भगवान को देखकर, ये मेरे आराध्य हैं— ऐसा मानता है। वहाँ भी यद्यपि अवलोकन ज्ञान का, जिनेश्वर के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं है; तथापि आराध्य-आराधक सम्बन्ध है। ***तह बंधो तेण जाणीहि-*** उसीप्रकार से बंध उसी दृष्टान्त द्वारा जानो।

अयमत्रार्थः– यद्यप्ययमात्मा निश्चयेनामूर्तस्तथाप्यनादिकर्मबन्धवशाद्व्यवहारेण मूर्तः सन् द्रव्यबन्धनिमित्तभूतं रागादिविकल्परूपं भावबन्धोपयोगं करोति। तस्मिन्सति मूर्तद्रव्यकर्मणा सह यद्यपि तादात्म्यसंबन्धो नास्ति तथापि पूर्वोक्तदृष्टान्तेन संश्लेषसंबन्धोऽस्तीति नास्ति दोषः ॥ १८६ ॥

एवं शुद्धबुद्धैकस्वभावजीवकथनमुख्यत्वेन प्रथमगाथा, मूर्तिरहितजीवस्य मूर्तकर्मणा सह कथं बन्धो भवतीति पूर्वपक्षरूपेण द्वितीया, तत्परिहाररूपेण तृतीया चेति गाथात्रयेण प्रथमस्थलं गतम्।

अथ रागद्वेषमोहलक्षणं भावबन्धस्वरूपमाख्याति –

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि।(१७५)

पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं सो बन्धो ॥ १८७ ॥

यहाँ अर्थ यह है— यद्यपि यह आत्मा निश्चय से अमूर्त है, तथापि अनादि कर्मबन्ध के वश व्यवहार से मूर्त होता हुआ, द्रव्यबन्ध के निमित्तभूत रागादि विकल्परूप भावबन्धमय उपयोग को करता है। वैसा होने पर, यद्यपि मूर्तद्रव्यकर्मों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है; तथापि पहले कहे हुये उदाहरण से संश्लेष सबन्ध है— इसमें दोष नहीं है।

विशेषार्थ- अमूर्तिक आत्मा का मूर्त पुद्गलकर्मों के साथ बन्ध के सम्बन्ध में 'आचार्य अमृतचन्द्र' लिखते हैं—

"और यह (आत्मा तथा कर्म का बंध) अत्यन्त दुर्घट होने से द्राष्टान्त रूप किया गया है–ऐसा नहीं है, वरन् दृष्टान्त के माध्यम से आबाल-गोपाल में (इस तथ्य को) प्रकट करते हैं :—"

तदनंतर मिट्टी के बैल अथवा जीवित बैल द्वारा इसे स्पष्ट करते हुये लिखते हैं—

"उसीप्रकार आत्मा के अरूपीत्व होने से, स्पर्श-शून्यता के कारण, कर्म-पुद्गलों के साथ सम्बन्ध नहीं है, एकावगाह भाव से रहने वाले कर्मपुद्गलों के निमित्तरूप, उपयोगारूढ़ राग-द्वेषादि भाव सम्बन्ध, कर्मपुद्गल बन्ध के व्यवहार का साधक ही है।"[१] ॥ १८६ ॥

इसप्रकार शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावी जीव के कथन की मुख्यता से पहली गाथा; मूर्ति रहित—अमूर्त जीव का, मूर्त कर्मों के साथ कैसे बन्ध होता है— इसप्रकार पूर्व पक्ष (प्रश्न) रूप से दूसरी, तथा उसके परिहार (उत्तर) रूप से तीसरी— इसप्रकार तीन गाथाओं द्वारा पहला स्थल समाप्त हुआ।

(अब, भावबन्ध की मुख्यता परक दो गाथाओं में निबद्ध दूसरा स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, राग-द्वेष-मोह लक्षण भावबन्ध का स्वरूप प्रसिद्ध करते हैं—

उपयोगमय है जीव करता मोह राग व द्वेष जो।

पाकर विविध विषयों को उनसे बन्ध करता पुनः वो ॥ १८७ ॥

गाथार्थ- और जो वास्तव में उपयोगमय जीव, विविध विषयों को प्राप्त कर मोह करता है, राग करता है अथवा द्वेष करता है; वह जीव उनके द्वारा बन्धरूप है।

१- प्रवचनसार, गाथा १७४, तत्त्वप्रदीपिका टीका।

उवओगमओ जीवो उपयोगमयो जीवः, अयं जीवो निश्चयनयेन विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगमयस्तावत्तथाभूतोऽप्यनादिबन्धवशात्सोपाधिस्फटिकवत् परोपाधिभावेन परिणतः सन्। किं करोति। *मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि* मुह्यति रज्यति वा प्रद्वेष्टि द्वेषं करोति। किं कृत्वा पूर्वं। *पप्पा* प्राप्य। कान्। *विविधे विसये* निर्विषयपरमात्मस्वरूपभावनाविपक्षभूतान्विविधपंचेन्द्रियविषयान्। *जो हि पुणो* यः पुनरित्थंभूतोऽस्ति जीवो हि स्फुटं, *तेहिं संबंधो* तैः संबद्धो भवति, तैः पूर्वोक्तरागद्वेषमोहैः कर्तृभूतैर्मोहरागद्वेषरहितजीवस्य शुद्धपरिणामलक्षणं परमधर्ममलभमानः सन् स जीवो बद्धो भवतीति।

अत्र योऽसौ रागद्वेषमोहपरिणामः स एव भावबन्ध इत्यर्थः ॥ १८७ ॥

टीकार्थ- ***उवओगमओ जीवो-*** उपयोगमय जीव, प्रथम तो यह जीव निश्चय नय से विशुद्ध ज्ञान-दर्शन उपयोगमय है, ऐसा होने पर भी अनादि बन्ध के वश उपाधि (डाँक) सहित स्फटिक के समान पर उपाधि (रागादि-मलिनता) रूप भाव से परिणत होता हुआ। ऐसा होता हुआ क्या करता है ? ***मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि-*** मोह करता है, राग करता है अथवा द्वेष करता है। पहले क्या करके मोहादि करता है ? ***पप्पा-*** प्राप्त कर मोहादि करता है। किन्हें प्राप्त कर मोहादि करता है ? ***विविधे विसये-*** विषय रहित परमात्म-स्वरूप की भावना से विपरीत, अनेक प्रकार के पंचेन्द्रिय विषयों को प्राप्त कर, मोहादि करता है। ***जो हि पुणो-*** और जो इसप्रकार का जीव है, वह वास्तव में ***तेहिं संबंधो-*** उनके द्वारा बँधता है, उन पहले कहे हुये कर्ताभूत राग-द्वेष-मोह द्वारा, मोह-राग-द्वेष से रहित जीव के शुद्ध परिणाम लक्षण परमधर्म को प्राप्त नहीं करता हुआ, वह जीव बद्ध होता है।

यहाँ जो वह राग-द्वेष-मोह परिणाम है, वही भाव बन्ध है — ऐसा अर्थ है।

विशेषार्थ- 'आचार्य अमृतचन्द्र' आत्मा को उपयोगमय सहेतुक निम्न प्रकार से स्पष्ट करते हैं —

"प्रथम तो यह आत्मा सर्व ही सविकल्प-निर्विकल्प परिच्छेद (जानकारी) स्वरूप होने के कारण उपयोगमय है।"[१]

तदनन्तर बन्ध को स्पष्ट करते हुए बन्ध तो दो में होता है, अकेला आत्मा ही बंधरूप कैसे हो सकता है ? मानो इस प्रश्न का उत्तर देते हुये लिखते हैं —

"——स्वयं उसके (मोह-राग-द्वेषादि) भाव द्वितीय — दूसरे होने के कारण एक ही बन्ध रूप है।"[१] ॥१८७॥

१- प्रवचनसार, गाथा १७५, तत्त्वप्रदीपिका टीका।

अथ भावबन्धयुक्तिं द्रव्यबन्धस्वरूपं च प्रतिपादयति -

भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसये।(१७६)
रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्म त्ति उवदेसो॥ १८८ ॥

भावेण जेण भावेन परिणामेन येन *जीवो* जीवः कर्ता *पेच्छदि जाणादि* निर्विकल्पदर्शनपरिणामेन पश्यति सविकल्पज्ञानपरिणामेन जानाति। किं कर्मतापन्नं, *आगदं विसये* आगतं प्राप्तं किमपीष्टानिष्टं वस्तु पंचेन्द्रियविषये। *रज्जदि तेणेव पुणो* रज्यते तेनैव पुनः आदिमध्यान्तवर्जितं रागादिदोषरहितं चिज्ज्योतिःस्वरूपं निजात्मद्रव्यमरोचमानस्तथैवाजानन् सन् समस्तरागादिविकल्पपरिहारेणाभावयंश्च तेनैव पूर्वोक्तज्ञानदर्शनोपयोगेन रज्यते रागं करोति इति भावबन्धयुक्तिः *बज्झदि कम्म त्ति उवदेसो* तेन भावबन्धेन नवतरद्रव्यकर्म बध्नातीति द्रव्यबन्धस्वरूपं चेत्युपदेशः ॥ १८८ ॥

एवं भावबन्धकथनमुख्यतया गाथाद्वयेन द्वितीयस्थलं गतम्।

अब, भावबन्ध की युक्ति और द्रव्य बन्ध का स्वरूप कहते हैं—

जिस भाव से आगत विषय को जानता व देखता।
हो जीव रागी तो उसी से कर्म बँधते हैं, कहा॥ १८८ ॥

गाथार्थ- जीव जिस भाव से (इन्द्रियों को) प्राप्त हुये विषयों को देखता व जानता है, उसी से राग करता है और कर्म बाँधता है — ऐसा (जिनेन्द्र भगवान का) उपदेश है।

टीकार्थ- ***भावेण जेण-*** जिस भाव — परिणाम से ***जीवो-*** जीवरूपी कर्ता ***पेच्छदि जाणादि-*** निर्विकल्प दर्शनरूप पर्याय से देखता है और सविकल्प ज्ञानरूप पर्याय से जानता है। कर्मता को प्राप्त किसे जानता है ? ***आगदं विसये-*** आये हुये — प्राप्त हुये कुछ भी इष्ट-अनिष्ट वस्तु—पंचेन्द्रिय विषयों को देखता व जानता है, उन पंचेन्द्रिय विषयों में। ***रज्जदि तेणेव पुणो-*** उसी से फिर राग करता है, आदि-मध्य-अन्त से रहित, रागादि दोष रहित, चैतन्य ज्योति स्वरूप, निज आत्मद्रव्य की रुचि नहीं करता हुआ तथा उसे ही नहीं जानता हुआ और सम्पूर्ण रागादि विकल्पों के त्यागपूर्वक उसकी ही भावना नहीं करता हुआ, पहले कहे गये ज्ञान-दर्शन उपयोग द्वारा राग करता है—इसप्रकार भाव बन्ध की युक्ति है। ***बज्झदि कम्म त्ति उवदेसो-*** उस भावबन्ध से नवीन द्रव्यकर्म बँधता है— ऐसा द्रव्य बन्ध का स्वरूप है;—ऐसा उपदेश है ॥ १८८ ॥

इसप्रकार भावबन्ध कथन की मुख्यता से दो गाथाओं द्वारा दूसरा स्थल पूर्ण हुआ।

अथ पूर्वनवतरपुद्गलद्रव्यकर्मणोः परस्परबन्धो, जीवस्य तु रागादिभावेन सह बन्धो, जीवस्यैव नवतर-द्रव्यकर्मणा सह चेति त्रिविधबन्धस्वरूपं प्रज्ञापयति –

फासेहिं पोग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादीहिं। (१७७)

अण्णोण्णस्सवगाहो पोग्गलजीवप्पगो भणिदो ॥ १८९ ॥

फासेहिं पुग्गलाणं बंधो स्पर्शैः पुद्गलानां बन्धः। पूर्वनवतरपुद्गलद्रव्यकर्मणोर्जीवगतरागादिभाव-निमित्तेन स्वकीयस्निग्धरूक्षोपादानकारणेन च परस्परस्पर्शसंयोगेन योऽसौ बन्धः स पुद्गलबन्धः। *जीवस्स रागमादीहिं* जीवस्य रागादिभिः। निरुपरागपरमचैतन्यरूपनिजात्मतत्त्वभावनाच्युतस्य जीवस्य यद्रागादिभिः सह परिणमनं स जीवबन्ध इति। *अण्णोण्णस्सवगाहो पुग्गलजीवप्पगो भणिदो* अन्योन्यस्यावगाहः पुद्गलजीवात्मको भणितः। निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानरहितत्वेन स्निग्धरूक्षस्थानीयरागद्वेषपरिणतजीवस्य बन्धयोग्यस्निग्ध-रूक्षपरिणामपरिणतपुद्गलस्य च योऽसौ परस्परावगाहलक्षणः स इत्थंभूतबन्धो जीवपुद्गलबन्ध इति त्रिविधबन्धलक्षणं ज्ञातव्यम् ॥ १८९ ॥

(अब, त्रिविधबन्ध प्रतिपादक दो गाथाओं में निबद्ध तीसरा स्थल प्रारम्भ होता है)

अब, पहले और नवीन (बँधे हुये) पुद्गल द्रव्यकर्मों का परस्पर बंध, जीव का रागादि भाव के साथ बन्ध और जीव का ही नवीन द्रव्यकर्मों के साथ बन्ध —इसप्रकार तीन प्रकार के बंध-स्वरूप का विशेष रूप से ज्ञान कराते हैं —

है पुद्गलों का बंध स्पर्शों से, होता जीव का।

रागादि से, अन्योन्य का अवगाह उभयात्मक कहा ॥ १८९ ॥

गाथार्थ- स्पर्शों से पुद्गल का बन्ध, रागादि से जीव का बन्ध और परस्पर का अवगाह पुद्गल जीवात्मक बंध कहा गया है।

टीकार्थ- ***फासेहिं पुग्गलाणं बंधो-*** स्पर्शों से पुद्गलों का बन्ध। पहले के और नवीन पुद्गल द्रव्यकर्मों का, जीवगत रागादि भावों के निमित्त से और अपने स्निग्ध और रूक्षरूप उपादान कारण से परस्पर स्पर्श के संयोग द्वारा जो वह बन्ध है, वह पुद्गलबन्ध है। ***जीवस्स रागमादीहिं-*** जीव का रागादि से। उपराग (मलिनता) रहित परम चैतन्यरूप निजात्मतत्त्व की भावना से च्युत जीव का, जो रागादि के साथ परिणमन है, वह जीवबन्ध है। ***अण्णोण्णस्सवगाहो पुग्गलजीवप्पगो भणिदो-*** परस्पर का अवगाह पुद्गल-जीवात्मक कहा गया है। विकार रहित-स्वसंवेदन ज्ञान से रहित होने के कारण, स्निग्ध-रूक्ष के स्थानीय राग-द्वेष रूप परिणत जीव का और बन्ध योग्य स्निग्ध-रूक्ष परिणाम परिणत पुद्गल का, जो वह परस्पर अवगाह लक्षण बन्ध है, वह इसप्रकार का बंध जीव-पुद्गल बंध— उभय बंध कहलाता है;—इसप्रकार तीन प्रकार के बंधों का लक्षण जानना चाहिये ॥ १८९ ॥ *

---

* 'पाण्डे राजमल्लजी' ने भी तीन प्रकार के बंधों को स्पष्ट किया है, एतदर्थ 'पंचाध्यायी' द्वितीय अधिकार संस्कृत पद्य ४४ से ४८ पर्यन्त पठनीय हैं।

अथ *'बंधो जीवस्स रागमादीहिं'* पूर्वसूत्रे यदुक्तं तदेव रागत्वं द्रव्यबन्धस्य कारणमिति विशेषेण समर्थयति-

सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पोग्गला काया।(१७८)
पविसंति जहाजोग्गं चिट्ठंति हि जंति बज्झंति॥ १९०॥

सपदेसो सो अप्पा स प्रसिद्धात्मा लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशत्वात्तावत्सप्रदेशः। *तेसु पदेसेसु पुग्गला काया* तेषु प्रदेशेषु कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलकायाः कर्तारः *पविसंति* प्रविशन्ति। कथम्। *जहाजोग्गं* मनोवचनकायवर्गणालम्बनवीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणयोगानुसारेण यथायोग्यम्। न केवलं प्रविशन्ति *चिट्ठंति हि* प्रवेशानन्तरं स्वकीयस्थितिकालपर्यन्तं तिष्ठन्ति हि स्फुटम्। न केवलं तिष्ठन्ति *जंति* स्वकीयोदयकालं प्राप्य फलं दत्वा गच्छन्ति। *बज्झंति* केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपमोक्षप्रतिपक्षभूतबन्धस्य कारणं रागादिकं लब्ध्वा पुनरपि द्रव्यबन्धरूपेण बध्यन्ते च।

अत एतदायातं रागादिपरिणाम एव द्रव्यबन्धकारणमिति।

अथवा द्वितीयव्याख्यानम्-प्रविशन्ति प्रदेशबन्धास्तिष्ठन्ति स्थितिबन्धाः फलं दत्वा गच्छन्त्यनुभागबन्धा बध्यन्ते प्रकृतिबन्धा इति॥ १९०॥

एवं त्रिविधबन्धमुख्यतया सूत्रद्वयेन तृतीयस्थलं गतम्।

अब, ***"बंधो जीवस्स रागमादीहिं***- जीव का रागादि से बन्ध" पहले (१८९वीं द्वितीय चरण) गाथा में जो कहा था, वही रागत्व द्रव्य बन्ध का कारण है, ऐसा विशेषरूप से समर्थन करते हैं —

वह सप्रदेशी आतमा उन प्रदेशों में प्रविष्ट हैं।
पुद्गल समूह वे यथोचित रहते हैं जाते बँधते हैं॥ १९०॥

गाथार्थ- वह आत्मा सप्रदेश है, उन प्रदेशों में पुद्गल समूह प्रवेश करते हैं, यथायोग्य रहते हैं, जाते हैं, बँधते हैं।

टीकार्थ- ***सपदेसो सो अप्पा***- प्रथम तो वह प्रसिद्ध आत्मा लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी होने से सप्रदेश है। ***तेसु पदेसेसु पुग्गला काया***- उन प्रदेशों में कर्म वर्गणा के योग्य पुद्गल समूहरूप कर्ता ***पविसंति***- प्रवेश करते हैं। वे उनमें कैसे प्रवेश करते हैं ? ***जहाजोग्गं***- मन-वचन-काय वर्गणा के आलम्बन तथा वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न आत्मप्रदेशों में परिस्पन्द लक्षण योग के अनुसार, यथायोग्य प्रवेश करते हैं। मात्र प्रवेश नहीं करते, वरन् ***चिट्ठंति हि***- प्रवेश के बाद वास्तव में अपनी स्थिति के समय तक रहते हैं। मात्र रहते नहीं हैं, अपितु ***जंति***- अपने उदयकाल को प्राप्त कर फल देकर चले जाते हैं। ***बज्झंति***- तथा केवलज्ञान आदि अनन्त चतुष्टय की प्रगटतारूप मोक्ष से विपरीत बंध के कारण रागादिक को प्राप्त कर पुनः द्रव्यब[illegible] रूप से बँधते हैं।

इससे यह निश्चय हुआ, कि रागादि परिणाम ही द्रव्यबन्ध के कारण हैं।

अथवा दूसरा विशेष कथन—प्रवेश करते हैं अर्थात् प्रदेश बंध, ठहरते हैं अर्थात् स्थिति बंध, फल देकर चले जाते हैं अर्थात् अनुभाग बन्ध और बँधते हैं अर्थात् प्रकृति बंध — इसप्रकार बंध के चार भेद इन चार शब्दों द्वारा कहे गये हैं॥ १९०॥

इसप्रकार तीन प्रकार के बन्ध की मुख्यता से दो गाथाओं द्वारा तीसरा स्थल पूर्ण हुआ।

अथ द्रव्यबन्धकारणत्वान्निश्चयेन रागादिविकल्परूपो भावबन्ध एव बन्ध इति प्रज्ञापयति –

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा। (१७९)

एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥ १९१ ॥

रत्तो बंधदि कम्मं रक्तो बध्नाति कर्म। रक्त एव कर्म बध्नाति, न च वैराग्यपरिणतः। *मुंचदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा* मुच्यते कर्मभ्यां रागरहितात्मा। मुच्यत एव शुभाशुभकर्मभ्यां रागरहितात्मा, न च बध्यते। *एसो बंधसमासो* एष प्रत्यक्षीभूतो बन्धसंक्षेपः। *जीवाणं* जीवानां सम्बन्धी। *जाण णिच्छयदो* जानीहि त्वं हे शिष्य, निश्चयतो निश्चयनयाभिप्रायेणेति।

एवं रागपरिणाम एव बन्धकारणं ज्ञात्वा समस्तरागादिविकल्पजालत्यागेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मतत्त्वे निरन्तरं भावना कर्तव्येति ॥ १९१ ॥

(अब, रागादि परिणाम ही वास्तविक बन्ध है, इस तथ्य का प्रतिपादक तीन गाथाओं में निबद्ध चौथा स्थल प्रारम्भ होता है ।)

अब, द्रव्य बन्ध का कारण होने से निश्चय से रागादि विकल्परूप भावबन्ध ही बन्ध है, ऐसा विशेष रूप से ज्ञान कराते हैं—

है रक्त बाँधे कर्म और विरक्त छूटे कर्म से।

ये बंध का संक्षेप है जीवों का जानो नियम से ॥ १९१ ॥

गाथार्थ- रागी आत्मा कर्म बाँधता है, राग रहित आत्मा कर्मों से मुक्त होता है, निश्चय से यह जीवों के बन्ध का संक्षेप जानो ।

टीकार्थ- *रत्तो बंधदि कम्मं*- रक्त (रागादि से रँगा हुआ) कर्म बाँधता है । रक्त ही कर्म बाँधता है और वैराग्य परिणत कर्म नहीं बाँधता है । ***मुंचदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा*-** रागरहित आत्मा कर्मों से छूटता है । राग रहित आत्मा शुभाशुभ कर्मों से छूटता ही है, बँधता नहीं है । ***एसो बंधसमासो*-** प्रत्यक्षीभूत बन्ध का यह संक्षेप है । ***जीवाणं*-** जीवों सम्बन्धी । ***जाण णिच्छयदो*-** हे शिष्य ! तुम जानो, निश्चय से — निश्चयनय के अभिप्राय से ।

इसप्रकार राग परिणाम ही बन्ध का कारण है — ऐसा जानकर सम्पूर्ण रागादि विकल्प समूहों के त्याग पूर्वक विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभावी निजात्मतत्त्व में निरन्तर भावना करना चाहिये ॥ १९१ ॥ *

---

* यही भाव 'आचार्य कुन्दकुन्ददेव' ने 'समयसार' गाथा १५० वीं द्वारा तथा 'आचार्य पूज्यपाद' ने 'इष्टापदेश' पद्य २६ के द्वारा व्यक्त किया है ।

अथ जीवपरिणामस्य द्रव्यबन्धसाधकं रागाद्युपाधिजनितभेदं दर्शयति–

परिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो ।(१८०)

असुहो मोहपदोसो सुहो व असुहो हवदि रागो ॥ १९२ ॥

परिणामादो बंधो परिणामात्सकाशाद्बन्धो भवति । स च परिणामः किंविशिष्टः । *परिणामो रागदोसमोहजुदो* वीतरागपरमात्मनो विलक्षणत्वेन परिणामो रागद्वेषमोहोपाधित्रयेण संयुक्तः । *असुहो मोहपदोसो* अशुभौ मोहप्रद्वेषौ । परोपाधिजनितपरिणामत्रयमध्ये मोहप्रद्वेषद्वयमशुभम् । *सुहो व असुहो हवदि रागो* शुभोऽशुभो वा भवति रागः । पंचपरमेष्ठ्यादिभक्तिरूपः शुभराग उच्यते, विषयकषायरूपश्चाशुभ इति ।

अयं परिणामः सर्वोऽपि सोपाधित्वात् बन्धहेतुरिति ज्ञात्वा बन्धे शुभाशुभसमस्तरागद्वेषविनाशार्थं समस्तरागाद्युपाधिरहिते सहजानन्दैकलक्षणसुखामृतस्वभावे निजात्मद्रव्ये भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥ १९२ ॥

अथ द्रव्यरूपपुण्यपापबन्धकारणत्वाच्छुभाशुभपरिणामयोः पुण्यपापसंज्ञां शुभाशुभरहितशुद्धोपयोगपरिणामस्य मोक्षकारणत्वं च कथयति –

अब, द्रव्यबन्ध को साधने वाले रागादि की उपाधि (संयोग) से उत्पन्न जीव-परिणाम के भेद दिखाते हैं–

है बन्ध जिन परिणाम से वे राग-द्वेष-विमोह युत ।

है मोह व प्रद्वेष अशुभ व राग शुभ वा अशुभयुत ॥ १९२ ॥

गाथार्थ- परिणाम से बन्ध है । परिणाम राग-द्वेष-मोह सहित हैं, (उनमें से) मोह और द्वेष अशुभ हैं तथा राग शुभ और अशुभ होता है ।

टीकार्थ- *परिणामादो बंधो-* परिणाम से बन्ध होता है । और वह परिणाम किस विशेषता वाला है ? ***परिणामो रागदोषमोहजुदो-*** वीतराग परमात्मा से विलक्षण होने के कारण परिणाम राग-द्वेष-मोह तीन रूप उपाधि (संयोग) से सहित है । ***असुहो मोहपदोसो-*** मोह और द्वेष अशुभरूप हैं । पर की उपाधि से उत्पन्न तीनों परिणामों में से मोह और द्वेष — दोनों अशुभ हैं । ***सुहो व असुहो हवदि रागो-*** राग शुभ तथा अशुभ होता है । पंच परमेष्ठी की भक्ति आदि रूप राग शुभ राग तथा विषय-कषाय रूप राग अशुभ राग कहलाता है ।

यह सभी परिणाम सोपाधि (संयोग सहित) होने से बन्ध के कारण हैं — ऐसा जानकर बन्ध के प्रकरण में शुभ-अशुभ सम्पूर्ण राग-द्वेष को नष्ट करने के लिये सम्पूर्ण रागादि उपाधि रहित सहजानन्द एक लक्षण सुख रूपी अमृत स्वभावी निजात्मद्रव्य में भावना करना चाहिये — ऐसा तात्पर्य है ॥ १९२ ॥

अब, द्रव्यरूप पुण्य और पाप के बन्ध का कारण होने से, शुभ और अशुभ परिणामों का पुण्य और पाप नाम तथा शुभ और अशुभ से रहित शुद्धोपयोग परिणाम के मोक्ष की कारणता को कहते हैं —

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावं ति भणिदमण्णेसु ।(१८१)

परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये ॥ १९३ ॥

सुहपरिणामो पुण्णं द्रव्यपुण्यबन्धकारणत्वाच्छुभपरिणामः पुण्यं भण्यते। *असुहो पावं ति भणियं* द्रव्यपापबन्धकारणत्वादशुभपरिणामः पापं भण्यते। केषु विषयेषु योऽसौ शुभाशुभपरिणामः। *अण्णेसु* निजशुद्धात्मनः सकाशादन्येषु शुभाशुभबहिर्द्रव्येषु। *परिणामो णण्णगदो* परिणामो नान्यगतोऽनन्यगतः स्वस्वरूपस्थ इत्यर्थः। स इत्थंभूतः शुद्धोपयोगलक्षणः परिणामः *दुक्खक्खयकारणं* दुःखक्षयकारणं दुःखक्षयाभिधानमोक्षस्य कारणं *भणिदो* भणितः। क्व भणितः। *समये* परमागमे लब्धिकाले वा।

किंच, मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभपरिणामो भवतीति पूर्वं भणितमास्ते, अविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतसंज्ञगुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभपरिणामश्च भणितः, अप्रमत्तादिक्षीणकषायान्तगुणस्थानेषु तारतम्येन शुद्धोपयोगोऽपि भणितः। नयविवक्षायां मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तगुणस्थानेषु पुनरशुद्धनिश्चयनयो भवत्येव।

है पुण्य शुभ परिणाम अन्यों में अशुभ यह पाप है।

है आत्मगत परिणाम कारण दुःखक्षय का शास्त्र में ॥ १९३ ॥

गाथार्थ- दूसरों के प्रति शुभ परिणाम पुण्य और अशुभ परिणाम पाप है। तथा अनन्यगत (दूसरों के प्रति प्रवर्तमान न होने वाले) परिणाम दुःखों के विनाश के कारण हैं—ऐसा समय — आगम में कहा गया है।

टीकार्थ- ***सुहपरिणामो पुण्णं-*** द्रव्य-पुण्यबन्ध का कारण होने से शुभ परिणाम पुण्य कहलाता है। ***असुहो पावं ति भणियं-*** द्रव्य-पापबन्ध का कारण होनें से अशुभ परिणाम पाप कहलाता है। जो ये शुभ-अशुभ परिणाम हैं, वे किन विषयों में गये हुये पुण्य-पाप रूप कहे हैं ? ***अण्णेसु-*** निज शुद्धात्मा से भिन्न, दूसरे शुभ-अशुभ बाह्य द्रव्यों में गये हुये पुण्य-पाप रूप कहे गये हैं। ***परिणामो णण्णगदो-*** परिणाम दूसरे में गये हुये नहीं हैं अर्थात् अनन्यगत— अपने स्वरूप में स्थित हैं— ऐसा अर्थ है। वह इसप्रकार का शुद्धोपयोग लक्षण परिणाम ***दुक्खक्खयकारणं-*** दुःखक्षय का कारण— दुःखों का विनाश नामक मोक्ष का कारण ***भणिदो-*** कहा गया है। वह मोक्ष का कारण कहाँ कहा गया है ? ***समये-*** परमागम में वह मोक्ष का कारण कहा गया है। अथवा वह मोक्ष का कारण कब कहा गया है ? वह काललब्धि में–समय की प्राप्ति होने पर मोक्ष का कारण कहा गया है।

विशेष यह है— मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र— इन तीन गुणस्थानों में तारतम्य (हानिगत) रूप से अशुभ परिणाम होता है— ऐसा पहले (९ वीं गाथा की टीका में) कहा था और अविरत, देशविरत प्रमत्तसंयत नामक तीन गुणस्थानों में तारतम्य (वृद्धिंगत) रूप से शुभ परिणाम कहा था, तथा अप्रमत्तादि क्षीणकषाय (सातवें से बारहवें) पर्यन्त गुणस्थानों में तारतम्य (वृद्धिंगत) रूप शुद्धोपयोग भी कहा था। तथा नय की विवक्षा में मिथ्यादृष्टि आदि क्षीणकषाय पर्यन्त गुणस्थानों में अशुद्ध-निश्चयनय होता ही है।

तत्राशुद्धनिश्चयमध्ये शुद्धोपयोगः कथं लभ्यत इति शिष्येण पूर्वपक्षे कृते सति प्रत्युत्तरं ददाति-वस्त्वेकदेशपरीक्षा तावन्नयलक्षणं, शुभाशुभशुद्धद्रव्यावलम्बनमुपयोगलक्षणं चेति, तेन कारणेनाशुद्धनिश्चय-मध्येऽपि शुद्धात्मावलम्बनत्वात् शुद्धध्येयत्वात् शुद्धसाधकत्वाच्च शुद्धोपयोगपरिणामो लभ्यत इति नयलक्षण-मुपयोगलक्षणं च यथासंभवं सर्वत्र ज्ञातव्यम् ।

अत्र योऽसौ रागादिविकल्पोपाधिरहितसमाधिलक्षणशुद्धोपयोगो मुक्तिकारणं भणितः स तु शुद्धात्म-द्रव्यलक्षणाद्ध्येयभूताच्छुद्धपारिणामिकभावादभेदप्रधानद्रव्यार्थिकनयेनाभिन्नोऽपि भेदप्रधानपर्यायार्थिकनयेन भिन्नः । कस्मादिति चेत् । अयमेकदेशनिरावरणत्वेन क्षायोपशमिकखण्डज्ञानव्यक्तिरूपः, स च पारिणामिकः सकलावरणरहितत्वेनाखण्डज्ञानव्यक्तिरूपः, अयं तु सादिसान्तत्वेन विनश्वरः, स च अनाद्यनन्तत्वेनाविन-श्वरः । यदि पुनरेकान्तेनाभेदो भवति तर्हि घटोत्पत्तौ मृत्पिण्डविनाशवत् ध्यानपर्यायविनाशे मोक्षे जाते सति ध्येयरूपपारिणामिकस्यापि विनाशो भवतीत्यर्थः । तत एव ज्ञायते शुद्धपारिणामिकभावो ध्येयरूपो भवति, ध्यानभावनारूपो न भवति । कस्मात् । ध्यानस्य विनश्वरत्वादिति ॥ १९३ ॥

वहाँ अशुद्ध-निश्चयनय के बीच शुद्धोपयोग कैसे प्राप्त होता है ? ऐसा शिष्य द्वारा पूर्वपक्ष (प्रश्न) किये जाने पर उसके प्रति उत्तर देते हैं — प्रथम तो वस्तु की एकदेश परीक्षा नय का लक्षण है और शुभ-अशुभ अथवा शुद्ध द्रव्य का अवलम्बन उपयोग का लक्षण है;इसप्रकार अशुद्ध-निश्चय के बीच में भी शुद्धात्मा का अवलम्बन होने से, शुद्ध ध्येय होने से और शुद्ध का साधक होने से, शुद्धोपयोग परिणाम प्राप्त होता है— ऐसा नय का और उपयोग का लक्षण यथासंभव सब जगह जानना चाहिये ।

यहाँ जो यह रागादि विकल्पों की उपाधि रहित समाधि लक्षण शुद्धोपयोग मुक्ति का कारण कहा गया है, वह शुद्धात्मद्रव्य का लक्षण होने से, ध्येयभूत शुद्ध पारिणामिक भाव से अभेद-प्रधान-द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा अभिन्न होने पर भी, भेद-प्रधान-पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा भिन्न है ।यह शुद्धोपयोग भिन्न क्यों है ? यदि ऐसा प्रश्न हो तो (उत्तर देते हैं)— यह शुद्धोपयोग एक देश आवरण रहित होने से,क्षायोपशमिक खण्डज्ञान की प्रगटता रूप है और वह पारिणामिक भाव सम्पूर्ण आवरणों से रहित होने के कारण,अखण्डज्ञान की प्रगटता रूप है, यह सादि-सान्त होने से नश्वर है और वह अनादि-अनन्त होने से अविनश्वर है । और यदि एकान्त से अभेद होता,तो घड़े की उत्पत्ति में मिट्टी-पिण्ड के विनाश के समान, ध्यान पर्याय के विनाश में मोक्ष उत्पन्न होने पर,ध्येयरूप पारिणामिक का भी विनाश हो जाता—ऐसा अर्थ है । इससे ही ज्ञात होता है कि शुद्ध-पारिणामिक-भाव ध्येयरूप है, ध्यान भावना रूप नहीं है । वह ध्यान भावनारूप क्यों नहीं है ? ध्यान के विनाशशील होने से वह ध्यान भावनारूप नहीं है ।

विशेषार्थ- १. 'समयसार' 'तात्पर्यवृत्ति' टीका में भी 'आचार्य जयसेन' शुद्ध-पारिणामिक-भाव का स्वरूप बताते हुये एक सिद्धान्त वाक्य को उद्धृत करते हैं । वह इसप्रकार है—

"और वैसा सिद्धान्त में कहा है—'शुद्ध पारिणामिक निष्क्रिय है';'निष्क्रिय' का क्या अर्थ है ? बन्ध की कारणभूत जो रागादि परिणतिरूप क्रिया, इसरूप नहीं होता है । और मोक्ष की कारणभूत जो शुद्ध भावना परिणति रूप क्रिया—उस रूप भी नहीं होता है ।"

तत्पश्चात् निष्कर्ष रूप में लिखते हैं कि ध्यान के नश्वर होने से,शुद्ध-पारिणामिक-भाव ध्येयरूप है; ध्यान रूप नहीं है । तथा यहाँ उपर्युक्त कथन की पुष्टि में 'योगीन्द्रदेव' कृत 'परमात्मप्रकाश' का दोहा ६८वाँ भी उद्धृत किया है ।

२. श्री 'ब्रह्मदेव सूरी' ने भी 'वृहद्-द्रव्यसंग्रह' संस्कृत व्याख्या गाथा १३ में भी इसी सिद्धान्त को स्पष्ट किया है ॥ १९३ ॥

एवं द्रव्यबन्धकारणत्वात् मिथ्यात्वरागादिविकल्परूपो भावबन्ध एव निश्चयेन बन्ध इति कथनमुख्यतया गाथात्रयेण चतुर्थस्थलं गतम्।

अथ जीवस्य स्वद्रव्यप्रवृत्तिपरद्रव्यनिवृत्तिनिमित्तं षड्जीवनिकायैः सह भेदविज्ञानं दर्शयति –

भणिदा पुढविप्पमुहा जीवणिकायाध थावरा य तसा।(१८२)
अण्णा ते जीवादो जीवो वि य तेहिंदो अण्णो॥ १९४॥

भणिदा पुढविप्पमुहा भणिताः परमागमे कथिताः पृथ्वीप्रमुखाः। ते के। *जीवणिकाया* जीवसमूहाः। *अध* अथ। कथंभूताः। *थावरा य तसा* स्थावराश्च त्रसाः। ते च किंविशिष्टाः। *अण्णा ते* अन्ये भिन्नास्ते। कस्मात्। *जीवादो* शुद्धबुद्धैकजीवस्वभावात्। *जीवो वि य तेहिंदो अण्णो* जीवोऽपि च तेभ्योऽन्य इति।

तथाहि- टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावपरमात्मतत्त्वभावनारहितेन जीवेन यदुपार्जितं त्रसस्थावरनामकर्म तदुदयजनितत्वादचेतनत्वाच्च त्रसस्थावरजीवनिकायाः शुद्धचैतन्यस्वभावजीवाद्भिन्नाः। जीवोऽपि च तेभ्यो विलक्षणत्वाद्भिन्न इति। अत्रैवं भेदविज्ञाने जाते सति मोक्षार्थी जीवः स्वद्रव्ये प्रवृत्तिं परद्रव्ये निवृत्तिं च करोतीति भावार्थः॥ १९४॥

इसप्रकार द्रव्य-बन्ध का कारण होने से मिथ्यात्व-रागादि विकल्प रूप भाव-बन्ध ही, निश्चय से बन्ध है— ऐसे कथन की मुख्यता से, तीन गाथाओं द्वारा चौथा स्थल पूर्ण हुआ।

(अब, भेदभावना परक दो गाथाओं वाला पाँचवा स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, जीव को छह जीव-निकायों (षट्काय जीवों) के साथ स्वद्रव्य में प्रवृत्ति और परद्रव्य से निवृत्ति के निमित्त भेदविज्ञान को दिखाते हैं —

जो जीव-काय कहे गये भू आदि थावर त्रस सभी।
वे जीव से हैं अन्य, उनसे जीव भी है अन्य ही॥ १९४॥

गाथार्थ- अब, जो पृथ्वी प्रमुख (आदि) स्थावर और त्रस जीव-निकाय कहे गये हैं, वे जीव से भिन्न हैं, जीव भी उनसे भिन्न हैं।

टीकार्थ- ***भणिदा पुढविप्पमुहा-*** परमागम में पृथ्वी प्रमुख कहे गये हैं। पृथ्वी आदि वे कौन हैं? ***जीवणिकाया-*** पृथ्वी आदि वे जीव-निकाय हैं—जीव-समूह हैं। ***अध-*** अब, वे पृथ्वी आदि कैसे हैं? ***थावरा य तसा-*** वे स्थावर और त्रस रूप हैं। और वे किस विशेषता वाले हैं? ***अण्णा ते-*** वे अन्य—भिन्न हैं। वे किससे भिन्न हैं? ***जीवादो-*** वे शुद्ध-बुद्ध एक जीव स्वभाव से भिन्न हैं। ***जीवो वि य तेहिंदो अण्णो-*** और जीव भी उनसे भिन्न है।

वह इसप्रकार—टाँकी से उकेरे हुये के समान, ज्ञायक एक स्वभाव परमात्मतत्त्व की भावना से रहित जीव द्वारा उपार्जित किये गये— बाँधे गये जो त्रस-स्थावर नाम कर्म, उनके उदय से उत्पन्न होने के कारण और अचेतन होने के कारण त्रस-स्थावर जीव निकाय, शुद्ध चैतन्य स्वभावी जीव से भिन्न हैं। और जीव भी उनसे विलक्षण होने के कारण भिन्न है। यह इसप्रकार भेद-विज्ञान उत्पन्न हो जाने पर, मोक्षार्थी जीव स्वद्रव्य में प्रवृत्ति और परद्रव्य-निवृत्ति करता है— यह भावार्थ है॥ १९४॥

अथ केवलपुद्गलबन्धमुख्यत्वेन नवगाथापर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तत्र स्थलद्वयं भवति। परमाणूनां परस्परबन्धकथनार्थं *'अपदेसो परमाणू'* इत्यादिप्रथमस्थले गाथाचतुष्टयम् । तदनन्तरं स्कन्धानां बन्धमुख्यत्वेन *'दुपदेसादी खंधा'* इत्यादिद्वितीयस्थले गाथापंचकम्। एवं द्वितीयविशेषान्तराधिकारे समुदायपातनिका।

अथ यद्यात्मा पुद्गलानां पिण्डं न करोति तर्हि कथं पिण्डपर्यायपरिणतिरिति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति -

अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य सयमसद्दो जो।(१६३)

णिद्धो वा लुक्खो वा दुपदेसादित्तमणुभवदि ॥ १७५ ॥

अब, मात्र पुद्गलबन्ध की मुख्यता से ९ गाथा पर्यन्त विशेष कथन करते हैं। वहाँ दो स्थल हैं। परमाणुओं के परस्पर बन्ध के कथन के लिये *'अपदेसो परमाणू-'* इत्यादि चार गाथायें पहले स्थल में हैं। उसके बाद स्कन्धों के बन्ध की मुख्यता से *'दुपदेसादि खंधा -'* इत्यादि पाँच गाथायें दूसरे स्थल में हैं।

इसप्रकार दूसरे विशेषान्तराधिकार में सामूहिक पातनिका पूर्ण हुई।

द्वितीय विशेषान्तराधिकार का स्थल विभाजन (गाथा १७५ से १८३ पर्यन्त)

स्थल क्रम	प्रतिपादित प्रधान विषय	कहाँ से कहाँ पर्यन्त गाथायें	कुल गाथायें
प्रथम स्थल	परमाणुओं का परस्पर बंध कथन	१७५ से १७८	४
द्वितीय स्थल	स्कन्धों का परस्पर बंध कथन	१७९ से १८३	५
कुल दो स्थल		कुल ९ गाथायें	

(अब, दूसरे विशेषान्तराधिकार का चार गाथाओं में निबद्ध परमाणुओं के परस्पर बन्ध को बताने वाला पहला स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, यदि आत्मा पुद्गलों का पिण्ड नहीं करता है, तो उनका पिण्ड पर्यायरूप परिणमन कैसे होता है ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं—

अप्रदेश परमाणु स्वयं ना शब्द मात्र प्रदेश जो।

अनुभवे रुक्ष-स्निग्ध से वह द्विप्रदेशादित्व को ॥ १७५ ॥

गाथार्थ– अप्रदेशी, प्रदेशमात्र, स्वयं अशब्द जो परमाणु है ; वह स्निग्ध अथवा रूक्ष होता हुआ द्विप्रदेशादित्व का अनुभव करता है।

अपदेसो अप्रदेशः । स कः । *परमाणू* पुद्गलपरमाणुः । पुनरपि कथंभूतः । *पदेसमेत्तो य* द्वितीयादिप्रदेशाभावात् प्रदेशमात्रश्च । पुनश्च किंरूपः । *सयमसद्दो* य स्वयं व्यक्तिरूपेणाशब्दः । एवं विशेषणत्रयविशिष्टः सन् *णिद्धो वा लुक्खो वा* स्निग्धो वा रूक्षो वा यतः कारणात्संभवति ततः कारणात् *दुपदेसादित्तमणुभवदि* द्विप्रदेशादिरूपं बन्धमनुभवतीति ।

तथा हि-यथायमात्मा शुद्धबुद्धैकस्वभावेन बन्धरहितोऽपि पश्चादशुद्धनयेन स्निग्धस्थानीयरागभावेन रूक्षस्थानीयद्वेषभावेन यदा परिणमति तदा परमागमकथितप्रकारेण बन्धमनुभवति, तथा परमाणुरपि स्वभावेन बन्धरहितोऽपि यदा बन्धकारणभूतस्निग्धरूक्षगुणेन परिणतो भवति तदा पुद्गलान्तरेण सह विभावपर्यायरूपं बन्धमनुभवतीत्यर्थः ।। १७५ ।।

अथ कीदृशं तत्स्निग्धरूक्षत्वमिति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति –

एगुत्तरमेगादी अणुस्स णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं ।(१६४)
परिणामादो भणिदं जाव अणंतत्तमणुभवदि ।। १७६ ।।

टीकार्थ– *अपदेसो*– अप्रदेशी–बहुप्रदेश रहित है । प्रदेश रहित वह कौन है ? ***परमाणू***– पुद्गल परमाणु प्रदेश रहित है । वह पुद्गल परमाणु और कैसा है ? ***पदेसमेत्तो य***– और दूसरे आदि प्रदेशों का अभाव होने से प्रदेशमात्र है । और वह कैसा है ? ***सयमसद्दो य***– स्वयं प्रकटरूप से अशब्द है । इन तीन विशेषणों से सहित होता हुआ ***णिद्धो वा लुक्खो वा***– जिसकारण स्निग्ध अथवा रूक्ष रूप से सम्भव होता है – परिणमित होता है, उसकारण ***दुपदेसादित्तमणुभवदि***– दो प्रदेश आदि रूप बन्ध का अनुभव करता है ।

वह इसप्रकार– जैसे शुद्ध-बुद्ध स्वभाव द्वारा यह आत्मा बन्ध रहित होने पर भी,पश्चात् अशुद्धनय से स्निग्ध के स्थानीय रागभाव तथा रूक्ष के स्थानीय द्वेषभावरूप से जब परिणमित होता है, तब परमागम में कही गयी विधि से बन्ध का अनुभव करता है ; उसीप्रकार परमाणु भी स्वभाव से बन्ध रहित होने पर भी,जब बन्ध के कारणभूत स्निग्ध-रूक्ष गुणरूप से परिणमित होता है, तब दूसरे पुद्गल के साथ विभाव पर्यायरूप बन्ध का अनुभव करता है – ऐसा अर्थ है ।। १७५ ।।

अब, वह स्निग्ध-रूक्षत्व कैसा है ? ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं –

परिणमन से एकैक बढ़ते एक आदि अणू के ।
स्निग्धता कहि रूक्षता जब तक अनन्तता अनुभवे ।। १७६ ।।

गाथार्थ– परमाणु के परिणमन के कारण,एक(अविभाग–प्रतिच्छेद) से प्रारम्भ कर एक-एक बढ़ते हुये तब तक स्निग्धत्व-रूक्षत्व कहे गये हैं, जब तक वे अनन्तता का अनुभव करते हैं ।

एगुत्तरमेगादी एकोत्तरमेकादि। किम्। *णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं* स्निग्धत्वं रूक्षत्वं च कर्मतापन्नं। *भणिदं* भणितं कथितम्। किंपर्यन्तम्। *जाव अणंतत्तमणुभवदि* अनन्तत्वमनन्तपर्यन्तं यावदनुभवति प्राप्नोति। कस्मात्सकाशात्। *परिणामादो* परिणतिविशेषात्परिणामित्वादित्यर्थः। कस्य संबन्धि। *अणुस्स* अणोः पुद्गलपरमाणोः।

तथा हि- यथा जीवे जलाजागोमहिषीक्षीरे स्नेहवृद्धिवत्स्नेहस्थानीयं रागत्वं रूक्षस्थानीयं द्वेषत्वं बन्धकारणभूतं जघन्यविशुद्धिसंक्लेशस्थानीयमादिं कृत्वा परमागमकथितक्रमेणोत्कृष्टविशुद्धिसंक्लेशपर्यन्तं वर्धते, तथा पुद्गलपरमाणुद्रव्येऽपि स्निग्धत्वं रूक्षत्वं च बन्धकारणभूतं पूर्वोक्तजलादितारतम्यशक्तिदृष्टान्तेनैकगुणसंज्ञां जघन्यशक्तिमादिं कृत्वा गुणसंज्ञेनाविभागपरिच्छेदद्वितीयनामाभिधेयेन शक्तिविशेषेण वर्धते। किंपर्यन्तं। यावदनन्तसंख्यानम्। कस्मात्। पुद्गलद्रव्यस्य परिणामित्वात्, परिणामस्य वस्तुस्वभावादेव निषेधितुमशक्यत्वादिति ॥ १७६ ॥

टीकार्थ- *एगुत्तरमेगादी*- एक (अविभागीप्रतिच्छेद) से प्रारम्भ कर एक-एक आगे (बढ़ते हुये)। एक से प्रारम्भ कर बढ़ती हुई किस वस्तु को? *णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं*- कर्मता को प्राप्त (कर्मकारक या कर्मस्वरूप को प्राप्त) एक से प्रारम्भ कर बढ़ती हुई स्निग्धता-रूक्षता को। *भणिदं*- कहा गया है। कहाँ तक बढ़ती हुई स्निग्धता-रूक्षता को कहा गया है? *जाव अणंतत्तमणुभवदि*- जब तक अनन्तता का अनुभव करता है, अनन्त पर्यन्त (वृद्धि) को प्राप्त करता है। अनन्तता का अनुभव कैसे करता है? *परिणामादो*- परिणति विशेष से-परिणामी होने से अनन्तता का अनुभव करता है— ऐसा अर्थ है। किसके परिणामी होने से वे अनन्तता का अनुभव करते हैं? *अणुस्स*- अणु—पुद्गल परमाणु के परिणामी होने से वे उसका अनुभव करते हैं।

वह इसप्रकार— जल, बकरी के दूध में, गाय के दूध में, भैंस के दूध में स्नेह—चिकनाई की वृद्धि के समान, जैसे जीव में बन्ध के कारणभूत स्नेह के स्थानीय-रागपना तथा रूक्ष के स्थानीय-द्वेषपना, जघन्य विशुद्धि-संक्लेश स्थान से प्रारम्भ कर परमागम में कहे गये क्रम से उत्कृष्ट विशुद्धि - संक्लेश पर्यन्त बढ़ते हैं; उसीप्रकार पुद्गल परमाणु द्रव्य में भी, बन्ध के कारणभूत स्निग्धता और रूक्षता, पहले कहे गये जलादि की तारतम्य (क्रम से बढ़ती हुई) शक्ति के उदाहरण से एक गुण नामक जघन्य शक्ति से प्रारम्भ कर गुण नामक अविभागीप्रतिच्छेदरूप दूसरे आदि शक्ति विशेष से बढ़ते हैं। इसप्रकार वे कहाँ तक बढ़ते हैं? जब तक अनन्त संख्या को प्राप्त नहीं हो जाते, तब तक बढ़ते हैं। वे अनन्त संख्या पर्यन्त क्यों बढ़ते हैं? पुद्गलद्रव्य के परिणामी होने के कारण तथा वस्तु स्वभाव से ही (परिणामी होने के कारण) परिणाम का निषेध किया जाना अशक्य होने से, वे अनन्त पर्यन्त बढ़ते हैं।

भावार्थ- प्रत्येक वस्तु का परिणमन स्वभाव होने से तथा स्वभाव का निषेध करना अशक्य होने के कारण, परमाणु अपने परिणमन स्वभाव से एक अविभागीप्रतिच्छेद से बढ़ता-बढ़ता अनन्त अविभागी-प्रतिच्छेदोंरूप स्निग्धता- रूक्षता गुण का अनुभव करता है— उस रूप परिणमित होता है ॥ १७६ ॥

अथात्र कीदृशात्स्निग्धरूक्षत्वगुणात् पिण्डो भवतीति प्रश्ने समाधानं ददाति –

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा ।(१६५)
समदो दुराधिगा जदि बज्झन्ति हि आदिपरिहीणा ।। १७७ ।।

बज्झंति हि बध्यन्ते हि स्फुटम् । के । कर्मतापन्नाः *अणुपरिणामा* अणुपरिणामाः । अणुपरिणामशब्देनात्र परिणामपरिणता अणवो गृह्यन्ते। कथंभूताः । *णिद्धा वा लुक्खा वा* स्निग्धपरिणामपरिणता वा रूक्षपरिणामपरिणता वा । पुनरपि किंविशिष्टाः । *समा व विसमा वा* द्विशक्तिचतुशक्तिषट्शक्त्यादिपरिणतानां सम इति संज्ञा, त्रिशक्तिपंचशक्तिसप्तशक्त्यादिपरिणतानां विषम इति संज्ञा। पुनश्च किंरूपाः । *समदो दुराधिगा जदि* समतः समसंख्यानात्सकाशाद् द्वाभ्यां गुणाभ्यामधिका यदि चेत्। कथं द्विगुणाधिकत्वमिति चेत्। एको द्विगुणस्तिष्ठति द्वितीयोऽपि द्विगुण इति द्वौ समसंख्यानौ तिष्ठतस्तावत्, एकस्य विवक्षितद्विगुणस्य द्विगुणाधिकत्वे कृते सति सः चतुर्गुणो भवति शक्तिचतुष्टयपरिणतो भवति । तस्य चतुर्गुणस्य पूर्वोक्तद्विगुणेन

अब, यहाँ कैसे स्निग्ध - रूक्ष गुण से पिण्ड होता है (स्कन्ध बनता है) ? ऐसा प्रश्न होने पर समाधान देते हैं—

स्निग्ध रूक्ष वा सम विषम परिणाम अणु के यदि हों।
सम से अधिक दो तो बँधे पर ना बँधे यदि आदि हो ।। १७७ ।।

गाथार्थ– स्निग्ध अथवा रूक्ष, सम अथवा विषम अणु परिणाम,यदि समान से दो अधिक हों,तो बँधते हैं; परन्तु आदि अर्थात् जघन्य अंशवाले परमाणु नहीं बँधते हैं।

टीकार्थ– ***बज्झंति हि***– वास्तव में बँधते हैं। कौन बँधते हैं? कर्मता को प्राप्त ***अणुपरिणामा***– अणुपरिणाम बँधते हैं। अणुपरिणाम शब्द से यहाँ परिणाम (पर्याय) रूप से परिणत अणु ग्रहण किये गये हैं। वे अणु परिणाम कैसे हैं? ***णिद्धा वा लुक्खा वा***– वे स्निग्ध परिणामरूप से परिणमित अथवा रूक्ष परिणामरूप परिणत हैं। वे और किस विशेषतावाले हैं? ***समा व विसमा वा***– दो शक्ति, चार शक्ति, छह शक्ति आदि रूप परिणत अणुओं की सम संज्ञा है; तथा तीन शक्ति, पाँच शक्ति, सात शक्ति आदि रूप से परिणत अणुओं की विषम संज्ञा है (संज्ञा अर्थात् नाम)। और वे किस स्वरूपवाले हैं? ***समदो दुराधिगा जदि***– सम से — यदि समसंख्या से दो गुणों से अधिक हैं तो। दो गुणों की अधिकता कैसे है — यदि ऐसा प्रश्न हो तो (उत्तर कहते हैं) — एक दो गुणवाला है, दूसरा भी दो गुणवाला है — इसप्रकार दो समान संख्या वाले परमाणु हैं, एक विवक्षित दो गुणवाले के दो गुणों की अधिकता होने पर वह चार गुणवाला होता है — चार

सह बन्धो भवतीति। तथैव द्वौ त्रिशक्तियुक्तो तिष्ठतस्तावत्, तत्राप्येकस्य त्रिगुणशब्दाभिधेयस्य त्रिशक्तियुक्तस्य परमाणोःशक्तिद्वयमेलापके कृते सति पंचगुणत्वं भवति। तेन पंचगुणेन सह पूर्वोक्तत्रिगुणस्य बन्धो भवति।

एवं द्वयोर्द्वयोः स्निग्धयोर्द्वयोर्द्वयो रूक्षयोर्द्वयोर्द्वयोः स्निग्धरूक्षयोर्वा समयोः विषमयोश्च द्विगुणाधिकत्वे सति बन्धो भवतीत्यर्थः, किंतु विशेषोऽस्ति। *आदिपरिहीणा* आदिशब्देन जलस्थानीयं जघन्यस्निग्धत्वं वालुकास्थानीयं जघन्यरूक्षत्वं भण्यते, ताभ्यां विहीना आदिपरिहीणा बध्यन्ते।

किंच– परमचैतन्यपरिणतिलक्षणपरमात्मतत्त्वभावनारूपधर्मध्यानशुक्लध्यानबलेन यथा जघन्यस्निग्धशक्तिस्थानीये क्षीणरागत्वे सति जघन्यरूक्षशक्तिस्थानीये क्षीणद्वेषत्वे च सति जलवालुकयोरिव जीवस्य बन्धो न भवति, तथा पुद्गलपरमाणोरपि जघन्यस्निग्धरूक्षशक्तिप्रस्तावे बन्धो न भवतीत्यभिप्रायः ॥ १७७ ॥

अथ तमेवार्थं विशेषेण समर्थयति –

णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुभवदि।(१६६)
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्झदि पंचगुणजुत्तो ॥ १७८ ॥

शक्तियों रूप परिणत होता है। उस चार गुणवाले का पहले कहे हुये दो गुणवाले के साथ बन्ध होता है। उसीप्रकार कोई दो परमाणु तीन शक्तिवाले हैं, वहाँ भी एक तीन गुण शब्द से कहे जाने वाले तीन शक्ति से युक्त परमाणु के दो शक्तियों का मिलाप (दो गुणों की अधिकता) होने पर पाँच गुणवाला होता है। उस पाँच गुणवाले के साथ पहले कहे हुये तीन गुणवाले का बन्ध होता है।

इसप्रकार दो-दो स्निग्ध का, दो-दो रूक्ष का, दो-दो स्निग्ध-रूक्ष का अथवा सम का और विषम का दो गुण अधिक होने पर बन्ध होता है — ऐसा अर्थ है; परन्तु विशेषता यह है — ***आदिपरिहीणा***– आदि शब्द से जल के स्थानीय जघन्य स्निग्धत्व और रेत के स्थानीय जघन्य रूक्षत्व कहा जाता है; उनसे रहित अर्थात् आदि परिहीणा बँधते हैं (एक अविभागीप्रतिच्छेदवाला परमाणु बन्ध योग्य नहीं है)।

विशेष यह है कि– परम चैतन्य परिणति लक्षण परमात्मतत्त्व की भावनारूप-धर्मध्यान, शुक्लध्यान के बल से,जैसे जघन्य स्निग्ध शक्ति के स्थानीय राग के क्षीण होने पर और जघन्य रूक्ष शक्ति के स्थानीय द्वेष के क्षीण होने पर,जल और रेत के समान जीव का बन्ध नहीं होता है; उसीप्रकार पुद्गलपरमाणु के भी जघन्य स्निग्ध और रूक्ष शक्ति का प्रसंग होने पर,बन्ध नहीं होता है — ऐसा अभिप्राय है ॥ १७७ ॥

अब, उसी अर्थ का विशेषरूप से समर्थन करते हैं–

स्निग्ध से दो गुण चतुः गुण स्निग्ध से बन्धन करे।
वा रूक्ष से त्रयगुण अणु गुण पाँच से बन्धन करे ॥ १७८ ॥

गाथार्थ– स्निग्धरूप से दो गुणवाला परमाणु चार गुणवाले स्निग्ध के साथ बन्ध का अनुभव करता है अर्थात् बँधता है,अथवा रूक्षरूप से तीन गुणवाला परमाणु पाँच गुणवाले परमाणु के साथ बँधता है।

गुणशब्दवाच्यशक्तिद्वययुक्तस्य स्निग्धपरमाणोश्चतुर्गुणस्निग्धेन रूक्षेण वा समशब्दसंज्ञेन तथैव त्रिशक्तियुक्तरूक्षस्य पंचगुणरूक्षेण स्निग्धेन वा विषमसंज्ञेन द्विगुणाधिकत्वे सति बन्धो भवतीति ज्ञातव्यम्।

अयं तु विशेषः- परमानन्दैकलक्षणस्वसंवेदनज्ञानबलेन हीयमानरागद्वेषत्वे सति पूर्वोक्तजलवालुका-दृष्टान्तेन यथा जीवानां बन्धो न भवति तथा जघन्यस्निग्धरूक्षत्वगुणे सति परमाणूनां चेति।

तथा चोक्तम् -

"णिद्धस्स णिद्धेण दुराधिगेण लुक्खस्स लुक्खेण दुराधिगेण।

णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जघण्णवज्जे विसमे समे वा"[१] ॥ १७८ ॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण स्निग्धरूक्षपरिणतपरमाणुस्वरूपकथनेन प्रथमगाथा, स्निग्धरूक्षगुणविवरणेन द्वितीया, स्निग्धरूक्षगुणाभ्यां द्व्यधिकत्वे सति बन्धकथनेन तृतीया, तस्यैव दृढीकरणेन चतुर्थी चेति परमाणूनां परस्परबन्धव्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथम स्थले गाथाचतुष्टयं गतम्।

टीकार्थ- 'गुण' शब्द से कही जाने वाली दो शक्ति से सहित स्निग्ध परमाणु का चार गुणवाले सम शब्द नामरूप स्निग्ध अथवा रूक्ष के साथ, उसीप्रकार तीन शक्ति से सहित रूक्ष का पाँच गुणवाले विषम नामरूप रूक्ष अथवा स्निग्ध गुण के साथ,दो गुणों की अधिकता होने पर बन्ध होता है- ऐसा जानना चाहिये।

विशेष यह है कि- परमानन्द एक लक्षण स्वसंवेदनज्ञान के बल से राग-द्वेष के हीन होते जाने पर,पहले कहे हुऐ जल और रेत के उदाहरण द्वारा, जैसे जीवों के बन्ध नहीं होता है ;-उसीप्रकार स्निग्ध और रूक्ष गुण के जघन्य होने पर,परमाणुओं का बन्ध नहीं होता है।

वैसा ही कहा है-

"जघन्य को छोड़कर, स्निग्ध का दो अधिक स्निग्ध के साथ, रूक्ष का दो अधिक रूक्ष के साथ, स्निग्ध का रूक्ष के साथ विसम अथवा सम दशा में बंध होता है।" ॥ १७८ ॥

इसप्रकार पहले कहे अनुसार स्निग्ध और रूक्ष परिणत परमाणु के स्वरूप-कथनरूप से पहली गाथा, स्निग्ध और रूक्ष के विवरण रूप से दूसरी, स्निग्ध और रूक्ष गुणों की अपेक्षा दो अधिक होने पर बन्ध कथनरूप से तीसरी और उसे ही दृढ़ करने के लिये चौथी - इसप्रकार परमाणुओं के परस्पर बन्ध-व्याख्यान की मुख्यता से पहले स्थल में चार गाथायें पूर्ण हुईं।

१- गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ६१५।

अथात्मा द्व्यणुकादिपुद्गलस्कन्धानां कर्ता न भवतीत्युपदिशति –

दुपदेसादी खंधा सुहुमा वा बादरा ससंठाणा।(१६७)

पुढविजलतेउवाऊ सगपरिणामेहिं जायंते॥ १७९ ॥

जायन्ते उत्पद्यन्ते। के कर्तारः। *दुपदेसादी खंदा* द्विप्रदेशाद्यनन्ताणुपर्यन्ताः स्कन्धाः। के जायन्ते। *पुढविजलतेउवाऊ* पृथ्वीजलतेजोवायवः। कथंभूताः सन्तः। *सुहुमा वा बादरा* सूक्ष्मा वा बादरा वा। पुनरपि किंविशिष्टाः सन्तः। *ससंठाणा* यथासंभवं वृत्तचतुरस्रादिस्वकीयस्वकीयसंस्थानाकारयुक्ताः। कैः कृत्वा जायन्ते। *सगपरिणामेहिं* स्वकीयस्वकीयस्निग्धरूक्षपरिणामैरिति।

अथ विस्तरः– जीवा हि तावद्वस्तुतष्टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकरूपेण शुद्धबुद्धैकस्वभावा एव पश्चाद्व्यवहारेणानादिकर्मबन्धोपाधिवशेन शुद्धात्मस्वभावमलभमानाः सन्तः पृथिव्यप्तेजोवातकायिकेषु समुत्पद्यन्ते, तथापि स्वकीयाभ्यन्तरसुखदुःखादिरूपपरिणतेरेवाशुद्धोपादानकारणं भवन्ति, न च पृथिव्यादिकायाकारपरिणतेः। कस्मादिति चेत्। तत्र स्कन्धानामेवोपादानकारणत्वादिति।

ततो ज्ञायते पुद्गलपिण्डानां जीवः कर्ता न भवतीति॥ १७९ ॥

(अब, स्कन्धों का परस्पर बन्ध-कथन परक पाँच गाथाओं में निबद्ध दूसरा स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, आत्मा द्व्यणुक आदि पुद्गलस्कन्धों का कर्ता नहीं है, ऐसा उपदेश देते हैं –

द्वि प्रदेश आदि स्कन्ध बादर सूक्ष्म बहुआकार के।

उत्पन्न हैं भू, अम्बु, अग्नि, अनिल निज परिणाम से॥ १७९ ॥

गाथार्थ– सूक्ष्म अथवा बादर संस्थानों — आकारों सहित पृथ्वी, जल, तेज, वायु रूप दो प्रदेश आदि रूप स्कन्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होते हैं।

टीकार्थ– ***जायन्ते***– उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होने रूप क्रिया के कर्ता कौन हैं? ***दुपदेसादि खंदा***– दो प्रदेशों से आरम्भ कर अनन्त अणु—परमाणु पर्यन्त स्कन्ध उत्पन्न होने रूप क्रिया के कर्ता हैं। कौन उत्पन्न होते हैं? ***पुढ़विजलतेउवाऊ***– पृथ्वी, जल, तेज, और वायु उत्पन्न होते हैं। वे कैसे उत्पन्न होते हैं? ***सुहुमा वा बादरा***– वे सूक्ष्म अथवा बादर रूप उत्पन्न होते हैं। और भी वे कैसे हैं? ***ससंठाणा***– यथासंभव गोल, चौकोर आदि अपने-अपने संस्थान— आकार से सहित हैं। वे किनसे उत्पन्न होते हैं? ***सगपरिणामेहिं***– अपने-अपने स्निग्ध-रूक्ष परिणाम से उत्पन्न होते हैं।

अब इसका विस्तार करते हैं — जीव वास्तव में टंकोत्कीर्ण (टाँकी से उकेरे हुये के समान स्थिर) ज्ञायक एक रूप से शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव ही हैं, पश्चात् व्यवहार से अनादि कर्मबन्ध की उपाधि के वश शुद्धात्म-स्वभाव को प्राप्त नहीं करते हुये पृथ्वी, जल, तेज (अग्नि), वायु कायिक (शरीरों) में उत्पन्न होते हैं; तथापि अपनी अंतरंग सुख-दुःखादि रूप परिणति (दशाओं) के ही अशुद्ध उपादानकारण हैं, पृथ्वी आदि शरीरों के आकाररूप परिणति के उपादानकारण नहीं हैं। पृथ्वी आदि शरीरों के उपादानकारण क्यों नहीं हैं? यदि ऐसा प्रश्न हो तो उत्तर कहते हैं— वहाँ स्कन्धों की ही उपादानकारणता होने से, जीव उनके उपादानकारण नहीं हैं।

इससे ज्ञात होता है कि जीव पुद्गलपिण्डों का कर्ता नहीं है॥ १७९ ॥

अथात्मा बन्धकाले बन्धयोग्यपुद्गलान् बहिर्भागान्नैवानयतीत्यावेदयति –

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।(१६८)

सुहुमेहि बादरेहि य अप्पाओग्गेहिं जोग्गेहिं॥ १८०॥

ओगाढगाढणिचिदो अवगाह्यावगाह्य नैरन्तर्येण निचितो भृतः। स कः। *लोगो* लोकः। कथं भृतः। *सव्वदो* सर्वतः सर्वप्रदेशेषु। कैः कर्तृभूतैः। *पुग्गलकायेहिं* पुद्गलकायैः। किंविशिष्टैः। *सुहुमेहि बादरेहि य* इन्द्रियग्रहणायोग्यैः सूक्ष्मैस्तद्ग्रहणयोग्यैर्बादरैश्च। पुनश्च कथंभूतैः। *अप्पाओग्गेहिं* अतिसूक्ष्मस्थूलत्वेन कर्म-वर्गणायोग्यतारहितैः। पुनश्च किंविशिष्टैः। *जोग्गेहिं* अतिसूक्ष्मस्थूलत्वाभावात्कर्मवर्गणायोग्यैरिति।

अयमत्रार्थः– निश्चयेन शुद्धस्वरूपैरपि व्यवहारेण कर्मोदयाधीनतया पृथिव्यादिपंचसूक्ष्मस्थावरत्वं प्राप्तैर्जीवैर्यथा लोको निरन्तरं भृतस्तिष्ठति तथा पुद्गलैरपि। ततो ज्ञायते यत्रैव शरीरावगाढक्षेत्रे जीवस्तिष्ठति बन्धयोग्यपुद्गला अपि तत्रैव तिष्ठन्ति, न च बहिर्भागाज्जीव आनयतीति ॥ १८०॥

अब, आत्मा बन्ध के समय बन्ध योग्य पुद्गलों को बहिर्भाग से नहीं लाता है, ऐसा आवेदन करते हैं (मर्यादा पूर्वक ज्ञान कराते हैं) –

अवगाढ़ गाढ़ भरा हुआ सर्वत्र पुद्गल काय से।

यह लोक बादर-सूक्ष्म से कर्मत्व योग्य अयोग्य से॥ १८०॥

गाथार्थ– लोक सर्व ओर से सूक्ष्म -बादर और कर्मत्व के अयोग्य तथा कर्मत्व के योग्य पुद्गल स्कन्धों द्वारा अवगाहित होकर गाढ़रूप से भरा हुआ है।

टीकार्थ– ***ओगाढगाढणिचिदो–*** अवगाहन - अवगाहन कर अन्तर के बिना परिपूर्ण भरा हुआ है। परिपूर्ण भरा हुआ वह कौन है? ***लोगो–*** लोक परिपूर्ण भरा हुआ है। वह कैसा भरा हुआ है? ***सव्वदो–*** सर्व ओर से सभी प्रदेशों में भरा हुआ है। वह कर्ताभूत किनसे भरा हुआ है? ***पुग्गलकायेहिं–*** वह पुद्गलकायों– स्कन्धों से भरा है। किन विशेषतावाले पुद्गलकायों से भरा है? ***सुहुमेहि बादरेहि य–*** इन्द्रियों से ग्रहण करने के अयोग्य सूक्ष्म और उनसे ग्रहण करने योग्य बादर पुद्गलकायों से भरा है। और कैसे पुद्गलकायों से भरा है? ***अप्पाओग्गेहिं–*** अतिसूक्ष्म अथवा अतिस्थूलता के कारण, कर्मवर्गणा सम्बन्धी योग्यता से रहित पुद्गलों से भरा है। और किन विशेषतावाले पुद्गलों से भरा है? ***जोग्गेहिं–*** अतिसूक्ष्मता और स्थूलता का अभाव होने से कर्मवर्गणा के योग्य पुद्गलकायों से भरा है।

यहाँ अर्थ यह है–निश्चय से शुद्ध स्वरूप होने पर भी, व्यवहार से कर्म उदय के आधीन होने से, पृथ्वी आदि पाँच सूक्ष्म स्थावरत्व को प्राप्त जीवों से, जैसे लोक निरन्तर भरा रहता है; उसीप्रकार पुद्गलों से भी भरा रहता है। इससे ज्ञात होता है कि जिस शरीर अवगाढ़ क्षेत्र में जीव रहता है, वहीं बन्ध के योग्य पुद्गल भी रहते हैं; जीव उन्हें बाह्य भाग से नहीं लाता है।

विशेषार्थ– 'आचार्य प्रभाचन्द्र' ने *'सर्वतः'* शब्द को निम्नप्रकार स्पष्ट किया है –

"सर्वतः उध्र्व-अधो-मध्य-पार्श्वनाभिभागेसु[१]*---।*

सर्वतः अर्थात् ऊपर, नीचे, मध्य-बीच में, कोनों में, नाभिभागों में।" ॥ १८०॥

१- प्रवचनसार गाथा १७८, प्रवचनसार सरोजभास्कर टीका।

अथ कर्मस्कन्धानां जीव उपादानकर्ता न भवतीति प्रज्ञापयति –

कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा। (१६९)
गच्छंति कम्मभावं ण हि ते जीवेण परिणमिदा ॥ १८१ ॥

कम्मत्तणपाओग्गा खंधा कर्मत्वप्रायोग्याः स्कन्धाः कर्तारः *जीवस्स परिणइं पप्पा* जीवस्य परिणतिं प्राप्य निर्दोषिपरमात्मभावनोत्पन्नसहजानन्दैकलक्षणसुखामृतपरिणतेः प्रतिपक्षभूतां जीवसंबन्धिनीं मिथ्यात्वरागादि-परिणतिं प्राप्य *गच्छंति कम्मभावं* गच्छन्ति परिणमन्ति। कम्। कर्मभावं ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मपर्यायम्। *ण हि ते जीवेण परिणमिदा* न हि नैव ते कर्मस्कन्धा जीवेनोपादानकर्तृभूतेन परिणमिताः परिणतिं नीता इत्यर्थः।

अनेन व्याख्यानेनैतदुक्तं भवति कर्मस्कन्धानां निश्चयेन जीवः कर्ता न भवतीति ॥ १८१ ॥

अब, जीव कर्मस्कन्धों का उपादानकर्ता नहीं है, ऐसा विशेषरूप से ज्ञान कराते हैं –

कर्मत्व योग्य स्कन्ध पाकर परिणमन को जीव के।
हैं कर्म रूप स्वयं हुये ना परिणमित वे जीव से ॥ १८१ ॥

गाथार्थ– कर्मत्व के योग्य स्कन्ध,जीव की परिणति को पाकर,कर्मभाव को प्राप्त होते हैं, वे जीव से परिणमित नहीं किये जाते हैं।

टीकार्थ– ***कम्मत्तणपाओग्गा खंधा–*** कर्मपने को प्राप्त करने योग्य स्कन्धरूपी कर्ता, ***जीवस्स परिणइं पप्पा–*** जीव की परिणति को प्राप्त कर – निर्दोषी परमात्मा की भावना से उत्पन्न सहजानन्द एक लक्षण सुखरूपी अमृतमयी परिणति– पर्याय से विपरीत,जीव सम्बन्धी मिथ्यात्व रागादि परिणति – पर्याय को प्राप्त कर ***गच्छंति कम्मभावं–*** जाते हैं – परिणमन करते हैं। किसरूप परिणमन करते हैं? कर्मभावरूप– ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म पर्यायरूप परिणमन करते हैं। ***ण हि ते जीवेण परिणमिदा–*** वे कर्मस्कन्ध जीवरूप उपादानकर्ता से परिणमित नहीं हैं – परिणमन को प्राप्त नहीं किये जाते हैं।

इस विशेष कथन से यह कहा गया है कि कर्म स्कन्धों का कर्ता निश्चय से जीव नहीं है।

विशेषार्थ– इस गाथा-टीका में कर्म द्वारा प्राप्त जीव-परिणामों को 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने "बहिरंगसाधन" कहा है। वह इसप्रकार –

"समान क्षेत्र में रहनेवाले बहिरंगसाधनरूप जीव के परिणामों का आश्रय कर------"[१] ॥ १८१ ॥

१- प्रवचनसार,गाथा १६९,तत्त्वप्रदीपिका टीका।

अथ शरीराकारपरिणतपुद्‌गलपिण्डानां जीवः कर्ता न भवतीत्युपदिशति –

ते ते कम्मत्तगदा पोग्गलकाया पुणो वि जीवस्स ।(१७०)

संजायंते देहा देहंतरसंकमं पप्पा ॥ १८२ ॥

ते ते कम्मत्तगदा ते ते पूर्वसूत्रोदिताः कर्मत्वं गता द्रव्यकर्मपर्यायपरिणताः *पोग्गलकाया* पुद्‌गलस्कन्धाः *पुणो वि जीवस्स* पुनरपि भवान्तरेऽपि जीवस्य *संजायंते देहा* संजायंते सम्यग्जायन्ते देहाः शरीराणीति । किं कृत्वा । *देहंतरसंकमं पप्पा* देहान्तरसंक्रमं भवान्तरं प्राप्य लब्ध्वेति ।

अनेन किमुक्तं भवति – औदारिकादिशरीरनामकर्मरहितपरमात्मानमलभमानेन जीवेन यान्युपार्जिता-न्यौदारिकादिशरीरनामकर्माणि तानि भवान्तरे प्राप्ते सत्युदयमागच्छन्ति, तदुदयेन नोकर्मपुद्‌गला औदारिकादि-शरीराकारेण स्वयमेव परिणमन्ति । ततः कारणादौदारिकादिकायानां जीवः कर्ता न भवतीति ॥ १८२ ॥

अब, शरीराकार परिणत पुद्‌गलपिण्डों का जीव कर्ता नहीं है, ऐसा उपदेश देते हैं —

वे कर्मपरिणत काय पुद्‌गल जीव के पा दूसरा ।

तन परिणमन उत्पन्न करते देह देहान्तर दशा ॥ १८२ ॥

गाथार्थ– वे-वे कर्मरूप परिणमित पुद्‌गलस्कन्ध,दूसरे शरीररूप परिवर्तन को पाकर,जीव के और भी शरीरों रूप उत्पन्न होते हैं ।

टीकार्थ– ***ते ते कम्मत्तगदा–*** वे-वे पहले (१८१वीं) गाथा में कहे गये कर्मत्व को प्राप्त अर्थात् द्रव्यकर्म पर्यायरूप परिणमित ***पोग्गलकाया–*** पुद्‌गलस्कन्ध ***पुणो वि जीवस्स–*** फिर से भी — दूसरे भव में भी जीव के ***संजायंते देहा–*** अच्छी तरह से देह — शरीर को उत्पन्न करते हैं । क्या करके शरीर उत्पन्न करते हैं ? ***देहंतरसंकमं पप्पा–*** देहान्तर संक्रम — दूसरे भव को प्राप्त कर शरीर उत्पन्न करते हैं ।

इससे क्या कहा गया है — इस सब कथन का निष्कर्ष क्या है ? औदारिक आदि शरीर नामकर्म से रहित परमात्मा को प्राप्त नहीं करनेवाले जीव द्वारा जो उपार्जित किये गये — बाँधे गये औदारिक आदि शरीर नामकर्म– वे दूसरे भव की प्राप्ति होने पर उदय को प्राप्त होते हैं ; उनका उदय होने पर,नोकर्म पुद्‌गल औदारिक आदि शरीर के आकाररूप,स्वयं ही परिणमित होते हैं । इसकारण औदारिक आदि शरीरों का,जीव कर्ता नहीं है — ऐसा निष्कर्ष है ॥ १८२ ॥

अथ शरीराणि जीवस्वरूपं न भवन्तीति निश्चिनोति –

ओरालिओ य देहो देहो वेउव्विओ य तेजसिओ ।(१७१)
आहारय कम्मइओ पोग्गलदव्वप्पगा सव्वे ॥ १८३ ॥

ओरालिओ य देहो औदारिकश्च देहः *देहो वेउव्विओ य* देहो वैक्रियकश्च *तेजइओ* तैजसिकः *आहारय कम्मइयो* आहारकः कार्मणश्च *पुग्गलदव्वप्पगा सव्वे* एते पंच देहाः पुद्‌गलद्रव्यात्मकाः सर्वेऽपि मम स्वरूपं न भवन्ति । कस्मादिति चेत् । ममाशरीरचैतन्यचमत्कारपरिणतत्वेन सर्वदैवाचेतनशरीरत्वविरोधादिति ॥ १८३ ॥

एवं पुद्‌गलस्कन्धानां बन्धव्याख्यानमुख्यतया द्वितीयस्थले गाथापचकं गतम् ।

इति *'अपदेसो परमाणू'* इत्यादि गाथानवकेन परमाणुस्कन्धभेदभिन्नपुद्‌गलानां पिण्डनिष्पत्तिव्याख्यान-मुख्यतया द्वितीयविशेषान्तराधिकारः समाप्तः ।

अब, शरीर जीव का स्वरूप नहीं है, ऐसा निश्चित करते हैं –

ये देह औदारिक तथा वैक्रियक तैजस देह हैं ।
कार्मण व आहारक सभी ये पुद्‌गलात्मक देह हैं ॥ १८३ ॥

गाथार्थ– औदारिक शरीर, वैक्रियक शरीर, तैजस शरीर, आहारक शरीर और कार्मण शरीर – ये सब पुद्‌गलद्रव्यात्मक हैं ।

टीकार्थ– *ओरालिओ य देहो*– और औदारिक शरीर, ***देहो वेउव्विओ य*–** वैक्रियक शरीर और ***तेजइओ*–** तैजसिक, ***आहारय कम्मइयो*–** आहारक और कार्मण शरीर ***पुग्गलदव्वप्पगा सव्वे*–** ये पाँचों शरीर पुद्‌गलद्रव्य स्वरूप हैं; सभी मेरे स्वरूप नहीं हैं । ये मेरे स्वरूप क्यों नहीं हैं ? यदि ऐसा प्रश्न हो तो (उत्तर कहते हैं) – शरीररहित चैतन्य चमत्कार परिणति होने के कारण मेरा, हमेशा ही अचेतन शरीरत्व के साथ विरोध होने से, ये मेरे नहीं हैं ॥ १८३ ॥

इसप्रकार पुद्‌गलस्कन्धों के बन्ध सम्बन्धी विशेष कथन की मुख्यता से दूसरे स्थल में पाँच गाथायें पूर्ण हुईं ।

इसप्रकार ***"अपदेसो परमाणू-"*** इत्यादि ९ गाथाओं द्वारा परमाणु और स्कन्ध के भेद से भेदित पुद्‌गलों के पिण्ड की उत्पत्ति सम्बन्धी विशेष कथन की मुख्यता से (दो स्थलों में विभक्त) दूसरा विशेषान्तराधिकार समाप्त हुआ ।

अथैकोनविंशतिगाथापर्यन्तं जीवस्य पुद्गलेन सह बन्धमुख्यतया व्याख्यानं करोति, तत्र षट्स्थलानि भवन्ति। तेष्वादौ *'अरसमरूवं'* इत्यादि शुद्धजीवव्याख्यानेन गाथैका, *'मुत्तो रूवादि'* इत्यादिपूर्वपक्षपरिहारमुख्यतया गाथाद्वयमिति प्रथमस्थले गाथात्रयम्। तदनन्तरं भावबन्धमुख्यत्वेन *'उवओगमओ'* इत्यादि गाथाद्वयम्। अथ परस्परं द्वयोः पुद्गलयोः बन्धो, जीवस्य रागादिपरिणामेन सह बन्धो, जीवपुद्गलयोर्बन्धश्चेति त्रिविधबन्धमुख्यत्वेन *'फासेहि पुग्गलाणं'* इत्यादि सूत्रद्वयम्। ततः परं निश्चयेन द्रव्यबन्धकारणत्वाद्रागादिपरिणाम एव बन्ध इति कथनमुख्यतया *'रत्तो बंधदि'* इत्यादि गाथात्रयम्। अथ भेदभावनामुख्यत्वेन *'भणिदा पुढवी'* इत्यादि सूत्रद्वयम्। तदनन्तरं जीवो रागादिपरिणामानामेव कर्ता, न च द्रव्यकर्मणामिति कथनमुख्यत्वेन *'कुव्वं सहावमादा'* इत्यादि षष्ठस्थले गाथासप्तकम्। यत्र मुख्यत्वमिति वदति तत्र यथासंभवमन्योऽप्यर्थो लभ्यत इति सर्वत्र ज्ञातव्यम्।

एवमेकोनविंशतिगाथाभिस्तृतीयविशेषान्तराधिकारे समुदायपातनिका।

अब १९ गाथा पर्यन्त जीव का पुद्गल के साथ बन्ध की मुख्यता से विशेष कथन करते हैं; वहाँ छह स्थल हैं। उनमें सबसे पहले *'अरसमरूवं'-* इत्यादि शुद्धजीव के विशेष कथनरूप एक गाथा, *'मुत्तो रूवादि-'* इत्यादि पूर्वपक्ष के निराकरण की मुख्यता से दो गाथायें— इसप्रकार पहले स्थल में तीन गाथायें हैं। इसके बाद भावबन्ध की मुख्यता से *'उवओगमओ-'* इत्यादि दूसरे स्थल में दो गाथायें हैं। अब, परस्पर दो पुद्गलों का बन्ध, जीव का रागादि परिणाम के साथ बन्ध और जीव-पुद्गल का बन्ध— इसप्रकार तीन प्रकार के बन्ध की मुख्यता से *'फासेहि पुग्गलाणं-'* इत्यादि तीसरे स्थल में दो गाथायें हैं। उससे आगे निश्चय से द्रव्यबंध का कारण होने से रागादि परिणाम ही बन्ध है — इस कथन की मुख्यता से *'रत्तो बंधदि-'* इत्यादि चौथे स्थल में तीन गाथायें हैं। तदनन्तर भेदभावना की मुख्यता से *'भणिदा पुढवी-'* इत्यादि पाँचवें स्थल में दो गाथायें हैं। तत्पश्चात् जीव रागादि परिणामों का ही कर्ता है और द्रव्यकर्मों का नहीं है — इस कथन की मुख्यता से *'कुव्वं सहावमादा -'* इत्यादि छठवें स्थल में सात गाथायें हैं। जहाँ 'मुख्यता' ऐसा कहा गया है, वहाँ यथासंभव दूसरा भी अर्थ प्राप्त होता है — ऐसा सर्वत्र जानना चाहिये।

इसप्रकार १९ गाथाओं द्वारा तीसरे विशेषान्तराधिकार में सामूहिकपातनिका हुई।

तृतीय विशेषान्तराधिकार-स्थल विभाजन (गाथा १८४ से २०२ पर्यन्त)

स्थल क्रम	स्थल प्रतिपादित प्रधान विषय	गाथायें कहाँ से कहाँ पर्यन्त	कुल गाथायें
प्रथम स्थल	शुद्ध जीव स्वरूप तथा पूर्वपक्ष परिहार	१८४ से १८६	३
द्वितीय स्थल	भावबन्ध की मुख्यता प्रतिपादक	१८७ व १८८	२
तृतीय स्थल	त्रिविध बन्ध प्रतिपादक	१८९ व १९०	२
चतुर्थ स्थल	रागादि परिणाम ही वास्तविक बन्ध प्रतिपादक	१९१ से १९३	३
पंचम स्थल	भेदभावना परक	१९४ व १९५	२
षष्टम स्थल	जीव रागादि का ही कर्ता है, द्रव्यकर्मों का नहीं	१९६ से २०२	७
कुल ६ स्थल		कुल १९ गाथायें	

तद्यथा - अथ किं तर्हि जीवस्य शरीरादिपरद्रव्येभ्यो भिन्नमन्यद्रव्यासाधारणं स्वस्वरूपमिति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति –

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।(१७२)

जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥ *१८४ ॥

अरसमरूवमगंधं रसरूपगन्धरहितत्वात्तथा चाव्याहार्यमाणास्पर्शरूपत्वाच्च *अव्वत्तं* अव्यक्तत्वात् *असद्दं* अशब्दत्वात् *अलिंगग्गहणं* अलिंगग्रहणत्वात् *अणिद्दिट्ठसंठाणं* अनिर्दिष्टसंस्थानत्वाच्च *जाण जीवं* जानीहि जीवम् । अरसमरूपमगन्धमस्पर्शमव्यक्तमशब्दमलिंगग्रहणमनिर्दिष्टसंस्थानलक्षणं च हे शिष्य, जीवं जीवद्रव्यं जानीहि । पुनरपि कथंभूतम् । *चेदणागुणं* समस्तपुद्गलादिभ्योऽचेतनेभ्यो भिन्नः समस्तान्यद्रव्यासाधारणः स्वकीयानन्तजीवजातिसाधारणश्च चेतनागुणो यस्य तं चेतनागुणं च; अलिंगग्राह्यमिति वक्तव्ये यदलिंगग्रहण-मित्युक्तं तत्किमर्थमिति चेत्, बहुतरार्थप्रतिपत्त्यर्थम् ।

(अब, तीसरे विशेषान्तराधिकार का शुद्धजीवस्वरूप तथा पूर्वपक्षपरिहार प्रतिपादक तीन गाथाओं में निबद्ध पहला स्थल प्रारम्भ होता है ।)

वह इसप्रकार –

अब, तब शरीरादि परद्रव्यों से भिन्न, अन्य द्रव्यों से असाधारण जीव का अपना स्वरूप क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर उसके प्रति उत्तर देते हैं –

है चेतनागुण जीव अरस अरूप-गंध अव्यक्त है ।

जानो अलिंगग्रहण अशब्द व अनिर्दिष्ट-संस्थान है ॥ १८४ ॥

गाथार्थ– जीव को अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, चेतनागुण युक्त, अशब्द, अलिंगग्रहण और अनिर्दिष्टसंस्थान जानो ।

टीकार्थ– ***अरसमरूवमगंधं***– रस-रूप-गंध रहित होने के कारण और उसीप्रकार विविधरूप से ग्रहण करने योग्य नहीं होने से तथा गाथा में जिसका ग्रहण नहीं हो पाया है ऐसा अस्पर्शरूप होने से ***अव्वत्तं***– अव्यक्त होने से, ***असद्दं***– अशब्द होने से, ***अलिंगग्गहणं***– अलिंगग्रहण होने से, ***अणिद्दिट्ठसंठाणं***– और अनिर्दिष्टसंस्थानवाला होने से ***जाण जीवं***– जीव को जानो । हे शिष्य ! जीवद्रव्य को अरस, अरूप, अगन्ध, अस्पर्श, अव्यक्त, अशब्द,अलिंगग्रहण और अनिर्दिष्टसंस्थान लक्षणवाला जानो । और वह जीव कैसा है ? ***चेदणागुणं***– सम्पूर्ण पुद्गलादि अचेतन द्रव्यों से भिन्न, सम्पूर्ण अन्य द्रव्यों से असाधारण और अपनी अनन्त जीव जाति में साधारण चेतनागुण है जिसका, उस चेतनागुणवाले जीव को जानो, तथा ***'अलिंगग्राह्य'***– ऐसा कहने योग्य होने पर भी जो ***'अलिंगग्रहण'***– ऐसा कहा गया है, वह किसलिये कहा गया है ? यदि ऐसा प्रश्न हो तो (उत्तर कहते हैं) अनेक अर्थों का ज्ञान कराने के लिये अलिंगग्राह्य के स्थान पर अलिंगग्रहण कहा गया है ।

---

*प्रस्तुत गाथा समयसार में ४९ वीं, नियमसार में ४६ वीं, पंचास्तिकायसंग्रह में १२७वीं, अष्टपाहुड़-भावपाहुड़ में ६४वीं, धवला पुस्तक ३ में पहली, लघु द्रव्यसंग्रह में ५वीं इत्यादि अनेक ग्रंथों में उपलब्ध है ।

तथा हि - लिंगमिन्द्रियं तेनार्थानां ग्रहणं परिच्छेदनं न करोति तेनालिंगग्रहणो भवति। तदपि कस्मात्। स्वयमेवातीन्द्रियाखण्डज्ञानसहितत्वात्। तेनैव लिंगशब्दवाच्येन चक्षुरादीन्द्रियेणान्यजीवानां यस्य ग्रहणं परिच्छेदनं कर्तुं नायाति तेनालिंगग्रहणं उच्यते। तदपि कस्मात्। निर्विकारातीन्द्रियस्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञान-गम्यत्वात्।

लिंग धूमादि तेन धूमलिंगोद्भवानुमानेनाग्निवदनुमेयभूतपरपदार्थानां ग्रहणं न करोति तेनालिंगग्रहणं इति। तदपि कस्मात्। स्वयमेवालिंगोद्भवातीन्द्रियज्ञानसहितत्वात्। तेनैव लिंगोद्भवानुमानेनाग्निग्रहणवत् परपुरुषाणां यस्यात्मनो ग्रहणं परिज्ञानं कर्तुं नायाति तेनालिंगग्रहणं इति। तदपि कस्मात्। अलिंगोद्भवातीन्द्रि-यज्ञानगम्यत्वात्।

अथवा लिंगं चिन्हं लांछनं शिखाजटाधारणादि तेनार्थानां ग्रहणं परिच्छेदनं न करोति तेनालिंगग्रहणं इति। तदपि कस्मात्। स्वाभाविकाचिन्होद्भवातीन्द्रियज्ञानसहितत्वात्। तेनैव चिन्होद्भवज्ञानेन परपुरुषाणां यस्यात्मनो ग्रहणं परिज्ञानं कर्तुं नायाति तेनालिंगग्रहणं इति। तदपि कस्मात्। निरुपरागस्वसंवेदनज्ञान-गम्यत्वादिति।

एवमलिंगग्रहणशब्दस्य व्याख्यानक्रमेण शुद्धजीवस्वरूपं ज्ञातव्यमित्यभिप्राय: ॥ १८४ ॥

वह इसप्रकार — लिंग अर्थात् इन्द्रिय, उसके द्वारा पदार्थों का ग्रहण अर्थात् ज्ञान नहीं करता है, उससे अलिंगग्रहण है। वह इन्द्रियों द्वारा पदार्थों का ज्ञान क्यों नहीं करता है ? स्वयं ही अतीन्द्रिय अखण्डज्ञान सहित होने के कारण,वह उनके द्वारा पदार्थों का ज्ञान नहीं करता है। उसी लिंग शब्द द्वारा कहने योग्य नेत्र आदि इन्द्रियों से,अन्य जीवों के जिसका ग्रहण — ज्ञान करने को नहीं आता है — जिसका जानना संभव नहीं है, उससे अलिंगग्रहण कहा है। अन्य जीव इसे नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा क्यों नहीं जान सकते हैं ? विकार रहित अतीन्द्रिय स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञान द्वारा गम्य होने से,वे उसे उनके द्वारा नहीं जान सकते हैं।

लिंग अर्थात् धूम (धुँआ) आदि कारण — साधन, उस धूम-लिंग से उत्पन्न अनुमान के द्वारा (ज्ञात हुई) अग्नि के समान अनुमेयभूत (अनुमान द्वारा जानने योग्य) पर पदार्थों का ग्रहण — ज्ञान नहीं करता है, उससे अलिंगग्रहण है। वह लिंग द्वारा पर पदार्थों का ज्ञान क्यों नहीं करता है ? स्वयं ही अलिंग — लिंग के बिना उत्पन्न अतीन्द्रियज्ञान से सहित होने के कारण,वह लिंग द्वारा उनका ज्ञान नहीं करता है। उसी लिंग से उत्पन्न अनुमान द्वारा अग्नि के ज्ञान के समान,दूसरे पुरुषों को जिस आत्मा का ग्रहण — ज्ञान करने को नहीं आता है— जानना संभव नहीं है, उससे अलिंगग्रहण है। लिंग द्वारा अन्य पुरुष इसे क्यों नहीं जान सकते हैं ? लिंग के बिना उत्पन्न अतीन्द्रियज्ञान से गम्य — ज्ञात होने के कारण,वे लिंग द्वारा उसे नहीं जान सकते हैं।

अथवा लिंग अर्थात् चिन्ह—लांछन—निशान ; शिखा—चोटी, जटाधारण आदि, उनसे पदार्थों का ग्रहण—ज्ञान नहीं करता है, उससे अलिंगग्रहण है। वह शिखा आदि चिन्हों द्वारा पदार्थों का ज्ञान क्यों नहीं करता है ? चिन्हों के बिना उत्पन्न स्वाभाविक अतीन्द्रियज्ञान से सहित होने के कारण,वह इनके द्वारा उनका ज्ञान नहीं करता है। उसी चिन्ह से उत्पन्न ज्ञान द्वारा,दूसरे पुरुषों को जिस आत्मा का ग्रहण—ज्ञान करने को नहीं आता है—जानना संभव नहीं है, उससे अलिंगग्रहण है। चिन्ह से उत्पन्न ज्ञान द्वारा दूसरे पुरुष इसे क्यों नहीं जान सकते हैं ? उपराग (रागादि मलिनता) रहित स्वसंवेदनज्ञान द्वारा गम्य होने से,वे इसके द्वारा उसे नहीं जान सकते हैं।

इसप्रकार अलिंगग्रहण* शब्द के विशेष कथन क्रम से शुद्धजीव का स्वरूप जानना चाहिये — ऐसा अभिप्राय है ॥ १८४ ॥

---

* प्रस्तुत गाथा-टीका में 'आचार्य अमृतचंद्र' ने 'अलिंगग्रहण' शब्द का विश्लेषण २० प्रकार से किया है।

अथामूर्तशुद्धात्मनो व्याख्याने कृते सत्यमूर्तजीवस्य मूर्तपुद्गलकर्मणा सह कथं बन्धो भवतीति पूर्वपक्षं करोति –

मुत्तो रूवादिगुणो बज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं ।(१७३)

तव्विवरीदो अप्पा बज्झदि किध पोग्गलं कम्मं ॥ १८५ ॥

मुत्तो रूवादिगुणो मूर्तो रूपरसगन्धस्पर्शत्वात् पुद्गलद्रव्यगुण: *बज्झदि* अन्योन्यसंश्लेषेण बध्यते बन्धमनुभवति, तत्र दोषो नास्ति । कैः कृत्वा । *फासेहिं अण्णमण्णेहिं* स्निग्धरूक्षगुणलक्षणस्पर्शसंयोगैः । किंविशिष्टैः । अन्योन्यैः परस्परनिमित्तैः ।

तव्विवरीदो अप्पा बज्झदि किध पोग्गलं कम्मं तद्विपरीतात्मा बध्नाति कथं पौद्गलं कर्मेति । अयं परमात्मा निर्विकारपरमचैतन्यचमत्कारपरिणतत्वेन बन्धकारणभूतस्निग्धरूक्षगुणस्थानीयरागद्वेषादिविभावपरिणामरहितत्वादमूर्तत्वाच्च पौद्गलं कर्म कथं बध्नाति, न कथमपीति पूर्वपक्षः ॥ १८५ ॥

अब, अमूर्त शुद्धात्मा का विशेष कथन किये जाने पर अमूर्त जीव का मूर्त पुद्गल कर्मों के साथ बन्ध कैसे होता है ? ऐसा पूर्वपक्ष — प्रश्न करते हैं —

रूपादि गुणयुत मूर्त बँधते परस्पर स्पर्श से।

विपरीत उससे जीव बाँधे कर्म पुद्गल को कैसे ? ॥ १८५ ॥

गाथार्थ– रूपादि गुणवाले मूर्तपुद्गल परस्पर स्पर्श द्वारा बँधते हैं, परन्तु उससे विपरीत आत्मा पौद्गलिक कर्म को कैसे बाँधता है ?

टीकार्थ– ***मुत्तोरूवादिगुणो–*** मूर्त रूप, रस, गन्ध, स्पर्श होने से पुद्गलद्रव्य के गुण ***बज्झदि–*** परस्पर संश्लेषरूप से बँधते हैं — बन्ध का अनुभव करते हैं, वहाँ दोष नहीं है । वे किनसे बँधते हैं ? ***फासेहिं अण्णमण्णेहिं–*** वे स्निग्ध-रूक्ष गुण लक्षण स्पर्श के संयोग से बँधते हैं । किन विशेषताओं वाले स्पर्शों से वे बँधते हैं ? परस्पर में निमित्तरूप स्पर्शों से,वे बँधते हैं ।

तव्विवरीदो अप्पा बज्झदि किध पोग्गलं कम्मं– परन्तु उससे विपरीत आत्मा,पुद्गलकर्म को कैसे बाँधता है ? यह परमात्मा विकाररहित परम चैतन्य चमत्कार परिणतिवाला होने से बन्ध के कारणभूत स्निग्ध-रूक्ष गुण के स्थानीय राग-द्वेष आदि विभाव परिणाम से रहित होने के कारण और अमूर्त होने के कारण पुद्गलकर्म को कैसे बाँधता है ? किसी भी प्रकार से नहीं बाँध सकता है — ऐसा पूर्वपक्ष है ।

विशेषार्थ– 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने इस पूर्वपक्ष को ***"चैकांगविकलत्वात्–***[१] एक अंग की विकलता होने से " - इस वाक्य से स्पष्ट किया है, अर्थात् आत्मा अमूर्तिक और पुद्गल मूर्तिक है — इसप्रकार एक अंग विकल है, अतः दोनों का बँध नहीं हो सकता है (ऐसा प्रश्न है) ॥ १८५ ॥

१- प्रवचनसार,गाथा १७३,तत्त्वप्रदीपिका टीका ।

अथैवममूर्तस्याप्यात्मनो नयविभागेन बन्धो भवतीति प्रत्युत्तरं ददाति–

रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि।(१७४)

दव्वाणि गुणे य जधा तह बंधो तेण जाणीहि॥ १८६॥

रूवादिएहिं रहिदो अमूर्तपरमचिज्ज्योतिःपरिणतत्वेन तावदयमात्मा रूपादिरहितः। तथाविधः सन् किं करोति। *पेच्छदि जाणादि* मुक्तावस्थायां युगपत्परिच्छित्तिरूपसामान्यविशेषग्राहककेवलदर्शनज्ञानोपयोगेन यद्यपि तादात्म्यसंबन्धो नास्ति तथापि ग्राह्यग्राहकलक्षणसंबन्धेन पश्यति जानाति। कानि कर्मतापन्नानि। *रूवमादीणि दव्वाणि* रूपरसगन्धस्पर्शसहितानि मूर्तद्रव्याणि। न केवलं द्रव्याणि गुणे *य जधा* तद्गुणांश्च यथा।

अथवा यथा कश्चित्संसारी जीवो विशेषभेदज्ञानरहितः सन् काष्ठपाषाणाद्यचेतनजिनप्रतिमां दृष्ट्वा मदीयाराध्योऽयमिति मन्यते। यद्यपि तत्र सत्तावलोकदर्शनेन सह प्रतिमायास्तादात्म्यसंबन्धो नास्ति तथापि परिच्छेद्यपरिच्छेदकलक्षणसंबन्धोऽस्ति। यथा वा समवसरणे प्रत्यक्षजिनेश्वरं दृष्ट्वा विशेषभेदज्ञानी मन्यते मदीयाराध्योऽयमिति। तत्रापि यद्यप्यवलोकनज्ञानस्य जिनेश्वरेण सह तादात्म्यसंबन्धो नास्ति तथाप्याराध्याराधकसंबन्धोऽस्ति। *तह बंधो तेण जाणीहि* तथा बन्धं तेनैव दृष्टान्तेन जानीहि।

अब, ऐसे अमूर्त आत्मा का भी नय-विभाग से बन्ध होता है, ऐसा प्रत्युत्तर देते हैं —

रूपादि द्रव्यों व गुणों को जानता व देखता।

रूपादि बिन त्यों बंध होता जान उनसे जीव का॥ १८६॥

गाथार्थ- रूपादि से रहित आत्मा जिसप्रकार रूपादि द्रव्यों और गुणों को देखता-जानता है, उसीप्रकार उनके साथ बन्ध जानो।

टीकार्थ- ***रूवादिएहिं रहिदो-*** प्रथम तो अमूर्त परम चैतन्य ज्योतिरूप से परिणत होने के कारण यह आत्मा रूपादि रहित है। वैसा होता हुआ वह क्या करता है? ***पेच्छदि जाणादि-*** सिद्ध अवस्था में यद्यपि एक साथ जानकारीरूप सामान्य-विशेष को ग्रहण करने वाले केवलदर्शन-केवलज्ञान उपयोग के साथ तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है, तथापि ग्रहण करने योग्य— जानने योग्य और ग्रहण करने वाले— जानने वाले अर्थात् ज्ञेय-ज्ञायक लक्षण सम्बन्धरूप से देखते और जानते हैं। कर्मता को प्राप्त इस गाथा में कर्मकारक में प्रयुक्त किन्हें वे जीव देखते-जानते हैं? ***रूवमादीणि दव्वाणि-*** वे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श सहित मूर्त द्रव्यों को देखते-जानते हैं। न केवल द्रव्यों को देखते-जानते हैं, वरन् ***गुणे य जधा-*** और जैसे उनके गुणों को देखते-जानते हैं।

अथवा, कोई संसारी जीव, विशेष भेद-ज्ञान से रहित होता हुआ काठ, पत्थर आदि की अचेतन जिन-प्रतिमा को देखकर ये मेरे आराध्य हैं— ऐसा मानता है। यद्यपि वहाँ सत्ता को देखने वाले दर्शन के साथ प्रतिमा का तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं है, तथापि ज्ञेय-ज्ञायक लक्षण सम्बन्ध है। अथवा, जैसे विशेष भेदज्ञानी समवसरण में प्रत्यक्ष जिनेन्द्र भगवान को देखकर, ये मेरे आराध्य हैं— ऐसा मानता है। वहाँ भी यद्यपि अवलोकन ज्ञान का, जिनेश्वर के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं है; तथापि आराध्य-आराधक सम्बन्ध है। ***तह बंधो तेण जाणीहि-*** उसीप्रकार से बंध उसी दृष्टान्त द्वारा जानो।

अयमत्रार्थः– यद्यप्ययमात्मा निश्चयेनामूर्तस्तथाप्यनादिकर्मबन्धवशाद्व्यवहारेण मूर्तः सन् द्रव्यबन्धनिमित्तभूतं रागादिविकल्परूपं भावबन्धोपयोगं करोति। तस्मिन्सति मूर्तद्रव्यकर्मणा सह यद्यपि तादात्म्यसंबन्धो नास्ति तथापि पूर्वोक्तदृष्टान्तेन संश्लेषसंबन्धोऽस्तीति नास्ति दोषः ॥ १८६ ॥

एवं शुद्धबुद्धैकस्वभावजीवकथनमुख्यत्वेन प्रथमगाथा, मूर्तिरहितजीवस्य मूर्तकर्मणा सह कथं बन्धो भवतीति पूर्वपक्षरूपेण द्वितीया, तत्परिहाररूपेण तृतीया चेति गाथात्रयेण प्रथमस्थलं गतम्।

अथ रागद्वेषमोहलक्षणं भावबन्धस्वरूपमाख्याति –

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि। (१७५)

पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं सो बन्धो ॥ १८७ ॥

यहाँ अर्थ यह है– यद्यपि यह आत्मा निश्चय से अमूर्त है, तथापि अनादि कर्मबन्ध के वश व्यवहार से मूर्त होता हुआ,द्रव्यबन्ध के निमित्तभूत रागादि विकल्परूप भावबन्धमय उपयोग को करता है। वैसा होने पर, यद्यपि मूर्तद्रव्यकर्मो के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है; तथापि पहले कहे हुये उदाहरण से संश्लेष सबन्ध है– इसमें दोष नहीं है।

विशेषार्थ- अमूर्तिक आत्मा का मूर्त पुद्‌गलकर्मों के साथ बन्ध के सम्बन्ध में 'आचार्य अमृतचन्द्र' लिखते हैं–

"और यह (आत्मा तथा कर्म का बंध) अत्यन्त दुर्घट होने से द्राष्टान्त रूप किया गया है–ऐसा नहीं है, वरन् दृष्टान्त के माध्यम से आबाल-गोपाल में (इस तथ्य को) प्रकट करते हैं :–"

तदनंतर मिट्टी के बैल अथवा जीवित बैल द्वारा इसे स्पष्ट करते हुये लिखते हैं–

"उसीप्रकार आत्मा के अरूपीत्व होने से,स्पर्श-शून्यता के कारण,कर्म-पुद्‌गलों के साथ सम्बन्ध नहीं है, एकावगाह भाव से रहने वाले कर्मपुद्‌गलों के निमित्तरूप,उपयोगारूढ़ राग-द्वेषादि भाव सम्बन्ध,कर्मपुद्‌गल बन्ध के व्यवहार का साधक ही है।"[१] ॥ १८६ ॥

इसप्रकार शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावी जीव के कथन की मुख्यता से पहली गाथा; मूर्ति रहित–अमूर्त जीव का,मूर्त कर्मों के साथ कैसे बन्ध होता है– इसप्रकार पूर्व पक्ष (प्रश्न) रूप से दूसरी;तथा उसके परिहार (उत्तर) रूप से तीसरी– इसप्रकार तीन गाथाओं द्वारा पहला स्थल समाप्त हुआ।

(अब, भावबन्ध की मुख्यता परक दो गाथाओं में निबद्ध दूसरा स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, राग-द्वेष-मोह लक्षण भावबन्ध का स्वरूप प्रसिद्ध करते हैं–

उपयोगमय है जीव करता मोह राग व द्वेष जो।

पाकर विविध विषयों को उनसे बन्ध करता पुनः वो ॥ १८७ ॥

गाथार्थ- और जो वास्तव में उपयोगमय जीव, विविध विषयों को प्राप्त कर मोह करता है, राग करता है अथवा द्वेष करता है; वह जीव उनके द्वारा बन्धरूप है।

१- प्रवचनसार,गाथा १७४,तत्त्वप्रदीपिका टीका।

अथ विशेषः – योऽसौ दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षारूपाद्यपध्यानत्यागेन निजस्वरूपं भावयति, तस्य चित्तं बहिःपदार्थेषु न गच्छति, ततश्च बहिःपदार्थचिन्ताभावान्निर्विकारचिच्चमत्कारमात्राच्च्युतो न भवति। तदच्यवनेन च रागाद्यभावाद्विविधकर्माणि विनाशयतीति। ततो मोक्षार्थिना निश्चलचित्तेन निजात्मनि भावना कर्तव्येति।

इत्थं वीतरागचारित्रव्याख्यानं श्रुत्वा केचन वदन्ति– सयोगिकेवलिनामप्येकदेशेन चारित्रं, परिपूर्णचारित्रं पुनरयोगिचरमसमये भविष्यति, तेन कारणेनेदानीमस्माकं सम्यक्त्वभावनया भेदज्ञानभावनया च पूर्यते, चारित्रं पश्चाद्भविष्यतीति। नैवं वक्तव्यम्। अभेदनयेन ध्यानमेव चारित्रं तच्च ध्यानं केवलिनामुपचारेणोक्तं, चारित्रमप्युपचारेणेति। यत्पुनः समस्तरागादिविकल्पजालरहितं शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वकं वीतरागछद्मस्थचारित्रं तदेव कार्यकारीति। कस्मादिति चेत्। तेनैव केवलज्ञानं जायते यतस्तस्माच्चारित्रे तात्पर्यं कर्तव्यमिति भावार्थः।

किंच उत्सर्गव्याख्यानकाले श्रामण्यं व्याख्यातमत्र पुनरपि किमर्थमिति परिहारमाह–तत्र सर्वपरित्यागलक्षण उत्सर्ग एव मुख्यत्वेन च मोक्षमार्गः, अत्र तु श्रामण्यव्याख्यानमस्ति, परं किंतु श्रामण्यं मोक्षमार्गो भवतीति मुख्यत्वेन विशेषोऽस्ति ॥ २७९ ॥

एवं श्रामण्यापरनाममोक्षमार्गोपसंहारमुख्यत्वेन चतुर्थस्थले गाथाद्वयं गतम्।

इति पूर्वोक्तक्रमेण *'एयग्गगदो'*इत्यादिचतुर्दशगाथाभिः स्थलचतुष्टयेन श्रामण्यापरनामा मोक्षमार्गाभिधानस्तृतीयोऽन्तराधिकारः समाप्तः। *

अब (इसका) विशेष कथन करते हैं— जो वे देखे हुये, सुने हुये, भोगे हुये भोगों की इच्छारूप अपध्यान (बुरे ध्यान) के त्याग पूर्वक अपने स्वरूप की भावना करते हैं, उनका मन ब्राह्य पदार्थों में नहीं जाता है, और इसलिए बाह्य पदार्थों सम्बन्धी चिन्ता का अभाव होने से, विकार रहित चैतन्य चमत्कार से च्युत नहीं होते हैं, और उससे च्युत नहीं होने के कारण रागादि का अभाव होने से, विविध कर्म नष्ट हो जाते हैं। इसलिये मोक्षार्थी को निश्चल मन से, अपने आत्मा में भावना करना चाहिये।

इसप्रकार के वीतराग चारित्र सम्बन्धी विशेष कथन को सुनकर कोई कहते हैं— सयोगकेवलियों के भी एकदेश चारित्र है, परिपूर्ण चारित्र तो अयोगी के अन्तिम समय में होगा, इस कारण अभी हमारे सम्यक्त्व-भावना और भेदज्ञान-भावना ही पर्याप्त है, चारित्र बाद में होगा। (आचार्य कहते हैं) ऐसा नहीं कहना चाहिये। अभेदनय से ध्यान ही चारित्र है, और वह ध्यान केवलियों के उपचार से कहा गया है, इसीप्रकार चारित्र भी उपचार से कहा है। तथा जो, सम्पूर्ण रागादि विकल्प जाल रहित शुद्धात्मानुभूति लक्षण सम्यग्दर्शन-ज्ञान पूर्वक छद्मस्थ का वीतराग चारित्र है, वही कार्यकारी है। वही कार्यकारी क्यों है ? क्योंकि उससे ही केवलज्ञान उत्पन्न होता है, अतः वही कार्यकारी है; इसलिये चारित्र में प्रयत्न करना चाहिये— ऐसा भाव है।

दूसरी बात यह है कि उत्सर्ग व्याख्यान के समय श्रामण्य का व्याख्यान किया था, यहाँ फिर से किसलिए किया है ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर कहते हैं— वहाँ सम्पूर्ण (परिग्रहादि) का परित्याग लक्षण उत्सर्ग ही मुख्य रूप से मोक्षमार्ग है (यह कहा था); यहाँ श्रामण्य का व्याख्यान है, परन्तु श्रामण्य (मुनिपना) ही मोक्षमार्ग है (यह कहा गया है)— इसप्रकार (पृथक्-पृथक्) मुख्यता से दोनों में अन्तर है ॥ २७९ ॥

इसप्रकार श्रामण्य दूसरा नाम मोक्षमार्ग के उपसंहार की मुख्यता से चौथे स्थल में दो गाथायें पूर्ण हुईं।

इसप्रकार पहले कहे गये क्रम से *'एयग्गगदो–'* इत्यादि चौदह गाथाओं द्वारा चार स्थल रूप से श्रामण्य अपरनाम मोक्षमार्ग नामक तीसरा अन्तराधिकार पूर्ण हुआ।

---

* उपलब्ध प्रतियों में यह अंश ३०६वीं गाथा के बाद प्रकाशित है, परन्तु पूर्व सामूहिक पातनिका के आधार पर प्रकरण की समाप्ति यहाँ ही हो जाने से इसे यहाँ दिया है। शोधार्थी निर्णय करें। ॥अनुवादिका॥

अथानन्तरं द्वात्रिंशद्गाथापर्यन्तं पंचभिः स्थलैः शुभोपयोगाधिकारः कथ्यते। तत्रादौ लौकिकसंसर्गनिषेधमुख्यत्वेन *'णिच्छिदसुत्तत्थपदो'* इत्यादिपाठक्रमेण गाथापंचकम्। तदनन्तरं सरागसंयमापरनामशुभोपयोगस्वरूपकथनप्रधानत्वेन *'समणा सुद्धुवजुत्ता'* इत्यादि सूत्राष्टकम्। ततश्च पात्रापात्रपरीक्षाप्रतिपादनरूपेण *'रागो पसत्थभूदो'* इत्यादि गाथाषट्कम्। ततः परमाचारादिविहितक्रमेण पुनरपि संक्षेपरूपेण समाचारव्याख्यानप्रधानत्वेन *'दिट्ठा पगदं वत्थुं'* इत्यादि सूत्राष्टकम्। ततः परं पंचरत्नमुख्यत्वेन *'जे अजधागहिदत्था'* इत्यादि गाथापंचकम्।

एवं द्वात्रिंशद्गाथाभिः स्थलपंचकेन चतुर्थान्तराधिकारे समुदायपातनिका। १

अब, इसके बाद ३२ गाथाओं तक, पाँच स्थलों द्वारा शुभोपयोग अधिकार कहा जाता है। वहाँ सबसे पहले लौकिक संसर्ग के निषेध की मुख्यता से, ***'णिच्छिदसुत्तत्थ पदो–'*** इत्यादि पाठक्रम से पहले स्थल में पाँच गाथायें हैं। तदुपरान्त सरागसंयम दूसरा नाम शुभोपयोग के स्वरूप कथन की मुख्यता से, ***'समणा सुद्धुवजुत्ता–'*** इत्यादि दूसरे स्थल में आठ गाथायें हैं। तदनन्तर पात्र-अपात्र की परीक्षा के प्रतिपादन रूप से (तीसरे स्थल में), ***'रागो पसत्थभूदो–'*** इत्यादि छह गाथायें हैं। तत्पश्चात् परम आचार आदि कहे गये क्रम से और भी संक्षेप रूप से (चौथे स्थल में), समाचार व्याख्यान की प्रधानता रूप ***'दिट्ठा पगदं वत्थुं–'*** इत्यादि आठ गाथायें हैं। और उसके बाद पंच रत्न की मुख्यता से (पाँचवे स्थल में) ***'जे अजधागहिदत्था–'*** इत्यादि पाँच गाथायें हैं।

इसप्रकार ३२ गाथाओं द्वारा, पाँच स्थल रूप से चौथे अन्तराधिकार में सामूहिक पातनिका है।

चतुर्थ अन्तराधिकार का स्थल-विभाजन (गाथा २८० से ३११ पर्यन्त)

स्थल क्रम	प्रतिपादित प्रधान विषय	कहाँ से कहाँ पर्यन्त गाथायें	कुल गाथायें
प्रथम स्थल	लौकिक संसर्ग के निषेध परक	२८० से २८४	५
द्वितीय स्थल	शुभोपयोग स्वरूप कथन	२८५ से २९२	८
तृतीय स्थल	पात्र-अपात्र की परीक्षा प्रतिपादक	२९३ से २९८	६
चतुर्थ स्थल	समाचार व्याख्यान प्रतिपादक	२९९ से ३०६	८
पंचम स्थल	पंचरत्न गाथायें	३०७ से ३११	५
कुल पाँच स्थल		कुल ३२ गाथायें	

१- प्रस्तुत पातनिकानुसार उपलब्ध प्रतियों में चतुर्थ अन्तराधिकार का गाथा क्रम अव्यवस्थित है। पातनिकानुसार इस रूप में व्यवस्थित किया है। शोधार्थी निर्णय करें। (अनुवादिका)

तद्यथा-

अथ लौकिकसंसर्गं प्रतिषेधयति-

णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिगो चावि ।(२६८)

लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि ॥ २८० ॥

णिच्छिदसुत्तत्थपदो निश्चितानि ज्ञातानि निर्णीतान्यनेकान्तस्वभावनिजशुद्धात्मादिपदार्थप्रतिपादकानि सूत्रार्थपदानि येन स भवति निश्चितसूत्रार्थपदः, *समिदकसाओ* परविषये क्रोधादिपरिहारेण तथाभ्यन्तरे परमोपशमभावपरिणतनिजशुद्धात्मभावनाबलेन च शमितकषायः, *तवोधिगो चावि* अनशनादिबहिरंगतपोबलेन तथैवाभ्यन्तरे शुद्धात्मतत्त्वभावनाविषये प्रतपनाद्विजयनाच्च तपोऽधिकश्चापि सन् स्वयं संयतः कर्ता *लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि* लौकिकाः स्वेच्छाचारिणस्तेषां संसर्गो लौकिकसंसर्गस्तं न त्यजति यदि चेत् *संजदो ण हवदि* तर्हि संयतो न भवतीति ।

अयमत्रार्थः- स्वयं भावितात्मापि यद्यसंवृतजनसंसर्गं न त्यजति तदातिपरिचयादग्निसंगतं जलमिव विकृतिभावं गच्छतीति ॥ २८० ॥

(अब, चौथे अन्तराधिकार का पाँच गाथाओं वाला पहला स्थल प्रारम्भ होता है ।)

वह इसप्रकार —

अब, लौकिक संसर्ग का निषेध करते हैं—

सूत्रार्थ पद निर्णीत शमित कषाय तप में अधिक हो ।

पर छोड़ता न संगति लौकिकों की, ना मुनि तो ॥ २८० ॥

गाथार्थ- सूत्र-अर्थ-पदों का निर्णय करने वाला, कषायों के शमन सहित तथा तप में अधिक होने पर भी, यदि लौकिक मनुष्यों का संसर्ग नहीं छोड़ता है, तो वह संयत नहीं है ।

टीकार्थ- ***णिच्छिदसुत्तत्थपदो***- जिसके द्वारा, अनेकान्त स्वभावी अपने शुद्धात्मा आदि पदार्थों का प्रतिपादन करने वाले सूत्र-अर्थ-पद, निश्चित रूप से जाने गये हैं— निर्णय किये गये हैं, वे निश्चित सूत्रार्थपद हैं, ***समिदकसाओ***- दूसरे विषय में क्रोधादि के त्याग से, अन्तरंग में उत्कृष्ट उपशम भाव से परिणत अपने शुद्धात्मा की भावना के बल से, कषायों का शमन करने वाले हैं, ***तवोधिगो चावि***- अनशन आदि बाह्य तप के बल से और उसीप्रकार अन्तरंग में शुद्धात्म-तत्त्व की भावना के विषय में प्रतपन और विजयन से, जो तप में अधिक होते हुये भी स्वयं मुनि रूप कर्ता ***लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि***- लौकिक अर्थात् स्वेच्छाचारी, उनका संसर्ग—लौकिक संसर्ग है (षष्ठी तत्पुरुष समास किया), उसे यदि नहीं छोड़ता है, ***संजदो ण हवदि***- तब (वह) संयत—मुनि नहीं है ।

यहाँ अर्थ यह है— स्वयं आत्मा की भावना करने वाला होने पर भी, यदि असंवृत—असंयमी जनों का संसर्ग नहीं छोड़ता है, तो अग्नि की संगति में रहने वाले जल के समान, अतिपरिचय से विकृति भाव (रागादि भाव) को प्राप्त होता है ॥ २८० ॥

अथ लौकिकलक्षणं कथयति–

णिग्गंथो पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहिं कम्मेहिं ।(२६९)

सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंपजुत्तो वि ।। २८१ ।।

णिग्गंथो पव्वइदो वस्त्रादिपरिग्रहरहितत्वेन निर्ग्रन्थोऽपि दीक्षाग्रहणेन प्रव्रजितोऽपि *वट्टदि जदि* वर्तते यदि चेत्। कैः। *एहिगेहिं कम्मेहिं* ऐहिकैः कर्मभिः भेदाभेदरत्नत्रयभावनाशकैः ख्यातिपूजालाभनिमित्तैर्ज्योतिषमन्त्रवादवैदकादिभिरैहिकजीवनोपायकर्मभिः। *सो लोगिगो त्ति भणिदो* स लौकिको व्यावहारिक इति भणितः। किंविशिष्टोऽपि। *संजमतवसंजुदो चावि* द्रव्यरूपसंयमतपोभ्यां संयुक्तश्चापीत्यर्थः ।। २८१ ।।

अथोत्तमसंसर्गः कर्तव्य इत्युपदिशति–

तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं ।।(२७०)

अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं ।। २८२ ।।

अब, लौकिक का लक्षण कहते हैं–

निर्ग्रन्थ दीक्षा से सहित संयम व तप संयुक्त हैं।

पर रहें ऐहिक कर्म में तो कहें लौकिक ही उन्हें ।। २८१ ।।

गाथार्थ– निर्ग्रन्थ रूप से दीक्षित होने के कारण संयम-तप संयुक्त होने पर भी, यदि वह ऐहिक कार्यों सहित वर्तता है, तो लौकिक कहा गया है।

टीकार्थ– ***णिग्गंथो पव्वइदो–*** वस्त्रादि परिग्रह से रहित होने के कारण निर्ग्रन्थ होने पर भी, दीक्षा ग्रहण करने से प्रव्रजित–दीक्षित–साधु होने पर भी, ***वट्टदि जदि–*** यदि वर्तता है तो। किनके साथ वर्तता है ? ***एहिगेहिं कम्मेहिं–*** ऐहिक कर्मों के साथ–भेदाभेद रत्नत्रय परिणाम को नष्ट करने वाले प्रसिद्धि, पूजा, लाभ के निमित्तभूत ज्योतिष, मन्त्रवाद, वैदक (वैद्य सम्बन्धी) आदि, इस लोक सम्बन्धी जीवन के उपायभूत कर्मों के साथ वर्तता है। ***सो लोगिगो त्ति भणिदो–*** वह लौकिक–व्यावहारिक है– ऐसा कहा गया है। किस विशेषता वाला होने पर भी, वह लौकिक कहा गया है ? ***संजमतवसंजुदो चावि–*** द्रव्य रूप संयम-तप से संयुक्त होने पर भी, वह लौकिक कहा गया है ।। २८१ ।।

अब, उत्तम संसर्ग करना चाहिये ; ऐसा उपदेश देते हैं –

अतएव यदि दुख-मोक्ष चाहें सम गुणों में मुनि रहें।

या अधिक गुण सम्पन्न श्रमणों मध्य में ही नित रहें ।। २८२ ।।

गाथार्थ– इसलिये यदि श्रमण, दुःखों से पूर्णतया मुक्त होना चाहते हैं, तो समान गुण वाले अथवा अधिक गुण वाले श्रमणों के साथ हमेशा निवास करें।

तम्हा यस्माद्धीनसंसर्गाद्गुणहानिर्भवति तस्मात्कारणात् *अधिवसदु* अधिवसतु तिष्ठतु । स कः कर्ता । *समणो* श्रमणः । क्व । *तम्हि* तस्मिन्नधिकरणभूते । *णिच्चं* नित्यं सर्वकालम् । तस्मिन्कुत्र । *समणं* श्रमणे । लक्षणवशादधिकरणे कर्म पठ्यते । *कथंभूते* श्रमणे । *समं* समे समाने । कस्मात् । *गुणादो* बाह्याभ्यन्तररत्नत्रयलक्षणगुणात् । पुनरपि कथंभूते । *अहियं वा* स्वस्मादधिके वा । कैः । *गुणेहिं* मूलोत्तरगुणैः । यदि किम् । *इच्छदि जदि* इच्छति वांछति यदि चेत् । कम् । *दुक्खपरिमोक्खं* स्वात्मोत्थसुखविलक्षणानां नारकादिदुःखानां मोक्षं दुःखपरिमोक्षमिति ।

अथ विस्तरः– यथाग्निसंयोगात् जलस्य शीतलगुणविनाशो भवति तथा व्यावहारिकजनसंसर्गात्संयतस्य संयमगुणविनाशो भवतीति ज्ञात्वा तपोधनः कर्ता समगुणं गुणाधिकं वा तपोधनमाश्रयति, तदास्य तपोधनस्य यथा शीतलभाजनसहितशीतलजलस्य शीतलगुणरक्षा भवति तथा समगुणसंसर्गाद्गुणरक्षा भवति । यथा च तस्यैव जलस्य कर्पूरशर्करादिशीतलद्रव्यनिक्षेपे कृते सति शीतलगुणवृद्धिर्भवति तथा निश्चयव्यवहाररत्नत्रयगुणाधिकसंसर्गाद्गुणवृद्धिर्भवतीति सूत्रार्थः ॥ २८२ ॥

टीकार्थ– *तम्हा*– जिस कारण हीन संसर्ग से गुणों की हानि होती है, उस कारण *अधिवसदु*- निवास करें—रहें । कर्ता रूप वे कौन रहें ? *समणो*– मुनिराज रहें । वे कहाँ रहें ? *तम्हि*– उस आधारभूत में वे रहें । *णिच्चं*– हमेशा–सभी कालों में रहें । उस आधारभूत किसमें रहें ? *समणं*– मुनिसंघ में रहें । यहाँ लक्षण–व्याकरण नियम के कारण,अधिकरण के अर्थ में कर्म कारक का प्रयोग हुआ है ।[१] वे कैसे श्रमण संघ में रहें ? *समं*– वे समान श्रमण संघ में रहें । किसमें समान संघ में रहें ? *गुणादो*– बहिरंग और अन्तरंग रत्नत्रय लक्षण गुणों से समान संघ में रहें । और कैसे संघ में रहें ? *अहियं वा*– अथवा अपने से अधिक में रहें । किनसे अधिक में रहें ? *गुणेहिं*– मूलोत्तर गुणों द्वारा अपने से अधिक गुण वाले साधुसंघ में रहें । यदि क्या तो इनमें रहें ? *इच्छदि जदि*– यदि चाहते हैं तो इनमें रहें । क्या चाहते हैं ? *दुक्खपरिमोक्खं*– अपने आत्मा से उत्पन्न सुख से विलक्षण,नारक आदि दुःखों से पूर्णतः मोक्ष—दुःख-परिमोक्ष चाहते हैं, तो इनमें रहें ।

अब यहाँ विस्तार करते हैं– जैसे अग्नि के संयोग से,जल का शीतलगुण नष्ट होता है, उसीप्रकार व्यावहारिक मनुष्यों के सम्पर्क से,मुनिराज का संयम गुण नष्ट होता है– ऐसा जानकर मुनिराज रूप कर्ता,समान गुण अथवा अधिक गुण सम्पन्न मुनिराज का आश्रय लेते हैं; तब,जैसे ठंडे बर्तन सहित (में रखे हुये) ठंडे जल के ठंडे गुण की रक्षा होती है, उसी प्रकार समान गुणों के संसर्ग से,उन मुनि के गुणों की रक्षा होती है । और जैसे कपूर, शक्कर आदि ठंडे द्रव्य डालने से,उस जल के ठंडे गुण में वृद्धि होती है; उसीप्रकार निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय रूप गुणों में अधिक के संसर्ग से,उनके गुणों में वृद्धि होती है– ऐसा गाथा का अर्थ है ।

विशेषार्थ– इस गाथा-टीका के बाद 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने 'शुभोपयोग प्रज्ञापन' अधिकार पूर्ण करते हुये पद्य द्वारा 'समस्त वस्तु समूह के विस्तार को लीला मात्र से प्राप्त करने वाली रम्य उदय स्वरूप शाश्वती ज्ञानानंदमयी दशा का ही मात्र अनुभव करने का आदेश दिया है ।'[२] ॥ २८२ ॥

१- उपान्वध्याङ्वसः– वस् धातु के पूर्व उप, अनु, अधि, आङ् में से कोई भी उपसर्ग होने पर,क्रिया का आधार कर्मकारक में होता है ॥ संस्कृत व्याकरण,कारक प्रकरण ॥

२- तत्त्वप्रदीपिका टीका, पद्य १७ ।

अथ शुभोपयोगिनां तपोधनवैयावृत्त्यनिमित्तं लौकिकसंभाषणविषये निषेधो नास्तीत्युपदिशति–

वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं ।(२५३)
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा ॥ २८३ ॥

ण णिंदिदा शुभोपयोगितपोधनानां न निन्दिता, न निषिद्धा । का कर्मतापन्ना । *लोगिगजणसंभासा* लौकिकजनैः सह संभाषा वचनप्रवृत्तिः । *सुहोवजुदा वा* अथवा सापि शुभोपयोगयुक्ता भण्यते । किमर्थं न निषिद्धा । *वेज्जावच्चणिमित्तं* वैयावृत्त्यनिमित्तम् । केषां वैयावृत्त्यम् । *गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं* ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानाम् । अत्र गुरुशब्देन स्थूलकायो भण्यते, अथवा पूज्यो वा गुरुरिति ।

तथाहि– यदा कोऽपि शुभोपयोगयुक्त आचार्यः सरागचारित्रलक्षणशुभोपयोगिनां वीतरागचारित्रलक्षणशुद्धोपयोगिनां वा वैयावृत्त्यं करोति, तदाकाले तद्वैयावृत्त्यनिमित्तं लौकिकजनैः सह संभाषणं करोति, न शेषकाल इति भावार्थः ॥ २८३ ॥

अब, शुभोपयोगियों के लिये,मुनि की वैयावृत्ति के निमित्त,लौकिक जनों से संभाषण के विषय में निषेध नहीं है ; ऐसा उपदेश देते हैं–

हो वैयावृत्त निमित्त गुरु ग्लान बाल वृद्ध व श्रमण की ।
उपयोग शुभयुतजन हों लौकिक बोलना निंदित नहीं ॥ २८३ ॥

गाथार्थ– रोगी, गुरु, बाल, वृद्ध श्रमणों की वैयावृत्ति के निमित्त,शुभोपयोग युक्त लौकिक जनों के साथ, बातचीत करना निंदित नहीं है ।

टीकार्थ– ***ण णिंदिदा–*** शुभोपयोगी श्रमणों के निन्दित नहीं है, निषिद्ध नहीं है । कर्मता को प्राप्त (कर्मकारक में प्रयुक्त) क्या निषिद्ध नहीं है ? ***लोगिगजणसंभासा–*** लौकिक जनों के साथ सम्भाषा–वचन प्रवृत्ति–बोलना निषिद्ध नहीं है । ***सुहोवजुदा वा–*** अथवा वह बोलना भी,शुभोपयोग युक्त कहा गया है । किस हेतु से बोलना निषिद्ध नहीं है ? ***वेज्जावच्चणिमित्तं–*** वैयावृत्ति के निमित्त बोलना निषिद्ध नहीं है । किनकी वैयावृत्ति के निमित्त बोलना निषिद्ध नहीं है । ***गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं–*** रोगी, गुरु, बाल, वृद्ध मुनियों की वैयावृत्ति के निमित्त,बोलना निषिद्ध नहीं है । यहाँ 'गुरु' शब्द से मोटे शरीर वाले अथवा पूज्य अथवा गुरु कहे गये हैं ।

वह इसप्रकार– जब कोई भी शुभोपयोग युक्त आचार्य,सरागचारित्र लक्षणशुभोपयोगियों की अथवा वीतरागचारित्र लक्षण शुद्धोपयोगियों की वैयावृत्ति करते हैं, उस समय उस वैयावृत्ति के निमित्त,लौकिक जनों के साथ सम्भाषण करते हैं, शेष समय में नहीं– ऐसा भाव है ॥ २८३ ॥

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावं ति भणिदमण्णेसु ।(१८१)

परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये ॥ १९३ ॥

सुहपरिणामो पुण्णं द्रव्यपुण्यबन्धकारणत्वाच्छुभपरिणामः पुण्यं भण्यते। *असुहो पावं ति भणियं* द्रव्यपापबन्धकारणत्वादशुभपरिणामः पापं भण्यते। केषु विषयेषु योऽसौ शुभाशुभपरिणामः। *अण्णेसु* निजशुद्धात्मनः सकाशादन्येषु शुभाशुभबहिर्द्रव्येषु। *परिणामो णण्णगदो* परिणामो नान्यगतोऽनन्यगतः स्वस्वरूपस्थ इत्यर्थः। स इत्थंभूतः शुद्धोपयोगलक्षणः परिणामः *दुक्खक्खयकारणं* दुःखक्षयकारणं दुःखक्षयाभिधानमोक्षस्य कारणं *भणिदो* भणितः। क्व भणितः। *समये* परमागमे लब्धिकाले वा।

किंच, मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभपरिणामो भवतीति पूर्वं भणितमास्ते, अविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतसंज्ञगुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभपरिणामश्च भणितः, अप्रमत्तादिक्षीणकषायान्तगुणस्थानेषु तारतम्येन शुद्धोपयोगोऽपि भणितः। नयविवक्षायां मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तगुणस्थानेषु पुनरशुद्धनिश्चयनयो भवत्येव।

है पुण्य शुभ परिणाम अन्यों में अशुभ यह पाप है।

है आत्मगत परिणाम कारण दुःखक्षय का शास्त्र में ॥ १९३ ॥

गाथार्थ- दूसरों के प्रति शुभ परिणाम पुण्य और अशुभ परिणाम पाप है। तथा अनन्यगत (दूसरों के प्रति प्रवर्तमान न होने वाले) परिणाम दुःखों के विनाश के कारण हैं—ऐसा समय — आगम में कहा गया है।

टीकार्थ- ***सुहपरिणामो पुण्णं-*** द्रव्य-पुण्यबन्ध का कारण होने से शुभ परिणाम पुण्य कहलाता है। ***असुहो पावं ति भणियं-*** द्रव्य-पापबन्ध का कारण होने से अशुभ परिणाम पाप कहलाता है। जो ये शुभ-अशुभ परिणाम हैं,वे किन विषयों में गये हुये पुण्य-पाप रूप कहे हैं ? ***अण्णेसु-*** निज शुद्धात्मा से भिन्न, दूसरे शुभ-अशुभ बाह्य द्रव्यों में गये हुये पुण्य-पाप रूप कहे गये हैं। ***परिणामो णण्णगदो-*** परिणाम दूसरे में गये हुये नहीं हैं अर्थात् अनन्यगत— अपने स्वरूप में स्थित हैं— ऐसा अर्थ है। वह इसप्रकार का शुद्धोपयोग लक्षण परिणाम ***दुक्खक्खयकारणं-*** दुःखक्षय का कारण— दुःखों का विनाश नामक मोक्ष का कारण ***भणिदो-*** कहा गया है। वह मोक्ष का कारण कहाँ कहा गया है ? ***समये-*** परमागम में वह मोक्ष का कारण कहा गया है। अथवा वह मोक्ष का कारण कब कहा गया है ? वह काललब्धि में—समय की प्राप्ति होने पर मोक्ष का कारण कहा गया है।

विशेष यह है— मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र— इन तीन गुणस्थानों में तारतम्य (हानिगत) रूप से अशुभ परिणाम होता है— ऐसा पहले (९ वीं गाथा की टीका में) कहा था और अविरत, देशविरत प्रमत्तसंयत नामक तीन गुणस्थानों में तारतम्य (वृद्धिंगत) रूप से शुभ परिणाम कहा था,तथा अप्रमत्तादि क्षीणकषाय (सातवें से बारहवें) पर्यन्त गुणस्थानों में तारतम्य (वृद्धिंगत) रूप शुद्धोपयोग भी कहा था। तथा नय की विवक्षा में मिथ्यादृष्टि आदि क्षीणकषाय पर्यन्त गुणस्थानों में अशुद्ध-निश्चयनय होता ही है।

तत्राशुद्धनिश्चयमध्ये शुद्धोपयोगः कथं लभ्यत इति शिष्येण पूर्वपक्षे कृते सति प्रत्युत्तरं ददाति- वस्त्वेकदेशपरीक्षा तावन्नयलक्षणं, शुभाशुभशुद्धद्रव्यावलम्बनमुपयोगलक्षणं चेति, तेन कारणेनाशुद्धनिश्चय-मध्येऽपि शुद्धात्मावलम्बनत्वात् शुद्धध्येयत्वात् शुद्धसाधकत्वाच्च शुद्धोपयोगपरिणामो लभ्यत इति नयलक्षण-मुपयोगलक्षणं च यथासंभवं सर्वत्र ज्ञातव्यम् ।

अत्र योऽसौ रागादिविकल्पोपाधिरहितसमाधिलक्षणशुद्धोपयोगो मुक्तिकारणं भणितः स तु शुद्धात्म-द्रव्यलक्षणाद्ध्येयभूताच्छुद्धपारिणामिकभावादभेदप्रधानद्रव्यार्थिकनयेनाभिन्नोऽपि भेदप्रधानपर्यायार्थिकनयेन भिन्नः । कस्मादिति चेत् । अयमेकदेशनिरावरणत्वेन क्षायोपशमिकखण्डज्ञानव्यक्तिरूपः, स च पारिणामिकः सकलावरणरहितत्वेनाखण्डज्ञानव्यक्तिरूपः, अयं तु सादिसान्तत्वेन विनश्वरः, स च अनाद्यनन्तत्वेनाविन-श्वरः । यदि पुनरेकान्तेनाभेदो भवति तर्हि घटोत्पत्तौ मृत्पिण्डविनाशवत् ध्यानपर्यायविनाशे मोक्षे जाते सति ध्येयरूपपारिणामिकस्यापि विनाशो भवतीत्यर्थः । तत एव ज्ञायते शुद्धपारिणामिकभावो ध्येयरूपो भवति, ध्यानभावनारूपो न भवति । कस्मात् । ध्यानस्य विनश्वरत्वादिति ॥ १९३ ॥

वहाँ अशुद्ध-निश्चयनय के बीच शुद्धोपयोग कैसे प्राप्त होता है ? ऐसा शिष्य द्वारा पूर्वपक्ष (प्रश्न) किये जाने पर उसके प्रति उत्तर देते हैं — प्रथम तो वस्तु की एकदेश परीक्षा नय का लक्षण है और शुभ-अशुभ अथवा शुद्ध द्रव्य का अवलम्बन उपयोग का लक्षण है;इसप्रकार अशुद्ध-निश्चय के बीच में भी शुद्धात्मा का अवलम्बन होने से, शुद्ध ध्येय होने से और शुद्ध का साधक होने से, शुद्धोपयोग परिणाम प्राप्त होता है— ऐसा नय का और उपयोग का लक्षण यथासंभव सब जगह जानना चाहिये ।

यहाँ जो यह रागादि विकल्पों की उपाधि रहित समाधि लक्षण शुद्धोपयोग मुक्ति का कारण कहा गया है, वह शुद्धात्मद्रव्य का लक्षण होने से, ध्येयभूत शुद्ध पारिणामिक भाव से अभेद-प्रधान-द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा अभिन्न होने पर भी, भेद-प्रधान-पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा भिन्न है ।यह शुद्धोपयोग भिन्न क्यों है ? यदि ऐसा प्रश्न हो तो (उत्तर देते हैं)— यह शुद्धोपयोग एक देश आवरण रहित होने से,क्षायोपशमिक खण्डज्ञान की प्रगटता रूप है और वह पारिणामिक भाव सम्पूर्ण आवरणों से रहित होने के कारण,अखण्डज्ञान की प्रगटता रूप है, यह सादि-सान्त होने से नश्वर है और वह अनादि-अनन्त होने से अविनश्वर है । और यदि एकान्त से अभेद होता,तो घड़े की उत्पत्ति में मिट्टी-पिण्ड के विनाश के समान, ध्यान पर्याय के विनाश में मोक्ष उत्पन्न होने पर,ध्येयरूप पारिणामिक का भी विनाश हो जाता—ऐसा अर्थ है । इससे ही ज्ञात होता है कि शुद्ध-पारिणामिक-भाव ध्येयरूप है, ध्यान भावना रूप नहीं है । वह ध्यान भावनारूप क्यों नहीं है ? ध्यान के विनाशशील होने से वह ध्यान भावनारूप नहीं है ।

विशेषार्थ- १. 'समयसार' 'तात्पर्यवृत्ति' टीका में भी 'आचार्य जयसेन' शुद्ध-पारिणामिक-भाव का स्वरूप बताते हुये एक सिद्धान्त वाक्य को उद्धृत करते हैं । वह इस प्रकार है—

"और वैसा सिद्धान्त में कहा है—'शुद्ध पारिणामिक निष्क्रिय है';'निष्क्रिय' का क्या अर्थ है ? बन्ध की कारणभूत जो रागादि परिणतिरूप क्रिया, इसरूप नहीं होता है । और मोक्ष की कारणभूत जो शुद्ध भावना परिणति रूप क्रिया—उस रूप भी नहीं होता है ।"

तत्पश्चात् निष्कर्ष रूप में लिखते हैं कि ध्यान के नश्वर होने से,शुद्ध-पारिणामिक-भाव ध्येयरूप है; ध्यान रूप नहीं है । तथा यहाँ उपर्युक्त कथन की पुष्टि में 'योगीन्द्रदेव' कृत 'परमात्मप्रकाश' का दोहा ६८वाँ भी उद्धृत किया है ।

२. श्री 'ब्रह्मदेव सूरी' ने भी 'वृहद्-द्रव्यसंग्रह' संस्कृत व्याख्या गाथा १३ में भी इसी सिद्धान्त को स्पष्ट किया है ॥ १९३ ॥

एवं द्रव्यबन्धकारणत्वात् मिथ्यात्वरागादिविकल्परूपो भावबन्ध एव निश्चयेन बन्ध इति कथनमुख्यतया गाथात्रयेण चतुर्थस्थलं गतम् ।

अथ जीवस्य स्वद्रव्यप्रवृत्तिपरद्रव्यनिवृत्तिनिमित्तं षड्जीवनिकायैः सह भेदविज्ञानं दर्शयति –

भणिदा पुढविप्पमुहा जीवणिकायाध थावरा य तसा ।(१८२)
अण्णा ते जीवादो जीवो वि य तेहिंदो अण्णो ॥ १९४ ॥

भणिदा पुढविप्पमुहा भणिताः परमागमे कथिताः पृथ्वीप्रमुखाः । ते के । *जीवणिकाया* जीवसमूहाः । *अध* अथ । कथंभूताः । *थावरा य तसा* स्थावराश्च त्रसाः । ते च किंविशिष्टाः । *अण्णा ते* अन्ये भिन्नास्ते । कस्मात् । *जीवादो* शुद्धबुद्धैकजीवस्वभावात् । *जीवो वि य तेहिंदो अण्णो* जीवोऽपि च तेभ्योऽन्य इति ।

तथाहि- टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावपरमात्मतत्त्वभावनारहितेन जीवेन यदुपार्जितं त्रसस्थावरनामकर्म तदुदयजनितत्वादचेतनत्वाच्च त्रसस्थावरजीवनिकायाः शुद्धचैतन्यस्वभावजीवाद्भिन्नाः । जीवोऽपि च तेभ्यो विलक्षणत्वाद्भिन्न इति । अत्रैवं भेदविज्ञाने जाते सति मोक्षार्थी जीवः स्वद्रव्ये प्रवृत्तिं परद्रव्ये निवृत्तिं च करोतीति भावार्थः ॥ १९४ ॥

इसप्रकार द्रव्य-बन्ध का कारण होने से मिथ्यात्व-रागादि विकल्प रूप भाव-बन्ध ही, निश्चय से बन्ध है– ऐसे कथन की मुख्यता से, तीन गाथाओं द्वारा चौथा स्थल पूर्ण हुआ ।

(अब, भेदभावना परक दो गाथाओं वाला पाँचवा स्थल प्रारम्भ होता है ।)

अब, जीव को छह जीव-निकायों (षट्काय जीवों) के साथ स्वद्रव्य में प्रवृत्ति और परद्रव्य से निवृत्ति के निमित्त भेदविज्ञान को दिखाते हैं –

जो जीव-काय कहे गये भू आदि थावर त्रस सभी ।
वे जीव से हैं अन्य, उनसे जीव भी है अन्य ही ॥ १९४ ॥

गाथार्थ- अब, जो पृथ्वी प्रमुख (आदि) स्थावर और त्रस जीव-निकाय कहे गये हैं, वे जीव से भिन्न हैं; जीव भी उनसे भिन्न हैं ।

टीकार्थ- ***भणिदा पुढविप्पमुहा-*** परमागम में पृथ्वी प्रमुख कहे गये हैं । पृथ्वी आदि वे कौन हैं ? ***जीवणिकाया-*** पृथ्वी आदि वे जीव-निकाय हैं–जीव-समूह हैं । ***अध-*** अब, वे पृथ्वी आदि कैसे हैं ? ***थावरा य तसा-*** वे स्थावर और त्रस रूप हैं । और वे किस विशेषता वाले हैं ? ***अण्णा ते-*** वे अन्य–भिन्न हैं । वे किससे भिन्न हैं ? ***जीवादो-*** वे शुद्ध-बुद्ध एक जीव स्वभाव से भिन्न हैं । ***जीवो वि य तेहिंदो अण्णो-*** और जीव भी उनसे भिन्न है ।

वह इसप्रकार–टाँकी से उकेरे हुये के समान, ज्ञायक एक स्वभाव परमात्मतत्त्व की भावना से रहित जीव द्वारा उपार्जित किये गये– बाँधे गये जो त्रस-स्थावर नाम कर्म, उनके उदय से उत्पन्न होने के कारण और अचेतन होने के कारण त्रस-स्थावर जीव निकाय, शुद्ध चैतन्य स्वभावी जीव से भिन्न हैं । और जीव भी उनसे विलक्षण होने के कारण भिन्न है । यह इसप्रकार भेद-विज्ञान उत्पन्न हो जाने पर, मोक्षार्थी जीव स्वद्रव्य में प्रवृत्ति और परद्रव्य-निवृत्ति करता है– यह भावार्थ है ॥ १९४ ॥

अथैतदेव भेदविज्ञानं प्रकारान्तरेण द्रढयति –

जो णवि जाणदि एवं परमप्पाणं सहावमासेज्ज।(१८३)

कीरदि अज्झवसाणं अहं ममेदं ति मोहादो॥ १९५ ॥

जो णवि जाणदि एवं यः कर्ता नैव जानात्येवं पूर्वोक्तप्रकारेण। कम्। *परं* षड्जीवनिकायादिपरद्रव्यं, *अप्पाणं* निर्दोषिपरमात्मद्रव्यरूपं निजात्मानम्। किं कृत्वा। *सहावमासेज्ज* शुद्धोपयोगलक्षणनिजशुद्धस्वभावमाश्रित्य। *कीरदि अज्झवसाणं* स पुरुषः करोत्यध्यवसानं परिणामम्। केन रूपेण। *अहं ममेदं ति* अहं ममेदमिति। ममकाराहंकारादिरहितपरमात्मभावनाच्युतो भूत्वा परद्रव्यं रागादिकमहमिति देहादिकममेतिरूपेण। कस्मात्। *मोहादो* मोहाधीनत्वादिति।

ततः स्थितमेतत्स्वपरभेदविज्ञानबलेन स्वसंवेदनज्ञानी जीवः स्वद्रव्ये रतिं परद्रव्ये निवृत्तिं करोतीति ॥१९५॥

एवं भेदभावनाकथनमुख्यतया सूत्रद्वयेन पंचमस्थलं गतम्।

अब, इसी भेद-विज्ञान को दूसरी पद्धति से दृढ़ करते हैं—

जो स्वपर को ना जानता निज भाव पाकर इस तरह।

वह मोह से करता है अध्यवसान यह मैं मेरा यह॥ १९५ ॥

गाथार्थ- जो इसप्रकार स्वभाव को प्राप्त करके पर और आत्मा को जानता ही नहीं है, वह मोह से मैं यह हूँ, यह मेरा है— इसप्रकार अध्यवसान करता है।

टीकार्थ- ***जो णवि जाणदि एवं-*** जो कर्ता ऐसा पहले (१९४वीं गाथा में) कहे गये अनुसार जानता ही नहीं है। वह किसे नहीं जानता है ? ***परं-*** छह जीव-निकाय (समूह) आदि पर द्रव्य को, ***अप्पाणं-*** दोषरहित परमात्मद्रव्य रूप निज आत्मा को,जो नहीं जानता है। वह उन्हें क्या करके नहीं जानता है ? ***सहावमासेज्ज-*** शुद्धोपयोग लक्षण निज शुद्ध स्वभाव का आश्रय लेकर,जो उन्हें नहीं जानता है। ***कीरदि अज्झवसाणं-*** वह पुरुष अध्यवसानरूप परिणाम करता है। वह ऐसा किस रूप से करता है ? ***अहं ममेदं ति-*** यह मैं, यह मेरा — इसप्रकार वह अध्यवसान परिणाम करता है। ममकार-अहंकार आदि रहित परमात्म-भावना से च्युत होकर,रागादि परद्रव्य मैं हूँ, शरीरादिक पर द्रव्य मेरे हैं— इसप्रकार अध्यवसान करता है। वह ऐसा अध्यवसान क्यों करता है ? ***मोहादो-*** मोह के अधीन होने से,वह ऐसा अध्यवसान करता है।

इससे यह निश्चित हुआ कि स्वपर भेद-विज्ञान के बल से स्वसंवेदन ज्ञानी जीव,स्वद्रव्य में रति—प्रवृत्ति और परद्रव्य में निवृत्ति करता है।

विशेषार्थ- 'आचार्य अमृतचन्द्र' इस गाथा-टीका के निष्कर्ष रूप में लिखते हैं कि— "इसप्रकार जीव की परद्रव्य-प्रवृत्ति का निमित्त स्वपर के भेद-विज्ञान का अभाव मात्र ही है,तथा सामर्थ्य से (कहे बिना यह निश्चय हुआ कि) स्वद्रव्य-प्रवृत्ति का निमित्त उस (भेद-विज्ञान के अभाव) का अभाव अर्थात् भेद-विज्ञान का सद्भाव है"[१] ॥ १९५ ॥

इसप्रकार भेदभावना के कथन की मुख्यता से दो गाथाओं द्वारा पाँचवा स्थल पूर्ण हुआ।

१- प्रवचनसार,गाथा १८३,तत्त्वप्रदीपिका टीका।

अथात्मनो निश्चयेन रागादिस्वपरिणाम एव कर्म, न च द्रव्यकर्मेति प्ररूपयति –

कुव्वं सभावमादा हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स ।(१८४)

पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ।। १९६ ।।

कुव्वं सभावं कुर्वन्स्वभावम् । अत्र स्वभावशब्देन यद्यपि शुद्धनिश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावो भण्यते, तथापि कर्मबन्धप्रस्तावे रागादिपरिणामोऽप्यशुद्धनिश्चयेन स्वभावो भण्यते । तं स्वभावं कुर्वन् । स कः । *आदा* आत्मा । *हवदि हि कत्ता* कर्ता भवति हि स्फुटम् । कस्य । *सगस्स भावस्स* स्वकीयचिद्रूपस्वभावस्य रागादि-परिणामस्य । तदेव तस्य रागादिपरिणामरूपं निश्चयेन भावकर्म भण्यते । कस्मात् । तप्तायःपिण्डवत्तेनात्मना प्राप्यत्वाद्व्याप्यत्वादिति । *पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं* चिद्रूपात्मनो विलक्षणानां पुद्गलद्रव्यम-यानां न तु कर्ता सर्वभावानां ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मपर्यायाणामिति ।

ततो ज्ञायते जीवस्य रागादिस्वपरिणाम एव कर्म, तस्यैव स कर्तेति ।। १९६ ।।

(अब, जीव रागादि का ही कर्ता है, द्रव्य कर्मों का नहीं — इस कथन परक सात गाथाओं में निबद्ध अंतिम छठवाँ स्थल प्रारम्भ होता है ।)

अब, आत्मा का निश्चय से रागादि स्वपरिणाम ही कर्म है और द्रव्यकर्म उसका कर्म नहीं है, ऐसा प्ररूपित करते हैं— कथन करते हैं—

करता हुआ स्व भाव को आत्मा स्वयं के भाव का ।

कर्ता है पर कर्ता न पुद्गल द्रव्यमय सब भाव का ।। १९६ ।।

गाथार्थ- अपने भाव को करता हुआ आत्मा, वास्तव में अपने भाव का कर्ता है, परन्तु पुद्गल द्रव्यमय सर्वभावों का कर्ता नहीं है ।

टीकार्थ- ***कुव्वं सहावं-*** स्वभाव को कर्ता हुआ । यहाँ स्वभाव शब्द से, शुद्ध निश्चयनय से, यद्यपि शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव कहा गया है; तथापि कर्मबन्ध के प्रसंग में, अशुद्ध निश्चय से, रागादि परिणाम भी स्वभाव कहलाता है । उस स्वभाव को करता हुआ । उस स्वभाव को करता हुआ, वह कौन है ? ***आदा-*** उस स्वभाव को करता हुआ आत्मा है । ***हवदि हि कत्ता-*** अपने स्वभाव को करता हुआ आत्मा, वास्तव में कर्ता है । वह किसका कर्ता है ? ***सगस्स भावस्स-*** अपने चैतन्यरूप स्वभाव—रागादि परिणाम का कर्ता है । निश्चय से वही उसका रागादि- परिणामरूप भावकर्म कहलाता है । रागादि परिणाम उसके भावकर्म क्यों हैं ? तपे हुये लोह-पिण्ड के समान, उस आत्मा द्वारा प्राप्य—प्राप्त होने योग्य तथा व्याप्य—व्याप्त होने योग्य होने से, वे रागादि परिणाम आत्मा के भावकर्म हैं । ***पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं-*** परन्तु वह चैतन्यरूप आत्मा से विलक्षण, ज्ञानावरणादि-द्रव्यकर्मपर्याय रूप पुद्गलद्रव्यमयी सभी भावों का कर्ता नहीं है ।

इससे ज्ञात होता है कि रागादि निज परिणाम ही जीव के कर्म हैं, उसका ही वह कर्ता है ।। १९६ ।।*

---

* प्रस्तुत भाव को 'आचार्य कुन्दकुन्ददेव' ने 'समयसार' में गाथा ९०,९७,९९,१०१ से १०४,३११,३७२ इत्यादि द्वारा भी स्पष्ट किया है । इनकी टीकायें भी द्रष्टव्य हैं ।

अथात्मनः कथं द्रव्यकर्मरूपपरिणामः कर्म न स्यादिति प्रश्ने समाधानं ददाति –

गेण्हदि णेव ण मुंचदि करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि।(१८५)
जीवो पोग्गलमज्झे वट्टण्णवि सव्वकालेसु॥ १९७॥

गेण्हदि णेव ण मुंचदि करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि जीवो यथा निर्विकल्पसमाधिरतः परममुनिः परभावं न गृह्णाति न मुंचति न च करोत्युपादानरूपेण लोहपिण्डो वाग्निं तथायमात्मा न च गृह्णाति न च मुंचति न च करोत्युपादानरूपेण पुद्गलकर्माणीति। किं कुर्वन्नपि। *पुग्गलमज्झे वट्टण्णवि सव्वकालेसु* क्षीरनीरन्यायेन पुद्गलमध्ये वर्तमानोऽपि सर्वकालेषु।

अनेन किमुक्तं भवति। यथा सिद्धो भगवान् पुद्गलमध्ये वर्तमानोऽपि परद्रव्यग्रहणमोचनकरण-रहितस्तथा शुद्धनिश्चयेन शक्तिरूपेण संसारी जीवोऽपीति भावार्थः॥ १९७॥

अब, द्रव्यकर्म रूप परिणाम, आत्मा का कर्म कैसे नहीं है ? ऐसा प्रश्न होने पर समाधान देते हैं (करते हैं)—

वह जीव पुद्गल मध्य में रहता हुआ सब काल भी।
पर कर्म पुद्गल ग्रहे ना छोड़े ना करता भी नहीं॥ १९७॥

गाथार्थ- जीव सभी काल—हमेशा पुद्गलों के बीच रहता हुआ भी, वास्तव में पुद्गल कर्मों को न तो ग्रहण करता है, न छोड़ता है और न करता है।

टीकार्थ- ***गेण्हदि णेव ण मुंचदि करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि जीवो-*** जैसे विकल्प रहित समाधि में लीन परममुनि, परभाव को ग्रहण नहीं करते हैं, छोड़ते नहीं हैं और उपादानरूप से करते नहीं हैं, अथवा जैसे लोहपिण्ड अग्नि को ग्रहण नहीं करता, छोड़ता नहीं है और उपादानरूप से करता नहीं है; उसीप्रकार यह आत्मा पुद्गल कर्मों को न ग्रहण करता है, न छोड़ता है और न उपादानरूप से करता है। क्या करता हुआ भी आत्मा, यह सब नहीं करता है ? ***पुग्गलमज्झे वट्टण्णवि सव्वकालेसु-*** दूध और पानी के हमेशा एक साथ रहने रूप न्याय से सभी कालों में—हमेशा पुद्गलों के बीच रहने पर भी, पुद्गल कर्मों का ग्रहण आदि नहीं करता है।

इससे क्या कहा गया है ? अथवा इस सब कथन का क्या प्रयोजन है ? जैसे सिद्ध भगवान, पुद्गलों के बीच रहते हुये भी, परद्रव्य को ग्रहण करने, छोड़ने और करने से रहित हैं; उसीप्रकार शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा, शक्तिरूप से संसारी जीव भी, इन सब से रहित हैं — ऐसा प्रयोजन है।

विशेषार्थ- पुद्गलपरिणाम सम्बन्धी आत्मा के अकर्तृत्व को 'आचार्य अमृतचन्द्र' निम्न तर्क द्वारा स्पष्ट करते हैं — "पर द्रव्य के ग्रहण और त्याग से शून्य होने के कारण वास्तव में पुद्गल परिणाम आत्मा के कर्म नहीं हैं। जो, जिसका परिणमाने वाला देखा जाता है, वह उसके ग्रहण-त्याग से शून्य नहीं देखा जाता है"[1] *॥१९७॥

---

* 'आचार्य कुन्दकुन्ददेव' ने इस तथ्य को 'समयसार' में गाथा ७६ से ७९ पर्यन्त विशेष स्पष्ट किया है। इनकी टीकायें भी मूलतः पठनीय हैं।

१- प्रवचनसार, गाथा १८५, तत्त्वप्रदीपिका टीका।

अथ यद्ययमात्मा पुद्गलकर्म न करोति न च मुंचति तर्हि बन्धः कथं, तर्हि मोक्षोऽपि कथमिति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति –

स इदाणिं कत्ता सं सगपरिणामस्स दव्वजादस्स ।(१८६)

आदीयदे कदाइं विमुच्चदे कम्मधूलीहिं ॥ १९८ ॥

स इदाणिं कत्ता सं स इदानीं कर्ता सन् । स पूर्वोक्तलक्षण आत्मा, इदानीं कोऽर्थः एवं पूर्वोक्तनयविभागेन, कर्ता सन् । कस्य । *सगपरिणामस्स* निर्विकारनित्यानन्दैकलक्षणपरमसुखामृतव्यक्तिरूपकार्यसमयसारसाधकनिश्चयरत्नत्रयात्मककारणसमयसारविलक्षणस्य मिथ्यात्वरागादिविभावरूपस्य स्वकीयपरिणामस्य । पुनरपि किंविशिष्टस्य । *दव्वजादस्स* स्वकीयात्मद्रव्योपादानकारणजातस्य । *आदीयदे कदाई कम्मधूलीहिं* आदीयते बध्यते । काभिः । कर्मधूलीभिः कर्तृभूताभिः कदाचित्पूर्वोक्तविभावपरिणामकाले । न केवलमादीयते, *विमुच्चदे* विशेषेण मुच्यते त्यज्यते ताभिः कर्मधूलीभिः कदाचित्पूर्वोक्तकारणसमयसारपरिणतिकाले ।

एतावता किमुक्तं भवति । अशुद्धपरिणामेन बध्यते शुद्धपरिणामेन मुच्यत इति ॥ १९८ ॥

अब, यदि यह आत्मा पुद्गल कर्म को नहीं करता है और न छोड़ता है, तो बन्ध कैसे होता है और मोक्ष भी कैसे होता है ? ऐसा प्रश्न होने पर उसके प्रति उत्तर देते हैं—

वह द्रव्य से उत्पन्न निज परिणाम को करता हुआ ।

इस समय कर्मों से ग्रहण होता कदाचित् छूटता ॥ १९८ ॥

गाथार्थ- वह इस समय (संसारावस्था में) द्रव्य से उत्पन्न होने वाले निज परिणाम का कर्ता होता हुआ, कर्मरजों से ग्रहण किया जाता है और कदाचित् छोड़ा जाता है ।

टीकार्थ- ***स इदाणिं कत्ता सं-*** वह अब कर्ता होता हुआ । वह पहले कहे गये लक्षण वाला आत्मा, 'इदानीं अर्थात् अब' का क्या अर्थ है ? इसप्रकार पहले (१९६ वीं गाथा में) कहे गये नय-विभाग से कर्ता होता हुआ— यह 'अब' का अर्थ है । किसका कर्ता होता हुआ ? ***सगपरिणामस्स-*** विकार रहित हमेशा आनन्द एक लक्षण परमसुखरूपी अमृत की प्रगटतारूप कार्य-समयसार को साधनेवाले निश्चय रत्नत्रय स्वरूप कारण-समयसार से विलक्षण, मिथ्यात्व-रागादि विभावरूप अपने परिणामों का कर्ता होता हुआ । और भी किस विशेषता वाला है ? ***दव्वजादस्स-*** अपने आत्मद्रव्य के उपादानकारण से उत्पन्न परिणामों का कर्ता होता हुआ । ***आदीयदे कदाई कम्मधूलीहिं-*** बँधता है । किनसे बँधता है ? कर्ताभूत (कर्मवाच्य की अपेक्षा कर्ताकारक में प्रयुक्त) कर्मरजों से बँधता है, कदाचित्- पहले कहे गये विभाव परिणामों के समय बँधता है । न केवल बँधता है, ***विमुच्चदे-*** विशेष रूप से छूटता है, उन कर्मरजों से कदाचित् पहले कहे गये कारणसमयसार रूप परिणति के समय छूटता है ।

इससे क्या कहा गया है ? अथवा इस सब कथन का क्या प्रयोजन है ? अशुद्ध परिणामों से जीव बँधता है, शुद्ध परिणाम से छूटता है— यह ज्ञान कराना इस कथन का प्रयोजन है ॥ १९८ ॥

अथ यथा द्रव्यकर्माणि निश्चयेन स्वयमेवोत्पद्यन्ते तथा ज्ञानावरणादिविचित्रभेदरूपेणापि स्वयमेव परिणमन्तीति कथयति –

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्हि असुहम्हि रागदोसजुदो ।(१८७)
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं ॥ १९९ ॥

परिणमदि जदा अप्पा परिणमति यदात्मा। समस्तशुभाशुभपरद्रव्यविषये परमोपेक्षालक्षणं शुद्धोपयोगपरिणामं मुक्त्वा यदायमात्मा परिणमति। क्व। *सुहम्हि असुहम्हि* शुभेऽशुभे वा परिणामे। कथंभूतः सन्। *रागदोसजुदो* रागद्वेषयुक्तः परिणत इत्यर्थः। *तं पविसदि कम्मरयं* तदा काले तत्प्रसिद्धं कर्मरजः प्रविशति। कैः कृत्वा। *णाणावरणादिभावेहिं* भूमेर्मेघजलसंयोगे सति यथाऽन्ये पुद्‌गलाः स्वयमेव हरितपल्लवादिभावैः परिणमन्ति तथा स्वयमेव नानाभेदपरिणतैर्मूलोत्तरप्रकृतिरूपज्ञानावरणादिभावैः पर्यायैरिति।

ततो ज्ञायते यथा ज्ञानावरणादिकर्मणामुत्पत्तिः स्वयंकृता तथा मूलोत्तरप्रकृतिरूपवैचित्र्यमपि, न च जीवकृतमिति ॥ १९९ ॥

अब, जैसे द्रव्यकर्म निश्चय से स्वयं ही उत्पन्न होते हैं, उसीप्रकार ज्ञानावरणादि विविध भेदरूप से स्वयं ही परिणमित होते हैं, ऐसा कहते हैं—

जब जीव राग व द्वेष युत शुभ अशुभ से परिणमे तब ।
ज्ञानावरण इत्यादि रूपों से प्रविष्ट हो कर्मरज ॥ १९९ ॥

गाथार्थ- जब आत्मा राग-द्वेष सहित होता हुआ, शुभ-अशुभ में परिणमित होता है, तब कर्मरज ज्ञानावरणादिरूप से उसमें प्रवेश करती है ।

टीकार्थ- ***परिणमदि जदा अप्पा-*** जब आत्मा परिणमित होता है । सम्पूर्ण शुभ-अशुभ पर द्रव्यों के विषयों में परम उपेक्षा लक्षण शुद्धोपयोगरूप परिणाम को छोड़कर, जब यह आत्मा परिणमित होता है । यह आत्मा किसमें परिणमित होता है ? ***सुहम्मि असुहम्हि-*** शुभ अथवा अशुभ परिणाम में परिणमित होता है । कैसा होता हुआ उनमें परिणमित होता है ? ***रागदोसजुदो-*** राग-द्वेष से सहित अर्थात् राग-द्वेषरूप परिणत होता हुआ, उनमें परिणमित होता है— ऐसा अर्थ है । ***तं पविसदि कम्मरयं-*** तब उस समय वह प्रसिद्ध कर्मरज, प्रवेश करती है । वह किसरूप में प्रवेश करती है ? ***णाणावरणादिभावेहिं-*** जैसे भूमि से बादलों के जल का संयोग होने पर, अन्य पुद्‌गल स्वयं ही हरे पत्ते आदि भावों से परिणमित होते हैं; उसीप्रकार स्वयं ही मूल-उत्तर प्रकृति रूप अनेक भेद परिणत ज्ञानावरणादि भावों—पर्यायों रूप से प्रवेश करती है ।

इससे ज्ञात होता है कि जैसे ज्ञानावरणादि कर्मों की उत्पत्ति स्वयंकृत है (कार्मण-वर्गणाओं का स्वयं ज्ञानावरणादिरूप परिणमन हुआ है); उसीप्रकार मूल-उत्तर प्रकृतिरूप विचित्रता भी स्वयंकृत है; जीव द्वारा की गई नहीं है ॥ १९९ ॥

अथ पूर्वोक्तज्ञानावरणादिप्रकृतीनां जघन्योत्कृष्टानुभागस्वरूपं प्रतिपादयति –

सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसम्मि।
विवरीदो दु जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं ॥ २०० ॥

अणुभागो अनुभाग: फलदानशक्तिविशेष: भवतीति क्रियाध्याहार:। कथम्भूतो भवति। *तिव्वो* तीव्र: प्रकृष्ट: परमामृतसमान:। कासां सम्बन्धी। *सुहपयडीणं* सद्वेद्यादिशुभप्रकृतीनाम्। कया कारणभूतया। *विसोही* तीव्रधर्मानुरागरूपविशुद्ध्या। *असुहाण संकिलेसम्मि* असद्वेद्याद्यशुभप्रकृतीनां तु मिथ्यात्वादिरूपतीव्रसंक्लेशे सति तीव्रो हालाहलविषसदृशो भवति। *विवरीदो दु जहण्णो* विपरीतस्तु जघन्यो गुडनिम्बरूपो भवति। जघन्यविशुद्ध्या जघन्यसंक्लेशेन च मध्यमविशुद्ध्या मध्यमसंक्लेशेन तु शुभाशुभप्रकृतीनां खण्डशर्करारूप: कांजीरविषरूपश्चेति। एवंविधो जघन्यमध्यमोत्कृष्टरूपोऽनुभाग: कासां सम्बन्धी भवति। *सव्वपयडीणं* मूलोत्तरप्रकृतिरहितनिजपरमानन्दैकस्वभावलक्षणसर्वप्रकारोपादेयभूतपरमात्मद्रव्याद्भिन्नानां हेयभूतानां सर्व-मूलोत्तरकर्मप्रकृतीनामिति कर्मशक्तिस्वरूपं ज्ञातव्यम्॥ २०० ॥

अब, पहले (१९९वीं गाथा में) कही गई प्रकृतियों के,जघन्य अनुभाग और उत्कृष्ट अनुभाग का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं —

हो विशुद्धि में प्रकृति शुभ वा अशुभ का संक्लेश में।
हो तीव्र,इन सबका जघन अनुभाग हो विपरीत में ॥ २०० ॥

गाथार्थ- तीव्र—अधिक विशुद्धि में शुभ-प्रकृतियों का उत्कृष्ट—तीव्र अनुभाग बन्ध और तीव्र संक्लेशता में अशुभ-प्रकृतियों का उत्कृष्ट—तीव्र अनुभाग बन्ध होता है तथा इससे विपरीत परिणामों से सभी प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बन्ध होता है।

टीकार्थ- ***अणुभागो-*** अनुभाग—फल देने सम्बन्धी शक्ति विशेष होती है—ऐसा क्रिया का अध्याहार—ग्रहण किया गया है। वह शक्ति विशेष कैसी होती है ? ***तिव्वो-*** यह तीव्र प्रकृष्ट—परम अमृत समान होती है। इस रूप वह किनकी होती है ? ***सुहपयडीणं-*** साता वेदनीय आदि शुभ प्रकृतियों की शक्ति इस रूप होती है। वह किस कारण इस रूप होती है ? ***विसोही-*** तीव्रधर्मानुरागरूप विशुद्धि द्वारा सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृतियों की,परम अमृत समान फलदान शक्ति होती है। ***असुहाण संकिलेसम्मि-*** असाता वेदनीय आदि अशुभ प्रकृतियों का मिथ्यात्वादिरूप तीव्र संक्लेश होने पर तीव्र हालाहल विष के समान अनुभाग होता है। ***विवरीदो दु जहण्णो-*** उससे विपरीत जघन्य अनुभाग बन्ध गुड़ और नीम रूप होता है। जघन्य विशुद्धि और जघन्य संक्लेश से तथा मध्यम विशुद्धि और मध्यम संक्लेश से क्रमश: शुभ-अशुभ प्रकृतियों का खण्ड (खांड) और शक्कर रूप तथा कांजीर और विषरूप (अनुभाग) होता है। इस-प्रकार का जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टरूप अनुभाग किनका होता है ? ***सव्वपयडीणं-*** मूल-उत्तर प्रकृतियों से रहित,निज परमानन्द एक स्वभाव लक्षण,सभी प्रकार से उपादेयभूत परमात्म-द्रव्य से भिन्न,हेयभूत मूल-उत्तर प्रकृतियों का जघन्यादि रूप अनुभाग है। इसप्रकार कर्मों की शक्तियों का स्वरूप जानना चाहिये ॥ २०० ॥*

---

* 'विवरीदो दु' के 'स्थान पर 'विवरीदेण' रूप से मात्र भिन्नता परक एक गाथा *'गोम्मटसार कर्मकाण्ड'* में १६३वीं गाथा के रूप में ग्रथित है।

अनुभाग सम्बन्धी विशेष परिज्ञान के लिये *'गोम्मटसार कर्मकाण्ड'* गाथा १६३ से १८४ पर्यन्त पठनीय हैं।

अथाभेदनयेन बन्धकारणभूतरागादिपरिणतात्मैव बन्धो भण्यत इत्यावेदयति-

सपदेसो सो अप्पा कसायिदो मोहरागदोसेहिं ।(१८८)

कम्मरएहिं सिलिट्ठो बंधो त्ति परूविदो समये ।। २०१ ।।

सपदेसो लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशत्वात्सप्रदेशस्तावद्भवति *सो अप्पा* स पूर्वोक्तलक्षण आत्मा। पुनरपि किंविशिष्टः । *कसायिदो* कषायितः परिणतो रंजितः । कैः । *मोहरागदोसेहिं* निर्मोहस्वशुद्धात्मतत्त्व-भावनाप्रतिबन्धिभिर्मोहरागद्वेषैः । पुनश्च किंरूपः । *कम्मरजेहिं सिलिट्ठो* कर्मरजोभिः श्लिष्टः कर्मवर्गणायोग्य-पुद्गलरजोभिः संश्लिष्टो बद्धः । *बंधो त्ति परूविदो* अभेदेनात्मैव बन्ध इति प्ररूपितः । क्व । *समये* परमागमे।

अत्रेदं भणितं भवति- यथा वस्त्रं लोध्रादिद्रव्यैः कषायितं रंजितं सन्मंजीष्ठादिरंगद्रव्येण रंजितं सदभेदेन रक्तमित्युच्यते तथा वस्त्रस्थानीय आत्मा लोध्रादिद्रव्यैस्थानीयमोहरागद्वेषैः कषायितो रंजितः परिणतो मंजीष्ठ-स्थानीयकर्मपुद्गलैः संश्लिष्टः संबद्धः सन् भेदेऽप्यभेदोपचारलक्षणेनासद्भूतव्यवहारेण बन्ध इत्यभिधीयते। कस्मात् । अशुद्धद्रव्यनिरूपणार्थविषयत्वादसद्भूतव्यवहारनयस्येति ।। २०१ ।।

अब, अभेदनय से,बन्ध के कारणभूत रागादिरूप से परिणत आत्मा ही बन्ध कहलाता है, ऐसा मर्यादा पूर्वक ज्ञान कराते हैं—

वह सप्रदेशी जीव मोह रु राग द्वेष कषाय से।

हो कर्मरज से श्लिष्ट 'बन्ध' है निरूपित जिन शास्त्र में ।। २०१ ।।

गाथार्थ- वह सप्रदेशी आत्मा, मोह-राग-द्वेष द्वारा कषायित होने से,कर्मरज से लिप्त होता हुआ,आगम में 'बन्ध' ऐसा कहा गया है ।

टीकार्थ- ***सपदेसो-*** लोकाकाश प्रमाण असख्यात प्रदेश होने से,प्रथम तो सप्रदेश हैं ***सो अप्पा-*** वह पहले (१९६वीं गाथा में) कहे गये लक्षण वाला आत्मा । और किस विशेषता वाला है ? ***कसायिदो-*** कषाय से परिणत—रंजित—रँगा हुआ है । वह किनके द्वारा कषाय से रँगा हुआ है ? ***मोहरागदोसेहिं-*** मोहरहित स्वशुद्धात्मतत्त्व की भावना के प्रतिबन्धक (रोकने वाले) मोह-राग-द्वेष द्वारा वह कषाय से रँगा हुआ है । वह और किस स्वरूप है ? ***कम्मरजेहिं सिलिट्ठो-*** कर्मरज द्वारा श्लिष्ट अर्थात् कर्मवर्गणा के योग्य पुद्गल रज द्वारा संश्लिष्ट—बँधा हुआ है । ***बंधो त्ति परूविदो-*** अभेदनय से आत्मा ही बंध है — ऐसा कहा गया है। अभेदनय से आत्मा ही बन्ध है — ऐसा कहाँ कहा गया है ? ***समये-*** परमागम में ऐसा कहा गया है ।

यहाँ यह कहा गया है कि जैसे — लोध्र (लोंध) आदि द्रव्यों द्वारा कषायलारूप से रँगा हुआ वस्त्र,मंजीष्ठ (मंजीठा) रंग वाले द्रव्य से रंजित होता हुआ,अभेदनय से 'लाल' ऐसा कहा जाता है; उसीप्रकार वस्त्र स्थानीय आत्मा, लोध्र आदि द्रव्यों के स्थानीय मोह-राग-द्वेष द्वारा कषाय रूप से रँगा हुआ — उसरूप परिणत(आत्मा), मंजीष्ठ स्थानीय कर्म पुद्गलों के साथ संश्लिष्ट—सम्बद्ध—बँधा हुआ, भेद होने पर भी अभेदोपचार लक्षण असद्भूत व्यवहार से 'बन्ध' ऐसा कहा जाता है । वह 'बन्ध' क्यों कहा जाता है ? अशुद्ध द्रव्य के विशेष कथन के लिए असद्भूत व्यवहारनय का विषय होने से,वह बन्ध कहा जाता है ।

अथ निश्चयव्यवहारयोरविरोधं दर्शयति –

एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयेण णिद्दिट्ठो ।(१८९)

अरहंतेहिं जदीणं ववहारो अण्णहा भणिदो ॥ २०२ ॥

एसो बंधसमासो एष बन्धसमासः । एष बहुधा पूर्वोक्तप्रकारो रागादिपरिणतिरूपो बन्धसंक्षेपः । केषां संबंधी । *जीवाणं* जीवानाम् । *णिच्छयेण णिद्दिट्ठो* निश्चयनयेन निर्दिष्टः कथितः । कैः कर्तृभूतैः । *अरहंतेहिं* अर्हद्भिः निर्दोषिपरमात्मभिः । केषाम् । *जदीणं* जितेन्द्रियत्वेन शुद्धात्मस्वरूपे यत्नपराणां गणधरदेवादियतीनाम् । *ववहारो* द्रव्यकर्मरूपव्यवहारबन्धः *अण्णहा भणिदो* निश्चयनयापेक्षयान्यथा व्यवहारनयेनेति भणितः ।

किंच रागादीनेवात्मा करोति तानेव भुङ्क्ते चेति निश्चयनयलक्षणमिदम् । अयं तु निश्चयनयो द्रव्यकर्मबन्धप्रतिपादकासद्भूतव्यवहारनयापेक्षया शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको विवक्षितनिश्चयनयस्तथैवाशुद्ध-निश्चयश्च भण्यते । द्रव्यकर्माण्यात्मा करोति भुङ्क्ते चेत्यशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकासद्भूतव्यवहार नयो भण्यते । इदं नयद्वयं तावदस्ति । किंत्वत्र निश्चयनय उपादेयः, न चासद्भूतव्यवहारः ।

विशेषार्थ- कषाय को ही बन्ध का नियामक कारण सिद्ध करते हुये 'आचार्य प्रभाचन्द्र' इस गाथा-टीका में लिखते हैं—

"तथा च आकाशादीनां कषायासम्भवात् पुद्गलकर्मसम्बन्धेऽपि न बन्ध इति[१]

और उसीप्रकार आकाशादि द्रव्यों के कषाय का असम्भव होने से,पुद्गल कर्म (कार्मण-वर्गणा) का सम्बन्ध होने पर भी बन्ध नहीं होता है ।" ॥ २०१ ॥

अब, निश्चय-व्यवहार का अविरोध दिखाते हैं –

यह बन्ध का संक्षेप जीवों के जिनेन्द्रों ने कहा।

यतियों से,निश्चय से तथा व्यवहार अन्य विधि कहा ॥ २०२ ॥

गाथार्थ- निश्चय से यह जीवों के बन्ध का संक्षेप,अरहन्तों द्वारा यतियों (आचार्य, उपाध्याय, साधुओं) के लिये कहा गया है, व्यवहार में अन्य प्रकार से कहा गया है ।

टीकार्थ- ***एसो बंधसमासो-*** यह बन्ध का संक्षेप है । यह पहले कहे हुये अनेक प्रकार की रागादि परिणति रूप बन्ध का संक्षेप है । यह रागादि परिणति रूप बन्ध का संक्षेप किनका है ? ***जीवाणं-*** यह जीवों के बन्ध का संक्षेप है । ***णिच्छयेण णिद्दिट्ठो-*** निश्चय नय से ऐसा कहा गया है । यह,कर्ताभूत किनके द्वारा कहा गया है ? ***अरहंतेहिं-*** अरहन्त निर्दोषीपरमात्मा द्वारा कहा गया है । उनके द्वारा,किनके लिये कहा गया है ? ***जदीणं-*** जितेन्द्रिय होने से शुद्धात्मस्वरूप में प्रयत्नशील गणधरदेव आदि यतियों (आचार्य, उपाध्याय, साधुओं) के लिये कहा गया है । ***ववहारो-*** द्रव्यकर्मरूप व्यवहार बन्ध ***अण्णहा भणिदो-*** निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार नय से अन्य प्रकार कहा गया है ।

दूसरी बात यह है कि आत्मा रागादि को ही करता है और उसे ही भोगता है— ऐसा यह निश्चयनय का लक्षण है । और यह निश्चयनय,द्रव्यकर्मबन्ध के प्रतिपादक असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा,शुद्धद्रव्य का निरूपण करने के स्वभाववाला विवक्षित निश्चयनय और उसीप्रकार अशुद्ध निश्चय कहलाता है । आत्मा,द्रव्यकर्म को करता है और भोगता है— ऐसे अशुद्ध द्रव्य का निरूपण करनेवाला असद्भूतव्यवहारनय कहलाता है । इसप्रकार यह दो नय हैं । परन्तु यहाँ निश्चयनय उपादेय है, असद्भूत व्यवहारनय उपादेय नहीं है ।

१- प्रवचनसार, गाथा १९८, प्रवचनसार सरोजभास्कर टीका ।

चारकथनरूपेण *'णिहदघणघादिकम्मो'* इत्यादि तृतीयस्थले गाथाद्वयम्। तदनन्तरं दर्शनाधिकारोपसंहारप्रधानत्वेन *'एवं जिणा जिणिंदा'* इत्यादि चतुर्थस्थले गाथाद्वयम्। ततः परं *'दंसणसंसुद्धाणं'* इत्यादि नमस्कारगाथा चेति द्वादशगाथाभिश्चतुर्थस्थले विशेषान्तराधिकारे समुदायपातनिका।

अथाशुद्धनयादशुद्धात्मलाभ एव भवतीत्युपदिशति –

ण चयदि जो दु ममत्तिं अहं ममेदं ति देहदविणेसु।(१९०)

सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होदि उम्मग्गं॥ २०३॥

ध्यान का उपचार कथन रूप से *"णिहदघणघादिकम्मो-"* इत्यादि तीसरे स्थल में दो गाथायें हैं। तदनन्तर दर्शनाधिकार के उपसंहार की प्रधानता से *'एवं जिणा जिणिंदा-'* इत्यादि चौथे स्थल में दो गाथायें हैं। और तदुपरान्त *'दंसणसंसुद्धाणं-'* इत्यादि एक नमस्कार गाथा है; इसप्रकार बारह गाथाओं द्वारा चार स्थलरूप विशेषान्तराधिकार में सामूहिक पातनिका पूर्ण हुई।

चतुर्थ विशेषान्तराधिकार-स्थल विभाजन (गाथा २०३ से २१४ पर्यन्त)

स्थल क्रम	प्रतिपादित प्रधान विषय	कहाँ से कहाँ पर्यन्त गाथायें	कुल गाथायें
प्रथम स्थल	शुद्धात्मभावना की प्रधानता	२०३ से २०६	४
द्वितीय स्थल	शुद्धात्मोपलब्धि फल कथन	२०७ से २०९	३
तृतीय स्थल	केवली भगवान के ध्यान उपचार से	२१० व २११	२
चतुर्थ स्थल	दर्शनाधिकार के उपसंहार की प्रधानता	२१२ व २१३	२
	नमस्कार गाथा	२१४	१
कुल ४ स्थल		कुल १२ गाथायें	

(अब, अंतिम चौथे विशेषान्तराधिकार का शुद्धात्मभावना की प्रधानता परक चार गाथाओं में निबद्ध पहला स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, अशुद्धनय से अशुद्धात्मा की ही प्राप्ति होती है, ऐसा उपदेश देते हैं —

छोड़े न ममता देह धन में मैं हूँ ये ये मेरे हैं।

वह छोड़कर श्रामण्य को उन्मार्ग को ही प्राप्त है॥ २०३॥

गाथार्थ- जो शरीर-धनादिक में 'मैं यह हूँ और यह मेरा है', ऐसी ममता को नहीं छोड़ता है, वह श्रमणता को छोड़कर, उन्मार्ग का आश्रय लेता है।

णाहं होमि परेसिं, ण मे परे संति नाहं भवामि परेषाम्, न मे परे सन्तीति समस्तचेतनाचेतनपरद्रव्येषु स्वस्वामिसम्बन्धं मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च स्वात्मानुभूतिलक्षणनिश्चयनयबलेन पूर्वमपहाय निराकृत्य। पश्चात् किं करोति। *णाणमहमेक्को* ज्ञानमहमेकः, सकलविमलकेवलज्ञानमेवाहं भावकर्मद्रव्य-कर्मनोकर्मरहितत्वेनैकश्च। *इदि जो झायदि* इत्यनेन प्रकारेण योऽसौ ध्यायति चिन्तयति भावयति। क्व। *झाणे* निजशुद्धात्मध्याने स्थितः *सो अप्पाणं हवदि झादा* स आत्मानं भवति ध्याता। स चिदानन्दैकस्वभावपरमात्मानं ध्याता भवतीति। ततश्च परमात्मध्यानात्तादृशमेव परमात्मानं लभते। तदपि कस्मात्। उपादानकारणसदृशं कार्यमिति वचनात्।

ततो ज्ञायते शुद्धनयाच्छुद्धात्मलाभ इति ॥ २०४ ॥

अथ ध्रुव त्वाच्छुद्धात्मानमेव भावयेऽहमिति विचारयति–

एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं।(१९२)

धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं ॥ २०५ ॥

टीकार्थ- ***णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति-*** मैं पर का नहीं हूँ, और पर मेरा नहीं है — इसप्रकार सम्पूर्ण चेतन-अचेतन पर द्रव्यों में, मन-वचन-शरीर और कृत-कारित-अनुमोदना द्वारा अपने आत्मा की अनुभूति लक्षण निश्चयनय के बल से, पहले स्वस्वामी सम्बन्ध (ममत्वपरिणाम) को छोड़कर — उसका निराकरण कर। पहले स्वस्वामी सम्बन्ध छोड़कर, बाद में क्या करता है ? ***णाणमहमेक्को-*** मैं एक ज्ञान हूँ, परिपूर्ण निर्मल केवलज्ञान ही मैं हूँ और भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म से रहित होने के कारण मैं एक हूँ। ***इदि जो झायदि-*** इसप्रकार से जो वह ध्यान करता है, चिन्तन करता है, भावना करता है। ऐसा ध्यान आदि वह कहाँ करता है ? ***झाणे-*** ऐसा वह, निज शुद्धात्मा के ध्यान में करता है, निज शुद्धात्मा के ध्यान में स्थित ***सो अप्पाणं हवदि झादा-*** वह, आत्मा का ध्याता होता है। वह, ज्ञानानन्द एक स्वभावी परमात्मा का ध्यान करने वाला होता है। और इसलिये परमात्मा के ध्यान से, उसके ही समान परमात्मदशा को प्राप्त करता है। उसके ध्यान से, वह वैसी दशा को क्यों प्राप्त करता है ? "उपादान कारण के समान कार्य होता है"– ऐसा वचन होने से — वह, उसके ध्यान से, वैसी दशा को प्राप्त करता है।

इससे ज्ञात होता है कि शुद्धनय से शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है ॥ २०४ ॥ *

अब, ध्रुवरूप होने से मैं शुद्धात्मा की ही भावना करता हूँ, ऐसा विचार करते हैं–

इस तरह मैं आत्मा को ज्ञान दर्शनमय अचल।

हूँ मानता ध्रुव शुद्ध, आलंबन न, इन्द्रिय बिन, महत ॥ २०५ ॥

गाथार्थ– मैं इसप्रकार आत्मा को ज्ञानात्मक, दर्शनभूत, अतीन्द्रिय, महार्थ, ध्रुव, अचल, अनालम्ब और शुद्ध मानता हूँ।

---

* प्रस्तुत २०३ एवं २०४ वीं गाथा का भाव 'आचार्य कुन्दकुन्ददेव' ने 'समयसार' गाथा १८६ में समाहित किया है।

अथात्मनः पृथग्भूतं देहादिकमध्रुवत्वान्न भावनीयमित्याख्याति–

देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तजणा ।(१९३)

जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा ॥ २०६ ॥

ण संति धुवा ध्रुवा अविनश्वरा नित्या न सन्ति । कस्य । *जीवस्स* जीवस्य । के ते । *देहा वा दविणा वा* देहा वा द्रव्याणि वा, सर्वप्रकारशुचिभूतादेहरहितात्परमात्मनो विलक्षणा औदारिकादिपंचदेहास्तथैव च पंचेन्द्रियभोगोपभोगसाधकानि परद्रव्याणि च । न केवलं देहादयो ध्रुवा न भवन्ति, *सुहदुक्खा वा* निर्विकारपरमानन्दैकलक्षणस्वात्मोत्थसुखामृतविलक्षणानि सांसारिकसुखदुःखानि वा । *अध* अहो भव्याः *सत्तुमित्तजणा* शत्रुमित्रादिभावरहितादात्मनो भिन्नाः शुत्रमित्रादिजनाश्च । यद्येतत् सर्वमध्रुवं तर्हि किं ध्रुवमिति चेत् । *धुवो* ध्रुवः शाश्वतः । स कः । *अप्पा* निजात्मा । किंविशिष्टः । *उवओगप्पगो* त्रैलोक्योदरविवरवर्तित्रिकालविषयसमस्तद्रव्यगुणपर्याययुगपत्परिच्छित्तिसमर्थकेवलज्ञानदर्शनोपयोगात्मक इति ।

इन विशेषणों से विशिष्ट सहज परमाह्लाद एक स्वभावी स्व-आत्मा को ही, मैं स्वीकार करता हूँ, उसी का ध्यान करता हूँ, उसी की भावना करता हूँ ॥ २०५ ॥

अब, आत्मा से पृथग्भूत (भिन्न) शरीर आदि, अध्रुव होने से भावना करने योग्य नहीं हैं, ऐसा प्रसिद्ध करते हैं–

तन-धन व सुख-दुख मित्र-अरिजन जीव के ये ध्रुव नहीं ।

इस जीव को ध्रुव एक है उपयोगमय निज जीव ही ॥ २०६ ॥

गाथार्थ– शरीर, धन, सुख-दुःख, शत्रु-मित्रजन (ये कोई भी) जीव के (लिये) ध्रुव नहीं हैं ; उपयोग स्वरूप आत्मा ही,उसके लिये ध्रुव है ।

टीकार्थ– ***ण संति धुवा***– ध्रुव–अविनश्वर–नित्य नहीं हैं । किसके ध्रुव नहीं हैं ? ***जीवस्स***– जीव के ध्रुव नहीं हैं । वे कौन ध्रुव नहीं हैं ? ***देहा वा दविणा वा***– शरीर अथवा द्रव्य आदि ; सभी प्रकार से शुचिभूत–पवित्र, शरीर रहित परमात्मा से विलक्षण, औदारिक आदि पाँच शरीर और उसीप्रकार पंचेन्द्रिय भोगोपभोग के साधक पर द्रव्य ध्रुव नहीं है । शरीर आदि ही मात्र ध्रुव नहीं हैं–ऐसा नहीं है, वरन् ***सुहदुक्खा वा***– विकार रहित परमानन्द एक लक्षण निजात्मा से उत्पन्न सुखरूपी अमृत से विलक्षण,सांसारिक सुख-दुःख भी ध्रुव नहीं हैं । ***अध***– अहो । हे भव्यो ! ***सत्तुमित्तजणा***– शत्रु-मित्र आदि भाव से रहित आत्मा से भिन्न शत्रु और मित्र आदि जन भी ध्रुव नहीं हैं । यदि ये सब अध्रुव हैं, तो ध्रुव क्या है ? यदि ऐसा प्रश्न हो तो उत्तर कहते हैं– ***धुवो***- ध्रुव-शाश्वत है । वह कौन ध्रुव है ? ***अप्पा***– अपना आत्मा ध्रुव है । वह अपना आत्मा किस विशेषतावाला है ? ***उवओगप्पगो***– तीन लोक रूप उदर (पेट) के विवर (छिद्र) में स्थित सम्पूर्ण द्रव्य-गुण-पर्यायरूप तीन काल के विषयों को एक साथ जानने में समर्थ केवलज्ञान और केवलदर्शन उपयोग स्वरूप है ।

ज्ञात्वा । कथंभूतः सन् ध्यायति । *विसुद्धप्पा* ख्यातिपूजालाभादिसमस्तमनोरथजालरहितत्वेन विशुद्धात्मा सन् । पुनरपि कथंभूतः *सागारोऽणागारो* सागारोऽनागारः । अथवा साकारानाकारः । सहाकारेण विकल्पेन वर्तते साकारो ज्ञानोपयोगः, अनाकारो निर्विकल्पो दर्शनोपयोगस्ताभ्यां युक्तः साकारानाकारः । अथवा साकारः सविकल्पो गृहस्थः, अनाकारो निर्विकल्पस्तपोधनः । अथवा सहाकारेण लिंगेन चिह्नेन वर्तते साकारो यतिः, अनाकारश्चिह्नरहिदो गृहस्थः । *खवेदि सो मोहदुग्गंठिं* य एवंगुणविशिष्टः क्षपयति स मोहदुर्ग्रन्थिम् । मोह एव दुर्ग्रन्थिः मोहदुर्ग्रन्थिः शुद्धात्मरुचिप्रतिबन्धको दर्शनमोहस्तम् ।

ततः स्थितमेतत्–आत्मोपलम्भस्य मोहग्रन्थिविनाश एव फलम् ॥ २०७ ॥

अथ दर्शनमोहग्रन्थिभेदात्किं भवतीति प्रश्ने समाधानं ददाति–

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे ।(१९५)
होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि ॥ २०८ ॥

निजात्मा को जानकर, फिर उसका ध्यान करता है । वह कैसा होता हुआ उसका ध्यान करता है ? ***विसुद्धप्पा***– ख्याति, पूजा, लाभ आदि सम्पूर्ण इच्छा समूहों से रहित होने के कारण विशुद्धात्मा होता हुआ, उसका ध्यान करता है । और भी कैसा है ? ***सागारोऽणागारो***– सागार-अनागार है । अथवा साकार-अनाकार है । जो आकार अर्थात् विकल्प के साथ वर्तता है वह साकार–आकार सहित ज्ञानोपयोग है, अनाकार–विकल्प रहित दर्शनोपयोग– उन दोनों से सहित साकार-अनाकार है । अथवा साकार अर्थात् सविकल्प गृहस्थ, अनाकार अर्थात् निर्विकल्प मुनिराज । अथवा साकार अर्थात् लिंग–चिह्नरूप से जो वर्तते हैं, वे आकार सहित– साकार यति–मुनि हैं और अनाकार अर्थात् चिन्ह रहित गृहस्थ हैं । ***खवेदि सो मोहदुग्गंठिं***– जो इन गुणों से सहित है, वह मोहरूपी दुर्ग्रन्थि–बुरी गाँठ का क्षय करता है । मोह ही दुर्ग्रन्थि–मोह दुर्ग्रन्थि (इसप्रकार कर्मधारय समास किया) शुद्धात्मा की रुचि का प्रतिबन्धक (रोकनेवाला) दर्शनमोह, उसे नष्ट करता है ।

इससे यह निश्चित हुआ कि मोहरूपी ग्रन्थि का विनाश ही, आत्मोपलब्धि का फल है ॥ २०७ ॥

अब, दर्शन-मोहरूपी ग्रन्थि के नाश से क्या होता है ? ऐसा प्रश्न होने पर समाधान देते हैं (करते हैं)–

हत मोह ग्रन्थि राग- द्वेष विनाश कर श्रामण्य में ।
पाता वो अक्षय सौख्य को जो साम्यमय सुख दुःख में ॥ २०८ ॥

गाथार्थ– मोह ग्रन्थि को नष्ट करनेवाला जो जीव, राग-द्वेष को नष्ट कर सुख-दुःख में समतावान होता हुआ श्रामण्य में परिणमित होता है, वह अक्षय-सौख्य को प्राप्त करता है ।

जो खविदमोहकलुसो यः क्षपितमोहकलुषः, मोहो दर्शनमोहः कलुषश्चारित्रमोहः, पूर्वसूत्रद्वयकथित-क्रमेण क्षपितमोहकलुषौ येन स भवति क्षपितमोहकलुषः । पुनरपि किंविशिष्टः । *विसयविरत्तो* मोहकलुषरहित-स्वात्मसंवित्तिसमुत्पन्नसुखसुधारसास्वादबलेन कलुषमोहोदयजनितविषयसुखाकांक्षारहितत्वाद्विषयविरक्तः । पुनरपि कथंभूतः । *समवट्ठिदो* सम्यगवस्थितः । क्व । *सहावे* निजपरमात्मद्रव्यस्वभावे । किं कृत्वा पूर्वम् । *मणो णिरुंभित्ता* विषयकषायोत्पन्नविकल्पजालरूपं मनो निरुध्य निश्चलं कृत्वा । *सो अप्पाणं हवदि झादा* स एवंगुणयुक्तः पुरुषः स्वात्मानं भवति ध्याता । तेनैव शुद्धात्मध्यानेनात्यन्तिकीं मुक्तिलक्षणां शुद्धिं लभत इति ।

ततः स्थितं शुद्धात्मध्यानाज्जीवो विशुद्धो भवतीति ।

किंच ध्यानेन किलात्मा शुद्धो जातः तत्र विषये चतुर्विधव्याख्यानं क्रियते ।

तथाहि– ध्यानं ध्यानसन्तानस्तथैव ध्यानचिन्ता ध्यानान्वयसूचनमिति । तत्रैकाग्रचिन्तानिरोधो *ध्यानम्* । तच्च शुद्धाशुद्धरूपेण द्विधा ।

टीकार्थ– ***जो खविद मोहकलुसो***– जो मोह-कलुषता के क्षय से सहित है, मोह अर्थात् दर्शन-मोह, कलुष अर्थात चारित्र-मोह, पहले (२०७ और २०८वीं) गाथा में कहे गये क्रम से जिसके द्वारा मोह और कलुषता का क्षय किया गया है, वह मोह और कलुष का क्षय करनेवाला है । वह और किस विशेषता वाला है ? ***विसयविरत्तो***– मोह और कलुष रहित अपने आत्मा की अनुभूति से, अच्छी तरह उत्पन्न सुखरूपी अमृतरस के आस्वाद के बल से, कलुष और मोह के उदय से उत्पन्न विषयसुख की आकांक्षा से रहित होने के कारण, विषयों से विरक्त है । और कैसा है ? ***समवट्ठिदो***– अच्छी तरह अवस्थित है । अच्छी तरह कहाँ अवस्थित है ? ***सहावे***– अपने परमात्मद्रव्यरूप स्वभाव में अवस्थित है । पहले क्या करके स्वभाव में अवस्थित है ? ***मणो णिरुंभित्ता***– विषय-कषाय से उत्पन्न विकल्प-समूहरूप मन को रोककर– निश्चलकर स्वभाव में अवस्थित है । ***सो अप्पाणं हवदि झादा***– वह इन गुणों से सहित पुरुष अपने आत्मा को ध्याता है । उसी शुद्धात्मा के ध्यान से आत्यन्तिकी (हमेशा-हमेशा के लिये परिपूर्ण) मुक्ति लक्षण शुद्धि को प्राप्त होता है ।

इससे निश्चित हुआ कि शुद्धात्मा के ध्यान से जीव विशुद्ध होता है ।

दूसरी बात यह है कि ध्यान से वास्तव में आत्मा शुद्ध होता है, इस (ध्यान के) विषय में चार प्रकार से विशेष कथन करते हैं । वह इसप्रकार–

ध्यान, ध्यानसन्तान, उसीप्रकार ध्यान चिन्ता और ध्यान का अन्वय सूचन । वहाँ एकाग्र चिन्ता निरोध– एक अग्र-विषय में चिन्ता का रुक जाना ध्यान है, और वह ध्यान शुद्ध-अशुद्ध रूप से दो प्रकार का होता है ।

अथोपलब्धशुद्धात्मतत्त्वसकलज्ञानी किं ध्यायतीतिप्रश्नमाक्षेपद्वारेण पूर्वपक्षं वा करोति-

णिहदघणघादिकम्मो पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू ।(१९७)

णेयंतगदो समणो झादि कमट्ठं असंदेहो ॥ २१० ॥

णिहदघणघादिकम्मो पूर्वसूत्रोदितनिश्चलनिजपरमात्मतत्त्वपरिणतिरूपशुद्धध्यानेन निहतघनघातिकर्मा । *पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू* प्रत्यक्षं यथा भवति तथा सर्वभावतत्त्वज्ञः सर्वपदार्थपरिज्ञातस्वरूपः । *णेयंतगदो* ज्ञेयान्तगतः ज्ञेयभूतपदार्थानां परिच्छित्तिरूपेण पारंगतः । एवंविशेषणत्रयविशिष्टः *समणो* जीवितमरणादिसमभावपरिणतात्मस्वरूपः श्रमणो महाश्रमणः सर्वज्ञः *झादि कमट्ठं* ध्यायति कमर्थमिति प्रश्नः । अथवा कमर्थं ध्यायति, न कमपीत्याक्षेपः । कथंभूतः सन् । *असंदहो* असन्देहः संशयादिरहित इति ।

अयमत्रार्थः– यथा कोऽपि देवदत्तो विषयसुखनिमित्तं विद्याराधनाध्यानं करोति, यदा विद्या सिद्धा भवति तत्फलभूतं विषयसुखं च सिद्धं भवति तदाराधनाध्यानं न करोति, तथायं भगवानपि केवलज्ञानविद्यानिमित्तं

(अब, केवली भगवान के ध्यान उपचार से है– इस कथन परक दो गाथाओं में निबद्ध तीसरा स्थल प्रारम्भ होता है ।)

अब, शुद्धात्मतत्त्व को प्राप्त सकलज्ञानी—केवलज्ञानी क्या ध्यान करते हैं ? ऐसे प्रश्न अथवा आक्षेप के माध्यम से पूर्वपक्ष करते हैं–

घनघाति कर्म विहीन सब प्रत्यक्ष जानें अर्थ को ।

ज्ञेयान्त गत सन्देह बिन ध्याते श्रमण किस अर्थ को ? ॥ २१० ॥

गाथार्थ– घनरूप घाति कर्मों से रहित, सभी पदार्थों के स्वरूप को प्रत्यक्ष जाननेवाले, ज्ञेयों के पार को प्राप्त, सन्देह रहित श्रमण– केवलज्ञानी मुनि किस पदार्थ का ध्यान करते हैं ?

टीकार्थ– ***णिहदघणघादिकम्मो–*** पहले (२०९वी) गाथा में कहे गये निश्चल निज परमात्मतत्त्व में परिणति रूप शुद्ध ध्यान द्वारा घनरूप घाति कर्मों को नष्ट करनेवाले । ***पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू–*** जैसे प्रत्यक्ष होता है,वैसे सभी पदार्थों तत्त्वों को जानने वाले–सभी पदार्थों को पूर्णरूप से जानने के स्वरूपवाले । ***णेयंतगदो–*** ज्ञेयों के अन्त को प्राप्त– जानने की अपेक्षा ज्ञेयभूत पदार्थों के पार को प्राप्त (सभी को जानने वाले) । इसप्रकार तीन विशेषणों से सहित ***समणो–*** जीवन-मरण आदि में समभावरूप से परिणत आत्म-स्वरूप श्रमण—महाश्रमण—सर्वज्ञ—केवली भगवान ***झादि कमट्ठं–*** किस पदार्थ का ध्यान करते हैं ? ऐसा प्रश्न है । अथवा किस पदार्थ का ध्यान करते हैं ? किसी भी पदार्थ का ध्यान नहीं करते हैं– ऐसा आक्षेप है । वे सर्वज्ञ,कैसे होते हुये,किसी का भी ध्यान नहीं करते ? ***असंदेहो–*** वे सन्देह रहित—संशय आदि दोषों से रहित होते हुये,किसी का भी ध्यान नहीं करते हैं ।

यहाँ अर्थ यह है– जैसे कोई भी देवदत्त,विषय-सुख की प्राप्ति के लिये,विद्या की आराधनारूप ध्यान करता है; जब विद्या सिद्ध हो जाती है और उसके फलस्वरूप विषयसुख प्राप्त हो जाता है,तब उसकी आराधना रूप ध्यान नहीं करता है; उसीप्रकार ये भगवान भी,केवलज्ञानरूपी विद्या की प्राप्ति के लिये और उसके

अथ ध्यानसन्तानः कथ्यते – यत्रान्तर्मुहूर्तपर्यन्तं ध्यानं, तदनन्तरमन्तर्मुहूर्तपर्यन्तं तत्त्वचिन्ता, पुनरप्यन्तर्मुहूर्तपर्यन्तं ध्यानं, पुनरपि तत्त्वचिन्तेति प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानवदन्तर्मुहूर्तेऽन्तर्मुहूर्ते गते सति परावर्तनमस्ति स *ध्यानसन्तानो* भण्यते। स च धर्म्यध्यानसंबन्धी। शुक्लध्यानं पुनरुपशमश्रेणिक्षपकश्रेण्यारोहणे भवति। तत्र चाल्पकालत्वात्परावर्तनरूपध्यानसन्तानो न घटते।

इदानीं ध्यानचिन्ता कथ्यते–यत्र ध्यानसन्तानवद्ध्यानपरावर्तो नास्ति, ध्यानसंबन्धिनी चिन्तास्ति, तत्र यद्यपि क्वापि काले ध्यानं करोति तथापि सा *ध्यानचिन्ता* भण्यते।

अथ ध्यानान्वयसूचनं कथ्यते– यत्र ध्यानसामग्रीभूता द्वादशानुप्रेक्षा अन्यद्वा ध्यानसंबन्धि संवेगवैराग्यवचनं व्याख्यानं वा तत् *ध्यानान्वयसूचनमिति।*

अन्यथा वा चतुर्विधं ध्यानव्याख्यानं– ध्याता ध्यानं फलं ध्येयमिति। अथवार्तरौद्रधर्म्यशुक्लविभेदेन चतुर्विधं ध्यानव्याख्यानं तदन्यत्र कथितमास्ते॥ २०९॥

एवमात्मपरिज्ञानाद्दर्शनमोहक्षपणं भवतीति कथनरूपेण प्रथमगाथा, दर्शनमोहक्षयाच्चारित्रमोहक्षपणं भवतीति कथनेन द्वितीया, तदुभयक्षयेण मोक्षो भवतीति प्रतिपादनेन तृतीया चेत्यात्मोपलम्भफलकथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथात्रयं गतम्।

अब ध्यान सन्तान कहते हैं— जहाँ अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ध्यान है, फिर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त तत्त्व की चिन्ता–तत्त्वचिन्तन है, फिर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ध्यान और फिर तत्त्व चिन्तन— इसप्रकार प्रमत्त-अप्रमत्त (छठवें-सातवें) गुणस्थान के समान अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त व्यतीत होने पर जो परिवर्तन है, वह ध्यानसन्तान—ध्यान की परम्परा कही जाती है। और वहधर्म्यध्यान सम्बन्धी है। शुक्लध्यान तो उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणी के आरोहण पर–चढ़ने पर होता है। वहाँ समय कम होने से परिवर्तनरूप ध्यान-सन्तान घटित नहीं होती है।

अब, ध्यानचिन्ता कही जाती है— जहाँ ध्यान सन्तान के समान ध्यान का परिर्वतन नहीं है, ध्यान सम्बन्धी चिन्ता—चिन्तन है, वहाँ यद्यपि किसी समय ध्यान करता है, तथापि वह ध्यानचिन्ता कहलाती है।

अब ध्यानान्वयसूचन कहा जाता है— जहाँ ध्यान की सामग्रीभूत बारह अनुप्रेक्षा अथवा ध्यान सम्बन्धी अन्य सम्वेग - वैराग्य रूप वचन अथवा विशेष कथन है, वह ध्यानान्वयसूचन है।

अथवा और दूसरे चार प्रकार से ध्यान का व्याख्यान होता है— ध्याता, ध्यान, ध्यान का फल और ध्येय। अथवा आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल भेद से चार प्रकार रूप ध्यान का विशेष कथन किया जाता है, वह दूसरी जगह[१] कहा गया है॥ २०९॥

इसप्रकार आत्मा के परिज्ञान से दर्शन-मोह का क्षय होता है— इस कथन रूप पहली गाथा, दर्शन-मोह के क्षय से चारित्र-मोह का क्षय होता है— इस कथन रूप दूसरी गाथा और उन दोनों के क्षय से मोक्ष होता है— इस प्रतिपादन रूप तीसरी—इसप्रकार आत्मा की प्राप्ति के फल कथन रूप दूसरे स्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुई।

१- पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा १८१, तात्पर्यवृत्ति टीका।

अथोपलब्धशुद्धात्मतत्त्वसकलज्ञानी किं ध्यायतीतिप्रश्नमाक्षेपद्वारेण पूर्वपक्षं वा करोति–

णिहदघणघादिकम्मो पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू ।(१९७)

णेयंतगदो समणो झादि कमट्ठं असंदेहो ॥ २१० ॥

णिहदघणघादिकम्मो पूर्वसूत्रोदितनिश्चलनिजपरमात्मतत्त्वपरिणतिरूपशुद्धध्यानेन निहतघनघातिकर्मा । *पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू* प्रत्यक्षं यथा भवति तथा सर्वभावतत्त्वज्ञः सर्वपदार्थपरिज्ञातस्वरूपः । *णेयंतगदो* ज्ञेयान्तगतः ज्ञेयभूतपदार्थानां परिच्छित्तिरूपेण पारंगतः । एवंविशेषणत्रयविशिष्टः *समणो* जीवितमरणादिसमभावपरिणतात्मस्वरूपः श्रमणो महाश्रमणः सर्वज्ञः *झादि कमट्ठं* ध्यायति कमर्थमिति प्रश्नः । अथवा कमर्थं ध्यायति, न कमपीत्याक्षेपः । कथंभूतः सन् । *असंदहो* असन्देहः संशयादिरहित इति ।

अयमत्रार्थः– यथा कोऽपि देवदत्तो विषयसुखनिमित्तं विद्याराधनाध्यानं करोति, यदा विद्या सिद्धा भवति तत्फलभूतं विषयसुखं च सिद्धं भवति तदाराधनाध्यानं न करोति, तथायं भगवानपि केवलज्ञानविद्यानिमित्तं

(अब, केवली भगवान के ध्यान उपचार से है– इस कथन परक दो गाथाओं में निबद्ध तीसरा स्थल प्रारम्भ होता है ।)

अब, शुद्धात्मतत्त्व को प्राप्त सकलज्ञानी–केवलज्ञानी क्या ध्यान करते हैं ? ऐसे प्रश्न अथवा आक्षेप के माध्यम से पूर्वपक्ष करते हैं–

घनघाति कर्म विहीन सब प्रत्यक्ष जानें अर्थ को ।

ज्ञेयान्त गत सन्देह बिन ध्याते श्रमण किस अर्थ को ? ॥ २१० ॥

गाथार्थ– घनरूप घाति कर्मों से रहित, सभी पदार्थों के स्वरूप को प्रत्यक्ष जाननेवाले, ज्ञेयों के पार को प्राप्त, सन्देह रहित श्रमण– केवलज्ञानी मुनि किस पदार्थ का ध्यान करते हैं ?

टीकार्थ– *णिहदघणघादिकम्मो*– पहले (२०९वी) गाथा में कहे गये निश्चल निज परमात्मतत्त्व में परिणति रूप शुद्ध ध्यान द्वारा घनरूप घाति कर्मों को नष्ट करनेवाले । ***पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू*–** जैसे प्रत्यक्ष होता है,वैसे सभी पदार्थों तत्त्वों को जानने वाले–सभी पदार्थों को पूर्णरूप से जानने के स्वरूपवाले । ***णेयंतगदो*–** ज्ञेयों के अन्त को प्राप्त– जानने की अपेक्षा ज्ञेयभूत पदार्थों के पार को प्राप्त (सभी को जानने वाले) । इसप्रकार तीन विशेषणों से सहित ***समणो*–** जीवन-मरण आदि में समभावरूप से परिणत आत्म-स्वरूप श्रमण–महाश्रमण–सर्वज्ञ–केवली भगवान ***झादि कमट्ठं*–** किस पदार्थ का ध्यान करते हैं ? ऐसा प्रश्न है । अथवा किस पदार्थ का ध्यान करते हैं ? किसी भी पदार्थ का ध्यान नहीं करते हैं– ऐसा आक्षेप है । वे सर्वज्ञ,कैसे होते हुये,किसी का भी ध्यान नहीं करते ? ***असंदेहो*–** वे सन्देह रहित–संशय आदि दोषों से रहित होते हुये,किसी का भी ध्यान नहीं करते हैं ।

यहाँ अर्थ यह है– जैसे कोई भी देवदत्त,विषय-सुख की प्राप्ति के लिये,विद्या की आराधनारूप ध्यान करता है; जब विद्या सिद्ध हो जाती है और उसके फलस्वरूप विषयसुख प्राप्त हो जाता है,तब उसकी आराधना रूप ध्यान नहीं करता है; उसीप्रकार ये भगवान भी,केवलज्ञानरूपी विद्या की प्राप्ति के लिये और उसके

तत्फलभूतानन्तसुखनिमित्तं च पूर्वं छद्मस्थावस्थायां शुद्धात्मभावनारूपं ध्यानं कृतवान्, इदानीं तद्ध्यानेन केवलज्ञानविद्या सिद्धा तत्फलभूतमनन्तसुखं च सिद्धम्, किमर्थं ध्यानं करोतीति प्रश्नः आक्षेपो वा।

द्वितीयं च कारणं–परोक्षेऽर्थे ध्यानं भवति, भगवतः सर्वं प्रत्यक्षं कथं ध्यानमिति पूर्वपक्षद्वारेण गाथा गता ॥ २१० ॥

अथात्र पूर्वपक्षे परिहारं ददाति–

सव्वाबाधविजुत्तो समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो ।(१९८)

भूदो अक्खातीदो झादि अणक्खो परं सोक्खं ॥ २११ ॥

झादि ध्यायति एकाकारसमरसीभावेन परिणमत्यनुभवति। स कः कर्ता। भगवान्। किं ध्यायति। *सोक्खं* सौख्यम्। किंविशिष्टम्। *परं* उत्कृष्टं, सर्वात्मप्रदेशाह्लादकपरमानन्तसुखम्। कस्मिन्प्रस्तावे। यस्मिन्नेव क्षणे *भूदो* भूतः संजातः। किंविशिष्टः। *अक्खातीदो* अक्षातीतः इन्द्रियरहितः। न केवलं स्वयमतीन्द्रियो जातः परेषां च *अणक्खो* अनक्षः इन्द्रियविषयो न भवतीत्यर्थः। पुनरपि किंविशिष्टः। *सव्वाबाधविजुत्तो*

फलस्वरूप अनन्तसुख की प्राप्ति के लिये,पहले छद्मस्थ-दशा में शुद्धात्मा की भावना (तद्रूप परिणमन) रूप ध्यान करते थे, अब उस ध्यान से केवलज्ञानरूपी विद्या सिद्ध हो गई है,तथा उसके फलस्वरूप अनन्त सुख भी प्रगट हो गया है, तब वे किसलिये अथवा किस पदार्थ का ध्यान करते हैं ? ऐसा प्रश्न अथवा आक्षेप है।

इस प्रश्न अथवा आक्षेप का दूसरा कारण भी है— पदार्थ के परोक्ष होने पर ध्यान होता है, केवली भगवान के सभी पदार्थ प्रत्यक्ष हैं, तब ध्यान कैसे करते हैं ? इसप्रकार पूर्वपक्ष की अपेक्षा एक गाथा पूर्ण हुई ॥ २१० ॥

अब, यहाँ पूर्वपक्ष में परिहार देते हैं (पूर्वपक्ष का निराकरण करते हैं)—

हैं सर्वबाधा रहित सब सर्वात्मज्ञान व सौख्य से।

सम्पन्न ध्याते परम सुख हो अतीन्द्रिय अनअक्ष वे ॥ २११ ॥

गाथार्थ— सम्पूर्ण बाधाओं से रहित, सम्पूर्ण आत्मा में परिपूर्ण सौख्य और ज्ञान से समृद्ध (वे केवली भगवान) अनिन्द्रिय और इन्द्रियातीत होते हुये परम सौख्य का ध्यान करते हैं।

टीकार्थ— *झादि*— ध्यान करते हैं— एकाकार समरसी भाव से परिणमन करते हैं—अनुभव करते हैं। ध्यान करनेरूप क्रिया के कर्ता वे कौन हैं ? वे भगवान ध्यान करनेरूप क्रिया के कर्ता हैं। वे किसका ध्यान करते हैं ? *सौक्खं*— वे सौख्य का ध्यान करते हैं। वह सौख्य किस विशेषतावाला है ? *परं*— वह सौख्य उत्कृष्ट सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों में आह्लाद को उत्पन्न करनेवाला परम अनन्त सुखरूप है। ऐसे सुख का ध्यान वे किस प्रसंग में— किस समय करते हैं ? जिस ही क्षण में *भूदो*— अच्छी तरह से उत्पन्न हुये हैं, तब से ही वे उस सुख का ध्यान करते हैं। वे किस विशेषतारूप से उत्पन्न हुये हैं ? *अक्खातीदो*— अक्षातीत— इन्द्रिय रहित हुये हैं। मात्र स्वयं ही इन्द्रिय रहित हुये हैं, इतना ही नहीं, वरन् दूसरों को भी *अणक्खो*— अनक्ष— इन्द्रियों के विषय नहीं हैं— ऐसा अर्थ है। और भी किस विशेषता वाले हुये हैं ? *सव्वाबाधविजुत्तो*— इस शब्द में प्राकृत भाषा के लक्षण (व्याकरण) के माध्यम से 'बाधा' शब्द का ह्रस्व 'बाध' शब्द बना है, मूल शब्द

प्राकृतलक्षणबलेन बाधाशब्दस्य ह्रस्वत्वं सर्वाबाधावियुक्तः। आसमन्ताद्बाधाः पीड़ा आबाधाः सर्वाश्च ता आबाधाश्च सर्वाबाधास्ताभिर्वियुक्तो रहितः सर्वाबाधावियुक्तः। पुनश्च किंरूपः। *समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो* समन्ततः सामस्त्येन स्पर्शनादिसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ्यः। समन्ततः सर्वात्मप्रदेशैर्वा स्पर्शनादिसर्वेन्द्रियाणां सम्बन्धित्वेन ये ज्ञानसौख्ये द्वे ताभ्यामाढ्यः परिपूर्णः इत्यर्थः।

तद्यथा- अयं भगवानेकदेशोद्भवसांसारिकज्ञानसुखकारणभूतानि सर्वात्मप्रदेशोद्भवस्वाभाविकातीन्द्रियज्ञानसुखविनाशकानि च यानीन्द्रियाणि निश्चयरत्नत्रयात्मककारणसमयसारबलेनातिक्रामति विनाशयति यदा तस्मिन्नेव क्षणे समस्तबाधारहितः सन्नतीन्द्रियमनन्तमात्मोत्थसुखं ध्यायत्यनुभवति परिणमति।

ततो ज्ञायते केवलिनामन्यच्चिन्तानिरोधलक्षणं ध्यानं नास्ति, किंत्विदमेव परमसुखानुभवनं वा ध्यानकार्यभूतां कर्मनिर्जरां दृष्ट्वा ध्यानशब्देनोपचर्यते। यत्पुनः सयोगिकेवलिनस्तृतीयशुक्लध्यानमयोगिकेवलिनश्चतुर्थशुक्लध्यानं भवतीत्युक्तं तदुपचारेण ज्ञातव्यमिति सूत्राभिप्रायः ॥ २११ ॥

'सर्वबाधावियुक्तः' है। आ-समन्तात्— सभी ओर से बाधा—पीड़ा आबाधा है, सम्पूर्ण और वे आबाधा सर्वाबाधा (इसप्रकार कर्मधारय समास किया है), उनसे रहित सर्वबाधावियुक्त (इसप्रकार तृतीया तत्पुरुष समास किया) अर्थात् वे सम्पूर्ण बाधाओं से रहित हुये हैं। और वे किस रूप हुये हैं ? *समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो*— समन्ततः —पूर्णरूप से स्पर्शन आदि सभी इन्द्रियों सम्बन्धी सौख्य और ज्ञान से समृद्ध हैं। अथवा समन्ततः—सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों से स्पर्शनादि सभी इन्द्रियों सम्बन्धी जो ज्ञान और सौख्य दोनों— उनसे आढ्य—परिपूर्ण हैं— ऐसा अर्थ है।

वह इसप्रकार-जब ये भगवान, निश्चय रत्नत्रय स्वरूप कारण-समयसार के बल से, एकदेश प्रकट सांसारिक ज्ञान और सुख की कारणभूत तथा सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों से उत्पन्न, स्वाभाविक अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख को नष्ट करनेवाली, उन इन्द्रियों का अतिक्रमण करते हैं— विनाश करते हैं; तब उसी समय सम्पूर्ण बाधाओं से रहित होते हुये, अतीन्द्रिय अनन्त आत्मा के आश्रय से उत्पन्न, सुख का ध्यान करते हैं— अनुभव करते हैं— उस रूप परिणमन करते हैं।

इससे ज्ञात होता है कि केवली के, अन्य विषय में चिन्ता का निरोध लक्षण ध्यान नहीं है, किन्तु इस ही परमसुख के अनुभव को अथवा ध्यान के कार्यभूत कर्मों की निर्जरा को देखकर, ध्यान शब्द से उपचरित किये जाते हैं। और जो सयोग केवली के तीसरा शुक्लध्यान तथा अयोगकेवली के चौथा शुक्लध्यान होता है— ऐसा कथन है, वह उपचार से जानना चाहिये—ऐसा गाथा का अभिप्राय है।

विशेषार्थ— केवली भगवान के ध्यान को 'आचार्य प्रभाचन्द्र' ने निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया है—

"----। इत्थंभूतः सयोगकेवली सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवृत्तिलक्षणशुक्लध्यानसाध्यं परमुत्कृष्टं सिद्धस्थं भाविसौख्यं ध्यायतीति।[१]

---। इसप्रकार सयोगकेवली सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति लक्षण शुक्लध्यान के द्वारा साध्यभूत सर्वश्रेष्ठ सिद्धों में पाये जानेवाले भावि सौख्य का ध्यान करते हैं।" ॥ २११ ॥

१- प्रवचनसार, गाथा २०८, प्रवचनसार सरोजभास्कर टीका।

एवं केवली किं ध्यायतीति प्रश्नमुख्यत्वेन प्रथमगाथा। परमसुखं ध्यायत्यनुभवतीति परिहारमुख्यत्वेन द्वितीया चेति ध्यानविषयपूर्वपक्षपरिहारद्वारेण तृतीयस्थले गाथाद्वयं गतम्।

अथायमेव निजशुद्धात्मोपलब्धिलक्षणमोक्षमार्गो, नान्य इति विशेषेण समर्थयति-

एवं जिणा जिणिंदा सिद्धा मग्गं समुट्ठिदा समणा। (१९९)
जादा णमोत्थु तेसिं तस्स य णिव्वाणमग्गस्स॥ २१२॥

जादा जाता उत्पन्नाः। कथंभूताः। *सिद्धा* सिद्धाः सिद्धपरमेष्ठिनो मुक्तात्मान इत्यर्थः। के कर्तारः। *जिणा* जिनाः अनागारकेवलिनः। *जिणिंदा* न केवलं जिना जिनेन्द्राश्च तीर्थकरपरमदेवाः। कथंभूताः सन्तः एते सिद्धा जाताः। *मग्गं समुट्ठिदा* निजपरमात्मतत्त्वानुभूतिलक्षणमार्गं मोक्षमार्गं समुत्थिता आश्रिताः। केन। *एवं* पूर्वं बहुधा व्याख्यातक्रमेण। न केवलं जिना जिनेन्द्रा अनेन मार्गेण सिद्धा जाताः, *समणा* सुखदुःखादिसमताभावना-परिणतात्मतत्त्वलक्षणाः शेषा अचरमदेहश्रमणाश्च। अचरमदेहानां कथं सिद्धत्वमिति चेत्।

इसप्रकार केवली भगवान किसका ध्यान करते हैं— इस प्रश्न की मुख्यता से पहली गाथा तथा परम सुख का ध्यान-अनुभव करते हैं— इसप्रकार परिहार की मुख्यता से दूसरी गाथा— इसप्रकार ध्यान सम्बन्धी पूर्वपक्ष और परिहार की अपेक्षा तीसरे स्थल में दो गाथायें पूर्ण हुईं।

(अब, दर्शनाधिकार के उपसंहार परक दो गाथाओं में निबद्ध अन्तिम चौथा स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, यही निजशुद्धात्मा की पर्याय में प्रगटता लक्षण मोक्षमार्ग है, दूसरा नहीं; ऐसा विशेषरूप से समर्थन करते हैं—

इस तरह जिन जिनदेव मुनि इस मार्ग में आरूढ़ हो।
मुक्ति गये, हो नमन उनको और मुक्तिमार्ग को॥ २१२॥

गाथार्थ— इसप्रकार मार्ग में आरूढ़ जिन, जिनेन्द्र और श्रमण (सामान्यकेवली, तीर्थंकर और मुनि) सिद्ध हुये हैं, उन्हें और उस निर्वाणमार्ग को नमस्कार हो।

टीकार्थ— *जादा*— हुये हैं। कैसे हुये हैं? ***सिद्धा*—** सिद्धसिद्धपरमेष्ठी—मुक्तात्मा— मुक्तावस्थारूप हुये हैं— ऐसा अर्थ है। कर्तारूप कौन सिद्ध हुये हैं? ***जिणा*—** जिन—अनागार केवली सिद्ध हुये हैं। ***जिणिंदा*—** मात्र केवली जिन ही सिद्ध नहीं हुये हैं, वरन् जिनेन्द्र— तीर्थंकर परमदेव भी सिद्ध हुये हैं। ये सभी कैसे होते हुये सिद्ध हुये हैं? ***मग्गं समुट्ठिदा*—** अपने परमात्मतत्त्व की अनुभूति लक्षणमार्ग— मोक्षमार्ग में आरूढ़—मोक्षमार्ग का आश्रय लेते हुये सिद्ध हुये हैं। कैसे मोक्षमार्ग का आश्रय लेते हुये सिद्ध हुये हैं? ***एवं*—** पहले अनेक प्रकार से कहे गये क्रमवाले मोक्षमार्ग का, आश्रय लेते हुये सिद्ध हुये हैं। मात्र केवली और तीर्थंकर ही इस मार्ग से सिद्ध नहीं हुये हैं वरन्, ***समणा*—** सुख-दुःख आदि में समताभाव से परिणत आत्मतत्त्व लक्षण-युक्त शेष अचरम शरीरी श्रमण— उसी भव से मुक्त नहीं होने वाले अन्य मुनिराज भी (बाद मे) इसी मार्ग से सिद्ध हुये हैं।

अचरम शरीरियों को— उसी भव में मोक्ष नहीं जाने वालों को सिद्धपना कैसे संभव है? यदि ऐसा प्रश्न हो तो कहते हैं—

तवसिद्धे णयसिद्धे संजमसिद्धे चरित्तसिद्धे य।

णाणम्मि दंसणम्मि य सिद्धे सिरसा णमंसामि॥[१] इति गाथाकथितक्रमेणैकदेशेन। *णमोत्थु तेसिं* नमोऽस्तु तेभ्यः। अनन्तज्ञानादिसिद्धगुणस्मरणरूपो भावनमस्कारोऽस्तु, *तस्स य णिव्वाणमग्गस्स* तस्मै निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षणनिश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्वाणमार्गाय च। ततोऽवधार्यते अयमेव मोक्षमार्गो, नान्य इति॥ २१२॥

अथ *'उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती'* इत्यादि पूर्वप्रतिज्ञां निर्वाहयन् स्वयमपि मोक्षमार्गपरिणतिं स्वीकरोतीति प्रतिपादयति–

तम्हा तह जाणित्ता अप्पाणं जाणगं सभावेण।(२००)

परिवज्जामि ममत्तिं उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्हि॥ २१३॥

तम्हा यस्मात्पूर्वोक्तशुद्धात्मोपलम्भलक्षणमोक्षमार्गेण जिना जिनेन्द्राः श्रमणाश्च सिद्धा जातास्तस्मादहमपि *तह* तथैव तेनैव प्रकारेण *जाणित्ता* ज्ञात्वा। कम्। *अप्पाणं* निजपरमात्मानम्। किंविशिष्टम्। *जाणगं* ज्ञायकं केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वभावम्। केन कृत्वा ज्ञात्वा। *सभावेण* समस्तरागादिविभावरहितशुद्धबुद्धैकस्वभावेन।

"तप से सिद्ध, नय से सिद्ध, संयम से सिद्ध, चारित्र से सिद्ध, ज्ञान और दर्शन से सिद्ध हुये सिद्ध भगवंतों को मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ।"

इसप्रकार गाथा में कहे गये क्रम से एक देश सिद्धता अचरम शरीरी जीवों के भी मानी गई है।

णमोत्थु तेसिं– उन्हें नमस्कार हो। उन्हें मेरा अनन्तज्ञानादि सिद्धगुणों के स्मरणरूप भाव नमस्कार हो, *तस्स य णिव्वाणमग्गस्स*– तथा विकार रहित, स्वसम्वित्ति– अपने आत्मस्वरूप में लीनता लक्षण निश्चय रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग को मेरा नमस्कार हो।

इससे यह निश्चित हुआ कि यही मोक्षमार्ग है; दूसरा कोई मोक्षमार्ग नहीं है॥ २१२॥

अब *"उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती–*[२] मैं साम्य का आश्रय ग्रहण करता हूँ, जिससे निर्वाण की प्राप्ति होती है"– इत्यादि पहले की गई प्रतिज्ञा का निर्वाह करते हुये, स्वयं भी मोक्षमार्गरूप परिणति को स्वीकार करते हैं, ऐसा प्रतिपादन करते हैं–

इसलिये वैसा जानकर ज्ञायक स्वभावी आत्म को।

हो उपस्थित ममता रहित मैं छोड़ता हूँ ममत्व को॥ २१३॥

गाथार्थ– (स्व शुद्धात्मा में प्रवृत्ति से ही मोक्ष होता है) इसलिये मैं उसीप्रकार स्वभाव से ज्ञायक आत्मा को जानकर, निर्ममत्व में उपस्थित होता हुआ, ममता का परित्याग करता हूँ।

टीकार्थ– *तम्हा*– यतः पहले कहे हुये शुद्धात्मा की प्राप्ति लक्षण मोक्षमार्ग से सामान्य केवली, तीर्थंकर केवली और मुनिराज सिद्ध हुये हैं, इसलिये मैं भी *तह*– वैसे ही उसीप्रकार *जाणित्ता*– जानकर। उसीप्रकार किसे जानकर ? *अप्पाणं*– निज परमात्मा को उसीप्रकार जानकर। किस विशेषतावाले निज परमात्मा को जानकर ? *जाणगं*– ज्ञायक–केवलज्ञान आदि अनन्तगुणस्वभाववाले निजपरमात्मा को जानकर। उसे किसके द्वारा जानकर ? *सभावेण*– सम्पूर्ण रागादि विभावों से रहित, शुद्धबुद्ध एक स्वभाव द्वारा ज्ञायक

१- प्राकृत सिद्धभक्ति, गाथा ९।

२- प्रवचनसार, गाथा ५ उत्तरार्ध।

पश्चात् किं करोमि। *परिवज्जामि* परि समन्ताद्वर्जयामि। काम् *ममत्तिं* समस्तसचेतनाचेतनमिश्रपरद्रव्यसंबन्धिनीं ममताम्। कथंभूतः सन्। *उवट्ठिदो* उपस्थितः परिणतः। क्व। *णिम्ममत्तम्मि* समस्तपरद्रव्यममकाराहंकाररहितत्वेन निर्ममत्वलक्षणे परमसाम्याभिधाने वीतरागचारित्रे तत्परिणतनिजशुद्धात्मस्वभावे वा।

तथाहि– अहं तावत्केवलज्ञानदर्शनस्वभावत्वेन ज्ञायकैकटंकोत्कीर्णस्वभावः। तथाभूतस्य सतो मम न केवलं स्वस्वाम्यादयः परद्रव्यसंबन्धा न सन्ति, निश्चयेन ज्ञेयज्ञायकसंबन्धो नास्ति। ततः कारणात्समस्तपरद्रव्यममत्वरहितो भूत्वा परमसाम्यलक्षणे निजशुद्धात्मनि तिष्ठामीति।

किंच *'उवसंपयामि सम्मं'* इत्यादिस्वकीयप्रतिज्ञां निर्वाहयन्स्वयमपि मोक्षमार्गपरिणतिं स्वीकरोत्येवं यदुक्तं गाथापातनिकाप्रारम्भे तेन किमुक्तं भवति– ये तां प्रतिज्ञां गृहीत्वा सिद्धिं गतास्तैरेव सा प्रतिज्ञा वस्तुवृत्त्या समाप्तिं नीता। *कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः* पुनर्ज्ञानदर्शनाधिकारद्वयरूपग्रन्थसमाप्तिरूपेण समाप्तिं नीता, शिवकुमारमहाराजेन तु तद्ग्रन्थश्रवणेन च। कस्मादिति चेत्। ये मोक्षं गतास्तेषां सा प्रतिज्ञा परिपूर्णा जाता, न च तेषाम्। कस्मात्। चरमदेहत्वाभावादिति ॥ २१३ ॥

एवं ज्ञानदर्शनाधिकारसमाप्तिरूपेण चतुर्थस्थले गाथाद्वयं गतम्।

स्वभावी अपने परमात्मा को जानकर। जानने के बाद मैं क्या करता हूँ ? ***परिवज्जामि***– परि-समन्तात्– सब तरह से पूर्णरूप से, मैं छोड़ता हूँ। पूर्णरूप से किसे छोड़ता हूँ ? ***ममत्तिं***–सम्पूर्ण चेतन, अचेतन और मिश्ररूप पर द्रव्य सम्बन्धी ममता को, मैं छोड़ता हूँ। कैसा होता हुआ, मैं उसे छोड़ता हूँ ? ***उवट्ठिदो***– उपस्थित– परिणमित होता हुआ, मैं उसे छोड़ता हूँ। कहाँ उपस्थित होता हुआ, मैं उसे छोड़ता हूँ ? ***णिम्ममत्तम्मि***– सम्पूर्ण पर द्रव्य सम्बन्धी ममकार-अहंकार से रहित होने के कारण, निर्ममत्व लक्षण परम साम्य नामक वीतराग चारित्र में अथवा उस वीतराग चारित्ररूप परिणत निज शुद्धात्म-स्वभाव में, उपस्थित होता हुआ, मैं उसे छोड़ता हूँ।

वह इसप्रकार– प्रथम तो मैं केवलज्ञान-दर्शन स्वभावरूप होने से, ज्ञायक एक टंकोत्कीर्ण स्वभाव हूँ। ऐसा होते हुये मेरा पर-द्रव्यों के साथ स्व-स्वामी आदि सम्बन्ध नहीं है, इतना मात्र ही नहीं है अपितु, निश्चय से ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध भी नहीं है। इस कारण मैं सम्पूर्ण परद्रव्यों के प्रति ममत्व रहित होकर, परम साम्य लक्षण अपने शुद्धात्मा में स्थित रहता हूँ।

विशेष यह है कि ***"उवसंपयामि सम्मं***– मैं साम्य का आश्रय ग्रहण करता हूँ"–इत्यादि अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह करते हुये, स्वयं भी मोक्षमार्ग परिणति को स्वीकार करते हैं, ऐसा जो गाथा की पातनिका के प्रारम्भ में कहा था; उससे क्या कहा गया है ? (इस कथन का तात्पर्य यह है कि) जो उस प्रतिज्ञा को ग्रहण कर सिद्ध–मुक्तावस्था को प्राप्त हुये हैं, उनके द्वारा ही वह प्रतिज्ञा वस्तुवृत्ति से– वास्तव में पूर्ण की गई है। तथा *'कुन्दकुन्दाचार्यदेव'* द्वारा ज्ञानाधिकार और दर्शनाधिकार– इन दो अधिकाररूप ग्रन्थ की समाप्तिरूप से वह समाप्त की गई है, और शिवकुमार महाराज द्वारा तो उस ग्रन्थ को सुननेरूप से, यह प्रतिज्ञा पूर्ण की गई है। इनरूपों में इनकी प्रतिज्ञा पूर्ण क्यों हुई है ? यदि ऐसा प्रश्न हो तो 'आचार्य' उत्तर देते हैं कि जो सिद्ध हुये हैं उनकी ये प्रतिज्ञा पूर्ण हुई, परन्तु उन 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' और 'शिवकुमार महाराज' की प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं हुई है। उनकी प्रतिज्ञा पूर्ण क्यों नहीं हुई है ? चरम देहपने का– उसी भव से मोक्ष जाने का अभाव होने से, उनकी प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं हुई है ॥ २१३ ॥ *

इसप्रकार ज्ञानाधिकार और दर्शनाधिकार की पूर्णतारूप से अन्तिम चौथे स्थल में दो गाथायें पूर्ण हुईं।

---

* प्रस्तुत गाथा की तत्त्वप्रदीपिका टीका मूलतः पठनीय-मननीय है।

एवं निजशुद्धात्मभावनारूपमोक्षमार्गेण ये सिद्धिं गता ये च तदाराधकास्तेषां दर्शनाधिकारापेक्षया-वसानमंगलार्थं ग्रन्थापेक्षया मध्यमंगलार्थं च तत्पदाभिलाषी भूत्वा नमस्कारं करोति–

दंसणसंसुद्धाणं सम्मण्णाणोवजोगजुत्ताणं।

अव्वाबाधरदाणं णमो णमो सिद्धसाहूणं ॥ २१४ ॥

णमो णमो नमो नमः । पुनः पुनर्नमस्करोमीति भक्तिप्रकर्षं दर्शयति । केभ्यः । ***सिद्धसाहूणं*** सिद्धसाधुभ्यः । सिद्धशब्दवाच्यस्वात्मोपलब्धिलक्षणार्हत्सिद्धेभ्यः साधुशब्दवाच्यमोक्षसाधकाचार्योपाध्यायसाधुभ्यः । पुनरपि कथंभूतेभ्यः । ***दंसणसंसुद्धाणं*** मूढत्रयादिपंचविंशतिमलरहितसम्यग्दर्शनसंशुद्धेभ्यः । पुनरपि कथंभूतेभ्यः । ***सम्मण्णाणोवजोगजुत्ताणं*** संशयादिरहितं सम्यग्ज्ञानं, तस्योपयोगः सम्यग्ज्ञानोपयोगः, योगो निर्विकल्पसमाधिर्वीतरागचारित्रमित्यर्थः, ताभ्यां युक्ताः सम्यग्ज्ञानोपयोगयुक्तास्तेभ्यः । पुनश्च किंरूपेभ्यः । ***अव्वाबाधरदाणं*** सम्यग्ज्ञानादिभावनोत्पन्नाव्याबाधानन्तसुखरतेभ्यश्च ॥ २१४ ॥

इसप्रकार स्व शुद्धात्मा की भावनारूप मोक्षमार्ग द्वारा,जो सिद्धि को प्राप्त हुये हैं और जो उसके आराधक हैं, उन्हें दर्शनाधिकार की अपेक्षा अन्तिम मंगल के लिए तथा ग्रन्थ की अपेक्षा मध्य मंगल के लिये, उस पद के अभिलाषी होकर नमस्कार करते हैं–

संशुद्ध दर्शन युक्त सम्यग्ज्ञान के उपयोग युत।

निर्बाध रत सिद्ध-साधुओं को हो नमन त्रय योग युत ॥ २१४ ॥

गाथार्थ– दर्शन से संशुद्ध, सम्यग्ज्ञान और उपयोग से सहित निर्बाधरूप से स्वरूपलीन सिद्ध-साधुओं को बारम्बार नमस्कार हो ।

टीकार्थ– *णमो णमो*– नमस्कार हो-नमस्कार हो । बारम्बार नमस्कार करता हूँ– इसप्रकार भक्ति की अधिकता दिखाई है । किन्हें नमस्कार हो ? ***सिद्धसाहूणं*–** सिद्ध, साधुओं को नमस्कार हो । सिद्ध शब्द से वाच्य अपने आत्मा की उपलब्धि लक्षण अरहन्त और सिद्धों को तथा साधु शब्द से वाच्य सिद्ध दशा को साधने वाले आचार्य-उपाध्याय और साधुओं को नमस्कार हो । और भी किस विशेषतावालों को नमस्कार हो ? ***दंसणसंसुद्धाणं*–** तीन मूढ़ता आदि २५ दोषों से रहित,सम्यग्दर्शन से संशुद्ध जीवों को नमस्कार हो । और भी किस विशेषतावालों को नमस्कार हो ? ***सम्मण्णाणोवजोगजुत्ताणं*–** संशय आदि दोषों से रहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, उसका उपयोग सम्यग्ज्ञानोपयोग है, योग अर्थात् विकल्परहित समाधि– स्वरूपलीनतारूप वीतराग चारित्र– ऐसा अर्थ है, उनसे सहित सम्यग्ज्ञानोपयोग से सहित, उनके लिये (इसप्रकार षष्ठी तत्पुरुष, तृतीया तत्पुरुष तथा चतुर्थी तत्पुरुष समास द्वारा विश्लेषण किया गया है) उन्हें नमस्कार हो । और भी किस स्वरूपवालों को नमस्कार हो ? ***अव्वाबाधरदाणं*–** सम्यग्ज्ञान आदि रूप भावना से उत्पन्न अव्याबाध-बाधारहित और अनन्त सुख में लीन जीवों को नमस्कार हो ।

भावार्थ– तीन मूढ़ता आदि २५ दोषों से रहित सम्यग्दर्शन से संशुद्ध, संशय आदि दोषों से रहित

इति नमस्कारगाथासहितस्थलचतुष्टयेन चतुर्थविशेषान्तराधिकारः समाप्तः ।

एवं *'अत्थित्तणिच्छिदस्स हि'* इत्याद्येकादशगाथापर्यन्तं शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयमुख्यत्वेन प्रथमो विशेषान्तराधिकारस्तदनन्तरं *'अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य'* इत्यादिगाथानवकपर्यन्तं पुद्गलानां परस्परबन्धमुख्यत्वेन द्वितीयो विशेषान्तराधिकारस्ततः परं *'अरसमरूवं'* इत्याद्येकोनविंशतिगाथापर्यन्तं जीवस्य पुद्गलकर्मणा सह बन्धमुख्यत्वेन तृतीयो विशेषान्तराधिकारस्ततश्च *'ण चयदि जो दु ममत्तिं'* इत्यादिद्वादशगाथापर्यन्तं विशेषभेदभावनाचूलिकाव्याख्यानरूपश्चतुर्थो विशेषान्तराधिकार इत्येकाधिकपंचाशद्गाथाभिर्विशेषान्तराधिकारचतुष्टयेन विशेषभेदभावनाभिधानश्चतुर्थोऽन्तराधिकारः समाप्तः ।

इति *श्रीजयसेनाचार्य*कृतायां *तात्पर्यवृत्तौ* *'तम्हा तस्स णमाइं'* इत्यादिपंचत्रिंशद्गाथापर्यन्तं सामान्यज्ञेयव्याख्यानं, तदनन्तरं *'दव्वं जीवं'* इत्याद्येकोनविंशतिगाथापर्यन्तं जीवपुद्गलधर्मादिभेदेन विशेषज्ञेयव्याख्यानं, ततश्च *'सपदेसेहिं समग्गो'* इत्यादिगाथाष्टकपर्यन्तं सामान्यभेदभावना, ततः परं *'अत्थित्तणिच्छिदस्स हि'* इत्याद्येकाधिकपंचाशद्गाथापर्यन्तं विशेषभेदभावना चेत्यन्तराधिकारचतुष्टयेन त्रयोदशाधिकशतगाथाभिः *सम्यग्दर्शनाधिकारनामा ज्ञेयाधिकारापरसंज्ञो* द्वितीयो महाधिकारः समाप्तः ॥

कार्यं प्रत्यत्रैव ग्रन्थः समाप्त इति ज्ञातव्यम् । कस्मादिति चेत् । *'उवसंपयामि'* इति प्रतिज्ञा समाप्तेः ।

सम्यग्ज्ञान के उपयोग अर्थात् विकल्प रहित स्वरूपलीनतारूप वीतराग चारित्रमय तथा सम्यग्ज्ञान आदि रूप भावना से उत्पन्न निराबाध-अनन्तसुख में लीन,'सिद्ध' शब्द से वाच्य अपने आत्मा की पूर्ण उपलब्धि लक्षण अरहन्त और सिद्धों को तथा 'साधु' शब्द से वाच्य सिद्ध दशा को साधनेवाले आचार्य, उपाध्याय और साधुओं को,मैं भक्ति की प्रकर्षता से बारम्बार नमस्कार करता हूँ ॥ २१४ ॥

इसप्रकार नमस्कार गाथा सहित चार स्थलों द्वारा चौथा विशेषान्तराधिकार पूर्ण हुआ ।

इसप्रकार *'अत्थित्तणिच्छिदस्स हि'* इत्यादि ग्यारह गाथाओं तक शुभोपयोग, अशुभोपयोग, शुद्धोपयोग— इन तीन की मुख्यता से पहला विशेषान्तराधिकार, उसके बाद *'अपदेसो परमाणु पदेसमेत्तो य'* इत्यादि नौ गाथाओं तक पुद्गलों के परस्पर बन्ध की मुख्यता से दूसरा विशेषान्तराधिकार, तदुपरान्त *'अरसमरूवं–'* इत्यादि १९ गाथाओं तक पुद्गल कर्म के साथ जीव के बन्ध की मुख्यता से तीसरा विशेषान्तराधिकार और तत्पश्चात् *'ण चयदि जो दु ममत्तिं'*– इत्यादि बारह गाथाओं तक विशेष भेदभावना चूलिका व्याख्यान रूप चौथा विशेषान्तराधिकार—इसप्रकार ५१ गाथाओं द्वारा चार विशेषान्तराधिकाररूप से विशेष भेदभावना नामक चौथा अधिकार पूर्ण हुआ ।

इसप्रकार *'श्री जयसेनाचार्य'* कृत *'तात्पर्यवृत्ति'* में *'तम्हा तस्स णमाइं–'* इत्यादि ३५ गाथाओं तक सामान्य ज्ञेय व्याख्यान, तदुपरान्त *'दव्वं जीवं–'* इत्यादि १९ गाथाओं तक जीव-पुद्गल-धर्मादि भेद से विशेष ज्ञेय-व्याख्यान, तत्पश्चात् *'सपदेसेहिं समग्गो–'* इत्यादि आठ गाथाओं तक सामान्य भेदभावना अधिकार और उसके बाद *'अत्थित्तणिच्छिदस्स हि–'* इत्यादि ५१ गाथाओं तक विशेष भेदभावना अधिकार— इसप्रकार चार अधिकारों से ११३ गाथाओं द्वारा *'सम्यग्दर्शन अधिकार'* अपर नाम *'ज्ञेयाधिकार'* नामक दूसरा महाधिकार पूर्ण हुआ ।

कार्य की अपेक्षा यहाँ (२१४वीं गाथा की पूर्णता पर) ही ग्रन्थ पूरा हो गया है— ऐसा जानना चाहिये । ऐसा क्यों जानना चाहिये ? यदि ऐसा प्रश्न हो तो कहते हैं— *'उवसंपयामि सम्मं–'* साम्य का आश्रय ग्रहण करता हूँ— इस प्रतिज्ञा की पूर्णता हो जाने से,यहाँ ही ग्रन्थ की पूर्णता जानना चाहिये ।

* * *

३. सम्यक्चारित्र महाधिकार

(चरणानुयोग सूचक चूलिका)

अत:परं यथाक्रमेण सप्ताधिकनवतिगाथापर्यन्तं चूलिकारूपेण चारित्राधिकारव्याख्यानं प्रारभ्यते।

तत्र तावदुत्सर्गरूपेण चारित्रस्य संक्षेपव्याख्यानम्। तदनन्तरमपवादरूपेण तस्यैव चारित्रस्य विस्तरव्याख्यानम्। ततश्च श्रामण्यापरनाममोक्षमार्गव्याख्यानम्। तदनन्तरं शुभोपयोगव्याख्यानमित्यन्तराधिकारचतुष्टयं भवति।

तत्रापि प्रथमान्तराधिकारे पंच स्थलानि। *'एवं पणमिय सिद्धे'* इत्यादिगाथासप्तकेन दीक्षाभिमुखपुरुषस्य दीक्षाविधानकथनमुख्यतया प्रथमस्थलम्। अत:परं *'वदसमिदिंदिय'* इत्यादि मूलगुणकथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाद्वयम्। तदनन्तरं गुरुव्यवस्थाज्ञापनार्थं *'लिंगग्गहणे'* इत्यादि एका गाथा, तथैव प्रायश्चित्तकथनमुख्यतया *'पयदम्हि'* इत्यादि गाथाद्वयमिति समुदायेन तृतीयस्थले गाथात्रयम्। अथाचारादिशास्त्रकथितक्रमेण तपोधनस्य संक्षेपसमाचारकथनार्थं *'अधिवासे व'* इत्यादि चतुर्थस्थले गाथात्रयम्। तदनन्तरं भावहिंसाद्रव्यहिंसापरिहारार्थं

इससे आगे यथाक्रम से ९७ गाथाओं तक चूलिकारूप से चारित्राधिकार का व्याख्यान प्रारम्भ होता है।

वहाँ सबसे पहले उत्सर्गरूप से चारित्र का संक्षिप्त व्याख्यान है। उसके बाद अपवादरूप से उसी चारित्र का विस्तृत व्याख्यान है। तत्पश्चात् श्रामण्य अपरनाम मोक्षमार्ग का व्याख्यान है। तथा तदुपरान्त शुभोपयोग का व्याख्यान है— इसप्रकार चार अन्तराधिकार हैं।

चारित्राधिकार अपरनाम चरणानुयोग सूचक चूलिका का अन्तराधिकार विभाजन

अन्तराधिकार क्रम	अन्तराधिकार प्रतिपादित प्रधान विषय	कहाँ से कहाँ पर्यन्त गाथायें	कुल गाथायें
प्रथम	उत्सर्गरूप से चारित्र का संक्षिप्त व्याख्यान	२१५ से २३५	२१
द्वितीय	अपवादरूप से चारित्र का विस्तृत व्याख्यान	२३६ से २६५	३०
तृतीय	मोक्षमार्ग व्याख्यान	२६६ से २७९	१४
चतुर्थ	शुभोपयोग व्याख्यान	२८० से ३११	३२
कुल चार अन्तराधिकार	(गाथा २१५ से ३११ पर्यन्त)	कुल ९७ गाथायें	

उनमें से भी पहले अन्तराधिकार में पाँच स्थल हैं। *'एवं पणमिय सिद्धे'*- इत्यादि सात गाथाओं द्वारा दीक्षा के सम्मुख पुरुष सम्बन्धी दीक्षा की पद्धति कथन की मुख्यता से पहिला स्थल है। तत्पश्चात् *'वदसमिदिंदिय'*- इत्यादि मूलगुणों के कथनरूप से दूसरे स्थल में दो गाथायें हैं। इसके बाद गुरु सम्बन्धी व्यवस्था बताने के लिये *'लिंगग्गहणे'*- इत्यादि एक गाथा, वैसे ही प्रायश्चित्त सम्बन्धी कथन की मुख्यता से *'पयदम्हि'*- इत्यादि दो गाथायें—इसप्रकार सामूहिकरूप से तीसरे स्थल में तीन गाथायें हैं। उसके बाद आचार आदि शास्त्रों (चरणानुयोग के ग्रन्थों) में कहे गये क्रम से मुनिराज का संक्षेप में समाचार कथन के लिये *'अधिवासे व'*- इत्यादि चौथेस्थल में तीन गाथायें हैं। तथा तदुपरान्त भावहिंसा-द्रव्यहिंसा के निराकरण के

'अपयत्ता वा चरिया' इत्यादि पंचमस्थले सूत्रषट्कमित्येकविंशतिगाथाभिः स्थलपंचकेन प्रथमान्तराधिकारे समुदायपातनिका।

तद्यथा – अथासन्नभव्यजीवांश्चारित्रे प्रेरयति –

एवं पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे।(२०१)

पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं ॥ २१५ ॥

पडिवज्जदु प्रतिपद्यतां स्वीकरोतु। किम्। *सामण्णं* श्रामण्यं चारित्रम्। यदि किम्। *इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं* यदि चेत् दुःखपरिमोक्षमिच्छति। स कः कर्ता। परेयामात्मा। कथं प्रतिपद्यताम्। *एवं* एवं

लिए *'अपयत्ता वा चरिया'*- इत्यादि पाँचवें स्थल में छह गाथायें हैं। इसप्रकार २१ गाथाओं द्वारा पाँच स्थलरूप से पहले अन्तराधिकार में सामूहिक पातनिका हुई।

प्रथम अन्तराधिकार का स्थल विभाजन (गाथा २१५ से २३५ पर्यन्त)

स्थल क्रम	स्थल प्रतिपादित प्रधान विषय	कहाँ से कहाँ पर्यन्त गाथायें	कुल गाथायें
प्रथम स्थल	दीक्षाभिमुख पुरुष का दीक्षा विधान कथन	२१५ से २२१	७
द्वितीय स्थल	मूलगुण कथन	२२२ व २२३	२
तृतीय स्थल	गुरु व्यवस्था एवं प्रायश्चित्त कथन	२२४ से २२६	३
चतुर्थ स्थल	मुनिराज सम्बन्धी संक्षिप्त समाचार कथन	२२७ से २२९	३
पंचम स्थल	भावहिंसा-द्रव्यहिंसा निराकरण	२३० से २३५	६
कुल पाँच स्थल		कुल २१ गाथायें	

(अब, चारित्राधिकार सम्बन्धी प्रथम अन्तराधिकार का सात गाथाओं में निबद्ध पहला स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, आसन्न-भव्य जीवों को चारित्र में प्रेरित करते हैं—

इस तरह बारम्बार सिद्धों जिनवरेन्द्रों श्रमण को।

कर नमन दुख परिमोक्ष इच्छो तो ग्रहो श्रामण्य को ॥ २१५ ॥

गाथार्थ- इसप्रकार बारम्बार सिद्धों, जिनवर वृषभों— तीर्थंकरों और श्रमणों— आचार्य-उपाध्याय-साधुओं को नमस्कार करके, यदि दुःखों से परिमोक्ष—पूर्ण मुक्ति चाहते हो, तो श्रामण्य को स्वीकार करो।

टीकार्थ- *पडिवज्जदु*-स्वीकार करें-ग्रहण करें। किसे ग्रहण करें। *सामण्णं*-श्रामण्य—चारित्र को ग्रहण करें। यदि क्या चाहते हैं, तो ग्रहण करें। *इच्छदि जदि दुक्ख परिमोक्खं*- यदि दुःख से पूर्ण मुक्ति चाहते हैं, तो

पूर्वोक्तप्रकारेण *'एस सुरासुरमणुसिंद'* इत्यादिगाथापंचकेन पंचपरमेष्ठिनमस्कारं कृत्वा ममात्मना दुःखमोक्षार्थिनान्यैः *पूर्वोक्तभव्यैर्वा* यथा तच्चारित्रं प्रतिपन्नं तथा प्रतिपद्यताम्। किं कृत्वा पूर्वम्। *पणमिय* प्रणम्य। कान्। *सिद्धे* अंजनपादुकादिसिद्धिविलक्षणस्वात्मोपलब्धिसिद्धिसमेतसिद्धान्। *जिणवरवसहे* सासादनादिक्षीणकषायान्ता एकदेशजिना उच्यन्ते, शेषाश्चानागारकेवलिनो जिनवरा भण्यन्ते, तीर्थंकरपरमदेवाश्च जिनवरवृषभा इति, तान् जिनवरवृषभान्। न केवलं तान् प्रणम्य, *पुणो पुणो समणे* चिच्चमत्कारमात्रनिजात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयाचरणप्रतिपादनसाधकत्वोद्यतान् श्रमणशब्दवाच्यानाचार्योपाध्यायसाधूंश्च पुनः पुनः प्रणम्येति।

किंच पूर्वं ग्रन्थप्रारम्भकाले साम्यमाश्रयामीति शिवकुमारमहाराजनामा प्रतिज्ञां करोतीति भणितम्, इदानीं तु ममात्मना चारित्रं प्रतिपन्नमिति पूर्वापरविरोधः। परिहारमाह-ग्रन्थप्रारम्भात्पूर्वमेव दीक्षा गृहीता तिष्ठति, परं किंतु ग्रन्थकरणव्याजेन क्वाप्यात्मानं भावनापरिणतं दर्शयति, क्वापि शिवकुमारमहाराजं, क्वाप्यन्यं भव्यजीवं वा। तेन कारणेनात्र ग्रन्थे पुरुषनियमो नास्ति, कालनियमो नास्तीत्यभिप्रायः ॥ २१५ ॥

उसे स्वीकार करें। स्वीकार करने रूप कर्ता वह कौन है ? दूसरों के आत्मा उसे स्वीकार करें। वे उसे कैसे स्वीकार करें ? ***एवं***- इसप्रकार पहले कहे गये अनुसार *'एस सुरासुरमणुसिंद'*- इत्यादि पाँच गाथाओं द्वारा पंच परमेष्ठियों को नमस्कार कर, दुःख से छूटने के इच्छुक मैंने स्वयं अथवा पहले कहे गये अन्य भव्यों ने, जैसे उस चारित्र को स्वीकार किया है, वैसा स्वीकार करें। वे पहले क्या करके उसे स्वीकार करें ? ***पणमिय***- वे प्रणाम कर उसे स्वीकार करें। किन्हें प्रणाम कर उसे स्वीकार करें ? ***सिद्धे***- अञ्जन, पादुका आदि की सिद्धि से विलक्षण, अपने आत्मा की पूर्ण उपलब्धिरूप सिद्धि से सहित सिद्धों को, ***जिणवरवसहे***- सासादन गुणस्थान से प्रारम्भकर क्षीण-कषाय गुणस्थान पर्यन्त (के जीव) एकदेश जिन कहलाते हैं और शेष अनागार केवली जिनवर कहलाते हैं तथा तीर्थंकर परमदेव जिनवरवृषभ हैं, उन जिनवरवृषभों को प्रणाम कर। मात्र सिद्धों और जिनवरवृषभों को ही प्रणाम कर नहीं, अपितु ***पुणो पुणो समणे***- चैतन्य चमत्कार मात्र अपने आत्मा सम्बन्धी सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप निश्चय रत्नत्रय स्वरूप आचरण के प्रतिपादन में और साधने में प्रयत्नशील, श्रमण शब्द से वाच्य आचार्य-उपाध्याय और साधुओं को बारम्बार प्रणाम कर स्वीकार करें।

विशेष यह है कि पहले ग्रन्थ प्रारम्भ करते समय 'साम्य का आश्रय लेता हूँ — इसप्रकार शिवकुमार महाराज प्रतिज्ञा करते हैं' ऐसा कहा था, और अब मेरा आत्मा चारित्र को प्राप्त करता है (ऐसा कहा); यह पहले और अभी के कथन में विरोध है। आचार्य उसका निराकरण करते हुये कहते हैं — ग्रन्थ प्रारम्भ करने के पहले से ही दीक्षा ग्रहण करनेवाले जीव की अपेक्षा, मैं साम्य का आश्रय लेता हूँ — ऐसा कहा था; किन्तु यहाँ ग्रन्थ करने के माध्यम से (चारित्र रूप) भावना परिणत किसी भी आत्मा को दिखाते हैं अर्थात् किसी भी शिवकुमार महाराज को अथवा दूसरे किसी भी भव्य जीव को चारित्र स्वीकार करते हुये दिखाते हैं। इसकारण इस ग्रन्थ में पुरुष का नियम नहीं है, काल का नियम नहीं है — ऐसा अभिप्राय है।

विशेषार्थ- दुःखों से छूटने के इच्छुक जीवों को श्रामण्य ग्रहण करने की प्रेरणा देते हुये उसे ग्रहण करने वालों का साहस बढ़ाते हुये के समान इस गाथा की टीका में 'आचार्य अमृतचन्द्र' लिखते हैं कि —

"उस श्रामण्य को अंगीकार करने सम्बन्धी यथानुभूत मार्ग के प्रणेता हम ये खड़े हैं।" [१]

१- प्रवचनसार, गाथा २०१, तत्त्वप्रदीपिका टीका।

अथ श्रमणो भवितुमिच्छन्पूर्वं क्षमितव्यं करोति- *'उवट्ठिदो होदि सो समणो'* इत्यग्रे षष्ठगाथायां यद्व्याख्यानं तिष्ठति तन्मनसि धृत्वा पूर्वं किं कृत्वा श्रमणो भविष्यतीति व्याख्याति –

आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं ।(२०२)

आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं ॥ २१६ ॥

आपिच्छ आपृच्छ्य पृष्ट्वा। कम्। *बंधुवग्गं* बन्धुवर्गं गोत्रम्। ततः कथंभूतो भवति। *विमोचिदो* विमोचितस्त्यक्तो भवति। कैः कर्तृभूतैः। *गुरुकलत्तपुत्तेहिं* पितृमातृकलत्रपुत्रैः। पुनरपि किं कृत्वा श्रमणो भविष्यति। *आसिज्ज* आसाद्य आश्रित्य। कम्। *णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं* ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारमिति।

इसीप्रकार दूसरों को चारित्र में प्रवृत्त करने हेतु वे लिखते हैं–

"द्रव्य की सिद्धि में चरण की सिद्धि और चरण की सिद्धि में द्रव्य की सिद्धि है – ऐसा जानकर कर्मों से अविरत दूसरे भी द्रव्य से अविरुद्ध आचरण करें।

इसप्रकार दूसरों को चरण के आचरण में प्रयुक्त करते हैं।"* ॥ २१५ ॥

अब श्रमण होने की इच्छा करते हुये पहले क्षमा भाव करते हैं –

अथवा *'उवट्ठिदो होदि सो समणो'*- इसप्रकार आगे छठवीं (२२१वी) गाथा में जो व्याख्यान है, उसे मन में धारण कर पहले क्या करके श्रमण होगा, ऐसा विशेष कथन करते हैं –

वह पूछ बन्धु वर्ग से गुरु पुत्र पत्नी त्यक्त हो।

स्वीकार कर तप-ज्ञान-दर्शन-चरित वीर्याचार को ॥ २१६ ॥

गाथार्थ- बन्धु-समूह से पूछकर,(माता-पिता आदि) गुरुजनों-स्त्री-पुत्रों से छूटता हुआ ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार का आश्रय लेकर (वह श्रमण होगा)।

टीकार्थ- ***आपिच्छ-*** पूछकर। किसे पूछकर ? ***बंधुवग्गं-*** बन्धु समूह को –गोत्र वालों को पूछकर। उसके बाद कैसा होता है ? ***विमोचिदो-*** विमोचित– त्यक्त होता है – छूटता है। किन कर्ताओं से छूटता है ? ***गुरुकलत्तपुत्तेहिं-*** पिता, माता, स्त्री, पुत्रों से छूटता है। और भी क्या करके श्रमण होगा ? ***आसिज्ज-*** आश्रय कर श्रमण होगा। किसका आश्रय कर श्रमण होगा ? ***णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं-*** ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार का आश्रय लेकर श्रमण होगा।

---

* प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका टीका, पद्य १३ तथा उसके बाद का गद्य वाक्य।

अथ विस्तरः- अहो बन्धुवर्गपितृमातृकलत्रपुत्राः, अयं मदीयात्मा सांप्रतमुद्भिन्नपरमविवेकज्योतिस्सन् स्वकीयचिदानन्दैकस्वभावं परमात्मानमेव निश्चयनयेनानादिबन्धुवर्गं पितरं मातरं कलत्रं पुत्रं चाश्रयति, तेन कारणेन मां मुंचत यूयमिति क्षमितव्यं करोति। ततश्च किं करोति। परमचैतन्यमात्रनिजात्मतत्त्वसर्वप्रकारोपादेयरुचिपरिच्छित्तिनिश्चलानुभूतिसमस्तपरद्रव्येच्छानिवृत्तिलक्षणतपश्चरणस्वशक्त्यनवगूहनवीर्याचाररूपं निश्चयपंचाचारमाचारादिचरणग्रन्थकथिततत्साधकव्यवहारपंचाचारं चाश्रयतीत्यर्थः।

अत्र यद्गोत्रादिभिः सह क्षमितव्यव्याख्यानं कृतं तदत्रातिप्रसंगनिषेधार्थम्। तत्र नियमो नास्ति। कथमिति चेत्। पूर्वकाले प्रचुरेण भरतसगररामपाण्डवादयो राजान एव जिनदीक्षां गृह्णन्ति, तत्परिवारमध्ये यदा कोऽपि मिथ्यादृष्टिर्भवति तदा धर्मस्योपसर्गं करोतीति। यदि पुनः कोऽपि मन्यते गोत्रसम्मतं कृत्वा पश्चात्तपश्चरणं करोमि तस्य प्रचुरेण तपश्चरणमेव नास्ति, कथमपि तपश्चरणे गृहीतेऽपि यदि गोत्रादिममत्वं करोति तदा तपोधन एव न भवति।

तथाचोक्तम्-

"जो सकलणयररज्जं पुव्वं चइऊण कुणइ य ममत्तिं।

सो णवरि लिंगधारी संजमसारेण णिस्सारो।" ॥ २१६ ॥

अब इसका विस्तार करते हैं — अहो ! बन्धु समूह, पिता-माता, स्त्री, पुत्र — यह मेरा आत्मा, अब प्रगट उत्कृष्ट भेदज्ञान ज्योतिवाला होता हुआ, निश्चयनय से अनादि बन्धु वर्ग पिता-माता, स्त्री, पुत्र रूप अपने ज्ञानानन्द एक स्वभावी परमात्मा का ही आश्रय लेता है, इस कारण तुम सब मुझे छोड़ो — इसप्रकार क्षमाभाव करता है। उसके बाद और क्या करता है ? उत्कृष्ट चैतन्यमात्र अपने आत्मतत्त्व को सभी प्रकार से उपादेय रूप— ग्रहण करनेवाली (माननेवाली) रुचि, उसकी ही जानकारी और उसकी ही निश्चल अनुभूतिरूप दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, सम्पूर्ण परद्रव्यों सम्बन्धी इच्छाओं से निवृत्ति लक्षण तपश्चरण—तपाचार और अपनी शक्ति को नहीं छिपाना वीर्याचार—इस रूप निश्चय पंचाचार तथा आचार आदि चरणानुयोग के ग्रन्थों में कहे गये उन निश्चय पंचाचार के साधक व्यवहार पंचाचार का आश्रय करता है—ऐसा अर्थ है।

यहाँ जो गोत्र आदि के साथ क्षमाभाव का व्याख्यान किया है, वह अतिप्रसंग—अमर्यादा के निषेध के लिये किया है। वहाँ (क्षमाभाव का) नियम नहीं है। क्षमाभाव का नियम क्यों नहीं है ? यदि ऐसा प्रश्न हो तो कहते हैं— प्राचीन काल में अधिकतर भरत, सगर, राम, पाण्डव आदि राजा जिन-दीक्षा ही ग्रहण करते हैं, उनके परिवार में जब कोई भी मिथ्यादृष्टि होता है तब धर्म पर उपसर्ग करता है। और यदि कोई ऐसा मानता है कि गोत्र को प्रसन्न कर बाद में तपश्चरण करता हूँ, तो अधिकतर उसका यह तपश्चरण ही नहीं है; किसी भी प्रकार तपश्चरण ग्रहण करने पर भी, यदि गोत्र आदि में ममकार करता है, तो वह तपोधन (मुनि) ही नहीं है। वैसा ही कहा है —

"जो पहले सम्पूर्ण नगर व राज्य को छोड़कर बाद में ममत्व करता है, वह लिंगधारी (मुनि) विशेषरूप से संयम के सार से निस्सार (रहित) है।"

विशेषार्थ- इस गाथा-टीका में 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने बन्धु आदि प्रत्येक की आत्मा को संबोधित करते हुये, उनसे विदा लेने व छुड़ाने की पद्धति दिखाई है। साथ ही पंचाचारों में से प्रत्येक के भेदों को संबोधित कर "तुम शुद्धात्मा के नहीं हो — ऐसा मैं निश्चय से जानता हूँ, तथापि तुम्हें तब तक अंगीकार करता हूँ जब तक तुम्हारे प्रसाद से शुद्धात्मा को प्राप्त कर लूँ।"

इसप्रकार प्रत्येक भेद को अंगीकार करने की पद्धति दिखाई है।[1]

१- प्रवचनसार, गाथा २०२, तत्त्वप्रदीपिका टीका।

अथ जिनदीक्षार्थी भव्यो जैनाचार्यमाश्रयति –

समणं गणिं गुणड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं।(२०३)
समणेहिं तं पि पणदो पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो॥ २१७॥

समणं निन्दाप्रशंसादिसमचित्तत्वेन पूर्वसूत्रोदितनिश्चयव्यवहारपंचाचारस्याचरणाचारणप्रवीणत्वात् श्रमणम्। *गुणड्ढं* चतुरशीतिलक्षगुणाष्टादशसहस्रशीलसहकारिकारणोत्तमनिजशुद्धात्मानुभूतिगुणेनाढ्यं भृतं परिपूर्णत्वाद्गुणाढ्यम्। *कुलरूववयोविसिट्ठं* लोकदुगुंच्छारहितत्वेन जिनदीक्षायोग्यं कुलं भण्यते। अन्तरंग-शुद्धात्मानुभूतिज्ञापकं निर्ग्रन्थनिर्विकारं रूपमुच्यते। शुद्धात्मसंवित्तिविनाशकारिवृद्धबालयौवनोद्रेकजनित-बुद्धिवैकल्यरहितं वयश्चेति। तैः कुलरूपवयोभिर्विशिष्टत्वात् कुलरूपवयोविशिष्टम्। *इट्ठदरं* इष्टतरं सम्मतम्। कैः। *समणेहिं* निजपरमात्मतत्त्वभावनासहितसमचित्तश्रमणैरन्याचार्यैः। *गणिं* एवंविधगुणविशिष्टं परमात्म-भावनासाधकदीक्षादायकमाचार्यम्। *तं पि पणदो* न केवलं तमाचार्यमाश्रितो भवति, प्रणतोऽपि भवति। केन

अब, जिन-दीक्षा का इच्छुक भव्य जैनाचार्य का आश्रय लेता है —

कुल- रूप-वय वैशिष्ट्य गणि अति इष्ट श्रमण गुणाढ्य को।
कर नमन होता अनुगृहित कहता है मुझको अब ग्रहो॥ २१७॥

गाथार्थ- वह दीक्षार्थी,श्रमण, गुणाढ्य, कुल-रूप और वय से विशिष्ट,श्रमणों को अति इष्ट उन गणी को प्रणाम करता हुआ "मुझे स्वीकार करो" इसप्रकार अनुगृहीत होता है।

टीकार्थ- ***समणं***– निन्दा-प्रशंसा आदि में समान हृदयी—समता भाववाले होने से,पहले (२१६वीं) गाथा में कहे गये निश्चय पंचाचार और व्यवहार पंचाचार का आचरण करने और कराने में प्रवीण—चतुर होने के कारण श्रमण हैं। ***गुणड्ढं***- चौरासी लाख गुणों और अठारह हजार शीलों के सहकारी कारणभूत,उत्तम अपने शुद्धात्मा की अनुभूति रूपी गुण से आढ्य—भरे हुये— परिपूर्ण होने के कारण गुणाढ्य हैं। ***कुलरूववयोविसिट्ठं***- लोक सम्बन्धी दुगुंच्छा—घृणा—निन्दा से रहित होने के कारण,जिन-दीक्षा के योग्य को कुल कहते हैं। अन्दर में शुद्धात्मा की अनुभूति को बतानेवाले,परिग्रहरहित (गाँठ रहित), विकार रहित वेष को रूप कहते हैं। शुद्धात्मा की अनुभूति को नष्ट करनेवाली,वृद्धावस्था, बालावस्था और यौवनावस्था सम्बन्धी उद्रेक से उत्पन्न बुद्धि की विकलता से रहित वय है। उन कुल-रूप और वय से विशिष्ट होने के कारण कुल-रूप-वय विशिष्ट हैं। ***इट्ठदरं***- इष्टतर—सम्मत—स्वीकृत हैं। किन से स्वीकृत हैं ? ***समणेहिं***- अपने परमात्मतत्त्व की भावना से सहित,समचित्त—समभाव परिणत श्रमणों—अन्य आचार्यों से स्वीकृत हैं। ***गणिं***- इसप्रकार के गुणों से विशिष्ट,परमात्मभावना के साधक,दीक्षा देने वाले आचार्य के आश्रित होता है। ***तं पि पणदो***- न केवल उन आचार्य के आश्रित होता है,वरन् प्रणत—नम्रीभूत—नमन करनेवाला भी होता है। किस

रूपेण। *पडिच्छ मं* हे भगवन्, अनन्तज्ञानादिनिजगुणसंपत्तिकारणभूताया अनादिकालेऽत्यन्तदुर्लभाया भावसहितजिनदीक्षाया: प्रदानेन प्रसादेन मां प्रतीच्छ स्वीकुरु। *चेदि अणुगहिदो* न केवलं प्रणतो भवति, तेनाचार्येणानुगृहीतः स्वीकृतश्च भवति। हे भव्य, निस्सारसंसारे दुर्लभबोधिं प्राप्य निजशुद्धात्मभावनारूपया निश्चयचतुर्विधाराधनया मनुष्यजन्म सफलं कुर्वित्यनेन प्रकारेणानुगृहीतो भवतीत्यर्थः ॥ २१७ ॥

अथ गुरुणा स्वीकृतः सन् कीदृशो भवतीत्युपदिशति –

णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि।(२०४)

इदि णिच्छिदो जिदिंदो जादो जधजादरूवधरो॥ २१८ ॥

णाहं होमि परेसिं नाहं भवामि परेषाम्। निजशुद्धात्मनः सकाशात्परेषां भिन्नद्रव्याणां संबन्धी न भवाम्यहम्। *ण मे परे* न मे संबन्धीनि परद्रव्याणि। *णत्थि मज्झमिह किंचि* नास्ति ममेह किंचित्। इह जगति

रूप में प्रणत होता है ? *पडिच्छ मं*- हे भगवन् !अनन्त ज्ञान आदि अपने गुणों रूपी सम्पत्ति की प्रगटता की कारणभूत,अनादि काल में अत्यन्त दुर्लभ,भाव सहित जिनदीक्षा को प्रदान करनेरूप प्रसाद से,मुझे स्वीकार करें—इसप्रकार प्रणत होता है। *चेदि अणुगहिदो*- न केवल प्रणत होता है,अपितु उन आचार्य द्वारा अनुगृहीत—स्वीकार भी किया जाता है। हे भव्य !सार रहित संसार में दुर्लभ बोधि—रत्नत्रय को प्राप्त कर, अपने शुद्धात्मा की भावनारूप निश्चय चार प्रकार की आराधना से,मनुष्य जन्म को सफल करो— इसप्रकार अनुगृहीत होता है—ऐसा अर्थ है।

विशेषार्थ- इस गाथा-टीका में 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने कुल विशिष्ट, इष्टतर तथा गुरुकृत उपग्रह को निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया है—

"सभी लौकिक जनों के द्वारा निःशंकरूप से सेवा करने योग्य होने के कारण और कुल क्रम से आये हुये क्रूरता आदि दोषों से रहित होने के कारण,कुल विशिष्ट हैं।"

"यथोक्त श्रामण्य का आचरण करने तथा कराने सम्बन्धी मानवीय (मनुष्य के संभावित) दोषों को पूर्ण रूप से नष्ट कर देने से,मुमुक्षुओं द्वारा अभ्युपगततर (प्रायश्चित्तादि के लिए अधिकतर आश्रय लिये जानेवाले) होने के कारण,श्रमणों को अति इष्ट हैं।"

"शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि के साधक आचार्य के सम्मुख 'शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धिरूप सिद्धि से मुझे अनुगृहीत करें—ऐसा कहता हुआ प्रणत होता है।' इसप्रकार यह तुझे शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धिरूप सिद्धि है— इसप्रकार उन आचार्य द्वारा यह,प्रार्थित अर्थ से संयुक्त किया जाता हुआ अनुगृहीत होता है"[१] ॥ २१७ ॥

अब, गुरु द्वारा स्वीकृत होता हुआ,वह कैसा होता है, ऐसा उपदेश देते हैं—

मैं नहीं पर का पर न मेरा यहाँ कुछ मेरा न पर।

हो निश्चयी ऐसा,जितेन्द्रिय, यथाजात स्वरूपधर॥ २१८ ॥

गाथार्थ- मैं दूसरों का नहीं हूँ, दूसरे मेरे नहीं हैं, इस लोक में मेरा कुछ भी नहीं है, ऐसा निश्चयवान और जितेन्द्रिय होता हुआ यथाजात रूप धर (जन्म के समान निर्विकार दिगम्बर वेषधारी) होता है।

टीकार्थ- *णाहं होमि परेसिं*- मैं पर का नहीं हूँ। अपने शुद्धात्मा से भिन्न दूसरे द्रव्यों का मैं सम्बन्धी नहीं हूँ। *ण मे परे*- पर द्रव्य मेरे सम्बन्धी नहीं हैं। *णत्थि मज्झमिह किंचि*- यहाँ मेरा कुछ भी नहीं है। इस लोक

१- प्रवचनसार,गाथा २०३,तत्त्वप्रदीपिका टीका।

निजशुद्धात्मनो भिन्नं किंचिदपि परद्रव्यं मम नास्ति। *इदि णिच्छिदो* इति निश्चितमतिर्जातः। *जिदिंदो जादो* इन्द्रियमनोजनितविकल्पजालरहितानन्तज्ञानादिगुणस्वरूपनिजपरमात्मद्रव्याद्विपरीतेन्द्रियनोइन्द्रियाणां जयेन जितेन्द्रियश्च संजातः सन् *जधजादरूवधरो* यथाजातरूपधरः, व्यवहारेण नग्नत्वं यथाजातरूपं, निश्चयेन तु स्वात्मरूपं, तदित्थंभूतं यथाजातरूपं धरतीति यथाजातरूपधरः निर्ग्रन्थो जात इत्यर्थः ॥ २१८ ॥

अथ तस्य पूर्वसूत्रोदितयथाजातरूपधरस्य निर्ग्रन्थस्यानादिकालदुर्लभायाः स्वात्मोपलब्धिलक्षणसिद्धेर्गमकं चिन्हं बाह्याभ्यन्तरलिंगद्वयमादिशति –

जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं।(२०५)
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं॥ २१९ ॥
मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवओगजोगसुद्धीहिं।(२०६)
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं॥ २२० ॥ (जुगलं)

में अपने शुद्धात्मा से भिन्न कुछ भी पर द्रव्य मेरा नहीं है। *इदि णिच्छिदो*- इसप्रकार निश्चित बुद्धिवाला। ***जिदिंदो जादो***- तथा इन्द्रिय और मन से उत्पन्न विकल्प समूहों से रहित, अनन्तज्ञानादि गुण स्वरूप अपने परमात्मद्रव्य से विपरीत, इन्द्रिय और मन को जीतने से जितेन्द्रिय होता हुआ ***जधजादरूवधरो***- यथाजातरूपधर, व्यवहार से नग्नता यथाजातरूप है तथा निश्चय से अपना आत्मरूप यथाजातरूप है, वह इसप्रकार यथाजातरूप को धारण करता है – इसप्रकार यथाजातरूपधर निर्ग्रन्थ अर्थात् आरम्भ-परिग्रह से रहित नग्न-दिगम्बर होता है – ऐसा अर्थ है ॥ २१८ ॥

अब, अनादिकाल से दुर्लभ पहले (२१८वी) गाथा में कहे गये, अपने आत्मा की पूर्ण प्रगट प्राप्ति लक्षण सिद्धि के कारणभूत, निर्ग्रन्थ यथाजातरूपधर के गमक—चिन्ह—पहिचान के चिन्ह स्वरूप बाह्य और अन्तरंग दोनों चिन्हों को कहते हैं—

हो यथाजात स्वरूपधर उत्पाड केश-श्मश्रु को।
जो शुद्ध हिंसारहित अप्रतिकर्म होता लिंग वो॥ २१९ ॥
आरम्भ मूर्च्छा रहित वा उपयोग-योग विशुद्ध जो।
हो निरापेक्षी मोक्ष कारण जिन कथित है लिंग वो॥ २२० ॥

गाथार्थ- यथाजातरूप वाला, सिर और दाढ़ी-मूँछों के बालों का लोंच किया हुआ, शुद्ध, हिंसादि से रहित और प्रतिकर्म से रहित (श्रामण्य का) बाह्य लिंग है।

मूर्च्छा (ममत्व) और आरम्भ रहित, उपयोग और योग की शुद्धि से सहित, पर की अपेक्षा से रहित, मोक्ष का कारण, जिनेन्द्रदेव कथित (श्रामण्य का) अन्तरंग लिंग है।

जधजादरूवजादं पूर्वसूत्रोक्तलक्षणयथाजात रूपेण निर्ग्रन्थत्वेन जातमुत्पन्नं यथाजातरूपजातम्। *उप्पाडिदकेसमंसुगं* केशश्मश्रुसंस्कारोत्पन्नरागादिदोषवर्जनार्थमुत्पाटितकेशश्मश्रुत्वादुत्पाटितकेशश्मश्रुकम्। *सुद्धं* निरवद्यचैतन्यचमत्कारविसदृशेन सर्वसावद्ययोगेन रहितत्वाच्छुद्धम्। *रहिदं हिंसादीदो* शुद्धचैतन्यरूप-निश्चयप्राणहिंसाकारणभूताया रागादिपरिणतिलक्षणनिश्चयहिंसाया अभावात् हिंसादिरहितम्। *अप्पडिकम्मं हवदि* परमोपेक्षासंयमबलेन देहप्रतिकाररहितत्वादप्रतिकर्म भवति। किम्। *लिंगं* एवं पंचविशेषणविशिष्टं लिंगं द्रव्यलिंगं ज्ञातव्यमिति प्रथमगाथा गता।

मुच्छारंभविमुक्कं परद्रव्यकाङ्क्षारहितनिर्मोहपरमात्मज्योतिर्विलक्षणा बाह्यद्रव्ये ममत्वबुद्धिर्मूर्च्छा भण्यते, मनोवाक्कायव्यापाररहितचिच्चमत्कारप्रतिपक्षभूत आरम्भो व्यापारस्ताभ्यां मूर्च्छारम्भाभ्यां विमुक्तं मूर्च्छारम्भविमुक्तम्। *जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं* निर्विकारस्वसंवेदनलक्षण उपयोगः, निर्विकल्पसमाधिर्योगः, तयोरुपयोगयोगयोः शुद्धिरुपयोगयोगशुद्धिस्तया युक्तम्। *ण परावेक्खं* निर्मलानुभूतिपरिणतेः परस्य परद्रव्यस्यापेक्षया रहितं, न परापेक्षम्। *अपुणब्भवकारणं* पुनर्भवविनाशकशुद्धात्मपरिणामाविपरीतापुनर्भवस्य मोक्षस्य कारणमपुनर्भवकारणम्। *जेण्हं* जिनस्य संबन्धीदं जिनेन प्रोक्तं वा जैनम्। एवं पंचविशेषणविशिष्टं भवति। किम्। *लिंगं* भावलिंगमिति।

इति द्रव्यलिंगभावलिंगस्वरूपं ज्ञातव्यम्॥ २१९-२२०॥

टीकार्थ- *जधजादरूवजादं-* पहले (२१८वीं) गाथा में कहे गये लक्षणवाले यथाजातरूप से निर्ग्रन्थ होने के कारण, यथाजातरूप से उत्पन्न है। *उप्पाडिदकेसमंसुगं-* केश (सिर के बाल) और श्मश्रु (दाढ़ी-मूँछों सम्बन्धी बालों) के संस्कार (सजावट) से उत्पन्न रागादि दोषों के निराकरण के लिये केश और श्मश्रु को उखाड़नेवाला होने से, उत्पाटित केश-श्मश्रु है। *सुद्धं-* निरवद्य—पाप रहित चैतन्य चमत्कार से विपरीत, सम्पूर्ण सावद्य योग से रहित होने के कारण, शुद्ध है। *रहिदं हिंसादीदो-* शुद्ध चैतन्यरूप निश्चय प्राण हिंसा की कारणभूत, रागादि परिणति लक्षण निश्चय हिंसा का अभाव होने से, हिंसादि रहित है। *अप्पडिकम्मं हवदि-* परम-उपेक्षा-संयम के बल से, शरीर सम्बन्धी प्रतिकार से रहित होने के कारण, अप्रतिकर्म है। इन सब रूप क्या है ? *लिंगं-* इसप्रकार पाँच विशेषणों से विशिष्ट द्रव्यलिंग है—ऐसा जानना चाहिये—इसप्रकार प्रथम (२१९वी) गाथा पूर्ण हुई।

मुच्छारम्भविमुक्कं- परद्रव्य सम्बन्धी चाह से रहित, मोह रहित परमात्मज्योति से विलक्षण, बाह्य—अन्य द्रव्य में ममत्वबुद्धि मूर्च्छा कहलाती है। मन-वचन और शरीर के व्यापार से रहित, चैतन्य-चमत्कार से विरुद्ध, आरम्भ अर्थात् व्यापार है, उन मूर्च्छा और आरम्भ से विमुक्त—रहित मूर्च्छा-आरम्भ विमुक्त है। *जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं-* विकार रहित स्वसंवेदन लक्षण उपयोग है और विकल्प रहित समाधि योग है, उन दोनों उपयोग और योग की शुद्धि उपयोग-योग शुद्धि है—उस शुद्धि से सहित है। *ण परावेक्खं-* निर्मल अनुभूति रूप परिणति का परद्रव्य की अपेक्षा से रहित होना-परापेक्षारहित— पर निरपेक्ष है। *अपुणब्भवकारणं-* पुनः जन्म लेनेरूप परिणामों को नष्ट करनेवाले शुद्ध आत्मपरिणामों से अविरुद्ध, अपुनर्भव—मोक्ष का कारण अर्थात् अपुनर्भव-कारण है। *जेण्हं-* यह जिन सम्बन्धी अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहा गया है। इस प्रकार पाँच विशेषणों से विशिष्ट है। पाँचों विशेषणों से विशिष्ट क्या है ? *लिंगं-* भाव लिंग पाँच विशेषणों से विशिष्ट है।

इसप्रकार द्रव्यलिंग-भावलिंग का स्वरूप जानना चाहिये।

विशेषार्थ- इन युगल गाथा-टीकाओं में 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने परस्पर कारण-कार्य रूपता को स्पष्ट करते हुये विशेषण स्पष्ट किये हैं। यथा—

अथैतल्लिङ्गद्वैतमादाय पूर्वं भाविनैगमनयेन यदुक्तं पंचाचारस्वरूपं तदिदानीं स्वीकृत्य तदाधारेणोपस्थितः स्वस्थो भूत्वा श्रमणो भवतीत्याख्याति –

आदाय तं पि लिंगं गुरुणा परमेण तं णमंसित्ता।(२०७)

सोच्चा सवदं किरियं उवट्ठिदो होदि सो समणो ॥ २२१ ॥

आदाय तं पि लिंगं आदाय गृहीत्वा तत्पूर्वोक्तं लिंगद्वयमपि। कथंभूतम्। दत्तमिति क्रियाध्याहारः। केन दत्तम्। *गुरुणा परमेण* दिव्यध्वनिकाले परमागमोपदेशरूपेणार्हद्भट्टारकेण, दीक्षाकाले तु दीक्षागुरुणा। लिंगग्रहणानन्तरं *तं णमंसित्ता* तं गुरुं नमस्कृत्य, *सोच्चा* तदनन्तरं श्रुत्वा। काम्। *किरियं* क्रियां बृहत्प्रतिक्रमणाम्। किंविशिष्टाम्। *सवदं* सव्रतां व्रतारोपणसहिताम्। *उवट्ठिदो* ततश्चोपस्थितः स्वस्थः सन् *होदि सो समणो* स पूर्वोक्तस्तपोधन इदानीं श्रमणो भवतीति।

"यथोक्त क्रम से यथाजातरूपधर आत्मा के,अयथाजातरूपधरता के कारणभूत,मोह-राग-द्वेष आदि भावों का अभाव होता ही है, और उनके अभाव से,उनके सद्भाव में होनेवाले,वस्त्राभूषण का धारण···आदि का अभाव होता है,जिससे गाथोक्त यथाजातरूपधर···आदि बाह्य लिंग प्रगट होता है।

उसीप्रकार आत्मा के यथाजातरूपधरता से,दूर किये गये अयथाजातरूपधरता के कारणभूत,मोह-राग-द्वेषादि भावों का अभाव होने से ही,उनके सद्भावों में होनेवाले ममत्व-कर्मप्रकर्म के परिणाम....आदि का अभाव होने से,मूर्च्छा-आरम्भ से रहितता....आदि अन्तरंग लिंग प्रगट होता ही है।"[१] ॥ २१९-२२० ॥

अब,इन दोनों लिंगों को ग्रहण कर,पहले भावि नैगमनय से कहे गये पंचाचार के स्वरूप को,अब स्वीकार कर, उसके आधार से उपस्थित—स्वस्थ—स्वरूप लीन होकर वह श्रमण होता है, ऐसा प्रसिद्ध करते हैं—

जो परमगुरु से दिये उन लिंगों को लेकर नमनकर।

होता उपस्थित श्रमण वह व्रत सहित क्रिया श्रवणकर ॥ २२१ ॥

गाथार्थ- परमगुरु द्वारा दिये गये उन दोनों लिंगों को भी ग्रहण कर, उन्हें नमस्कार कर व्रत सहित क्रियाओं को सुनकर,उपस्थित होता हुआ,वह श्रमण होता है।

टीकार्थ-*आदाय तं पि लिंगं-* उन पहले (२१९ व २२० गाथा में) कहे गये दोनों लिंगों को भी ग्रहण कर। कैसे दोनों लिंगों को ग्रहण कर ? ***दत्तं-*** यह क्रिया अध्याहार है (प्रकरणानुसार ले लेना चाहिये) अर्थात् दिये गये दोनों लिंगों को ग्रहण कर। किसके द्वारा दिये गये उनको ग्रहण कर ? ***गुरुणा परमेण-*** दिव्यध्वनि के समय परमागम के उपदेशरूप से अरहन्त भट्टारक—भगवान द्वारा तथा दीक्षा के समय दीक्षा गुरु द्वारा दिये गये उन लिंगों को ग्रहण कर। लिंग ग्रहण करने के बाद ***तं णमंसित्ता-*** उन गुरु को नमस्कार कर, ***सोच्चा-*** उसके बाद सुनकर। किसे सुनकर ? ***किरियं-*** क्रिया अर्थात बृहत्-प्रतिक्रमण को सुनकर। किससे सहित उसे सुनकर ? ***सवदं-*** सव्रत-व्रतारोपण सहित बृहत् प्रतिक्रमणरूप क्रिया को सुनकर। ***उवट्ठिदो-*** और उसके बाद उपस्थित—स्वस्थ—अपने में लीन होता हुआ ***होदि सो समणो-*** वह पहले कहा हुआ तपोधन—मुनि,अब श्रमण होता है।

१- प्रवचनसार,गाथा २०५-२०६,तत्त्वप्रदीपिका टीका।

इतो विस्तरः– पूर्वोक्तलिंगद्वयग्रहणानन्तरं पूर्वसूत्रोक्तपंचाचारमाश्रयति, ततश्चानन्तज्ञानादिगुणस्मरणरूपेण भावनमस्कारेण तथैव तद्गुणप्रतिपादकवचनरूपेण द्रव्यनमस्कारेण च गुरुं नमस्करोति। ततः परं समस्तशुभाशुभपरिणामनिवृत्तिरूपं स्वस्वरूपे निश्चलावस्थानं परमसामायिकव्रतमारोहति स्वीकरोति। मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च जगत्त्रये कालत्रयेऽपि समस्तशुभाशुभकर्मभ्यो भिन्ना निजशुद्धात्मपरिणतिलक्षणा या तु क्रिया सा निश्चयेन बृहत्प्रतिक्रमणा भण्यते। व्रतारोपणानन्तरं तां च श‍ृणोति। ततो निर्विकल्पसमाधिबलेन कायमुत्सृज्योपस्थितो भवति। ततश्चैवं परिपूर्णश्रमणसामग्र्यां सत्यां परिपूर्णश्रमणो भवतीत्यर्थः ॥ २२१ ॥

एवं दीक्षाभिमुखपुरुषस्य दीक्षाविधानकथनमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथासप्तकं गतम्।

अथ निर्विकल्पसामायिकसंयमे यदा च्युतो भवति तदा सविकल्पं छेदोपस्थापनचारित्रमारोहतीति प्रतिपादयति –

वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं।(२०८)
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च ॥ २२२ ॥

यहाँ उसका विस्तार करते हैं — पहले (२१९-२२० वीं गाथा में) कहे गये दोनों लिंगों को, ग्रहण करने के बाद पहले (२१६ वीं) गाथा में कहे गये, पंचाचार का आश्रय लेते हैं; तदुपरान्त अनन्तज्ञानादि गुण-स्मरणरूप भावनमस्कार द्वारा और वैसे ही उन गुणों के प्रतिपादक वचनरूप द्रव्य नमस्कार द्वारा, गुरु को नमस्कार करते हैं। उसके बाद सम्पूर्ण शुभ-अशुभ परिणामों से निवृत्तिरूप, अपने स्वरूप में निश्चल अवस्थानमयी, परम सामायिक व्रत पर आरोहण करते हैं—परम सामायिक व्रत को स्वीकार करते हैं। मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना द्वारा तीन लोक और तीन काल में भी, सम्पूर्ण शुभ-अशुभ कर्मों से भिन्न अपने शुद्धात्मारूप परिणति लक्षण जो क्रिया, वह निश्चय से बृहत् प्रतिक्रमण कहलाती है ; व्रतारोपण के बाद उसे सुनते हैं। तत्पश्चात् निर्विकल्प-समाधि के बल से, शरीर का त्याग कर— शरीर के प्रति मोह का त्याग कर, उपस्थित— स्वरूप लीन होते हैं। और उससे इसप्रकार परिपूर्ण श्रमण सम्बन्धी सामग्री के होने पर, परिपूर्ण श्रमण होते हैं— ऐसा अर्थ है ॥ २२१ ॥

इसप्रकार दीक्षा के सम्मुख पुरुष के दीक्षा-विधान कथन की मुख्यता से पहले स्थल में सात गाथायें पूर्ण हुईं।

(अब, मूलगुण कथन रूप दो गाथाओंवाला दूसरा स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, जब विकल्प रहित सामायिक संयम से च्युत होता है, तब विकल्प सहित छेदोपस्थापन चारित्र को स्वीकार करता है, ऐसा कथन करते हैं —

एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।(२०९)

तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि॥ २२३ ॥(जुम्मं)

वदसमिदिंदियरोधो व्रतानि च समितयश्चेन्द्रियरोधश्च व्रतसमितीन्द्रियरोधः। *लोचावस्सयं* लोचश्चावश्यकानि च लोचावश्यकं, "समाहारस्यैकवचनम्"। *अचेलमण्हाणं खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च* अचेलकास्नानक्षितिशयनादन्तधावनस्थितिभोजनैकभक्तानि। *एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता* एते खलु स्फुटं अष्टाविंशतिमूलगुणाः श्रमणानां जिनवरैः प्रज्ञप्ताः। *तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि* तेषु मूलगुणेषु यदा प्रमत्तः च्युतो भवति। सः कः। श्रमणस्तपोधनस्तदाकाले छेदोपस्थापको भवति। छेदे व्रतखण्डने सति पुनरप्युपस्थापकश्छेदोपस्थापक इति।

तथाहि- निश्चयेन मूलमात्मा, तस्य केवलज्ञानाद्यनन्तगुणा मूलगुणास्ते च निर्विकल्पसमाधिरूपेण परमसामायिकाभिधानेन निश्चयैकव्रतेन मोक्षबीजभूतेन मोक्षे जाते सति सर्वे प्रकटा भवन्ति। तेन कारणेन तदेव सामायिकं मूलगुणव्यक्तिकारणत्वात् निश्चयमूलगुणो भवति। यदा पुनर्निर्विकल्पसमाधौ समर्थो न

व्रत समिति इन्द्रियरोध लोच अचेल आवश्यक शयन।
भू,भुक्ति स्थिति, एक भुक्ति स्नान न न दन्तवन॥ २२२ ॥
ये मूल गुण हैं वास्तविक श्रमणों के जिनवर ने कहे।
उनमें प्रमत्त जो श्रमण हो वह छेदोपस्थापक बने॥ २२३ ॥

गाथार्थ- व्रत, समिति, इन्द्रियरोध, लोच, आवश्यक, अचेल, अस्नान, भूमिशयन, अदंतधावन, खड़े-खड़े भोजन और एक बार भोजन—ये वास्तव में,जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे गये श्रमणों के मूलगुण हैं; उनमें प्रमत्त होता हुआ श्रमण छेदोपस्थापक होता है।

टीकार्थ- ***वदसमदिंदियरोधो-*** व्रत और समितियाँ और इन्दियनिरोध (इसप्रकार द्वन्दसमास से) 'व्रत समितीन्द्रियरोध' शब्द बना। ***लोचावस्सयं-*** लोच और आवश्यक इसप्रकार 'लोचावश्यक' शब्द बना, ***"समाहारस्यैकवचनम्-*** समाहार-द्वन्दसमास में अन्तिम पद एकवचन होता है"- इस सूत्र के अनुसार 'लोचावस्सयं' का 'वस्सयं' पद एकवचन में प्रयुक्त हुआ। ***अचेलमण्हाणं खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च-*** अचेलक (निर्वस्त्र), अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधावन, खड़े होकर भोजन और एक बार भोजन। ***एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता-*** वास्तव में,श्रमणों के ये २८ मूलगुण, जिनेन्द्र भगवान ने कहे हैं। ***तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि-*** उन मूलगुणों में जब प्रमत्त होते हैं— उनसे च्युत होते हैं। उनमें प्रमत्त वे कौन होते हैं ? श्रमण—तपोधन—मुनिराज जब प्रमत्त होते हैं,तब वे उस समय छेदोपस्थापक होते हैं। छेद अर्थात् व्रत के खण्डन होने पर भी,फिर से उसमें ही उपस्थित होनेवाले छेदोपस्थापक हैं।

वह इसप्रकार-निश्चय से मूल आत्मा है, उसके केवलज्ञानादि अनन्तगुण मूलगुण हैं, और वे विकल्प रहित समाधिरूप परम सामायिक नामक निश्चय एक व्रतरूप, मोक्ष के बीजभूत होने से,मोक्ष होने पर सभी प्रगट होते हैं। इस कारण वही सामायिक,मूलगुणों को प्रगट करने का कारणरूप होने से,निश्चय मूलगुण

भवत्ययं जीवस्तदा यथा कोऽपि सुवर्णार्थी पुरुषः सुवर्णमलभमानस्तत्पर्यायानपि कुण्डलादीन् गृह्णाति, न च सर्वथा त्यागं करोति; तथायं जीवोऽपि निश्चयमूलगुणाभिधानपरमसमाध्यभावे छेदोपस्थापनं चारित्रं गृह्णाति। छेदे सत्युपस्थापनं छेदोपस्थापनम्। अथवा छेदेन व्रतभेदेनोपस्थापनं छेदोपस्थापनम्। तच्च संक्षेपेण पंचमहाव्रतरूपं भवति। तेषां व्रतानां च रक्षणार्थं पंचसमित्यादिभेदेन पुनरष्टाविंशतिमूलगुणभेदा भवन्ति। तेषां च मूलगुणानां रक्षणार्थं द्वाविंशतिपरीषहजयद्वादशविधतपश्चरणभेदेन चतुस्त्रिंशदुत्तरगुणा भवन्ति। तेषां च रक्षणार्थं देवमनुष्यतिर्यगचेतनकृतचतुर्विधोपसर्गजयद्वादशानुप्रेक्षाभावनादयश्चेत्यभिप्रायः ॥ २२२-२२३ ॥

एवं मूलोत्तरगुणकथनरूपेण द्वितीयस्थले सूत्रद्वयं गतम्।

अथास्य तपोधनस्य प्रव्रज्यादायक इवान्योऽपि निर्यापकसंज्ञो गुरुरस्ति इति गुरुव्यवस्थां निरूपयति –

लिंगग्गहणे तेसिं गुरु त्ति पव्वज्जदायगो होदि।(२१०)

छेदेसूवट्ठवगा सेसा णिज्जावगा समणा॥ २२४॥

है और जब यह जीव विकल्प रहित समाधि में, समर्थ नहीं होता है, तब जैसे कोई भी सुवर्ण का इच्छुक पुरुष, सुवर्ण को प्राप्त नहीं करता हुआ, उसकी कुण्डल आदि पर्यायों को भी ग्रहण करता है, सर्वथा उन्हें छोड़ नहीं देता है; उसी प्रकार यह जीव भी, निश्चय मूलगुण नामक परम समाधि के अभाव में, छेदोपस्थापन चारित्र ग्रहण करता है। छेद—व्रत खण्डन होने पर, फिर से उसमें ही उपस्थित होना, छेदोपस्थापन है। अथवा छेद अर्थात् व्रतों के भेद में, उपस्थित होना छेदोपस्थापन है। और वह संक्षेप में पाँच महाव्रत रूप है। और उन व्रतों की रक्षा के लिये, पाँच समिति आदि भेद से, पुनः अट्ठाईस मूलगुण भेद होते हैं। और उन मूलगुणों की रक्षा के लिये, बाईस परीषहजय, बारह प्रकार के तपों के भेद से, चौंतीस उत्तरगुण होते हैं। और उनकी रक्षा के लिये देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यंचकृत और अचेतनकृत चार प्रकार के उपसर्गों को जीतने के लिये बारह अनुप्रेक्षा—भावना आदि हैं — ऐसा अभिप्राय है।

विशेषार्थ- पाँच व्रत आदि अट्ठाईस मूलगुणों को 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने सर्व सावद्ययोग के प्रत्याख्यान स्वरूप एक महाव्रत की व्यक्तियाँ कहा है। वह इसप्रकार है —

"सर्व सावद्ययोग के प्रत्याख्यान स्वरूप एक महाव्रतरूप व्यक्ति के वश हिंसा, झूँठ, चोरी, कुशील, परिग्रह से विरति स्वरूप पाँच प्रकार के व्रत...।"[१] ॥ २२२-२२३ ॥

इसप्रकार मूलगुणों और उत्तरगुणों के कथनरूप से दूसरे स्थल में दो गाथायें पूर्ण हुईं।

(अब, गुरुव्यवस्था एवं प्रायश्चित्त कथन परक तीन गाथाओं में निबद्ध तीसरा स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, इन मुनिराज के, दीक्षा देनेवाले गुरु के समान, निर्यापक नामक दूसरे भी गुरु हैं, इसप्रकार गुरु व्यवस्था का निरूपण करते हैं —

दीक्षा ग्रहण में जो गुरु वे प्रव्रज्यादायक गुरु।

हो छेद, स्थापक पुनः वे शेष निर्यापक गुरु॥ २२४॥

गाथार्थ- लिंग ग्रहण—दीक्षाग्रहण के समय उनके गुरु, प्रव्रज्यादायक—दीक्षा गुरु—दीक्षा देनेवाले गुरु हैं तथा छेद होने पर उपस्थापन करनेवाले, शेष निर्यापक श्रमण हैं।

१- प्रवचनसार, गाथा २०८-२०९, तत्त्वप्रदीपिका टीका।

लिंगग्गहणे तेसिं लिंगग्रहणे तेषां तपोधनानां *गुरु त्ति होदि* गुरुर्भवतीति। स कः। *पव्वज्जदायगो* निर्विकल्पसमाधिरूपपरमसामायिकप्रतिपादको योऽसौ प्रव्रज्यादायकः स एव दीक्षागुरुः, *छेदेसु अ वट्टवगा* छेदयोश्च वर्तकाः ये *सेसा णिज्जावगा समणा* ते शेषाः श्रमणा निर्यापका भवन्ति शिक्षागुरवश्च भवन्तीति।

अयमत्रार्थ :– निर्विकल्पसमाधिरूपसामायिकस्यैकदेशेन च्युतिरैकदेशच्छेदः, सर्वथा च्युतिः सकलच्छेद इति देशसकलभेदेन द्विधा छेदः। तयोश्छेदयोर्ये प्रायश्चित्तं दत्वा संवेगवैराग्यजनकपरमागमवचनैः संवरणं कुर्वन्ति ते निर्यापकाः *शिक्षागुरवः श्रुतगुरवश्चेति भण्यन्ते*। दीक्षादायकस्तु दीक्षागुरुरित्यभिप्रायः ॥ २२४॥

अथ पूर्वसूत्रोक्तच्छेदद्वयस्य प्रायश्चित्तविधानं कथयति –

पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि।(२११)
जायदि जदि तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया॥ २२५ ॥
छेदुवजुत्तो समणो समणं ववहारिणं जिणमदम्हि।(२१२)
आसेज्जालोचित्ता उवदिट्ठं तेण कायव्वं॥ २२६ ॥ (जुगलं)

टीकार्थ- ***लिंगग्गहणे तेसिं-*** लिंग-मुनिवेश के ग्रहण में,उन मुनिराजों के ***गुरु त्ति होदि-*** गुरु होते हैं। वे कौन उनके गुरु होते हैं ? ***पव्वज्जदायगो-*** विकल्प रहित समाधिरूप परम सामायिक का प्रतिपादन करनेवाले,जो वे प्रव्रज्या—दीक्षा देनेवाले हैं,वे ही दीक्षा गुरु हैं, ***छेदेसु अ वट्टवगा-*** और छेद होने पर,उसका निराकरण कर,पुनः व्रत में स्थापन करनेवाले जो हैं, ***सेसा णिज्जावगा समणा-*** वे शेष श्रमण—मुनि निर्यापक हैं और शिक्षा गुरु हैं।

यहाँ अर्थ यह है— विकल्प रहित समाधिरूप सामायिक की,एकदेश च्युति एकदेश छेद है तथा सर्वथा—पूर्णरूप च्युति सकल छेद है— इसप्रकार देश और सकल के भेद से छेद,दो प्रकार का है। जो उन दोनों छेदों में प्रायश्चित्त देकर,सम्वेग और वैराग्य को उत्पन्न करनेवाले परमागम के वचनों द्वारा,सम्वरण करते हैं, वे निर्यापक, शिक्षागुरु और श्रुतगुरु कहलाते हैं। दीक्षा देनेवाले दीक्षागुरु हैं— ऐसा अभिप्राय है ॥ २२४ ॥

अब, पहले (२२४वीं) गाथा में कहे गये,दोनों प्रकार के छेद का प्रायश्चित्त विधान कहते हैं —

हो यत्न से प्रारब्ध काय-क्रिया में मुनि के छेद हो।
तो करें वे ही श्रमण आलोचना पूर्वक क्रिया को ॥ २२५ ॥
छेदोपयुक्ती मुनि,मुनि जिनमत में व्यवहारज्ञ को।
पाकर व कर आलोचना उपदिष्ट उनसे करें वो ॥ २२६ ॥

गाथार्थ- प्रयत्नपूर्वक प्रारम्भ की जानेवाली शारीरिक चेष्टाओं में,यदि श्रमण के छेद होता है, तो उसे आलोचना पूर्वक क्रिया करनी चाहिये।

तथा यदि श्रमण,छेद में उपयुक्त होता है—जुड़ता है,तो उसे जिनमत में व्यवहार कुशल श्रमण के पास जाकर,आलोचना कर, उनके द्वारा कहा गया प्रायश्चित्त करना चाहिये।

पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि जायदि जदि प्रयतायां समारब्धायां छेदः श्रमणस्य कायचेष्टायां जायते यदि चेत्। अथ विस्तरः– छेदो जायते यदि चेत्। स्वस्थभावच्युतिलक्षणः छेदो भवति। कस्याम्। कायचेष्टायाम्। कथंभूतायाम्। प्रयतायां स्वस्थभावलक्षणप्रयत्नपरायां समारब्धायां अशनशयनयान-स्थानादिप्रारब्धायाम्। *तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया* तस्य पुनरालोचनपूर्विका क्रिया। तदाकाले तस्य तपोधनस्य स्वस्थभावस्य बहिरंगसहकारिकारणभूता प्रतिक्रमणलक्षणालोचनपूर्विका पुनः क्रियैव प्रायश्चित्तं प्रतिकारो भवति, न चाधिकम्। कस्मादिति चेत्। अभ्यन्तरे स्वस्थभावचलनाभावादिति प्रथमगाथा गता।

छेदपउत्तो समणो छेदे प्रयुक्तः श्रमणो, निर्विकारस्वसंवित्तिभावनाच्युतिलक्षणच्छेदेन यदि चेत् प्रयुक्तः सहितः श्रमणो भवति। *समणं ववहारिणं जिणमदम्हि* श्रमणं व्यवहारिणं जिनमते, तदा जिनमते व्यवहारज्ञं प्रायश्चित्तकुशलं श्रमणं *आसेज्ज* आसाद्य प्राप्य, न केवलमासाद्य *आलोचित्ता* निःप्रपंचभावेनालोच्य दोषनिवेदनं कृत्वा। *उवदिट्ठं तेण कायव्वं* उपदिष्टं तेन कर्तव्यम्। तेन प्रायश्चित्तपरिज्ञानसहिताचार्येण निर्विकारस्वसंवित्ति-भावनानुकूलं यदुपदिष्टं प्रायश्चित्तं तत्कर्तव्यमिति सूत्रतात्पर्यम्॥ २२५-२२६ ॥

एवं गुरुव्यवस्थाकथनरूपेण प्रथमगाथा, यथैव प्रायश्चित्तकथनार्थं गाथाद्वयमिति समुदायेन तृतीयस्थले गाथात्रयं गतम्।

टीकार्थ- ***पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि जायदि जदि-*** प्रयत्नपूर्वक प्रारम्भ की जाने वाली शारीरिक चेष्टाओं में, यदि श्रमण के छेद होता है तो। अब, विस्तार करते हैं–यदि छेद होता है तो। स्वस्थभाव–अपने आप में स्थिति– लीनतारूप परिणाम से च्युति – छूटना लक्षण छेद होता है। किसमें छेद होता है ? शरीर सम्बन्धी चेष्टा में छेद होता है। कैसी शारीरिक चेष्टा में छेद होता है ? प्रयत्नपूर्वक–अपने आप में लीनतालक्षण प्रयत्नपूर्वक प्रारब्ध–अशन–भोजन, शयन–निद्रा, यान–चर्या, स्थान–बैठना आदि प्रारम्भ की गई शारीरिक क्रियाओं में, यदि छेद होता है तो। ***तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया-*** उसके फिर, आलोचना पूर्वक क्रिया होती है। उस समय, अपने आप में लीन उन मुनिराज के, बाह्य सहकारी कारणभूत प्रतिक्रमण स्वरूप आलोचना पूर्वक क्रिया ही, उसका प्रायश्चित्त अर्थात् प्रतिकार है और अधिक नहीं। इतना मात्र ही उसका प्रायश्चित्त क्यों है ? अंतरंग में, अपने आप में लीनतारूप परिणाम से विचलित होने का अभाव होने के कारण, इतने मात्र से ही उसका प्रायश्चित्त हो जाता है– इसप्रकार पहली (२२५वी) गाथा पूर्ण हुई।

छेदपउत्तो समणो- छेद में प्रयुक्त श्रमण; यदि श्रमण, विकार रहित आत्मानुभूतिरूप भावना से च्युति लक्षण छेद से, प्रयुक्त–सहित होता है तो। ***समणं ववहारिणं जिणमदम्हि-*** जिनमत में व्यवहार कुशल श्रमण को, तब जिनमत में व्यवहार को जाननेवाले प्रायश्चित्त में कुशल श्रमण–मुनि को ***आसेज्ज-*** पाकर, न केवल पाकर, अपितु, ***आलोचित्ता-*** निष्प्रपंच भाव से–छलरहित–संक्षिप्तरूप से आलोचना कर, दोषों का निवेदन कर। ***उवदिट्ठं तेण कायव्वं-*** उनके द्वारा कहा गया करना चाहिये। उन प्रायश्चित्त सम्बन्धी जानकारी से सहित आचार्य द्वारा, विकार रहित अपनी अनुभूति-भावना के अनुकूल, जो कहा गया प्रायश्चित्त है, वह करना चाहिये– ऐसा गाथा का तात्पर्य है।

अथ निर्विकारश्रामण्यच्छेदजनकान्परद्रव्यानुबन्धान्निषेधयति –

अधिवासे व विवासे छेदविहूणो भवीय सामण्णे ।(२१३)

समणो विहरदु णिच्चं परिहरमाणो णिबंधाणि ॥ २२७ ॥

विहरदु विहरतु विहारं करोतु । स कः । *समणो* शत्रुमित्रादिसमचित्तश्रमणः । *णिच्चं* नित्यं सर्वकालम् । किं कुर्वन्सन् । *परिहरमाणो* परिहरन्सन् । कान् । *णिबंधाणि* चेतनाचेतनमिश्रपरद्रव्येष्वनुबन्धान् । क्व विहरतु । *अधिवासे* अधिकृतगुरुकुलवासे निश्चयेन स्वकीयशुद्धात्मवासे वा, *विवासे* गुरुविरहितवासे वा । किं कृत्वा ।

भावार्थ- यदि अपने आप में लीनता स्वरूप प्रयत्न पूर्वक प्रारम्भ होनेवाली भोजन, निद्रा, चर्या, बैठना आदि शारीरिक क्रियाओं में, अपने आपमें लीनता स्वरूप परिणाम का छेद होता है, तो अपने आप में लीन उन मुनिराज के, बाह्य सहकारी कारणभूत प्रतिक्रमण स्वरूप आलोचना पूर्वक क्रिया ही, उस छेद का प्रायश्चित्त है; आत्मलीनता से विचलित न होने के कारण, इतने मात्र से ही उस छेद का प्रायश्चित्त हो जाता है, अन्य प्रायश्चित्त की आवश्यकता नहीं होती है ।

परन्तु यदि मुनिराज अपने आपमें लीनता स्वरूप परिणाम के छेद में प्रयुक्त होते हैं—तन्मय होते हैं, तो उन्हें जिनमत में व्यवहार को जाननेवाले, प्रायश्चित्त में कुशल मुनिराज के समीप जाकर, निश्छल भाव से, संक्षेप में दोषों का निवेदन कर, प्रायश्चित्त विधि को जानने वाले उन आचार्य द्वारा दिये गये, विकार रहित अपनी आत्मानुभूतिरूप भावना के अनुकूल, प्रायश्चित्त को ग्रहण करना चाहिये ।

इसप्रकार दो प्रकार के छेद सम्बन्धी दो प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान है ॥ २२५-२२६ ॥

इसप्रकार गुरु-व्यवस्था सम्बन्धी कथनरूप से पहली गाथा और इसीप्रकार प्रायश्चित्त सम्बन्धी कथन के लिये दो गाथायें— इसप्रकार समुदायरूप से तीसरे स्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुईं ।

(अब, मुनिराज सम्बन्धी संक्षिप्त समाचार कथन परक तीन गाथाओंवाला चौथा स्थल प्रारम्भ होता है ।)

अब, विकार रहित श्रामण्य में, छेद को उत्पन्न करनेवाले पर द्रव्यों के, सम्बन्ध का, निषेध करते हैं—

हो छेद विरहित, श्रमणता में, त्याग कर प्रतिबन्ध का ।

अधिवास में व विवास में भी मुनि विहार करें सदा ॥ २२७ ॥

गाथार्थ- श्रमण— मुनिराज हमेशा छेद रहित होकर, प्रतिबन्धों का परिहार करते हुये, अधिवास में (आत्मवास अथवा गुरुओं के सहवास में) अथवा विवास में (गुरुओं से भिन्न वास में) विहार करें ।

टीकार्थ- ***विहरदु-*** विहार करें । वे कौन विहार करें ? ***समणो-*** शत्रु-मित्र आदि में समानचित्तवाले श्रमण, विहार करें । ***णिच्चं-*** नित्य— सभी कालों में । क्या करते हुये वे, विहार करें ? ***परिहरमाणो-*** परिहार—निराकरण करते हुये वे, विहार करें । किनका परिहार करते हुये वे, विहार करें ? ***णिबंधाणि-*** चेतन-अचेतन और मिश्र परद्रव्यों में अनुबन्ध—सम्बन्ध का परिहार करते हुये वे, विहार करें । वे कहाँ विहार करें ? ***अधिवासे-*** अधिकृत गुरु-कुल वास में अथवा निश्चय से अपने शुद्धात्मारूपी वास में ***विवासे-***

सामण्णे निजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणनिश्चयचारित्रे *छेदविहूणो भवीय* छेदविहीनो भूत्वा, रागादिरहितनिजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणनिश्चयचारित्रच्युतिरूपच्छेदरहितो भूत्वा।

तथाहि- गुरुपार्श्वे यावन्ति शास्त्राणि तावन्ति पठित्वा तदनन्तरं गुरुं पृष्ट्वा च समशीलतपोधनैः सह भेदाभेदरत्नत्रयभावनया भव्यानामानन्दं जनयन्, तपःश्रुतसत्त्वैकत्वसन्तोषभावनापंचकं भावयन् तीर्थकरपरमदेवगणधरदेवादिमहापुरुषाणां चरितानि स्वयं भावयन्, परेषां प्रकाशयंश्च, विहरतीति भावः ॥ २२७ ॥

अथ श्रामण्यपरिपूर्णकारणत्वात्स्वशुद्धात्मद्रव्ये निरन्तरमवस्थानं कर्तव्यमित्याख्याति –

चरदि णिबद्धो णिच्चं समणो णाणम्हि दंसणमुहम्हि ।(२१४)

पयदो मूलगुणेसु य जो सो पडिपुण्णसामण्णो ॥ २२८ ॥

चरदि चरति वर्तते। कथंभूतः। *णिबद्धो* आधीनः, *णिच्चं* नित्यं सर्वकालम्। सः कः कर्ता। *समणो* लाभालाभादिसमचित्तश्रमणः। क्व निबद्धः। *णाणम्मि* वीतरागसर्वज्ञप्रणीतपरमागमज्ञाने तत्फलभूतस्वसंवेदनज्ञाने

अथवा गुरु से भिन्न वास में विहार करें। क्या करके यहाँ विहार करें ? *सामण्णे*- अपने शुद्धात्मा की अनुभूति स्वरूप निश्चल चारित्र में *छेदोविहूणो भवीय*- छेद से रहित होकर, रागादि रहित अपने शुद्धात्मा की अनुभूति लक्षण निश्चय चारित्र से च्युतिरूप छेद-रहित होकर, यहाँ विहार करें।

वह इसप्रकार—गुरु के पास जितने शास्त्र हों, उतने पढ़कर और उसके बाद गुरु से पूछकर, समान शीलवाले तपस्वियों के साथ, भेद-अभेद रत्नत्रय की भावना से, भव्यों के आनन्द को उत्पन्न करते हुये, तप-श्रुत-सत्त्व-एकत्व-सन्तोष रूप पाँच भावनाओं को भाते हुये, तीर्थंकर—परमदेव, गणधरदेव आदि महापुरुषों के चरित्रों को स्वयं भाते हुये और दूसरों को बताते हुये विहार करते हैं।

विशेषार्थ- परद्रव्य सम्बन्ध के त्याग को 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने इस गाथा-टीका में निम्न प्रकार से स्पष्ट किया है —

"वास्तव में सभी परद्रव्यों का सम्बन्ध, उपयोग का उपरंजक (मलिन करनेवाला) होने से, उपराग रहित उपयोगरूप श्रामण्य के छेद का आयतन है, उनके अभाव से ही अच्छिन्न श्रामण्य होता है।"[१] ॥ २२७ ॥

अब, श्रमणता की परिपूर्ण कारणता होने से, अपने शुद्धात्मद्रव्य में हमेशा स्थिति करना चाहिये, ऐसा प्रसिद्ध करते हैं—

जो चरण करते प्रयत मूलगुणों में नित्य, निबद्ध हैं।

मुख्य ज्ञान दर्शन आदि में, परिपूर्ण वे श्रामण्य हैं ॥ २२८ ॥

गाथार्थ- जो मुनिराज, हमेशा प्रमुख ज्ञान-दर्शनादि में निबद्ध—लीन और मूलगुणों में प्रयत्नशील होते हुये विचरण करते हैं, वे परिपूर्ण श्रामण्यवान हैं।

टीकार्थ- *चरदि*- आचरण करते हैं—वर्तते हैं। कैसे आचरण करते हैं ? *णिबद्धो*- आधीन *णिच्चं*- नित्य—सर्वकाल—हमेशा आचरण करते हैं। आचरण करनेवाले वे कौन हैं ? *समणो*- लाभ-अलाभ आदि में समान चित्तवाले श्रमण। वे कहाँ निबद्ध — लीन हैं ? *णाणम्मि*- वीतराग-सर्वज्ञ भगवान द्वारा कहे गये,

---

१- प्रवचनसार, गाथा २१३, तत्त्वप्रदीपिका टीका।

वा, *दंसणमुहम्मि* दर्शनं तत्त्वार्थश्रद्धानं तत्फलभूतनिजशुद्धात्मोपादेयरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वं वा तत्प्रमुखे-ष्वनन्तसुखादिगुणेषु। *पयदो मूलगुणेसु* य प्रयतः प्रयत्नपरश्च। केषु। मूलगुणेषु निश्चयमूलगुणाधार-परमात्मद्रव्ये वा। *जो सो पडिपुण्णसामण्णो* य एवंगुणविशिष्टश्रमणः स परिपूर्णश्रामण्यो भवतीति।

अयमत्रार्थः– निज शुद्धात्मभावनारतानामेव परिपूर्णश्रामण्यं भवतीति ॥ २२८ ॥

अथ श्रामण्यछेदकारणत्वात्प्रासुकाहारादिष्वपि ममत्वं निषेधयति–

भत्ते वा खमणे वा आवसधे वा पुणो विहारे वा।(२१५)
उवधिम्हि वा णिबद्धं णेच्छदि समणम्हि विकधम्हि ॥ २२९ ॥

परमागम के ज्ञान में अथवा उसके फलभूत स्वसंवेदन ज्ञान में, *दंसणमुहम्मि*- दर्शन–तत्त्वार्थ श्रद्धान अथवा उसके फलभूत अपना शुद्धात्मा ही उपादेय–ग्रहण करने योग्य है– ऐसी रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व, इनकी मुख्यता सहित अनन्त सुखादि गुणों में निबद्ध हैं । ***पयदो मूलगुणेसु य***- और प्रयत–प्रयत्नपर–प्रयत्नशील हैं । किनमें प्रयत्नशील हैं ? मूलगुणों में अथवा निश्चय मूलगुणों के आधारभूत परमात्मद्रव्य में,प्रयत्नशील हैं । ***जो सो पडिपुण्णसामण्णो***- जो इन गुणों से विशिष्ट श्रमण हैं, वे परिपूर्ण श्रामण्य हैं ।

यहाँ अर्थ यह है कि अपने शुद्धात्मा की भावना में लीन के ही,परिपूर्ण श्रमणता होती है ।

भावार्थ- लाभ-अलाभ आदि में समवृत्तिवाले जो श्रमण, वीतराग-सर्वज्ञ भगवान द्वारा कहे गये, परमागम के ज्ञान में अथवा उसके फलभूत स्वसंवेदन ज्ञान में, तथा तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप दर्शन अथवा उसके फलभूत अपना शुद्धात्मा ही उपादेय है–ऐसी रुचि रूप निश्चय सम्यक्त्व, इनकी मुख्यता सहित अनन्त सुखादि गुणों में निबद्ध हैं–लीन हैं, तथा मूलगुणों में अथवा निश्चय मूलगुणों के आधारभूत (अपने) परमात्मद्रव्य में प्रयत्नशील हैं, वे परिपूर्ण श्रामण्य सम्पन्न हैं ।

विशेषार्थ- "शुद्धात्मा में परिपूर्ण लीनता परिपूर्ण श्रमणता का कारण है" इसे इस गाथा-टीका में 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने निम्न प्रकार से स्पष्ट किया है–

"वास्तव में एक स्वद्रव्य-प्रतिबन्ध(लीनता) ही,उपयोग का मार्जक(शुद्ध करनेवाला) होने से,मार्जित(शुद्ध) उपयोगरूप श्रामण्य की परिपूर्णता का आयतन है, उसके सद्भाव से ही परिपूर्ण श्रामण्य होता है।"[1] ॥ २२८ ॥

अब, श्रमणता के छेद की कारणता होने से,प्रासुक आहार आदि में भी ममत्व का निषेध करते हैं –

आहार व उपवास में आवास विकथा विहार में।
सब उपधि में न निबद्ध हैं ना चाह मुनि हों साथ में ॥ २२९ ॥

गाथार्थ- मुनि,आहार, क्षपण (उपवास), आवास, विहार, उपधि (शरीरादि परिग्रह), अन्य मुनि तथा विकथा में निबद्ध (आसक्ति) को नहीं चाहते हैं ।

१- प्रवचनसार, गाथा २१४, तत्त्वप्रदीपिका टीका ।

णेच्छदि नेच्छति। कम्। *णिबद्धं* निबद्धमाबद्धम्। क्व। *भत्ते वा* शुद्धात्मभावनासहकारिभूतदेहस्थितिहेतुत्वेन गृह्यमाणे भक्ते वा प्रासुकाहारे, *खमणे वा* इन्द्रियदर्पविनाशकारणभूतत्वेन निर्विकल्पसमाधिहेतुभूते क्षपणे वानशने, *आवसधे वा* परमात्मतत्त्वोपलब्धिसहकारिभूते गिरिगुहाद्यावसथे वा, *पुणो विहारे वा* शुद्धात्मभावनासहकारिभूताहारनीहारार्थव्यवहारार्थव्यवहारे वा पुनर्देशान्तरविहारे वा, *उवधिम्हि* शुद्धोपयोगभावनासहकारिभूतशरीरपरिग्रहे ज्ञानोपकरणादौ वा, *समणम्हि* परमात्मपदार्थविचारस हकारिकारणभूते श्रमणे समशीलसंघातकतपोधने वा, *विकधम्हि* परमसमाधिविघातकश्रृंगारवीररागादिकथायां चेति।

अयमत्रार्थः—आगमविरुद्धाहारविहारादिषु तावत्पूर्वमेव निषिद्धः, योग्याहारविहारादिष्वपि ममत्वं न कर्तव्यमिति ॥ २२९ ॥

एवं संक्षेपेणाचाराराधनादिकथिततपोधनविहारव्याख्यानमुख्यत्वेन चतुर्थस्थले गाथात्रयं गतम्।

अथ शुद्धोपयोगभावनाप्रतिबन्धकच्छेदं कथयति —

अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु।(२१६)

समणस्स सव्वकाले हिंसा सा संतय त्ति मदा ॥ २३० ॥

टीकार्थ- ***णेच्छदि***- नहीं चाहते हैं। किसे नहीं चाहते हैं ? ***णिबद्धं***- निबद्ध—आसक्ति नहीं चाहते हैं। कहाँ आसक्ति नहीं चाहते हैं ? ***भत्ते वा***- शुद्धात्मा की भावना के सहकारिभूत शरीर की स्थिति का हेतु (कारण) होने से, ग्रहण किये गये भोजन—प्रासुक आहार में, ***खमणे वा***- इन्द्रियों के दर्प (प्रबलता) को नष्ट करने वाले कारण स्वरूप होने से, विकल्प रहित समाधि (स्वरूपलीनता) के कारणभूत क्षपण—अनशन—उपवास में, ***आवसधे वा***- परमात्मतत्त्व की उपलब्धि (पर्याय में प्रगटता) के सहकारीभूत पर्वत अथवा गुफा आदि के निवास में, ***पुणो विहारे वा***- शुद्धात्मा की भावना के सहकारीभूत आहार-निहार के लिये, व्यवहार के लिये, व्यवहार में अथवा अन्य स्थान पर जाने के लिये होनेवाले विहार में, ***उवधिम्हि***- शुद्धोपयोगरूप भावना के सहकारीभूत शरीररूप परिग्रह में अथवा ज्ञान के उपकरण (साधन) आदि में, ***समणम्हि***- परमात्मपदार्थ का विचार करने में सहकारी कारणभूत (अन्य) मुनिराज में अथवा समानशील के समूह या सम-समता और शील समूह तपोधन— मुनिराज में, ***विकधम्हि***- और परमसमाधि—पूर्ण स्वरूप लीनता को नष्ट करनेवाली श्रृंगार-वीर-रागादि कथा में, आसक्ति नहीं चाहते हैं।

यहाँ अर्थ यह है— आगम से विरुद्ध आहार-विहार आदि में (ममत्व तो) पहले से ही निषिद्ध है, (यहाँ तो) योग्य आहार-विहार आदि में भी, ममत्व नहीं करना चाहिये (ऐसा कहा है) ॥ २२९ ॥

इसप्रकार संक्षेप से आचार-आराधनादिरूप से कहे गये मुनिराज के, विहार सम्बन्धी विशेष कथन की मुख्यता से चौथे स्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुईं।

(अब, भाव हिंसा, द्रव्यहिंसा निराकरण परक छह गाथाओं में निबद्ध, अन्तिम पाँचवा स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, शुद्धोपयोगरूप भावना को रोकनेवाले छेद को कहते हैं—

हो अप्रयत चर्या श्रमण की शयन-आसन-गमन वा।

स्थान में मानी गई वह सतत हिंसामय सदा ॥ २३० ॥

गाथार्थ- मुनिराज के शयन-आसन-स्थान-गमन (सोने-बैठने-खड़ेहोने-चलने) में होनेवाली यह अप्रयत चर्या हमेशा सतत हिंसा मानी गई है।

मदा मता सम्मता। का। *हिंसा* शुद्धोपयोगलक्षणश्रामण्यछेदकारणभूता हिंसा। कथंभूता। *संततिय त्ति* संतता निरन्तरेति। का हिंसा मता। *चरिया* चर्या चेष्टा। यदि चेत् कथंभूता। *अपयत्ता वा* अप्रयत्ना वा, निःकषायस्वसंवित्तिरूपप्रयत्नरहिता संक्लेशसहितेत्यर्थः। केषु विषयेषु। *सयणासणठाणचंकमादीसु* शयनासनस्थानचङ्क्रमणस्वाध्यायतपश्चरणादिषु। कस्य। *समणस्स* श्रमणस्य तपोधनस्य। क्व। *सव्वकाले* सर्वकाले।

अयमत्रार्थः– बाह्यव्यापाररूपाः शत्रवस्तावत्पूर्वमेव त्यक्तास्तपोधनैः, अशनशयनादिव्यापारैः पुनस्त्यक्तुं नायाति। ततः कारणादन्तरंगक्रोधादिशत्रुनिग्रहार्थं तत्रापि संक्लेशो न कर्तव्य इति॥ २३०॥

अथान्तरंगबहिरंगहिंसारूपेण द्विविधच्छेदमाख्याति –

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा। (२१७)
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स॥ २३१॥

टीकार्थ- ***मदा-*** मानी गई है— सम्मत की गई है—स्वीकृत की गई है। कौन मानी गई है ? ***हिंसा-*** शुद्धोपयोग लक्षण श्रामण्य (मुनिपना) में छेद की कारणभूत हिंसा मानी गई है। वह हिंसा कैसी है ? ***संततिय त्ति-*** वह हिंसा सतत—निरन्तर है। हिंसा क्या मानी गई है ? ***चरिया-*** चर्या—चेष्टा, हिंसा मानी गई है। यदि वह चर्या कैसी हो तो हिंसा मानी गई है ? ***अपयत्ता वा-*** प्रयत्न रहित अथवा कषाय रहित आत्मानुभूतिरूप प्रयत्न से रहित—संक्लेश से सहित चर्या हिंसा मानी गई है—ऐसा अर्थ है। किन विषयों में आत्मानुभूति रहित चर्या हिंसा है ? ***सयणासणठाणचंकमादीसु-*** सोने, बैठने, उठने, जाने, स्वाध्याय करने, तपश्चरण करने आदि में आत्मानुभूति रहित—अप्रयत चर्या सतत हिंसा है। यह हिंसा किसके है ? ***समणस्स-*** श्रमण—मुनिराज के यह हिंसा है। उन्हें यह हिंसा कब है ? ***सव्वकाले-*** सभी कालों में उन्हें यह हिंसा है।

यहाँ अर्थ यह है— मुनिराजों द्वारा बाह्य व्यापाररूप शत्रु तो पहले ही छोड़ दिये गये थे; भोजन, शयन आदि व्यापार छोड़ना संभव नहीं है। इस कारण अंतरंग क्रोधादि शत्रुओं के निग्रह के लिए, वहाँ भी संक्लेश नहीं करना चाहिये।

विशेषार्थ- इस गाथा को 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने निम्न प्रकार स्पष्ट किया है —

"शुद्धोपयोगरूप श्रामण्य का छेदन होने से अशुद्धोपयोग वास्तव में छेद है, और उसका (श्रामण्य का) हिंसन (हनन) होने से वही हिंसा है।"[१] ॥ २३०॥

अब, अन्तरंग-बहिरंग हिंसारूप से दो प्रकार के छेद को प्रसिद्ध करते हैं —

वह जीव जीवे या मरे हिंसा अयत्नाचार के।
ना बन्ध हिंसा मात्र से निश्चित प्रयत्नाचार के॥ २३१॥

गाथार्थ- जीव मरे अथवा जिये, अयत्नाचार के हिंसा निश्चित है; तथा समिति सम्पन्न प्रयत्नशील के हिंसामात्र से बन्ध नहीं है।

१- प्रवचनसार, गाथा २१६, तत्त्वप्रदीपिका टीका।

मरदु व जियदु व जीवो, अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा म्रियतां वा जीवतु वा जीवः, प्रयत्नरहितस्य निश्चिता हिंसा भवति; बहिरंगान्यजीवस्य मरणेऽमरणे वा, निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षणप्रयत्नरहितस्य निश्चयशुद्धचैतन्यप्राणव्यपरोपणरूपा निश्चयहिंसा भवति। *पयदस्स णत्थि बंधो* बाह्याभ्यन्तरप्रयत्नपरस्य नास्ति बन्धः । केन । *हिंसामेत्तेण* द्रव्यहिंसामात्रेण । कथंभूतस्य पुरुषस्य । *समिदस्स* समितस्य शुद्धात्मस्वरूपे सम्यगितो गतः परिणतः समितस्तस्य समितस्य, व्यवहारेणेर्यादिपंचसमितियुक्तस्य च ।

अयमत्रार्थः– स्वस्थभावनारूपनिश्चयप्राणस्य विनाशकारणभूता रागादिपरिणतिर्निश्चयहिंसा भण्यते, रागाद्युत्पत्तेर्बहिरंगनिमित्तभूतः परजीवघातो व्यवहारहिंसेति द्विधा हिंसा ज्ञातव्या । किंतु विशेषः – बहिरंगहिंसा भवतु वा मा भवतु, स्वस्थभावनारूपनिश्चयप्राणघाते सति निश्चयहिंसा नियमेन भवतीति । ततः कारणात्सैव मुख्येति ॥ २३१ ॥

अथ तमेवार्थं दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां दृढयति–

उच्चालियम्हि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाए।
आबाधेज्ज कुलिंगं मरिज्ज तं जोगमासेज्ज ॥ २३२ ॥

टीकार्थ- ***मरदु व जियदु व जीवो, अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा***- जीव मरे अथवा जिये, प्रयत्न रहित के निश्चित हिंसा होती है; बाह्य में दूसरे जीव के मरण अथवा अमरण में भी, विकार रहित अपनी अनुभूति लक्षण प्रयत्न से रहित जीव के, निश्चय शुद्ध चैतन्य प्राणों के व्यपरोपण (घात) रूप निश्चय हिंसा होती है । ***पयदस्स णत्थि बन्धो***- बहिरंग और अंतरंग प्रयत्न में तत्पर जीव के बन्ध नहीं है । उन्हें किससे बन्ध नहीं है ? ***हिंसामेत्तेण***- द्रव्य हिंसा मात्र से उन्हें बन्ध नहीं है । कैसे पुरुष को बन्ध नहीं है ? ***समिदस्स***- समित के— शुद्धात्मस्वरूप में अच्छी तरह गत— परिणत समित है, उस समित के और व्यवहार से ईर्या आदि पाँच समितियों से सहित समित के बंध नहीं है ।

यहाँ अर्थ यह है —अपने आत्मा में लीनतारूप निश्चय प्राणों के विनाश की कारणभूत रागादि परिणति निश्चय हिंसा कहलाती है, रागादि की उत्पत्ति से बाह्य में निमित्तभूत परजीवों का घात व्यवहार हिंसा है — इस प्रकार हिंसा दो प्रकार की जाननी चाहिये । किन्तु विशेष यह है कि बाह्य हिंसा हो अथवा नहीं हो, स्वस्थभावना (आत्म-लीनता) रूप निश्चय प्राणों का घात होने पर, नियम से निश्चय हिंसा होती है । उस कारण वही मुख्य है ॥ २३१ ॥

अब, उसी अर्थ को दृष्टान्त और दार्ष्टान्त द्वारा दृढ़ करते हैं—

ईर्या समित के निर्गमन के लिये उठते पैर से ।
बाधित हो जन्तु मरे वा पर उन्हें उसके योग से ॥ २३२ ॥

ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो य देसिदो सम

मुच्छा परिग्गहो च्चिय अज्झप्पपमाणदो दिट्ठो ॥ २

उच्चालियम्हि पाए उत्क्षिप्ते चालिते सति पादे। कस्य। *इरियासमिदस्स* ईर्या
णिग्गमत्थाए विवक्षितस्थानान्निर्गमस्थाने। *आबाधेज्ज* आबाध्येत पीड्येत। स कः।
केवलमाबाध्येत, *मरिज्ज* म्रियतां वा। किं कृत्वा। *तं जोगमासेज्ज* तं पूर्वोक्तं पाद
प्राप्येति। *ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधा सुहुमो य देसिदो समये* न हि तस्य तन्निमित्तो
समये; तस्य तपोधनस्य तन्निमित्तो सूक्ष्मजन्तुघातनिमित्तो बन्धः सूक्ष्मोऽपि स्तोकोऽपि नै

दृष्टान्तमाह– *मुच्छा परिग्गहो च्चिय* मूर्च्छा परिग्रहश्चैव *अज्झप्पपमाणदो दि*
इति। अयमत्रार्थः– "*मूर्च्छा परिग्रहः*"[१] इति सूत्रे यथाध्यात्मानुसारेण मूर्च्छारूपरागादिप

ना तन्निमित्तक बन्ध किंचित् कहा आगम में उसे।

मूर्च्छा परिग्रह सम कहा अध्यात्म दृष्टि प्रमाण से ॥ २३३

गाथार्थ– ईर्या समिति से चलते हुये मुनिराज के, कहीं जाने के लिये उठाये हुये
छोटे प्राणी को बाधा पहुँचने या उसके मर जाने पर भी, उन मुनिराज को उस हिंसा के नि
बन्ध, आगम में नहीं कहा है। अध्यात्म-प्रमाण से मूर्च्छा को ही परिग्रह कहे गये के सम

टीकार्थ– ***उच्चालियम्हि पाए***- पैर उठाये जाने पर। किसके पैर
इरियासमिदस्स- ईर्या समिति सहित मुनिराज के पैर उठाये जाने पर। उनके कहाँ
णिग्गमत्थाए- विवक्षित स्थान से जाते समय पैर उठाये जाने पर। ***आबाधेज्ज***- बा
कौन पीड़ित हो ? ***कुलिंगं***- सूक्ष्म जन्तु बाधित हो। मात्र बाधित ही न हो, ***मरिज्ज***-
करके (कैसे) मर जाये ? ***तं जोगमासेज्ज***- उस पहले कहे गये पैर के योग को—पैर
मर भी जाये। ***ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो य देसदो समये***- तो भी उन्हें
बन्ध, आगम में नहीं कहा है, उन मुनिराज के उस कारण—सूक्ष्म जन्तु के घात के कारण, सू
समय—परमागम में नहीं देखा गया है।

(इसके लिये) उदाहरण कहते हैं– ***मुच्छा परिग्गहो च्चिय***– मूर्च्छा ही परिग्रह
दिट्ठो– ऐसा अध्यात्म-प्रमाण से देखा गया है। यहाँ अर्थ यह है– 'मूर्च्छा (ममत्व परि
सूत्र में, जैसे अध्यात्म की दृष्टि से, मूर्च्छारूप रागादि परिणामों के अनुसार परिग्रह होत

भवति, न च बहिरंगपरिग्रहानुसारेण ; तथात्र सूक्ष्मजन्तुघातेऽपि यावतांशेन स्वस्थभावचलनरूपा रागादिपरिणतिलक्षणभावहिंसा तावतांशेन बन्धो भवति; न च पादसंघट्टनमात्रेण । तस्य तपोधनस्य रागादिपरिणतिलक्षण-भावहिंसा नास्ति । ततः कारणाद्बन्धोऽपि नास्तीति ॥ २३२-२३३ ॥

अथ निश्चयहिंसारूपोऽन्तरंगच्छेदः सर्वथा प्रतिषेध्य इत्युपदिशति –

अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो । (२१८)

चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो ॥ २३४ ॥

अयदाचारो निर्मलात्मानुभूतिभावनालक्षणप्रयत्नरहितत्वेन अयताचारः प्रयत्नरहितः । स कः । *समणो* श्रमणस्तपोधनः । *छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो* षट्स्वपि कायेषु वधकरो हिंसाकर इति मतः सम्मतः कथितः । *चरदि* आचरति वर्तते । कथं । यथा भवति *जदं* यतं यत्नपरं, *जदि* यदि चेत्, *णिच्चं* नित्यं सर्वकालं तदा *कमलं व जले णिरुवलेवो* कमलमिव जले निरुपलेप इति ।

अनुसार नहीं; उसीप्रकार यहाँ सूक्ष्म जन्तु के घात हो जाने पर भी, जितने अंश में आत्मलीनतामय परिणाम से चलनरूप रागादि परिणति लक्षण भावहिंसा है, उतने अंश में बंध है; पैरों के संघट्टन (रगड़ आदि) मात्र से बन्ध नहीं है । उन मुनिराज के रागादि परिणति लक्षण भाव हिंसा नहीं है, उस कारण बंध भी नहीं है ।

विशेषार्थ– 'आचार्य कुन्दकुन्द' 'समयसार' ग्रन्थ में इसी तथ्य को निम्न प्रकार स्पष्ट करते हैं—

"और जीवों के जो अध्यवसान वस्तु के आश्रय से होता है, उस समय भी वस्तु से बन्ध नहीं होता है, अध्यवसान से ही बन्ध होता है ।"* ॥ २३२ - २३३ ॥

अब, निश्चय हिंसारूप अन्तरंग छेद, पूर्णरूप से निषेध करने योग्य है; ऐसा उपदेश देते हैं—

षट्काय के वधकर कहे जो अयतचारी हैं श्रमण ।

यदि यत्नचारी, नित्य हैं निर्लेप जल में जलजवत् ॥ २३४ ॥

गाथार्थ– अयत्नाचारी मुनिराज, छहों काय के जीवों का वध करनेवाले माने गये हैं; तथा यदि वे यत्नाचाररूप वर्तते हैं, तो हमेशा जल में कमल के समान, निरुपलेप माने गये हैं ।

टीकार्थ– ***अयदाचारो***- मलरहित–निर्मल आत्मानुभूतिरूप भावना लक्षण प्रयत्न से रहित होने के कारण अयताचार अर्थात् प्रयत्न रहित हैं । वे कौन प्रयत्न रहित हैं ? ***समणो***- मुनिराज प्रयत्न रहित हैं । ***छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो***- छहों ही कायों के वध करनेवाले माने गये हैं । अर्थात् छह काय के जीवों की, वे मुनिराज हिंसा करनेवाले हैं—ऐसा माना गया है—कहा गया है । ***चरदि***- आचरण करते हैं—वर्तते हैं । कैसे वर्तते हैं ? जैसे होते हैं ***जदं***- यत्नपर—प्रयत्नशील, ***जदि***- यदि ***णिच्चं***- हमेशा— सभी कालों में तो ***कमलं व जले णिरुवलेवो***- जल में कमल के समान निरुपलेप होते हैं ।

---

* समयसार, गाथा २६५ ।

एतावता किमुक्तं भवति–शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणशुद्धोपयोगपरिणतपुरुषः षड्जीवकुले लोके विचरन्नपि यद्यपि बहिरंगद्रव्यहिंसामात्रमस्ति, तथापि निश्चयहिंसा नास्ति। ततः कारणाच्छुद्धपरमात्मभावनाबलेन निश्चयहिंसैव सर्वतात्पर्येण परिहर्तव्येति ॥ २३४ ॥

अथ बहिरंगजीवघाते बन्धो भवति, न भवति वा, परिग्रहे सति नियमेन भवतीति प्रतिपादयति–

हवदि व ण हवदि बंधो मदम्हि जीवेऽध कायचेट्ठम्हि ।(२१९)
बंधो धुवमुवधीदो इदि समणा छड्डिया सव्वं ॥ २३५ ॥

हवदि व ण हवदि बंधो भवति वा न भवति बन्धः । कस्मिन्सति । ***मदम्हि जीवे*** मृते सत्यन्यजीवे । ***अथ*** अहो ! कस्यां सत्याम् । ***कायचेट्ठम्हि*** कायचेष्टायाम् । तर्हि कथं बन्धो भवति । ***बंधो धुवमुवधीदो*** बन्धो भवति

इससे क्या कहा गया है अर्थात् इस सब कथन का तात्पर्य क्या है ? शुद्ध आत्मा की अनुभूति लक्षण शुद्धोपयोग परिणत पुरुष के,छह काय के जीव समूहरूप लोक में विचरण करते हुये,यद्यपि मात्र बाह्य में द्रव्य हिंसा है, तथापि निश्चय हिंसा नहीं है (अतः वे निर्लेप—तत्संबन्धी कर्मबन्धन से रहित हैं ।); उस कारण शुद्ध परमात्मा की भावना के बल से,निश्चय हिंसा ही सर्व तात्पर्य से छोड़ना चाहिये ।

विशेषार्थ– इस गाथा-टीका के निष्कर्षरूप में 'आचार्य अमृतचन्द्र' लिखते हैं कि—

"इसलिये उन-उन सभी प्रकार से अशुद्धोपयोगरूप अन्तरंग छेद निषेध करने योग्य है, जिन-जिन से उसके आयतनमात्रभूत दूसरे के प्राणों के घातरूप बहिरंग छेद दूर से ही निषिद्ध हो जाये ।"[१] ॥ २३४ ॥

अब, बाह्य में जीव का घात होने पर बन्ध होता है, अथवा नहीं होता है ; परन्तु परिग्रह होने पर नियम से बन्ध होता है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

हो बन्ध वा ना हो यदि जिव काय-चेष्टा से मरे।
पर बन्ध निश्चित उपधि से,सब श्रमण छोड़े इसलिये ॥ २३५ ॥

गाथार्थ– शरीर की चेष्टा से जीव मरने पर बन्ध होता भी है अथवा नहीं भी होता ; परन्तु परिग्रह से निश्चित ही बन्ध होता है ; अतः श्रमणों ने सभी परिग्रह छोड़ा है ।

टीकार्थ– ***हवदि वा ण हवदि बंधो–*** बन्ध होता है अथवा नहीं होता है । क्या होने पर बन्ध होता है अथवा नहीं होता है ? ***मदम्हि जीवे–*** दूसरे जीव के मर जाने पर,बन्ध होता है अथवा नहीं होता है । ***अध-*** अहो ! कैसे मर जाने पर बन्ध होता है अथवा नहीं होता है ? ***कायचेट्ठम्हि-*** शरीर की चेष्टा से जीव मर जाने पर,बन्ध होता है अथवा नहीं होता है । तो बन्ध कैसे होता है ? ***बन्धो धुवमुवधीदो–*** ध्रुव—निश्चित

१- प्रवचनसार,गाथा २१८,तत्त्वप्रदीपिका टीका ।

ध्रुवं निश्चितम् । कस्मात् । उपधेः परिग्रहात्सकाशात् । *इदि* इति हेतोः *समणा छड्डिया सव्वं* श्रमणा महाश्रमणाः सर्वज्ञाः पूर्वं दीक्षाकाले शुद्धबुद्धैकस्वभावं निजात्मानमेव परिग्रहं कृत्वा, शेषं समस्तं बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहं छर्दितवन्तस्त्यक्तवन्तः । एवं ज्ञात्वा शेषतपोधनैरपि निजपरमात्मपरिग्रहं स्वीकारं कृत्वा, शेषः सर्वोऽपि परिग्रहो मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च त्यजनीय इति ।

अत्रेदमुक्तं भवति- शुद्धचैतन्यरूपनिश्चयप्राणे रागादिपरिणामरूपनिश्चयहिंसया पातिते सति नियमेन बन्धो भवति । परजीवघाते पुनर्भवति वा न भवतीति नियमो नास्ति, परद्रव्ये ममत्वरूपमूर्च्छापरिग्रहेण तु नियमेन भवत्येवेति ॥ २३५ ॥

एवं भावहिंसाव्याख्यानमुख्यत्वेन पंचमस्थले गाथाषट्कं गतम् ।

इति पूर्वोक्तक्रमेण *'एवं पणमिय सिद्धे'* इत्याद्येकविंशतिगाथाभिः स्थलपंचकेनोत्सर्गचारित्रव्याख्याननामा प्रथमोऽन्तराधिकारः समाप्तः ।

बन्ध होता है । किससे निश्चित ही बन्ध होता है ? उपधि अर्थात् परिग्रह से बन्ध निश्चित ही होता है । *इदि*- इस कारण- ***समणा छड्डिया सव्वं***- श्रमण अर्थात् महाश्रमण सर्वज्ञ भगवान ने, पहले दीक्षा के समय शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावी अपने आत्मा को सब ओर से ग्रहण कर, शेष सम्पूर्ण अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह, छर्दि (वमन) के समान छोड़ा है । ऐसा जानकर शेष मुनिराजों को भी, अपने परमात्मा को परिग्रहण कर—स्वीकार कर, शेष सभी परिग्रह, मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदनारूप से, छोड़ देना चाहिये ।

यहाँ यह कहा गया है कि रागादि परिणामरूप निश्चय हिंसा से, शुद्ध चैतन्यरूप निश्चय प्राणों का घात होने पर, नियम से बन्ध होता है । दूसरे जीव का घात होने पर होता भी है, नहीं भी होता, नियम नहीं है ; परन्तु परद्रव्य में ममत्वरूप मूर्च्छा परिग्रह से तो नियम से बंध होता ही है ।

विशेषार्थ— इस गाथा-टीका में 'आचार्य अमृतचन्द्र' छेद के नियम-अनियम को निम्न प्रकार से स्पष्ट करते हैं—

"वास्तव में जैसे शरीर-व्यापार पूर्वक दूसरे के प्राणों के घात के अशुद्धोपयोग का सद्भाव और असद्भाव होने से बन्ध का अनैकान्तिक (अनियम) होने के कारण छेदपना अनैकान्तिक स्वीकार किया गया है, परन्तु वैसा परिग्रह का नहीं है ; उसके हमेशा उसके (अशुद्धोपयोग के) अविनाभावित्व की प्रसिद्धिरूप जो ऐकान्तिक (नियमरूप) अशुद्धोपयोग के सद्भाव का ऐकान्तिक बन्धपने के कारण छेदपना, ऐकान्तिक (नियम रूप) ही है ।"[१] ॥ २३५ ॥

इसप्रकार भावहिंसा के व्याख्यान की मुख्यता से पाँचवे स्थल में छह गाथायें पूर्ण हुईं ।

इसप्रकार पहले कहे गये क्रम से ***'एवं पणमिय सिद्धे'*** इत्यादि २१ गाथाओं द्वारा पाँचवे स्थलरूप से 'उत्सर्ग चारित्र व्याख्यान' नामक पहला अन्तराधिकार समाप्त हुआ ।

१- प्रवचनसार, गाथा २१९, तत्त्वप्रदीपिका टीका ।

अतः परं चारित्रस्य देशकालापेक्षयापहतसंयमरूपेणापवादव्याख्यानार्थं पाठक्रमेण त्रिंशद्गाथाभिर्द्वितीयोऽन्तराधिकारः प्रारभ्यते। तत्र चत्वारि स्थलानि भवन्ति। तस्मिन्प्रथमस्थले निर्ग्रन्थमोक्षमार्गस्थापनामुख्यत्वेन *'ण हि णिरवेक्खो चागो'* इत्यादि गाथापंचकम्। अत्र टीकायां गाथात्रयं नास्ति। तदनन्तरं सर्वसावद्यप्रत्याख्यानलक्षणसामयिकसंयमासमर्थानां यतीनां संयमशौचज्ञानोपकरणनिमित्तमपवादव्याख्यानमुख्यत्वेन *'छेदो जेण ण विज्जदि'* इत्यादि सूत्रत्रयम्। तदनन्तरं स्त्रीनिर्वाणनिराकरणप्रधानत्वेन *'पेच्छदि ण हि इह लोगं'* इत्याद्येकादशगाथा भवन्ति। ताश्चामृतचन्द्रटीकायां न सन्ति। ततः परं सर्वोपेक्षासंयमासमर्थस्य तपोधनस्य देशकालापेक्षया किंचित्संयमसाधकशरीरस्य निरवद्याहारादिसहकारिकारणं ग्राह्यमिति पुनरप्यपवादविशेषव्याख्यानमुख्यत्वेन *'उवयरणं जिणमग्गे'* इत्याद्येकादशगाथा भवन्ति। अत्र टीकायां गाथाचतुष्टयं नास्ति।

एवं मूलसूत्राभिप्रायेण त्रिंशद्गाथाभिः, टीकापेक्षया पुनर्द्वादशगाथाभिः द्वितीयान्तराधिकारे समुदायपातनिका।

अब, इसके बाद चारित्र के देश-काल की अपेक्षा अपहृत संयमरूप से अपवाद व्याख्यान के लिये पाठक्रम में ३० गाथाओं द्वारा दूसरा अन्तराधिकार प्रारम्भ होता है। वहाँ चार स्थल हैं। उनमें प्रथम स्थल में, निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग की स्थापना की मुख्यता से *'ण हि णिरवेक्खो चागो-'* इत्यादि पाँच गाथायें हैं। यहाँ टीका में (तत्त्वप्रदीपिका टीका में) तीन गाथायें नहीं हैं। उसके बाद दूसरे स्थल में, सम्पूर्ण सावद्य (पाप क्रियाओं) का त्याग लक्षण सामायिक संयम में असमर्थ मुनिराजों के संयम, शौच और ज्ञान के उपकरण निमित्त अपवाद व्याख्यान की मुख्यता से *'छेदो जेण ण विज्जदि-'* इत्यादि तीन गाथायें हैं। उसके बाद तीसरे स्थल में, स्त्री मुक्ति के निराकरण की प्रधानता से *'पेच्छदि ण हि इह लोगं-'* इत्यादि ग्यारह गाथायें हैं। और वे गाथायें 'आचार्य अमृतचन्द्र' कृत टीका में नहीं हैं। तदुपरान्त चौथे स्थल में, परिपूर्ण उपेक्षा संयम में असमर्थ मुनिराजों के, देशकाल की अपेक्षा किंचित् संयम के साधक शरीर के लिये, निर्दोष आहार आदि सहकारी कारण ग्रहण करने योग्य हैं— इसप्रकार फिर से अपवाद के विशेष व्याख्यान की मुख्यता से *'उवयरणं जिणमग्गे-'* इत्यादि ग्यारह गाथायें हैं। यहाँ टीका (त.प्र.) में चार गाथायें नहीं हैं।

इसप्रकार मूल गाथाओं के अभिप्राय से ३० गाथाओं द्वारा और (त.प्र.) टीका की अपेक्षा बारह गाथाओं द्वारा दूसरे अन्तराधिकार में सामूहिक पातनिका है।

द्वितीय अन्तराधिकार का स्थल विभाजन (गाथा २३६ से २६५ पर्यन्त)

स्थल क्रम	स्थल प्रतिपादित प्रधान विषय	कहाँ से कहाँ पर्यन्त गाथायें	कुल गाथायें
प्रथम स्थल	निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग की स्थापना	२३६ से २४०	५
द्वितीय स्थल	अपवाद व्याख्यान	२४१ से २४३	३
तृतीय स्थल	स्त्री मुक्ति निराकरण	२४४ से २५४	११
चतुर्थ स्थल	अपवाद विशेष व्याख्यान	२५५ से २६५	११
कुल चार स्थल		कुल ३० गाथायें	

तथाहि–

अथ भावशुद्धिपूर्वकबहिरंगपरिग्रहपरित्यागे कृते सति अभ्यन्तरपरिग्रहपरित्यागः कृत एव भवतीति निर्दिशति–

ण हि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी। (२२०)

अविसुद्धस्स य चित्ते कहं णु कम्मक्खओ विहिदो॥ २३६॥

ण हि णिरवेक्खो चागो न हि निरपेक्षस्त्यागः यदि चेत्, परिग्रहत्यागः सर्वथा निरपेक्षो न भवति किन्तु किमपि वस्त्रपात्रादिकं ग्राह्यमिति भवता भण्यते, तर्हि हे शिष्य *ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी* न भवति भिक्षोराशयविशुद्धिः, तदा सापेक्षपरिणामे सति भिक्षोस्तपोधनस्य चित्तशुद्धिर्न भवति। *अविसुद्धस्स हि चित्ते* शुद्धात्मभावनारूपशुद्धिरहितस्य तपोधनस्य चित्ते मनसि हि स्फुटं *कहं तु कम्मक्खओ विहिओ* कथं तु कर्मक्षयो विहितः उचितो, न कथमपि।

अनेनैतदुक्तं भवति– यथा बहिरंगतुषसद्भावे सति तण्डुलस्याभ्यन्तरशुद्धिं कर्तुं नायाति तथा विद्यमाने वा बहिरंगपरिग्रहाभिलाषे सति निर्मलशुद्धात्मानुभूतिरूपां चित्तशुद्धिं कर्तुं नायाति। यदि पुनर्विशिष्टवैराग्यपूर्वकपरिग्रहत्यागो भवति तदा चित्तशुद्धिर्भवत्येव, ख्यातिपूजालाभनिमित्तत्यागे तु न भवति॥ २३६॥

(अब, निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग की स्थापना परक पाँच गाथाओं में निबद्ध दूसरे अन्तराधिकार का प्रथम स्थल प्रारम्भ होता है।)

वह इसप्रकार—

अब, भाव-शुद्धिपूर्वक बहिरंग परिग्रह का त्याग किये जाने पर अन्तरंग परिग्रह का त्याग किया गया ही होता है, ऐसा निर्देश करते हैं—

निरपेक्ष त्याग न यदि, विशुद्धी भाव की, ना मुनी के।

तो कहो कैसे हो, करम-क्षय, चित्त में अविशुद्ध के ?॥ २३६॥

गाथार्थ– यदि निरपेक्ष त्याग नहीं हो, तो मुनिराज के भाव की विशुद्धी नहीं होती है और भाव में अविशुद्ध के, कर्मों का क्षय कैसे हो सकता है ?

टीकार्थ– ***ण हि णिरवेक्खो चागो***– निरपेक्ष त्याग यदि नहीं हो तो—परिग्रह का त्याग सर्वथा निरपेक्ष नहीं होता है, किन्तु कुछ भी कपड़े-वर्तन आदि ग्रहण करने योग्य हैं—यदि आप ऐसा कहते हैं, तो हे शिष्य ! ***ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी***- मुनि के आशय की विशुद्धि नहीं होती है, तव सापेक्ष परिणाम होने पर, मुनिराज के चित्त की शुद्धि नहीं होती है। ***अविसुद्धस्स हि चित्ते***–शुद्धात्मा की भावनारूप शुद्धि से रहित, मुनिराज के मन में वास्तव में ***कहं तु कम्मक्खओ विहिओ***– कर्मों का क्षय उचित कैसे होगा ? किसी भी प्रकार नहीं होगा।

इससे यह कहा गया है कि जैसे बाह्य म तुष (छिलका) का सद्भाव होने पर, चावल के अन्दर की शुद्धि करना संभव नहीं है, उसीप्रकार बाह्य परिग्रह की इच्छा विद्यमान होने पर, निर्मल शुद्धात्मा की अनुभूतिरूप मन की शुद्धि करना संभव नहीं है और यदि विशिष्ट वैराग्यपूर्वक परिग्रह का त्याग होता है, तो चित्त की शुद्धि होती ही है; परन्तु प्रसिद्धि, पूजा-प्रतिष्ठा लाभ के निमित्त त्याग करने पर नहीं होती है॥ २३६॥

अथ तमेव परिग्रहत्यागं दृढयति–

गेण्हदि व चेलखंडं भायणमत्थि त्ति भणिदमिह सुत्ते।
जदि सो चत्तालंबो हवदि कहं वा अणारंभो॥ २३७॥
वत्थक्खंडं दुद्दियभायणमण्णं च गेण्हदि णियदं।
विज्जदि पाणारंभो विक्खेवो तस्स चित्तम्मि॥ २३८॥
गेण्हइ विधुणइ धोवइ सोसेइ जदं तु आदवे खित्ता।
पत्तं व चेलखंडं बिभेदि परदो य पालयदि॥ २३९॥

गेण्हदि व चेलखंडं गृह्णाति वा चेलखण्डं वस्त्रखण्डं, *भायणं* भिक्षाभाजनं वा *अत्थि त्ति भणिदं* अस्तीति भणितमास्ते। क्व। *इह सुत्ते* इह विवक्षितागमसूत्रे *जदि* यदि चेत्। *सो चत्तालंबो हवदि कहं* निरालम्बनपर-

---

अब, उसी परिग्रह-त्याग को दृढ़ करते हैं–

वह ग्रहण करता वस्त्र को या पात्र है आगम कहा।
यदि, तो निरालम्बी अनारम्भी यहाँ कैसे हुआ ?॥ २३७॥
वह वस्त्र बर्तन दूध का या अन्य लेता तो सदा।
उसके है प्राणारम्भ वा विक्षेप मन में भी सदा॥ २३८॥
डरता है पर से बचाता ले वस्त्र बर्तन अन्य को।
वह स्वच्छ कर धो धूप में श्रम से सुखाता उन्हीं को॥ २३९॥

गाथार्थ– यदि यहाँ किसी आगम में "साधु वस्त्र को ग्रहण करता है, उसके बर्तन भी होते हैं–" ऐसा कहा गया है, तो वह निरालम्ब अथवा अनारम्भ कैसे हो सकता है ?

वस्त्र के टुकड़े को, दूध के लिये पात्र को तथा अन्य वस्तुओं को यदि वह ग्रहण करता है तो उसके हमेशा प्राणारम्भ (जीवों का घात) और चित्त में विक्षेप बना रहता है।

वह बर्तन अथवा वस्त्र को ग्रहण करता है, धूल साफ करता है, धोता है और सावधानी पूर्वक धूप में सुखाता है, दूसरों से डरता है और उनकी रक्षा करता है।

टीकार्थ– *गेण्हदि व चेलखंडं*– चेलखंड-खण्डवस्त्र को ग्रहण करता है, *भायणं*– अथवा भिक्षा-आहार के लिये पात्र *अत्थि त्ति भणिदं*– है – ऐसा कहा गया है। कहाँ कहा गया है ? *इह सुत्ते*– यहाँ विवक्षित आगम सूत्र में कहा गया है, *जदि*– यदि तो। *सो चत्तालम्बो हवदि कहं*– पर के आलम्बन से रहित

मात्मतत्त्वभावनाशून्यः सन् स पुरुषो बहिर्द्रव्यालम्बनरहितः कथं भवति, न कथमपि ; *वा अणारंभो* निःक्रियनिरारम्भनिजात्मतत्त्वभावनारहितत्वेन निरारम्भो वा कथं भवति, किंतु सारम्भ एव ; इति प्रथमगाथा।

वत्थक्खंडं दुद्दियभायणं वस्त्रखण्डं दुग्धिकाभाजनं *अण्णं च गेण्हदि* अन्यच्च गृह्णाति कम्बलमृदुशयनादिकं यदि चेत्। तदा किं भवति। *णियदं विज्जदि पाणारंभो* निजशुद्धचैतन्यलक्षणप्राणविनाशरूपो परजीवप्राणविनाशरूपो वा नियतं निश्चितं प्राणारम्भः प्राणवधो विद्यते, न केवलं प्राणारम्भः, *विक्खेवो तस्स चित्तम्मि* अविक्षिप्तचित्तपरमयोगरहितस्य सपरिग्रहपुरुषस्य विक्षेपस्तस्य विद्यते चित्ते मनसीति। इति द्वितीयगाथा।

गेण्हइ स्वशुद्धात्मग्रहणशून्यः सन् गृह्णाति किमपि बहिर्द्रव्यं ; *विधुणइ* कर्मधूलिं विहाय बहिरंगधूलिं विधूनोति विनाशयति ; *धोवइ* निर्मलपरमात्मतत्त्वमलजनका रागादिमलं विहाय बहिरंगमलं धौति प्रक्षालयति; *सोसेइ जदं तु आदवे खित्ता* निर्विकल्पध्यानातपेन संसारनदीशोषणमकुर्वन् शोषयति शुष्कं करोति यतं तु यत्नपरं तु यथा भवति। किं कृत्वा। आतपे निक्षिप्य। किं तत्। *पत्तं व चेलखंडं* पात्रं वस्त्रखंडं वा। *बिभेदि* निर्भयशुद्धात्मतत्त्वभावनाशून्यः सन् बिभेति भयं करोति। कस्मात्सकाशात्। *परदो य* परतश्चौरादेः। *पालयदि* परमात्मभावनां न पालयन्न रक्षयन्परद्रव्यं किमपि पालयतीति तृतीयगाथा॥ २३७-२३८-२३९ ॥

परमात्मतत्त्व की भावना से शून्य होता हुआ वह पुरुष,बाह्य द्रव्य के आलम्बन से रहित कैसे हो सकता है ? किसी भी प्रकार नहीं हो सकता है, ***वा अणारम्भो***– क्रिया रहित—आरम्भ रहित अपने आत्मतत्त्व की भावना से रहित होने के कारण,वह आरम्भ रहित कैसे हो सकता है ? अपितु आरम्भ सहित ही है— इसप्रकार पहली (२३७वीं) गाथा पूर्ण हुई।

वत्थक्खंडं दुद्दियभायणं– वस्त्र का टुकड़ा अथवा खण्ड वस्त्र, दूध का बर्तन ***अण्णं च गेण्हदि***– और दूसरे कम्बल, कोमल शैया आदि यदि ग्रहण करता है तो। यदि ये सब ग्रहण करता है तो क्या होता है ? ***णियदं विज्जदि पाणारम्भो***– यदि ये सब ग्रहण करता है तो उसके अपने शुद्ध-चैतन्य लक्षण प्राणों के विनाशरूप अथवा दूसरे जीवों के प्राणों के विनाशरूप प्राणारम्भ—प्राणवध निश्चित पाया जाता है; मात्र प्राणारम्भ ही नहीं अपितु ***विक्खेवो तस्स चित्तम्मि***– विक्षिप्त मन से रहित परम योग से रहित,परिग्रह सहित उस पुरुष के चित्त में—मन में विक्षेप (चंचलपना) पाया जाता है— इसप्रकार दूसरी (२३८वीं) गाथा पूर्ण हुई।

गेण्हइ– अपने शुद्धात्मा के ग्रहण से रहित होता हुआ,किसी भी बाह्य द्रव्य को ग्रहण करता है; ***विधुणइ***– कर्मरूपी रज को (कर्मरज को धोना) छोड़कर,बाहर की रज को साफ करता है— नष्ट करता है; ***धोवइ***– मल रहित परमात्मतत्त्व में मल उत्पन्न करनेवाले रागादि मल को (धोना) छोड़कर,बाह्य मल को धोता है— प्रक्षालित करता है। ***सोसइ जदं तु आदवे खित्ता***– विकल्प रहित ध्यानरूपी आतप द्वारा संसाररूपी नदी को नहीं सुखाता हुआ,यथासंभव प्रयत्नपूर्वक सुखाता है। क्या करके सुखाता है ? धूप में डालकर सुखाता है। वहाँ डालकर किसे सुखाता है ? ***पत्तं व चेलखंडं***– बर्तन या वस्त्रखण्ड को वहाँ डालकर सुखाता है। ***बिभेदि***– भय रहित शुद्धात्मा की भावना से रहित होता हुआ,भय करता है। किससे भय करता है ? ***परदो य***– और दूसरे चोरों आदि से भय करता है—डरता है। ***पालयदि***– परमात्मभावना का पालन—रक्षण नहीं करता हुआ,किसी भी दूसरे द्रव्य का पालन—रक्षण करता है। इसप्रकार तीसरी (२३९वीं) गाथा पूर्ण हुई॥ २३७-२३८-२३९ ॥*

---

* अहिंसक निर्ग्रन्थ जैन मार्ग-परिज्ञानार्थ देखिये – स्वयंभूस्तोत्र,नमिजिन स्तवन,पद्य ४।

अथ सपरिग्रहस्य नियमेन चित्तशुद्धिर्नश्यतीति विस्तरेणाख्याति –

किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स।(२२१)

तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि ॥ २४० ॥

किध तम्हि णत्थि मुच्छा परद्रव्यममत्वरहितचिच्चमत्कारपरिणतेर्विसदृशा मूर्च्छा कथं नास्ति, अपितु अस्त्येव। क्व। तस्मिन् परिग्रहाकांक्षितपुरुषे। *आरंभो वा* मनोवचनकायक्रियारहितपरमचैतन्यप्रतिबन्धक आरम्भो वा कथं नास्ति, किन्त्वस्त्येव ; *असंजमो तस्स* शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणासंयमो वा कथं नास्ति, किन्त्वस्त्येव तस्य सपरिग्रहस्य। *तध परदव्वम्मि रदो* तथैव निजात्मद्रव्यात्परद्रव्ये रतः *कधमप्पाणं पसाधयदि* स तु सपरिग्रहपुरुषः कथमात्मानं प्रसाधयति, न कथमपीति ॥ २४० ॥

एवं श्वेनाम्बरमतानुसारिशिष्यसम्बोधनार्थं निर्ग्रन्थमोक्षमार्गस्थापनमुख्यत्वे प्रथमस्थले गाथापंचकं गतम्।

अथ कालापेक्षया परमोपेक्षासंयमशक्त्यभावे सत्याहारसंयमशौचज्ञानोपकरणादिकं किमपि ग्राह्यमित्यपवादमुपदिशति –

अब, परिग्रह सहित के नियम से चित्त की शुद्धि नष्ट होती है, ऐसा विस्तार से प्रसिद्ध करते हैं–

उनमें न मूर्छा असंयम आरम्भ उसके ये बने।

कैसे ? तथा पर द्रव्य रत तो आत्मा कैसे सधे ? ॥ २४० ॥

गाथार्थ– परिग्रह के सद्भाव में,उन मुनिराज के ममत्व, आरम्भ और असंयम न हो, यह कैसे हो सकता है ? (ये तो उनके होंगे ही) तथा परद्रव्य में लीन,आत्मा को कैसे साध सकता है ? (नहीं साध सकता)।

टीकार्थ– ***किध तम्हि णत्थि मुच्छा–*** परद्रव्यों के प्रति ममत्व रहित चैतन्य चमत्कार परिणति से विरुद्ध,ममत्व कैसे नहीं है ? वरन् है ही। किसमें ममत्व है ही ? उस परिग्रह की इच्छा रखने वाले पुरुष में ममत्व है ही। ***आरंभो वा–*** अथवा मन, वचन, काय की क्रिया से रहित परम चैतन्य का प्रतिबन्धक (रोकनेवाला) आरम्भ कैसे नहीं है ? अपितु है ही; ***असंजमो तस्स–*** अथवा उस परिग्रह सहित के शुद्धात्मा की अनुभूति से विलक्षण,असंयम कैसे नहीं है ? वरन् है ही। ***तध परदव्वम्मि रदो-*** वैसे ही अपने आत्मद्रव्य से भिन्न,दूसरे द्रव्य में आसक्त ***कधमप्पाणं पसाधयदि–*** वह सपरिग्रह पुरुष,आत्मा की साधना कैसे कर सकता है ? किसी भी प्रकार नहीं कर सकता है ॥ २४० ॥

इसप्रकार श्वेताम्बर मत का अनुसरण करनेवाले शिष्य के संबोधन के लिये,निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग-स्थापना की मुख्यता से पहले स्थल में पाँच गाथायें पूर्ण हुईं।

(अब, अपवाद व्याख्यान परक तीन गाथाओंवाला दूसरा स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, काल की अपेक्षा परम उपेक्षा-संयमरूप शक्ति के अभाव होने पर,कुछ आहार, संयम, शौच, ज्ञान आदि के उपकरण भी ग्राह्य हैं (ग्रहण कर सकते है); ऐसे अपवाद का उपदेश देते हैं–

छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स। (२२२)

समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता॥ २४१ ॥

छेदो जेण ण विज्जदि छेदो येन न विद्यते। येनोपकरणेन शुद्धोपयोगलक्षणसंयमस्य छेदो विनाशो न विद्यते। कयोः। *गहणविसग्गेसु* ग्रहणविसर्गयोः। यस्योपकरणस्यान्यवस्तुनो वा ग्रहणे स्वीकारे विसर्जने त्यागे। किं कुर्वतः तपोधनस्य। *सेवमाणस्स* तदुपकरणं सेवमानस्य। *समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता* श्रमणस्तेनोपकरणेनेह लोके वर्तताम्। किं कृत्वा। कालं क्षेत्रं च विज्ञायेति।

अयमत्र भावार्थः–कालं पंचमकालं शीतोष्णादिकालं वा, क्षेत्रं भरतक्षेत्रं मानुषजांगलादिक्षेत्रं वा विज्ञाय येनोपकरणेन स्वसंवित्तिलक्षणभावसंयमस्य बहिरंगद्रव्यसंयमस्य वा छेदो न भवति तेन वर्तत इति॥ २४१ ॥

जिसके ग्रहण या त्याग में हो छेद ना सेवमान का।

मुनि देश काल को जानकर हो युक्त भी वर्तें यहाँ॥ २४१ ॥

गाथार्थ– काल और क्षेत्र को जानकर, जिस परिग्रह के ग्रहण और त्याग में, जिससे सेवन करनेवाले के छेद नहीं होता, उस परिग्रह सहित, इस लोक में श्रमण वर्ते।

टीकार्थ– *छेदो जेण ण विज्जदि–* जिससे छेद नहीं होता है। जिस उपकरण से, शुद्धोपयोग लक्षण संयम का छेद अर्थात् विनाश नहीं होता है। क्या करने पर छेद नहीं होता है? ***गहणविसग्गेसु–*** जिन्हें ग्रहण करने और छोड़ने पर, जिससे छेद नहीं होता है। जिस उपकरण अथवा दूसरी वस्तु के ग्रहण—स्वीकार करने में अथवा विसर्जन—त्याग करने में छेद नहीं होता है। क्या करनेवाले मुनिराज के छेद नहीं होता है? ***सेवमाणस्स–*** उस उपकरण का सेवन करनेवाले मुनिराज के छेद नहीं होता है। ***समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता–*** मुनिराज उस उपकरण के साथ लोक में वर्ते। उसके साथ यहाँ वे क्या करके वर्ते? काल और क्षेत्र को जानकर, उसके साथ वे यहाँ वर्ते।

यहाँ भाव यह है— काल-पंचमकाल अथवा शीत-उष्ण (ठड-गर्मी) आदि काल को तथा क्षेत्र— भरतक्षेत्र अथवा मनुष्य सम्बन्धी क्षेत्र या जंगल सम्बन्धी क्षेत्र को जानकर, जिस उपकरण द्वारा आत्मानुभूति लक्षण भाव-संयम अथवा बाह्य द्रव्य-संयम का छेद नहीं होता है, उसके साथ वर्ते।

विशेषार्थ– १- इस गाथा को 'अमृतचन्द्राचार्य' निम्न प्रकार स्पष्ट करते हैं—

"आत्मद्रव्य के दूसरे पुद्गल द्रव्य का अभाव होने से सर्व ही परिग्रह निषिद्ध है— ऐसा उत्सर्ग है। विशिष्ट काल-क्षेत्र के वश से, यह कोई परिग्रह अनिषिद्ध है, ऐसा अपवाद है। वास्तव में जब श्रमण सर्व परिग्रह के निषेध का आश्रय लेकर, परम उपेक्षा-संयम की प्राप्ति को चाहता हुआ भी, विशिष्ट काल-क्षेत्र के वश, हीन शक्ति से उसे प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता है; तब उसमें अपकर्षण कर संयम प्राप्त करता हुआ, उसकी बहिरंग

अथ पूर्वसूत्रोदितोपकरणस्वरूपं दर्शयति –

अप्पडिकुट्ठं उवधिं अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं । (२२३)

मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं ।। २४२ ।।

अप्पडिकुट्ठं उवधिं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गसहकारिकारणत्वेनाप्रतिषिद्धमुपधिमुपकरणरूपोपधिं, *अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं* अप्रार्थनीयं निर्विकारात्मोपलब्धिलक्षणभावसंयमरहितस्यासंयतजनस्यानभिलषणीयम्, *मुच्छादिजणणरहिदं* परमात्मद्रव्यविलक्षणबहिर्द्रव्यममत्वरूपमूर्च्छा रक्षणार्जनसंस्कारादिदोषजननरहितम्, *गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं* गृह्णातु श्रमणो यमप्यल्पं पूर्वोक्तमुपकरणोपधिं यद्यप्यल्पं तथापि पूर्वोक्तोचितलक्षणमेव ग्राह्यं, न च तद्विपरीतमधिकं वेत्यभिप्रायः ।। २४२ ।।

साधनमात्र उपधि का आश्रय करता है । इसप्रकार आश्रय की जानेवाली वह उपधि, वास्तव में उपधि होने पर भी छेद नहीं, वल्कि छेद का निषेध ही है । वास्तव में जो अशुद्धोपयोग का अविनाभावी है, वह छेद है । यह तो, श्रामण्य पर्याय के सहकारी कारण-शरीर की वृत्ति के हेतुभूत आहार-निहार आदि के ग्रहण त्याग सम्बन्धी छेद के निषेध के लिये ग्रहण की जानेवाली, सर्वथा शुद्धोपयोग की अविनाभावी होने से, छेद के निषेध रूप ही है ।"[1]

२- इस गाथा की उत्थानिका को 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया है–

"अब किसी के, कहीं, कभी, किसी अपेक्षा, कोई उपधि अनिषिद्ध भी है, ऐसे अपवाद का उपदेश देते हैं ।"[2] ।। २४१ ।।

अब, पहले (२४१वी) गाथा में कहे गये उपकरण का स्वरूप दिखाते हैं–

हो अनिंदित उपधि अप्रार्थित हो असंयत जनों से ।

न हो जनक मूर्च्छादि की हो अल्प तो मुनि लें उसे ।। २४२ ।।

गाथार्थ– यद्यपि अल्प हो ; तथापि अनिंदित, असंयत जनों द्वारा अप्रार्थनीय, मूर्च्छा आदि से रहित उपधि– परिग्रह को ही मुनिराज ग्रहण करें ।

टीकार्थ– ***अप्पडिकुट्ठं उवधिं–*** निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग के सहकारी कारणरूप से अनिषिद्ध उपधि –उपकरणरूप उपधि को, ***अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं–*** अप्रार्थनीय–विकार रहित आत्मा की प्रगटता लक्षण भावसंयम से रहित असंयमी मनुष्यों द्वारा इच्छा नहीं करने योग्य, ***मुच्छादिजणणरहिदं–*** परमात्मद्रव्य से विलक्षण बाह्यद्रव्य में ममत्वरूप मूर्च्छा-रक्षण-अर्जन (रक्षा करना, इकट्ठा करना), संस्कार (साज-संवार) आदि दोषों को उत्पन्न करने से रहित, ***गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं–*** मुनिराज जो भी ऊपर कहे गये थोड़े उपकरण–उपधि को ग्रहण करें, यद्यपि वह अल्प हो; तथापि पहले (ऊपर) कहे गये उचित लक्षणवान को ही ग्रहण करना चाहिये , उससे विपरीत अथवा अधिक को ग्रहण नहीं करना चाहिये– ऐसा अभिप्राय है ।। २४२ ।।

---

१ व २- प्रवचनसार, गाथा २२२, तत्त्वप्रदीपिका टीका की हिन्दी व उत्थानिका ।

अथ सर्वसंगपरित्याग एव श्रेष्ठः, शेषमशक्यानुष्ठानमिति प्ररूपयति –

किं किंचण त्ति तक्कं अपुणब्भवकामिणोध देहे वि। (२२४)
संग त्ति जिणवरिंदा अप्पडिकम्मत्तमुद्दिट्ठा ॥ २४३ ॥

किं किंचण त्ति तक्कं कि किंचनमिति तर्कः, किं किंचन परिग्रह इति तर्को विचारः क्रियते तावत्। कस्य। *अपुणब्भवकामिणो* अपुनर्भवकामिनः अनन्तज्ञानादिचतुष्टयात्मकमोक्षाभिलाषिणः। *अध* अहो, *देहो वि* देहोऽपि *संग त्ति* संगः परिग्रह इति हेतोः *जिणवरिंदा* जिनवरेन्द्राः कर्तारः *णिप्पडिकम्मत्तमुद्दिट्ठा* निःप्रतिकर्मत्व-मुपदिष्टवन्तः। शुद्धोपयोगलक्षणपरमोपेक्षासंयमबलेन देहेऽपि निःप्रतिकारित्वं कथितवन्त इति।

ततो ज्ञायते मोक्षसुखाभिलाषिणां निश्चयेन देहादिसर्वसंगपरित्याग एवोचितोऽन्यस्तूपचार एवेति ॥ २४३ ॥

एवमपवादव्याख्यानरूपेण द्वितीयस्थले गाथात्रयं गतम्।

अब, सभी परिग्रहों का त्याग ही श्रेष्ठ है, शेष (आगे २५५ वीं गाथा में वर्णित उपकरण) अशक्य अनुष्ठान हैं, ऐसा निरूपित करते हैं—

मोक्षार्थि को जब 'देह भी परिग्रह' अतः प्रतिकर्मता।
से रहित जिनवर ने कहा तब क्या परिग्रह ? तर्क क्या ? ॥ २४३ ॥

गाथार्थ— जबकि जिनवरेन्द्रों ने मोक्षाभिलाषी को 'शरीर भी परिग्रह है'— ऐसा कहकर, उसके प्रति भी अप्रतिकर्मता (संस्कार से रहितपना) कहा है, तब 'क्या परिग्रह होता है ?'— यह तर्क विचार मात्र है अर्थात् अन्य परिग्रह कैसे हो सकता है ?

टीकार्थ— ***किं किंचण त्ति तक्कं***— क्या किंचन है— ऐसा तर्क, क्या किंचन—कुछ परिग्रह है— ऐसा तर्क—विचार करते हैं उससे पहले। किसके सम्बन्ध में क्या परिग्रह है— ऐसा विचार करते हैं ? ***अपुणब्भव-कामिणो***— अपुनर्भवकामी के—अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय स्वरूप मोक्ष के इच्छुक जीव के क्या परिग्रह है ? ऐसा विचार करते हैं; उससे पहले। ***अध***- अहो ! अरे— ***देहो वि***— शरीर भी ***संग त्ति*** संग—परिग्रह है— इस कारण ***जिणवरिंदा***— जिनवरों के इन्द्र-तीर्थंकररूप कर्ता ने ***णिप्पडिकम्मत्तमुद्दिट्ठा***— निष्प्रतिकर्मत्व कहा है। शुद्धोपयोग लक्षण परम उपेक्षा संयम के बल से, शरीर में भी निष्प्रतिकारित्व (साज-शृंगार, आसक्ति से रहितपना) कहा है।

इससे ज्ञात होता है कि मोक्ष-सुख के इच्छुक जीवों को, निश्चय से शरीर आदि सभी परिग्रहों का त्याग ही उचित है, अन्य तो उपचार ही है ॥ २४३ ॥

इसप्रकार अपवाद व्याख्यानरूप से दूसरे स्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुईं।

अथैकादशगाथापर्यन्तं स्त्रीनिर्वाणनिराकरणमुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति।

तद्यथा–

श्वेताम्बरमतानुसारी शिष्यः पूर्वपक्षं करोति –

पेच्छदि ण हि इह लोगं परं च समणिंददेसिदो धम्मो।
धम्मम्हि तम्हि कम्हा वियप्पियं लिंगमित्थीणं॥ २४४॥

पेच्छदि ण हि इह लोगं निरुपरागनिजचैतन्यनित्योपलब्धिभावनाविनाशकं ख्यातिपूजालाभरूपं प्रेक्षते न च हि स्फुटं इह लोकम्। न च केवलमिह लोकं, *परं च* स्वात्मप्राप्तिरूपं मोक्षं विहाय स्वर्गभोगप्राप्तिरूपं परं च परलोकं च नेच्छति। स कः। *समणिंददेसिदो धम्मो* श्रमणेन्द्रदेशितो धर्मः, जिनेन्द्रोपदिष्ट इत्यर्थः। *धम्मम्हि तम्हि कम्हा* धर्मे तस्मिन् कस्मात् *वियप्पियं* विकल्पितं निर्ग्रन्थलिंगाद्वस्त्रप्रावरणेन पृथक्कृतम्। किम्। *लिंगं* सावरणचिह्नम्। कासां संबन्धि। *इत्थीणं* स्त्रीणामिति पूर्वपक्षगाथा॥ २४४॥

(अब, स्त्रीमुक्ति निराकरण परक तीसरा स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, ग्यारह गाथाओं तक, स्त्री पर्याय से मुक्ति के निराकरण की मुख्यता से व्याख्यान करते हैं।

वह इसप्रकार–

श्वेताम्बर मत का अनुसरण करनेवाला शिष्य पूर्वपक्ष (प्रश्न) करता है–

श्रमणेन्द्र उपदेशित धरम न देखता इस लोक वा।
परलोक, तब इस धरम में नारि का भिन्न लिंग क्यों कहा ? ॥ २४४॥

गाथार्थ– मुनिराजों के इन्द्र–जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा गया धर्म, इस लोक और परलोक की अपेक्षा नहीं करता है, तब इस धर्म में स्त्रियों के लिंग को भिन्न क्यों कहा गया है ?

टीकार्थ– ***पेच्छदि ण हि इह लोगं***– उपराग (रागादि मलिनता) रहित अपने चैतन्य की हमेशा प्रगटता रूप भावना को नष्ट करनेवाले, प्रसिद्धि, पूजा, प्रतिष्ठा, लाभरूप इस लोक को, वास्तव में नहीं देखता है– नहीं चाहता है। मात्र इस लोक को ही नहीं, ***परं च***– और अपने आत्मा की प्राप्तिरूप मोक्ष को छोड़कर, स्वर्गों सम्बन्धी भोगों की प्राप्तिरूप पर–परलोक को भी नहीं चाहता है। ये सब कौन नहीं चाहता है ? ***समणिंददेसिदो धम्मो***– श्रमणेन्द्रों द्वारा कहा गया धर्म–जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा गया धर्म, ये सब कुछ नहीं चाहता है– ऐसा अर्थ है। ***धम्मम्हि तम्हि कम्हा***– (तब) उस धर्म में कैसे ***वियप्पियं***– विकल्पित किया गया है– निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) लिंग से, वस्त्राच्छादन द्वारा भिन्न किया गया है। इससे किसे भिन्न किया गया है ? ***लिंगं***– इससे, आवरण सहित चिह्न को भिन्न किया गया है। किन सम्बन्धी सावरण चिन्ह को भिन्न किया गया है ? ***इत्थीणं***– स्त्रियों के सावरण चिन्ह को भिन्न किया गया है– इसप्रकार पूर्वपक्ष परक (प्रश्न परक) गाथा हुई॥ २४४॥

अथ परिहारमाह –

णिच्छयदो इत्थीणं सिद्धी ण हि तेण जम्मणा दिट्ठा।

तम्हा तप्पडिरूवं वियप्पियं लिंगमित्थीणं ॥ २४५ ॥

णिच्छयदो इत्थीणं सिद्धी ण हि तेण जम्मणा दिट्ठा निश्चयतः स्त्रीणां नरकादिगतिविलक्षणानन्तसुखादिगुणस्वभावा तेनैव जन्मना सिद्धिर्न दृष्टा, न कथिता। *तम्हा तप्पडिरूवं* तस्मात्कारणात्तत्प्रतियोग्यं सावरणरूपं *वियप्पियं लिंगमित्थीणं* निर्ग्रन्थलिंगात्पृथक्त्वेन विकल्पितं कथितं लिंगं प्रावरणसहितं चिह्नम्। कासाम्। स्त्रीणामिति ॥ २४५ ॥

अथ स्त्रीणां मोक्षप्रतिबन्धकं प्रमादबाहुल्यं दर्शयति –

पइडीपमादमइया एदासिं वित्ति भासिया पमदा।

तम्हा ताओ पमदा पमादबहुला त्ति णिद्दिट्ठा ॥ २४६ ॥

अब, इसका निराकरण कहते (करते) हैं–

निश्चय से नारी के न देखा उसी भव से मोक्ष को।

इससे कहा प्रतिरूप उससे भिन्न नारी चिन्ह को ॥ २४५ ॥

गाथार्थ– निश्चय से उसी भव में, स्त्रियों का मोक्ष नहीं देखा गया है, इसलिये स्त्रियों के आवरण सहित पृथक् चिन्ह कहा गया है।

टीकार्थ– ***णिच्छयदो इत्थीणं सिद्धी ण हि तेण जम्मणा दिट्ठा–*** निश्चय से स्त्रियों के नरकादि गतियों से विलक्षण अनन्तसुखादि गुण स्वभावरूप सिद्धि, उसी जन्म–पर्याय से नहीं देखी गई है–नहीं कही गई है। ***तम्हा तप्पडिरूवं–*** उस कारण उसके प्रतियोग्य सावरण — वस्त्र सहित रूप, ***वियप्पियं लिंगमित्थीणं–*** निर्ग्रन्थलिंग से पृथक् होने के कारण, वस्त्र सहित चिह्न भिन्न कहा गया है। वस्त्र सहित चिह्न किनका कहा गया है ? स्त्रियों का वस्त्र सहित चिन्ह कहा गया है।

भावार्थ– उसी स्त्री पर्याय से नरकादि गतियों से विलक्षण अनन्तसुखादि गुण–स्वभावरूप सिद्धि निश्चय से स्त्रियों के न देखी गई है और न कही गई है। अतः उनके लिये निर्ग्रन्थ निरावरणरूप से भिन्न, सावरणरूप कहा गया है ॥ २४५ ॥

अब, स्त्रियों के मोक्ष को रोकनेवाली (उनकी) प्रमाद की बहुलता को दिखाते हैं –

है प्रकृति से हि प्रमादमय परिणति कहा प्रमदा इन्हें।

इससे इसी से कहा है बहुला प्रमादी भी इन्हें ॥ २४६ ॥

गाथार्थ– स्वभाव से उनकी परिणति प्रमादमयी होती है, इसलिये उन्हें प्रमदा कहा गया है, और इसलिये वे प्रमाद बहुल–प्रमाद की अधिकता वाली कही गई हैं।

पइडीपमादमइया प्रकृत्या स्वभावेन प्रमादेन निर्वृत्ता प्रमादमयी। का कर्त्री भवति। स्त्रीणां वृत्तिः परिणतिः। *भासिया पमदा* तत एव नाममालायां प्रमदाः प्रमदासंज्ञा भाषिता *पमदा* तत एव प्रमदासंज्ञास्ताः स्त्रियः, तस्मात्तत एव *पमदाबहुला त्ति णिद्दिट्ठा* निःप्रमादपरम शकप्रमादबहुला इति निर्दिष्टाः ॥ २४६ ॥

अथ तासां मोहादिबाहुल्यं दर्शयति–

संति धुवं पमदाणं मोहपदोसा भयं दुगुंछा य।

चित्ते चित्ता माया तम्हा तासिं ण णिव्वाणं ॥ २४७

संति धुवं पमदाणं सन्ति विद्यन्ते ध्रुवं निश्चितं प्रमदानां स्त्रीणाम्। के ते। *मोह* मोहादिरहितानन्तसुखादिगुणस्वरूपमोक्षकारणप्रतिबन्धकाः मोहप्रद्वेषभयदुगुंछापरिणामा कौटिल्यादिरहितपरमबोधादिपरिणतेः प्रतिपक्षभूता चित्ते मनसि चित्रा विचित्रा माया, *त* तत एव तासामव्याबाधसुखाद्यनन्तगुणाधारभूतं निर्वाणं नास्तीत्यभिप्रायः ॥ २४७ ॥

टीकार्थ– ***पइडीपमादमइया–*** प्रकृति अर्थात् स्वभाव से प्रमाद से रची हुई करने वाली प्रमादमयी है ? ***एदासिं वित्ति–*** इन स्त्रियों की वृत्ति-परिणति प्रमादमयी है इसलिये नाममाला में प्रमदा-प्रमदा नाम स्त्रियों का कहा गया है। ***तम्हा ताओ पमद*** स्त्रियों की प्रमाद संज्ञा है, इस कारण से ही वे ***पमादबहुला त्ति णिद्दिट्ठा–*** प्रमाद रा भावना को नष्ट करने वाली प्रमाद बहुला कही गई हैं ॥ २४६ ॥

अब, उनके मोहादि की बहुलता को दिखाते हैं–

निश्चित है नारी के हृदय में मोह द्वेष व भय घृणा।

माया विचित्र प्रकार की इससे उन्हें निर्वाण ना ॥ २४७ ॥

गाथार्थ– स्त्रियों के मन में मोह, प्रद्वेष, भय, ग्लानि और विचित्र प्रकार की माया इसलिये उन्हें मोक्ष नहीं है।

टीकार्थ– ***संति धुवं पमदाणं–*** प्रमदाओं–स्त्रियों के ध्रुव–निश्चित हैं। स्त्रियों हैं ? ***मोह पदोसा भयं दुगुंछा य–*** मोह आदि से रहित अनन्त सुख आदि गुण स्वर को रोकनेवाले, मोह, प्रद्वेष, भय, दुगुंछा–ग्लानिरूप परिणाम स्त्रियों के निश्चित हैं। *चि* कुटिलता–वक्रता आदि से रहित परमज्ञान–केवलज्ञान आदि रूप परिणति से विपरीत चित्र– अनेक प्रकार की माया होती है, ***तम्हा तासिं ण णिव्वाणं–*** इसलिये उनके, बाध आदि अनन्त गुणों का आधारभूत मोक्ष, नहीं है– ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ– स्त्रियों के मन में, मोह आदि से रहित अनन्त सुख आदि गुण स्वरूप रोकने वाले, मोह, प्रद्वेष, भय, ग्लानिरूप परिणाम तथा सर्व मायाचार से रहित केवलज्ञान से विपरीत, अनेक प्रकार की माया निश्चित होती है– पाई जाती है ; अतः उन्हें सर्व बाध आदि अनन्त गुणों के आधारभूत मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है ॥ २४७ ॥

अथैतदेव दृढयति–

ण विणा वट्टदि णारी एक्कं वा तेसु जीवलोयम्हि।

ण हि संउडं च गत्तं तम्हा तासिं च संवरणं॥ २४८॥

ण विणा वट्टदि णारी न विना वर्तते नारी *एक्कं वा तेसु जीवलोयम्हि* तेषु निर्दोषिपरमात्मध्यानविघातकेषु पूर्वोक्तदोषेषु मध्ये जीवलोके त्वेकमपि दोषं विहाय *ण हि संउडं च गत्तं* न हि स्फुटं संवृतं गात्रं च शरीरं, *तम्हा तासिं च संवरणं* तत एव च तासां संवरणं वस्त्रावरणं क्रियत इति॥ २४८॥

अथ पुनरपि निर्वाणप्रतिबन्धकदोषान्दर्शयति–

चित्तस्सावो तासिं सित्थिल्लं अत्तवं च पक्खलणं।

विज्जदि सहसा तासु अ उप्पादो सुहममणुआणं॥ २४९॥

अब, इसे ही दृढ़ करते हैं–

इस लोक में इक दोष बिन ना नारी रहती है कभी।

संवृत नहीं हैं अंग उसके अतः सावरणी कही॥ २४८॥

गाथार्थ– इस जीव लोक में नारी एक भी दोष के बिना नहीं है, तथा उसके अंग भी संवृत (ढ़के हुये) नहीं हैं, इसलिये उनके आवरण (वस्त्र) हैं।

टीकार्थ– ***ण विणा वट्टदि णारी–*** स्त्री उनके बिना नहीं है, ***एक्कं वा तेसु जीवलोयम्हि–*** उन दोषों रहित परमात्मा के ध्यान को नष्ट करनेवाले, पहले (२४७वीं गाथा में) कहे गये दोषों में से एक भी दोष को छोड़कर वह जीवलोक में नहीं है, ***ण हि संउडं च गत्तं–*** वास्तव में उसका शरीर भी संवृत (ढ़का हुआ) नहीं है, ***तम्हा तासिं च संवरणं–*** और इसलिये उनका संवरण—वस्त्रावरण किया जाता है— उन्हें वस्त्रों से ढ़का जाता है।

भावार्थ– दोष रहित परमात्मा के ध्यान को नष्ट करनेवाले, उन मोहादि एक भी दोष से शून्य स्त्री नहीं होती है, तथा शरीर के अंगोपांग भी उसके संवृत (ढ़के हुये) नहीं हैं, इसलिये उन्हें सावरणी— वस्त्र सहित रहने के लिये कहा गया है॥ २४८॥

अब, और भी निर्वाण को रोकनेवाले दोषों को दिखाते हैं–

है चित्त चंचलता शिथिलता रक्तश्रवता नारि के।

सहसा तथा उत्पत्ति सूक्ष्म मनुष्य की भी नारि के॥ २४९॥

गाथार्थ– स्त्रियों के चित्त में चंचलता और उनमें शिथिलता होती है, तथा अचानक (ऋतु समय में) रक्त प्रवाहित होता है और उनमें सूक्ष्म मनुष्यों की उत्पत्ति होती है।

विज्जदि विद्यते *तासु अ* तासु च स्त्रीषु । किम् । *चित्तस्सावो* चित्तस्रवः, निःकामात्मतत्त्वसंवित्तिविनाशकचित्तस्य कामोद्रेकेण स्रवो रागसार्द्रभावः, *तासिं* तासां स्त्रीणां, *सित्थिल्लं* शिथिलस्य भावः शैथिल्यं, तद्भवमुक्तियोग्यपरिणामविषये चित्तदार्ढ्याभावः सत्त्वहीनपरिणाम इत्यर्थः, *अत्तवं च पक्खलणं* ऋतौ भवमार्तवं प्रस्खलनं रक्तस्रवणं, *सहसा* झटिति, मासे मासे दिनत्रयपर्यन्तं चित्तशुद्धिविनाशको रक्तस्रवो भवतीत्यर्थः, *उप्पादो सुहममणुआणं* उत्पाद उत्पत्तिः सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्तमनुष्याणामिति ॥ २४९ ॥

अथोत्पत्तिस्थानानि कथयति –

लिंगम्हि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खपदेसेसु ।

भणिदो सुहुमुप्पादो तासिं कह संजमो होदि ॥ २५० ॥

लिंगम्हि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खपदेसेसु स्त्रीणां लिंगे योनिप्रदेशे, स्तनान्तरे, नाभिप्रदेशे, कक्षप्रदेशे च, *भणिदो सुहुमुप्पादो* एतेषु स्थानेषु सूक्ष्ममनुष्यादिजीवोत्पादो भणितः ।

टीकार्थ– ***विज्जदि***– पाया जाता है, ***तासु अ***– और उन स्त्रियों में । उन स्त्रियों में क्या पाया जाता है? ***चित्तस्सावो***– चित्त का प्रवाह, काम वासना से रहित आत्मतत्त्व की अनुभूति को नष्ट करनेवाले मन का काम के उद्रेक (तीव्रता) से स्रव होना– राग से आर्द्र होना–चंचल होना उन स्त्रियों में पाया जाता है, ***तासिं***– उन स्त्रियों के ***सित्थिल्लं***- शिथिल का भाव– शिथिलता– उसी भव में मोक्ष जाने योग्य परिणामों के विषय में, मन की दृढ़ता का अभाव–सत्त्वहीन–कमजोर परिणाम होते हैं– ऐसा अर्थ है, ***अत्तवं च पक्खलणं***– ऋतु में होने वाले आर्तव का प्रस्खलन– रक्त का बहना, ***सहसा***– जल्दी– प्रत्येक महिने में तीन दिन मन की शुद्धि को नष्ट करने वाला, रक्त प्रवाह उनके होता है– ऐसा अर्थ है, ***उप्पादो सुहममणुआणं***–सूक्ष्म लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों की उत्पत्ति होती है ।

भावार्थ– स्त्रियों का चित्त, काम-वासना से रहित आत्मतत्त्व की अनुभूति को नष्ट करनेवाले, काम के उद्रेक से (तीव्रता से) चंचल रहता है; उसी भव में मोक्ष जाने योग्य परिणामों के विषय में, मन की दृढ़ता का अभाव होने से, उनके परिणाम शिथिल–कमजोर रहते हैं, उनके प्रत्येक महिने में तीन दिन तक, मन की शुद्धि को नष्ट करनेवाला, रक्त का प्रवाह होता है तथा उसमें सूक्ष्म लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों की उत्पत्ति होती रहती है– ये सभी उसके निर्वाण को रोकनेवाले दोष हैं ॥ २४९ ॥

अब, (उन लब्ध्यपर्याप्तक जीवों की) उत्पत्ति के स्थान कहते हैं–

है लिंग-स्तन मध्य में नाभि व कक्ष प्रदेश में ।

कहि सूक्ष्म जीवोत्पत्ति तब संयम भी हो कैसे उन्हें ॥ २५० ॥

गाथार्थ– स्त्रियों के लिंग (योनि-स्थान) में, स्तनान्तर (दोनों स्तनों के बीच के स्थान) में, नाभि में और कक्ष (काँख) स्थान में सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति कही गई है; ऐसा होने पर उनके संयम कैसे हो सकता है ?

टीकार्थ– ***लिंगम्हि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खपदेसेसु***– स्त्रियों के लिंग अर्थात् योनिप्रदेश में, स्तनों के मध्य भाग में, नाभि प्रदेश में और कक्ष (काँख) प्रदेश में, ***भणिदो सुहुमुप्पादो***– इन स्थानों में सूक्ष्म मनुष्यादि जीवों की उत्पत्ति कही गई है ।

एते पूर्वोक्तदोषाः पुरुषाणां किं न भवन्तीति चेत्। एवं न वक्तव्यं, स्त्रीषु बाहुल्येन भवन्ति। न चास्तित्वमात्रेण समानत्वम्। एकस्य विषकणिकास्ति, द्वितीयस्य च विषपर्वतोऽस्ति, किं समानत्वं भवति। किंतु पुरुषाणां प्रथमसंहननबलेन दोषविनाशको मुक्तियोग्यविशेषसंयमोऽस्ति। *तासिं कह संजमो होदि* ततः कारणात्तासां कथं संयमो भवतीति ॥ २५० ॥

अथ स्त्रीणां तद्भवमुक्तियोग्यां सकलकर्मनिर्जरां निषेधयति–

जदि दंसणेण सुद्धा सुत्तज्झयणेण चावि संजुत्ता।

घोरं चरदि व चरियं इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिदा ॥ २५१ ॥

जदि दंसणेण सुद्धा यद्यपि दर्शनेन सम्यक्त्वेन शुद्धा, *सुत्तज्झयणे ण चावि संजुत्ता* एकादशांग-सूत्राध्ययनेनापि संयुक्ता, *घोरं चरदि व चरियं* घोरं पक्षोपवासमासोपवासादि चरति वा चारित्रं, *इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिदा* तथापि स्त्रीजनस्य तद्भवकर्मक्षययोग्या सकलनिर्जरा न भणितेति भावः।

किंच यथा प्रथमसंहननाभावात्स्त्री सप्तमनरकं न गच्छति, तथा निर्वाणमपि।

ये पहले (२४७, २५० वीं गाथा में) कहे गये(मोहादि, जीवोत्पत्ति आदि)दोष क्या पुरुषों के नहीं होते हैं ? यदि ऐसा प्रश्न हो तो कहते हैं— ऐसा नहीं कहना चाहिये,(पुरुषों में होते हैं परन्तु) स्त्रियों के बहुलता से होते हैं। होने मात्र से समानता नहीं होती है। एक के विष की कणिका मात्र है और दूसरे के विष के पर्वत हैं, दोनों में क्या समानता है ? बल्कि पुरुषों के प्रथम (वज्रवृषभनाराच) सहंनन के बल से दोषों को नष्ट करनेवाला, मुक्ति के योग्य,विशेष संयम है। *तासिं कह संजमो होदि*– (उपर्युक्त दोषों के कारण) उनके (स्त्रियों के) संयम कैसे हो सकता है ॥ २५० ॥

अब, स्त्रियों के उसी भव से मोक्ष जाने योग्य सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा का निषेध करते हैं—

यद्यपि दर्शन शुद्ध हो हो सूत्र अध्ययन युक्त भी।

आचरित चर्या घोर पर नारी के निर्जरा ना कही ॥ २५१ ॥

गाथार्थ– यदि स्त्री सम्यग्दर्शन से शुद्ध हो, आगम के अध्ययन से भी सहित हो तथा घोर चारित्र का भी आचरण करती हो, तो भी स्त्री के (सम्पूर्ण कर्मों की) निर्जरा नहीं कही गई है।

टीकार्थ– ***जदि दंसणेण सुद्धा***–यद्यपि दर्शन से— सम्यक्त्व से शुद्ध है, ***सुत्तज्झयणेण चावि संजुत्ता***–ग्यारह अंग रूप सूत्र—आगम के अध्ययन से भी संयुक्त है, ***घोरं चरदि व चरियं***–घोर पक्षोपवास (१५ दिन के उपवास) अथवा मासोपवास (एक महिने के उपवास) आदि चारित्र का आचरण करती है, ***इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिदा***– फिर भी स्त्री के,उसी भव से कर्मों के क्षय योग्य सम्पूर्ण निर्जरा,नहीं कही गई है— ऐसा भाव है।

दूसरी बात यह है कि जैसे प्रथम संहनन का अभाव होने से,स्त्री सातवें नरक नहीं जाती है,उसीप्रकार मोक्ष भी नहीं जाती है।

"पुवेदं वेदंता पुरिसा जे खवगसेढिमारूढा।
सेसोदयेण वि तहा झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झंति ॥"[१]

इति गाथाकथितार्थाभिप्रायेण भावस्त्रीणां कथं निर्वाणमिति चेत्। तासां भावस्त्रीणां प्रथमसंहननमस्ति, द्रव्यस्त्रीवेदाभावात्तद्भवमोक्षपरिणामप्रतिबन्धकतीव्रकामोद्रेकोऽपि नास्ति।

द्रव्यस्त्रीणां प्रथमसंहननं नास्तीति कस्मिन्नागमे कथितमास्त इति चेत्।

तत्रोदाहरणगाथा –

"अंतिमतिगसंघडणं णियमेण य कम्मभूमिमहिलाणं।
आदिमतिगसंघडणं णत्थि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥"[२]

अथ मतम्-यदि मोक्षो नास्ति तर्हि भवदीयमते किमर्थमर्जिकानां महाव्रतारोपणम्। परिहारमाह- तदुपचारेण कुलव्यवस्थानिमित्तम्। न चोपचारः साक्षाद्भवितुमर्हति, अग्निवत् क्रूरोऽयं देवदत्त इत्यादिवत्।

तथाचोक्तम् –

"मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते।"[३]

किंतु यदि तद्भवे मोक्षो भवति स्त्रीणां तर्हि शतवर्षदीक्षिताया अर्जिकाया अद्यदिने दीक्षितः साधुः कथं वन्द्यो भवति। सैव प्रथमतः किं न वन्द्या भवति साधोः।

"जो पुरुष,भाव पुरुष वेद का वेदन करते हुये अथवा शेष के उदय से भाव स्त्री या नपुंसक वेद का वेदन करते हुये क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होते हैं, वे ध्यान में लीन मुनि सिद्ध होते हैं।"

इसप्रकार गाथा में कहे गये अर्थ के अभिप्राय से भाव स्त्रियों के मोक्ष कैसे होता है ? यदि ऐसा प्रश्न हो तो उत्तर कहते हैं— उन भाव स्त्रियों के प्रथम संहनन होता है तथा द्रव्य स्त्रीवेद का अभाव होने से,उसी भव से मोक्ष जानेवाले परिणामों को रोकनेवाला तीव्र कामोद्रेक भी नहीं होता है (अतः उन्हें मोक्ष हो जाता है)।

"द्रव्य स्त्रियों के पहला संहनन नहीं है"— ऐसा किस आगम में कहा गया है ? यदि ऐसा प्रश्न हो तो वहाँ उदाहरण गाथा कहते हैं—

"कर्मभूमि महिलाओं के नियम से अन्त के तीन संहनन होते हैं, आदि के तीन संहनन उनके नहीं होते हैं— ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।"

यहाँ प्रश्न यह है कि यदि स्त्रियों को मोक्ष नहीं होता है,तो आपके मत में आर्यिकाओं के महाव्रत का आरोपण किसलिये किया गया है ? आचार्य उत्तर देते हैं कि कुल-व्यवस्था के निमित्त,वह उपचार किया गया है। और उपचार साक्षात् होने के योग्य नहीं होता है; 'यह देवदत्त अग्नि के समान क्रूर है' इत्यादि के समान।

वैसा ही कहा भी है—

"मुख्य का अभाव होने पर प्रयोजन और निमित्त में उपचार प्रवृत्त होता है।"

किन्तु यदि स्त्री के उस भव में मोक्ष होता,तो सौ वर्ष पहले दीक्षित आर्यिका द्वारा,आज के ही दिन दीक्षित साधु पूज्य कैसे होता है ? वे आर्यिका ही,उन साधु द्वारा पहले से पूज्य क्यों नहीं होती हैं ?

१- प्राकृत सिद्धभक्ति,गाथा ६।

किंतु भवन्मते मल्लितीर्थकरः स्त्रीति कथ्यते, तदप्ययुक्तम् । तीर्थकरा हि सम्यग्दर्शनविशुद्ध्यादिषोडशभावनाः पूर्वभवे भावयित्वा पश्चाद्भवन्ति । सम्यग्दृष्टेः स्त्रीवेदकर्मणो बन्ध एव नास्ति, कथं स्त्री भविष्यतीति । किंच यदि मल्लितीर्थकरो वान्यः कोऽपि वा स्त्री भूत्वा निर्वाणं गतः तर्हि स्त्रीरूपप्रतिमाराधना किं न क्रियते भवद्भिः ।

यदि पूर्वोक्तदोषाः सन्ति स्त्रीणां तर्हि सीतारुक्मिणीकुन्तीद्रौपदीसुभद्राप्रभृतयो जिनदीक्षां गृहीत्वा विशिष्टतपश्चरणेन कथं षोडशस्वर्गे गता इति चेत् । परिहारमाह– तत्र दोषो नास्ति, तस्मात्स्वर्गादागत्य पुरुषवेदेन मोक्षं यास्यन्त्यग्रे । तद्भवमोक्षो नास्ति, भवान्तरे भवतु, को दोष इति ।

इदमत्र तात्पर्यम्– स्वयं वस्तुस्वरूपमेव ज्ञातव्यं, परं प्रति विवादो न कर्तव्यः । कस्मात् । विवादे रागद्वेषोत्पत्तिर्भवति, ततश्च शुद्धात्मभावना नश्यतीति ॥ २५१ ॥

अथोपसंहाररूपेण स्थितपक्षं दर्शयति–

तम्हा तं पडिरूवं लिंगं तासिं जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।

कुलरूववओजुत्ता समणीओ तस्समाचारा ॥ २५२ ॥

किन्तु आपके मत में 'मल्लि तीर्थंकर स्त्री हैं' ऐसा कहते हैं, वह भी उचित नहीं है । क्योंकि पहले भव में सम्यग्दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनायें भाकर बाद में तीर्थंकर होते हैं । सम्यग्दृष्टि के स्त्रीवेद कर्म का बन्ध ही नहीं होता है, तब वे स्त्री कैसे हो गये ? दूसरी बात यह है कि यदि मल्लि तीर्थंकर अथवा दूसरा कोई भी, स्त्री होकर मोक्ष गया है, तो आपके द्वारा स्त्री रूप प्रतिमा की आराधना क्यों नहीं की जाती है ।

पहले (२४७वीं गाथा आदि में) कहे गये दोष स्त्रियों के होते हैं; तो सीता, रुक्मणि, कुन्ती, द्रोपदी, सुभद्रा आदि स्त्रियाँ जिनदीक्षा ग्रहण कर, विशिष्ट तपश्चरण कर, सोलहवें स्वर्ग में कैसे गई हैं ? यदि आपका ऐसा प्रश्न हो तो उसका उत्तर देते हैं— वहाँ दोष नहीं है, उस स्वर्ग से आकर, आगे पुरुषवेद द्वारा मोक्ष जायेंगी । उसी भव से मोक्ष नहीं है, अन्य भव में हो, कोई दोष नहीं है ।

यहाँ तात्पर्य यह है— स्वयं वस्तु-स्वरूप ही जानना चाहिए, दूसरों से विवाद नहीं करना चाहिये । दूसरों से विवाद क्यों नहीं करना चाहिये ? विवाद में राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, और उससे शुद्धात्मा की भावना नष्ट होती है; इसलिये दूसरों से विवाद नहीं करना चाहिये ॥ २५१ ॥

अब, उपसंहाररूप से, स्थित पक्ष को दिखाते हैं —

इससे जिनेन्द्रों ने सवस्त्र ही चिन्ह उनका है कहा ।

कुल रूप वय से सहित सम आचारयुत श्रमणी, कहा ॥ २५२ ॥

गाथार्थ— इसलिये जिनेन्द्र भगवान ने, उन स्त्रियों का चिन्ह वस्त्र सहित कहा है; कुल, रूप, वय से सहित अपने योग्य आचार का पालन करतीं हुई वे, श्रमणी–आर्यिका कहलाती हैं ।

तम्हा यस्मात्तद्भवे मोक्षो नास्ति तस्मात्कारणात् *तं पडिरूवं लिंगं तासिं जिणेहिं णिद्दिट्ठं* तत्प्रतिरूपं वस्त्रप्रावरणसहितं लिंगं चिह्नं लाच्छनं तासां स्त्रीणां जिनवरैः सर्वज्ञैर्निर्दिष्टं कथितम्। *कुलरूववओजुत्ता समणीओ* लोकदुगुंछारहितत्वेन जिनदीक्षायोग्यं कुलं भण्यते, अन्तरंगनिर्विकारचित्तशुद्धिज्ञापकं बहिरंग-निर्विकारं रूपं भण्यते, शरीरभंगरहितं वा अतिबालवृद्धबुद्धिवैकल्यरहितं वयो भण्यते, तैः कुलरूपवयो-भिर्युक्ताः कुलरूपवयोयुक्ता भवन्ति। काः। श्रमण्योऽर्जिकाः। पुनरपि किंविशिष्टाः। *तस्समाचारा* तासां स्त्रीणां योग्यस्तद्योग्य आचारशास्त्रविहितः समाचार आचार आचरणं यासां तास्तत्समाचारा इति॥ २५२॥

अथेदानीं पुरुषाणां दीक्षाग्रहणे वर्णव्यवस्थां कथयति–

वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणंगो तवोसहो वयसा।

सुमुहो कुच्छारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो॥ २५३॥

वण्णेसु तीसु एक्को वर्णेषु त्रिष्वेकः ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यवर्णेष्वेकः। *कल्लाणंगो* कल्याणांग आरोग्यः। *तवोसहो वयसा* तपःसहः तपःक्षमः। केन। अतिवृद्धबालत्वरहितवयसा। *सुमुहो* निर्विकाराभ्यन्तरपरमचैतन्यप-

---

टीकार्थ– *तम्हा–* जिस कारण उसी भव से मोक्ष नहीं होता, उस कारण *तं पडिरूवं लिंगं तासिं जिणेहिं णिद्दिट्ठं–* उनके प्रतिरूप वस्त्र-प्रावरण सहित लिंग-चिन्ह-लांछन उन स्त्रियों का, सर्वज्ञ-जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा गया है। *कुलरूववयोजुत्ता समणीओ–* लोक में निन्दा-घृणा से रहित होने के कारण, जिन दीक्षा के योग्य कुल—कुल कहलाता है। अंतरंग की विकार रहित मन की शुद्धि को बतानेवाला, बाहर में विकार रहित वेष—रूप कहलाता है; भंग रहित— अंगोपांग हीनता रहित शरीर अथवा अधिक बालपना या वृद्धपना से सम्बन्धित बुद्धि की विकलता (अस्थिरता) से रहित उम्र—वय कहलाती है; उन कुल, रूप, वय से सहित कुल-रूप-वय सहित होती हैं (इसप्रकार तृतीया तत्पुरुष समास किया)। कुल, रूप, वय से सहित कौन होती हैं ? श्रमणी—अर्जिका—आर्यिका कुल, रूप, वय से सहित होती हैं। और भी वे किस विशेषता वाली हैं ? *तस्समाचारा-* उन स्त्रियों के योग्य-तद्योग्य— आचार-शास्त्र में कहा गया समाचार—आचार—आचरण है जिनका, वे उस समाचार सम्पन्न आर्यिकायें हैं॥ २५२॥

अब, इस समय पुरुषों के दीक्षाग्रहण में वर्ण व्यवस्था कहते हैं—

हो तीन वर्णों में से एक निरोग तन तप सह्य वय।

सुन्दर मुखाकृति लोक निंदा रहित दीक्षा योग्य वह॥ २५३॥

गाथार्थ– तीन वर्णों में से कोई एक वर्ण वाला, नीरोग शरीरी, वय से तपश्चरण को सहन करनेवाला, सुन्दर मुखवाला, लोक निन्दा से रहित पुरुष दीक्षा ग्रहण के योग्य होता है।

टीकार्थ– *वण्णेसु तीसु एक्को–* तीन वर्णों में से एक—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्णों में से कोई एक वर्ण। *कल्लाणंगो–* कल्याणांग-निरोग शरीर। *तवोसहो वयसा–* तपः सह—तप को सहने में समर्थ। किसके द्वारा तप को सहने में समर्थ हो ? अधिक वृद्धता और अधिक बालता से रहित वय द्वारा तप को सहनेवाला। *सुमुहो–* विकार रहित अंतरंग में परम चैतन्य परिणतिरूप विशुद्धि को बतानेवाला— गमक (ज्ञान

रिणतिविशुद्धिज्ञापकं गमकं बहिरंगनिर्विकारं मुखं यस्य, मुखावयवभंगरहितं वा, स भवति सुमुखः। *कुच्छारहिदो* लोकमध्ये दुराचाराद्यपवादरहितः। *लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो* एवंगुणविशिष्टपुरुषो जिनदीक्षाग्रहणे योग्यो भवति। यथायोग्यं सच्छूद्राद्यपि ॥ २५३ ॥

अथ निश्चयनयाभिप्रायं कथयति –

जो रयणत्तयणासो सो भंगो जिणवरेहिं णिद्दिट्ठो।

सेसं भंगेण पुणो ण होदि सल्लेहणाअरिहो॥ २५४॥

जो रयणत्तयणासो सो भंगो जिणवरेहिं णिद्दिट्ठो यो रत्नत्रयनाशः स भंगो जिनवरैर्निर्दिष्टः। विशुद्धज्ञान-दर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपो योऽसौ निश्चयरत्नत्रयस्वभावस्तस्य विनाशः स एव निश्चयेन नाशो भंगो जिनवरैर्निर्दिष्टः। *सेसं भंगेण पुणो* शेषभंगेन पुनः शेषखण्डमुण्डवातवृषणादिभंगेन *ण होदि सल्लेहणाअरिहो* न भवति सल्लेखनार्हः। लोकदुगुंछाभयेन निर्ग्रन्थरूपयोग्यो न भवति। कौपीन-ग्रहणेन तु भावनायोग्यो भवतीत्यभिप्रायः ॥ २५४ ॥

करानेवाला), बाहर में विकार रहित है मुख जिसका अथवा जो मुख के अवयवों के भंग से रहित है, वह सुमुख है। ***कुच्छारहिदो***– लोक में दुराचार आदि अपवादों से रहित। ***लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो***– इन गुणों से विशिष्ट पुरुष, जिन-दीक्षा ग्रहण करने के योग्य है। यथायोग्य सत् शूद्र आदि भी जिन-दीक्षा ग्रहण के योग्य हैं ॥ २५३ ॥

अब, निश्चयनय का अभिप्राय कहते हैं–

वह भंग है जो नाश रत्नत्रय कहा जिनदेव ने।

सल्लेखना के योग्य न हो भंग से युत शेष के ॥ २५४ ॥

गाथार्थ– जो रत्नत्रय का नाश है, उसे जिनेन्द्र भगवान ने भंग कहा है; तथा शेष भंग द्वारा वह सल्लेखना के योग्य नहीं होता है।

टीकार्थ– ***जो रयणत्तयणासो सो भंगो जिणवरेहिं णिद्दिट्ठो***– जो रत्नत्रय का नाश है, वह जिनेन्द्र भगवान द्वारा भंग कहा गया है। विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभावरूप अपने परमात्मतत्त्व की सम्यक् श्रद्धा, उसका ही सम्यग्ज्ञान और उसमें ही सम्यक् अनुष्ठान (लीनता, आचरण) रूप जो वह निश्चय रत्नत्रयरूप अपना भाव है, उसका नष्ट होना; वही निश्चय से नाश-भंग, जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा गया है। ***सेसं भंगेण पुणो***– तथा शेष भंग द्वारा– शेष शरीर के किसी अंग के टूट जाने पर, मुण्ड हो जाने पर, वायु रोग हो जाने पर, वृषण (अण्डकोष) आदि के भंग हो जाने पर, ***ण होदि सल्लेहणा अरिहो***– सल्लेखना के योग्य नहीं होता है—लोक-निन्दा के भय से, निर्ग्रन्थरूप धारण करने योग्य नहीं है। कौपीन ग्रहण द्वारा उसकी भावना करने योग्य है— ऐसा अभिप्राय है।

अथ पूर्वोक्तस्योपकरणरूपापवादव्याख्यानस्य विशेषविवरणं करोति –

उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं ।(२२५)

गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं च णिद्दिट्ठं ॥ २५५ ॥

इदि भणिदं इति भणितं कथितम् । किम् । *उवयरणं* उपकरणम् । क्व । *जिणमग्गे* जिनोक्तमोक्षमार्गे । किमुपकरणम् । *लिंगं* शरीराकारपुद्गलपिण्डरूपं द्रव्यलिंगम् । किंविशिष्टम् । *जहजादरूवं* यथाजातरूपं, यथाजातरूपशब्देनात्र व्यवहारेण संगपरित्यागयुक्तं नग्नरूपं, निश्चयेनाभ्यन्तरेण शुद्धबुद्धैकस्वभावं परमात्मस्वरूपं । *गुरुवयणं पि य* गुरुवचनमपि, निर्विकारपरमचिज्ज्योतिः स्वरूपपरमात्मतत्त्वप्रतिबोधकं

(श्वेताम्बर मत स्त्री की उसी पर्याय से मुक्ति मानता है, परन्तु यह मान्यता स्वभाव से ही सत्य नहीं है; अतः इस स्थल में उसका खण्डन किया गया है । 'सप्ततिका' नामक छठवें कर्मग्रन्थ से, 'प्रवचनसारोद्धार'– प्रकरण रत्नाकर भाग ३ से तथा प्रकरण रत्नाकर भाग ४ के षडशीति नामक चतुर्थ कर्मग्रन्थ से– इत्यादि उनके ग्रन्थों से भी उनकी इस मान्यता का खण्डन होता है ।)[१] ॥ २५४ ॥

इसप्रकार स्त्री-मुक्ति-निराकरण के व्याख्यान की मुख्यता से, ग्यारह गाथाओं द्वारा तीसरा स्थल समाप्त हुआ ।

(अब, अपवाद मार्ग के विशेष व्याख्यान परक ग्यारह गाथाओं में निबद्ध, अन्तिम चौथा स्थल प्रारम्भ होता है ।)

अब, पहले (२४२वीं गाथा में) कहे गये उपकरणरूप अपवाद व्याख्यान का विशेष कथन करते हैं–

है यथाजात स्वरूप लिंग जिनमार्ग में उपकरण है ।

गुरु वचन, विनय व सूत्र अध्ययन भी कहे उपकरण हैं ॥ २५५ ॥

गाथार्थ– जिन-मार्ग में यथाजातरूप लिंग को, उपकरण कहा गया है ; तथा गुरु के वचन, विनय और सूत्रों का अध्ययन भी, उपकरण कहे गये हैं ।

टीकार्थ– ***इदि भणिदं***– ऐसा कहा गया है । क्या कहा गया है ? ***उवयरणं***- उपकरण कहा गया है । उपकरण कहाँ कहा गया है ? ***जिणमग्गे***– जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे गये मोक्षमार्ग में, उपकरण कहा गया है । वहाँ, उपकरण किसे कहा गया है ? ***लिंगं***– शरीर के आकार पुद्गल पिण्डरूप द्रव्यलिंग को, वहाँ उपकरण कहा गया है । वह द्रव्यलिंग किस विशेषता वाला है ? ***जहजादरूवं***– यथाजातरूप—यथाजातरूप शब्द के द्वारा यहाँ, व्यवहार से परिग्रह के परित्याग सहित नग्नरूप और निश्चय से अन्दर में शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव परमात्म-स्वरूप विवक्षित है । ***गुरुवयणं पि य***– गुरु के वचन भी —विकार रहित उत्कृष्ट चैतन्य

१- श्री ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी कृत हिन्दी टीका 'प्रवचनसार' तृतीय खण्ड-चारित्र तत्त्वप्रदीपिका, पृष्ठ १५३ व १५४ ।

सारभूतं सिद्धोपदेशरूपं गुरूपदेशवचनम्। न केवलं गुरुपदेशवचनं, *सुत्तज्झयणं च* आदिमध्यान्तवर्जित-जातिजरामरणरहितनिजात्मद्रव्यप्रकाशकसूत्राध्ययनं च, परमागमवाचनमित्यर्थः। *णिद्दिट्ठं* उपकरणरूपेण निर्दिष्टं कथितम्। *विणओ* स्वकीयनिश्चयरत्नत्रयशुद्धिर्निश्चयविनयः, तदाधारपुरुषेषु भक्तिपरिणामो व्यवहार विनयः। उभयोऽपि विनयपरिणाम उपकरणं भवतीति निर्दिष्टः।

अनेन किमुक्तं भवति– निश्चयेन चतुर्विधमेवोपकरणम्। अन्यदुपकरणं व्यवहार इति॥ २५५॥

अथ युक्ताहारविहारलक्षणतपोधनस्य स्वरूपमाख्याति –

इहलोगणिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्हि लोयम्हि।(२२६)

जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो॥ २५६॥

इहलोगणिरावेक्खो इहलोकनिरापेक्षः, टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावनिजात्मसंवित्तिविनाशकख्याति-पूजालाभरूपेहलोककाङ्क्षारहितः, *अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्हि* अप्रतिबद्धः परस्मिन् लोके, तपश्चरणे कृते दिव्यदेवस्त्रीपरिवारादिभोगा भवन्तीति, एवंविधपरलोके प्रतिबद्धो न भवति, *जुत्ताहारविहारो हवे* युक्ताहार-विहारो भवेत्। स कः। *समणो* श्रमणः। पुनरपि कथंभूतः। *रहिदकसाओ* निःकषायस्वरूपसंवित्त्यवष्टम्भबलेन रहितकषायश्चेति।

ज्योतिस्वरूप परमात्मतत्त्व का ज्ञान करानेवाले,सारभूत सिद्ध (सफल) उपदेशरूप गुरु के उपदेशरूप वचन। गुरु के उपदेशरूप वचन मात्र ही नहीं,वरन् *सुत्तज्झयणं च*– और आदि-मध्य-अन्त से रहित, जन्म-जरा (बुढ़ापा) -मरण से रहित अपने आत्मद्रव्य को प्रकाशित करनेवाले— बतानेवाले सूत्रों का अध्ययन-परमागम का वाचन— ऐसा अर्थ है। *णिद्दिट्ठं*– उपकरणरूप कहे गये हैं। *विणओ*– अपने निश्चयरत्नत्रय की शुद्धि निश्चय-विनय है और उसके आधारभूत पुरुषों में भक्ति का परिणाम व्यवहार-विनय है। दोनों ही प्रकार के विनय परिणाम उपकरण हैं— ऐसा कहा गया है।

इससे क्या कहा गया है ? निश्चय से चार ही उपकरण हैं और दूसरे तो व्यवहार उपकरण हैं॥ २५५॥

अब, युक्त (उचित) आहार-विहार लक्षण मुनिराज का स्वरूप प्रसिद्ध करते हैं—

इस लोक से निरपेक्ष हों परलोक अप्रतिबद्ध हों।

वे श्रमण,रहित कषाय,युक्ताहार युक्त विहार हों॥ २५६॥

गाथार्थ– इस लोक से निरपेक्ष, परलोक में अप्रतिबद्ध, कषाय रहित श्रमण युक्ताहार-विहारी हों।

टीकार्थ– *इह लोगणिरावेक्खो*– इस लोक से निरपेक्ष, टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभावी अपने आत्मा की अनुभूति को नष्ट करनेवाली,प्रसिद्धि, पूजा, लाभरूप इस लोक सम्बन्धी इच्छाओं से रहित ; *अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्हि*– परलोक में अप्रतिबद्ध, तपश्चरण करने पर दिव्य देव-स्त्री-परिवार आदि भोग प्राप्त होते हैं— इसप्रकार परलोक के विषय में प्रतिबद्ध (विषयाकांक्षारूप बंधन) नहीं हैं; *जुत्ताहारविहारो हवे*– युक्ताहार—विहारी हों। कौन युक्ताहार-विहारी हों ? *समणो*- श्रमण युक्ताहार-विहारी हों। वे श्रमण किस विशेषतावाले हैं ? *रहिदकसाओ*– और कषाय रहित स्वरूप की अनुभूतिरूप अवलम्बन के बल से,वे कषाय रहित हैं।

समणो हवदि पमत्तो उवजुत्तो णेहणिद्दाहिं ॥ २५७ ॥

हवदि क्रोधादिपंचदशप्रमादरहितचिच्चमत्कारमात्रात्मतत्त्वभावनाच्युत: सन् भवति। स क: कर्ता। *समणो* सुखदु:खादिसमचित्त: श्रमण: । किंविशिष्टो भवति। *पमत्तो* प्रमत्त: प्रमादी। कै: कृत्वा। *कोहादिएहिं चउहिं वि* चतुर्भिरपि क्रोधादिभि:, *विकहाहिं* स्त्रीभक्तचोरराजकथाभि:, *तहिंदियाणमत्थेहिं* तथैव पंचेन्द्रियाणामर्थै: स्पर्शादिविषयै: । पुनरपि किंरूप: । *उवजुत्तो* उपयुक्त: परिणत: । काभ्याम् । *णेहणिद्दाहिं* स्नेहनिद्राभ्यामिति ॥ २५७ ॥

यहाँ भावार्थ यह है— जो वे,इस लोक और परलोक से निरपेक्ष तथा कषाय रहित होने के कारण दीपक के स्थानीय शरीर में, तेल के स्थानीय ग्रास मात्र देकर, घड़े-कपड़े आदि प्रकाशित होने योग्य पदार्थों के स्थानीय अपने परमात्म-पदार्थ का ही निरीक्षण करते हैं; वे ही युक्ताहार-विहारी हैं; शरीर की पुष्टि में लगे हुये और दूसरे नहीं ॥ २५६ ॥

अब, पन्द्रह प्रमादों द्वारा मुनिराज प्रमत्त होते हैं, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

क्रोधादि चार प्रकार विकथा इन्द्रियों के विषय से।
उपयुक्त श्रमण प्रमत्त होता नींद या स्नेह से ॥ २५७ ॥

गाथार्थ— चार प्रकार के क्रोधादि से, चार प्रकार की विकथाओं से, उसीप्रकार इन्द्रियों के विषयों से, स्नेह और निद्रा से उपयुक्त होता हुआ श्रमण प्रमत्त होता है।

टीकार्थ— ***हवदि***— क्रोधादि पन्द्रह प्रमादों से रहित चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मतत्त्व की भावना से च्युत रहते हुये होते हैं। कर्तारूप वे कौन होते हैं ? ***समणो***— सुख-दु:ख आदि में समान मनवाले मुनिराज होते हैं। वे मुनिराज किस विशेषतावाले होते हैं ? ***पमत्तो***— वे मुनिराज प्रमत्त-प्रमादी होते हैं। वे किनसे प्रमादी होते हैं ? ***कोहादिएहिं चउहिं वि***— चारों प्रकार के क्रोधादि द्वारा, ***विकहाहिं***— स्त्री कथा, भक्त कथा, चोर कथा, राजकथा रूप विकथाओं द्वारा, ***तहिंदियाणमत्थेहिं***— उसीप्रकार पाँच इन्द्रियों के अर्थों-स्पर्श आदि विषयों द्वारा प्रमादी होते हैं। और भी वे किस रूप हैं ? ***उवजुत्तो***— उपयुक्त अर्थात् परिणत हैं। किन रूपों से परिणत हैं ? ***णेहणिद्दाहिं***— स्नेह और निद्रारूप से परिणत हैं।

भावार्थ— सुख-दु:ख आदि में समान मनवाले मुनिराज,क्रोधादि पन्द्रह प्रमादों से रहित चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मतत्त्व की भावना से रहित होते हुये,चारों प्रकार के क्रोधादि, स्त्रीकथा-भोजनकथा-चोर कथा-राजकथा रूप चार विकथाओं तथा पाँच इन्द्रियों के स्पर्श आदि विषयों द्वारा स्नेह और निद्रा रूप से परिणत होते हुये, प्रमादी होते हैं ॥ २५७ ॥

अथ युक्ताहारविहारतपोधनस्वरूपमुपदिशति–

जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छगा समणा।(२२७)

अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा॥ २५८॥

जस्स यस्य मुनेः सम्बन्धी *अप्पा* आत्मा। किंविशिष्टः। *अणेसणं* स्वकीयशुद्धात्मतत्त्वभावनोत्पन्नसुखामृताहारेण तृप्तत्वान्न विद्यते एषणमाहाराकाङ्क्षा यस्य स भवत्यनेषणः, *तं पि तवो* तस्य तदेव निश्चयेन निराहारात्मभावनारूपमुपवासलक्षणं तपः, *तप्पडिच्छगा समणा* तत्प्रत्येषकाः श्रमणाः, तन्निश्चयोपवासलक्षणं तपः प्रतीच्छन्ति तत्प्रत्येषकाः श्रमणाः। पुनरपि किं येषाम्। *अण्णं* निजपरमात्मतत्त्वादन्यद्भिन्नं हेयम्। किम्। *अणेसणं* अन्नस्याहारस्यैषणं वांछा अन्नेषणम्। कथंभूतम्। *भिक्खं* भिक्षायां भवं भैक्ष्यं। *अध* अथ अहो, *ते समणा अणाहारा* ते अनशनादिगुणविशिष्टाः श्रमणा आहारग्रहणेऽप्यनाहारा भवन्ति।

तथैव च निःक्रियपरमात्मानं ये भावयन्ति, पंचसमितिसहिता विहरन्ति च, ते विहारेऽप्यविहारा भवन्तीत्यर्थः॥ २५८॥

अब, युक्ताहार-विहारी मुनिराज के स्वरूप का उपदेश देते हैं–

जिनका अनेषण आत्मा तप वही प्रत्येषक श्रमण।

लें अन्य भिक्षा अनेषण पर वे अनाहारी श्रमण॥ २५८॥

गाथार्थ– जिसका आत्मा एषणा रहित है वह भी तप है, उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील श्रमण अन्य भिक्षा को एषणा रहित ग्रहण करते हैं, इसलिये वे श्रमण अनाहारी हैं।

टीकार्थ– ***जस्स-*** जिन मुनि सम्बन्धी *अप्पा-* आत्मा। वे किस विशेषतावाले हैं? ***अणेसणं–*** अपने शुद्धात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न सुखरूपी अमृत के आहार से तृप्त होने के कारण, जिन्हें एषण–आहार की आकांक्षा–इच्छा नहीं है, वे अनेषण हैं, ***तं पि तवो–*** उनके निश्चय से वही, आहार रहित आत्मा की भावनारूप उपवास लक्षण तप है, ***तप्पडिच्छगा समणा–*** उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील श्रमण, उस निश्चय उपवास लक्षण तप को (जो) चाहते हैं, (वे) उसके प्रत्येषक श्रमण हैं। और भी जिनके क्या है? ***अण्णं–*** अपने परमात्मतत्त्व से दूसरे भिन्न हेय हैं। वे दूसरे क्या हैं? ***अणेसणं–*** अन्न की–आहार की–भोजन की एषणा–वांछा–इच्छा–अन्नेषण, दूसरी–भिन्न है। वह भोजन की इच्छा कैसी है? ***भिक्खं–*** भिक्षा के समय होनेवाली–भैक्ष्य–भिक्षारूप है। ***अध–*** अब, अहो! ऐसा होने पर भी ***ते समणा अणाहारा–*** वे अनशन आदि गुणों से विशिष्ट श्रमण, आहार ग्रहण करते हुये भी अनाहारी हैं।

और उसीप्रकार, जो निष्क्रिय परमात्मा की भावना करते हैं और पाँच समिति सहित विहार करते हैं, वे विहार करते हुये भी अविहारी हैं– ऐसा अर्थ है।

भावार्थ– अपने शुद्धात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न सुखरूपी अमृतमयी आहार से तृप्त होने के कारण, भोजन की इच्छा-रहित मुनिराज अनेषण हैं। निश्चय से आहार-रहित अपने आत्मा की भावना ही उनका अनशन तप है। उसी की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील, अनशन आदि गुणों से संयुक्त, भिक्षा के समय उत्पन्न भोजन सम्बन्धी इच्छा से अपने परमात्मतत्त्व को भिन्न व भोजन की इच्छा को हेय मानने वाले वे श्रमण, आहार ग्रहण करते हुये भी अनाहारी कहे गये हैं– इसीप्रकार उन्हें अविहारी भी जानना चाहिए॥ २५८॥

अथ तदेवानाहारकत्वं प्रकारान्तरेण प्राह –

केवलदेहो समणो देहे ण ममत्ति रहिदपरिकम्मो।(२२८)

आजुत्तो तं तवसा अणिगूहिय अप्पणो सत्तिं॥ २५९॥

केवलदेहो केवलदेहोऽन्यपरिग्रहरहितो भवति। स कः कर्ता। *समणो* निन्दाप्रशंसादिसमचित्तः श्रमणः। तर्हि किं देहे ममत्वं भविष्यति। नैवं। *देहे वि ममत्तरहिदपरिकम्मो* देहेऽपि ममत्वरहितपरिकर्मा,

"ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिं उवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे॥"[१]

इति श्लोककथितक्रमेण देहेऽपि ममत्वरहितः। *आजुत्तो तं तवसा* आयुक्तवान् आयोजितवांस्तं देहं तपसा। किं कृत्वा। *अणिगूहिय* अनिगूह्य प्रच्छादनमकृत्वा। कां। *अप्पणो सत्तिं* आत्मनः शक्तिमिति।

अनेन किमुक्तं भवति– यः कोऽपि देहाच्छेषपरिग्रहं त्यक्त्वा देहेऽपि ममत्वरहितस्तथैव तं देहं तपसा योजयति स नियमेन युक्ताहारविहारो भवतीति॥ २५९॥

अब, उसी अनाहारकता को प्रकारान्तर से— दूसरे रूप में कहते हैं—

है नहीं मेरा देह यों मुनि मात्र तन परिकर्म बिन।

तन जोड़ते तप साथ में स्वशक्ति के उपगूह बिन॥ २५९॥

गाथार्थ— मात्र शरीररूप परिग्रह धारण करनेवाले श्रमण ने, शरीर में-'यह मेरा नहीं है' ऐसा समझ कर, परिकर्म (शृंगारादि) रहित वर्तते हुये, अपने आत्मा की शक्ति को न छिपाकर, उसे भी तप के साथ युक्त किया है।

टीकार्थ— ***केवलदेहो***— मात्र शरीर, इसके सिवाय अन्य परिग्रह से रहित हैं। कर्तारूप वे कौन अन्य परिग्रह से रहित हैं? ***समणो***— निन्दा-प्रशंसा आदि में समान मनवाले श्रमण, अन्य परिग्रह से रहित हैं। तब फिर क्या उनका शरीर में ममत्व होता होगा? ऐसा नहीं है। ***देहे वि ममत्तरहिदपरिकम्मो***— शरीर में भी ममत्व रहित परिकर्म है।

"मैं ममत्व का त्याग करता हूँ, निर्ममत्व में उपस्थित होता हूँ। आत्मा ही मेरा आलम्बन है, शेष सभी को मैं छोड़ता हूँ।"

इसप्रकार गाथा में कहे गये क्रम से शरीर में भी ममत्व रहित हैं। ***आजुत्तो तं तवसा***— उस शरीर को तप के साथ जोड़ते हैं। क्या करके उस शरीर को तप के साथ जोड़ते हैं? ***अणिगूहिय***— नहीं छिपाकर उसे जोड़ते हैं। किसे नहीं छिपाकर जोड़ते हैं? ***अप्पणो सत्तिं***— अपनी शक्ति को नहीं छिपाकर उसे जोड़ते हैं।

इससे क्या कहा गया है?— जो कोई भी शरीर से भिन्न शेष परिग्रह को छोड़कर, शरीर में भी ममत्व रहित है, उसीप्रकार उस शरीर को तप के साथ जोड़ता है, वह नियम से युक्ताहार-विहार है॥ २५९॥

१- मूलाचार, गाथा ४५१।

अथ युक्ताहारत्वं विस्तरेणाख्याति–

एक्कं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदरं जहालद्धं ।(२२९)
चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधुमंसं ॥ २६० ॥

एक्कं खलु तं भत्तं एककाल एव खलु हि स्फुटं स भक्त आहारो युक्ताहारः । कस्मात् । एकभक्तेनैव निर्विकल्पसमाधिसहकारिकारणभूतशरीरस्थितिसंभवात् । स च कथंभूतः । *अप्पडिपुण्णोदरं* यथाशक्त्या न्यूनोदरः । *जहालद्धं* यथालब्धो, न च स्वेच्छालब्धः । *चरणं भिक्खेण* भिक्षाचरणेनैव लब्धो, न च स्वपाकेन । *दिवा* दिवैव, न च रात्रौ । *ण रसावेक्खं* रसापेक्षो न भवति, किंतु सरसविरसादौ समचित्तः । *ण मुधुमंसं* अमधुमांसः, अमधुमांस इत्युपलक्षणेन आचारशास्त्रकथितपिण्डशुद्धिक्रमेण समस्तायोग्याहाररहित इति ।

एतावता किमुक्तं भवति । एवंविशिष्टविशेषणयुक्त एवाहारस्तपोधनानां युक्ताहारः । कस्मादिति चेत् । चिदानन्दैकलक्षणनिश्चयप्राणरक्षणभूता रागादिविकल्पोपाधिरहिता या तु निश्चयनयेनाहिंसा, तत्साधकरूपा बहिरंगपरजीवप्राणव्यपरोपणनिवृत्तिरूपा द्रव्याहिंसा च,-सा द्विविधापि तत्र युक्ताहारे संभवति । यस्तु तद्विपरीतः स युक्ताहारो न भवति । कस्मादिति चेत् । तद्विलक्षणभूताया द्रव्यभावरूपाया हिंसायाः सद्भावादिति ॥ २६० ॥

अब, युक्ताहारत्व को विस्तार से प्रसिद्ध करते हैं–

है एक बार आहार, ऊनोदर यथा-उपलब्ध है ।
भिक्षाचरण से मांस-मधु बिन,दिवस रस-निरपेक्ष है ॥ २६० ॥

गाथार्थ– वास्तव में वह भोजन एक बार, ऊनोदर, यथाउपलब्ध (जैसा प्राप्त हो वैसा), भिक्षाचरण से, दिन में, रस की अपेक्षा से रहित और मधु-मांस रहित होता है ।

टीकार्थ– ***एक्कं खलु तं भत्तं***– वास्तव में एक काल ही भोजन–एक बार ही किया गया आहार युक्ताहार है । एक बार ही किया गया आहार युक्ताहार क्यों है ? एक बार किये गये आहार से ही, विकल्प रहित समाधि–स्वरूप-लीनता के सहकारी कारणभूत शरीर की स्थिति संभव होने से, एक बार ही किया गया आहार युक्ताहार है । और वह आहार कैसा है ? ***अप्पडिपुण्णोदरं***– शक्ति के अनुसार भूख से कम ऊनोदर रूप है । ***जहालद्धं***– जैसा मिल जाय वैसा है, अपनी इच्छा से प्राप्त नहीं है । ***चरणं भिक्खेण*** - भिक्षाचरण से ही प्राप्त है, अपने द्वारा पकाया गया नहीं है । ***दिवा***– दिन में ही किया गया है, रात में नहीं किया गया है । ***ण रसावेक्खं***– उसमें रसों की अपेक्षा नहीं है, वरन् रस सहित अथवा रस रहित आहार में समान मन है । ***ण मधुमंसं***– शहद-मांस से रहित है; मधु-मांस से रहित है– इसका अर्थ उपलक्षण से आचार शास्त्र (चरणानुयोग) में कही गई पिण्ड (भोजन) शुद्धि के क्रम से सम्पूर्ण अयोग्य आहार से रहित है ।

इससे क्या कहा गया है ? इसप्रकार इन विशिष्ट विशेषणों से सहित ही आहार, मुनिराजों का युक्ताहार है । ऐसा आहार ही युक्ताहार क्यों है ? यदि ऐसा प्रश्न हो तो कहते हैं– ज्ञानानन्द एक लक्षण निश्चय प्राणों की रक्षा स्वरूप, रागादि विकल्पों की उपाधि (संयोग) से रहित जो निश्चय नय से अहिंसा है और उसकी साधकरूप बाह्य में दूसरे जीवों के प्राणों के घात के त्यागरूप द्रव्य अहिंसा है; वह दोनों प्रकार की अहिंसा इस युक्ताहार में ही संभव है ; अतः ऐसा आहार ही युक्ताहार है । इससे विपरीत जो आहार है, वह युक्ताहार नहीं है । इससे विपरीत आहार युक्ताहार क्यों नहीं है ? यदि ऐसा प्रश्न हो तो कहते हैं– इससे विरुद्ध आहार में, द्रव्य-भावरूप हिंसा का सद्भाव होने से, वह युक्ताहार नहीं है ॥ २६० ॥

अथ विशेषेण मांसदूषणं कथयति—

पक्केसु अ आमेसु अ विपच्चमाणासु मंसपेसीसु।
संतत्तियमुववादो तज्जादीणं णिगोदाणं॥ २६१॥
जो पक्कमपक्कं वा पेसीं मंसस्स खादि फासदि वा।
सो किल णिहणदि पिंडं जीवाणमणेगकोडीणं॥ २६२॥ जुम्मं॥

भणित इत्यध्याहारः। स कः। *उववादो* व्यवहारनयेनोत्पादः। किंविशिष्टः। *संतत्तियं* सान्ततिको निरन्तरः। केषां संबन्धी। *णिगोदाणं* निश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावानामनादिनिधनत्वेनोत्पादव्ययरहितानामपि निगोदजीवानाम्। पुनरपि कथंभूतानाम्। *तज्जादीणं* तद्वर्णतद्गन्धतद्रसतत्स्पर्शत्वेन तज्जातीनां मांसजातीनाम्। कास्वधिकरणभूतासु। *मंसपेसीसु* मांसपेशीषु मांसखण्डेषु। कथंभूतासु। *पक्केसु अ आमेसु अ विपच्चमाणासु* पक्वासु चामासु च विपच्यमानास्विति प्रथमगाथा।

अब, विशेष रूप से मांस के दोष कहते हैं—

पक्के व कच्चे,हुये पकते मांस खण्डों में सदा।
उस जाति के नीगोदिया उत्पन्न होते हैं सदा॥ २६१॥
खाता व छूता जो पके बिन पके मांस के खण्ड को।
वह मारता जीवों के निश्चित नेक कोटि समूह को॥ २६२॥

गाथार्थ— पके, कच्चे अथवा पकते हुये मांस के टुकड़ों में,उसी जाति के निगोदिया जीव हमेशा उत्पन्न होते रहते हैं।

जो पके अथवा बिना पके मांस के टुकड़ों को खाता है अथवा स्पर्श करता है,वह वास्तव में अनेक करोड़ जीवों के समूह का घात करता है।[१]

टीकार्थ— ***भणितः*** यह क्रिया अध्याहार है— ऊपर से ली गई है। कहा गया है। वह क्या कहा गया है ? ***उववादो***— व्यवहारनय से उत्पाद कहा गया है। वह उत्पाद (जन्म) किस विशेषता वाला है ? ***संतत्तियं***— वह जन्म सतत—निरन्तर—हमेशा कहा गया है। किनका जन्म हमेशा कहा गया है ? ***णिगोदाणं***- अनादि - अनन्त होने के कारण उत्पाद-व्यय से रहित,निश्चय से शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावी होते हुए भी,निगोद जीवों का हमेशा जन्म कहा गया है। और किनका जन्म कहा गया है ? ***तज्जादीणं***— उसी रंग,उसी गन्ध,उसी रस और उसी स्पर्श वाले होने से उसी जाति के अर्थात् मांस की जाति के जीवों का,जन्म कहा गया है। किन आधारों में उनका जन्म कहा गया है ? ***मंसपेसीसु***— मांस के टुकड़ों में उनका जन्म कहा गया है। कैसे मांस के टुकड़ों में,उनका जन्म कहा गया है ? ***पक्केसु अ आमेसु अ विपच्चमाणासु***— पके, कच्चे और पकते हुये मांस के टुकडों में,उनका जन्म कहा गया है— इसप्रकार पहली गाथा पूर्ण हुई।

१- 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' पद्य ६७-६८ द्वारा इन गाथाओं को संस्कृत में निबद्ध किया है।

जो पक्कमपक्कं वा यः कर्ता पक्वामपक्वां वा *पेसी* पेशीं खण्डम्। कस्य। *मंसस्स* मांसस्य। *खादि* निजशुद्धात्मभावनोत्पन्नसुखसुधाहारमलभमानः सन् खादति भक्षति, *फासदि वा* स्पर्शति वा, *सो किल णिहणदि पिंडं* स कर्ता किल लोकोक्त्या परमागमोक्त्या वा निहन्ति पिण्डम्। केषाम्। *जीवाणं* जीवानाम्। कतिसंख्योपेतानाम्। *अणेगकोडीणं* अनेककोटीनामिति।

अत्रेदमुक्तं भवति– शेषकन्द-मूलाद्याहाराः केचनानन्तकाया अप्यग्निपक्वाः सन्तः प्रासुका भवन्ति, मांसं पुनरनन्तकायं भवति तथैव चाग्निपक्वमपक्वं पच्यमानं वा प्रासुकं न भवति। तेन कारणेनाभोज्यमभक्षणीयमिति ॥ २६१ ॥

अथ पाणिगताहारः प्रासुकोऽप्यन्यस्मै न दातव्य इत्युपदिशति–

अप्पडिकुट्ठं पिंडं पाणिगयं णेव देयमण्णस्स।
दत्ता भोत्तुमजोग्गं भुत्तो वा होदि पडिकुट्ठो ॥ २६३ ॥

जो पक्कमपक्कं वा– कर्तारूप जो,पके अथवा बिना पके *पेसी*- टुकड़ों को। किसके टुकडों को ? *मंसस्स*– मांस के टुकडों को। *खादि*– अपने शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न सुखरूपी सुधाहार—अमृत-भोजन को नहीं पाता हुआ खाता है— भक्षण करता है, **फासदि वा**- अथवा छूता है, ***सो किल णिहणदि पिंडं***– कर्तारूप वह,वास्तव में लौकिक कथन से अथवा परमागम के कथन से समूह को नष्ट करता है। किनके समूह को नष्ट करता है ? *जीवाणं*– जीवों के समूह को नष्ट करता है। कितनी संख्यावाले जीवों के समूह को नष्ट करता है ? *अणेगकोडीणं*– अनेक करोड़ों जीवों के समूह को नष्ट करता है।

यहाँ यह कहा गया है— शेष कन्द-मूल[१] आदि आहार, कुछ अनन्तकाय भी अग्नि से पकाये जाने पर प्रासुक हो जाते हैं; परन्तु मांस अनन्तकाय है और उसीप्रकार अग्नि से पका, बिना पका तथा पकता हुआ भी प्रासुक नहीं होता है। उस कारण अभोज्य—अभक्ष्य अर्थात् खाने योग्य नहीं है ॥ २६१-२६२ ॥

अब, हाथ में आया हुआ प्रासुक आहार भी दूसरों को नहीं देना चाहिये, ऐसा उपदेश देते हैं—

हो अन्न अप्रतिकृष्ट पाणीगत न अन्य को देय है।
देकर न भोजन योग्य वह भोजन करे प्रतिकृष्ट है ॥ २६३ ॥

गाथार्थ– हाथ में आया हुआ आगम से अविरुद्ध आहार दूसरों को नहीं देना चाहिये, देकर वह भोजन करने योग्य नहीं रहता, फिर भी यदि वह भोजन करता है, तो प्रायश्चित्त के योग्य है।

१- यहाँ कन्द-मूल का अर्थ जमीकन्द विवक्षित नहीं है,वरन् कन्द और मूल दोनों पृथक्-पृथक् हैं;एक वनस्पती–वृक्ष के अंश तथा प्रत्येक वनस्पती के भेद हैं। एतदर्थ देखिये– सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका,प्रथमभाग जीवकाण्ड गाथा १८९-१९०।

विशेष स्पष्टीकरणार्थ देखिये 'सम्मति सन्देश' सन् १९८५ मई,सितम्बर,अक्टूबर अंक में प्रकाशित 'कन्दमूल और भक्ष्याभक्ष्यता' निबन्ध।

अप्पडिकुट्ठं पिंडं पाणिगयं णेव देयमण्णस्स अप्रतिकृष्ट आगमाविरुद्ध आहारः पाणिगतो हस्तगतो नैव देयो, न दातव्योऽन्यस्मै। *दत्ता भोत्तुमजोग्गं* दत्वा पश्चाद्भोक्तुमयोग्यं, *भुत्तो वा होदि पडिकुट्ठो* कथंचित् भुक्तो वा, भोजनं कृतवान्, तर्हि प्रतिकृष्टो भवति, प्रायश्चित्तयोग्यो भवतीति।

अयमत्र भावः – हस्तगताहारं योऽसावन्यस्मै न ददाति तस्य निर्मोहात्मतत्त्वभावनारूपं निर्मोहत्वं ज्ञायत इति॥ २६३॥

अथ निश्चयव्यवहारसंज्ञयोरुत्सर्गापवादयोः कथंचित्परस्परसापेक्षभावं स्थापयन् चारित्रस्य रक्षां दर्शयति –

बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा। (२३०)

चरियं चरदु सजोग्गं मूलच्छेदो जधा ण हवदि॥२६४॥

चरदु चरतु, आचरतु। किम्। *चरियं* चारित्रमनुष्ठानम्। कथंभूतम्। *सजोग्गं* स्वयोग्यं, स्वकीयावस्थायोग्यम्। कथं यथा भवति। *मूलच्छेदो जधा ण हवदि* मूलच्छेदो यथा न भवति। स कः कर्ता चरति। *बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा* बालो वा, वृद्धो वा, श्रमेणाभिहतः पीडितः श्रमाभिहतो वा, ग्लानो व्याधिस्थो वेति।

टीकार्थ– ***अप्पडिकुट्ठं पिंडं पाणिगयं णेव देयमण्णस्स***– आगम से अविरुद्ध—निर्दोष, हाथ में आया हुआ आहार, देने योग्य नहीं है— दूसरों को नहीं देना चाहिये। ***दत्ता भोत्तुमजोग्गं***– देने के बाद, भोजन के लिये अयोग्य है; ***भुत्तो वा होदि पडिकुट्ठो***– अथवा कथंचित् भुक्त है, (ऐसा मानकर) भोजन करता है तो प्रतिकृष्ट है— प्रायश्चित्त के योग्य है।

यहाँ भाव यह है— जो वह, हाथ में आया हुआ आहार दूसरों को नहीं देता है, उससे मोह रहित आत्मतत्त्व की भावनारूप मोह रहितता—वीतरागता ज्ञात होती है॥ २६३॥

अब, निश्चय व्यवहार नामक उत्सर्ग और अपवाद में कथंचित् परस्पर सापेक्षभाव को स्थापित करते हुये, चारित्र की रक्षा को दिखाते हैं—

हों बाल, वृद्ध थकित व रोगी मुनी अपने योग्य है।

हो मूल जैसे नष्ट न वैसी ही चर्या आचरें॥ २६४॥

गाथार्थ– बाल, वृद्ध, थके हुये अथवा ग्लान—रोगी श्रमण, मूल का छेद जैसे न हो, उसप्रकार अपने योग्य आचरण करें।

टीकार्थ– ***चरदु***– चलें—आचरण करें। क्या (किसका) आचरण करें ? ***चरियं***– चारित्र, अनुष्ठान का आचरण करें। कैसे चारित्र का आचरण करें ? ***सजोग्गं***– अपने योग्य अपनी अवस्था के योग्य चारित्र का आचरण करें। कैसा जैसे होता है (जिसप्रकार क्या नहीं हो) ? ***मूलच्छेदो जधा ण हवदि***– मूल का छेद जैसे न हो, वैसे अपने योग्य चारित्र का आचरण करें। कर्तारूप वे कौन आचरण करें ? ***बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा***– बालक अथवा वृद्ध अथवा श्रम से पीड़ित—श्रम-पीड़ित (इसप्रकार तृतीया तत्पुरुष समास किया है) अथवा ग्लान—व्याधि में स्थित—बीमार—रोगी ऐसा आचरण करें।

तद्यथा– उत्सर्गापवादलक्षणं कथ्यते तावत्। स्वशुद्धात्मनः सकाशादन्यद्बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरूपं सर्वं त्याज्यमित्युत्सर्गो निश्चयनयः सर्वपरित्यागःपरमोपेक्षासंयमो वीतरागचारित्रं शुद्धोपयोग इति यावदेकार्थः। तत्रासमर्थः पुरुषः शुद्धात्मभावनासहकारिभूतं किमपि प्रासुकाहारज्ञानोपकरणादिकं गृह्णातीत्यपवादो व्यवहारनय एकदेशपरित्यागः तथाचापहृतसंयमः सरागचारित्रं शुभोपयोग इति यावदेकार्थः।

तत्र शुद्धात्मभावनानिमित्तं सर्वत्यागलक्षणोत्सर्गे दुर्धरानुष्ठाने प्रवर्तमानस्तपोधनः शुद्धात्मतत्त्व-साधकत्वेन मूलभूतसंयमस्य संयमसाधकत्वेन मूलभूतशरीरस्य वा यथा छेदो विनाशो न भवति तथा किमपि प्रासुकाहारादिकं गृह्णातीत्यपवादसापेक्ष उत्सर्गो भण्यते। यदा पुनरपवादलक्षणेऽपहृतसंयमे प्रवर्तते तदापि शुद्धात्मतत्त्वसाधकत्वेन मूलभूतसंयमस्य संयमसाधकत्वेन मूलभूतशरीरस्य वा यथोच्छेदो विनाशो न भवति तथोत्सर्गसापेक्षत्वेन प्रवर्तते। तथा प्रवर्तत इति कोऽर्थः। यथा संयमविराधना न भवति तथेत्युत्सर्गसापेक्षोऽप-वाद इत्यभिप्रायः ॥ २६४ ॥

वह इसप्रकार– सबसे पहले उत्सर्ग और अपवाद का लक्षण कहते हैं– अपने शुद्धात्मा से भिन्न बहिरंग-अन्तरंग रूप सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग उत्सर्ग है। उत्सर्ग, निश्चयनय, सभी का पूर्णता त्याग, परम उपेक्षा संयम, वीतराग चारित्र, शुद्धोपयोग–ये सभी एकार्थ हैं– एक ही भाव के द्योतक हैं। उसमें असमर्थ पुरुष शुद्धात्मा की भावना के सहकारी–कारणभूत कुछ प्रासुक आहार, ज्ञान के उपकरण आदि ग्रहण करता है– वह अपवाद है ; अपवाद, व्यवहारनय, एकदेश परित्याग और उसीप्रकार अपहृत संयम, सरागचारित्र, शुभोपयोग– ये सभी एकार्थ हैं।

वहाँ,शुद्धात्मा की भावना के निमित्त,सम्पूर्ण त्याग लक्षण उत्सर्गरूप दुर्धर अनुष्ठान में प्रवृत्ति करनेवाले मुनिराज,शुद्धात्म तत्त्व का साधक होने से मूलभूत संयम का अथवा संयम का साधक होने से मूलभूत शरीर का जैसे छेद विनाश नहीं होता है, वैसे कुछ प्रासुक आहार आदि को ग्रहण करते हैं– इस प्रकार अपवाद सापेक्ष उत्सर्ग कहा गया है। और जब अपवाद लक्षण अपहृत संयम में प्रवृत्त होते हैं, तब भी शुद्धात्म तत्त्व का साधक होने से मूलभूत संयम का अथवा संयम का साधक होने से मूलभूत शरीर का जैसे उच्छेद– विनाश नहीं होता है, वैसे उत्सर्ग की सापेक्षता से प्रवृत्ति करते हैं। वैसी प्रवृत्ति करते हैं– इसका क्या अर्थ है ? जिस प्रकार संयम की विराधना नहीं होती है,वैसी प्रवृत्ति करते हैं– यह इसका अर्थ है ; इसप्रकार उत्सर्ग सापेक्ष अपवाद है– ऐसा अभिप्राय है।

विशेषार्थ– इस गाथा -टीका में 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने "शुद्धात्मतत्त्व के साधनभूत संयम का छेद नहीं करनेवाले अपने योग्य अति कर्कश आचरण को उत्सर्ग तथा उस संयम के साधनभूत शरीर का छेद न करनेवाले अपने योग्य मृदु आचरण को अपवाद कहा है।

इसीप्रकार शुद्धात्मतत्त्व के साधनभूत संयम का छेद न करनेवाले,अपने योग्य अति कर्कश आचरण आचरते हुये,उस संयम के साधनभूत शरीर का नाश न करनेवाले,अपने योग्य मृदु आचरण को अपवाद सापेक्ष उत्सर्ग; तथा उस संयम के साधनभूत शरीर का छेद न करनेवाले,अपने योग्य मृदु आचरण आचरते हुये,शुद्धात्मतत्त्व के साधनभूत संयम का नाश न करनेवाले,अपने योग्य अतिकर्कश आचरण को उत्सर्ग सापेक्ष अपवाद कहा है।"

अन्त में निष्कर्ष देते हुये लिखते हैं–

"अतः हमेशा उत्सर्ग और अपवाद की मैत्री से आचरण की सुस्थिततता करना चाहिये।" * ॥ २६४ ॥

* प्रवचनसार,गाथा २३०, तत्त्वप्रदीपिका टीका।

अथापवादनिरपेक्षमुत्सर्गं तथैवोत्सर्गनिरपेक्षमपवादं च निषेधयंश्चारित्ररक्षणाय व्यतिरेकद्वारेण, तमेवार्थं दृढयति–

आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं।(२३१)

जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो॥ २६५॥

वट्टदि वर्तते प्रवर्तते। स कः कर्ता। *समणो* शत्रुमित्रादिसमचित्तः श्रमणः। यदि किम्। *जदि अप्पलेवी सो* यदि चेदल्पलेपी स्तोकसावद्यो भवति। कयोर्विषयोर्वर्तते। *आहारे व विहारे* तपोधनयोग्याहारविहारयोः। किं कृत्वा पूर्वं। *जाणित्ता* ज्ञात्वा। कान्। *ते* तान् कर्मतापन्नान्, *देसं कालं समं खमं उवधिं* देशं, कालं, मार्गादिश्रमं, क्षमां क्षमतामुपवासादिविषये शक्तिं, उपधिं बालवृद्धश्रान्तग्लानसंबन्धिनं शरीरमात्रोपधिं परिग्रहमिति पंच देशादीन् तपोधनाचरणसहकारिभूतानिति।

तथाहि– पूर्वकथितक्रमेण तावद्दुर्धरानुष्ठानरूपोत्सर्गे वर्तते ; तत्र च प्रासुकाहारादिग्रहणनिमित्तमल्पलेपं दृष्ट्वा यदि न प्रवर्तते तदा आर्तध्यानसंक्लेशेन शरीरत्यागं कृत्वा पूर्वकृतपुण्येन देवलोके समुत्पद्यते। तत्र संयमाभावान्महान् लेपो भवति। ततः कारणादपवादनिरपेक्षमुत्सर्गं त्यजति, शुद्धात्मभावनासाधकमल्पलेपं बहुलाभमपवादसापेक्षमुत्सर्गं स्वीकरोति।

अब, अपवाद निरपेक्ष उत्सर्ग और उसीप्रकार उत्सर्ग निरपेक्ष अपवाद का निषेध करते हुये,चारित्र की रक्षा के लिये व्यतिरेक द्वार से (नास्तिपरक शैली में),उसी अर्थ को दृढ़ करते हैं—

आहार में व विहार में मुनि देशकाल व उपधि को।

श्रम और क्षमता जानकर वर्ते तो थोड़ा लेप हो॥ २६५॥

गाथार्थ– आहार अथवा विहार में यदि मुनिराज,उन देश, काल, श्रम, क्षमता, उपधि को जानकर प्रवृत्ति करते हैं; तो वे अल्पलेपी होते हैं।

टीकार्थ– ***वट्टदि***– वर्तते हैं— प्रवृत्त होते हैं। वे कर्तारूप कौन वर्तते हैं ? ***समणो***– शत्रु-मित्र आदि में समान मनवाले श्रमण—मुनिराज वर्तते हैं। यदि वे वर्तते हैं तो क्या होता है ? ***जदि अप्पलेवी सो***– यदि वर्तते हैं तो अल्पलेपी–थोड़ा पाप होता है। किन विषयों में वर्तते हैं ? ***आहारे व विहारे***– मुनिराज के योग्य आहार व विहार में वर्तते हैं। पहले क्या करके वर्तते हैं ? ***जाणित्ता***– पहले जानकर वर्तते हैं। किन्हें जानकर वर्तते हैं ? ***ते***- उन कर्मता को प्राप्त (कर्मकारक में प्रयुक्त) ***देसं कालं समं खमं उवधिं***– देश, काल, मार्ग आदि सम्बन्धी श्रम, क्षमा–क्षमता,उपवास आदि के विषय में शक्ति को, उपधि–बालक-वृद्ध-थके हुये-रोगी के शरीर मात्र उपधि—परिग्रह को— इसप्रकार मुनिराज के आचरण के सहकारीभूत,देश आदि पाँचों को जानकर आहार-विहार में वर्तते हैं।

वह इसप्रकार— पहले (२६४वीं गाथा में) कहे गये क्रम से,पहले दुर्धर अनुष्ठानरूप उत्सर्ग में वर्तते हैं, और वहाँ प्रासुक आहार आदि ग्रहण करने के निमित्त से अल्पलेप—थोड़े बन्ध को देखकर,यदि उनमें नहीं प्रवर्तते हैं, तो आर्तध्यानरूप संक्लेश द्वारा शरीर का त्याग करके,पहले किये गये पुण्य से,देवलोक में उत्पन्न होते हैं। वहाँ संयम का अभाव होने से,महान लेप (अधिक बन्ध) होता है। इस कारण अपवाद निरपेक्ष उत्सर्ग छोड़ देते हैं और शुद्धात्मा की भावना का साधक थोड़ालेप बहुत लाभरूप अपवाद सापेक्ष उत्सर्ग स्वीकार करते हैं।

तथैव च पूर्वसूत्रोक्तक्रमेणापहृतसंयमशब्दवाच्येऽपवादे प्रवर्तते ; तत्र च प्रवर्तमानः सन् यदि कथंचिदौषधपथ्यादिसावद्यभयेन व्याधिव्यथादिप्रतीकारमकृत्वा शुद्धात्मभावनां न करोति तर्हि महान् लेपो भवति ; अथवा प्रतीकारे प्रवर्तमानोऽपि हरीतकीव्याजेन गुडभक्षणवदिन्द्रियसुखलाम्पट्येन संयमविराधनां करोति तदापि महान् लेपो भवति । ततः कारणादुत्सर्गनिरपेक्षमपवादं त्यक्त्वा शुद्धात्मभावनारूपं शुभोपयोगरूपं वा संयममविराधयन्नौषधपथ्यादिनिमित्तोत्पन्नाल्पसावद्यमपि बहुगुणराशिमुत्सर्गसापेक्षमपवादं स्वीकरोतीत्यभिप्रायः ॥ २६५ ॥

एवं 'उवयरणं जिणमग्गे' इत्याद्येकादशगाथाभिरपवादस्य विशेषविवरणरूपेण चतुर्थस्थलं व्याख्यातम् ।

इति पूर्वोक्तक्रमेण *'ण हि णिरवेक्खो चागो'* इत्यादित्रिंशद्गाथाभिः स्थलचतुष्टयेनापवादनामा द्वितीयान्तराधिकारः समाप्तः ।

अतः परं चतुर्दशगाथापर्यन्तं श्रामण्यापरनामा मोक्षमार्गाधिकारः कथ्यते । तत्र चत्वारि स्थलानि भवन्ति । तेषु प्रथमतः आगमाभ्यासमुख्यत्वेन *'एयग्गगदो समणो'* इत्यादि यथाक्रमेण प्रथमस्थले गाथाचतुष्टयम् । तदनन्तरं भेदाभेदरत्नत्रयस्वरूपमेव मोक्षमार्ग इति व्याख्यानरूपेण *'आगमपुव्वा दिट्ठी'* इत्यादि द्वितीयस्थले सूत्रचतुष्टयम् । अतः परं द्रव्यभावसंयमकथनरूपेण *'चागो य अणारंभो'* इत्यादि तृतीयस्थले गाथाचतुष्टयम् । तदनन्तरं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गोपसंहारमुख्यत्वेन *'मुज्झदि वा'* इत्यादि चतुर्थस्थले गाथाद्वयम् ।

एवं स्थलचतुष्टयेन तृतीयान्तराधिकारे समुदायपातनिका ।

और उसीप्रकार पहले (२६४वीं) गाथा में कहे गये क्रम से, अपहृत संयम शब्द से कहने योग्य अपवाद में प्रवृत्त होते हैं और वहाँ प्रवर्तते हुये, यदि कथंचित् औषध-पथ्य आदि सावद्य—पाप के भय से रोग सम्बन्धी कष्ट का प्रतिकार—निराकरण नहीं करके, शुद्धात्मतत्त्व की भावना नहीं करते हैं, तो महान लेप होता है; अथवा यदि प्रतिकार में प्रवृत्त होते हुये भी, हरीतकी (हरड़) के ब्याज से—बहाने गुड़ खाने के समान इन्द्रिय - सुख की लम्पटता—आसक्ति से संयम की विराधना करते हैं, तो भी महान लेप होता है । इस कारण उत्सर्ग निरपेक्ष अपवाद छोड़कर, शुद्धात्मा की भावनारूप अथवा शुभोपयोगरूप संयम की विराधना नहीं करते हुये, औषध-पथ्य आदि के कारण उत्पन्न अल्प पाप होते हुये भी, बहुगुण राशिरूप उत्सर्ग की सापेक्षतावाला अपवाद स्वीकार करते हैं— ऐसा अभिप्राय है ॥ २६५ ॥

इसप्रकार *'उवयरणं जिणमग्गे'*– इत्यादि ग्यारह गाथाओं द्वारा अपवाद के विशेष कथनरूप से चौथे स्थल का व्याख्यान पूर्ण हुआ ।

इसप्रकार पहले कहे गये क्रम से *'ण हि णिरवेक्खो चागो'*– इत्यादि तीस गाथाओं द्वारा चार स्थलरूप से अपवाद नामक दूसरा अन्तराधिकार समाप्त हुआ ।

इसके आगे चौदह गाथाओं तक, श्रामण्य दूसरा नाम मोक्षमार्ग नामक तीसरा अन्तराधिकार कहते हैं । वहाँ चार स्थल हैं । उनमें सबसे पहले, आगम-अभ्यास की मुख्यता से *'एयग्गगदो समणो–'* इत्यादि यथाक्रम से, पहले स्थल में चार गाथायें हैं । तदुपरान्त भेदाभेद रत्नत्रय स्वरूप ही मोक्षमार्ग है— इस व्याख्यानरूप से *'आगमपुव्वा दिट्ठी–'* इत्यादि दूसरे स्थल में, चार गाथायें हैं । तदुपरान्त द्रव्य-भाव संयम कथनरूप से *"चागो य अणारंभो–"* इत्यादि तीसरे स्थल में, चार गाथायें हैं । तत्पश्चात् निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग के उपसंहार की मुख्यता से *'मुज्झदि वा–'* इत्यादि चौथे स्थल में, दो गाथायें हैं ।

इसप्रकार चार स्थलों द्वारा तीसरे अन्तराधिकार में सामूहिक पातनिका हुई ।

तद्यथा-

अथैकाग्र्यगतः श्रमणो भवति। तच्चैकाग्र्यमागमपरिज्ञानादेव भवतीति प्रकाशयति-

एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु। (२३२)

णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा॥ २६६॥

एयग्गगदो समणो ऐकाग्र्यगतः श्रमणो भवति। अत्रायमर्थः- जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसमस्तद्रव्यगुण-पर्यायैकसमयपरिच्छित्तिसमर्थसकलविमलकेवलज्ञानलक्षणनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूप-मैकाग्र्यं भण्यते। तत्र गतस्तन्मयत्वेन परिणतः श्रमणो भवति। *एयग्गं णिच्छिदस्स* ऐकाग्र्यं पुनर्निश्चितस्य

तृतीय अन्तराधिकार का स्थल विभाजन (गाथा २६६ से २७९ पर्यन्त)

स्थल क्रम	स्थल प्रतिपादित प्रधान विषय	कहाँ से कहाँ पर्यन्त गाथायें	कुल गाथायें
प्रथम स्थल	आगमाभ्यास की मुख्यता	२६६ से २६९	४
द्वितीय स्थल	भेदाभेद रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग	२७० से २७३	४
तृतीय स्थल	द्रव्य- भाव संयम कथन	२७४ से २७७	४
चतुर्थ स्थल	निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग के उपसंहार की मुख्यता	२७८ व २७९	२
कुल चार स्थल		कुल १४ गाथायें	

(अब, मोक्षमार्ग नामक तीसरे अन्तराधिकार का,चार गाथाओं में निबद्ध पहला स्थल प्रारम्भ होता है।)

वह इसप्रकार-

अब, श्रमण एकाग्रता को प्राप्त है। और वह एकाग्रता आगम के परिज्ञान से ही होती है, ऐसा प्रकाशित करते हैं-

ऐकाग्र्यगत हैं श्रमण,वह अर्थों में निश्चयवान के।

निश्चित्ति आगम से अतः आगम में चेष्टा श्रेष्ठ है॥ २६६॥

गाथार्थ- एकाग्रता को प्राप्त श्रमण हैं, एकाग्रता पदार्थों के निश्चयवान के होती है, पदार्थों का निश्चय आगम से होता है; इसलिये आगम में व्यापार मुख्य है।

टीकार्थ- ***एयग्गगदो समणो-*** एकाग्रता को प्राप्त श्रमण हैं। यहाँ अर्थ यह है- तीन लोक - तीन कालवर्ती सम्पूर्ण द्रव्य-गुण-पर्यायों को एक काल में जानने में समर्थ परिपूर्ण निर्मल केवलज्ञान लक्षण अपने परमात्मतत्त्व की सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप दशा एकाग्रता कहलाती है। उस दशा को प्राप्त अर्थात् तन्मयरूप से परिणत श्रमण-मुनिराज हैं। ***एयग्गं णिच्छिदस्स-*** और एकाग्रता निश्चित के होती है। किनमें

भवति। केषु। *अत्थेसु* टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावो योऽसौ परमात्मपदार्थस्तत्प्रभृतिष्वर्थेषु। *णिच्छित्ती आगमदो* सा च पदार्थनिश्चित्तिरागमतो भवति।

तथाहि– जीवभेदकर्मभेदप्रतिपादकागमाभ्यासाद्भवति, न केवलमागमाभ्यासात्तथैवागमपदसारभूताच्चिदानन्दैकपरमात्मतत्त्वप्रकाशकादध्यात्माभिधानात्परमागमाच्च पदार्थपरिच्छित्तिर्भवति। *आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा* ततः कारणादेवमुक्तलक्षणागमे परमागमे च चेष्टा प्रवृत्तिः ज्येष्ठा श्रेष्ठा प्रशस्येत्यर्थः।। २६६ ।।

अथागमपरिज्ञानहीनस्य कर्मक्षपणं न भवतीति प्ररूपयति–

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।(२३३)

अविजाणंतो अत्थे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू।। २६७ ।।

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि आगमहीनः श्रमणो नैवात्मानं परं वा विजानाति ; *अविजाणंतो अट्ठे* अविजानन्नर्थान्परमात्मादिपदार्थान् *खवेदि कम्माणि किध भिक्खू* क्षपयति कर्माणि कथं भिक्षुः, न कथमपि इति।

निश्चित के एकाग्रता होती है ? *अत्थेसु*– टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभाव जो वह परमात्मपदार्थ—तत्प्रभृति पदार्थों में निश्चित के—पदार्थों के सम्बन्ध में निश्चित बुद्धिवाले के एकाग्रता होती है। *णिच्छित्ती आगमदो*– और वह पदार्थों में निश्चित बुद्धि आगम से होती है।

वह इसप्रकार— जीव भेद, कर्म भेद का प्रतिपादन करनेवाले आगम के अभ्यास से होती है, मात्र आगम के अभ्यास से नहीं, वरन् उसीप्रकार आगमपद के सारभूत ज्ञानानन्द एक परमात्मतत्त्व को प्रकाशित करनेवाला—बतानेवाला होने से अध्यात्म नामक परमागम से, पदार्थों की जानकारी होती है। *आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा*– इस कारण ही कहे गये लक्षण वाले आगम और परमागम में चेष्टा, प्रवृत्ति ज्येष्ठ—श्रेष्ठ—प्रशस्य—श्रेयस्कर है— ऐसा अर्थ है[१] ।। २६६ ।।

अब, आगम के परिज्ञान से हीन के कर्मों का क्षय नहीं होता है, ऐसा प्ररूपित करते हैं–

जो श्रमण आगमहीन वे ही स्व पर को न जानते।

तो कर्मक्षय कैसे करें वे अर्थ को न जानते।। २६७ ।।

गाथार्थ– आगम से हीन श्रमण, स्वयं को और पर को ही नहीं जानता है, पदार्थों को नहीं जानता हुआ भिक्षु (श्रमण), कर्मों का क्षय कैसे कर सकता है ?

टीकार्थ– ***आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि***– आगमहीन श्रमण, स्वयं को तथा पर को ही नहीं जानता है, ***अविजाणंतो अट्ठे***- अर्थों—परमात्मा आदि पदार्थों को नहीं जानता हुआ ***खवेदि कम्माणि किध भिक्खू***– भिक्षु, कर्मों का क्षय कैसे कर सकता है ? किसी भी प्रकार नहीं कर सकता है।

१- इस गाथा-टीका में 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने चित्त की व्यग्रता नष्ट करने के एकमात्र उपाय, आगम-सेवन को विस्तृत शैली से सहेतुक स्पष्ट किया है, जो मूलतः पठनीय है ॥ प्रवचनसार, गाथा २३२, तत्त्वप्रदीपिका टीका ॥

इतो विस्तरः– *"गुणजीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य।*
उवओगोवि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिदा।"[1]

इति गाथाकथिताद्यागममजानन्, तथैव

"भिण्णउ जेण ण जाणियउ णियदेहहं परमत्थु।
सो अंधउ अवरहं अंधयह किम दरिसावइ पंथु॥"[2]

इति दोहकसूत्रकथिताद्यागमपदसारभूतमध्यात्मशास्त्रं चाजानन् पुरुषो रागादिदोषरहिताव्याबाधसुखादिगुणस्वरूपनिजात्मद्रव्यस्य भावकर्मशब्दाभिधेयै रागादिनानाविकल्पजालैर्निश्चयेन कर्मभिः सह भेदं न जानाति, तथैव कर्मारिविध्वंसकस्वकीयपरमात्मतत्त्वस्य ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मभिरपि सह पृथक्त्वं न वेत्ति, तथा चाशरीरलक्षणशुद्धात्मपदार्थस्य शरीरादिनोकर्मभिः सहान्यत्वं न जानाति।

इत्थंभूतभेदज्ञानाभावाद्देहस्थमपि निजशुद्धात्मानं न रोचते, समस्तरागादिपरिहारेण न च भावयति। ततश्च कथं कर्मक्षयो भवति, न कथमपीति। ततः कारणान्मोक्षार्थिना परमागमाभ्यास एव कर्तव्य इति तात्पर्यार्थः॥ २६७॥

यहाँ इसका विस्तार करते हैं–

"गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणायें और उपयोग– ये क्रम से बीस प्ररूपणायें कही गई हैं।"

इसप्रकार गाथा में कहे गये–इत्यादि आगम को नहीं जानता हुआ, और उसीप्रकार–

"जिसके द्वारा अपने शरीर से भिन्न अपना परमार्थ– परम पदार्थ–भगवान आत्मा नहीं जाना गया है, वह अंधा दूसरे अंधों को क्या मार्ग दिखायेगा।"

इसप्रकार दोहक गाथा में कहे गये, आगमपद के सारभूत अध्यात्मशास्त्र को नहीं जानता हुआ, पुरुष रागादि दोष रहित अव्याबाध सुखादि गुणस्वरूप अपने आत्मद्रव्य का, 'भावकर्म' शब्द द्वारा कहे जानेवाले रागादि अनेक विकल्पजालरूप कर्मों के साथ, निश्चय से भेद नहीं जानता है; उसीप्रकार कर्म-शत्रु को नष्ट करनेवाले अपने परमात्मतत्त्व का, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों के साथ भी पृथक्त्व नहीं जानता है और उसी प्रकार शरीर रहित लक्षण शुद्धात्मपदार्थ का, शरीर आदि नोकर्मों के साथ अन्यत्व नहीं जानता है।

इसप्रकार भेदज्ञान का अभाव होने से, शरीर में ही स्थित अपने शुद्धात्मा की रुचि-श्रद्धा नहीं करता है और सम्पूर्ण रागादि के त्यागरूप से, उसकी भावना नहीं करता है; इसलिये उसके कर्मों का क्षय कैसे हो सकता है? किसी भी प्रकार नहीं हो सकता है। इस कारण मोक्षार्थियों को, परमागम का अभ्यास करना चाहिये– ऐसा तात्पर्यार्थ है।

विशेषार्थ– गाथा में प्रयुक्त *'णेवप्पाणं परं वियाणादि'* वाक्यांश का अर्थ 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने अपने और पर को नहीं जानता अर्थात् परात्मज्ञान नहीं होता, तथा परमात्मा को नहीं जानता–परमात्मज्ञान नहीं होता– इसप्रकार दो रूप से किया है; तथा दोनों के अज्ञान में क्रमशः मोहादि द्रव्य-भाव कर्मों तथा ज्ञप्तिपरिवर्तन रूप कर्मों– इसप्रकार दोनों कर्मों के क्षय का अभाव सिद्ध किया है। एतदर्थ मूलतः पठनीय है[3]॥ २६७॥

१- गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा २। २- दोहा पाहुड़, गाथा १२८। ३- प्रवचनसार, गाथा २३३, तत्त्वप्रदीपिका टीका।

अथ मोक्षमार्गार्थिनामागम एव दृष्टिरित्याख्याति –

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि ।(२३४)

देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू ।। २६८ ।।

आगमचक्खू शुद्धात्मादिपदार्थप्रतिपादकपरमागमचक्षुषो भवन्ति। के ते। *साहू* निश्चयरत्नत्रयाधारेण निजशुद्धात्मसाधकाः साधवः। *इंदियचक्खूणि* निश्चयेनातीन्द्रियामूर्तकेवलज्ञानादिगुणस्वरूपाण्यपि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धवशादिन्द्रियाधीनत्वेनेन्द्रियचक्षूंषि भवन्ति। कानि कर्तृणि। *सव्वभूदाणि* सर्वभूतानि सर्वसंसारिजीवा इत्यर्थः। *देवा य ओहिचक्खू* देवा अपि च सूक्ष्ममूर्तपुद्गलद्रव्यविषयावधिचक्षुषः। *सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू* सिद्धाः पुनः शुद्धबुद्धैकस्वभावजीवलोकाकाशप्रमितशुद्धासंख्येयसर्वप्रदेशचक्षुष इति।

अनेन किमुक्तं भवति। सर्वशुद्धात्मप्रदेशे लोचनोत्पत्तिनिमित्तं परमागमोपदेशादुत्पन्नं निर्विकारं मोक्षार्थिभिः स्वसंवेदनज्ञानमेव भावनीयमिति ।। २६८ ।।

अब, मोक्षमार्ग चाहनेवालों को आगम ही दृष्टि– आँख है, ऐसा प्रसिद्ध करते हैं–

मुनिराज आगम चक्षु हैं सब प्राणि इन्द्रिय चक्षु हैं।

वा देव अवधि चक्षु हैं वा सिद्ध सर्वतः चक्षु हैं ।। २६८ ।।

गाथार्थ– साधु आगम चक्षुवाले हैं, सभी प्राणी इन्द्रिय चक्षुवाले हैं, देव अवधि चक्षुवाले हैं और सिद्ध सर्वतः चक्षुवाले हैं।

टीकार्थ– *आगमचक्खू-* शुद्धात्मा आदि पदार्थों का प्रतिपादन करनेवाले परमागमरूप नेत्रवाले हैं। परमागमरूप नेत्रवाले वे कौन हैं ? ***साहू*–** निश्चय रत्नत्रय के आधार से,अपने शुद्धात्मा की साधना करने वाले साधु,परमागमरूपी नेत्रवाले हैं। ***इंदियचक्खूणि*–** निश्चय से इन्द्रिय रहित,अमूर्त,केवलज्ञानादि गुण स्वरूप होने पर भी,व्यवहार से अनादि कर्मबन्ध के वश इन्द्रियाधीन होने के कारण,इन्द्रिय चक्षुवाले हैं। कर्तारूप कौन इन्द्रिय चक्षुवाले हैं ? ***सव्वभूदाणि*–** सभी प्राणी–सभी संसारी जीव इन्द्रिय चक्षुवाले हैं–ऐसा अर्थ है। ***देवा य ओहिचक्खू*–** और देव भी सूक्ष्म,मूर्त,पुद्गल द्रव्य को विषय करनेवाले अवधिज्ञानरूप चक्षुवाले हैं। ***सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू*–** और सिद्ध,शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावी जीव,लोकाकाश प्रमाण शुद्ध (मात्र) असंख्यात प्रदेशों में सभी प्रदेशोंरूप चक्षुवाले हैं।

इससे क्या कहा गया है ? मोक्षार्थी जीव द्वारा सम्पूर्ण शुद्ध आत्मप्रदेशों में (ज्ञानरूपी) नेत्रों की उत्पत्ति के लिए,परमागम के उपदेश से उत्पन्न विकार रहित स्वसंवेदनज्ञान ही,भावना करने योग्य है।"

विशेषार्थ– इस गाथा-टीका में 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने देवों को अवधि चक्षु के साथ इन्द्रिय चक्षु भी कहा है। वह इसप्रकार–

"और वे (देव) भी रूपी द्रव्य मात्र को देखने से इन्द्रिय चक्षुवालों के समान इन्द्रिय चक्षु ही हैं।"

तदुपरान्त संसारी जीव के,सर्वतः चक्षु न होने का कारण तथा साधु के,आगम चक्षु होने का कारण,स्पष्ट करते हुये,वे लिखते हैं–

अथागमलोचनेन सर्वं दृश्यत इति प्रज्ञापयति–

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं।(२३५)

जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता ते वि ते समणा॥ २६९ ॥

सव्वे आगमसिद्धा सर्वेऽप्यागमसिद्धा आगमेन ज्ञाताः। के ते। *अत्था* विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावो योऽसौ परमात्मपदार्थस्तत्प्रभृतयोऽर्थाः। कथं सिद्धाः। *गुणपज्जएहिं चित्तेहिं* विचित्र गुणपर्यायैः सह। *जाणंति* जानन्ति। कान्। *ते वि* तान् पूर्वोक्तार्थगुणपर्यायान्। किं कृत्वा पूर्वम्। *पेच्छित्ता* दृष्ट्वा ज्ञात्वा। केन। *आगमेण हि* आगमेनैव। अयमत्रार्थः– पूर्वमागमं पठित्वा पश्चाज्जानन्ति। *ते समणा* ते श्रमणा भवन्तीति।

अत्रेदं भणितं भवति– सर्वे द्रव्यगुणपर्यायाः परमागमेन ज्ञायन्ते। कस्मात्। आगमस्य परोक्षरूपेण केवलज्ञानसमानत्वात्। पश्चादागमाधारेण स्वसंवेदनज्ञाने जाते स्वसंवेदनज्ञानबलेन केवलज्ञाने च जाते प्रत्यक्षा अपि भवन्ति। ततः कारणादागमचक्षुषा परंपरया सर्वं दृश्यं भवतीति॥ २६९ ॥

"इसप्रकार मोह से मलिन होने के कारण,ज्ञेयनिष्ठ होते हुए इन सभी संसारियों में,ज्ञान निष्ठता के मूल शुद्धात्मतत्त्व के संवेदन से साध्य,सर्वतः चक्षुपना सिद्ध नहीं होता है।

अब,उसकी सिद्धि के लिये भगवान श्रमण,आगम चक्षु होते हैं। ज्ञान और ज्ञेय के परस्पर सम्वलन (मिलन) से भिन्न करना अशक्य होने पर भी,उस आगम चक्षु द्वारा स्व-पर का विभाग कर,महामोह का भेदन करते हुये,परमात्मा को प्राप्त कर,वे हमेशा ज्ञान निष्ठ ही रहते हैं।

अतः मुमुक्षु को,सब कुछ आगम-चक्षु से ही देखना चाहिये।"[१] ॥ २६८ ॥

अब, आगमरूपी नेत्र से सभी दिखाई देता है, ऐसा विशेषरूप से ज्ञान कराते हैं–

वे विविध गुण पर्याय युत सब अर्थ आगम सिद्ध हैं।

जो देख आगम से उन्हीं को, जानते वे श्रमण हैं॥ २६९ ॥

गाथार्थ– विचित्र गुण-पर्यायों से सहित सभी पदार्थ आगम-सिद्ध हैं। उन्हें भी वास्तव में आगम से देखकर जो जानते हैं, वे श्रमण हैं।

टीकार्थ– ***सव्वे आगमसिद्धा***– सभी आगम-सिद्ध–आगम से ज्ञात हैं। वे कौन आगम से ज्ञात हैं? ***अत्था***– विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभावी जो वह परमात्मपदार्थ,तत्प्रभृति सभी पदार्थ आगम से ज्ञात हैं। वे पदार्थ आगम से कैसे ज्ञात हैं? ***गुणपज्जयेहिं चित्तेहिं***– वे पदार्थ,विचित्र गुण-पर्यायों के साथ ज्ञात हैं। ***जाणंति***– जानते हैं। किन्हें जानते हैं? ***ते वि***– उन पहले कहे गये अर्थ (द्रव्य) गुणपर्यायों को जानते हैं। पहले क्या करके जानते हैं? ***पेच्छित्ता***– पहले देखकर–जानकर जानते हैं। किससे देखकर जानते हैं? ***आगमेण हि***– आगम से ही देखकर जानते हैं। यहाँ अर्थ यह है– पहले आगम को पढ़कर,बाद में जानते हैं। ***ते समणा***- वे श्रमण हैं।

यहाँ यह कहा गया है– सभी द्रव्य-गुण-पर्याय परमागम से ज्ञात होते हैं। परमागम से क्यों ज्ञात होते हैं? परोक्षरूप से आगम,केवलज्ञान के समान होने से,वे परमागम से जाने जाते हैं। बाद में आगम के आधार से स्वसंवेदनज्ञान होने पर और स्वसंवेदनज्ञान के बल से केवलज्ञान होने पर,प्रत्यक्ष भी होते हैं। इस कारण आगमरूपी नेत्र द्वारा परम्परा से सभी दिखाई देते हैं॥ २६९ ॥

१- प्रवचनसार,गाथा २३४,तत्त्वप्रदीपिका टीका।

एवमागमाभ्यासकथनरूपेण प्रथमस्थले सूत्रचतुष्टयं गतम् ।

अथागमपरिज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानतदुभयपूर्वकसंयतत्वत्रयस्य मोक्षमार्गत्वं नियमयति–

आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स ।(२३६)

णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो ॥ २७० ॥

आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह आगमपूर्विका दृष्टिः सम्यक्त्वं नास्ति यस्येह लोके *संजमो तस्स णत्थि* संयमस्तस्य नास्ति *इति भणदि* इत्येवं भणति कथयति । किं कर्तृ । *सुत्तं* सूत्रमागमः । *असंजदो होदि किध समणो* असंयतः सन् श्रमणस्तपोधनः कथं भवति, न कथमपीति ।

तथाहि– यदि निर्दोषनिजपरमात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं सम्यक्त्वं नास्ति तर्हि परमागमबलेन विशदैकज्ञानरूपमात्मानं जानन्नपि सम्यग्दृष्टिर्न भवति, ज्ञानी च न भवति, तद्द्वयाभावे सति पंचेन्द्रियविषयाभिलाषषड्जीववधव्यावृत्तोऽपि संयतो न भवति ।

ततः स्थितमेतत्-परमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वत्रयमेव मुक्तिकारणमिति ॥ २७० ॥

इसप्रकार आगम-अभ्यास के कथनरूप से,पहले स्थल में चार गाथायें पूर्ण हुईं ।

(अब, भेदाभेद रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग के कथन परक,चार गाथाओं में निबद्ध,दूसरा स्थल प्रारम्भ होता है ।)

अब, आगम-परिज्ञान और तत्त्वार्थ-श्रद्धान– इन दोनों पूर्वक संयतपना– इन तीनों के मोक्षमार्गत्व का नियम करते हैं–

दृष्टी न आगमपूर्वक जिसकी यहाँ, उसके नहीं ।

संयम कहें जिनसूत्र,हो तब असंयत कैसे मुनी ? ॥ २७० ॥

गाथार्थ– इस लोक में,जिसकी आगमपूर्वक दृष्टि (श्रद्धा) नहीं है, उसके संयम नहीं है– ऐसा सूत्र–आगम कहता है । तथा असंयत श्रमण कैसे हो सकता है ? (नहीं हो सकता है) ।

टीकार्थ– ***आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह–*** इस लोक में, जिसके आगमपूर्वक दृष्टि–सम्यक्त्व नहीं है, ***संजमो तस्स णत्थि–*** उसके संयम नहीं हैं, ***इति भणदि–*** इसप्रकार कहता है । कर्तारूप कौन ऐसा कहता है ? ***सुत्तं–*** सूत्र आगम ऐसा कहता है । ***असंजदो होदि किध समणो–*** असंयत होता हुआ,श्रमण–मुनिराज कैसे हो सकता है ? किसी भी प्रकार नहीं हो सकता है ।

वह इसप्रकार– यदि दोष रहित अपना परमात्मा ही उपादेय है– ऐसी रुचिरूप सम्यक्त्व नहीं है, तो परमागम के बल से,स्पष्ट एक ज्ञानरूप आत्मा को जानता हुआ भी,सम्यग्दृष्टि नहीं है, और ज्ञानी नहीं है ; इन दोनों का अभाव होने पर,पाँचों इन्द्रियों के विषयों की इच्छा और छहकाय के जीवघात से व्यावृत्त–निवृत्त होने पर भी संयत नहीं है ।

इससे यह निश्चित हुआ कि परमागम का ज्ञान, तत्त्वार्थ-श्रद्धान और संयतपना– तीन ही– तीनों का युगपद्पना ही मुक्ति का कारण है ॥ २७० ॥

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्याभावे मोक्षो नास्तीति व्यवस्थापयति–

ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु ।(२३७)

सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि ।। २७१ ।।

ण हि आगमेण सिज्झदि आगमजनितपरमात्मज्ञानेन न सिद्ध्यति, *सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु* श्रद्धानं यदि च नास्ति परमात्मादिपदार्थेषु । *सद्दहमाणो अत्थे* श्रद्दधानो वा चिदानन्दैकस्वभावनिजपरमात्मादिपदार्थान् *असंजदो वा ण णिव्वादि* विषयकषायाधीनत्वेनासंयतो वा न निर्वाति, निर्वाणं न लभत इति ।

तथाहि– यथा प्रदीपसहितपुरुषस्य कूपपतनप्रस्तावे कूपपतनान्निवर्तनं मम हितमिति निश्चयरूपं श्रद्धानं यदि नास्ति तदा तस्य प्रदीपः किं करोति, न किमपि । तथा जीवस्यापि परमागमाधारेण सकलपदार्थज्ञेयाकारकरम्बितविशदैकज्ञानरूपं स्वात्मानं जानतोऽपि ममात्मैवोपादेय इति निश्चयरूपं यदि श्रद्धानं नास्ति तदा तस्य प्रदीपस्थानीय आगमः किं करोति, न किमपि ।

यथा वा स एव प्रदीपसहितपुरुषः स्वकीयपौरुषबलेन कूपपतनाद्यदि न निवर्तते तदा तस्य श्रद्धानं प्रदीपो दृष्टिर्वा किं करोति, न किमपि । तथायं जीवः श्रद्धानज्ञानसहितोऽपि पौरुषस्थानीयचारित्रबलेन रागादिविकल्प-

---

अब, आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयतत्व की युगपतता का अभाव होने पर मोक्ष नहीं है, ऐसी व्यवस्था बताते हैं–

श्रद्धान अर्थों का नहीं तो आगमों से सिद्धि ना ।

श्रद्धान अर्थों का परन्तु है असंयत सिद्धि ना ।। २७१ ।।

गाथार्थ– यदि पदार्थों का श्रद्धान नहीं है,तो आगम से भी सिद्धि नहीं होती है; तथा पदार्थों का श्रद्धान करनेवाला असंयत भी,मोक्ष प्राप्त नहीं करता है ।

टीकार्थ– ***ण हि आगमेण सिज्झदि***– आगम से उत्पन्न परमात्मज्ञान द्वारा सिद्धि नहीं होती है, ***सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु***- यदि परमात्मा आदि पदार्थों में– पदार्थों सम्बन्धी श्रद्धान नहीं है (तो) ***सद्दहमाणो अत्थे***– अथवा ज्ञानानन्द एक स्वभावी अपने परमात्मा आदि पदार्थों का श्रद्धान है, ***असंजदो वा ण णिव्वादि***– तो भी विषय-कषाय के आधीन होने से असंयत निर्वाण को प्राप्त नहीं करता है ।

वह इसप्रकार-जैसे दीपक सहित पुरुष का कूप (कुआँ) में गिरने के प्रसंग में, कुएं में गिरने से बचना,मेरे लिए हितकर है– यदि ऐसा निश्चयरूप श्रद्धान नहीं है तो, उसका दीपक क्या कर सकता है ? कुछ भी नहीं । उसीप्रकार जीव के भी परमागम के आधार से सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञेयाकारों के साथ मिश्रित–चित्र-विचित्र स्पष्ट एक ज्ञानरूप अपने आत्मा को जानता हुआ भी, मेरा आत्मा ही मुझे उपादेय है– इसप्रकार यदि निश्चयरूप श्रद्धान नहीं है, तो उसका दीपक के स्थानीय आगम क्या कर सकता है ? कुछ भी नहीं ।

अथवा जैसे वही दीपक सहित पुरुष,अपने पौरुष के बल से– पुरुषार्थ से यदि कूप में गिरने से निवृत्त नहीं होता है–बचता नहीं है तो उसका श्रद्धान, दीपक अथवा नेत्र क्या कर सकते हैं ? कुछ भी नहीं । उसीप्रकार श्रद्धान-ज्ञान सहित यह जीव भी,यदि पौरुष के स्थानीय चारित्र–स्वरूप-स्थिरता के बल से,रागादि विकल्परूप

रूपादसंयमाद्यदि न निवर्तते तदा तस्य श्रद्धानं ज्ञानं वा किं कुर्यात्, न किमपीति।

अतः एतदायातिपरमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां मध्ये द्वयेनैकेन वा निर्वाणं नास्ति, किंतु त्रयेणेति ॥ २७१ ॥

अथ परमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां भेदरत्नत्रयरूपाणां मेलापकेऽपि, यदभेदरत्नत्रयात्मकं निर्विकल्पसमाधिलक्षणमात्मज्ञानं, निश्चयेन तदेव मुक्तिकारणमिति प्रतिपादयति–

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।(२३८)

तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण[३] ॥ २७२ ॥

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि निर्विकल्पसमाधिरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकविशिष्टभेदज्ञानाभावादज्ञानी जीवो यत्कर्म क्षपयति। काभिः करणभूताभिः। *भवसयसहस्सकोडीहिं* भवशतसहस्रकोटिभिः। *तं णाणी तिहिं गुत्तो* तत्कर्म ज्ञानी जीवस्त्रिगुप्तिगुप्तः सन् *खवेदि उस्सासमेत्तेण* क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेणेति।

असंयम से निवृत्त नहीं होता—हटता नहीं है तो उसका श्रद्धान अथवा ज्ञान क्या करें ? कुछ भी नहीं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि परमागम के ज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान और संयतत्व में से,दो या एक से मोक्ष नहीं होता है, वरन् तीनों की एकता से मोक्ष होता है।[१]

विशेषार्थ– इस गाथा टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने श्रद्धान शून्य आगमज्ञानी को 'ज्ञेय-निमग्न ज्ञान-विमूढ़' कहा है[२] ॥ २७१ ॥

अब, परमागमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्वरूप भेदरत्नत्रय का युगपतपना होने पर भी, जो अभेद रत्नत्रय स्वरूप विकल्प रहित समाधि—स्वरूप-लीनता लक्षण आत्मज्ञान है, वही निश्चय से मुक्ति का कारण है ; ऐसा प्रतिपादन करते हैं–

जो कर्म अज्ञानी खपाता लाख कोटी भवों में।

ज्ञानी त्रिधा हो गुप्त वे क्षय करें मात्र उस्वास में ॥ २७२ ॥

गाथार्थ– जो कर्म,अज्ञानी लाख करोड़ भवों में नष्ट करता है, वे कर्म,तीन प्रकार से गुप्त ज्ञानी,उच्छवास मात्र में नष्ट कर देता है।

टीकार्थ– ***जं अण्णाणी कम्मं खवेदि***– विकल्प रहित समाधिरूप निश्चय रत्नत्रय स्वरूप विशिष्ट भेद-ज्ञान का अभाव होने से,अज्ञानी जीव जो कर्म नष्ट करता है।किन साधनों द्वारा वह कर्म नष्ट करता है ? ***भवसयसहस्सकोडीहिं***–लाख करोड़ भवों द्वारा,वह जो कर्म नष्ट करता है। ***तं णाणी तिहिं गुत्तो***– वे कर्म ज्ञानी जीव,तीन गुप्तियों से गुप्त होता हुआ ***खवेदि उस्सासमेत्तेण***–उच्छवासमात्र से नष्ट कर देता है।

१- इसी तथ्य को 'समयसार' गाथा २९१ व २९३ द्वारा भी 'आचार्य कुन्दकुन्ददेव' ने स्पष्ट किया है। उनकी टीकायें भी विचारणीय हैं।

२- प्रवचनसार, गाथा २३७, तत्त्वप्रदीपिका टीका।

३- 'पण्डित दौलतरामजी' ने 'छहढाला', चतुर्थ ढाल, चतुर्थ पद्य,'(कोटि जन्म- - - - - -) में इसे ही निबद्ध किया है।

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो विज्जदि जदि परमाणुमात्रं वा मूर्च्छा देहादिकेषु विषयेषु यस्य पुरुषस्य पुनर्विद्यते यदि चेत्, *सो सिद्धिं ण लहदि* स सिद्धिं मुक्तिं न लभते। कथंभूतः। *सव्वागमधरो वि* सर्वागमधरोऽपीति।

अयमत्रार्थः– सर्वागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्ये सति यस्य देहादिविषये स्तोकमपि ममत्वं विद्यते तस्य पूर्वसूत्रोक्तं निर्विकल्पसमाधिलक्षणं निश्चयरत्नत्रयात्मकं स्वसंवेदनज्ञानं नास्तीति ॥ २७३ ॥

एवं भेदाभेदरत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गस्थापनमुख्यत्वेन द्वितीयस्थले गाथाचतुष्टयं गतम्।

किंच बहिरात्मावस्थान्तरात्मावस्थापरमात्मावस्थामोक्षावस्थात्रयं तिष्ठति। अवस्थात्रयेऽनुगताकारं द्रव्यं तिष्ठति। एवं परस्परसापेक्षद्रव्यपर्यायात्मको जीवपदार्थः। तत्र मोक्षकारणं चिन्त्यते।

मिथ्यात्वरागादिरूपा बहिरात्मावस्था तावदशुद्धा, मुक्तिकारणं न भवति। मोक्षावस्था शुद्धा फलभूता, सा चाग्रे तिष्ठति एताभ्यां द्वाभ्यां भिन्ना यान्तरात्मावस्था सा मिथ्यात्वरागादिरहितत्वेन शुद्धा। यथा सूक्ष्म-निगोतज्ञाने शेषावरणे सत्यपि क्षयोपशमज्ञानावरणं नास्ति तथात्रापि केवलज्ञानावरणे सत्यप्येकदेशक्षयोपशम-ज्ञानापेक्षया नास्त्यावरणम्। यावतांशेन निरावरणा रागादिरहितत्वेन शुद्धा च तावतांशेन मोक्षकारणं भवति।

टीकार्थ– ***परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो विज्जदि जदि***– तथा शरीर आदि विषयों में जिस पुरुष के परमाणुमात्र (अत्यल्प) भी ममत्व यदि पाया जाता है,तो ***सो सिद्धिं ण लहदि***– वह मुक्ति प्राप्त नहीं करता है। परमाणुमात्र ममत्व वाला वह कैसा हो ? ***सव्वागमधरो वि***– सम्पूर्ण आगम को धारण करने वाला (आगम-ज्ञानी) होने पर भी वह मुक्ति प्राप्त नहीं करता है।

यहाँ अर्थ यह है– सम्पूर्ण आगमज्ञान, तत्त्वार्थ-श्रद्धान और संयतत्व की युगपतता होने पर भी जिसके शरीरादि के सम्बन्ध में थोड़ा भी ममत्व(एकत्व-ममत्व आदि विपरीत भाव) पाया जाता है,उसके पहले(२७२वीं) गाथा में कहा गया निर्विकल्प समाधि लक्षण निश्चय रत्नत्रय स्वरूप स्वसंवेदन ज्ञान नहीं है[1] ॥ २७३ ॥

इसप्रकार भेदाभेदरत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग के स्थापन की मुख्यता से,दूसरे स्थल में चार गाथायें पूर्ण हुईं।

विशेष यह है कि बहिरात्मादशा, अन्तरात्मादशा और परमात्मारूप मोक्ष दशा– ये तीन दशायें हैं। इन तीन दशाओं में,इनका अनुसरण करनेवाला– इनरूप आकार वाला द्रव्य रहता है। इसप्रकार परस्पर की अपेक्षा सहित,द्रव्य-पर्याय स्वरूप जीव पदार्थ है। उसमें मोक्ष के कारण का विचार करते हैं–

पहली मिथ्यात्व रागादिरूप बहिरात्मादशा अशुद्धदशा है, वह मोक्ष की कारण नहीं है। तथा मोक्षदशा शुद्ध फलभूत है, वह आगे प्रगट होती है। इन दोनों से भिन्न जो अन्तरात्मा दशा है,वह मिथ्यात्व-रागादि से रहित होने के कारण शुद्ध है। जैसे सूक्ष्म निगोत–निगोदिया जीव के ज्ञान में,शेष आवरण होने पर भी क्षयोपशम ज्ञानावरण (पर्याय ज्ञान नामक क्षयोपशम ज्ञानावरण) नहीं है; वैसे यहाँ भी,केवलज्ञानावरण होने पर भी एक देश क्षयोपशम ज्ञान की अपेक्षा,आवरण नहीं है। जितने अंशों में आवरण रहित और रागादि से रहित होने के कारण शुद्ध है, उतने अशों में मोक्ष का कारण है।

१- इसी तथ्य को 'आचार्य कुन्दकुन्ददेव' 'पंचास्तिकाय संग्रह' गाथा १७२ द्वारा तथा 'आचार्य देवसेन' 'तत्त्वसार' गाथा ५३ द्वारा भी स्पष्ट करते हैं।

सामान्येनापि तावदिदं संयमलक्षणं, प्रव्रज्यायां तपश्चरणावस्थायां विशेषेणेति। अत्राभ्यन्तरशुद्धात्मसंवित्ति-र्भावसंयमो, बहिरंगनिवृत्तिश्च द्रव्यसंयम इति ॥ २७४ ॥

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां त्रयाणां यत्सविकल्पं यौगपद्यं तथा निर्विकल्पात्मज्ञानं चेति द्वयोः संभवं दर्शयति–

पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदियसंवुडो जिदकसाओ। (२४०)

दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो ॥ २७५ ॥

पंचसमिदो व्यवहारेण पंचसमितिभिः समितः संवृतः पंचसमितः, निश्चयेन तु स्वस्वरूपे सम्यगितो गतः परिणतः समितः। *तिगुत्तो* व्यवहारेण मनोवचनकायनिरोधत्रयेण गुप्तः त्रिगुप्तः, निश्चयेन स्वस्वरूपे गुप्तः परिणतः। *पंचेदियसंवुडो* व्यवहारेण पंचेन्द्रियविषयव्यावृत्त्या संवृतः पंचेन्द्रियसंवृतः, निश्चयेन वातीन्द्रियसुख-स्वादरतः । *जिदकसाओ* व्यवहारेण क्रोधादिकषायजयेन जितकषायः, निश्चयेन चाकषायात्मभावनारतः ।

का लक्षण है, प्रव्रज्या अर्थात् तपश्चरणरूप दशा में,विशेषरूप से भी यही संयम का लक्षण है । यहाँ अन्दर में शुद्धात्मा की सम्वित्ति—स्वसंवेदन भाव संयम है और बाहर से निवृत्ति द्रव्य संयम है ।

विशेषार्थ– संयम के इन भेदों को निश्चय-चारित्र और व्यवहार-चारित्ररूप में प्रस्तुत करते हुये 'श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव' लिखते हैं–

"अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति को व्यवहार नय से चारित्र जानो, और उसे जिनेन्द्र भगवान ने व्रत, समिति, गुप्तिरूप कहा है ।

संसार के कारणों को नष्ट करने के लिये,बहिरंग और अन्तरंग क्रिया के निरोधरूप ज्ञानी का जो चारित्र है, उसे जिनेन्द्र भगवान ने उत्कृष्ट सम्यक्चारित्र—निश्चय चारित्र कहा है ।"[१] ॥ २७४ ॥

अब, आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व—इन तीनों की जो सविकल्प युगपतता और उसीप्रकार विकल्प रहित आत्मज्ञान है— इन दोनों की संभवता—एक साथ उपस्थिति दिखाते हैं –

जो पंच समित त्रिगुप्त पंचेन्द्रिय निरोध कषाय के ।

विजयी,वे दर्शन ज्ञान से परिपूर्ण मुनि संयत कहे ॥ २७५ ॥

गाथार्थ– जो श्रमण पाँच समिति सहित, तीन गुप्ति से गुप्त, पंचेन्द्रियों को संवृत—रोकने वाले, कषाय-विजयी और ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण हैं— वे संयत कहे गये हैं ।

टीकार्थ– ***पंचसमिदो***– व्यवहार से पाँच समितियों द्वारा समित—संवृत—सम्यक् प्रवृत्ति करने वाले पंचसमित हैं और निश्चय से अपने स्वरूप में अच्छी तरह गत—परिणत—समित हैं । ***तिगुत्तो***- व्यवहार से मन- वचन -काय तीन के निरोध से त्रिगुप्त हैं, निश्चय से अपने स्वरूप में गुप्त—परिणत—लीन—त्रिगुप्त हैं । ***पंचेदियसंवुडो***– व्यवहार से पाँचों इन्द्रियों सम्बन्धी विषयों से छूटने के कारण संवृत पंचेन्द्रिय-संवृत हैं, निश्चय से अतीन्द्रिय सुख के स्वाद में लीन (होने से) पंचेन्द्रिय-संवृत हैं । ***जिदकसाओ***– व्यवहार से क्रोधादि कषायों को जीतने से जितकषाय हैं, निश्चय से कषाय रहित आत्मा की भावना में लीन जितकषाय हैं ।

१- द्रव्य संग्रह,गाथा ४५ व ४६ ।

ततः एतदायाति– शत्रुबन्धुसुखदुःखनिन्दाप्रशंसालोष्टकांचनजीवितमरणसमताभावनापरिणतिनिजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्ननिर्विकारपरमाह्लादैकलक्षणसुखामृतपरिणतिस्वरूपं यत्परमसाम्यं तदेव परमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्येन तथा निर्विकल्पात्मज्ञानेन च परिणततपोधनस्य लक्षणं ज्ञातव्यमिति ॥ २७६ ॥

अथ यदेव संयततपोधनस्य साम्यलक्षणं भणितं तदेव श्रामण्यापरनामा मोक्षमार्गो भण्यत इति प्ररूपयति–

दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु ।(२४२)

एयग्गगदो त्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्णं ॥ २७७ ॥

दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु दर्शनज्ञानचारित्रेषु त्रिषु युगपत्सम्यगुपस्थित उद्यतो यस्तु कर्ता, *एयग्गगदो त्ति मदो* स ऐकाग्र्यगत इति मतः संमतः, *सामण्णं तस्स पडिपुण्णं* श्रामण्यं चारित्रं यतित्वं तस्य परिपूर्णमिति ।

तथाहि– भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मभ्यः शेषपुद्गलादिपंचद्रव्येभ्योऽपि भिन्नं सहजशुद्धनित्यानन्दैकस्वभावं मम संबन्धि यदात्मद्रव्यं तदेव ममोपादेयमितिरुचिरूपं सम्यग्दर्शनम्, तत्रैव परिच्छित्तिरूपं सम्यग्ज्ञानं, तस्मिन्नेव

इससे यह निश्चित हुआ– शत्रु-बंधु, सुख-दुःख, निन्दा-प्रशंसा, लोष्ट-स्वर्ण, जीवन-मरण में समताभाव से परिणत अपने शुद्धात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान रूप विकल्प रहित समाधि–स्वरूपलीनता से, अच्छी तरह उत्पन्न विकार रहित उत्कृष्ट आह्लाद एक लक्षण सुखामृत रूप परिणति स्वरूप जो परम साम्य है ; वही परमागम ज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयतत्व की युगपतता और उसीप्रकार निर्विकल्प आत्मज्ञान रूप से परिणत मुनिराज का लक्षण जानना चाहिये ॥ २७६ ॥

अब, संयत मुनिराज का जो यह साम्यलक्षण कहा है, वही श्रामण्य दूसरा नाम मोक्षमार्ग कहलाता है ; ऐसा निरूपित करते हैं–

दृग-ज्ञान-चारित्र तीन में युगपद् समुत्थित हुये जो ।

ऐकाग्र्यगत माने गये परिपूर्ण श्रामण्य उन्हीं को ॥ २७७ ॥

गाथार्थ– जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र– इन तीनों में एक साथ अच्छी तरह उपस्थित हैं, वे एकाग्रता को प्राप्त हैं– ऐसा माना गया है और उनके श्रामण्य परिपूर्ण है ।

टीकार्थ– ***दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु***– जो कर्ता दर्शन-ज्ञान-चारित्र– तीनों में अच्छी तरह से उपस्थित-उद्यत हैं, ***एयग्गगदो त्ति मदो***– वे एकाग्रता को प्राप्त हैं– ऐसा माना गया है– स्वीकार किया गया है, ***सामण्णं तस्स पडिपुण्णं***– उनके श्रामण्य–चारित्र––यतिपना परिपूर्ण है ।

वह इसप्रकार– भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्मों से तथा शेष पुद्गल आदि पाँच द्रव्यों से भी भिन्न, सहज-शुद्ध, हमेशा आनन्द एक स्वभाव रूप मुझ सम्बन्धी जो आत्मद्रव्य है (मैं जो आत्म-द्रव्य हूँ), वही मुझे

मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज जदि मुह्यति वा, रज्यति वा, द्वेष्टि वा, यदि चेत्। किं कृत्वा। द्रव्यमन्यदासाद्य प्राप्य। स कः। *समणो* श्रमणस्तपोधनः। तदा काले *अण्णाणी* अज्ञानी भवति। अज्ञानी सन् *बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं* बध्यते कर्मभिर्विविधैरिति।

तथाहि– यो निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानेनैकाग्रो भूत्वा स्वात्मानं न जानाति तस्य चित्तं बहिर्विषयेसु गच्छति। ततश्चिदानन्दैकनिजस्वभावाच्च्युतो भवति ; ततश्च रागद्वेषमोहैः परिणमति। तत्परिणमन् बहुविधकर्मणा बध्यत इति। ततः कारणान्मोक्षार्थिभिरेकाग्रत्वेन स्वस्वरूपं भावनीयमित्यर्थः ॥ २७८ ॥

अथ निजशुद्धात्मनि योऽसावेकाग्रस्तस्यैव मोक्षो भवतीत्युपदिशति–

अट्ठेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि।(२४४)
समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविहाणि॥ २७९ ॥

अट्ठेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि अर्थेषु बहिःपदार्थेषु यो न मुह्यति, न रज्यति, हि स्फुटं, नैव द्वेषमुपयाति *जदि* यदि चेत्, *सो समणो* स श्रमणः *णियदं* निश्चितं *खवेदि विविहाणि कम्माणि* क्षपयति कर्माणि विविधानि इति।

टीकार्थ– ***मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज जदि***– यदि मोह करता है, राग करता है अथवा द्वेष करता है। ये सब क्या करके करता है ? दूसरे द्रव्यों का आश्रय लेकर करता है। ऐसा वह कौन करता है ? ***समणो***– श्रमण–तपोधन–मुनि ऐसा करता है तो। उस समय ***अण्णाणी***– वह अज्ञानी है। अज्ञानी होता हुआ ***बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं***– अनेक प्रकार के कर्मों से बँधता है।

वह इसप्रकार– जो विकार रहित स्वसंवदेन ज्ञान द्वारा एकाग्र होकर अपने आत्मा को नहीं जानता है, उसका चित्त बाह्य विषयों में जाता है। इसलिये ज्ञानानन्द एक अपने स्वभाव से च्युत होता है, और इसलिये राग-द्वेष-मोह रूप से परिणमता है। उन रूप परिणमन करता हुआ,अनेक प्रकार के कर्मों से बँधता है। इस कारण मोक्षार्थियों को,एकाग्र रूप से अपने स्वरूप की भावना करना चाहिये– ऐसा अर्थ है ॥ २७८ ॥

अब, जो वे अपने शुद्धात्मा में एकाग्र हैं, उनका ही मोक्ष होता है ; ऐसा उपदेश देते हैं–

अर्थों से जो न मोह करते राग ना वा द्वेष ना।
करते श्रमण यदि तो नियम से करें क्षय सब कर्म का॥ २७९ ॥

गाथार्थ– जो मुनि,यदि पदार्थों से मोह नहीं करते, राग नहीं करते और द्वेष को प्राप्त नहीं होते हैं, तो वे निश्चित विविध कर्मों का क्षय करते हैं।

टीकार्थ– ***अट्ठेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि***– अर्थों– बाह्य पदार्थों में जो मोह नहीं करता है, राग नहीं करता है, वास्तव में द्वेष को भी प्राप्त नहीं होता है ***जदि***– यदि, तो ***सो समणो***– वह मुनि ***णियदं***– निश्चित ***खवेदि कम्माणि विविहाणि***– विविध कर्मों का क्षय करता है।

अथानन्तरं द्वात्रिंशद्गाथापर्यन्तं पंचभिः स्थलैः शुभोपयोगाधिकारः कथ्यते। तत्रादौ लौकिकसंसर्गनिषेधमुख्यत्वेन *'णिच्छिदसुत्तत्थपदो'* इत्यादिपाठक्रमेण गाथापंचकम्। तदनन्तरं सरागसंयमापरनामशुभोपयोगस्वरूपकथनप्रधानत्वेन *'समणा सुद्धुवजुत्ता'* इत्यादि सूत्राष्टकम्। ततश्च पात्रापात्रपरीक्षाप्रतिपादनरूपेण *'रागो पसत्थभूदो'* इत्यादि गाथाषट्कम्। ततः परमाचारादिविहितक्रमेण पुनरपि संक्षेपरूपेण समाचारव्याख्यानप्रधानत्वेन *'दिट्ठा पगदं वत्थुं'* इत्यादि सूत्राष्टकम्। ततः परं पंचरत्नमुख्यत्वेन *'जे अजधागहिदत्था'* इत्यादि गाथापंचकम्।

एवं द्वात्रिंशद्गाथाभिः स्थलपंचकेन चतुर्थान्तराधिकारे समुदायपातनिका। १

अब, इसके बाद ३२ गाथाओं तक, पाँच स्थलों द्वारा शुभोपयोग अधिकार कहा जाता है। वहाँ सबसे पहले लौकिक संसर्ग के निषेध की मुख्यता से, *'णिच्छिदसुत्तत्थ पदो–'* इत्यादि पाठक्रम से पहले स्थल में पाँच गाथायें हैं। तदुपरान्त सरागसंयम दूसरा नाम शुभोपयोग के स्वरूप कथन की मुख्यता से, *'समणा सुद्धुवजुत्ता–'* इत्यादि दूसरे स्थल में आठ गाथायें हैं। तदनन्तर पात्र-अपात्र की परीक्षा के प्रतिपादन रूप से (तीसरे स्थल में), *'रागो पसत्थभूदो–'* इत्यादि छह गाथायें हैं। तत्पश्चात् परम आचार आदि कहे गये क्रम से और भी संक्षेपरूप से (चौथे स्थल में), समाचार व्याख्यान की प्रधानता रूप *'दिट्ठा पगदं वत्थुं–'* इत्यादि आठ गाथायें हैं। और उसके बाद पंच रत्न की मुख्यता से (पाँचवे स्थल में) *'जे अजधागहिदत्था–'* इत्यादि पाँच गाथायें हैं।

इसप्रकार ३२ गाथाओं द्वारा, पाँच स्थल रूप से चौथे अन्तराधिकार में सामूहिक पातनिका है।

चतुर्थ अन्तराधिकार का स्थल-विभाजन (गाथा २८० से ३११ पर्यन्त)

स्थल क्रम	प्रतिपादित प्रधान विषय	कहाँ से कहाँ पर्यन्त गाथायें	कुल गाथायें
प्रथम स्थल	लौकिक संसर्ग के निषेध परक	२८० से २८४	५
द्वितीय स्थल	शुभोपयोग स्वरूप कथन	२८५ से २९२	८
तृतीय स्थल	पात्र-अपात्र की परीक्षा प्रतिपादक	२९३ से २९८	६
चतुर्थ स्थल	समाचार व्याख्यान प्रतिपादक	२९९ से ३०६	८
पंचम स्थल	पंचरत्न गाथायें	३०७ से ३११	५
कुल पाँच स्थल		कुल ३२ गाथायें	

१- प्रस्तुत पातनिकानुसार उपलब्ध प्रतियों में चतुर्थ अन्तराधिकार का गाथा क्रम अव्यवस्थित है। पातनिकानुसार इस रूप में व्यवस्थित किया है। शोधार्थी निर्णय करें। (अनुवादिका)

तम्हा यस्माद्धीनसंसर्गाद्गुणहानिर्भवति तस्मात्कारणात् *अधिवसदु* अधिवसतु तिष्ठतु। स कः कर्ता। *समणो* श्रमणः। क्व। *तम्हि* तस्मिन्नधिकरणभूते। *णिच्चं* नित्यं सर्वकालम्। तस्मिन्कुत्र। *समणं* श्रमणे। लक्षणवशादधिकरणे कर्म पठ्यते। *कथंभूते* श्रमणे। *समं* समे समाने। कस्मात्। *गुणादो* बाह्याभ्यन्तररत्नत्रयलक्षणगुणात्। पुनरपि कथंभूते। *अहियं वा* स्वस्मादधिके वा। कैः। *गुणेहिं* मूलोत्तरगुणैः। यदि किम्। *इच्छदि जदि* इच्छति वांछति यदि चेत्। कम्। *दुक्खपरिमोक्खं* स्वात्मोत्थसुखविलक्षणानां नारकादिदुःखानां मोक्षं दुःखपरिमोक्षमिति।

अथ विस्तरः— यथाग्निसंयोगात् जलस्य शीतलगुणविनाशो भवति तथा व्यावहारिकजनसंसर्गात्संयतस्य संयमगुणविनाशो भवतीति ज्ञात्वा तपोधनः कर्ता समगुणं गुणाधिकं वा तपोधनमाश्रयति, तदास्य तपोधनस्य यथा शीतलभाजनसहितशीतलजलस्य शीतलगुणरक्षा भवति तथा समगुणसंसर्गाद्गुणरक्षा भवति। यथा च तस्यैव जलस्य कर्पूरशर्करादिशीतलद्रव्यनिक्षेपे कृते सति शीतलगुणवृद्धिर्भवति तथा निश्चयव्यवहाररत्नत्रयगुणाधिकसंसर्गाद्गुणवृद्धिर्भवतीति सूत्रार्थः ॥ २८२ ॥

टीकार्थ— *तम्हा*— जिस कारण हीन संसर्ग से गुणों की हानि होती है, उस कारण *अधिवसदु*- निवास करें—रहें। कर्ता रूप वे कौन रहें ? *समणो*— मुनिराज रहें। वे कहाँ रहें ? *तम्हि*— उस आधारभूत में वे रहें। *णिच्चं*— हमेशा—सभी कालों में रहें। उस आधारभूत किसमें रहें ? *समणं*— मुनिसंघ में रहें। यहाँ लक्षण— व्याकरण नियम के कारण, अधिकरण के अर्थ में कर्म कारक का प्रयोग हुआ है।[१] वे कैसे श्रमण संघ में रहें ? *समं*— वे समान श्रमण संघ में रहें। किसमें समान संघ में रहें ? *गुणादो*— बहिरंग और अन्तरंग रत्नत्रय लक्षण गुणों से समान संघ में रहें। और कैसे संघ में रहें ? *अहियं वा*— अथवा अपने से अधिक में रहें। किनसे अधिक में रहें ? *गुणेहिं*— मूलोत्तर गुणों द्वारा अपने से अधिक गुण वाले साधुसंघ में रहें। यदि क्या तो इनमें रहें ? *इच्छदि जदि*— यदि चाहते हैं तो इनमें रहें। क्या चाहते हैं ? *दुक्खपरिमोक्खं*— अपने आत्मा से उत्पन्न सुख से विलक्षण, नारक आदि दुःखों से पूर्णतः मोक्ष—दुःख-परिमोक्ष चाहते हैं, तो इनमें रहें।

अब यहाँ विस्तार करते हैं— जैसे अग्नि के संयोग से, जल का शीतलगुण नष्ट होता है, उसीप्रकार व्यावहारिक मनुष्यों के सम्पर्क से, मुनिराज का संयम गुण नष्ट होता है— ऐसा जानकर मुनिराज रूप कर्ता, समान गुण अथवा अधिक गुण सम्पन्न मुनिराज का आश्रय लेते हैं; तब, जैसे ठंडे बर्तन सहित (में रखे हुये) ठंडे जल के ठंडे गुण की रक्षा होती है, उसी प्रकार समान गुणों के संसर्ग से, उन मुनि के गुणों की रक्षा होती है। और जैसे कपूर, शक्कर आदि ठंडे द्रव्य डालने से, उस जल के ठंडे गुण में वृद्धि होती है; उसीप्रकार निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय रूप गुणों में अधिक के संसर्ग से, उनके गुणों में वृद्धि होती है— ऐसा गाथा का अर्थ है।

विशेषार्थ— इस गाथा-टीका के बाद 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने 'शुभोपयोग प्रज्ञापन' अधिकार पूर्ण करते हुये पद्य द्वारा 'समस्त वस्तु समूह के विस्तार को लीला मात्र से प्राप्त करने वाली रम्य उदय स्वरूप शाश्वती ज्ञानानंदमयी दशा का ही मात्र अनुभव करने का आदेश दिया है।'[२] ॥ २८२ ॥

१- उपान्वध्याङ्वसः— वस् धातु के पूर्व उप, अनु, अधि, आङ् में से कोई भी उपसर्ग होने पर, क्रिया का आधार कर्मकारक में होता है ॥ संस्कृत व्याकरण, कारक प्रकरण ॥

२- तत्त्वप्रदीपिका टीका, पद्य १७।

अथ शुभोपयोगिनां तपोधनवैयावृत्त्यनिमित्तं लौकिकसंभाषणविषये निषेधो नास्तीत्युपदिशति–

वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं ।(२५३)

लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा ॥ २८३ ॥

ण णिंदिदा शुभोपयोगितपोधनानां न निन्दिता, न निषिद्धा । का कर्मतापन्ना । *लोगिगजणसंभासा* लौकिकजनैः सह संभाषा वचनप्रवृत्तिः । *सुहोवजुदा वा* अथवा सापि शुभोपयोगयुक्ता भण्यते । किमर्थं न निषिद्धा । *वेज्जावच्चणिमित्तं* वैयावृत्त्यनिमित्तम् । केषां वैयावृत्त्यम् । *गिलाणगुरुबालबुड्ढसमणाणं* ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानाम् । अत्र गुरुशब्देन स्थूलकायो भण्यते, अथवा पूज्यो वा गुरुरिति ।

तथाहि– यदा कोऽपि शुभोपयोगयुक्त आचार्यः सरागचारित्रलक्षणशुभोपयोगिनां वीतरागचारित्रलक्षणशुद्धोपयोगिनां वा वैयावृत्त्यं करोति, तदाकाले तद्वैयावृत्त्यनिमित्तं लौकिकजनैः सह संभाषणं करोति, न शेषकाल इति भावार्थः ॥ २८३ ॥

अब, शुभोपयोगियों के लिये,मुनि की वैयावृत्ति के निमित्त,लौकिक जनों से संभाषण के विषय में निषेध नहीं है ; ऐसा उपदेश देते हैं–

हो वैयावृत्त निमित्त गुरु ग्लान बाल वृद्ध व श्रमण की ।

उपयोग शुभयुतजन हों लौकिक बोलना निंदित नहीं ॥ २८३ ॥

गाथार्थ– रोगी, गुरु, बाल, वृद्ध श्रमणों की वैयावृत्ति के निमित्त,शुभोपयोग युक्त लौकिक जनों के साथ, बातचीत करना निंदित नहीं है ।

टीकार्थ– ***ण णिंदिदा***– शुभोपयोगी श्रमणों के निन्दित नहीं है, निषिद्ध नहीं है । कर्मता को प्राप्त (कर्मकारक में प्रयुक्त) क्या निषिद्ध नहीं है ? ***लोगिगजणसंभासा***– लौकिक जनों के साथ सम्भाषा-वचन प्रवृत्ति-बोलना निषिद्ध नहीं है । ***सुहोवजुदा वा***– अथवा वह बोलना भी,शुभोपयोग युक्त कहा गया है । किस हेतु से बोलना निषिद्ध नहीं है ? ***वेज्जावच्चणिमित्तं***– वैयावृत्ति के निमित्त बोलना निषिद्ध नहीं है । किनकी वैयावृत्ति के निमित्त बोलना निषिद्ध नहीं है । ***गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं***– रोगी, गुरु, बाल, वृद्ध मुनियों की वैयावृत्ति के निमित्त,बोलना निषिद्ध नहीं है । यहाँ 'गुरु' शब्द से मोटे शरीर वाले अथवा पूज्य अथवा गुरु कहे गये हैं ।

वह इसप्रकार— जब कोई भी शुभोपयोग युक्त आचार्य,सरागचारित्र लक्षणशुभोपयोगियों की अथवा वीतरागचारित्र लक्षण शुद्धोपयोगियों की वैयावृत्ति करते हैं, उस समय उस वैयावृत्ति के निमित्त, लौकिक जनों के साथ सम्भाषण करते हैं, शेष समय में नहीं— ऐसा भाव है ॥ २८३ ॥

अथायं वैयावृत्त्यादिलक्षणशुभोपयोगस्तपोधनैर्गौणवृत्त्या श्रावकैस्तु मुख्यवृत्त्या कर्तव्य इत्याख्याति–

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं। (२५४)

चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं ॥ २८४ ॥

भणिदा भणिता कथिता। का कर्मतापन्ना। *चरिया* चर्या चारित्रमनुष्ठानम्। किंविशिष्टा। *एसा* एषा प्रत्यक्षीभूता। पुनश्च किंरूपा। *पसत्थभूदा* प्रशस्तभूता धर्मानुरागरूपा। केषां संबन्धिनी। *समणाणं वा* श्रमणानां वा *पुणो घरत्थाणं* गृहस्थानां वा पुनरियमेव चर्या *परेत्ति* परा सर्वोत्कृष्टेति। *ताएव परं लहदि सोक्खं* तयैव शुभोपयोगचर्यया परंपरया मोक्षसुखं लभते गृहस्थ इति।

तथाहि– तपोधनाः शेषतपोधनानां वैयावृत्त्यं कुर्वाणाः सन्तः कायेन किमपि निरवद्यवैयावृत्त्यं कुर्वन्ति; वचनेन धर्मोपदेशं च। शेषमौषधान्नपानादिकं गृहस्थानामधीनं, तेन कारणेन वैयावृत्त्यरूपो धर्मो गृहस्थानां मुख्यः, तपोधनानां गौणः।

द्वितीयं च कारणं– निर्विकारचिच्चमत्कारभावनाप्रतिपक्षभूतेन विषयकषायनिमित्तोत्पन्नेनार्तरौद्रदुर्ध्यानद्वयेन परिणतानां गृहस्थानामात्माश्रितनिश्चयधर्मस्यावकाशो नास्ति, वैयावृत्त्यादिधर्मेण दुर्ध्यानवंचना भवति, तपोधनसंसर्गेण निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गोपदेशलाभो भवति। ततश्च परंपरया निर्वाणं लभन्ते इत्यभिप्रायः ॥२८४॥

एवं गाथापंचकेन लौकिकव्याख्यानसंबन्धिप्रथमस्थलं गतम्।

अब, यह वैयावृत्ति आदि लक्षण शुभोपयोग, मुनियों को गौण रूप से और श्रावकों को मुख्य रूप से करना चाहिये; ऐसा प्रसिद्ध करते हैं–

है श्रमण के भी प्रशस्त चर्या श्रावकों के मुख्य है।

पाते उसी से श्रेष्ठ सुख आगे वे ऐसा कथित है ॥ २८४ ॥

गाथार्थ– यह प्रशस्तभूत चर्या मुनियों के होती है, तथा गृहस्थों के तो मुख्य रूप से होती है, ऐसा कहा गया है; उससे ही वे (गृहस्थ) उत्कृष्ट सुख को (परम्परा से) प्राप्त होते हैं।

टीकार्थ– ***भणिदा***– कही गई है। कर्मता को प्राप्त क्या कही गई है? ***चरिया***– चारित्र, अनुष्ठान– चर्या कही गई है। वह चर्या किस विशेषता वाली है? ***एसा***– यह प्रत्यक्षीभूत (विद्यमान) वह चर्या है। और वह किस रूप है? ***पसत्थभूदा***– धर्मानुराग रूप है। वह चर्या किनकी है? ***समणाणं वा***- श्रमणों की वह चर्या है अथवा ***पुणो घरत्थाणं***– तथा गृहस्थों के तो यही चर्या ***परेत्ति***– सर्वोत्कृष्ट–मुख्य है। ***ताएव परं लहदि सोक्खं***- गृहस्थ उसी शुभोपयोग चर्या द्वारा, परम्परा से मोक्षसुख प्राप्त करते हैं।

वह इसप्रकार– मुनि अन्य मुनियों की वैयावृत्ति करते हुये शरीर से कुछ भी निर्दोष वैयावृत्ति करते हैं और वचन से धर्मोपदेश देते हैं। शेष औषध, अन्न, पान आदि गृहस्थों के अधीन है; इस कारण वैयावृत्ति रूप धर्म गृहस्थों के मुख्य है, मुनियों के गौण है।

इस मुख्यता-गौणता का दूसरा कारण भी है– विकार रहित चैतन्य चमत्कार की भावना के प्रतिपक्षभूत, विषयकषाय के निमित्त से उत्पन्न आर्त-रौद्र दो दुर्ध्यानों रूप परिणत गृहस्थों के, निश्चय धर्म का अवकाश नहीं है, वैयावृत्ति आदि धर्म से दुर्ध्यान की वंचना होती है– खोटे ध्यान रुकते हैं, मुनियों के संसर्ग से निश्चयव्यवहार मोक्षमार्ग के उपदेश का लाभ मिलता है, और उससे, वे परम्परा से मोक्ष प्राप्त करते हैं– ऐसा अभिप्राय है ॥ २८४ ॥

इसप्रकार पाँच गाथाओं द्वारा लौकिक व्याख्यान सम्बन्धी पहला स्थल पूर्ण हुआ।

अथ शुभोपयोगिनां सास्रवत्वाद्व्यवहारेण श्रमणत्वं व्यवस्थापयति–

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि ।(२४५)

तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ।। २८५ ।।

संति विद्यन्ते । क्व । *समयम्हि* समये परमागमे । के सन्ति । *समणा* श्रमणास्तपोधनाः । किंविशिष्टाः । *सुद्धुवजुत्ता* शुद्धोपयोगयुक्ताः शुद्धोपयोगिन इत्यर्थः । *सुहोवजुत्ता य* न केवलं शुद्धोपयोगयुक्ताः शुभोपयोगयुक्ताश्च । चकारोऽत्र अन्वाचयार्थे गौणार्थे ग्राह्यः । तत्र दृष्टान्तः– यथा निश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावाः सिद्धजीवा एव जीवा भण्यते, व्यवहारेण चतुर्गतिपरिणता अशुद्धजीवाश्च जीवा इति ; तथा शुद्धोपयोगिनां मुख्यत्वं शुभोपयोगिनां तु चकारसमुच्चयव्याख्यानेन गौणत्वम् । कस्माद्गौणत्वं जातमिति चेत् । *तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा* तेष्वपि मध्ये शुद्धोपयोगयुक्ता अनास्रवाः, शेषाः सास्रवा इति यतः कारणात् ।

तद्यथा–निजशुद्धात्मभावनाबलेन समस्तशुभाशुभसंकल्पविकल्परहितत्वाच्छुद्धोपयोगिनो निरास्रवा एव, शेषाः शुभोपयोगिनो मिथ्यात्वविषयकषायरूपाशुभास्रवनिरोधेऽपि पुण्यास्रवसहिता इति भावः ।। २८५ ।।

(अब, शुभोपयोग का स्वरूप प्रतिपादक, आठ गाथाओं में निबद्ध, दूसरा स्थल प्रारम्भ होता है ।)

अब, आस्रव से सहित होने के कारण शुभोपयोगियों के व्यवहार से श्रमणता व्यवस्थापित करते हैं—

हैं समय में शुद्धोपयोगी श्रमण शुभ उपयुक्त भी ।

शुद्धोपयोगी निरास्रव हैं शेष उनमें सास्रवी ।। २८५ ।।

गाथार्थ– समय (आगम) में शुद्धोपयोगी श्रमण हैं और शुभोपयोगी भी श्रमण होते हैं, उनमें भी शुद्धोपयोगी निरास्रव हैं शेष आस्रव सहित हैं ।

टीकार्थ– ***संति***– हैं । कहाँ हैं ? ***समयम्हि***– परमागम में हैं । कौन हैं परमागम में ? ***समणा***– मुनि परमागम में हैं । वे किस विशेषता वाले हैं ? ***सुद्धुवजुत्ता***– वे शुद्धोपयोग से युक्त शुद्धोपयोगी हैं— ऐसा अर्थ है । ***सुहोवजुत्ता य***– न केवल शुद्धोपयोग युक्त हैं बल्कि शुभोपयोग युक्त भी हैं । यहाँ 'चकार'— 'च' शब्द अन्वाचय अर्थ में अर्थात् गौण अर्थ में ग्रहण करना चाहिये । इस प्रसंग में दृष्टान्त देते हैं— जैसे निश्चय से शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावी सिद्ध जीव ही जीव कहे जाते हैं, और व्यवहार से चतुर्गति परिणत अशुद्ध जीव, जीव हैं; उसीप्रकार शुद्धोपयोगियों की मुख्यता तथा चकार द्वारा समुच्चय व्याख्यान होने से शुभोपयोगियों की गौणता है । गौणता कैसे उत्पन्न हुई ? यदि ऐसा प्रश्न हो तो कहते हैं— ***तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा***– उनमें से भी शुद्धोपयोगयुक्त अनास्रव हैं, शेष सास्रव हैं— इस कारण उनमें गौणता है ।

वह इसप्रकार— अपने शुद्धात्मा के बल से, सम्पूर्ण शुभ-अशुभ सम्बन्धी संकल्प-विकल्प रहित होने के कारण, शुद्धोपयोगी निरास्रव ही हैं; शेष शुभोपयोगी मिथ्यात्व, विषय-कषाय रूप अशुभ आस्रव का निरोध होने पर भी पुण्यास्रव सहित हैं— ऐसा भाव है ।। २८५ ।।*

---

* प्रस्तुत गाथा की तत्त्वप्रदीपिका टीका मूलतः पठनीय है ।

अथ शुभोपयोगिश्रमणानां लक्षणमाख्याति–

अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु ।(२४६)

विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया ॥ २८६ ॥

सा सुहजुत्ता भवे चरिया सा चर्या शुभयुक्ता भवेत्। कस्य। तपोधनस्य। कथंभूतस्य। समस्तरागादिविकल्परहितपरमसमाधौ स्थातुमशक्यस्य। यदि किम्। *विज्जदि जदि* विद्यते यदि चेत्। क्व। *सामण्णे* श्रामण्ये चारित्रे। किं विद्यते। *अरहंतादिसु भत्ती* अनन्तज्ञानादिगुणयुक्तेष्वर्हत्सिद्धेषु गुणानुरागयुक्ता भक्तिः। *वच्छलदा* वत्सलस्य भावो वत्सलता वात्सल्यं विनयोऽनुकूलवृत्तिः। केषु विषयेषु। *पवयणाभिजुत्तेसु* प्रवचनाभियुक्तेषु। प्रवचनशब्देनात्रागमो भण्यते, संघो वा, तेन प्रवचनेनाभियुक्ताः प्रवचनाभियुक्ता आचार्योपाध्यायसाधवस्तेष्विति।

एतदुक्तं भवति– स्वयं शुद्धोपयोगलक्षणे परमसामायिके स्थातुमसमर्थस्यान्येषु शुद्धोपयोगफलभूतकेवलज्ञानेन परिणतेषु, तथैव शुद्धोपयोगाराधकेषु च यासौ भक्तिस्तच्छुभोपयोगिश्रमणानां लक्षणमिति ॥२८६ ॥

अब, शुभोपयोगी श्रमणों का लक्षण प्रसिद्ध करते हैं–

हो भक्ति अरहन्तादि में वात्सल्य प्रवचनरतों में।

हो युक्त शुभचर्या यदि होती है वह श्रामण्य में ॥ २८६ ॥

गाथार्थ– श्रामण्य दशा में,यदि अरहन्तादि के प्रति भक्ति, प्रवचन-रत जीवों के प्रति वात्सल्य पाया जाता है, तो वह शुभयुक्त चर्या होवे।

टीकार्थ– *सा सुहजुत्ता भवे चरिया*– वह चर्या शुभयुक्त हो। किसके वह चर्या शुभ युक्त हो ? मुनि के,वह चर्या शुभ युक्त हो। कैसे मुनिराज के,वह ऐसी हो ? सम्पूर्ण रागादि विकल्प रहित परम समाधि (स्वरूप-स्थिरता) में ठहरने के लिये असमर्थ मुनि के,वह ऐसी हो। यदि क्या है,तो ऐसी शुभयुक्त चर्या हो ? ***विज्जदि जदि*-** यदि पाई जाती है,तो वह हो ? कहाँ पायी जाती है, तो वह हो ? ***सामण्णे*–** श्रामण्य-चारित्र में यदि पाई जाती है,तो वह हो। उसमें क्या पायी जाती है ? ***अरहंतादिसु भत्ती*–** अनन्त ज्ञान आदि गुणों से सहित अरहन्त-सिद्धों में, गुणों के प्रति अनुराग सहित भक्ति पायी जाती है। ***वच्छलदा*–** वत्सल का भाव वत्सलता-वात्सल्य है, विनय, अनुकूल वृत्ति-प्रवृत्ति रूप वत्सलता पायी जाती है। किन विषयों में वत्सलता पायी जाती है ? ***पवयणाभिजुत्तेसु*–** प्रवचन में अभियुक्तों के प्रति। यहाँ प्रवचन शब्द से आगम अथवा संघ कहा गया है, उस प्रवचन से अभियुक्त,प्रवचनाभियुक्त है (इसप्रकार तृतीया तत्पुरुष समास किया) अर्थात् आगम में लीन– स्वाध्याय-रत या संघ में स्थित आचार्य, उपाध्याय, साधुओं के प्रति उसमें वत्सलता पायी जाती है।

इससे यह कहा गया है– स्वयं शुद्धोपयोग लक्षण परम सामयिक में ठहरने के लिए असमर्थ मुनि के, शुद्धोपयोग के फलस्वरूप केवलज्ञान परिणत अन्य जीवों के प्रति और उसीप्रकार शुद्धोपयोग के आराधक जीवों के प्रति,जो वह भक्ति है, वह शुभोपयोगी श्रमणों का लक्षण है।

अथ शुभोपयोगिनामेवेत्थंभूताः प्रवृत्तयो भवन्ति, न च शुद्धोपयोगिनामिति प्ररूपयति–

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं। (२४८)

चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य॥ २८७॥

दंसणणाणुवदेसो दर्शनं मूढत्रयादिरहितं सम्यक्त्वं, ज्ञानं परमागमोपदेशः, तयोरुपदेशो दर्शनज्ञानोपदेशः। *सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं* रत्नत्रयाराधनाशिक्षाशीलानां शिष्याणां ग्रहणं स्वीकारस्तेषामेव पोषणमशनशयनादिचिन्ता। *चरिया हि सरागाणं* इत्थंभूता चर्या चारित्रं भवति, हि स्फुटम्। केषाम्। सरागाणां धर्मानुरागचारित्रसहितानाम्। न केवलमित्थंभूता चर्या, *जिणिंदपूजोवदेसो य* यथासंभवं जिनेन्द्रपूजादिधर्मोपदेशश्चेति।

विशेषार्थ–यहाँ 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने *'पवयणाभिजुत्तेसु'* शब्द को निम्न प्रकार से विश्लेषित किया है–

"–केवल शुद्धात्म-परिणत रूप से रहने का प्रतिपादन करने वाले प्रवचन-रतों के प्रति–" [१]

भक्ति आदि चर्या को शुभोपयोग चारित्र कहने का हेतु देते हुये वे इसमें ही लिखते हैं–

"मात्र उतने राग से प्रवर्तित पर द्रव्य प्रवृत्ति के साथ शुद्धात्मपरिणति मिलित होने के कारण, वह शुभोपयोगी चारित्र हो।"[१]

यहाँ ही निष्कर्ष रूप में वे लिखते हैं–

"इसलिये शुद्धात्मा के अनुरागयुक्त चारित्रता शुभोपयोगी श्रमणों का लक्षण है।"[१] ॥ २८६ ॥

अब, शुभोपयोगियों के ही इसप्रकार की प्रवृत्तियाँ होती हैं, शुद्धोपयोगियों के नहीं; ऐसा प्ररूपित–विशेष कथन करते हैं–

दृग-ज्ञान का उपदश शिष्यों का ग्रहण पोषण तथा।

जिन अर्चना-उपदेश चर्या रागियों की है कहा॥ २८७॥

गाथार्थ– दर्शन-ज्ञान का उपदेश, शिष्यों का ग्रहण और उनका पोषण तथा जिनेन्द्र की पूजा का उपदेश वास्तव में सरागियों की चर्या है।

टीकार्थ– ***दंसणणाणुवदेसो***– दर्शन अर्थात् तीनमूढ़ता आदि से रहित सम्यक्त्व, ज्ञान अर्थात् परमागम का उपदेश–उन दोनों का उपदेश दर्शन-ज्ञान का उपदेश (इसप्रकार षष्ठी तत्पुरुष समास किया) ***सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं***– रत्नत्रय आराधना की शिक्षा लेने वाले शिष्यों का ग्रहण– स्वीकार और उनका ही पोषण अर्थात् भोजन-शयन आदि की चिन्ता। ***चरिया हि सरागाणं***– इसप्रकार की चर्या–चारित्र–आचरण होता है, वास्तव में। ऐसा आचरण किनका होता है? धर्मानुराग रूप आचरण सहित सरागियों का ऐसा चारित्र–आचरण होता है। मात्र इसीप्रकार का चारित्र नहीं होता है, (वरन्) ***जिणिंदपूजोवदेसो य***– और यथासंभव जिनेन्द्र पूजा आदि धर्मोपदेश देने सम्बन्धी आचरण सरागियों का होता है।

१- प्रवचनसार, गाथा २४६, तत्त्वप्रदीपिका टीका।

ननु शुभोपयोगिनामपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावना दृश्यते, शुद्धोपयोगिनामपि क्वापि काले शुभोपयोगभावना दृश्यते, श्रावकाणामपि सामायिकादिकाले शुद्धभावना दृश्यते, तेषां कथं विशेषो भेदो ज्ञायत इति। परिहारमाह– युक्तमुक्तं भवता, परं किंतु ये प्रचुरेण शुभोपयोगेन वर्तन्ते ते यद्यपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावनां कुर्वन्ति तथापि शुभोपयोगिन एव भण्यन्ते। येऽपि शुद्धोपयोगिनस्ते यद्यपि क्वापि काले शुभोपयोगेन वर्तन्ते तथापि शुद्धोपयोगिन एव। कस्मात्। बहुपदस्य प्रधानत्वादाम्रवननिम्बवनवदिति ॥ २८७ ॥

अथ काश्चिदपि याः प्रवृत्तयस्ताः शुभोपयोगिनामेवेति नियमति–

उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स। (२४९)

कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से ॥ २८८ ॥

उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स उपकरोति योऽपि नित्यं। कस्य। चातुर्वर्णस्य श्रमणसंघस्य। अत्र श्रमणशब्देन श्रमणशब्दवाच्या ऋषिमुनियत्यनगारा ग्राह्याः।

यहाँ कोई शंका करता है कि शुभोपयोगियों के भी,किसी समय शुद्धोपयोग रूप भावना दिखाई देती है, शुद्धोपयोगियों के भी,किसी समय शुभोपयोग भावना देखी जाती है, श्रावकों के भी सामायिक आदि के समय शुद्ध भावना देखी जाती है ; तब उनका विशेष भेद कैसे ज्ञात होता है ?

आचार्य उसका समाधान करते हुये कहते हैं— आपका कहना उचित है; परन्तु जो अधिकतर शुभोपयोग रूप आचरण करते हैं, वे यद्यपि किसी समय शुद्धोपयोग रूप भावना करते हैं, तो भी शुभोपयोगी ही कहलाते हैं। तथा जो शुद्धोपयोगी हैं, वे भी किसी समय शुभोपयोग रूप वर्तते हैं,तो भी शुद्धोपयोगी ही हैं। दोनों रूप प्रवृत्ति होने पर भी,ऐसा क्यों है ? बहुपद की—बहुलता की प्रधानता होने के कारण,आम्रवन-नीमवन आदि के समान, दोनों रूप प्रवृत्ति होने पर भी,अधिकता की अपेक्षा अन्तर है ॥ २८७ ॥

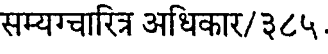
अब, कुछ भी जो प्रवृत्ति है, वह शुभोपयोगियों के ही है ; ऐसा नियम करते हैं—

जो चतुर्विध मुनिसंघ का भी नित करें उपकार हैं।

षट्काय हिंसा से रहित वे भी सराग प्रधान हैं ॥ २८८ ॥

गाथार्थ– षट्काय जीवों की विराधना से रहित,हमेशा जो कोई भी चतुर्विध श्रमण संघ का उपकार करता है, वह भी राग की प्रधानता सहित है।

टीकार्थ– ***उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स***– जो हमेशा उपकार करते हैं। किसका उपकार करते हैं ? चार प्रकार के मुनिसंघ का उपकार करते हैं। यहाँ *'श्रमण'* शब्द से *'श्रमण'* शब्द द्वारा वाच्य ऋषि, मुनि, यति, अनगार ग्रहण करना चाहिये।



"देशप्रत्यक्षवित्केवलभृदिहमुनिः स्यादृषिः प्रसृतर्द्धि।
रारूढः श्रेणियुग्मेऽजनि यतिरनगारोऽपरः साधुवर्गः।
राजा ब्रह्मा च देवः, परम इति ऋषिर्विक्रियाक्षीणशक्ति।
प्राप्तो बुद्ध्यौषधीशो वियदयनपटुर्विश्ववेदी क्रमेण॥"

ऋषय ऋद्धिं प्राप्तास्ते चतुर्विधा, राजब्रह्मदेवपरमऋषिभेदात्। तत्र राजर्षयो विक्रियाक्षीण र्द्धिप्राप्ता भवन्ति। ब्रह्मर्षयो बुद्ध्यौषधर्द्धि युक्ता भवन्ति। देवर्षयो गगनगमनर्द्धिसंपन्ना भवन्ति। परमर्षयः केवलिनः केवलज्ञानिनो भवन्ति। मुनयः अवधिमनःपर्ययकेवलिनश्च। यतय उपशमकक्षपकश्रेण्यारूढाः। अनगाराः सामान्यसाधवः। कस्मात्। सर्वेषां सुखदुःखादिविषये समतापरिणामोऽस्तीति।

अथवा श्रमणधर्मानुकूलश्रावकादिचातुर्वर्णसंघः। कथं यथा भवति। *कायविराधणरहिदं* स्वस्थभावना-स्वरूपं स्वकीयशुद्धचैतन्यलक्षणं निश्चयप्राणं रक्षन् परकीयषट्कायविराधनारहितं यथा भवति। ***सो वि सरागप्पधाणो से*** सोऽपीत्थंभूतस्तपोधनो धर्मानुरागचारित्रसहितेषु मध्ये प्रधानः श्रेष्ठः स्यादित्यर्थः॥ २८८॥

"देशप्रत्यक्षवित्— अवधिज्ञानी एवं मनःपर्ययज्ञानी, केवलभृद्—केवलज्ञानी— ये मुनि हैं, ऋद्धि प्राप्त साधु ऋषि हैं, दोनों श्रेणी रूप मार्ग पर आरूढ़ यति हैं तथा अन्य साधु समूह अनगार हैं। राजा, ब्रह्मा, देव और परमऋषि (राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि, परमर्षि) क्रम से विक्रिया और अक्षीण शक्ति प्राप्त, बुद्धि और औषध ऋद्धि के स्वामी, आकाश गमन ऋद्धि के धारी और केवलज्ञान-धारी होते हैं।"

ऋद्धि प्राप्त ऋषि हैं; वे राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि, परमर्षि के भेद से चार प्रकार के हैं। वहाँ विक्रिया और अक्षीण ऋद्धि को प्राप्त राजर्षि हैं। बुद्धि और औषध ऋद्धि से सहित ब्रह्मर्षि हैं। आकाश गमन ऋद्धि सम्पन्न देवर्षि हैं। तथा केवली—केवलज्ञानी परमर्षि हैं। अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी मुनि हैं। श्रेणी के आरोहक उपशमक और क्षपक यति हैं। सामान्य साधु अनगार हैं। ये सभी श्रमण क्यों हैं ? सभी के सुख-दुःख आदि विषय में समता परिणाम हैं, अतः ये सभी श्रमण हैं।

अथवा श्रमण धर्म के अनुकूल श्रावक आदि चातुर्वर्ण संघ है। इन सब का उपकार जैसा (बनता है, वह) कैसे करते हैं ? ***काय विराधणरहिदं***– अपने आप में लीनता रूप भावना स्वरूप, अपने शुद्ध चैतन्य लक्षण निश्चय प्राणों की रक्षा करते हुये, दूसरे छहकाय के जीवों की विराधना से रहित, जैसा उपकार बनता है, वैसा करते हैं। ***सो वि सरागप्पधाणो से***– वे इसप्रकार के मुनि भी धर्मानुराग रूप आचरण सहित मुनियों में प्रधान—श्रेष्ठ हैं—ऐसा अर्थ है।

भावार्थ– श्रमण-संघ के भेदों को हम निम्न प्रकार से भी समझ सकते हैं—

चतुर्विध श्रमण संघ

ऋषि				मुनि	यति	अनगार
राजर्षि	ब्रह्मर्षि	देवर्षि	परमर्षि	अवधि-मनःपर्यय	उपशमक-क्षपक	सामान्य साधु
विक्रिया	बुद्धि	आकाश	केवलज्ञान	केवल ज्ञानी	श्रेणी आरोहक	
अक्षीण	औषध	गमन	ऋद्धिधारी	साधु	साधु	
ऋद्धिधारी	ऋद्धिधारी	ऋद्धिधारी				

॥ २८८॥

अथ वैयावृत्त्यकालेऽपि स्वकीयसंयमविराधना न कर्तव्येत्युपदिशति–

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो।(२५०)

ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से॥ २८९ ॥

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो यदि चेत् करोति कायखेदं षट्कायविराधनाम्। कथंभूतः सन्। वैयावृत्त्यार्थमुद्यतः। *समणो ण हवदि* तदा श्रमणस्तपोधनो न भवति। तर्हि किं भवति। *हवदि अगारी* अगारी गृहस्थो भवति। कस्मात्। *धम्मो सो सावयाणं से* षट्कायविराधनां कृत्वा योऽसौ धर्मः स श्रावकाणां स्यात्, न च तपोधनानामिति।

इदमत्र तात्पर्यम्– योऽसौ स्वशरीरपोषणार्थं शिष्यादिमोहेन वा सावद्यं नेच्छति तस्येदं व्याख्यानं शोभते, यदि पुनरन्यत्र सावद्यमिच्छति वैयावृत्त्यादिस्वकीयावस्थायोग्ये धर्मकार्ये नेच्छति तदा तस्य सम्यक्त्वमेव नास्तीति॥ २८९ ॥

अब, वैयावृत्ति के समय भी,अपने संयम की विराधना नहीं करना चाहिये ; ऐसा उपदेश देते हैं–

यदि वैयावृत्ति अर्थ उद्यत कायखेद करे श्रमण।

वह श्रावकों का धर्म है आगारि है वह,ना श्रमण॥ २८९ ॥

गाथार्थ– वैयावृत्ति के लिये प्रयत्नशील मुनि,यदि छहकाय जीवों को कष्ट पहुँचाता है,तो वह मुनि नहीं, श्रावक है,(क्योंकि) वह श्रावकों का धर्म है।

टीकार्थ– ***जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो***– यदि कायखेद अर्थात् छह काय जीवों की विराधना करता है। कैसा होता हुआ ऐसा करता है ? वैयावृत्ति के लिये प्रयत्नशील होता हुआ,ऐसा करता है। ***समणो ण हवदि***– तब वह मुनि नहीं है। मुनि नहीं तो क्या है ? ***हवदि अगारी***–तो वह अगारी अर्थात् गृहस्थ है। वह गृहस्थ क्यों है ? ***धम्मो सो सावयाणं से***– छहकाय जीवों की विराधना कर,वैयावृत्ति करने वाला जो वह धर्म है, वह श्रावकों का है, मुनियों का नहीं; अतः वह गृहस्थ है, मुनि नहीं है।

यहाँ तात्पर्य यह है– जो वह,अपने शरीर के पोषण के लिये अथवा शिष्य आदि के मोह से सावद्य (पाप) नहीं चाहता है, उसके लिये वह (काय विराधना कर वैयावृत्ति न करने सम्बन्धी) व्याख्यान शोभा देता है– उचित है ; परन्तु यदि दूसरे कार्यों में सावद्य करता है और वैयावृत्ति आदि अपनी अवस्था के योग्य धर्मकार्य में,सावद्य नहीं चाहता है, तो उसके सम्यक्त्व ही नहीं है।

विशेषार्थ– इस गाथा-टीका में तात्पर्य रूप से 'आचार्य अमृतचन्द्र' लिखते हैं–

"इसलिये जो कुछ प्रवृत्ति हो,वह संयम के साथ सर्वथा अविरोध रूप से ही करना चाहिये ; क्योंकि प्रवृत्ति में भी संयम ही साध्य है।" [१] ॥ २८९ ॥

१- प्रवचनसार,गाथा २५०,तत्त्वप्रदीपिका टीका।

अथ यद्यप्यल्पलेपो भवति परोपकारे, तथापि शुभोपयोगिभिर्धर्मोपकारः कर्तव्य इत्युपदिशति–

जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं ।(२५१)

अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ।। २९० ।।

कुव्वदु करोतु । स कः कर्ता । शुभोपयोगी पुरुषः । कं करोतु । *अणुकंपयोवयारं* अनुकम्पासहितोपकारं दयासहितं धर्मवात्सल्यम् । यदि किम् । *लेवो जदि वि अप्पो* "सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ" [१] इति दृष्टान्तेन यद्यप्यल्पलेपः स्तोकसावद्यं भवति । केषां करोतु । *जोण्हाणं* निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गपरिणतजैनानाम् । कथम् । *णिरवेक्खं* निरपेक्षं शुद्धात्मभावनाविनाशकख्यातिपूजालाभवांछारहितं यथा भवति । कथंभूतानां जैनानाम् । *सागारणगारचरियजुत्ताणं* सागारानागारचर्यायुक्तानां श्रावकतपोधनाचरणसहितानामित्यर्थः ।। २९० ।।

अब, यद्यपि परोपकार में अल्पलेप होता है, तथापि शुभोपयोगियों को धर्मोपकार करना चाहिये ; ऐसा उपदेश देते हैं–

सागार या अनगार चर्या युक्त जैनों का करो ।

उपकार अनुकम्पा से थोड़ा लेप यदि निरपेक्ष हो ।। २९० ।।

गाथार्थ– यद्यपि अल्प लेप होता है, तो भी अनुकम्पा से सागार-अनागार चर्या युक्त जैनों का निरपेक्ष उपकार करो ।

टीकार्थ– *कुव्वदु*– करो । कर्ता रूप वह कौन करो ? शुभोपयोगी पुरुष करो । क्या करो ? *अणुकंपयोवयारं*– अनुकम्पा सहित उपकार-दयासहित धर्म वात्सल्य करो । यदि क्या हो तो करो ? *लेवो जदि वि अप्पो*– "थोड़ा लेप हो और पुण्य समूह बहुत हो"– ऐसे दृष्टान्त से यद्यपि थोड़ा लेप—थोड़ा पाप होता है, तो करो । किनका करो ? *जोण्हाणं*– निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग परिणत जैनों का करो । कैसे करो ? *णिरवेक्खं*– निरपेक्ष—शुद्धात्मभावना को नष्ट करने वाली प्रसिद्धि, पूजा, लाभ की इच्छा से रहित जैसा होता है, वैसे करो । कैसे जैनों का करो ? *सागारणगारचरियजुत्ताणं*– सागार और अनागार चर्या से सहित— श्रावक और मुनियों के आचरणयुक्त जीवों का करो— ऐसा अर्थ है ।

भावार्थ– 'थोड़ा पाप हो पुण्य समूह बहुत हो'— इस वाक्य के आधार से, यद्यपि थोड़ा पाप होता है फिर भी हे शुभोपयोगी पुरुषो ! निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग परिणत श्रावक और मुनियों के आचरण से सहित जैनों का, शुद्धात्म-भावना को नष्ट करने वाली प्रसिद्धि, पूजा, लाभ की इच्छा से रहित, जैसे हो वैसे— दया सहित वात्सल्य, उपकार करो ।

विशेषार्थ– इस गाथा के *'सागारणगार चरिय'* का अर्थ 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने 'साकारानाकार चर्या' करते हुये, इनके प्रति उपकार आदि करने को अनिषिद्ध तथा अन्यत्र निषिद्ध बताते हुये, इसे निम्न प्रकार से सहेतुक स्पष्ट किया है—

"जो वास्तव में अनुकम्पापूर्वक परोपकार लक्षण प्रवृत्ति है, वह वास्तव में अनेकान्त की मैत्री से पवित्र हुये चित्त वाले, शुद्धात्मा के ज्ञान-दर्शन से प्रवर्तमान वृत्ति से साकार-अनाकार चर्या वाले शुद्ध जैनों में, शुद्धात्मा की प्राप्ति से भिन्न,अन्य सभी की अपेक्षा न करने के कारण अल्पलेप होने पर भी अनिषिद्ध है, परन्तु अल्पलेप होने पर भी सबके प्रति सर्वथा ही अनिषिद्ध नहीं है(वरन् निषिद्ध ही है); क्योंकि वहाँ इस प्रकार की प्रवृत्ति से दूसरों की और अपने शुद्धात्मा की वृत्ति की रक्षा नहीं होती है ।" [२] ।। २९० ।।

१- स्वयम्भूस्तोत्र, वासुपूज्यभगवान स्तवन, पद्य ५८ । २- प्रवचनसार, गाथा २५१, तत्त्वप्रदीपिका टीका ।

अथानुकम्पालक्षणं कथ्यते–

तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो हि दुहिदमणो।

पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा॥ २९१ ॥[1]

तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो हि दुहिदमणो पडिवज्जदि तृषितं वा बुभुक्षितं वा दुःखितं वा दृष्ट्वा कमपि प्राणिनं यो हि स्फुटं दुःखितमनाः सन् प्रतिपद्यते स्वीकरोति। कं कर्मतापन्नम्। *तं* तं प्राणिनम्। कया। *किवया* कृपया दयापरिणामेन। *तस्सेसा होदि अणुकंपा* तस्य पुरुषस्यैषा प्रत्यक्षीभूता शुभोपयोगरूपानुकम्पा दया भवतीति। इमां चानुकम्पां ज्ञानी स्वस्थभावनामविनाशयन् संक्लेशपरिहारेण करोति। अज्ञानी पुनः संक्लेशेनापि करोतीत्यर्थः ॥ २९१ ॥

कस्मिन्प्रस्तावे वैयावृत्त्यं कर्तव्यमित्युपदिशति–

रोगेण वा छुधाए तण्हाए वा समेण वा रूढं। (२५२)

दिट्ठा समणं साहू पडिवज्जदु आदसत्तीए॥ २९२ ॥

अब, अनुकम्पा का लक्षण कहते हैं–

जो देख दुखित तृषित क्षुधित को दुखित मन हो दया से।

स्वीकार करता है उसे अनुकम्पा है उस भाव से॥ २९१ ॥

गाथार्थ– तृपातुर (प्यासे), क्षुधातुर (भूखे) अथवा दुखित को देखकर,दुःखित मन वाला जो,वास्तव में उसे दया परिणाम से स्वीकार करता है, उसका वह (भाव) अनुकम्पा है।

टीकार्थ– *तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो हि दुहिदमणो पडिवज्जदि*– तृषित (प्यासे) या बुभुक्षित (भूखे) या दुःखित किसी भी प्राणी को देखकर,जो वास्तव में दुःखित मन वाला होता हुआ,स्वीकार करता है। कर्मता को प्राप्त किसे,स्वीकार करता है ? *तं*– उस प्राणी को,स्वीकार करता है। कैसे,स्वीकार करता है ? *किवया*- कृपा—दयारूप परिणाम से,स्वीकार करता है। *तस्सेसा होदि अणुकंपा*– उस पुरुष का वह प्रत्यक्ष होने वाला शुभोपयोग रूप (परिणाम),अनुकम्पा—दया है। और इस अनुकम्पा को,ज्ञानी,स्वरूप-स्थिरता रूप भावना को नष्ट न करता हुआ,संक्लेश को दूर करने हेतु करता है। परन्तु अज्ञानी,संक्लेश से भी करता है– ऐसा अर्थ है ॥ २९१ ॥

किस प्रसंग में वैयावृत्ति करना चाहिये, ऐसा उपदेश देते हैं–

हों रोग से या श्रम क्षुधा से तृषा से पीड़ित मुनि।

को देख अपनी शक्ति से स्वीकृत करो उनको मुनि॥ २९२ ॥

गाथार्थ– रोग से या क्षुधा-तृषा (भूख-प्यास) से या श्रम से पीड़ित मुनि को देखकर,साधु अपनी शक्ति के अनुसार स्वीकार करें– वैयावृत्ति आदि करें।

१- पंचास्तिकाय संग्रह,ग्रन्थ में यह १३७वीं गाथा है।

पडिवज्जदु प्रतिपद्यतां स्वीकरोतु । कया । *आदसत्तीए* स्वशक्त्या । स कः कर्ता । *साहू* रत्नत्रयभावनया स्वात्मानं साधयतीति साधुः । कम् । *समणं* जीवितमरणादिसमपरिणामत्वाच्छ्रमणस्तं श्रमणम् । *दिट्ठा* दृष्ट्वा । कथंभूतम् । *रूढं* व्याप्तं पीडितं कदर्थितम् । केन । *रोगेण वा* अनाकुलत्वलक्षणपरमात्मनो विलक्षणेनाकुलत्वोत्पादकेन रोगेण व्याधिविशेषेण वा, *छुधाए* क्षुधया, *तण्हाए* वा तृष्णया वा, *समेण वा* मार्गोपवासादिश्रमेण वा ।

अत्रेदं तात्पर्यम्–स्वस्थभावनाविघातकरोगादिप्रस्तावे वैयावृत्त्यं करोति, शेषकाले स्वकीयानुष्ठानं करोतीति ॥ २९२ ॥

एवं शुभोपयोगितपोधनानां शुभानुष्ठानकथनमुख्यतया गाथाष्टकेन द्वितीयस्थलं गतम् ।

इत ऊर्ध्वं गाथाषट्कपर्यन्तं पात्रापात्रपरीक्षामुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति ।

अथ शुभोपयोगस्य पात्रभूतवस्तुविशेषात्फलविशेषं दर्शयति–

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं । (२५५)

णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि ॥ २९३ ॥

टीकार्थ– *पडिवज्जदु*– स्वीकार करें । कैसे स्वीकार करें ? ***आदसत्तीए***– अपनी शक्ति अनुसार स्वीकार करें । कर्ता रूप वे कौन स्वीकार करें ? ***साहू***– रत्नत्रय रूप भावना से,जो अपने आत्मा की साधना करते हैं, वे साधु हैं; वे स्वीकार करें । वे किसे स्वीकार करें ? ***समणं***– जीवन-मरण आदि में समान परिणाम होने से वे श्रमण हैं, उस श्रमण—मुनि को वे स्वीकार करें । ***दिट्ठा***– देखकर । कैसा देखकर स्वीकार करें ? ***रूढं***– व्याप्त—पीड़ित—दु:खित देखकर स्वीकार करें । किससे पीड़ित देखकर स्वीकार करें ? ***रोगेण वा***– आकुलता से रहित लक्षण (वाले) परमात्मा से विलक्षण,आकुलता को उत्पन्न करने वाले रोग से— बीमारी विशेष से, अथवा ***छुधाए***– क्षुधा (भूख) से, ***तण्हाए वा***- अथवा तृषा (प्यास) से, ***समेण वा***– अथवा मार्ग-उपवास आदि श्रम (थकान) से पीड़ित को देखकर,स्वीकार करें ।

यहाँ तात्पर्य यह है— आत्मस्थिरता रूप भावना को नष्ट करने वाले रोगादि का प्रसंग होने पर,वैयावृत्ति करते हैं, शेष समय में अपना अनुष्ठान करते हैं ॥ २९२ ॥

इसप्रकार शुभोपयोगी मुनियों के शुभ अनुष्ठान रूप कथन की मुख्यता से,८ गाथाओं द्वारा दूसरा स्थल समाप्त हुआ ।

(अब, तीसरा स्थल प्रारम्भ होता है)

इससे आगे छह गाथाओं तक पात्र-अपात्र परीक्षा की मुख्यता से व्याख्यान करते हैं—

अब, शुभोपयोग के पात्रभूत वस्तु-विशेष से फल-विशेष दिखाते हैं—

हो विविध भूगत बीज धान्योत्पत्ति में जैसे फले ।

वैसे प्रशस्त हो राग वस्तु-विशेष से विपरीत फले ॥ २९३ ॥

गाथार्थ– जैसे इस लोक में,अनेक प्रकार की भूमियों में पड़े हुये बीज,धान्य उत्पत्ति के समय अनेक प्रकार से फलते हैं; उसीप्रकार प्रशस्तभूत राग,वस्तु-विशेष (भेद) से विपरीत फलता है ।

फलदि फलति, फलं ददाति। स कः। *रागो* रागः। कथंभूतः। *पसत्थभूदो* प्रशस्तभूतो दानपूजादिरूपः। किं फलति। *विवरीदं* विपरीतमन्यादृशं भिन्नभिन्नफलम्। केन करणभूतेन। *वत्थुविसेसेण* जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नपात्रभूतवस्तुविशेषेण। अत्रार्थे दृष्टान्तमाह–*णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि* नानाभूमिगतानीह बीजानि इव सस्यकाले धान्यनिष्पत्तिकाल इति।

अयमत्रार्थः– यथा जघन्यमध्यमोत्कृष्टभूमिविशेषेण तान्येव बीजानि भिन्नभिन्नफलं प्रयच्छन्ति, तथा स एव बीजस्थानीयशुभोपयोगो भूमिस्थानीयपात्रभूतवस्तुविशेषेण भिन्नभिन्नफलं ददाति।

तेन किं सिद्धम्। यदा पूर्वसूत्रकथितन्यायेन सम्यक्त्वपूर्वकः शुभोपयोगो भवति तदा मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धो भवति, परंपरया निर्वाणं च। नो चेत्पुण्यबन्धमात्रमेव॥ २९३॥

टीकार्थ– ***फलदि***– फलता है– फल देता है। वह कौन फल देता है ? ***रागो***– राग फल देता है। कैसा राग फल देता है ? ***पसत्थभूदो***– प्रशस्तभूत– दानपूजादि रूप राग फल देता है। वह क्या फल देता है ? ***विवरीदं***– विपरीत–और दूसरे रूप भिन्न-भिन्न फल देता है। किस करणभूत से–किस साधन से फल देता है ? इस अर्थ में दृष्टान्त कहते हैं– ***णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि***– यहाँ अनेक प्रकार की भूमियों में पड़े हुये बीज के,धान्य-उत्पत्ति काल के समान।

यहाँ अर्थ यह है– जैसे जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भूमि-भेद से,वे ही बीज,भिन्न-भिन्न फल देते हैं, उसी-प्रकार बीज के स्थानीय वही शुभोपयोग,भूमि के स्थानीय पात्रभूत वस्तु-विशेष से भिन्न-भिन्न फल देता है।

उससे क्या सिद्ध हुआ– जब पहले गाथा में कहे गये न्याय से सम्यक्त्व पूर्वक शुभोपयोग होता है, तब मुख्य रूप से पुण्य बंध होता है तथा परम्परा से मोक्ष होता है। यदि वह वैसा (सम्यक्त्व के साथ) नहीं है,तो मात्र पुण्य बन्ध ही होता है।

विशेषार्थ– १- पात्र की विपरीतता से होने वाली फल की विपरीतता को 'आचार्य अमृतचन्द्र' निम्न हेतु से स्पष्ट करते हैं–

"कारण के भेद से कार्य का भेद अवश्यम्भावी होने के कारण", पात्र की विपरीतता से फल की विपरीतता होती है।[१]

२- पात्रों के भेद बताते हुये 'आचार्य अमृतचन्द्र' लिखते हैं–

मोक्ष के कारण रूप गुणों के संयोग रूप पात्र अविरत-सम्यग्दृष्टि, विरताविरत (देशव्रती) और सकलविरत (महाव्रती) रूप से तीन प्रकार के कहे हैं।[२] ॥ २९३॥

१- प्रवचनसार,गाथा २५५,तत्त्वप्रदीपिका टीका।

२- पुरुषार्थसिद्ध्युपाय,पद्य १७१।

अथ कारणवैपरीत्यात्फलमपि विपरीतं भवतीति तमेवार्थं दृढयति

छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो ।(२५६)

ण लहदि अपुणब्भावं भावं सादप्पगं लहदि ॥ २९४ ॥

ण लहदि न लभते । स कः कर्ता । *वदणियमज्झयणझाणदाणरदो* व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरतः । केषु विषये यानि व्रतादीनि । *छदुमत्थविहिदवत्थुसु* छद्मस्थविहितवस्तुषु अल्पज्ञानिपुरुषव्यवस्थापितपात्रभूतवस्तुषु । इत्थंभूतः पुरुषः कं न लभते । *अपुणब्भावं* अपुनर्भवशब्दवाच्यं मोक्षम् । तर्हि किं लभते । *भावं सादप्पगं लहदि* भावं सातात्मकं लभते । भावशब्देन सुदेवमनुष्यत्वपर्यायो ग्राह्यः । स च कथंभूतः । सातात्मकः सद्वेद्योदयरूप इति ।

तथाहि– ये केचन निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गं न जानन्ति, पुण्यमेव मुक्तिकारणं भणन्ति, ते छद्मस्थशब्देन गृह्यन्ते, न च गणधरदेवादयः । तैः छद्मस्थैरज्ञानिभिः शुद्धात्मोपदेशशून्यैर्ये दीक्षितास्तानि छद्मस्थविहितवस्तूनि भण्यन्ते । तत्पात्रसंसर्गेण यद्व्रतनियमाध्ययनदानादिकं करोति तदपि शुद्धात्मभावनानुकूलं न भवति, ततः कारणान्मोक्षं न लभते । सुदेवमनुष्यत्वं लभत इत्यर्थः ॥ २९४ ॥

अब, कारण की विपरीतता से,फल भी विपरीत होता है ; ऐसे उसी अर्थ को दृढ़ करते हैं–

व्रत नियम अध्ययन ध्यान दान जो विहित हैं छद्मस्थ से ।

जो लीन उनमें मोक्ष ना पा भाव सातात्मक लहे ॥ २९४ ॥

गाथार्थ– छद्मस्थ विहित (अज्ञानियों द्वारा व्यवस्थापित) वस्तुओं में व्रत, नियम, अध्ययन, ध्यान, दान रूप से लीन जीव,मोक्ष को प्राप्त नहीं करते,वरन् सातात्मक भाव को प्राप्त करते हैं ।

टीकार्थ– ***ण लहदि***– प्राप्त नहीं करता है । कर्ता रूप वह कौन प्राप्त नहीं करता है ? ***वदणियमज्झयणझाणदाणरदो***– व्रत, नियम, अध्ययन, ध्यान, दान में लीन जीव,प्राप्त नहीं करता है । किनके विषय में जिन व्रतादि में लीन होने पर भी नहीं पाता है ? ***छदुमत्थविहिदवत्थुसु***– छद्मस्थ द्वारा विहित वस्तुओं में– अल्पज्ञानी पुरुष द्वारा व्यवस्थापित पात्रभूत वस्तुओं में,व्रतादि रूप में लीन होने पर भी, जीव नहीं पाता है । ऐसा पुरुष क्या नहीं पाता है ? ***अपुणब्भावं***– अपुनर्भव शब्द से वाच्य मोक्ष,ऐसा पुरुष नहीं पाता है । मोक्ष नहीं पाता,तो क्या पाता है ? ***भावं सादप्पगं लहदि***– सातात्मक भाव को पाता है । भाव शब्द से,यहाँ,सुदेव, सुमनुष्यत्व रूप पर्याय ग्रहण करनी चाहिये । वह पर्याय कैसी है ? वह पर्याय सातात्मक– सतावेदनीय के उदय रूप है ।

वह इसप्रकार– जो कोई निश्चय-व्यवहार रूप मोक्षमार्ग को नहीं जानते हैं, पुण्य को ही मुक्ति का कारण कहते हैं, यहाँ वे छद्मस्थ शब्द से ग्रहण किये गये हैं; गणधर देव आदि नहीं । उन शुद्धात्मा के उपदेश से रहित,छद्मस्थ अज्ञानियों से,जो दीक्षित हैं, वे छद्मस्थ-विहित (व्यवस्थापित) वस्तुयें कहलाती हैं । उन पात्रों के संसर्ग से जो व्रत, नियम, अध्ययन, ध्यान, दान आदि करते हैं, वे भी शुद्धात्मा की भावना के अनुकूल नहीं हैं, उस कारण वे मोक्ष प्राप्त नहीं करते हैं । सुदेव, सुमनुष्यत्व प्राप्त करते हैं– ऐसा अर्थ है ॥ २९४ ॥

अथ सम्यक्त्वव्रतरहितपात्रेषु भक्तानां कुदेवमनुजत्वं भवतीति प्रतिपादयति–

अविदिदपरमत्थेसु य विसयकसायाधिगेसु पुरिसेसु ।(२५७)

जुट्ठं कदं व दत्तं फलदि कुदेवेसु मणुवेसु ॥ २९५ ॥

फलदि फलति । केषु । *कुदेवेसु मणुवेसु* कुत्सितदेवेषु मनुजेषु । किं कर्तृ । *जुट्ठं* जुष्टं सेवा कृता, *कदं व* कृतं वा किमपि वैयावृत्त्यादिकम्, *दत्तं* दत्तं किमप्याहारादिकम् । केषु । *पुरिसेसु* पुरुषेषु पात्रेषु । किंविशिष्टेषु । *अविदिदपरमत्थेसु य* अविदितपरमार्थेषु च, परमात्मतत्त्वश्रद्धानज्ञानशून्येषु । पुनरपि किंरूपेषु । *विसयकसायाधिगेसु* विषयकषायाधिकेषु, विषयकषायाधीनत्वेन निर्विषयशुद्धात्मस्वरूपभावनारहितेषु इत्यर्थः ॥ २९५ ॥

अथ तमेवार्थं प्रकारान्तरेण दृढयति–

जदि ते विसयकसाया पाव त्ति परूविदा व सत्थेसु ।(२५८)

किह ते तप्पडिबद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति ॥ २९६ ॥

अब, सम्यक्त्व और व्रत रहित पात्रों में भक्ति वाले जीवों के कुदेव, कुमनुष्यत्व होता है ; ऐसा प्रतिपादन करते हैं–

परमार्थ है अज्ञात अधिक कषाय-विषयी जनों में ।

कृत, दान व सेवा करे तो फले कुनर कुदेव में ॥ २९५ ॥

गाथार्थ– परमार्थ को नहीं जानने वाले, विषय-कषायों में अधिक पुरुषों के प्रति की गई सेवा, उपकार या दान कुदेव या कुमनुष्य रूप में फलता है ।

टीकार्थ– ***फलदि***– फलता है । किस रूप में फलता है ? ***कुदेवेसु मणुवेसु***– कुत्सित देवों-मनुष्यों के रूप में फलता है । क्या करना फलता है ? ***जुट्ठं***– सेवा करना, ***कदं वा***– कुछ भी वैयावृत्ति आदि करना, अथवा ***दत्तं***– कुछ भी आहार आदि देना कुदेवादि रूप में फलता है । ये सब किनके प्रति करने से, इस रूप फलते हैं ? ***पुरिसेसु***– ये सब पुरुष रूप पात्रों के प्रति करने से, ऐसे फलते हैं । किस विशेषता वाले पुरुष-पात्रों में करने से फलते हैं ? ***अविदिदपरमत्थेसु य***– परमार्थ से अजानकार–परमात्मतत्त्व के श्रद्धान-ज्ञान से रहित पुरुषों में, करने से फलते हैं । और किस स्वरूप वाले पुरुषों में, करने से इस रूप में फलते हैं ? ***विसयकसायाधिगेसु***– विषय-कषायों में अधिक–विषय-कषायों के अधीन होने से, विषय-कषाय रहित शुद्धात्मस्वरूप की भावना से रहित पुरुषों में, ये सब करने से, वे कुदेवादि रूप में फलते हैं ॥ २९५ ॥

अब, उसी अर्थ को दूसरे रूप में दृढ़ करते हैं–

यदि पाप विषय-कषाय हैं वे शास्त्र में ऐसा कहा ।

तो लीन उनमें जो पुरुष वे कैसे हों निस्तारका? ॥ २९६ ॥

गाथार्थ– क्योंकि वे विषय-कषाय पाप हैं– ऐसा शास्त्रों में कहा गया है, तो उनमें आसक्त पुरुष निस्तारक (पार करने वाले) कैसे हो सकते हैं ?

जदि ते विसयकसाया पाव त्ति परूविदा व सत्थेसु यदि चेत् ते विषयकषाया: पापमिति प्ररूपिता: शास्त्रेषु, *किह ते तप्पडिबद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति* कथं ते तत्प्रतिबद्धा विषयकषायप्रतिबद्धा: पुरुषा निस्तारका: संसारोत्तारका दातॄणाम्, न कथमपीति ।

एतदुक्तं भवति– विषयकषायास्तावत्पापस्वरूपास्तद्वन्त: पुरुषा अपि पापा एव, ते च स्वकीयभक्तानां दातॄणां पुण्यविनाशका एवेति ॥ २९६ ॥

अथ पात्रभूततपोधनलक्षणं कथयति–

उवरदपावो पुरिसो समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु ।(२५९)
गुणसमिदिदोवसेवी हवदि स भागी सुमग्गस्स ॥ २९७ ॥

उपरतपापत्वेन, सर्वधार्मिकसमदर्शित्वेन, गुणग्रामसेवकत्वेन च स्वस्य मोक्षकारणत्वात्परेषां पुण्यकारणत्वाच्चेत्थंभूतगुणयुक्त: पुरुष: सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यलक्षणनिश्चयमोक्षमार्गस्य भाजनं भवतीति ॥ २९७ ॥

टीकार्थ– *जदि ते विसयकसाया पाव त्ति परूविदा व सत्थेसु–* यदि वे विषय-कषाय पाप हैं– ऐसा शास्त्रों में कहा गया है,तो *किह ते तप्पडिबद्धो पुरिसा णित्थारगा होंति–* वे तत्प्रतिबद्ध–विषयकषाय में प्रतिबद्ध–आसक्त पुरुष,निस्तारक–दाताओं को संसार से पार उतारने वाले,कैसे हो सकते हैं ? किसी प्रकार भी नहीं हो सकते हैं ।

इससे यह कहा गया है कि सर्वप्रथम तो विषय-कषाय पाप स्वरूप हैं, उनसे सहित पुरुष भी पाप ही हैं और वे अपने भक्त दाताओं के पुण्य का विनाश करने वाले ही हैं ॥ २९६ ॥

अब, पात्रभूत मुनि का लक्षण कहते हैं–

हैं पाप विरहित सर्व धार्मिक जनों में समभाव युत ।
गुणग्रामसेवि सुमार्ग के हैं पात्र वे नर गुणों युत ॥ २९७ ॥

गाथार्थ– पापों से रहित, सभी धार्मिकों में समभाव रखने वाले, गुण-समूह का सेवन करने वाले वे पुरुष, सुमार्ग के पात्र हैं ।

टीकार्थ– पाप से रहित होने के कारण, सभी धार्मिकों को समता भाव से देखने वाले होने के कारण और गुण-समूह का सेवन करने वाले होने के कारण, स्वयं को मोक्ष का कारण होने से और दूसरों के पुण्य का कारण होने से– इसप्रकार के गुणों सहित पुरुष,सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप एकाग्रता लक्षण निश्चय मोक्षमार्ग के पात्र हैं ॥ २९७ ॥

अथ तेषामेव पात्रभूततपोधनानां प्रकारान्तरेण लक्षणमुपलक्षयति–

असुभोवयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा।(२६०)

णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो ॥ २९८ ॥

शुद्धोपयोगशुभोपयोगपरिणतपुरुषाः पात्रं भवन्तीति। तद्यथा– निर्विकल्पसमाधिबलेन शुभाशुभोपयोगद्वयरहितकाले कदाचिद्वीतरागचारित्रलक्षणशुद्धोपयोगयुक्ताः, कदाचित्पुनर्मोहद्वेषाशुभरागरहितकाले सरागचारित्रलक्षणशुभोपयोगयुक्ताः सन्तो भव्यलोकं निस्तारयन्ति, तेषु च भक्तो भव्यवरपुण्डरीकः प्रशस्तफलभूतं स्वर्गं लभते, परंपरया मोक्षं चेति भावार्थः ॥ २९८ ॥

एवं पात्रापात्रपरीक्षाकथनमुख्यतया गाथाषट्केन तृतीयस्थलं गतम्।

इत ऊर्ध्वं आचारकथितक्रमेण पूर्वं कथितमपि पुनरपि दृढीकरणार्थं विशेषेण तपोधनसमाचारं कथयति। अथाभ्यागततपोधनस्य दिनत्रयपर्यन्तं सामान्यप्रतिपत्तिं, तदनन्तरं विशेषप्रतिपत्तिं दर्शयति–

अब, उन्हीं पात्रभूत मुनिराजों का दूसरे रूप से लक्षण स्पष्ट करते हैं–

अशुभोपयोग रहित हैं शुध उपयोग या उपयोग शुभ।

वे तारते हैं, लोक को जो भक्त उनके लहें शुभ ॥ २९८ ॥

गाथार्थ– जो अशुभोपयोग से रहित हैं तथा शुद्धोपयोग या शुभोपयोग से सहित हैं, वे लोगों के निस्तारक होते हैं– लोगों को पार कर देते हैं, उनके प्रति भक्ति रखने वाले जीव पुण्य प्राप्त करते हैं।

टीकार्थ– शुद्धोपयोग- शुभोपयोग परिणत पुरुष पात्र हैं। वह इसप्रकार– विकल्प रहित समाधि– स्वरूप-स्थिरता के बल से, शुभ-अशुभ दोनों उपयोगों से रहित समय में, कभी वीतराग-चारित्र लक्षण शुद्धोपयोग से सहित तथा कभी मोह-राग-द्वेष और अशुभराग से रहित समय में, सराग-चारित्र लक्षण शुभोपयोग से सहित होते हुये, भव्य जीवों को तारते हैं और उनके प्रति भक्ति वाले भव्यवरपुण्डरीक– भव्यों में श्रेष्ठ भक्त जन, प्रशस्त फलभूत स्वर्ग प्राप्त करते हैं और परम्परा से मोक्ष प्राप्त करते हैं– ऐसा भाव है ॥२९८ ॥

इसप्रकार पात्र-अपात्र परीक्षा सम्बन्धी कथन की मुख्यता से छह गाथाओं द्वारा, तीसरा स्थल समाप्त हुआ।

(अब, आठ गाथाओं में निबद्ध, चौथा स्थल प्रारम्भ होता है)

इससे आगे, आचार शास्त्र में कहे गये क्रम से पहले कहा गया होने पर भी, फिर से दृढ़ करने के लिये विशेष रूप से मुनि का समाचार (परस्पर में विनयादि व्यवहार) कहते हैं।

दिट्ठा पगदं वत्थु अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं । (२६१)

वट्टदु तदो गुणादो विसेसिदव्वो त्ति उवदेसो ॥ २९९ ॥

वट्टदु वर्तताम्। स कः। अत्रत्य आचार्यः। किं कृत्वा। *दिट्ठा* दृष्ट्वा। किम्। *वत्थुं* तपोधनभूतं पात्रं वस्तु। किंविशिष्टम्। *पगदं* प्रकृतं अभ्यन्तरनिरुपरागशुद्धात्मभावनाज्ञापकबहिरंगनिर्ग्रन्थनिर्विकाररूपम्। काभिः कृत्वा वर्तताम्। *अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं* अभ्यागतयोग्याचारविहिताभिरभ्युत्थानादिक्रियाभिः। *तदो गुणादो* ततो दिनत्रयानन्तरं गुणाद्गुणविशेषात् *विसेसिदव्वो* तेन आचार्येण स तपोधनो रत्नत्रयभावनावृद्धिकारणक्रियाभिर्विशेषितव्यः *त्ति उवदेसो* इत्युपदेशः सर्वज्ञगणधरदेवादीनामिति ॥ २९९ ॥

अब, आये हुये मुनि के प्रति तीन दिन तक सामान्य विनय आदि तथा उसके बाद विशेष विनय आदि (व्यवहार) को दिखाते हैं—

वे प्रकृत वस्तु देख अभ्युत्थान आदि क्रिया से।

वर्तें पुनः उपदेश है ये विशेष करना गुणों से ॥ २९९ ॥

गाथार्थ– प्रकृत वस्तु (जिनका प्रकरण चल रहा है, ऐसी वस्तु—पात्र मुनि) को देखकर (हे श्रमण !) अभ्युत्थान आदि क्रियाओं से वर्तो, उसके बाद गुणानुसार भेद करना चाहिये— ऐसा उपदेश है।

टीकार्थ– ***वट्टदु***– वर्तें। वे कौन वर्तें ? यहाँ के आचार्य वर्तें। क्या करके वर्तें ? ***दिट्ठा***– वे देखकर वर्तें। किन्हें देखकर वर्तें ? ***वत्थुं***– मुनि रूप पात्र वस्तु को देखकर वर्तें। किस विशेषता वाले मुनि को देखकर वर्तें ? ***पगदं***– प्रकृत-अन्दर में वर्तने वाली उपराग (मलिनता) रहित शुद्धात्मा की भावना को बताने वाले, बाहर के निर्ग्रन्थ निर्विकार—विकार रहित दिगम्बर रूप को देखकर वर्तें। किस रूप से वर्तें ? ***अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं***– आये हुये मुनि के योग्य आचारशास्त्र में कही गई अभ्युत्थान—सम्मानार्थ खड़े होना— इत्यादि क्रियाओं रूप से वर्तें। ***तदो गुणादो***– फिर तीन दिन बाद गुणों से—गुणों की विशेषता से ***विसेसिदव्वो***– उन आचार्य को, उन मुनि के प्रति रत्नत्रय रूप भावना की वृद्धि की कारणभूत क्रियाओं द्वारा, विशेष करना चाहिये— ऐसा सर्वज्ञ, गणधरदेवादि का उपदेश है।

भावार्थ– अन्दर में वर्तने वाली रागादि रहित शुद्धात्मा की भावना को बताने वाले, विकार रहित दिगम्बर रूपधारी मुनि रूप पात्र वस्तु को देखकर, यहाँ के आचार्य, मुनि के योग्य आचारशास्त्र में कही गई सम्मानार्थ खड़े होना आदि क्रियाओं रूप में वर्तें। फिर तीन दिन बाद गुणों की विशेषता से, रत्नत्रय रूप भावना की वृद्धि की कारणभूत क्रियाओं द्वारा, उन मुनि के प्रति उनकी भूमिकानुसार विशेष व्यवहार करना चाहिये— ऐसा सर्वज्ञ, गणधरदेवादि का उपदेश है।

विशेषार्थ– इस गाथा की अत्यन्त संक्षिप्त टीका 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने निम्न प्रकार लिखी है—

"मुनियों को आत्म-विशुद्धि की हेतुभूत प्रकृत वस्तु (आगत मुनि) में, उनके अनुकूल क्रिया की प्रवृत्ति से गुणों की अतिशयता का आरोपण निषिद्ध नहीं है।"[१] ॥ २९९ ॥

१- प्रवचनसार, गाथा २६१, तत्त्व प्रदीपिका टीका।

अथ तमेव विशेषं कथयति–

अब्भुट्ठाणं गहणं उवासणं पोसणं च सक्कारं।(२६२)

अंजलिकरणं पणमं भणिदमिह गुणाधिगाणं हि ॥ ३०० ॥

भणिदं भणितं कथितं। *इह* अस्मिन्ग्रन्थे। केषां संबन्धी। *गुणाधिगाणं हि* गुणाधिकतपोधनानां हि स्फुटम्। किं भणितम्। *अब्भुट्ठाणं गहणं उवासणं पोसणं च सक्कारं अंजलिकरणं पणमं* अभ्युत्थान-ग्रहणोपासनपोषणसत्कारांजलिकरणप्रणामादिकम्। अभिमुखगमनमभ्युत्थानम्, ग्रहणं स्वीकारः, उपासनं शुद्धात्मभावनासहकारिकारणनिमित्तं सेवा, तदर्थमेवाशनशयनादिचिन्ता पोषणम् भेदाभेदरत्नत्रयगुणप्रकाशनं सत्कारः, बद्धांजलिनमस्कारोऽञ्जलिकरणम्, नमोस्त्वितिवचनव्यापारः प्रणाम इति ॥ ३०० ॥

अथाभ्यागतानां तदेवाभ्युत्थानादिकं प्रकारान्तरेण निर्दिशति–

अब्भुट्ठेया समणा सुत्तत्थविसारदा उवासेया।(२६३)

संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि समणेहिं ॥ ३०१ ॥

अब, उसे ही विशेष कहते हैं–

सत्कार अभ्युत्थान ग्रहण प्रणाम पोषण उपासन।

ये कहे हैं गुण से अधिक के प्रति वा अंजलीकरण ॥ ३०० ॥

गाथार्थ– यहाँ गुणों में अधिक (मुनि) के प्रति, सम्मानार्थ खड़े होना, ग्रहण (आदर से स्वीकार करना), उपासन, पोषण, सत्कार, अंजलिकरण, प्रणाम करना कहा गया है।

टीकार्थ– *भणिदं*– कहा गया है। *इह*– इस ग्रन्थ में। यहाँ किनके सम्बन्ध में कहा गया है ? *गुणाधिगाणं हि*– यहाँ वास्तव में गुणों में अधिक मुनियों के सम्बन्ध में कहा गया है। उनके सम्बन्ध में क्या कहा गया है ? *अब्भुट्ठाणं गहणं उवासणं पोसणं च सक्कारं अंजलिकरणं पणमं*– खड़े होना, ग्रहण, उपासन, पोषण, सत्कार, अंजलिकरण, प्रणाम आदि उनके सम्बन्ध में, करने को कहा गया है। सामने जाना अभ्युत्थान है, स्वीकार करना ग्रहण है, शुद्धात्म-भावना के सहकारी कारण के हेतु से सेवा करना उपासन है, उसी के लिये भोजन-शयन आदि की चिन्ता करना पोषण है, भेदाभेद रत्नत्रय रूप गुण को प्रकाशित करना सत्कार है, अंजलि बाँधकर नमस्कार करना अंजलिकरण है, नमस्कार हो– ऐसा वचन बोलना प्रणाम है ॥ ३०० ॥

अब, आगत मुनिराजों के प्रति, उन्हीं अभ्युत्थान आदि को अन्य प्रकार से दिखाते हैं–

मुनि विशारद सूत्रार्थ संयम ज्ञान तप समृद्ध हैं।

मुनियों से अभ्युत्थान सेवा वन्दना के योग्य हैं ॥ ३०१ ॥

गाथार्थ– मुनियों द्वारा, वास्तव में सूत्रार्थविशारद, संयम-तप-ज्ञान में समृद्ध श्रमण अभ्युत्थान, उपासन और प्रणाम करने योग्य हैं।

अब्भुट्ठेया यद्यपि चारित्रगुणेनाधिका न भवन्ति, तपसा वा, तथापि सम्यग्ज्ञानगुणेन ज्येष्ठत्वाच्छ्रुतविनयार्थमभ्युत्थेयाः अभ्युत्थानयोग्या भवन्ति। के ते। *समणा* श्रमणा निर्ग्रन्थाचार्याः। किंविशिष्टाः। *सुत्तत्थविसारदा* विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मतत्त्वप्रभृत्यनेकान्तात्मकपदार्थेषु वीतरागसर्वज्ञप्रणीतमार्गेण प्रमाणनयनिक्षेपैर्विचार चतुरचेतसः सूत्रार्थविशारदाः। न केवलमभ्युत्थेयाः, *उवासेया* परमचिज्ज्योतिः परमात्मपदार्थपरिज्ञानार्थमुपासेयाः परमभक्तया सेवनीयाः। *संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि* संयमतपोज्ञानाढ्याः प्रणिपतनीयाः हि स्फुटं। बहिरंगेन्द्रियसंयमप्राणसंयमबलेनाभ्यन्तरे स्वशुद्धात्मनि यत्नपरत्वं संयमः। बहिरंगानशनादितपोबलेनाभ्यन्तरे परद्रव्येच्छानिरोधेन च स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं तपः। बहिरंगपरमागमाभ्यासेनाभ्यन्तरे स्वसंवेदनज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्। एवमुक्तलक्षणैः संयमतपोज्ञानैराढ्याः परिपूर्णा यथासंभवं प्रतिवन्दनीयाः। कैः। *समणेहिं* श्रमणैरिति।

अत्रेदं तात्पर्यम्– ये बहुश्रुता अपि चारित्राधिका न भवन्ति, तेऽपि परमागमाभ्यासनिमित्तं यथायोग्यं वन्दनीयाः। द्वितीयं च कारणम्– ते सम्यक्त्वे ज्ञाने च पूर्वमेव दृढतराः, अस्य तु नवतरतपोधनस्य सम्यक्त्वे ज्ञाने चापि दार्ढ्यं नास्ति।

तर्हि स्तोकचारित्राणां किमर्थमागमे वन्दनादिनिषेधः कृत इति चेत्। अतिप्रसंगनिषेधार्थमिति ॥ ३०१ ॥

टीकार्थ– ***अब्भुट्ठेया***– यद्यपि चारित्र गुण से अधिक नहीं हैं, या तप से अधिक नहीं हैं, तो भी सम्यग्ज्ञान गुण की अपेक्षा ज्येष्ठ– अधिक होने से श्रुत की विनय के लिये, वे अभ्युत्थेय–अभ्युत्थान के योग्य–उठकर सम्मान आदि करने योग्य हैं। वे कौन उसके योग्य हैं ? ***समणा***– श्रमण–निर्ग्रन्थ आचार्य उसके योग्य हैं। वे निर्ग्रन्थ आचार्य किस विशेषता वाले हैं ? ***सुत्तत्थविसारदा***– विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभावी परमात्मतत्त्व प्रभृति अनेकान्तात्मक पदार्थों में, वीतराग-सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग से प्रमाण-नय-निक्षेपों द्वारा विचार करने में चतुर चित्त वाले, सूत्रार्थ विशारद हैं। वे केवल अभ्युत्थान के ही योग्य नहीं हैं, वरन् ***उवासेया***– परम चैतन्य ज्योति परमात्मपदार्थ के परिज्ञान के लिये, उपासना करने योग्य हैं– परम भक्ति से सेवा करने योग्य हैं। ***संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि***– वास्तव में वे संयम-तप-ज्ञान से समृद्ध श्रमण, वन्दना करने योग्य हैं। बाह्य में इन्द्रिय-संयम और प्राण-संयम के बल से, अन्दर अपने शुद्धात्मा में यत्नपरता संयम है। बाह्य में अनशन आदि तप के बल से और अन्दर में परद्रव्य की इच्छा के निरोध से, अपने स्वरूप में प्रतपन–विजयन तप है। बाह्य में परमागम के अभ्यास से, अन्दर में स्वसंवेदन ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। इसप्रकार कहे गये लक्षण वाले संयम-तप-ज्ञान से समृद्ध–परिपूर्ण श्रमण, यथासंभव प्रतिवन्दना करने योग्य हैं। वे किनके द्वारा अभ्युत्थान आदि करने योग्य हैं ? ***समणेहिं***– वे, श्रमणों द्वारा, अभ्युत्थान आदि करने योग्य हैं।

यहाँ तात्पर्य यह है– जो बहुश्रुत होने पर भी चारित्र में अधिक नहीं हैं, वे भी परमागम का अभ्यास करने के हेतु से, यथायोग्य वन्दना के योग्य हैं। उनके प्रति वन्दना करने का दूसरा भी कारण है– वे सम्यक्त्व और ज्ञान में पहले से ही दृढ़तर हैं, परन्तु इन नवीन मुनियों के सम्यक्त्व और ज्ञान में भी दृढ़ता नहीं है।

तब फिर थोड़े चारित्र वालों के प्रति आगम में वन्दना आदि का निषेध किसलिये किया गया है ? यदि ऐसा प्रश्न हो तो कहते हैं– अतिप्रसंग (सीमा के उल्लंघन) का निषेध करने के लिये आगम में इसका निषेध किया है।

विशेषार्थ– अपनी अति संक्षिप्त टीका में 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने श्रमणाभासों के प्रति ये सब प्रवृत्तियाँ निषिद्ध ही हैं– ऐसा लिखा है[१] ॥ ३०१ ॥

---

१. प्रवचनसार, गाथा २६३, तत्त्वप्रदीपिका टीका।

अथ शुभोपयोगिनां शुभप्रवृत्तिं दर्शयति–

वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती। (२४७)

समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रागचरियम्हि ॥ ३०२ ॥

ण णिंदिदा नैव निषिद्धा। क्व। *रागचरियम्हि* शुभरागचर्यायां सरागचारित्रावस्थायाम्। का न निन्दिता। *वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती* वन्दननमस्काराभ्यां सहाभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिप्रवृत्तिः। *समणेसु समावणओ* श्रमणेषु श्रमापनयः रत्नत्रयभावनाभिघातकश्रमस्य खेदस्य विनाश इति।

अनेन किमुक्तं भवति– शुद्धोपयोगसाधके शुभोपयोगे स्थितानां तपोधनानां इत्थंभूताः शुभोपयोग-प्रवृत्तयो रत्नत्रयाराधकशेषपुरुषेषु विषये युक्ता एव, विहिता एवेति ॥ ३०२ ॥

अथ श्रमणाभासः कीदृशो भवतीति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति–

ण हवदि समणो त्ति मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तो वि।(२६४)

जदि सद्दहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे ॥ ३०३ ॥

अब, शुभोपयोगियों की शुभप्रवृत्ति दिखाते हैं–

श्रमणों के प्रति वन्दन नमन अनुगमन अभ्युत्थान है।

प्रतिपत्ति श्रमवारण न रागदशा में निन्दा योग्य है ॥ ३०२ ॥

गाथार्थ– श्रमणों के प्रति वन्दन, नमस्कार सहित अभ्युत्थान, अनुगमन रूप विनीत प्रवृत्ति, श्रम को दूर करना आदि राग चर्या में निन्दित नहीं है।

टीकार्थ– ***ण णिंदिदा***– निषिद्ध नहीं हैं। किसमें निषिद्ध नहीं हैं? ***रागचरियम्हि***– शुभ राग चर्या में—सराग चारित्र अवस्था में निषिद्ध नहीं हैं। क्या निन्दित नहीं हैं? ***वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती***– वन्दन-नमस्कार के साथ अभ्युत्थान, अनुगमन रूप विनीत प्रवृत्ति, निन्दित नहीं है। ***समणेसु समावणओ***– श्रमणों में श्रम को दूर करना—रत्नत्रयरूप भावना को नष्ट करने वाले श्रम—खेद को नष्ट करना, निन्दित नहीं है।

इससे क्या कहा गया है—शुद्धोपयोग के साधक शुभोपयोग में स्थित मुनिराजों को, रत्नत्रय की आराधना करने वाले शेष पुरुषों के विषय में, इसप्रकार की शुभोपयोग रूप प्रवृत्तियाँ युक्त ही हैं—योग्य ही हैं ॥ ३०२ ॥

अब, श्रमणाभास कैसे होते हैं? ऐसा प्रश्न पूछने पर उत्तर देते हैं–

हो सूत्र संयम तप सहित पर यदि करे श्रद्धान ना।

जिन कथित आत्मप्रधान अर्थों का तो माना श्रमण ना ॥ ३०३ ॥

गाथार्थ– संयम, तप और सूत्र से सहित होने पर भी, यदि जिनेन्द्र भगवान कथित आत्म-प्रधान अर्थों का श्रद्धान नहीं करता है, तो वह श्रमण नहीं है— ऐसा माना गया है।

ण हवदि समणो स श्रमणो न भवति *त्ति मदो* इति मतः सम्मतः। क्व। आगमे। कथंभूतोऽपि। *संजमतवसुत्तसंपजुत्तो वि* संयमतपःश्रुतैः संप्रयुक्तोऽपि सहितोऽपि। यदि किम्। *जदि सद्दहदि ण* यदि त्रयमूढत्रयादिपंचविंशतिसम्यक्त्वमलसहितः सन् न श्रद्धत्ते, न रोचते, न मन्यते। कान्। *अत्थे* पदार्थान्। कथंभूतान्। *आदपधाणे* निर्दोषिपरमात्मप्रभृतीन्। पुनरपि कथंभूतान्। *जिणक्खादे* वीतरागसर्वज्ञ-जिनेश्वरेणाख्यातान्, दिव्यध्वनिना प्रणीतान्, गणधरदेवैर्ग्रन्थविरचितानित्यर्थः ॥ ३०३ ॥

अथ मार्गस्थश्रमणदूषणे दोषं दर्शयति–

अववददि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि ।(२६५)

किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो णट्ठचारित्तो ॥ ३०४ ॥

टीकार्थ– ***ण हवदि समणो***– वह श्रमण नहीं है, ***त्ति मदो***– ऐसा माना गया है– स्वीकार किया गया है। ऐसा कहाँ माना गया है ? ऐसा आगम में माना गया है। कैसा होने पर भी वह मुनि नहीं है ? ***संजमतवसुत्तसंपजुत्तो वि***– संयम, तप, श्रुत से सहित होने पर भी वह मुनि नहीं है। ***जदि सद्दहदि ण***– यदि सम्यक्त्व के तीन मूढ़ता आदि पच्चीस मल– दोषों सहित होता हुआ श्रद्धान नहीं करता है, रुचि नहीं करता है, मानता नहीं है, तो वह मुनि नहीं है। किनका श्रद्धान नहीं करता है ? ***अत्थे***– पदार्थों का श्रद्धान नहीं करता है। कैसे पदार्थों का श्रद्धान नहीं करता है ? ***आदपधाणे***– दोष रहित परमात्मा प्रधान पदार्थों का श्रद्धान नहीं करता है। और कैसे पदार्थों का श्रद्धान नहीं करता है ? ***जिणक्खादे***– वीतराग-सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित किये गये, दिव्यध्वनि द्वारा कहे गये, गणधर देवों द्वारा ग्रन्थों में लिखे गये, आत्मा प्रधान पदार्थों का श्रद्धान नहीं करता है, तो मुनि नहीं है– ऐसा अर्थ है।

भावार्थ– जो संयम, तप, श्रुत से सहित होने पर भी, वीतरागी सर्वज्ञ भगवान द्वारा प्रतिपादित किये गये, दिव्यध्वनि द्वारा कहे गये, गणधर देवों द्वारा ग्रन्थों में गूँथे गये, दोष रहित परमात्मा आदि प्रधान पदार्थों का, यदि सम्यक्त्व के तीन मूढ़ता आदि पच्चीस दोषों से सहित होता हुआ, श्रद्धान नहीं करता है, रुचि नहीं करता है, मानता नहीं है, तो वह मुनि नहीं है– ऐसा आगम में स्वीकार किया गया है ॥ ३०३ ॥

अब (सम्यक्त्व) मार्ग में स्थित मुनि पर दोष लगाने में, दोष दिखाते हैं–

अपवाद करता शासनस्थ श्रमण को देख प्रद्वेष से।

क्रियाओं में अनुमत न हो वह नष्ट चारित्र हुआ है ॥ ३०४ ॥

भावार्थ– जो [illegible] श्रमण को देखकर, द्वेष से [illegible] करता है, [illegible] क्रियाओं में [illegible] नहीं है, [illegible]।

अववददि अपवदति दूषयत्यपवादं करोति। स कः। *जो हि* यः कर्ता हि स्फुटम्। कम्। *समणं* श्रमणं तपोधनम्। कथंभूतम्। *सासणत्थं* शासनस्थं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गस्थम्। कस्मात्। *पदोसदो* निर्दोषिपरमात्मभावनाविलक्षणात् प्रद्वेषात्कषायात्। किं कृत्वा पूर्वम्। *दिट्ठा* दृष्ट्वा। न केवलं अपवदति, *णाणुमण्णदि* नानुमन्यते। कासु विपयासु। *किरियासु* यथायोग्यं वन्दनादिक्रियासु। *हवदि हि सो* भवति हि स्फुटं सः। किंविशिष्टः। *णट्ठचारित्तो* कथंचिदतिप्रसंगान्नष्टचारित्रो भवतीति।

तथाहि–मार्गस्थतपोधनं दृष्ट्वा यदि कथंचिन्मात्सर्यवशाद्दोषग्रहणं करोति तदा चारित्रभ्रष्टो भवति स्फुटं; पश्चादात्मनिन्दां कृत्वा निवर्तते तदा दोषो नास्ति, कालान्तरे वा निवर्तते तथापि दोषो नास्ति। यदि पुनस्तत्रैवानुबन्धं कृत्वा तीव्रकषायवशादतिप्रसंगं करोति तदा चारित्रभ्रष्टो भवतीति।

अयमत्र भावार्थः– बहुश्रुतैरल्पश्रुततपोधनानां दोषो न ग्राह्यस्तैरपि तपोधनैः किमपि पाठमात्रं गृहीत्वा तेषां दोषो न ग्राह्यः, किंतु किमपि सारपदं गृहीत्वा स्वयं भावनैव कर्तव्या। कस्मादिति चेत्। रागद्वेषोत्पत्तौ सत्यां बहुश्रुतानां श्रुतफलं नास्ति, तपोधनानां तपः फलं चेति ॥ ३०४ ॥

टीकार्थ– ***अववददि***– बुरा बोलता है—दोष देता है—अपवाद करता है। वह कौन दोष देता है ? ***जो हि***– कर्ता रूप जो वास्तव में। किन्हें दोष देता है ? ***समणं***– श्रमण—मुनि को दोष देता है। कैसे श्रमण को दोष देता है ? ***सासणत्थं***– शासनस्थ—निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग में स्थित श्रमण को,दोष देता है। उन्हें क्यों दोष देता है ? ***पदोसदो***– दोष रहित परमात्मा की भावना से विलक्षण,प्रद्वेष-कषाय से दोष देता है। पहले क्या कर दोष देता है ? ***दिट्ठा***– उन्हें देखकर दोष देता है। मात्र दोष ही नहीं देता है,वरन् ***णाणुमण्णदि***– उन्हें स्वीकार भी नहीं करता है। किन विषयों में उन्हें स्वीकार नहीं करता है ? ***किरियासु***– यथायोग्य वन्दना आदि क्रियाओं में,उन्हें स्वीकार नहीं करता है। ***हवदि हि सो***– वह स्पष्ट रूप से होता है। वह किस विशेषता वाला होता है ? ***णट्ठचारित्तो***– कथंचित् अति प्रसंग से,नष्ट चारित्र होता है (अपने चारित्र को नष्ट करता है)।

वह इसप्रकार— रत्नत्रय रूप मार्ग में स्थित मुनि को देखकर,यदि कथंचित् मात्सर्यवश (ईर्ष्यावश) दोष ग्रहण करता है,तो स्पष्ट चारित्र से भ्रष्ट होता है, बाद में आत्मनिन्दा करके,यदि निवृत्त हो जाता है— ईर्ष्यावश अपवाद करना छोड़ देता है, तो दोष नहीं है ; यदि कुछ समय बाद छोड़ता है, तो भी दोष नहीं है। तथा यदि वहाँ ही अनुबन्ध कर,तीव्र कषाय के कारण अतिप्रसंग करता है (बार-बार वही करता है), तो चारित्र से भ्रष्ट होता है।

यहाँ भाव यह है— बहुश्रुतों को,अल्पश्रुत मुनियों का दोष-ग्रहण नहीं करना चाहिये, उन मुनियों को भी कुछ भी पाठ मात्र ग्रहण कर,उनका दोष-ग्रहण नहीं करना चाहिये, किन्तु कुछ भी सारपद ग्रहण कर अपनी भावना ही करना चाहिये। परस्पर दोष-ग्रहण क्यों नहीं करना चाहिये। राग-द्वेष की उत्पत्ति होने पर बहुश्रुतों को श्रुत का फल नहीं है, तथा तपस्वियों को तप का फल नहीं है ; अतः परस्पर दोष-ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥३०४ ॥

अथ स्वयं गुणहीनः सन् परेषां गुणाधिकानां योऽसौ विनयं वांछति, तस्य गुणविनाशं दर्शयति—

गुणदोधिगस्स विणयं पडिच्छगो जो वि होमि समणो त्ति ।(२६६)
होज्जं गुणाधरो जदि सो होदि अणंतसंसारी ॥ ३०५ ॥

सो होदि अणंतसंसारी स कथंचिदनन्तसंसारी संभवति । यः किं करोति । *पडिच्छगो जो दु* प्रत्येषको यस्तु, अभिलाषकोऽपेक्षक इति । कम् । *विणयं* वन्दनादिविनयम् । कस्य सम्बन्धिनम् । *गुणदोधिगस्स* बाह्याभ्यन्तररत्नत्रयगुणाभ्यामधिकस्यान्यतपोधनस्य । केन कृत्वा । *होमि समणो त्ति* अहमपि श्रमणो भवामीत्यभिमानेन गर्वेण । यदि किम् । *होज्जं गुणाधरो जदि* निश्चयव्यवहाररत्नत्रयगुणाभ्यां हीनः स्वयं यदि चेद्भवतीति ।

अयमत्रार्थः— यदि चेद्गुणाधिकेभ्यः सकाशाद्गर्वेण पूर्वं विनयवाञ्छां करोति, पश्चाद्विवेकबलेनात्मनिन्दां करोति, तदानन्तसंसारी न भवति । यदि पुनस्तत्रैव मिथ्याभिमानेन ख्यातिपूजालाभार्थं दुराग्रहं करोति तदा भवति । अथवा यदि कालान्तरेऽप्यात्मनिन्दां करोति तथापि न भवतीति ॥ ३०५ ॥

अब, जो वह स्वयं गुणहीन होता हुआ, दूसरे अधिक गुणवालों से विनय चाहता है, उसके गुणों का विनाश दिखाते हैं—

'हूँ मैं श्रमण' ये मान, फिर भी हीन हैं जो गुणों में ।
चाहें गुणाधिक से विनय, वे नन्त संसारी बनें ॥ ३०५ ॥

गाथार्थ— जो हीनगुणवाला होने पर भी 'मैं भी श्रमण हूँ'— ऐसा मानकर, गुणों में अधिक से विनय चाहता है (उनसे अपनी विनय कराना चाहता है), वह अनन्त संसारी होता है ।

टीकार्थ— ***सो होदि अणंतसंसारी***— वह कथंचित् अनन्त संसारी होता है । जो क्या करता है ? ***पडिच्छगो जो दु***— जो चाहने वाला है, अभिलाषक है—अपेक्षक है । क्या चाहने वाला है ? ***विणयं***— वन्दना आदि विनय चाहने वाला है । किससे विनय चाहने वाला है ? ***गुणदोधिगस्स***— बहिरंग-अन्तरंग रत्नत्रयरूप गुणों से अधिक दूसरे मुनि से विनय चाहता है । किस कारण वह अपनी विनय कराना चाहता है ? ***होमि समणो त्ति***— "मै भी मुनि हूँ"— इस अभिमान—गर्व से विनय चाहता है । यदि कैसा है, तो भी विनय चाहता है ? ***होज्जं गुणाधरो जदि***— यदि स्वयं निश्चय-व्यवहार रत्नत्रयरूप गुणों से हीन है, तो भी उनसे विनय चाहता है ; तो अनन्त संसारी होता है ।

यहाँ अर्थ यह है— यदि पहले अभिमान के कारण, अधिक गुणवालों से विनय की इच्छा करता है, परन्तु बाद में विवेक बल से आत्म-निन्दा करता है, तो अनन्त संसारी नहीं होता है । परन्तु वहाँ ही मिथ्या अभिमान से प्रसिद्धि, पूजा, लाभ के लिये दुराग्रह करता है ; तो वैसा (अनन्त संसारी) होता है । अथवा यदि कुछ समय बाद भी आत्मनिंदा करता है, तो भी वैसा (अनन्त संसारी) नहीं होता है[१] ॥ ३०५ ॥

१- एतदर्थ दर्शनपाहुड़, गाथा १२ भी द्रष्टव्य है ।

अथ स्वयमधिकगुणाः सन्तो यदि गुणाधरैः सह वन्दनादिक्रियासु वर्तन्ते तदा गुणविनाशं दर्शयति –

अधिगगुणा सामण्णे वट्टंति गुणाधरेहिं किरियासु ।(२६७)
जदि ते मिच्छुवजुत्ता हवंति पब्भट्ठचारित्ता ॥ ३०६ ॥

वट्टंति वर्तन्ते प्रवर्तन्ते *जदि* यदि चेत् । क्व वर्तन्ते । *किरियासु* वन्दनादिक्रियासु । कैः सह । *गुणाधरेहिं* गुणाधरैर्गुणरहितैः । स्वयं कथंभूताः सन्तः । *अधिगगुणा* अधिकगुणाः । क्व । *सामण्णे* श्रामण्ये चारित्रे । *ते मिच्छत्तपउत्ता हवंति* ते कथंचिदतिप्रसंगान्मिथ्यात्वप्रयुक्ता भवन्ति । न केवलं मिथ्यात्वप्रयुक्ताः, *पब्भट्ठचारित्ता* प्रभ्रष्टचारित्राश्च भवन्ति ।

तथाहि - यदि बहुश्रुतानां पार्श्वे ज्ञानादिगुणवृद्ध्यर्थं स्वयं चारित्रगुणाधिका अपि वन्दनादिक्रियासु वर्तन्ते तदा दोषो नास्ति । यदि पुनः केवलं ख्यातिपूजालाभार्थं वर्तन्ते तदातिप्रसंगाद्दोषो भवति ।

इदमत्र तात्पर्यम् - वन्दनादिक्रियासु वा तत्त्वविचारादौ वा यत्र रागद्वेषोत्पत्तिर्भवति तत्र सर्वत्र दोष एव ।

ननु भवदीयकल्पनेयमागमे तथा नास्ति । नैवम्, आगमः सर्वोऽपि रागद्वेषपरिहारार्थं एव, परं किंतु ये केचनोत्सर्गापवादरूपेणागमनयविभागं न जानन्ति त एव रागद्वेषौ कुर्वन्ति, न चान्य इति ॥ ३०६ ॥

अब, स्वयं अधिक गुणवाले होने पर भी, यदि हीन गुणवालों के साथ, वन्दना आदि क्रियाओं में वर्तते हैं, तो गुणों का विनाश (होता है ; यह) दिखाते हैं —

श्रामण्य में हों अधिक गुण पर कम गुणी की क्रिया में ।
वर्तें तो मिथ्या सहित वे चारित्र से भी भ्रष्ट हैं ॥ ३०६ ॥

गाथार्थ - श्रामण्य में अधिक गुणों वाले, यदि हीन गुणवालों के साथ, क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं, तो वे मिथ्या उपयुक्त — मिथ्यात्व सहित होते हुये, चारित्र से भ्रष्ट होते हैं ।

टीकार्थ– ***वट्टंति*** - वर्तते हैं — प्रवृत्ति करते हैं, ***जदि***– यदि तो । कहाँ प्रवृत्ति करते हैं ? ***किरियासु***– वन्दना आदि क्रियाओं में प्रवृत्ति करते हैं । किनके साथ इन क्रियाओं में प्रवृत्ति करते हैं ? ***गुणाधरेहिं***- गुणों में नीचे—गुणों से रहित के साथ प्रवृत्ति करते हैं । स्वयं कैसे होते हुये, इनके साथ प्रवृत्ति करते हैं ? ***अधिगगुणा***– स्वयं अधिक गुणी होते हुये भी, इनके साथ प्रवृत्ति करते हैं । वे किसमें अधिक गुणी हैं ? ***सामण्णे***- चारित्र में वे अधिक गुणी हैं । ***ते मिच्छत्तपउत्ता हवंति***– वे कथंचित् अतिप्रसंग से, मिथ्यात्व सहित होते हैं । मात्र मिथ्यात्व सहित ही नहीं होते, वरन् ***पब्भट्ठचरित्ता***– चारित्र-भ्रष्ट होते हैं ।

वह इसप्रकार — स्वयं चारित्रगुण में अधिक भी, यदि ज्ञानादि गुणों की वृद्धि के लिये, बहुश्रुतों के पास वन्दना आदि क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं, तो दोष नहीं है । परन्तु यदि, मात्र प्रसिद्धि, पूजा, लाभ के लिये उनमें प्रवृत्ति करते हैं ; तो अतिप्रसंग से दोष होता है ।

यहाँ तात्पर्य यह है— वन्दनादि क्रियाओं में या तत्त्वविचार आदि में जहाँ राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, वहाँ सब जगह दोष ही है ।

यहाँ कोई कहता है— यह आपकी कल्पना है, आगम में वैसा नहीं है । आचार्य कहते हैं— ऐसा नहीं है, सभी आगम राग-द्वेष को दूर करने के लिये ही हैं ; किन्तु जो कोई उत्सर्ग-अपवाद रूप से आगम सम्बन्धी नय-विभाग को नहीं जानते हैं, वे ही रागद्वेष करते हैं ; और दूसरे नहीं।[1] ॥ ३०६ ॥

१- एतदर्थ दर्शनपाहुड, गाथा १३ भी द्रष्टव्य है ।

अत्राह शिष्यः– अपवादव्याख्यानप्रस्तावे शुभोपयोगो व्याख्यातः, पुनरपि किमर्थं अत्र व्याख्यानं कृतमिति। परिहारमाह-युक्तमिदं भवदीयवचनं, किंतु तत्र सर्वत्यागलक्षणोत्सर्गव्याख्याने कृते सति तत्रासमर्थतपोधनैः कालापेक्षया किमपि ज्ञानसंयमशौचोपकरणादिकं ग्राह्यमित्यपवादव्याख्यानमेव मुख्यम्। अत्र तु यथा भेदनयेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपश्चरणरूपा चतुर्विधाराधना भवति, सैवाभेदनयेन सम्यक्त्व-चारित्ररूपेण द्विधा भवति, तत्राप्यभेदविवक्षया पुनरेकैव वीतरागचारित्राराधना, तथा भेदनयेन सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानसम्यक्चारित्ररूपस्त्रिविधमोक्षमार्गो भवति, स एवाभेदनयेन श्रामण्यापरमोक्षमार्गनामा पुनरेक एव, स चाभेदरूपो मुख्यवृत्त्या *'एयग्गगदो समणो'* इत्यादिचतुर्दशगाथाभिः पूर्वमेव व्याख्यातः। अयं तु भेदरूपो मुख्यवृत्त्या शुभोपयोगरूपेणेदानीं व्याख्यातो, नास्ति पुनरुक्तदोष इति।

एवं समाचारविशेषविवरणरूपेण चतुर्थस्थले गाथाष्टकं गतम्।

इतः परं पंचमस्थले संक्षेपेण संसारस्वरूपस्य मोक्षस्वरूपस्य च प्रतीत्यर्थं पंचरत्नभूतगाथापंचकेन व्याख्यानं करोति।

तद्यथा –

अथ संसारस्वरूपं प्रकटयति –

जे अजधागहिदत्था एदे तच्च त्ति णिच्छिदा समये। (२७१)

अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं॥ ३०७॥

यहाँ शिष्य कहता है– अपवाद व्याख्यान के प्रसंग में शुभोपयोग का व्याख्यान किया था, यहाँ फिर से किसलिये व्याख्यान किया है ? आचार्य निराकरण करते हुये कहते हैं– आपका यह वचन उचित है; किन्तु वहाँ सम्पूर्ण त्याग लक्षण उत्सर्ग व्याख्यान किये जाने पर,उसमें असमर्थ मुनियों को समय की अपेक्षा, कुछ ज्ञान, संयम, शौच के उपकरण आदि ग्रहण करना उचित हैं– इसप्रकार अपवाद व्याख्यान ही मुख्य है। यहाँ तो,जैसे भेदनय से सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपश्चरणरूप चार प्रकार की आराधनायें हैं, वे ही अभेदनय से सम्यक्त्व और चारित्ररूप से दो प्रकार की हैं, उनमें भी अभेद विवक्षा से पुनः एक ही वीतरागचारित्र आराधना है; उसीप्रकार भेदनय से सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूप तीनप्रकार का मोक्षमार्ग है,वही अभेदनय से श्रामण्य अपर नाम मोक्षमार्गरूप से एक ही है, और वह अभेदरूप मुख्यवृत्ति से ***'एयग्गगदो समणो -'*** इत्यादि चौदह गाथाओं द्वारा,पहले ही विशेषरूप से कहा गया है। तथा यह भेदरूप मुख्य वृत्ति द्वारा,शुभोपयोगरूप से अब कहा गया है; अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है।

इसप्रकार समाचार (पारस्परिक विनयादि आचार) के विशेष कथनरूप से चौथे स्थल में आठ गाथायें पूर्ण हुईं॥

अब, आगे पाँचवे स्थल में संक्षेप से,संसारस्वरूप और मोक्षस्वरूप की प्रतीति के लिये,पाँच रत्नरूप पाँच गाथाओं द्वारा व्याख्यान करते हैं–

वह इसप्रकार –

अब, संसारस्वरूप प्रकट करते हैं –

अयथार्थ ग्रहते 'समय में ये तत्त्व' ऐसा मानते।

अत्यन्त फल समृद्ध काल अनन्त तक वे घूमते॥ ३०७॥

गाथार्थ– जो अयथार्थ पदार्थों को ग्रहण करते हुये,समय (आगम) में 'ये ही तत्त्व हैं'– ऐसा निश्चित करते हैं; वे अत्यन्तफलसमृद्ध होते हुये,अनन्तकाल तक संसार में घूमते हैं।

जे *अजधागहिदत्था* वीतरागसर्वज्ञप्रणीतनिश्चयव्यवहाररत्नत्रयार्थपरिज्ञानाभावात् येऽयथागृहीतार्थाः विपरीतगृहीतार्थाः । पुनरपि कथंभूताः । *एदे तच्च त्ति णिच्छिदा* एते तत्त्वमिति निश्चिताः, एते ये मया कल्पिताः पदार्थास्त एव तत्त्वमिति निश्चिताः, निश्चयं कृतवन्तः । क्व स्थित्वा । *समये* निर्ग्रन्थरूपद्रव्यसमये । *अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं* अत्यन्तफलसमृद्धं भ्रमन्ति ते अतः परं कालम् । द्रव्यक्षेत्रकालभवभावपंचप्रकारसंसारपरिभ्रमणरहितशुद्धात्मस्वरूपभावनाच्युताः सन्तः परिभ्रमन्ति । कम् । परं कालं अनन्तकालम् । कथंभूतम् । नारकादिदुःखरूपात्यन्तफलसमृद्धम् । पुनरपि कथंभूतम् । अतो वर्तमानकालात्परं भाविनमिति ।

अयमत्रार्थः – इत्थंभूतसंसारपरिभ्रमणपरिणतपुरुषा एवाभेदेन संसारस्वरूपं ज्ञातव्यमिति ॥ ३०७ ॥

अथ मोक्षस्वरूपं प्रकाशयति –

अजधाचारविजुत्तो जधत्थपदणिच्छिदो पसंतप्पा ।(२७२)

अफले चिरं ण जीवदि इह सो संपुण्णसामण्णो ॥ ३०८ ॥

टीकार्थ– *जे अजधागहिदत्था*- वीतराग-सर्वज्ञ प्रणीत, निश्चय-व्यवहार रत्नत्रयरूप भाव की जानकारी का अभाव होने से,जो पदार्थों को अन्यथा ग्रहण करनेवाले — विपरीत ग्रहण करनेवाले हैं । और जो कैसे हैं ? *एदे तच्च त्ति णिच्छिदा*- ये तत्त्व हैं,—ऐसा निश्चय करनेवाले हैं, ये जो मेरे द्वारा कल्पित पदार्थ हैं, वे ही तत्त्व हैं — ऐसा निश्चय करनेवाले हैं । कहाँ स्थित होकर ऐसा निश्चित करनेवाले हैं ? ***समये***- निर्ग्रन्थ रूप द्रव्यसमय में स्थित होकर,ऐसा निश्चय करनेवाले हैं । ***अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं***- वे अत्यन्त फलसमृद्ध हो,अनन्त काल तक घूमते हैं । द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव रूप पाँच प्रकार के संसार परिभ्रमण से रहित,शुद्धात्मस्वरूप की भावना से,च्युत — भ्रष्ट होते हुये घूमते हैं । कब तक घूमते हैं ? परकाल—अनन्तकाल तक घूमते हैं । कैसे घूमते हैं ? नारक आदि दुःखरूप अत्यन्त फलसमृद्ध होते हुये,घूमते हैं । और कैसे (कब तक) घूमते हैं ? इस वर्तमानकाल से आगे भविष्य तक घूमते हैं ।

यहाँ अर्थ यह है— इसप्रकार संसार-परिभ्रमणरूप परिणत पुरुष ही,अभेदरूप से संसारस्वरूप जानना चाहिये ॥ ३०७ ॥

अब, मोक्ष का स्वरूप प्रकाशित करते हैं —

हैं यथाचार सहित प्रशान्तात्मा यथार्थ पद निश्चयी ।

सम्पूर्ण श्रामण्य सहित वे फल बिन यहाँ रहते नहीं ॥ ३०८ ॥

गाथार्थ - अयथाचार (अन्यथा आचरण) से रहित, यथार्थपद का निश्चय करनेवाले, प्रशान्तात्मा और परिपूर्ण श्रामण्य सहित वे जीव,इस संसार में,फल रहित होने से,चिरकाल तक नहीं रहते हैं ।

अजधाचारविजुत्तो निश्चयव्यवहारपंचाचारभावनापरिणतत्वादयथाचारवियुक्तः, विपरीताचाररहित इत्यर्थः, *जधत्थपदणिच्छिदो* सहजानन्दैकस्वभावनिजपरमात्मादिपदार्थपरिज्ञानसहितत्वाद्यथार्थपदनिश्चितः, *पसंतप्पा* विशिष्टपरमोपशमभावपरिणतनिजात्मद्रव्यभावनासहितत्वात्प्रशान्तात्मा, *जो* यः कर्ता *सो संपुण्णसामण्णो* स संपूर्णश्रामण्यः सन् *चिरं ण जीवदि* चिरं बहुतरकालं न जीवति, न तिष्ठति। क्व। *अफले इह* शुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरसास्वादरहितत्वेनाफले फलरहिते इह अस्मिन् संसारे। किन्तु शीघ्रं मोक्षं गच्छतीति।

अयमत्र भावार्थः – इत्थंभूतमोक्षतत्त्वपरिणतपुरुष एवाभेदेन मोक्षस्वरूपं ज्ञातव्यमिति ॥ ३०८ ॥

अथ मोक्षकारणमाख्याति –

सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं ।(२७३)

विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्धा त्ति णिद्दिट्ठा ॥ ३०९ ॥

सम्मं विदिदपदत्था संशयविपर्ययानध्यवसायरहितानन्तज्ञानादिस्वभावनिजपरमात्मपदार्थप्रभृतिसमस्तवस्तुविचारचतुरचित्तचातुर्यप्रकाशमानसातिशयपरमविवेकज्योतिषा सम्यग्विदितपदार्थाः। पुनरपि किंरूपाः। *विसयेसु णावसत्ता* पंचेन्द्रियविषयाधीनरहितत्वेन निजात्मतत्त्वभावनारूपपरमसमाधिसंजातपरमानन्दैकलक्षण-

---

टीकार्थ– *अजधाचारविजुत्तो*- निश्चय-व्यवहार पंचाचाररूप भावना से परिणत होने के कारण, अयथाचारवियुक्त—विपरीत आचार से रहित हैं— ऐसा अर्थ है; *जधत्थपदणिच्छिदो* –सहज आनन्द एक स्वभावी अपने परमात्मा आदि पदार्थों के परिज्ञान से सहित होने के कारण,यथार्थपदों के निश्चय से सहित हैं; *पसंतप्पा* - विशिष्टरूप से उत्कृष्ट उपशम भावरूप परिणत अपने आत्मद्रव्य की भावना से सहित होने के कारण,प्रशान्तात्मा हैं; *जो* - कर्तारूप जो *सो संपुण्णसामण्णो*– वे सम्पूर्ण श्रामण्य होते हुये *चिरं ण जीवदि* - चिर—बहुत कालतक नहीं जीते हैं—नहीं रहते हैं। कहाँ नहीं रहते हैं ? *अफले इह*– शुद्धात्मा के संवेदन से उत्पन्न सुखरूपी अमृतरस के आस्वाद से रहित होने के कारण अफल — फल रहित यहाँ — इस संसार में नहीं रहते हैं, अपितु शीघ्र मोक्ष जाते हैं।

यहाँ भाव यह है— इसप्रकार मोक्षतत्त्व परिणत पुरुष ही अभेदनय से मोक्षस्वरूप जानना चाहिये ॥३०८ ॥

अब, मोक्ष का कारण प्रसिद्ध करते हैं —

जो पदार्थों को जान सम्यक् बाह्य अन्तर संग का।

कर त्याग,ना आसक्त विषयों में,उन्हें है शुद्ध कहा ॥ ३०९ ॥

गाथार्थ - अच्छी तरह पदार्थों को जानने वाले जो,बहिरंग-अन्तरंग परिग्रह को छोड़कर, विषयों में आसक्त नहीं हैं; वे शुद्ध कहे गये हैं।

टीकार्थ - *सम्मं विदिदपदत्था*– संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय से रहित,अनन्त ज्ञानादि स्वभाव (वाले) अपने परमात्मपदार्थ प्रभृति सम्पूर्ण वस्तुओं का विचार करने में चतुर चित्त की चतुरता से,प्रकाशमान अतिशय सहित उत्कृष्ट विवेक ज्योति द्वारा,अच्छी तरह से पदार्थों को जानने वाले हैं। और वे किस रूप हैं ? *विसयेसु णावसत्ता*- पंचेन्द्रिय विषयों की अधीनता से रहित होने के कारण,अपने आत्म - तत्त्व की भावना

सुखसुधारसास्वादानुभवबलेन विषयेषु मनागप्यनासक्ताः। किं कृत्वा। पूर्वं स्वस्वरूपपरिग्रहं स्वीकारं कृत्वा, *चत्ता* त्यक्त्वा। कम्। *उवहिं* उपधिं परिग्रहम्। किंविशिष्टम्। *बहित्थमज्झत्थं* बहिस्थं क्षेत्रवास्त्वाद्यनेकविधं मध्यस्थं मिथ्यात्वादिचतुर्दशभेदभिन्नम्। *जे* एवंगुणविशिष्टाः ये महात्मानः *ते सुद्धा त्ति णिद्दिट्ठा* ते शुद्धाः शुद्धोपयोगिनः इति निर्दिष्टाः कथिताः। अनेन व्याख्यानेन किमुक्तं भवति– इत्थंभूताः परमयोगिन एवाभेदेन मोक्षमार्ग इत्यवबोद्धव्यम्॥ ३०९॥

अथ शुद्धोपयोगलक्षणमोक्षमार्गं सर्वमनोरथस्थानत्वेन प्रदर्शयति –

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं।(२७४)

सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स॥ ३१०॥

भणियं भणितम्। किम्। *सामण्णं* सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यलक्षणंशत्रुमित्रादिसमभावपरिणतिरूपं साक्षान्मोक्षकारणं यच्छ्रामण्यम्। तत्तावत्कस्य। *सुद्धस्स य* शुद्धस्य च शुद्धोपयोगिन एव। *सुद्धस्स दंसणं णाणं* त्रैलोक्योदरविवरवर्तित्रिकालविषयसमस्तवस्तुगतानन्तधर्मैकसमयसामान्यविशेषपरिच्छित्तिसमर्थं यद्दर्शन–

रूप परम समाधि (स्वरूपलीनता) से उत्पन्न,परमानन्द एक लक्षण सुखरूपी अमृत रस के आस्वाद रूप अनुभव के बल से,विषयों में किंचित् मात्र भी आसक्त नहीं हैं। क्या करके आसक्त नहीं हैं ? पहले अपने स्वरूप को परिग्रह—स्वीकार कर फिर *चत्ता-* छोड़कर आसक्त नहीं हैं। किसे छोड़कर वैसे नहीं हैं ? *उवहिं-* परिग्रह छोड़कर वैसे नहीं है। किस विशेषता वाले परिग्रह को छोड़कर वैसे नहीं हैं ? *बहित्थमज्झत्थं-* बाहर स्थित खेत, मकान आदि अनेक प्रकार के और अपने अन्दर स्थित मिथ्यात्व आदि चौदह प्रकार से भेद रूप,परिग्रह छोड़कर आसक्त नहीं हैं। *जे-* इन गुणों से विशिष्ट जो महात्मा हैं, *ते सुद्धा त्ति णिद्दिट्ठा-* वे शुद्ध— शुद्धोपयोगी हैं — ऐसा कहा है।

इस विशेष कथन से क्या कहा गया है ? इसप्रकार के परमयोगी ही,अभेद रूप से मोक्षमार्ग हैं— ऐसा जानना चाहिये॥ ३०९॥

अब, सर्व मनोरथों के स्थान रूप से शुद्धोपयोग लक्षण मोक्षमार्ग को प्रदर्शित करते हैं —

है शुद्ध के श्रामण्य दर्शन -ज्ञान कहते शुद्ध के।

है शुद्ध का निर्वाण वे ही सिद्ध उनको नमन है॥ ३१०॥

गाथार्थ - शुद्ध के श्रामण्य कहा है, शुद्ध के दर्शन - ज्ञान हैं, शुद्ध का निर्वाण होता है, और वे ही सिद्ध हैं; उन्हें नमस्कार हो।

टीकार्थ - ***भणियं-*** कहा है। क्या कहा है ? ***सामण्णं-*** सम्यग्दर्शन - ज्ञान - चारित्र - एकाग्रता लक्षण, शत्रु - मित्र आदि में समभाव परिणति रूप, साक्षात् मोक्ष का कारण जो श्रामण्य कहा है। वह किसके होता है ? ***सुद्धस्स य-*** और शुद्ध के— शुद्धोपयोगी के ही होता है। ***सुद्धस्स दंसणं णाणं-*** तीन लोक के उदर रूपी छिद्र में स्थित,तीन काल सम्बन्धी विषयों—सम्पूर्ण वस्तुओं में पाये जाने वाले अनन्त धर्मों को, एक समय में सामान्य - विशेष रूप से देखने जानने में समर्थ जो दर्शन-ज्ञान—दोनों उन शुद्ध के ही होते हैं।

ज्ञानद्वयं तच्छुद्धस्यैव। *सुद्धस्स य णिव्वाणं* अव्याबाधानन्तसुखादिगुणाधारभूतं पराधीनरहितत्वेन स्वायत्तं यन्निर्वाणं तच्छुद्धस्यैव। *सो च्चिय सिद्धो* यो लौकिकमायांजनरसदिग्विजयमन्त्रयन्त्रादिसिद्धविलक्षणः स्वशुद्धात्मोपलम्भलक्षणः टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावो ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मरहितत्वेन सम्यक्त्वाद्यष्टगुणान्तर्भूतानन्तगुणसहितः सिद्धो भगवान् स चैव शुद्ध एव। *णमो तस्स* निर्दोषिनिजपरमात्मन्याराध्याराधकसंबन्धलक्षणो भावनमस्कारोऽस्तु तस्यैव।

अत्रैतदुक्तं भवति– अस्य मोक्षकारणभूतशुद्धोपयोगस्य मध्ये सर्वेष्टमनोरथा लभ्यन्त इति मत्वा शेषमनोरथपरिहारेण तत्रैव भावना कर्तव्येति ॥ ३१० ॥

अथ शिष्यजनं शास्त्रफलं दर्शयन् शास्त्रं समापयति –

बुज्झदि सासणमेयं सागारणगारचरियया जुत्तो। (२७५)

जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि ॥ ३११ ॥

पप्पोदि प्राप्नोति। *सो* स शिष्यजनः कर्ता। कम्। *पवयणसारं* प्रवचनसारशब्दवाच्यं निजपरमात्मानम्। केन। *लहुणा कालेण* स्तोककालेन। यः किं करोति। *जो बुज्झदि* यः शिष्यजनो बुध्यते जानाति। किम्। *सासणमेयं* शास्त्रमिदं। किं नाम। *पवयणसारं* प्रवचनसारं— सम्यग्ज्ञानस्य तस्यैव ज्ञेयभूतपरमात्मादिपदार्थानां

सुद्धस्स य णिव्वाणं- अव्याबाध अनन्त सुख आदि गुणों के आधारभूत, पराधीनता से रहित होने के कारण अपने अधीन जो निर्वाण—मोक्ष— वह शुद्ध के ही होता है। ***सो च्चिय सिद्धो***- जो लौकिक माया, अंजन, रस, दिग्विजय, मन्त्र, यन्त्र आदि सिद्धियों से विलक्षण,अपने शुद्धात्मा की पूर्ण प्राप्ति लक्षण टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभावी, ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मों से रहित होने के कारण,सम्यक्त्व आदि आठ गुणों में गर्भित अनन्त गुण सहित सिद्ध भगवान हैं, वे भी शुद्ध ही हैं। ***णमो तस्स***- उन्हें ही अपने दोष रहित परमात्मा में आराध्य-आराधक सम्बन्ध लक्षण भाव नमस्कार हो।

यहाँ यह कहा गया है— इस मोक्ष के कारणभूत शुद्धोपयोग के माध्यम से,सम्पूर्ण इष्ट मनोरथ प्राप्त होते हैं — ऐसा मानकर,शेष मनोरथों को छोड़,उसमें ही भावना करना चाहिये ॥ ३१० ॥

अब, शिष्यजनों को शास्त्र का फल दिखाते हुये शास्त्र समाप्त करते हैं —

सागार या अनगार चर्या सहित इस उपदेश को।

जो जानता वह शीघ्र ही पाता है प्रवचन-सार को ॥ ३११ ॥

गाथार्थ - सागार-अनागार चर्या से सहित जो,इस उपदेश को जानता है, वह अल्पकाल में ही प्रवचन के सार (निजात्मा) को प्राप्त करता है।

टीकार्थ - ***पप्पोदि***- प्राप्त करता है। ***सो***- वह कर्तारूप शिष्यजन प्राप्त करता है। वह किसे प्राप्त करता है ? ***पवयणसारं***- प्रवचनसार शब्द से वाच्य,अपने आत्मा को प्राप्त करता है। कैसे (कब) प्राप्त करता है ? ***लहुणा कालेण***- थोड़े समय में प्राप्त करता है। जो क्या करता है,तो प्राप्त करता है ? ***जो बुज्झदि***- जो शिष्यजन जानता है, तो प्राप्त करता है। क्या जानता है ? ***सासणमेयं***- इस शास्त्र को जानता है। इसका क्या नाम है ? ***पवयणसारं***- प्रवचनसार— सम्यग्ज्ञान का, उस सम्यग्ज्ञान के ही ज्ञेयभूत परमात्मा आदि

तत्साध्यस्य निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानस्य च, तथैव तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणसम्यग्दर्शनस्य तद्विषयभूतानेकान्तात्मक-परमात्मादिद्रव्याणां तेन व्यवहारसम्यक्त्वेन साध्यस्य निजशुद्धात्मरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वस्य च, तथैव च व्रतसमितिगुप्त्याद्यनुष्ठानरूपस्य सरागचारित्रस्य तेनैव साध्यस्य स्वशुद्धात्मनिश्चलानुभुतिरूपस्य वीतराग-चारित्रस्य च प्रतिपादकत्वात्प्रवचनसाराभिधेयम्। कथंभूतः सः शिष्यजनः। *सागारणगारचरियया जुत्तो* सागारानागारचर्यया युक्तः। आभ्यन्तररत्नत्रयानुष्ठानमुपादेयं कृत्वा बहिरंगरत्नत्रयानुष्ठानं सागारचर्या श्रावकचर्या। बहिरंगरत्नत्रयाधारेणाभ्यन्तररत्नत्रयानुष्ठानमनागारचर्या प्रमत्तसंयतादितपोधनचर्येत्यर्थः ॥ ३११ ॥

इति गाथापंचकेन पंचरत्नसंज्ञं पंचमस्थलं व्याख्यातम्।

एवं *'णिच्छिदसुत्तत्थपदो'* इत्यादि द्वात्रिंशद्गाथाभिः स्थलपंचकेन शुभोपयोगाभिधानश्चतुर्थान्तराधिकारः समाप्तः ॥

इति *श्रीजयसेनाचार्य* कृतायां *तात्पर्यवृत्तौ* पूर्वोक्तक्रमेण *'एवं पणमिय सिद्धे'* इत्याद्येकविंशतिगाथाभिरुत्सर्गाधिकारः। तदनन्तरं *'ण हि णिरवेक्खो चागो'* इत्यादि त्रिंशद्गाथाभिरपवादाधिकारः। ततः परं *'एयग्गगदो समणो'* इत्यादिचतुर्दशगाथाभिः श्रामण्यापरनामा मोक्षमार्गाधिकारः। ततोऽप्यनन्तरं *'णिच्छिदसुत्तत्थपदो'* इत्यादिद्वात्रिंशद्गाथाभिः शुभोपयोगाधिकारश्चेत्यन्तराधिकारचतुष्टयेन सप्तनवतिगाथाभिश्चरणानुयोगचूलिका नामा तृतीयो महाधिकारः समाप्तः ॥

पदार्थों का और उनके द्वारा साध्य विकार रहित स्वसंवेदनज्ञान का ; उसीप्रकार तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण सम्यग्दर्शन का, उसके विषयभूत अनेकान्तात्मक परमात्मा आदि द्रव्यों का और उस व्यवहारसम्यक्त्व से साध्य अपने शुद्धात्मा की रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व का ; और उसीप्रकार व्रत-समिति-गुप्ति आदि अनुष्ठान रूप सराग-चारित्र का और उससे ही साध्य अपने शुद्धात्मा में निश्चल अनुभूतिरूप वीतरागचारित्र का, प्रतिपादक होने से प्रवचनसार नाम है। वह शिष्यजन कैसा है ? *सागारणगारचरियया जुत्तो*- सागार या अनागार चर्या से सहित है। अन्तरंग रत्नत्रय अनुष्ठान को उपादेय कर, बहिरंग रत्नत्रयरूप अनुष्ठान सागारचर्या या श्रावक की चर्या है। बहिरंग रत्नत्रय के आधार से, अन्तरंग रत्नत्रय का अनुष्ठान अनागारचर्या या प्रमत्तसंयत आदि मुनि की चर्या है— ऐसा अर्थ है ॥ ३११ ॥

इसप्रकार पाँच गाथाओं द्वारा *'पंच रत्न'* नामक पाँचवे स्थल का व्याख्यान हुआ।

इसप्रकार *''णिच्छिदसुत्तत्थपदो-''* इत्यादि ३२ गाथाओं द्वारा पाँच स्थलरूप से 'शुभोपयोग' नामक चौथा अन्तराधिकार समाप्त हुआ।

इसप्रकार *'श्री जयसेनाचार्य'* कृत *"तात्पर्यवृत्ति"* में पहले कहे गये क्रम से *'एवं पणमिय सिद्धे-'* इत्यादि २१ गाथाओं रूप से 'उत्सर्ग अधिकार' है। तदुपरान्त *'ण हि णिरवेक्खो -'* इत्यादि ३० गाथाओं रूप से 'अपवाद अधिकार' है। तत्पश्चात् *'एयग्गगदो समणो -'* इत्यादि १४ गाथाओं रूप से 'श्रामण्य अपर नाम मोक्षमार्ग अधिकार' है। तथा तदनन्तर *'णिच्छिदसुत्तत्थपदो -'* इत्यादि ३२ गाथाओं रूप से 'शुभोपयोग अधिकार' है—इसप्रकार चार अन्तराधिकारों द्वारा, ९७ गाथाओं रूप से, *'चरणानुयोगचूलिका'* नामक 'तीसरा महाधिकार' समाप्त हुआ।

प्रवचनसार परिशिष्ट

अत्राह शिष्यः– परमात्मद्रव्यं यद्यपि पूर्वं बहुधा व्याख्यातम्, तथापि संक्षेपेण पुनरपि कथ्यतामिति ।

भगवानाह– केवलज्ञानाद्यनन्तगुणानामाधारभूतं यत्तदात्मद्रव्यं भण्यते । तस्य च नयैः प्रमाणेन च परीक्षा क्रियते ।

तद्यथा– एतावत् शुद्धनिश्चयनयेन निरुपाधिस्फटिकवत्समस्तरागादिविकल्पोपाधिरहितं ; तदेवाशुद्धनिश्चयनयेन सोपाधिस्फटिकवत्समस्तरागादिविकल्पोपाधिसहितम् ।

शुद्धसद्भूतव्यवहारनयेन शुद्धस्पर्शरसगन्धवर्णानामाधारभूतपुद्गलपरमाणुवत्केवलज्ञानादिशुद्धगुणानामाधारभूतम् ; तदेवाशुद्धसद्भूतव्यवहारनयेनाशुद्धस्पर्शरसगन्धवर्णानामाधारभूतद्व्यणुकादिस्कन्धवन्मतिज्ञानादिविभावगुणानामाधारभूतम् ।

अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन द्व्यणुकादिस्कन्धेषु संश्लेशबन्धस्थितपुद्गलपरमाणुवत्परमौदारिकशरीरे वीतरागसर्वज्ञवद्वा विवक्षितैकदेहस्थितम् । उपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन काष्ठासनाद्युपविष्टदेवदत्तवत्समवसरणस्थितवीतरागसर्वज्ञवद्वा विवक्षितैकग्रामगृहादिस्थितम् ।

इत्यादि परस्परसापेक्षानेकनयैः प्रमीयमाणं व्यवह्रियमाणं क्रमेणामेचकस्वभावविवक्षितैकधर्मव्यापकत्वादेकस्वभावं भवति । तदेव जीवद्रव्यं प्रमाणेन प्रमीयमाणं मेचकस्वभावानामनेकधर्माणां युगपद्व्यापकत्वाच्चित्रपटवदनेकस्वभावं भवति ।

यहाँ शिष्य कहता है– यद्यपि परमात्मद्रव्य का पहले अनेक प्रकार से व्याख्यान किया है, तथापि संक्षेप से और भी कहियेगा ।

भगवान (आचार्य) कहते हैं– जो केवलज्ञान आदि अनन्तगुणों का आधारभूत है, वह आत्मद्रव्य कहा गया है । तथा उसकी नयों * और प्रमाण से परीक्षा की जाती है ।

वह इसप्रकार– यह जो शुद्ध-निश्चय-नय से उपाधि (संयोग) रहित स्फटिक के समान, सम्पूर्ण रागादि विकल्पों रूप उपाधि से रहित है ; वही अशुद्ध-निश्चय-नय से, उपाधि सहित स्फटिक के समान, सम्पूर्ण रागादि विकल्पों रूप उपाधि से सहित है ।

शुद्ध-सद्भूत-व्यवहार-नय से, जो शुद्ध स्पर्श-रस-गंध-वर्ण के आधारभूत पुद्गलपरमाणु के समान केवलज्ञानादि शुद्धगुणों का आधारभूत है, वही अशुद्ध-सद्भूत-व्यवहार-नय से, अशुद्ध स्पर्श-रस-गंध-वर्ण के आधारभूत द्व्यणुक आदि स्कंध के समान, मतिज्ञान आदि विभावगुणों (पर्यायों) का आधारभूत है ।

अनुपचरित-असद्भूत-व्यवहार-नय से, द्व्यणुक आदि स्कंधों में संश्लेष बंधरूप स्थित पुद्गलपरमाणु के समान अथवा परमौदारिक शरीर में स्थित वीतराग-सर्वज्ञ के समान विवक्षित एक शरीर में स्थित है । उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय से काष्ठ की आसन आदि पर बैठे हुये देवदत्त के समान अथवा समवशरण में स्थित वीतराग-सर्वज्ञ के समान, विवक्षित एक ग्राम, एक घर आदि में स्थित है ।

इत्यादि परस्पर सापेक्ष अनेक नयों द्वारा जाना गया– व्यवहार किया गया (जीवद्रव्य) क्रम से अमेचक स्वभाववाले विवक्षित एक धर्म में व्यापक होने से, एकस्वभावरूप है । वही जीवद्रव्य प्रमाण द्वारा जानने पर मेचक स्वभाववाले अनेक धर्मों में एक साथ व्यापक होने से, चित्रपट के समान, अनेकस्वभावरूप है ।

---

* यहाँ 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने ४७ नयों के माध्यम से आत्मा को दिखाया है ।

एवं नयप्रमाणाभ्यां तत्त्वविचारकाले योऽसौ परमात्मद्रव्यं जानाति स निर्विकल्पसमाधिप्रस्तावे निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानेनापि जानातीति ॥

पुनरप्याह शिष्यः– ज्ञातमेवात्मद्रव्यं हे भगवन्निदानीं तस्य प्राप्त्युपायः कथ्यताम् ।

भगवानाह– सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातरागाद्युपाधिरहितपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादानुभवमलभमानः सन् पूर्णमासीदिवसे जलकल्लोलक्षुभितसमुद्र इव रागद्वेषमोहकल्लोलैर्यावदस्वस्थरूपेण क्षोभं गच्छत्ययं जीवस्तावत्कालं निजशुद्धात्मानं न प्राप्नोति इति ।

स एव वीतरागसर्वज्ञप्रणीतोपदेशात् एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपंचेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तमनुष्यदेशकुलरूपेन्द्रियपटुत्वनिर्व्याध्यायुष्यवरबुद्धिसद्धर्मश्रवणग्रहणधारणश्रद्धानसंयमविषयसुखनिवर्तनक्रोधादिकषायव्यावर्तनादिपरंपरादुर्लभान्यपि कथंचित्काकतालीयन्यायेनावाप्य सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातरागाद्युपाधिरहितपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादानुभवलाभे सत्यमावस्या दिवसे जलकल्लोलक्षोभरहितसमुद्र इव रागद्वेषमोहकल्लोलक्षोभरहितप्रस्तावे यदा निजशुद्धात्मस्वरूपे स्थिरो भवति तदा तदेव निजशुद्धात्मस्वरूपं प्राप्नोति ॥

इसप्रकार नय-प्रमाण द्वारा तत्त्व-विचार के समय,जो वह,परमात्मद्रव्य को जानता है, वह विकल्परहित समाधि के प्रसंग में,विकाररहित स्वसंवेदनज्ञान से भी,उसे जानता है ।

शिष्य फिर कहता है— हे भगवान ! आत्मद्रव्य तो ज्ञात हुआ, अब उसकी प्राप्ति का उपाय कहियेगा ।

भगवान (आचार्य) कहते हैं — परिपूर्ण निर्मल केवल ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाले अपने परमात्मतत्त्व के, सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप अभेदरत्नत्रय विकल्परहित समाधि (स्वरूपलीनता) से उत्पन्न,रागादि उपाधि रहित उत्कृष्ट आनन्द एक लक्षण सुखरूपी अमृतरस सम्बन्धी स्वाद के अनुभव को,न पाता हुआ यह जीव, पूर्णिमा के दिन जल-लहरों से क्षुब्ध (चंचल) समुद्र के समान, राग-द्वेष-मोहरूपी लहरों द्वारा,जब तक अपने स्वरूप में स्थिर न होने से क्षुब्ध (आकुलित) रहता है, तब तक अपने शुद्धात्मा को प्राप्त नहीं करता है ।

वही, वीतराग-सर्वज्ञ प्रणीत उपदेश से एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, संज्ञी, पर्याप्त, मनुष्य, उत्तम देश, उत्तम कुल, रूप, इन्द्रियपटुता (कार्य करने में समर्थ इन्द्रियाँ), निरोगता, पर्याप्त आयु, श्रेष्ठ बुद्धि, सत्यधर्म का श्रवण-ग्रहण-धारण-श्रद्धान, संयम, विषयसुख से विरक्ति, क्रोधादि कषायों का विनाश— इत्यादि उत्तरोत्तर दुर्लभ दशाओं को भी कथंचित् 'काकतालीय न्याय'(सहज पुण्योदय) से प्राप्तकर,परिपूर्ण निर्मल केवल ज्ञान - दर्शन स्वभावी अपने आत्मतत्त्व के,सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरणरूप अभेदरत्नत्रय स्वरूप विकल्परहित समाधि (स्वरूप-लीनता) से उत्पन्न,रागादि उपाधिरहित, उत्कृष्ट आनन्द एक लक्षण सुखरूपी अमृतरस सम्बन्धी स्वाद के अनुभव की प्राप्ति होने पर, अमावस्या के दिन जल-लहरों के क्षोभ से रहित समुद्र के समान, राग-द्वेष-मोहरूपी लहरों के क्षोभ से रहित प्रसंग में, जब अपने शुद्धात्मस्वरूप में स्थिर होता है ; तब वही जीव, अपने शुद्धात्मस्वरूप को प्राप्त होता है ॥

इति *श्रीजयसेनाचार्य* कृतायां तात्पर्यवृत्तौ एवं पूर्वोक्तक्रमेण *'एस सुरासुर'* इत्याद्येकोत्तरशतगाथापर्यन्तं सम्यग्ज्ञानाधिकारः, तदनन्तरं *'तम्हा तस्स णमाइं'* इत्यादि त्रयोदशोत्तरशतगाथापर्यन्तं ज्ञेयाधिकारापरनामा सम्यक्त्वाधिकारः, तदनन्तरं *'एवं पणमिय सिद्धे'* इत्यादि सप्तनवतिगाथापर्यन्तं चारित्राधिकारश्चेति महाधिकारत्रयेणैकादशाधिकत्रिशतगाथाभिः प्रवचनसारप्राभृतं समाप्तम् ॥

समाप्तेयं तात्पर्यवृत्तिः प्रवचनसारस्य ॥

इसप्रकार ***'श्री जयसेनाचार्य'*** कृत ***'तात्पर्यवृत्ति'*** में इसप्रकार पहले कहे गये क्रम से ***'एस सुरासुर-'*** इत्यादि १०१ गाथाओं पर्यन्त 'सम्यग्ज्ञान अधिकार', तदुपरान्त ***'तम्हा तस्स णमाइं -'*** इत्यादि ११३ गाथाओं पर्यन्त 'ज्ञेयाधिकार अपरनाम सम्यक्त्व अधिकार' और तत्पश्चात् ***'एवं पणमिय सिद्धे -'*** इत्यादि ९७ गाथाओं पर्यन्त 'चारित्राधिकार' — इसप्रकार तीन महाधिकारों द्वारा ३११ गाथाओंरूप से ***'प्रवचनसार-प्राभृत'*** पूर्ण हुआ ।

प्रवचनसार की यह तात्पर्यवृत्ति पूर्ण हुई ॥

इसप्रकार ***'आचार्य कुन्दकुन्ददेव'*** कृत ***'प्रवचनसार-प्राभृत'*** तथा उस पर ***'आचार्य जयसेन'*** कृत ***'तात्पर्यवृत्ति'*** टीका का हिन्दी पद्य, गाथार्थ, टीकार्थ, भावार्थ, विशेषार्थ रूप से हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ ।

* * *

टीकाकार आचार्य जयसेन-प्रशस्तिः

अज्ञानतमसा लिप्तो मार्गो रत्नत्रयात्मकः ।
तत्प्रकाशसमर्थाय नमोऽस्तु कुमुदेन्दवे ॥ १ ॥

सूरिः श्री वीरसेनाख्यो मूलसंघेऽपि सत्तपाः
नैर्ग्रन्थ्यपदवीं भेजे जातरूपधरोऽपि यः ॥ २ ॥

ततः श्री सोमसेनोऽभूद्गणी गुणगणाश्रयः ।
तद्विनेयोस्ति यस्तस्मै जयसेनतपोभृते ॥ ३ ॥

शीघ्रं बभूव मालु साधुः सदा धर्मरतो वदान्यः ।
सूनुस्ततः साधुमहीपतिर्यस्तस्मादयं चारुभटस्तनूजः ॥ ४ ॥

यः संततं सर्वविदाः सपर्यामार्यक्रमाराधनया करोति ।
स श्रेयसे प्राभृतनामग्रन्थपुष्टात् पितुर्भक्तिविलोपभीरुः ॥ ५ ॥

टीकाकार श्री आचार्य जयसेन की प्रशस्ति

अज्ञानरूपी अन्धकार से,यह रत्नत्रयस्वरूप (मोक्ष) मार्ग,लिप्त (आच्छादित-लुप्त) है, उसे प्रकाशित करने में समर्थ,कुमुदचन्द्र या पद्मचन्द्र मुनि को नमस्कार हो ॥ १ ॥

इस मूलसंघ में भी,परम तपस्वी *'श्री वीरसेन'* नामक आचार्य हुये हैं,जो निर्ग्रन्थ पदवी के धारी, जातरूपधर— दिगम्बर भी थे ॥ २ ॥

उनके शिष्य,अनेक गुणों के धारी *'श्री सोमसेन आचार्य'* हुये, ये जो *'जयसेन आचार्य'* हैं, वे उनके शिष्य हैं ॥ ३ ॥

सदा धर्म में लीन, प्रसिद्ध मालु नामक साधु हुये । उनके पुत्र महीपति नामक साधु हुये और उनसे यह चारुभट नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ४ ॥

जो,हमेशा सर्वज्ञ की पूजा तथा आचार्यों के चरणों की आराधना पूर्वक सेवा करता है । उस (चारुभट-जयसेनाचार्य) ने पिता की भक्ति के विलोप होने से भयभीत हो,इस *प्राभृत* नामक ग्रन्थ की टीका की है ॥ ५ ॥

श्रीमन्त्रिभुवनचंद्रं निजमतवाराशितायना चन्द्रम् ।
प्रणमामि कामनामप्रबलमहापर्वतैकशतधारम् ॥ ६ ॥

जगत्समस्तसंसारिजीवाकारणवन्धवे ।
सिंधवे गुणरत्नानां नमस्त्रिभुवनेन्दवे ॥ ७ ॥

त्रिभुवनचंद्रं चंद्रं नौमि महासंयमोत्तमं शिरसा ।
यस्योदयेन जगतां स्वान्ततमोराशिकृन्तनं कुरुते ॥ ८ ॥

अपने मतरूपी जल को बढ़ाने के लिये चन्द्रमा के समान तथा काम नामक महाप्रबल पर्वत के सैकड़ों टुकड़े करनेवाले, श्रीमान् *त्रिभुवनचन्द्र* को नमस्कार करता हूँ ॥ ६ ॥

जगत में, समस्त संसारी जीवों के अकारण बन्धु तथा गुणरूपी रत्नों के समुद्र *त्रिभुवनचन्द्र* को नमस्कार हो ॥ ७ ॥

जिनके उदय से, जगत-जीवों के अन्तरंग का अन्धकार नष्ट हो जाता है, ऐसे महासंयम के पालने में श्रेष्ठ चन्द्रमा के समान, *त्रिभुवनचन्द्र* को नमस्कार करता हूँ ॥ ८ ॥

समाप्त

॥ श्री प्रवचनसार प्राभृत – गाथाओं की वर्णानुक्रमणिका ॥

वर्णानुक्रम गाथा	प्रदत्त संख्या आचार्य जयसेन	अमृतचन्द्र	पृष्ठ-संख्या
उ			
उच्चालयम्हि पाए	२३२	०	३२३
उदयगदा कम्मंसा	४४	४३	७१
उप्पज्जदि जदि णाणं	५१	५०	८०
उप्पादट्ठिदिभंगा			
विज्जंते	१११	१०१	१५९
उप्पादट्ठिदिभंगा	१३९	१२९	२०६
उप्पादो पद्धंसो	१५३	१४२	२२६
उप्पादो य विणासो	१८	१८	३०
उवओगमओ जीवो	१८७	१७५	२६६
उवओगविसुद्धो जो	१५	१५	२७
उवओगो जदि हि	१६८	१५६	२४३
उवकुणदि जो वि	२८८	२४९	३८४
उवयरणं जिणमग्गे	२५५	२२५	३४६
उवरदपावो पुरिसो	२९७	२५९	३९३
ए			
एक्कं खलु तं भत्तं	२६०	२२९	३५१
एक्को व दुगे बहुगा	१५२	१४१	२२४
एगंतेण हि देहो	६८	६६	१०२
एगम्हि संति समये	१५४	१४३	२२७
एगुत्तरमेगादी	१७६	१६४	२५१
एदाणि पंचदव्वाणि	१४६	०	२१५
एदे खलु मूलगुणा	२२३	२०९	३१४
एयग्गगदो समणो	२६६	२३२	३५८
एवं जिणा जिणिंदा	२१२	१९९	२९८
एवं णाणप्पाणं	२०५	१९२	२८७

वर्णानुक्रम गाथा	प्रदत्त संख्या आचार्य जयसेन	अमृतचन्द्र	पृष्ठ-संख्या
एवं पणमिय सिद्धे	२१५	२०१	३०४
एवं विदिदत्थो	८२	७८	११८
एवंविहं सहावे	१२१	१११	१७५
एस सुरासुरमणुसिंद	१	१	५
एसा पसत्थभूदा	२८४	२५४	३८०
एसो त्ति णत्थि	१२६	११६	१८६
एसो बंधसमासो	२०२	१८९	२८३
ओ			
ओगाढगाढणिचिदो	१८०	१६८	२५७
ओरालिओ य देहो	१८३	१७१	२६०
क			
कत्ता करणं कम्मं	१३६	१२६	२००
कम्मत्तणपाओग्गा	१८१	१६९	२५८
कम्मं णामसमक्खं	१२७	११७	१८८
कालस्स वट्टणा से	१४४	१३४	२१२
किच्चा अरहंताणं	४	४	९
किध तम्हि णत्थि	२४०	२२१	३३२
किं किंचण त्ति तक्कं	२४३	२२४	३३५
कुलिसाउहचक्कधरा	७७	७३	११३
कुव्वं सभावमादा	१९६	१८४	२७७
केवलदेहो समणो	२५९	२२८	३५०
कोहादिएहिं चउहिं	२५७	०	३४८
ग			
गुणदोधिगस्स विणयं	३०५	२६६	४०१
गेण्हइ विधुणइ	२३९	०	३३०

वर्णानुक्रम गाथा	प्रदत्त संख्या आचार्य जयसेन	अमृतचन्द्र	पृष्ठ-संख्या
णिहदघणघादिकम्मो	२१०	१९७	२९५
णो सद्दहंति सौक्खं	६४	६२	९७
त			
तक्कालिगेव सव्वे	३८	३७	६३
तम्हा जिणमग्गादो	९७	९०	१३४
तम्हा णाणं जीवो	३७	३६	६१
तम्हा तस्स णमाइं	१०२	०	१४२
तम्हा तह जाणित्ता	२१३	२००	२९९
तम्हा तं पडिरूवं	२५२	०	२४३
तम्हा दु णत्थि कोई	१३०	१२०	१९२
तम्हा समं गुणादो	२८२	२७०	३७७
तवसंजमप्पसिद्धो	८४	०	१२०
तस्स णमाइं लोगो	५४	०	८४
तह सो लद्धसहावो	१६	१६	२८
तं गुणदो अधिगदरं	७२	०	१०६
तं देवदेवदेवं	८५	०	१२१
तं सब्भावणिबद्धं	१६६	१५४	२४१
तं सव्वट्ठवरिट्ठं	१९	०	३२
तिक्कालणिच्चविसमं	५२	५१	८१
तिमिरहरा जइ दिट्ठी	६९	६७	१०३
तिसिदं बुभुक्खिदं वा	२९१	०	३८८
तेजो दिट्ठीणाणं	७१	०	१०५
तेण णरा व	१०१	०	१३८
ते ते कम्मत्तगदा	१८२	१७०	२५९
ते ते सव्वे समगं	३	३	८
ते पुण उदिण्हतण्हा	७९	७५	११५
तेसिं विसुद्धदंसण	५	५	९
द			
दव्वट्ठिएण सव्वं	१२४	११४	१७९
दव्वं अणंतपज्जय	५०	४९	७९
दव्वं जीवमजीवं	१३७	१२७	२०३
दव्वं सहावसिद्धं	१०८	९८	१५३
दव्वाणि गुणा तेसिं	९४	८७	१३१
दव्वादिएसु मूढो	९०	८३	१२७
दंसणणाणचरित्तेसु	२७७	२४२	३७१
दंसणणाणुवदेसो	२८७	२४८	३८३
दंसणसंसुद्धाणं	२१४	०	३०१
दंसणसुद्धा पुरिसा	८९	०	१२६
दिट्ठा पगदं वत्थुं	२९९	२६१	३९५
दुपदेसादी खंदा	१७९	१६७	२५६
देवदजदिगुरुपूजासु	७३	६९	१०९
देहा वा दविणा	२०६	१९३	२८९
देहो य मणो	१७३	१६१	२४८
ध			
धम्मेण परिणदप्पा	११	११	२०
प			
पइडी पमादमइआ	२४६	०	३३७
पक्केसु अ आमेसु	२६१	०	३५२
पक्खीणघादिकम्मो	२०	१९	३३
पप्पा इट्ठे विसये	६७	६५	१०१
पयदम्हि समारद्धे	२२५	२११	३१६
परदव्वं ते अक्खा	५९	५७	९२

वर्णानुक्रम गाथा	प्रदत्त संख्या आचार्य जयसेन	अमृतचन्द्र	पृष्ठ-संख्या
वत्थक्खंडं दुद्दिय	२३८	०	३३०
वदसमिदिंदियरोधो	२२२	२०८	३१३
वदिवददो तं देसं	१५०	१३९	२२०
वंदणणमंसणेहिं	३०२	२४७	३९८
विसयकसाओगाढो	१७०	१५८	२४५
वेज्जावच्चणिमित्तं	२८३	२५३	३७९
स			
स इदाणिं कत्ता	१९८	१८६	२७९
सत्ता संबद्धेदे	९८	९१	१३५
सदवट्ठिदं सहावे	१०९	९९	१५४
सद्दव्वं सच्च गुणो	११७	१०७	१६८
सपदेसेहिं समग्गो	१५६	१४५	२३०
सपदेसो सो अप्पा कसायिदो	२०१	१८८	२८२
सपदेसो सो अप्पा तेसु	१९०	१७८	२७०
सपरं बाधासहिदं	८०	७६	११६
सब्भावो हि सहावो	१०६	९६	१४९
समओ दु अप्पदेसो	१४९	१३८	२१८
समणं गणिं गुणड्ढं	२१७	२०३	३०८
समणा सुद्धुवजुत्ता	२८५	२४५	३८१
समवेदं खलु दव्वं	११२	१०२	१६१
समसत्तुबंधुवग्गो	२७६	२४१	३७०
सम्मं विदिदपदत्था	३०९	२७३	४०५
सयमेव जहादिच्चो	७०	६८	१०४
सव्वगदो जिणवसहो	२७	२६	४७
सव्वाबाधविजुत्तो	२११	१९८	२९६
सव्वे आगमसिद्धा	२६९	२३५	३६२
सव्वे वि य अरहंता	८८	८२	१२५
संति धुवं पमदाणं	२४७	०	३३८
संपज्जदि णिव्वाणं	६	६	११
सुत्तं जिणोवदिट्ठं	३५	३४	५८
सुद्धस्स य सामण्णं	३१०	२७४	४०६
सुविदिदपयत्थसुत्तो	१४	१४	२४
सुहपयडीण विसोही	२००	०	२८१
सुहपरिणामो पुण्णं	१९३	१८१	२७३
सेसे पुण तित्थयरे	२	२	७
सोक्खं वा पुण दुक्खं	२१	२०	३४
सोक्खं सहावसिद्धं	७५	७१	११०
ह			
हवदि व ण हवदि	२३५	२१९	३२६
हीणो जदि सो आदा	२६	२५	४५

वीतराग चारित्र है, परम धरम निजरूप।
ताके धारत जीवको, धर्म कह्यो जिनभूप ॥ २२ ॥

—कविवर वृन्दावनदासजी विरचित, श्री प्रवचनसार-परमागम (अध्याय-१)

॥ मूल-गाथान्तर्गत पारिभाषिक-शब्दानुक्रमणिका ॥

* * *

॥ टीकान्तर्गत पारिभाषिक शब्दानुक्रमणिका ॥

पारिभाषिक शब्द	गाथा-टीका संख्या	पृष्ठ-पंक्ति संख्या (संस्कृत टीका)
अ		
अचल	२०५	२८८/७
अजीव	१३७	२०४/७
अञ्जलिकरण	३००	३९६/८
अतद्भाव	११७	१६९/३
अतिशयसुख	१३	२३/३
अतीन्द्रिय	२०५	२८८/५
अद्वैत नमस्कार	५	१०/५
अध्यवसान	१९५	२७६/७
अनगार	२८८	३८५/७
अनाकार	२०७	२९१/३-४-५
अनारम्भ	२७४	३६८/८
अनालम्बन	२०५	२८८/७
अनिन्द्रिय	२०	३३/७
अनुपमसुख	१३	२३/५
अनुभागबंध	१९०, २००	२७०/१२, २८१/४
अनेषण	२५८	३४९/४
अनंतसुख	१३	२३/६
अपवाद मार्ग	२६४	३५५/३
अपुनर्भवकामी	२४३	३३५/५
अप्रतिकृष्टाहार	२६३	३५४/१
अप्रतिकृष्ट उपधि	२४२	३३४/४
अप्रयत	२३०, २३४	३२२/२, ३२५/७
अप्रार्थनीय उपधि	२४२	३३४/५
अभव्य	६४	९८/१
अभिन्न षट्कारक	१६	२८/८-१२
अभ्युत्थान	३००	३९६/६
अयथाचारवियुक्त	३०८	४०५/१
अरहन्त	४५, २०२	७२/१०, २८३/६
अर्थपर्याय	८६, १३९	१२२/९, २०६/९
अलोक	२४	४४/३
अवधिचक्षु	२६८	३६१/७
अविच्छिन्नसुख	१३	२३/६
अविहारीश्रमण	२५८	३४९/१०
अशुभ	९, १६७	१६/४, २४२/१०
अशुभोपयोग	१२	२२/५
असंयम	२४०	३३२/६
अहंकार	१०४	१४६/५
आ		
आगम	२६६	३५९/३
आगमकुशल	९९	१३६/९
आगमचक्षु	२६८	३६१/४
आत्मा	२३, ६९, १९२, २०५	४२/८, १०३/७, २७२/८, २८८/२
आत्मोत्पन्नसुख	१३	२३/३
आयुप्राण	१५७	२३१/१३
आरम्भ	२२०, २४०	३११/८, ३३२/५
आवसथ (आवास)	२२९	३२१/३
इ		
इन्द्रियचक्षु	२६८	३६१/५
इन्द्रियप्राण	१५७	२३१/१२

पारिभाषिक शब्द	गाथा-टीका संख्या	पृष्ठ-पंक्ति संख्या (संस्कृत टीका)
इहलोक	२४४, २५६	३३६/६, ३४७/९
उ		
उग्र	१७०	२४५/१०
उत्तरगुण	२२२-२२३	३१५/४
उत्सर्ग	२६४	३५५/१
उन्मार्गपर	१७०	२४५/११
उपधि	२३५	३२६/४
उपयोग	१९३, २२०	२७४/२, ३११/९
उपयोगमय	१३७	२०४/३
उपासन	३००	३९६/६
उभयबंध	१८९	२६९/८
ऊ		
ऊर्ध्वतासामान्य	१०३	१४३/७-८-९
ऊर्ध्वप्रचय	१५२	२२५/७
ए		
एकत्व वितर्कावीचार	१५	२७/८
एकदेशजिन	२१५	३०५/३
ऐ		
ऐकाग्र्य	२६६	३५८/५
ऐश्वर्य	१०१	१३८/६
औ		
औदारिकादि पंचदेह	२०६	२८९/५
क		
करुणाभाव	९२	१२९/५
कर्म	१३१, १३४	१९४/६-८, १९८/५
कर्मफल	१३४	१९८/८

पारिभाषिक शब्द	गाथा-टीका संख्या	पृष्ठ-पंक्ति संख्या (संस्कृत टीका)
कषायक्षय	२७४	३६८/१०
कायविराधनारहित	२८८	३८५/९
कारणसमयसार	१८, १०५,	३१/६, १४७/१०,
	१३९, १९८,	२०७/३, २७९/७
	२११	२९७/६
कार्यसमयसार	१८, १०५,	३१/७, १४७/११
	१२६, १३९,	१८७/९, २०७/४,
	१९८	२७९/६
कालप्रच्छन्न	५६	८८/७
कुल	२१७,	३०८/६,
	२५२	३४४/३
केवलदर्शन	७१	१०५/५
केवलज्ञान	१५, २३,	२७/१०, ४२/१०
	५२, ६२,	८२/८, ९५/१०,
	७१	१०५/५
केवलज्ञानदर्शनो-पयोगात्मक	२०६	२८९/९
ग		
ग्रहण	३००	३९६/६
गुणाढ्य	२१७	३०८/५
गुरु	७३	१०९/९
गुरुवचन	२५५	३४६/८
च		
चतुर्विधसंघ	२८८	३८५/पूर्ण
चारित्र	७	१३/४
चित्तस्रव	२४९	३४०/१

पारिभाषिक शब्द	गाथा-टीका संख्या	पृष्ठ-पंक्ति संख्या (संस्कृत टीका)
निर्यापक गुरु	२२४	३१६/५
निर्वाण	६, २४७, ३१०	११/९, ३३८/११, ४०७/१
निर्वाण मार्ग	२१२	२९९/४
निर्विकल्प समाधि	७०	१०४/८
निश्चय अहिंसा	२६०	३५१/१०
निश्चयकाल	१५३	२२६/८
निश्चयचतु-र्विधाराधना	२१७	३०९/३
निश्चयचारित्र	६, १२, ८९, २२७	११/८, २२/४, १२६/७ ३१९/१
निश्चयधर्म	८, ९९, १००	१४/७, १३६/१४, १३७/४
निश्चयपंचाचार	२१६	३०७/३
निश्चयमूलगुण	२२३	३१४/९
निश्चय रत्नत्रय	३८, २५४, २७२, २७३, २७७	६४/३, ३४५/७, ३६६/१, ३६७/५, ३७१/१२
निश्चयविनय	२५५	३४७/३
निश्चय सम्यक्त्व	१२, १५५, २२८	२२/४, २२९/११, ३२०/१
निश्चय हिंसा	२३१, २३५	३२३/३-६, ३२७/५
निश्चितसूत्रार्थपद	२८०	३७६/५
निहतमोहदृष्टि	९९	१३६/८
प		
परमर्षि	२८८	३८५/६
परमधर्म	१२६	१८७/८
परमसमाधि	७८, १०६, १३६, २२३	११४/७, १४९/९, २००/१०, ३१५/२
परमसाम्य	२७६	३७१/१
परम सामायिक व्रत	२२१, २२३	३१३/३, ३१४/९
परमागम	२६६	३५९/३
परमात्मा	१०२	१४२/७
परमार्थ विनिश्च-याधिगम	१०२	१४२/८-१०
परमोपेक्षा संयम	२४३	३३५/७
परलोक	२२४, २५६	३३६/७, ३४७/१०
परिपूर्णश्रामण्य	२२८	३१९/पूर्ण
परसमय	१०३, १०४	१४४/१०, १४६/६
परोक्ष	६०	९३/७
पर्याय	१०३	१४४/४
पारमार्थिक सुख	६६, ७०, ७९	१००/५, १०४/७, ११५/५
पारिणामिकभाव	१९३	२७४/७-८-१०
पुण्य-पाप	१९३	२७३/३
पुद्गल बंध	१८९	२६९/५
पोषण	३००	३९६/७
पंचसमित	२७५	३६९/७
पंचेन्द्रियसंवृत	२७५	३६९/९
प्रकृतिबंध	१९०	२७०/१३
प्रणाम	३००	३९६/८
प्रतिकृष्ट	२६३	३५४/३

पारिभाषिक शब्द	गाथा-टीका संख्या	पृष्ठ-पंक्ति संख्या (संस्कृत टीका)
प्रत्यक्ष	६०	९३/७
प्रदेश	१४८	२१८/४
प्रदेशबंध	१९०	२७०/१२
प्रमादबहुला	२४६	३३८/३
प्रयत	२२५	३१७/३
प्रवचनसार	३११	४०७/१३
प्रवचनाभियुक्त	२८६	३८२/८
प्रव्रज्यादायकगुरु	२२४	३१६/२
प्रशान्तात्मा	३०८	४०५/३
पृथक्त्ववितर्कवीचार	१५	२७/७
ब		
बलप्राण	१५७	२३१/१२
ब्रह्मर्षि	२८८	३८५/६
बृहत्प्रतिक्रमण	२२१	३१३/३
भ		
भक्त (आहार)	२२९	३२१/१
भक्ति	२८६	३८२/६
भव्य	६४	९८/२
भंग	२५४	३४५/७
भाव नमस्कार	२१२, २२१	२९९/३, ३१३/१
	३१०	४०७/४
भाव प्रच्छन्न	५६	८८/८
भाव मोक्ष	९१	१२८/६
भाव संयम	२७४	३६९/१
भाव संसार	७	१३/४
भावश्रुत	३४	५६/३

पारिभाषिक शब्द	गाथा-टीका संख्या	पृष्ठ-पंक्ति संख्या (संस्कृत टीका)
भाव हिंसा	२३२-२३३	३२५/१२
भेदज्ञान	५	१०/७
म		
ममकार	१०४	१४६/५
ममता	१६२	२३६/३
महात्मा	९९	१३६/१२
महार्थ	२०५	२८८/६
महासामान्य	५०	७८/९
मुनि	२८८	३८५/७
मूर्च्छा	२२०, २४०	३११/७, ३३२/४
मूर्च्छादि जनन-रहित उपधि	२४२	३३४/६
मूढ़भाव	९०	१२७/६
मूलगुण	२२२-२२३	३१५/४
मोह	७, ९३,	१३/६, १३०/७,
	९६	१३३/७
मोक्ष	३९, ४४,	६५/१, ७२/३,
	७२, ८४,	१०६/७, १२०/१०
	१०६	१४९/८
मोक्षमार्ग	१०६, २१२	१४९/९, २९८/३
य		
यति	७३, ८५,	१०९/९, १२१/७
	२०२, २८८	२८३/६, ३८५/७
यथाजातरूपधर	२१८, २५५	३१०/३, ३४६/६
यथार्थपदनिश्चयी	३०८	४०५/२
योग	२१४, २२०	३०१/८, ३११/९

पारिभाषिक शब्द	गाथा-टीका संख्या	पृष्ठ-पंक्ति संख्या (संस्कृत टीका)
योगिभक्ति	३	८/८
र		
राग-द्वेष	९०, ९२	१२७/८, १२९/७
राजर्षि	२८८	३८५/५
रूप	२१७, २५२	३०८/६, ३४४/३
ल		
लिंग	२५५	३४६/६
लोक	२४, १३८	४४/२, २०५/८
लौकिक	२८०	३७६/९
व		
वय	२१७, २५२	३०८/७, ३४४/४,
	२५३	३४४/११
वात्सल्य	२८६	३८२/७
विकथा	२२९	३२१/६
विकल्प (अर्थ-		
विकल्पात्मक ज्ञान)	१३४	१९८/२
विगतराग	१४	२४/७
विदितार्थतत्त्व	८२	११८/५
विभव	१०१	१३८/५
विभाव व्यंजन		
पर्याय	१३९, १६४	२०६/१०, २३९/७
विशिष्ट भेदज्ञान	२७२	३६५/८
विषय-विरक्त	२०९	२९३/२
विषय-विराग	२७४	३६८/९
विषयों में अनासक्त	३०९	४०५/१३
विहार	२२९	३२१/४

पारिभाषिक शब्द	गाथा-टीका संख्या	पृष्ठ-पंक्ति संख्या (संस्कृत टीका)
वीतराग चारित्र	५, ९५,	१०/१०, १३२/९,
	९९, ११२,	१३६/११, १६१/५
	२१३	३००/२
व्यवहारकाल	१५०	२२२/३
व्यवहार धर्म	८	१४/७
व्यवहार पंचाचार	२१६	३०७/३
व्यवहार विनय	२५५	३४७/३
व्यवहार हिंसा	२३१	३२३/७
विषयातीत सुख	१३	२३/४
श		
शम	७	१३/५
शमितकषाय	२८०	३७६/६
शिथिल परिणाम	२४९	३४०/२
शुद्ध	९, १६७	१६/४, २४२/११,
	२०५, २१९	२८८/३, ३११/३
शुद्धोपयोग	११, १३,	२१/१, २३/७
	१५, २०,	२७/७, ३३/५
	८२, १७१,	११८/७, २४६/७
	२९८	३९४/४
शुद्ध संग्रहनय	१०७	१५२/६, १५३/२
शुभ	८, १६७	१६/२, २४२/१०
शुभोपयोग	२९८	३९४/५
शून्य पदार्थ	१५५	२२८/१०
श्रमण	९९, १३६,	१३६/१३, २०१/१
	२१०, २१२,	२९५/६, २९८/९
	२१५, २२९	३०५/५, ३२१/५
	२५९, २७६	३५०/४, ३७१/१

* * *

॥ टीकागत उद्धरणों की वर्णानुक्रमणिका ॥

उद्धरण	पृष्ठ-संख्या	कहाँ का है
भिण्णउ जेण ण......	३६०	दोहापाहुड़, गाथा १२८ ।
भुक्त्युपसर्गाभावात्.......	३६	नंदीश्वरभक्ति, पद्य ४० ।
ममत्तिं परिवज्जामि.....	३५०	नियमसार, गाथा ९९; मूलाचार, गाथा ४५१ ।
मुख्याभावे सति....	३४२	आलापपद्धति ।
मूर्च्छा परिग्रहः	३२४	तत्त्वार्थसूत्र, सप्तमोऽध्याय, सूत्र १६ ।
मोहस्स बलेण घाददे जीवं........	३५	कर्मकाण्ड, गाथा १९ ।
व्यापकं तदतन्निष्ठं........	४९	सिद्धिविनिश्चय टीका, षष्ठ प्रस्ताव, हेतु - लक्षण सिद्धि, कारिका २ की टीका ।
शुद्धस्फटिकसंकाशं......	३५	
सद्दो खंदप्पभवो.....	२११	पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा ७९ ।
समगुणपर्यायं द्रव्यं	४३	पंचाध्यायी, प्रथमोऽध्याय, पद्य ७३ ।
समसुखशीलितमनसां.....	९८	
सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः	३७२	तत्त्वार्थसूत्र, प्रथमोऽध्याय, सूत्र १ ।
समाहारस्यैकवचनम्	३१४	संस्कृत-व्याकरण, समास-प्रकरण ।
सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ....	३८७	स्वयंभूस्तोत्र, वासुपूज्य जिनस्तवन, पद्य ५८ ।

मेरो रूप अनादितैं, थो याही परकार।
मोहि न सूझ्यो मोहवश, ज्यों मृग मृगमद* धार ॥ १३७ ॥
अब जिनप्रवचन दीपकरि, आप रूप लखि लीन।
तजि आकुल भ्रम मोहमल, भये तासुमें लीन ॥ १३८ ॥

—कविवर वृन्दावनदासजी विरचित, श्री प्रवचनसार-परमागम (अध्याय -६)

* कस्तरी

प्रस्तुत पुस्तक की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

क्र. सं.	दातार का नाम	राशि
१.	ब्रं॰ हीरालाल खुशाल चन्द दोशी, मांडवे	५००१/-
२.	ब्र॰ कंचनवेन धागधावाले, सोनगढ़	२५००/-
३.	ब्र॰ पुष्पा वहन, सोनगढ़	२५००/-
४.	स्व॰ श्री छोंटालाल वी. मेहता	११००/-
५.	श्री तलकचन्द वीरचन्दजी दोशी, करमाला	१००१/-
६.	श्रीमती भँवरी देवी घीसालाल जी छावड़ा, सीकर	१००१/-
७.	श्री शान्तिनाथ मल्लिनाथ सोनाज, अकलूज	१००१/-
८.	श्री उदयकुमार शान्तिनाथ सोनाज, अकलूज	१००१/-
९.	श्री अनिल कुमार शान्तिनाथ सोनाज, अकलूज	१००१/-
१०.	श्री चन्द्रकान्त शान्तिनाथ सोनाज, अकलूज	१००१/-
११.	श्री इन्द्रलाल शाह, जयपुर	१००१/-
१२.	श्रीमती नारायणी देवी ध॰ प॰ गुलावचन्द जी जैन, दिल्ली	१००१/-
१३.	श्रीमती छवनवेन भाईचन्द गाँधी जैन, सोनगढ़	१०००/-
१४.	स्व॰ रंगूवाई उम्मेदमलजी भण्डारी, सायला हस्ते माँगीलालजी वैंगलोर	१०००/-
१५.	श्री राजकुमाजी जैन, कानपुर	१०००/-
१६.	श्री सौभागमलजी पाटनी, वम्बई	१०००/-
१७.	श्रीमती मोहनी देवी पाटनी ध॰ प॰ स्व॰ सोहनलालजी पाटनी, कलकत्ता	७००/-
१८.	श्रीमती प्रकाशवती गम्भीरचन्द जैन, अलीगंज	५०१/-
१९.	श्री हंसमुख भाई शेष भक्त जैन, पूना	५०१/-
२०.	श्रीमती रतनप्रभा मोतीचन्द लुहाड़िया, दिल्ली	५०१/-
२१.	श्री मदनराजजी छाजेड़, जोधपुर	५०१/-
२२.	श्री हुलासमलजी कासलीवाल, कलकत्ता	५०१/-
२३.	श्री नेमीचन्द गेंदालाल परवादवालें, गुना	५०१/-
२४.	श्रीमती सुशीला बाई अध्यापिका कुंभराज, गुना	५०१/-
२५.	श्रीमती गुलाबीदेवी ध॰ प॰ श्री लक्ष्मीनारायणजी रारा, शीवसागर	५०१/-
२६.	श्रीमती पुष्पाबाई जैन ध॰ प॰ अजितकुमार जी जैन, मुरेना	५०१/-
२७.	विनयदक्ष चेरिटेबल ट्रस्ट, बम्बई	५०१/-

तद्यथा- बहिर्विषये परमागमाभ्यासबलेन यत्सम्यक्परिज्ञानं तथैव श्रद्धानं व्रताद्यनुष्ठानं चेति त्रयं, तत्त्रयाधारेणोत्पन्नं सिद्धजीवविषये सम्यक्परिज्ञानं श्रद्धानं तद्गुणस्मरणानुकूलमनुष्ठानं चेति त्रयं, तत्त्रयाद्यारेणोत्पन्नं विशदाखण्डैकज्ञानाकारे स्वशुद्धात्मनि परिच्छित्तिरूपं सविकल्पज्ञानं स्वशुद्धात्मोपादेयभूतरुचिविकल्परूपं सम्यग्दर्शनं तत्रैवात्मनि रागादिविकल्पनिवृत्तिरूपं सविकल्पचारित्रमिति त्रयम्। तत्त्रयप्रसादेनोत्पन्नं यन्निर्विकल्पसमाधिरूपं निश्चयरत्नत्रयलक्षणं विशिष्टस्वसंवेदनज्ञानं तदभावादज्ञानी जीवो बहुभवकोटिभिर्यत्कर्म क्षपयति, तत्कर्म ज्ञानी जीवः पूर्वोक्तज्ञानगुणसद्भावात् त्रिगुप्तिगुप्तः सन्नुच्छ्वासमात्रेण लीलयैव क्षपयतीति।

ततो ज्ञायते परमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां भेदरत्नत्रयरूपाणां सद्भावेऽप्यभेदरत्नत्रयरूपस्य स्वसंवेदनज्ञानस्यैव प्रधानत्वमिति ॥ २७२ ॥

अथ पूर्वसूत्रोक्तात्मज्ञानरहितस्य सर्वागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्यमप्यकिंचित्करमित्युपदिशति-

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो। (२३९)
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि ॥ २७३ ॥

वह इसप्रकार— बाह्य विषय में परमागम के अभ्यास के बल से सम्यक् परिज्ञान, उसीप्रकार श्रद्धान और व्रतादि अनुष्ठान— इसप्रकार तीन; उन तीन के आधार से उत्पन्न सिद्धजीव के विषय में सम्यक् परिज्ञान, श्रद्धान और उनके गुणों के स्मरण के अनुकूल अनुष्ठान— इसप्रकार तीन; उन तीन के आधार से उत्पन्न स्पष्ट, निर्मल, अखण्ड, एक, ज्ञानाकाररूप अपने शुद्धात्मा में जानकारीरूप सविकल्प ज्ञान, अपने शुद्धात्मा की उपादेयभूत रुचि के विकल्परूप सम्यग्दर्शन और उसी आत्मा में रागादि विकल्पों की निवृत्तिरूप सविकल्प चारित्र— इसप्रकार तीन। उन तीन के प्रसाद से उत्पन्न, जो विकल्प रहित समाधिरूप निश्चय रत्नत्रय लक्षण विशिष्ट स्वसंवेदनज्ञान है, उसका अभाव होने से अज्ञानी जीव अनेक करोड़ भवों में, जो कर्म क्षय करता है; वे कर्म ज्ञानी जीव पहले (ऊपर) कहे गये ज्ञानगुण के सद्भाव में, तीन गुप्तिरूप से गुप्त होता हुआ, उच्छ्वास मात्र में— लीला से ही— अत्यन्त सहजरूप में ही नष्ट कर देता है।

इससे ज्ञात होता है कि परमागमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयतत्वरूप भेद रत्नत्रय का सद्भाव होने पर भी, अभेद रत्नत्रयरूप स्वसंवेदनज्ञान की ही प्रधानता है ॥ २७२ ॥

अब, पहले (२७२वीं) गाथा में कहे गये आत्मज्ञान से रहित जीव के, सम्पूर्ण आगम का ज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व की युगपतता भी अकिंचित्कर है, ऐसा उपदेश देते हैं—

परमाणु मात्र ममत्व भी देहादि में जिसके रहे।
हो सर्व आगमधारि भी वह पर न मुक्ति को लहे ॥ २७३ ॥

गाथार्थ— जिसके शरीर आदि में यदि परमाणुमात्र (अत्यल्प) भी ममत्व पाया जाता है, तो वह सम्पूर्ण आगम का धारी होने पर भी, मोक्ष प्राप्त नहीं करता है।

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो विज्जदि जदि परमाणुमात्रं वा मूर्च्छा देहादिकेषु विषयेषु यस्य पुरुषस्य पुनर्विद्यते यदि चेत्, *सो सिद्धिं ण लहदि* स सिद्धिं मुक्तिं न लभते । कथंभूतः । *सव्वागमधरो वि* सर्वागमधरोऽपीति ।

अयमत्रार्थः– सर्वागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्ये सति यस्य देहादिविषये स्तोकमपि ममत्वं विद्यते तस्य पूर्वसूत्रोक्तं निर्विकल्पसमाधिलक्षणं निश्चयरत्नत्रयात्मकं स्वसंवेदनज्ञानं नास्तीति ॥ २७३ ॥

एवं भेदाभेदरत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गस्थापनमुख्यत्वेन द्वितीयस्थले गाथाचतुष्टयं गतम् ।

किंच बहिरात्मावस्थान्तरात्मावस्थापरमात्मावस्थामोक्षावस्थात्रयं तिष्ठति । अवस्थात्रयेऽनुगताकारं द्रव्यं तिष्ठति । एवं परस्परसापेक्षद्रव्यपर्यायात्मको जीवपदार्थः । तत्र मोक्षकारणं चिन्त्यते ।

मिथ्यात्वरागादिरूपा बहिरात्मावस्था तावदशुद्धा, मुक्तिकारणं न भवति । मोक्षावस्था शुद्धा फलभूता, सा चाग्रे तिष्ठति एताभ्यां द्वाभ्यां भिन्ना यान्तरात्मावस्था सा मिथ्यात्वरागादिरहितत्वेन शुद्धा । यथा सूक्ष्मनिगोतज्ञाने शेषावरणे सत्यपि क्षयोपशमज्ञानावरणं नास्ति तथात्रापि केवलज्ञानावरणे सत्यप्येकदेशक्षयोपशमज्ञानापेक्षया नास्त्यावरणम् । यावतांशेन निरावरणा रागादिरहितत्वेन शुद्धा च तावतांशेन मोक्षकारणं भवति ।

टीकार्थ– ***परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो विज्जदि जदि***– तथा शरीर आदि विषयों में जिस पुरुष के परमाणुमात्र (अत्यल्प) भी ममत्व यदि पाया जाता है,तो ***सो सिद्धिं ण लहदि***– वह मुक्ति प्राप्त नहीं करता है । परमाणुमात्र ममत्व वाला वह कैसा हो ? ***सव्वागमधरो वि***– सम्पूर्ण आगम को धारण करने वाला (आगम-ज्ञानी) होने पर भी वह मुक्ति प्राप्त नहीं करता है ।

यहाँ अर्थ यह है– सम्पूर्ण आगमज्ञान, तत्त्वार्थ-श्रद्धान और संयतत्व की युगपतता होने पर भी जिसके शरीरादि के सम्बन्ध में थोड़ा भी ममत्व(एकत्व-ममत्व आदि विपरीत भाव) पाया जाता है, उसके पहले(२७२वीं) गाथा में कहा गया निर्विकल्प समाधि लक्षण निश्चय रत्नत्रय स्वरूप स्वसंवेदन ज्ञान नहीं है[१] ॥ २७३ ॥

इसप्रकार भेदाभेदरत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग के स्थापन की मुख्यता से,दूसरे स्थल में चार गाथायें पूर्ण हुईं ।

विशेष यह है कि बहिरात्मादशा, अन्तरात्मादशा और परमात्मारूप मोक्ष दशा– ये तीन दशायें हैं । इन तीन दशाओं में,इनका अनुसरण करनेवाला– इनरूप आकार वाला द्रव्य रहता है । इसप्रकार परस्पर की अपेक्षा सहित,द्रव्य-पर्याय स्वरूप जीव पदार्थ है । उसमें मोक्ष के कारण का विचार करते हैं–

पहली मिथ्यात्व रागादिरूप बहिरात्मादशा अशुद्धदशा है, वह मोक्ष की कारण नहीं है । तथा मोक्षदशा शुद्ध फलभूत है, वह आगे प्रगट होती है । इन दोनों से भिन्न जो अन्तरात्मा दशा है,वह मिथ्यात्व-रागादि से रहित होने के कारण शुद्ध है । जैसे सूक्ष्म निगोत–निगोदिया जीव के ज्ञान में,शेष आवरण होने पर भी क्षयोपशम ज्ञानावरण (पर्याय ज्ञान नामक क्षयोपशम ज्ञानावरण) नहीं है, वैसे यहाँ भी,केवलज्ञानावरण होने पर भी एक देश क्षयोपशम ज्ञान की अपेक्षा,आवरण नहीं है । जितने अंशों में आवरण रहित और रागादि से रहित होने के कारण शुद्ध है, उतने अशों में मोक्ष का कारण है ।

१- इसी तथ्य को 'आचार्य कुन्दकुन्ददेव' 'पंचास्तिकाय संग्रह' गाथा १७२ द्वारा तथा 'आचार्य देवसेन' 'तत्त्वसार' गाथा ५३ द्वारा भी स्पष्ट करते हैं ।

तत्र शुद्धपारिणामिकभावरूपं परमात्मद्रव्यं ध्येयं भवति, तच्च तस्मादन्तरात्मध्यानावस्थाविशेषात्कथंचिद्भिन्नम्। यदेकान्तेनाभिन्नं भवति तदा मोक्षेऽपि ध्यानं प्राप्नोति, अथवास्य ध्यानपर्यायस्य विनाशे सति तस्य पारिणामिकभावस्यापि विनाशः प्राप्नोति।

एवं बहिरात्मान्तरात्मपरमात्मकथनरूपेण मोक्षमार्गो ज्ञातव्यः।[१]

अथ द्रव्यभावसंयमस्वरूपं कथयति–

चागो य अणारंभो विसयविरागो खओ कसायाणं।
सो संजमो त्ति भणिदो पव्वज्जाए विसेसेण॥ २७४॥

चागो य निजशुद्धात्मपरिग्रहं कृत्वा बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहनिवृत्तिस्त्यागः। *अणारंभो* निष्क्रियनिजशुद्धात्मद्रव्ये स्थित्वा मनोवचनकायव्यापारनिवृत्तिरनारम्भः। *विसयविरागो* निर्विषयस्वात्मभावनोत्थसुखे तृप्तिं कृत्वा पंचेन्द्रियसुखाभिलाषत्यागो विषयविरागः। *खओ कसायाणं* निःकषायशुद्धात्मभावनाबलेन क्रोधादिकषायत्यागः कषायक्षयः। *सो संजमो त्ति भणिदो* स एवंगुणविशिष्टः संयम इति भणितः। *पव्वज्जाए विसेसेण*

वहाँ शुद्ध पारिणामिक भावरूप परमात्मद्रव्य ध्येय है, और वह उस अन्तरात्मारूप ध्यान दशा विशेष से कथंचित् भिन्न है। यदि वह एकान्त से उससे अभिन्न हो,तो मोक्ष में भी ध्यान प्राप्त होता है, अथवा इस ध्यान पर्याय का विनाश होने पर,उस पारिणामिक भाव का भी विनाश प्राप्त होता है।

इसप्रकार बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के कथनरूप से मोक्षमार्ग जानना चाहिये।

(अब, चार गाथाओं में निबद्ध द्रव्य-भाव संयम के कथनरूप तीसरा स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब,द्रव्य-भाव संयम का स्वरूप कहते हैं—

हो प्रव्रज्या में अनारम्भ व त्याग विषय-विरक्तता।
हो क्षय कषायों का तथा, संयम विशेष उसे कहा॥ २७४॥

गाथार्थ– तपश्चरण दशा में त्याग, अनारम्भ, विषयों से विरक्तता और कषायों का क्षय—विशेषरूप से वह संयम कहा गया है।

टीकार्थ– ***चागो य***– अपने शुद्धात्मा को सब ओर से ग्रहण कर,बहिरंग-अन्तरंग परिग्रह की निवृत्ति त्याग है। ***अणारंभो***– क्रिया रहित अपने शुद्धात्मद्रव्य में ठहरकर, मन-वचन-शरीर सम्बन्धी व्यापार (चेष्टा) से निवृत्ति अनारम्भ है। ***विसयविरागो***– विषयों से रहित अपने आत्मा की भावना से उत्पन्न सुख में तृप्त होकर,पाँच इन्द्रियों सम्बन्धी सुख की इच्छा का त्याग विषय-विराग है। ***खओ कसायाणं***– कषाय रहित शुद्धात्मा की भावना के बल से,क्रोधादि कषायों का त्याग कषायक्षय है। ***सो संजमो त्ति भणिदो***– वह इन गुणों से विशिष्ट 'संयम'— ऐसा कहा गया है। ***पव्वज्जाए विसेसेण***– प्रथम सामान्य से भी यह संयम

१- दूसरे स्थल की समाप्ति परक पंक्ति और यह टीका,छपी हुई उपलब्ध सभी प्रतियों में गाथा २७१ के बाद छापी गई है;परन्तु सामूहिक पातनिका के अनुसार दूसरा स्थल,चार गाथाओं युक्त मोक्षमार्ग की मुख्यता वाला है,जो कि यहाँ २७३वीं गाथा में समाप्त हुआ है। अतः वहाँ का वह अंश यहाँ दिया गया है। हस्तलिखित प्रति-प्राप्ति के प्रयास में असफल रही हूँ। शोधार्थी निर्णय करें॥ अनुवादिका॥

मान्येनापि तावदिदं संयमलक्षणं, प्रव्रज्यायां तपश्चरणावस्थायां विशेषेणेति। अत्राभ्यन्तरशुद्धात्मसंवित्ति-वसंयमो, बहिरंगनिवृत्तिश्च द्रव्यसंयम इति ॥ २७४ ॥

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां त्रयाणां यत्सविकल्पं यौगपद्यं तथा निर्विकल्पात्मज्ञानं चेति द्वयोः नवं दर्शयति–

पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदियसंवुडो जिदकसाओ। (२४०)

दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो॥ २७५ ॥

पंचसमिदो व्यवहारेण पंचसमितिभिः समितः संवृतः पंचसमितः, निश्चयेन तु स्वस्वरूपे सम्यगितो गतः णतः समितः। *तिगुत्तो* व्यवहारेण मनोवचनकायनिरोधत्रयेण गुप्तः त्रिगुप्तः, निश्चयेन स्वस्वरूपे गुप्तः णतः। *पंचेदियसंवुडो* व्यवहारेण पंचेन्द्रियविषयव्यावृत्त्या संवृतः पंचेन्द्रियसंवृतः, निश्चयेन वातीन्द्रियसुख-ादरतः। *जिदकसाओ* व्यवहारेण क्रोधादिकषायजयेन जितकषायः, निश्चयेन चाकषायात्मभावनारतः।

लक्षण है, प्रव्रज्या अर्थात् तपश्चरणरूप दशा में, विशेषरूप से भी यही संयम का लक्षण है। यहाँ अन्दर में द्धात्मा की सम्वित्ति—स्वसंवेदन भाव संयम है और बाहर से निवृत्ति द्रव्य संयम है।

विशेषार्थ– संयम के इन भेदों को निश्चय-चारित्र और व्यवहार-चारित्ररूप में प्रस्तुत करते हुये 'श्री मिचन्द्र सिद्धान्तिदेव' लिखते हैं–

"अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति को व्यवहार नय से चारित्र जानो, और उसे जिनेन्द्र भगवान ने , समिति, गुप्तिरूप कहा है।

संसार के कारणों को नष्ट करने के लिये, बहिरंग और अन्तरंग क्रिया के निरोधरूप ज्ञानी का जो चारित्र उसे जिनेन्द्र भगवान ने उत्कृष्ट सम्यक्चारित्र—निश्चय चारित्र कहा है।"[1] ॥ २७४ ॥

अब, आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व—इन तीनों की जो सविकल्प युगपतता और उसीप्रकार कल्प रहित आत्मज्ञान है— इन दोनों की संभवता—एक साथ उपस्थिति दिखाते हैं —

जो पंच समित त्रिगुप्त पंचेन्द्रिय निरोध कषाय के।

विजयी, वे दर्शन ज्ञान से परिपूर्ण मुनि संयत कहे॥ २७५ ॥

गाथार्थ– जो श्रमण पाँच समिति सहित, तीन गुप्ति से गुप्त, पंचेन्द्रियों को संवृत—रोकने वाले, कषाय-जयी और ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण हैं— वे संयत कहे गये हैं।

टीकार्थ– *पंचसमिदो*– व्यवहार से पाँच समितियों द्वारा समित—संवृत—सम्यक् प्रवृत्ति करने वाले वसमित हैं और निश्चय से अपने स्वरूप में अच्छी तरह गत—परिणत—समित हैं। *तिगुत्तो*- व्यवहार से न- वचन -काय तीन के निरोध से त्रिगुप्त हैं, निश्चय से अपने स्वरूप में गुप्त—परिणत—लीन—त्रिगुप्त हैं। *चेदियसंवुडो*– व्यवहार से पाँचों इन्द्रियों सम्बन्धी विषयों से छूटने के कारण संवृत पंचेन्द्रिय-संवृत हैं, श्चय से अतीन्द्रिय सुख के स्वाद में लीन (होने से) पंचेन्द्रिय-संवृत हैं। *जिदकसाओ*– व्यवहार से ोधादि कषायों को जीतने से जितकषाय हैं, निश्चय से कषाय रहित आत्मा की भावना में लीन जितकषाय हैं।

---
[1] - द्रव्य संग्रह, गाथा ४५ व ४६।

दंसणणाणसमग्गो अत्र दर्शनशब्देन निजशुद्धात्मश्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शनं ग्राह्यम्, ज्ञानशब्देन तु स्वसंवेदनज्ञानमिति ; ताभ्यां समग्रो दर्शनज्ञानसमग्रः । *समणो सो संजदो भणिदो* स एवंगुणविशिष्टः श्रमणः संयत इति भणितः ।

अत एतदायातं– व्यवहारेण यद्बहिर्विषये व्याख्यानं कृतं तेन सविकल्पं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रययौगपद्यं ग्राह्यम्, अभ्यन्तरव्याख्यानेन तु निर्विकल्पात्मज्ञानं ग्राह्यमिति सविकल्पयौगपद्यं निर्विकल्पात्मज्ञानं च घटत इति ॥ २७५ ॥

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वलक्षणेन विकल्पत्रययौगपद्येन तथा निर्विकल्पात्मज्ञानेन च युक्तो योऽसौ संयतस्तस्य किं लक्षणमित्युपदिशति । इत्युपदिशति कोऽर्थः इति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति । एवं प्रश्नोत्तरपातनिकाप्रस्तावे क्वापि क्वापि यथासंभवमितिशब्दस्यार्थो ज्ञातव्यः–

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो ।(२४१)
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥* २७६ ॥

स श्रमणः संयतस्तपोधनो भवति । यः किंविशिष्टः । शत्रुबन्धुसुखदुःखनिन्दाप्रशंसालोष्टकांचनजीवितमरणेषु समः समचित्तः इति ।

दंसणणाणसमग्गो– यहाँ दर्शन शब्द से अपने शुद्धात्मा का श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन, तथा ज्ञान शब्द से स्वसंवेदन ज्ञान ग्रहण करना चाहिये ; उन दोनों से समग्र—परिपूर्ण—दर्शन-ज्ञान से परिपूर्ण हैं । ***समणो सो संजदो भणिदो***– वे इन गुणों से विशिष्ट श्रमण संयत कहे गये हैं ।

इससे यह निश्चित हुआ— व्यवहार से जो बाह्य विषय में व्याख्यान किया,उससे सविकल्प सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र— तीनों की युगपतता ग्रहण करना चाहिये, तथा अन्तरंग व्याख्यान से निर्विकल्प आत्मज्ञान ग्रहण करना चाहिये— इसप्रकार सविकल्प की युगपतता और निर्विकल्प आत्मज्ञान घटित होता है ॥ २७५ ॥

अब, विकल्परूप आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयतत्व— इन तीन लक्षणों की युगपतता तथा निर्विकल्प आत्मज्ञान से सहित जो वे संयत हैं, उनका क्या लक्षण है ? ऐसा उपदेश देते हैं । ऐसा उपदेश देते हैं— इसका क्या अर्थ है ? ऐसा प्रश्न पूछे जाने पर उत्तर देते हैं— यह इसका अर्थ है । इसप्रकार प्रश्नोत्तर रूप पातनिका के प्रसंग में यथासंभव कहीं-कहीं 'इति' शब्द का ऐसा अर्थ जानना चाहिये—

है शत्रु-बंधू वर्ग-सम सुख-दुःख निंदा-प्रशंसा ।
सम लोष्ट-कंचन श्रमण के जीवन-मरण सम है अहा ॥ २७६ ॥

गाथार्थ– जिन्हें शत्रु और बन्धु वर्ग समान हैं, सुख और दुःख समान हैं, प्रशंसा और निन्दा समान हैं, लोष्ट (मिट्टी का ढेला) और स्वर्ण समान हैं तथा जीवन और मरण समान हैं–वे श्रमण हैं ।

टीकार्थ– वे श्रमण संयत—तपोधन हैं । जो किस विशेषता वाले हैं ? शत्रु-बन्धु, सुख-दुःख, निन्दा-प्रशंसा, लोष्ट (मिट्टी का ढ़ेला)-स्वर्ण, जीवन-मरण में सम— समान मन वाले हैं ।

---

* पण्डित दौलतरामजी ने 'छहढाला' की छठवीं ढाल पद्य ६,:(अरि मित्र- - - - - - -) में इसे ही निबद्ध किया है ।

ततः एतदायाति— शत्रुबन्धुसुखदुःखनिन्दाप्रशंसालोष्टकांचनजीवितमरणसमताभावनापरिणतिनिजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्ननिर्विकारपरमाह्लादैकलक्षणसुखामृतपरिणतिस्वरूपं यत्परमसाम्यं तदेव परमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्येन तथा निर्विकल्पात्मज्ञानेन च परिणततपोधनस्य लक्षणं ज्ञातव्यमिति ॥ २७६ ॥

अथ यदेव संयततपोधनस्य साम्यलक्षणं भणितं तदेव श्रामण्यापरनामा मोक्षमार्गो भण्यत इति प्ररूपयति—

दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु ।(२४२)

एयग्गगदो त्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्णं ॥ २७७ ॥

दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु दर्शनज्ञानचारित्रेषु त्रिषु युगपत्सम्यगुपस्थित उद्यतो यस्तु कर्ता, *एयग्गगदो त्ति मदो* स ऐकाग्र्यगत इति मतः संमतः, *सामण्णं तस्स पडिपुण्णं* श्रामण्यं चारित्रं यतित्वं तस्य परिपूर्णमिति ।

तथाहि— भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मभ्यः शेषपुद्गलादिपंचद्रव्येभ्योऽपि भिन्नं सहजशुद्धनित्यानन्दैकस्वभावं मम संबन्धि यदात्मद्रव्यं तदेव ममोपादेयमितिरुचिरूपं सम्यग्दर्शनम्, तत्रैव परिच्छित्तिरूपं सम्यग्ज्ञानं, तस्मिन्नेव

इससे यह निश्चित हुआ— शत्रु-बंधु, सुख-दुःख, निन्दा-प्रशंसा, लोष्ट-स्वर्ण, जीवन-मरण में समताभाव से परिणत अपने शुद्धात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान रूप विकल्प रहित समाधि—स्वरूपलीनता से, अच्छी तरह उत्पन्न विकार रहित उत्कृष्ट आह्लाद एक लक्षण सुखामृत रूप परिणति स्वरूप जो परम साम्य है ; वही परमागम ज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयतत्व की युगपतता और उसीप्रकार निर्विकल्प आत्मज्ञान रूप से परिणत मुनिराज का लक्षण जानना चाहिये ॥ २७६ ॥

अब, संयत मुनिराज का जो यह साम्यलक्षण कहा है, वही श्रामण्य दूसरा नाम मोक्षमार्ग कहलाता है ; ऐसा निरूपित करते हैं—

दृग-ज्ञान-चारित्र तीन में युगपद् समुत्थित हुये जो ।

ऐकाग्र्यगत माने गये परिपूर्ण श्रामण्य उन्हीं को ॥ २७७ ॥

गाथार्थ— जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र— इन तीनों में एक साथ अच्छी तरह उपस्थित हैं, वे एकाग्रता को प्राप्त हैं— ऐसा माना गया है और उनके श्रामण्य परिपूर्ण है ।

टीकार्थ— *दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु*— जो कर्ता दर्शन-ज्ञान-चारित्र— तीनों में अच्छी तरह से उपस्थित-उद्यत हैं, *एयग्गगदो त्ति मदो*— वे एकाग्रता को प्राप्त हैं— ऐसा माना गया है— स्वीकार किया गया है, *सामण्णं तस्स पडिपुण्णं*— उनके श्रामण्य—चारित्र—यतिपना परिपूर्ण है ।

वह इसप्रकार— भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्मों से तथा शेष पुद्गल आदि पाँच द्रव्यों से भी भिन्न, सहज-शुद्ध, हमेशा आनन्द एक स्वभाव रूप मुझ सम्बन्धी जो आत्मद्रव्य है (मैं जो आत्म-द्रव्य हूँ), वही मुझे

स्वरूपे निश्चलानुभूतिलक्षणं चारित्रं चेत्युक्तस्वरूपं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं पानकवदनेकमप्यभेदनयेनैकं यत् तत्सविकल्पावस्थायां व्यवहारेणैकाग्र्यं भण्यते। निर्विकल्पसमाधिकाले तु निश्चयेनेति। तदेव च नामान्तरेण परमसाम्यमिति। तदेव परमसाम्यं पर्यायनामान्तरेण शुद्धोपयोगलक्षणः श्रामण्यापरनामा मोक्षमार्गो ज्ञातव्य इति।

तस्य तु मोक्षमार्गस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति भेदात्मकत्वात्पर्यायप्रधानेन व्यवहारनयेन निर्णयो भवति। ऐकाग्र्यं मोक्षमार्ग इत्यभेदात्मकत्वात् द्रव्यप्रधानेन निश्चयनयेन निर्णयो भवति। समस्तवस्तुसमूहस्यापि भेदाभेदात्मकत्वान्निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गद्वयस्यापि प्रमाणेन निश्चयो भवतीत्यर्थः ॥ २७७ ॥

एवं निश्चयव्यवहारसंयमप्रतिपादनमुख्यत्वेन तृतीयस्थले गाथाचतुष्टयं गतम्।

अथ यः स्वशुद्धात्मन्येकाग्रो न भवति तस्य मोक्षाभावं दर्शयति–

मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज।(२४३)

जदि समणो अण्णाणी बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ॥ २७८ ॥

उपादेय है– ऐसी रुचि रूप सम्यग्दर्शन, उसकी ही विशेष जानकारी रूप सम्यग्ज्ञान और उसी स्वरूप में निश्चल अनुभूति लक्षण चारित्र– इसप्रकार कहे गये स्वरूप वाले जो सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र तीनों,पानक (ठंडाई) के समान अनेक होने पर भी अभेदनय से एक हैं, वे सविकल्प दशा में व्यवहार से एकाग्रता कहलाते हैं। वे ही विकल्परहित समाधि–स्वरूपलीनता के समय,निश्चय से एकाग्रता कहलाते हैं। वही दूसरे नाम की अपेक्षा परम साम्य है। वही परम साम्य अन्य पर्याय नामों–दूसरे नामों की अपेक्षा शुद्धोपयोग लक्षण श्रामण्य, दूसरा नाम मोक्षमार्ग जानना चाहिये।

उस मोक्षमार्ग का सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र–तीनों की एकरूपता मोक्षमार्ग है– इसप्रकार भेद स्वरूप होने से,पर्याय प्रधान व्यवहारनय से निर्णय होता है। एकाग्रता मोक्षमार्ग है– इसप्रकार अभेद स्वरूप होने से, द्रव्य प्रधान निश्चयनय से निर्णय होता है। समस्त वस्तु-समूह के ही भेदाभेदात्मक होने से,निश्चयव्यवहार– दोनों मोक्षमार्गों का प्रमाण से भी निश्चय होता है– ऐसा अर्थ है ॥ २७७ ॥

इसप्रकार निश्चय-व्यवहार संयम के प्रतिपादन की मुख्यता से,तीसरे स्थल में चार गाथायें पूर्ण हुईं।

(अब, मोक्षमार्ग के उपसंहार परक दो गाथाओं वाला चौथा स्थल प्रारम्भ होता है।)

अब, जो अपने शुद्धात्मा में एकाग्र नहीं है, उसके मोक्ष का अभाव दिखाते हैं–

पर-द्रव्य आश्रय ग्रहण कर करता है मोह व राग को।

या द्वेष तो मुनि विविध कर्मों से बँधे अज्ञानि हो ॥ २७८ ॥

गाथार्थ– यदि मुनि दूसरे द्रव्यों का आश्रय कर,अज्ञानी होता हुआ मोह करता है, राग करता है अथवा द्वेष करता है,तो वह विविध कर्मों से बँधता है।

मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज जदि मुह्यति वा, रज्यति वा, द्वेष्टि वा, यदि चेत्। किं कृत्वा। द्रव्यमन्यदासाद्य प्राप्य। स कः। *समणो* श्रमणस्तपोधनः। तदा काले *अण्णाणी* अज्ञानी भवति। अज्ञानी सन् *बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं* बध्यते कर्मभिर्विविधैरिति।

तथाहि– यो निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानेनैकाग्रो भूत्वा स्वात्मानं न जानाति तस्य चित्तं बहिर्विषयेसु गच्छति। ततश्चिदानन्दैकनिजस्वभावाच्च्युतो भवति ; ततश्च रागद्वेषमोहैः परिणमति। तत्परिणमन् बहुविधकर्मणा बध्यत इति। ततः कारणान्मोक्षार्थिभिरेकाग्रत्वेन स्वस्वरूपं भावनीयमित्यर्थः ॥ २७८ ॥

अथ निजशुद्धात्मनि योऽसावेकाग्रस्तस्यैव मोक्षो भवतीत्युपदिशति–

अट्ठेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि।(२४४)

समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविहाणि॥ २७९ ॥

अट्ठेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि अर्थेषु बहिःपदार्थेषु यो न मुह्यति, न रज्यति, हि स्फुटं, नैव द्वेषमुपयाति *जदि* यदि चेत्, *सो समणो* स श्रमणः *णियदं* निश्चितं *खवेदि विविहाणि कम्माणि* क्षपयति कर्माणि विविधानि इति।

टीकार्थ– *मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज जदि–* यदि मोह करता है, राग करता है अथवा द्वेष करता है। ये सब क्या करके करता है ? दूसरे द्रव्यों का आश्रय लेकर करता है। ऐसा वह कौन करता है ? *समणो–* श्रमण—तपोधन—मुनि ऐसा करता है तो। उस समय *अण्णाणी–* वह अज्ञानी है। अज्ञानी होता हुआ *बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं–* अनेक प्रकार के कर्मों से बँधता है।

वह इसप्रकार— जो विकार रहित स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा एकाग्र होकर अपने आत्मा को नहीं जानता है, उसका चित्त बाह्य विषयों में जाता है। इसलिये ज्ञानानन्द एक अपने स्वभाव से च्युत होता है, और इसलिये राग-द्वेष-मोह रूप से परिणमता है। उन रूप परिणमन करता हुआ,अनेक प्रकार के कर्मों से बँधता है। इस कारण मोक्षार्थियों को,एकाग्र रूप से अपने स्वरूप की भावना करना चाहिये— ऐसा अर्थ है ॥ २७८ ॥

अब, जो वे अपने शुद्धात्मा में एकाग्र हैं, उनका ही मोक्ष होता है ; ऐसा उपदेश देते हैं—

अर्थों से जो न मोह करते राग ना वा द्वेष ना।

करते श्रमण यदि तो नियम से करें क्षय सब कर्म का ॥ २७९ ॥

गाथार्थ– जो मुनि,यदि पदार्थों से मोह नहीं करते, राग नहीं करते और द्वेष को प्राप्त नहीं होते हैं, तो वे निश्चित विविध कर्मों का क्षय करते हैं।

टीकार्थ– *अट्ठेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि–* अर्थों— बाह्य पदार्थों में जो मोह नहीं करता है, राग नहीं करता है, वास्तव में द्वेष को भी प्राप्त नहीं होता है *जदि–* यदि, तो ***सो समणो–*** वह मुनि *णियदं–* निश्चित *खवेदि कम्माणि विविहाणि–* विविध कर्मों का क्षय करता है।

अथ विशेषः – योऽसौ दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षारूपाद्यपध्यानत्यागेन निजस्वरूपं भावयति, तस्य चित्तं बहिःपदार्थेषु न गच्छति, ततश्च बहिःपदार्थचिन्ताभावान्निर्विकारचिच्चमत्कारमात्राच्च्युतो न भवति। तदच्यवनेन च रागाद्यभावाद्विविधकर्माणि विनाशयतीति। ततो मोक्षार्थिना निश्चलचित्तेन निजात्मनि भावना कर्तव्येति।

इत्थं वीतरागचारित्रव्याख्यानं श्रुत्वा केचन वदन्ति– सयोगिकेवलिनामप्येकदेशेन चारित्रं, परिपूर्णचारित्रं पुनरयोगिचरमसमये भविष्यति, तेन कारणेनेदानीमस्माकं सम्यक्त्वभावनया भेदज्ञानभावनया च पूर्यते, चारित्रं पश्चाद्भविष्यतीति। नैवं वक्तव्यम्। अभेदनयेन ध्यानमेव चारित्रं तच्च ध्यानं केवलिना मुपचारेणोक्तं, चारित्रमप्युपचारेणेति। यत्पुनः समस्तरागादिविकल्पजालरहितं शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वकं वीतरागछद्मस्थचारित्रं तदेव कार्यकारीति। कस्मादिति चेत्। तेनैव केवलज्ञानं जायते यतस्तस्माच्चारित्रे तात्पर्यं कर्तव्यमिति भावार्थः।

किंच उत्सर्गव्याख्यानकाले श्रामण्यं व्याख्यातमत्र पुनरपि किमर्थमिति परिहारमाह–तत्र सर्वपरित्यागलक्षण उत्सर्ग एव मुख्यत्वेन च मोक्षमार्गः, अत्र तु श्रामण्यव्याख्यानमस्ति, परं किंतु श्रामण्यं मोक्षमार्गो भवतीति मुख्यत्वेन विशेषोऽस्ति ॥ २७९ ॥

एवं श्रामण्यापरनाममोक्षमार्गोपसंहारमुख्यत्वेन चतुर्थस्थले गाथाद्वयं गतम्।

इति पूर्वोक्तक्रमेण *'एयग्गगदो'* इत्यादिचतुर्दशगाथाभिः स्थलचतुष्टयेन श्रामण्यापरनामा मोक्षमार्गाभिधानस्तृतीयः ऽन्तराधिकारः समाप्तः। *

अब (इसका) विशेष कथन करते हैं– जो वे देखे हुये, सुने हुये, भोगे हुये भोगों की इच्छारूप अपध्यान (बुरे ध्यान) के त्याग पूर्वक अपने स्वरूप की भावना करते हैं, उनका मन ब्राह्य पदार्थों में नहीं जाता है, और इसलिए बाह्य पदार्थों सम्बन्धी चिन्ता का अभाव होने से, विकार रहित चैतन्य चमत्कार से च्युत नहीं होते हैं, और उससे च्युत नहीं होने के कारण रागादि का अभाव होने से, विविध कर्म नष्ट हो जाते हैं। इसलिये मोक्षार्थी को निश्चल मन से, अपने आत्मा में भावना करना चाहिये।

इसप्रकार के वीतराग चारित्र सम्बन्धी विशेष कथन को सुनकर कोई कहते हैं– सयोगकेवलियों के भी एकदेश चारित्र है, परिपूर्ण चारित्र तो अयोगी के अन्तिम समय में होगा, इस कारण अभी हमारे सम्यक्त्व-भावना और भेदज्ञान-भावना ही पर्याप्त है, चारित्र बाद में होगा। (आचार्य कहते हैं) ऐसा नहीं कहना चाहिये। अभेदनय से ध्यान ही चारित्र है, और वह ध्यान केवलियों के उपचार से कहा गया है, इसीप्रकार चारित्र भी उपचार से कहा है। तथा जो, सम्पूर्ण रागादि विकल्प जाल रहित शुद्धात्मानुभूति लक्षण सम्यग्दर्शन-ज्ञान पूर्वक छद्मस्थ का वीतराग चारित्र है, वही कार्यकारी है। वही कार्यकारी क्यों है ? क्योंकि उससे ही केवलज्ञान उत्पन्न होता है, अतः वही कार्यकारी है; इसलिये चारित्र में प्रयत्न करना चाहिये– ऐसा भाव है।

दूसरी बात यह है कि उत्सर्ग व्याख्यान के समय श्रामण्य का व्याख्यान किया था, यहाँ फिर से किसलिए किया है ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर कहते हैं– वहाँ सम्पूर्ण (परिग्रहादि) का परित्याग लक्षण उत्सर्ग ही मुख्य रूप से मोक्षमार्ग है (यह कहा था); यहाँ श्रामण्य का व्याख्यान है, परन्तु श्रामण्य (मुनिपना) ही मोक्षमार्ग है (यह कहा गया है)– इसप्रकार (पृथक्-पृथक्) मुख्यता से दोनों में अन्तर है ॥ २७९ ॥

इसप्रकार श्रामण्य दूसरा नाम मोक्षमार्ग के उपसंहार की मुख्यता से चौथे स्थल में दो गाथायें पूर्ण हुईं।

इसप्रकार पहले कहे गये क्रम से *'एयग्गगदो–'* इत्यादि चौदह गाथाओं द्वारा चार स्थल रूप से श्रामण्य अपरनाम मोक्षमार्ग नामक तीसरा अन्तराधिकार पूर्ण हुआ।

---

* उपलब्ध प्रतियों में यह अंश ३०६ वीं गाथा के बाद प्रकाशित है, परन्तु पूर्व सामूहिक पातनिका के आधार पर प्रकरण की समाप्ति यहाँ ही हो जाने से इसे यहाँ दिया है। शोधार्थी निर्णय करें। ॥अनुवादिका॥

अथानन्तरं द्वात्रिंशद्गाथापर्यन्तं पंचभिः स्थलैः शुभोपयोगाधिकारः कथ्यते। तत्रादौ लौकिकसंसर्गनिषेधमुख्यत्वेन *'णिच्छिदसुत्तत्थपदो'* इत्यादिपाठक्रमेण गाथापंचकम्। तदनन्तरं सरागसंयमापरनामशुभोपयोगस्वरूपकथनप्रधानत्वेन *'समणा सुद्धुवजुत्ता'* इत्यादि सूत्राष्टकम्। ततश्च पात्रापात्रपरीक्षाप्रतिपादनरूपेण *'रागो पसत्थभूदो'* इत्यादि गाथाषट्कम्। ततः परमाचारादिविहितक्रमेण पुनरपि संक्षेपरूपेण समाचारव्याख्यानप्रधानत्वेन *'दिट्ठा पगदं वत्थुं'* इत्यादि सूत्राष्टकम्। ततः परं पंचरत्नमुख्यत्वेन *'जे अजधागहिदत्था'* इत्यादि गाथापंचकम्।

एवं द्वात्रिंशद्गाथाभिः स्थलपंचकेन चतुर्थान्तराधिकारे समुदायपातनिका। [१]

अब, इसके बाद ३२ गाथाओं तक, पाँच स्थलों द्वारा शुभोपयोग अधिकार कहा जाता है। वहाँ सबसे पहले लौकिक संसर्ग के निषेध की मुख्यता से, *'णिच्छिदसुत्तत्थ पदो–'* इत्यादि पाठक्रम से पहले स्थल में पाँच गाथायें हैं। तदुपरान्त सरागसंयम दूसरा नाम शुभोपयोग के स्वरूप कथन की मुख्यता से, *'समणा सुद्धुवजुत्ता–'* इत्यादि दूसरे स्थल में आठ गाथायें हैं। तदनन्तर पात्र-अपात्र की परीक्षा के प्रतिपादन रूप से (तीसरे स्थल में), *'रागो पसत्थभूदो–'* इत्यादि छह गाथायें हैं। तत्पश्चात् परम आचार आदि कहे गये क्रम से और भी संक्षेप रूप से (चौथे स्थल में), समाचार व्याख्यान की प्रधानता रूप *'दिट्ठा पगदं वत्थुं–'* इत्यादि आठ गाथायें हैं। और उसके बाद पंच रत्न की मुख्यता से (पाँचवे स्थल में) *'जे अजधागहिदत्था–'* इत्यादि पाँच गाथायें हैं।

इसप्रकार ३२ गाथाओं द्वारा, पाँच स्थल रूप से चौथे अन्तराधिकार में सामूहिक पातनिका है।

चतुर्थ अन्तराधिकार का स्थल-विभाजन (गाथा २८० से ३११ पर्यन्त)

स्थल क्रम	प्रतिपादित प्रधान विषय	कहाँ से कहाँ पर्यन्त गाथायें	कुल गाथायें
प्रथम स्थल	लौकिक संसर्ग के निषेध परक	२८० से २८४	५
द्वितीय स्थल	शुभोपयोग स्वरूप कथन	२८५ से २९२	८
तृतीय स्थल	पात्र-अपात्र की परीक्षा प्रतिपादक	२९३ से २९८	६
चतुर्थ स्थल	समाचार व्याख्यान प्रतिपादक	२९९ से ३०६	८
पंचम स्थल	पंचरत्न गाथायें	३०७ से ३११	५
कुल पाँच स्थल		कुल ३२ गाथायें	

१- प्रस्तुत पातनिकानुसार उपलब्ध प्रतियों में चतुर्थ अन्तराधिकार का गाथा क्रम अव्यवस्थित है। पातनिकानुसार इस रूप में व्यवस्थित किया है। शोधार्थी निर्णय करें। (अनुवादिका)

तद्यथा–

अथ लौकिकसंसर्गं प्रतिषेधयति–

णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिगो चावि।(२६८)

लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि ॥ २८० ॥

णिच्छिदसुत्तत्थपदो निश्चितानि ज्ञातानि निर्णीतान्यनेकान्तस्वभावनिजशुद्धात्मादिपदार्थप्रतिपादकानि सूत्रार्थपदानि येन स भवति निश्चितसूत्रार्थपदः, *समिदकसाओ* परविषये क्रोधादिपरिहारेण तथाभ्यन्तरे परमोपशमभावपरिणतनिजशुद्धात्मभावनाबलेन च शमितकषायः, *तवोधिगो चावि* अनशनादिबहिरंगतपोबलेन तथैवाभ्यन्तरे शुद्धात्मतत्त्वभावनाविषये प्रतपनाद्विजयनाच्च तपोऽधिकश्चापि सन् स्वयं संयतः कर्ता *लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि* लौकिकाः स्वेच्छाचारिणस्तेषां संसर्गो लौकिकसंसर्गस्तं न त्यजति यदि चेत् *संजदो ण हवदि* तर्हि संयतो न भवतीति।

अयमत्रार्थः– स्वयं भावितात्मापि यद्यसंवृतजनसंसर्गं न त्यजति तदातिपरिचयादग्निसंगतं जलमिव विकृतिभावं गच्छतीति ॥ २८० ॥

(अब, चौथे अन्तराधिकार का पाँच गाथाओं वाला पहला स्थल प्रारम्भ होता है।)

वह इसप्रकार –

अब, लौकिक संसर्ग का निषेध करते हैं–

सूत्रार्थ पद निर्णीत शमित कषाय तप में अधिक हो।

पर छोड़ता न संगति लौकिकों की, ना मुनि तो ॥ २८० ॥

गाथार्थ– सूत्र-अर्थ-पदों का निर्णय करने वाला, कषायों के शमन सहित तथा तप में अधिक होने पर भी, यदि लौकिक मनुष्यों का संसर्ग नहीं छोड़ता है, तो वह संयत नहीं है।

टीकार्थ– ***णिच्छिदसुत्तत्थपदो***– जिसके द्वारा, अनेकान्त स्वभावी अपने शुद्धात्मा आदि पदार्थों का प्रतिपादन करने वाले सूत्र-अर्थ-पद, निश्चित रूप से जाने गये हैं– निर्णय किये गये हैं, वे निश्चित सूत्रार्थपद हैं, ***समिदकसाओ***– दूसरे विषय में क्रोधादि के त्याग से, अन्तरंग में उत्कृष्ट उपशम भाव से परिणत अपने शुद्धात्मा की भावना के बल से, कषायों का शमन करने वाले हैं, ***तवोधिगो चावि***– अनशन आदि बाह्य तप के बल से और उसीप्रकार अन्तरंग में शुद्धात्म-तत्त्व की भावना के विषय में प्रतपन और विजयन से, जो तप में अधिक होते हुये भी स्वयं मुनि रूप कर्ता ***लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि***– लौकिक अर्थात् स्वेच्छाचारी, उनका संसर्ग—लौकिक संसर्ग है (षष्ठी तत्पुरुष समास किया), उसे यदि नहीं छोड़ता है, ***संजदो ण हवदि***– तब (वह) संयत—मुनि नहीं है।

यहाँ अर्थ यह है– स्वयं आत्मा की भावना करने वाला होने पर भी, यदि असंवृत—असंयमी जनों का संसर्ग नहीं छोड़ता है, तो अग्नि की संगति में रहने वाले जल के समान, अतिपरिचय से विकृति भाव (रागादि भाव) को प्राप्त होता है ॥ २८० ॥

अथ लौकिकलक्षणं कथयति-

णिग्गंथो पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहिं कम्मेहिं ।(२६९)

सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंपजुत्तो वि ॥ २८१ ॥

णिग्गंथो पव्वइदो वस्त्रादिपरिग्रहरहितत्वेन निर्ग्रन्थोऽपि दीक्षाग्रहणेन प्रव्रजितोऽपि *वट्टदि जदि* वर्तते यदि चेत्। कैः। *एहिगेहिं कम्मेहिं* ऐहिकैः कर्मभिः भेदाभेदरत्नत्रयभावनाशकैः ख्यातिपूजालाभनिमित्तैर्ज्योतिष-मन्त्रवादवैदकादिभिरैहिकजीवनोपायकर्मभिः। *सो लोगिगो त्ति भणिदो* स लौकिको व्यावहारिक इति भणितः। किंविशिष्टोऽपि। *संजमतवसंजुदो चावि* द्रव्यरूपसंयमतपोभ्यां संयुक्तश्चापीत्यर्थः ॥ २८१ ॥

अथोत्तमसंसर्गः कर्तव्य इत्युपदिशति-

तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं ॥(२७०)

अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं ॥ २८२ ॥

अब, लौकिक का लक्षण कहते हैं—

निर्ग्रन्थ दीक्षा से सहित संयम व तप संयुक्त हैं।

पर रहें ऐहिक कर्म में तो कहें लौकिक ही उन्हें ॥ २८१ ॥

गाथार्थ– निर्ग्रन्थ रूप से दीक्षित होने के कारण संयम-तप संयुक्त होने पर भी, यदि वह ऐहिक कार्यों सहित वर्तता है, तो लौकिक कहा गया है।

टीकार्थ– ***णिग्गंथो पव्वइदो***– वस्त्रादि परिग्रह से रहित होने के कारण निर्ग्रन्थ होने पर भी, दीक्षा ग्रहण करने से प्रव्रजित—दीक्षित—साधु होने पर भी, ***वट्टदि जदि***– यदि वर्तता है तो। किनके साथ वर्तता है ? ***एहिगेहिं कम्मेहिं***– ऐहिक कर्मों के साथ—भेदाभेद रत्नत्रय परिणाम को नष्ट करने वाले प्रसिद्धि, पूजा, लाभ के निमित्तभूत ज्योतिष, मन्त्रवाद, वैदक (वैद्य सम्बन्धी) आदि, इस लोक सम्बन्धी जीवन के उपायभूत कर्मों के साथ वर्तता है। ***सो लोगिगो त्ति भणिदो***– वह लौकिक—व्यावहारिक है— ऐसा कहा गया है। किस विशेषता वाला होने पर भी, वह लौकिक कहा गया है ? ***संजमतवसंजुदो चावि***– द्रव्य रूप संयम-तप से संयुक्त होने पर भी, वह लौकिक कहा गया है ॥ २८१ ॥

अब, उत्तम संसर्ग करना चाहिये ; ऐसा उपदेश देते हैं —

अतएव यदि दुख-मोक्ष चाहें सम गुणों में मुनि रहें।

या अधिक गुण सम्पन्न श्रमणों मध्य में ही नित रहें ॥ २८२ ॥

गाथार्थ– इसलिये यदि श्रमण, दुःखों से पूर्णतया मुक्त होना चाहते हैं, तो समान गुण वाले अथवा अधिक गुण वाले श्रमणों के साथ हमेशा निवास करें।

तम्हा यस्माद्धीनसंसर्गाद्गुणहानिर्भवति तस्मात्कारणात् *अधिवसदु* अधिवसतु तिष्ठतु। स कः कर्ता। *समणो* श्रमणः। क्व। *तम्हि* तस्मिन्नधिकरणभूते। *णिच्चं* नित्यं सर्वकालम्। तस्मिन्कुत्र। *समणं* श्रमणे। लक्षणवशादधिकरणे कर्म पठ्यते। *कथंभूते* श्रमणे। *समं* समे समाने। कस्मात्। *गुणादो* बाह्याभ्यन्तररत्नत्रयलक्षणगुणात्। पुनरपि कथंभूते। *अहियं वा* स्वस्मादधिके वा। कैः। *गुणेहिं* मूलोत्तरगुणैः। यदि किम्। *इच्छदि जदि* इच्छति वांछति यदि चेत्। कम्। *दुक्खपरिमोक्खं* स्वात्मोत्थसुखविलक्षणानां नारकादिदुःखानां मोक्षं दुःखपरिमोक्षमिति।

अथ विस्तरः– यथाग्निसंयोगात् जलस्य शीतलगुणविनाशो भवति तथा व्यावहारिकजनसंसर्गात्संयतस्य संयमगुणविनाशो भवतीति ज्ञात्वा तपोधनः कर्ता समगुणं गुणाधिकं वा तपोधनमाश्रयति, तदास्य तपोधनस्य यथा शीतलभाजनसहितशीतलजलस्य शीतलगुणरक्षा भवति तथा समगुणसंसर्गाद्गुणरक्षा भवति। यथा च तस्यैव जलस्य कर्पूरशर्करादिशीतलद्रव्यनिक्षेपे कृते सति शीतलगुणवृद्धिर्भवति तथा निश्चयव्यवहाररत्नत्रयगुणाधिकसंसर्गाद्गुणवृद्धिर्भवतीति सूत्रार्थः ॥ २८२ ॥

टीकार्थ– *तम्हा*– जिस कारण हीन संसर्ग से गुणों की हानि होती है, उस कारण *अधिवसदु*- निवास करें—रहें। कर्तारूप वे कौन रहें ? *समणो*– मुनिराज रहें। वे कहाँ रहें ? *तम्हि*– उस आधारभूत में वे रहें। *णिच्चं*– हमेशा—सभी कालों में रहें। उस आधारभूत किसमें रहें ? *समणं*– मुनिसंघ में रहें। यहाँ लक्षण–व्याकरण नियम के कारण,अधिकरण के अर्थ में कर्म कारक का प्रयोग हुआ है।[1] वे कैसे श्रमण संघ में रहें ? *समं*– वे समान श्रमण संघ में रहें। किसमें समान संघ में रहें ? *गुणादो*– बहिरंग और अन्तरंग रत्नत्रय लक्षण गुणों से समान संघ में रहें। और कैसे संघ में रहें ? *अहियं वा*– अथवा अपने से अधिक में रहें। किनसे अधिक में रहें ? *गुणेहिं*– मूलोत्तर गुणों द्वारा अपने से अधिक गुण वाले साधुसंघ में रहें। यदि क्या तो इनमें रहें ? *इच्छदि जदि*– यदि चाहते हैं तो इनमें रहें। क्या चाहते हैं ? *दुक्खपरिमोक्खं*– अपने आत्मा से उत्पन्न सुख से विलक्षण,नारक आदि दुःखों से पूर्णतः मोक्ष—दुःख-परिमोक्ष चाहते हैं, तो इनमें रहें।

अब यहाँ विस्तार करते हैं— जैसे अग्नि के संयोग से,जल का शीतलगुण नष्ट होता है, उसीप्रकार व्यावहारिक मनुष्यों के सम्पर्क से,मुनिराज का संयम गुण नष्ट होता है— ऐसा जानकर मुनिराज रूप कर्ता,समान गुण अथवा अधिक गुण सम्पन्न मुनिराज का आश्रय लेते हैं; तब,जैसे ठंडे बर्तन सहित (में रखे हुये) ठंडे जल के ठंडे गुण की रक्षा होती है, उसी प्रकार समान गुणों के संसर्ग से,उन मुनि के गुणों की रक्षा होती है। और जैसे कपूर, शक्कर आदि ठंडे द्रव्य डालने से,उस जल के ठंडे गुण में वृद्धि होती है; उसीप्रकार निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय रूप गुणों में अधिक के संसर्ग से,उनके गुणों में वृद्धि होती है— ऐसा गाथा का अर्थ है।

विशेषार्थ– इस गाथा-टीका के बाद 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने 'शुभोपयोग प्रज्ञापन' अधिकार पूर्ण करते हुये पद्य द्वारा 'समस्त वस्तु समूह के विस्तार को लीला मात्र से प्राप्त करने वाली रम्य उदय स्वरूप शाश्वती ज्ञानानंदमयी दशा का ही मात्र अनुभव करने का आदेश दिया है।'[2] ॥ २८२ ॥

१- उपान्वध्याङ्वसः— वस् धातु के पूर्व उप, अनु, अधि, आङ् में से कोई भी उपसर्ग होने पर,क्रिया का आधार कर्मकारक में होता है ॥ संस्कृत व्याकरण, कारक प्रकरण ॥

२- *तत्त्वप्रदीपिका टीका, पद्य १७।*

अथ शुभोपयोगिनां तपोधनवैयावृत्त्यनिमित्तं लौकिकसंभाषणविषये निषेधो नास्तीत्युपदिशति–

वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं।(२५३)

लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा॥ २८३॥

ण णिंदिदा शुभोपयोगितपोधनानां न निन्दिता, न निषिद्धा। का कर्मतापन्ना। *लोगिगजणसंभासा* लौकिकजनैः सह संभाषा वचनप्रवृत्तिः। *सुहोवजुदा वा* अथवा सापि शुभोपयोगयुक्ता भण्यते। किमर्थं न निषिद्धा। *वेज्जावच्चणिमित्तं* वैयावृत्त्यनिमित्तम्। केषां वैयावृत्त्यम्। *गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं* ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानाम्। अत्र गुरुशब्देन स्थूलकायो भण्यते, अथवा पूज्यो वा गुरुरिति।

तथाहि– यदा कोऽपि शुभोपयोगयुक्त आचार्यः सरागचारित्रलक्षणशुभोपयोगिनां वीतरागचारित्रलक्षणशुद्धोपयोगिनां वा वैयावृत्त्यं करोति, तदाकाले तद्वैयावृत्त्यनिमित्तं लौकिकजनैः सह संभाषणं करोति, न शेषकाल इति भावार्थः॥ २८३॥

अब, शुभोपयोगियों के लिये,मुनि की वैयावृत्ति के निमित्त,लौकिक जनों से संभाषण के विषय में निषेध नहीं है ; ऐसा उपदेश देते हैं–

हो वैयावृत्त निमित्त गुरु ग्लान बाल वृद्ध व श्रमण की।

उपयोग शुभयुतजन हों लौकिक बोलना निंदित नहीं॥ २८३॥

गाथार्थ– रोगी, गुरु, बाल, वृद्ध श्रमणों की वैयावृत्ति के निमित्त,शुभोपयोग युक्त लौकिक जनों के साथ, बातचीत करना निंदित नहीं है।

टीकार्थ– ***ण णिंदिदा***– शुभोपयोगी श्रमणों के निन्दित नहीं है, निषिद्ध नहीं है। कर्मता को प्राप्त (कर्मकारक में प्रयुक्त) क्या निषिद्ध नहीं है ? ***लोगिगजणसंभासा***– लौकिक जनों के साथ सम्भाषा–वचन प्रवृत्ति–बोलना निषिद्ध नहीं है। ***सुहोवजुदा वा***– अथवा वह बोलना भी,शुभोपयोग युक्त कहा गया है। किस हेतु से बोलना निषिद्ध नहीं है ? ***वेज्जावच्चणिमित्तं***– वैयावृत्ति के निमित्त बोलना निषिद्ध नहीं है। किनकी वैयावृत्ति के निमित्त बोलना निषिद्ध नहीं है। ***गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं***– रोगी, गुरु, बाल, वृद्ध मुनियों की वैयावृत्ति के निमित्त,बोलना निषिद्ध नहीं है। यहाँ 'गुरु' शब्द से मोटे शरीर वाले अथवा पूज्य अथवा गुरु कहे गये हैं।

वह इसप्रकार– जब कोई भी शुभोपयोग युक्त आचार्य,सरागचारित्र लक्षणशुभोपयोगियों की अथवा वीतरागचारित्र लक्षण शुद्धोपयोगियों की वैयावृत्ति करते हैं, उस समय उस वैयावृत्ति के निमित्त,लौकिक जनों के साथ सम्भाषण करते हैं, शेष समय में नहीं– ऐसा भाव है॥ २८३॥

अथायं वैयावृत्त्यादिलक्षणशुभोपयोगस्तपोधनैर्गौणवृत्त्या श्रावकैस्तु मुख्यवृत्त्या कर्तव्य इत्याख्याति–

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं। (२५४)

चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं ॥ २८४ ॥

भणिदा भणिता कथिता। का कर्मतापन्ना। *चरिया* चर्या चारित्रमनुष्ठानम्। किंविशिष्टा। *एसा* एषा प्रत्यक्षीभूता। पुनश्च किंरूपा। *पसत्थभूदा* प्रशस्तभूता धर्मानुरागरूपा। केषां संबन्धिनी। *समणाणं वा* श्रमणानां वा *पुणो घरत्थाणं* गृहस्थानां वा पुनरियमेव चर्या *परेत्ति* परा सर्वोत्कृष्टेति। *ताएव परं लहदि सोक्खं* तयैव शुभोपयोगचर्यया परंपरया मोक्षसुखं लभते गृहस्थ इति।

तथाहि– तपोधनाः शेषतपोधनानां वैयावृत्त्यं कुर्वाणाः सन्तः कायेन किमपि निरवद्यवैयावृत्त्यं कुर्वन्ति ; वचनेन धर्मोपदेशं च। शेषमौषधान्नपानादिकं गृहस्थानामधीनं, तेन कारणेन वैयावृत्त्यरूपो धर्मो गृहस्थानां मुख्यः, तपोधनानां गौणः।

द्वितीयं च कारणं– निर्विकारचिच्चमत्कारभावनाप्रतिपक्षभूतेन विषयकषायनिमित्तोत्पन्नेनार्तरौद्रदुर्ध्यानद्वयेन परिणतानां गृहस्थानामात्माश्रितनिश्चयधर्मस्यावकाशो नास्ति, वैयावृत्त्यादिधर्मेण दुर्ध्यानवंचना भवति, तपोधनसंसर्गेण निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गोपदेशलाभो भवति। ततश्च परंपरया निर्वाणं लभन्ते इत्यभिप्रायः ॥२८४॥

एवं गाथापंचकेन लौकिकव्याख्यानसंबन्धिप्रथमस्थलं गतम्।

अब, यह वैयावृत्ति आदि लक्षण शुभोपयोग, मुनियों को गौण रूप से और श्रावकों को मुख्य रूप से करना चाहिये ; ऐसा प्रसिद्ध करते हैं–

है श्रमण के भी प्रशस्त चर्या श्रावकों के मुख्य है।

पाते उसी से श्रेष्ठ सुख आगे वे ऐसा कथित है ॥ २८४ ॥

गाथार्थ– यह प्रशस्तभूत चर्या मुनियों के होती है, तथा गृहस्थों के तो मुख्य रूप से होती है, ऐसा कहा गया है ; उससे ही वे (गृहस्थ) उत्कृष्ट सुख को (परम्परा से) प्राप्त होते हैं।

टीकार्थ– ***भणिदा***– कही गई है। कर्मता को प्राप्त क्या कही गई है ? ***चरिया***– चारित्र, अनुष्ठान– चर्या कही गई है। वह चर्या किस विशेषता वाली है ? ***एसा***– यह प्रत्यक्षीभूत (विद्यमान) वह चर्या है। और वह किस रूप है ? ***पसत्थभूदा***– धर्मानुराग रूप है। वह चर्या किनकी है ? ***समणाणं वा***- श्रमणों की वह चर्या है अथवा ***पुणो घरत्थाणं***– तथा गृहस्थों के तो यही चर्या ***परेत्ति***– सर्वोत्कृष्ट– मुख्य है। ***ताएव परं लहदि सोक्खं***- गृहस्थ उसी शुभोपयोग चर्या द्वारा, परम्परा से मोक्षसुख प्राप्त करते हैं।

वह इसप्रकार– मुनि अन्य मुनियों की वैयावृत्ति करते हुये शरीर से कुछ भी निर्दोष वैयावृत्ति करते हैं और वचन से धर्मोपदेश देते हैं। शेष औषध, अन्न, पान आदि गृहस्थों के अधीन है ; इस कारण वैयावृत्ति रूप धर्म गृहस्थों के मुख्य है, मुनियों के गौण है।

इस मुख्यता-गौणता का दूसरा कारण भी है– विकार रहित चैतन्य चमत्कार की भावना के प्रतिपक्षभूत, विषयकषाय के निमित्त से उत्पन्न आर्त-रौद्र दो दुर्ध्यानों रूप परिणत गृहस्थों के, निश्चय धर्म का अवकाश नहीं है, वैयावृत्ति आदि धर्म से दुर्ध्यान की वंचना होती है– खोटे ध्यान रुकते हैं, मुनियों के संसर्ग से निश्चयव्यवहार मोक्षमार्ग के उपदेश का लाभ मिलता है, और उससे, वे परम्परा से मोक्ष प्राप्त करते हैं– ऐसा अभिप्राय है ॥ २८४ ॥

इसप्रकार पाँच गाथाओं द्वारा लौकिक व्याख्यान सम्बन्धी पहला स्थल पूर्ण हुआ।

अथ शुभोपयोगिनां सास्रवत्वाद्व्यवहारेण श्रमणत्वं व्यवस्थापयति–

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि ।(२४५)

तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ।। २८५ ।।

संति विद्यन्ते । क्व । *समयम्हि* समये परमागमे । के सन्ति । *समणा* श्रमणास्तपोधनाः । किंविशिष्टाः । *सुद्धुवजुत्ता* शुद्धोपयोगयुक्ताः शुद्धोपयोगिन इत्यर्थः । *सुहोवजुत्ता य* न केवलं शुद्धोपयोगयुक्ताः शुभोपयोगयुक्ताश्च । चकारोऽत्र अन्वाचयार्थे गौणार्थे ग्राह्यः । तत्र दृष्टान्तः– यथा निश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावाः सिद्धजीवा एव जीवा भण्यते, व्यवहारेण चतुर्गतिपरिणता अशुद्धजीवाश्च जीवा इति ; तथा शुद्धोपयोगिनां मुख्यत्वं शुभोपयोगिनां तु चकारसमुच्चयव्याख्यानेन गौणत्वम् । कस्माद्गौणत्वं जातमिति चेत् । *तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा* तेष्वपि मध्ये शुद्धोपयोगयुक्ता अनास्रवाः, शेषाः सास्रवा इति यतः कारणात् ।

तद्यथा–निजशुद्धात्मभावनाबलेन समस्तशुभाशुभसंकल्पविकल्परहितत्वाच्छुद्धोपयोगिनो निरास्रवा एव, शेषाः शुभोपयोगिनो मिथ्यात्वविषयकषायरूपाशुभास्रवनिरोधेऽपि पुण्यास्रवसहिता इति भावः ।। २८५ ।।

(अब, शुभोपयोग का स्वरूप प्रतिपादक,आठ गाथाओं में निबद्ध,दूसरा स्थल प्रारम्भ होता है ।)

अब, आस्रव से सहित होने के कारण शुभोपयोगियों के व्यवहार से श्रमणता व्यवस्थापित करते हैं–

हैं समय में शुद्धोपयोगी श्रमण शुभ उपयुक्त भी ।

शुद्धोपयोगी निरास्रव हैं शेष उनमें सास्रवी ।। २८५ ।।

गाथार्थ– समय (आगम) में शुद्धोपयोगी श्रमण हैं और शुभोपयोगी भी श्रमण होते हैं, उनमें भी शुद्धोपयोगी निरास्रव हैं शेष आस्रव सहित हैं ।

टीकार्थ– ***संति***– हैं । कहाँ हैं ? ***समयम्हि***– परमागम में हैं । कौन हैं परमागम में ? ***समणा***– मुनि परमागम में हैं । वे किस विशेषता वाले हैं ? ***सुद्धुवजुत्ता***– वे शुद्धोपयोग से युक्त शुद्धोपयोगी हैं– ऐसा अर्थ है । ***सुहोवजुत्ता य***– न केवल शुद्धोपयोग युक्त हैं बल्कि शुभोपयोग युक्त भी हैं । यहाँ 'चकार'– 'च' शब्द अन्वाचय अर्थ में अर्थात् गौण अर्थ में ग्रहण करना चाहिये । इस प्रसंग में दृष्टान्त देते हैं– जैसे निश्चय से शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावी सिद्ध जीव ही जीव कहे जाते हैं, और व्यवहार से चतुर्गति परिणत अशुद्ध जीव, जीव हैं; उसीप्रकार शुद्धोपयोगियों की मुख्यता तथा चकार द्वारा समुच्चय व्याख्यान होने से शुभोपयोगियों की गौणता है । गौणता कैसे उत्पन्न हुई ? यदि ऐसा प्रश्न हो तो कहते हैं– ***तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा***– उनमें से भी शुद्धोपयोगयुक्त अनास्रव हैं, शेष सास्रव हैं– इस कारण उनमें गौणता है ।

वह इसप्रकार– अपने शुद्धात्मा के बल से,सम्पूर्ण शुभ-अशुभ सम्बन्धी संकल्प-विकल्प रहित होने के कारण,शुद्धोपयोगी निरास्रव ही हैं; शेष शुभोपयोगी मिथ्यात्व, विषय-कषाय रूप अशुभ आस्रव का निरोध होने पर भी पुण्यास्रव सहित हैं– ऐसा भाव है ।। २८५ ।।*

* प्रस्तुत गाथा की तत्त्वप्रदीपिका टीका मूलतः पठनीय है ।

अथ शुभोपयोगिश्रमणानां लक्षणमाख्याति–

अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु ।(२४६)

विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया ॥ २८६ ॥

सा सुहजुत्ता भवे चरिया सा चर्या शुभयुक्ता भवेत्। कस्य। तपोधनस्य। कथंभूतस्य। समस्तरागादिविकल्परहितपरमसमाधौ स्थातुमशक्यस्य। यदि किम्। *विज्जदि जदि* विद्यते यदि चेत्। क्व। *सामण्णे* श्रामण्ये चारित्रे। किं विद्यते। *अरहंतादिसु भत्ती* अनन्तज्ञानादिगुणयुक्तेष्वर्हत्सिद्धेषु गुणानुरागयुक्ता भक्तिः। *वच्छलदा* वत्सलस्य भावो वत्सलता वात्सल्यं विनयोऽनुकूलवृत्तिः। केषु विषयेषु। *पवयणाभिजुत्तेसु* प्रवचनाभियुक्तेषु। प्रवचनशब्देनात्रागमो भण्यते, संघो वा, तेन प्रवचनेनाभियुक्ताः प्रवचनाभियुक्ता आचार्योपाध्यायसाधवस्तेष्विति।

एतदुक्तं भवति– स्वयं शुद्धोपयोगलक्षणे परमसामायिके स्थातुमसमर्थस्यान्येषु शुद्धोपयोगफलभूतकेवलज्ञानेन परिणतेषु, तथैव शुद्धोपयोगाराधकेषु च यासौ भक्तिस्तच्छुभोपयोगिश्रमणानां लक्षणमिति ॥२८६ ॥

अब, शुभोपयोगी श्रमणों का लक्षण प्रसिद्ध करते हैं–

हो भक्ति अरहन्तादि में वात्सल्य प्रवचनरतों में।

हो युक्त शुभचर्या यदि होती है वह श्रामण्य में ॥ २८६ ॥

गाथार्थ– श्रामण्य दशा में,यदि अरहन्तादि के प्रति भक्ति, प्रवचन-रत जीवों के प्रति वात्सल्य पाया जाता है, तो वह शुभयुक्त चर्या होवे।

टीकार्थ– ***सा सुहजुत्ता भवे चरिया***– वह चर्या शुभयुक्त हो। किसके वह चर्या शुभ युक्त हो ? मुनि के,वह चर्या शुभ युक्त हो। कैसे मुनिराज के,वह ऐसी हो ? सम्पूर्ण रागादि विकल्प रहित परम समाधि (स्वरूप-स्थिरता) में ठहरने के लिये असमर्थ मुनि के,वह ऐसी हो। यदि क्या है,तो ऐसी शुभयुक्त चर्या हो ? ***विज्जदि जदि***- यदि पाई जाती है,तो वह हो ? कहाँ पायी जाती है, तो वह हो ? ***सामण्णे***– श्रामण्य-चारित्र में यदि पाई जाती है,तो वह हो। उसमें क्या पायी जाती है ? ***अरहंतादिसु भत्ती***– अनन्त ज्ञान आदि गुणों से सहित अरहन्त-सिद्धों में, गुणों के प्रति अनुराग सहित भक्ति पायी जाती है। ***वच्छलदा***– वत्सल का भाव वत्सलता-वात्सल्य है, विनय, अनुकूल वृत्ति-प्रवृत्ति रूप वत्सलता पायी जाती है। किन विषयों में वत्सलता पायी जाती है ? ***पवयणाभिजुत्तेसु***– प्रवचन में अभियुक्तों के प्रति। यहाँ प्रवचन शब्द से आगम अथवा संघ कहा गया है, उस प्रवचन से अभियुक्त,प्रवचनाभियुक्त है (इसप्रकार तृतीया तत्पुरुष समास किया) अर्थात् आगम में लीन– स्वाध्याय-रत या संघ में स्थित आचार्य, उपाध्याय, साधुओं के प्रति उसमें वत्सलता पायी जाती है।

इससे यह कहा गया है– स्वयं शुद्धोपयोग लक्षण परम सामयिक में ठहरने के लिए असमर्थ मुनि के, शुद्धोपयोग के फलस्वरूप केवलज्ञान परिणत अन्य जीवों के प्रति और उसीप्रकार शुद्धोपयोग के आराधक जीवों के प्रति,जो वह भक्ति है, वह शुभोपयोगी श्रमणों का लक्षण है।

अथ शुभोपयोगिनामेवेत्थंभूताः प्रवृत्तयो भवन्ति, न च शुद्धोपयोगिनामिति प्ररूपयति–

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं। (२४८)
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य ॥ २८७ ॥

दंसणणाणुवदेसो दर्शनं मूढत्रयादिरहितं सम्यक्त्वं, ज्ञानं परमागमोपदेशः, तयोरुपदेशो दर्शनज्ञानोपदेशः। *सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं* रत्नत्रयाराधनाशिक्षाशीलानां शिष्याणां ग्रहणं स्वीकारस्तेषामेव पोषणमशन-शयनादिचिन्ता। *चरिया हि सरागाणं* इत्थंभूता चर्या चारित्रं भवति, हि स्फुटम्। केषाम्। सरागाणां धर्मानुरागचारित्रसहितानाम्। न केवलमित्थंभूता चर्या, *जिणिंदपूजोवदेसो य* यथासंभवं जिनेन्द्रपूजादिधर्मोपदेशश्चेति।

विशेषार्थ–यहाँ 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने *'पवयणाभिजुत्तेसु'* शब्द को निम्न प्रकार से विश्लेषित किया है–

"–केवल शुद्धात्म-परिणत रूप से रहने का प्रतिपादन करने वाले प्रवचन-रतों के प्रति–"[१]

भक्ति आदि चर्या को शुभोपयोग चारित्र कहने का हेतु देते हुये वे इसमें ही लिखते हैं–

"मात्र उतने राग से प्रवर्तित पर द्रव्य प्रवृत्ति के साथ शुद्धात्मपरिणति मिलित होने के कारण, वह शुभोपयोगी चारित्र हो।"[१]

यहाँ ही निष्कर्ष रूप में वे लिखते हैं–

"इसलिये शुद्धात्मा के अनुरागयुक्त चारित्रता शुभोपयोगी श्रमणों का लक्षण है।"[१] ॥ २८६ ॥

अब, शुभोपयोगियों के ही इसप्रकार की प्रवृत्तियाँ होती है; शुद्धोपयोगियों के नहीं ; ऐसा प्ररूपित–विशेष कथन करते हैं–

दृग-ज्ञान का उपदेश शिष्यों का ग्रहण पोषण तथा।
जिन अर्चना-उपदेश चर्या रागियों की है कहा ॥ २८७ ॥

गाथार्थ– दर्शन-ज्ञान का उपदेश, शिष्यों का ग्रहण और उनका पोषण तथा जिनेन्द्र की पूजा का उपदेश वास्तव में सरागियों की चर्या है।

टीकार्थ– *दंसणणाणुवदेसो*– दर्शन अर्थात् तीनमूढ़ता आदि से रहित सम्यक्त्व, ज्ञान अर्थात् परमागम का उपदेश–उन दोनों का उपदेश दर्शन-ज्ञान का उपदेश (इसप्रकार षष्ठी तत्पुरुष समास किया) *सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं*– रत्नत्रय आराधना की शिक्षा लेने वाले शिष्यों का ग्रहण– स्वीकार और उनका ही पोषण अर्थात् भोजन-शयन आदि की चिन्ता। *चरिया हि सरागाणं*– इसप्रकार की चर्या–चारित्र–आचरण होता है, वास्तव में। ऐसा आचरण किनका होता है? धर्मानुराग रूप आचरण सहित सरागियों का ऐसा चारित्र–आचरण होता है। मात्र इसीप्रकार का चारित्र नहीं होता है, (वरन्) *जिणिंदपूजोवदेसो य*– और यथासंभव जिनेन्द्र पूजा आदि धर्मोपदेश देने सम्बन्धी आचरण सरागियों का होता है।

१- प्रवचनसार, गाथा २४६, तत्वप्रदीपिका टीका।

ननु शुभोपयोगिनामपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावना दृश्यते, शुद्धोपयोगिनामपि क्वापि काले शुभोपयोगभावना दृश्यते, श्रावकाणामपि सामायिकादिकाले शुद्धभावना दृश्यते, तेषां कथं विशेषो भेदो ज्ञायत इति । परिहारमाह– युक्तमुक्तं भवता, परं किंतु ये प्रचुरेण शुभोपयोगेन वर्तन्ते ते यद्यपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावनां कुर्वन्ति तथापि शुभोपयोगिन एव भण्यन्ते । येऽपि शुद्धोपयोगिनस्ते यद्यपि क्वापि काले शुभोपयोगेन वर्तन्ते तथापि शुद्धोपयोगिन एव । कस्मात् । बहुपदस्य प्रधानत्वादाम्रवननिम्बवनवदिति ॥ २८७ ॥

अथ काश्चिदपि याः प्रवृत्तयस्ताः शुभोपयोगिनामेवेति नियमति–

उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स । (२४९)

कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से ॥ २८८ ॥

उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स उपकरोति योऽपि नित्यं । कस्य । चातुर्वर्णस्य श्रमणसंघस्य । अत्र श्रमणशब्देन श्रमणशब्दवाच्या ऋषिमुनियत्यनगारा ग्राह्याः ।

यहाँ कोई शंका करता है कि शुभोपयोगियों के भी,किसी समय शुद्धोपयोग रूप भावना दिखाई देती है, शुद्धोपयोगियों के भी,किसी समय शुभोपयोग भावना देखी जाती है, श्रावकों के भी सामायिक आदि के समय शुद्ध भावना देखी जाती है ; तब उनका विशेष भेद कैसे ज्ञात होता है ?

आचार्य उसका समाधान करते हुये कहते हैं— आपका कहना उचित है; परन्तु जो अधिकतर शुभोपयोग रूप आचरण करते हैं, वे यद्यपि किसी समय शुद्धोपयोग रूप भावना करते हैं, तो भी शुभोपयोगी ही कहलाते हैं । तथा जो शुद्धोपयोगी हैं, वे भी किसी समय शुभोपयोग रूप वर्तते हैं,तो भी शुद्धोपयोगी ही हैं । दोनों रूप प्रवृत्ति होने पर भी,ऐसा क्यों है ? बहुपद की—बहुलता की प्रधानता होने के कारण,आम्रवन-नीमवन आदि के समान, दोनों रूप प्रवृत्ति होने पर भी,अधिकता की अपेक्षा अन्तर है ॥ २८७ ॥

अब, कुछ भी जो प्रवृत्ति है, वह शुभोपयोगियों के ही है ; ऐसा नियम करते हैं—

जो चतुर्विध मुनिसंघ का भी नित करें उपकार हैं ।

षट्काय हिंसा से रहित वे भी सराग प्रधान हैं ॥ २८८ ॥

गाथार्थ– षट्काय जीवों की विराधना से रहित,हमेशा जो कोई भी चतुर्विध श्रमण संघ का उपकार करता है, वह भी राग की प्रधानता सहित है ।

टीकार्थ– *उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स*– जो हमेशा उपकार करते हैं । किसका उपकार करते हैं ? चार प्रकार के मुनिसंघ का उपकार करते हैं । यहाँ *'श्रमण'* शब्द से *'श्रमण'* शब्द द्वारा वाच्य ऋषि, मुनि, यति, अनगार ग्रहण करना चाहिये ।

"देशप्रत्यक्षवित्केवलभृदिहमुनिः स्यादृषिः प्रसृतर्द्धि।
रारूढः श्रेणियुग्मेऽजनि यतिरनगारोऽपरः साधुवर्गः।
राजा ब्रह्मा च देवः, परम इति ऋषिर्विक्रियाक्षीणशक्ति।
प्राप्तो बुद्ध्यौषधीशो वियदयनपटुर्विश्ववेदी क्रमेण॥"

ऋषय ऋद्धिं प्राप्तास्ते चतुर्विधा, राजब्रह्मदेवपरमऋषिभेदात्। तत्र राजर्षयो विक्रियाक्षीणर्द्धिप्राप्ता भवन्ति। ब्रह्मर्षयो बुद्ध्यौषधर्द्धि युक्ता भवन्ति। देवर्षयो गगनगमनर्द्धिसंपन्ना भवन्ति। परमर्षयः केवलिनः केवलज्ञानिनो भवन्ति। मुनयः अवधिमनःपर्ययकेवलिनश्च। यतय उपशमकक्षपकश्रेण्यारूढाः। अनगाराः सामान्यसाधवः। कस्मात्। सर्वेषां सुखदुःखादिविषये समतापरिणामोऽस्तीति।

अथवा श्रमणधर्मानुकूलश्रावकादिचातुर्वर्णसंघः। कथं यथा भवति। *कायविराधणरहिदं* स्वस्थभावनास्वरूपं स्वकीयशुद्धचैतन्यलक्षणं निश्चयप्राणं रक्षन् परकीयषट्कायविराधनारहितं यथा भवति। *सो वि सरागप्पधाणो से* सोऽपीत्थंभूतस्तपोधनो धर्मानुरागचारित्रसहितेषु मध्ये प्रधानः श्रेष्ठः स्यादित्यर्थः॥ २८८॥

"देशप्रत्यक्षवित्— अवधिज्ञानी एवं मनःपर्ययज्ञानी, केवलभृद्—केवलज्ञानी— ये मुनि हैं, ऋद्धि प्राप्त साधु ऋषि हैं, दोनों श्रेणी रूप मार्ग पर आरूढ़ यति हैं तथा अन्य साधु समूह अनगार हैं। राजा, ब्रह्मा, देव और परमऋषि (राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि, परमर्षि) क्रम से विक्रिया और अक्षीण शक्ति प्राप्त, बुद्धि और औषध ऋद्धि के स्वामी, आकाश गमन ऋद्धि के धारी और केवलज्ञान-धारी होते हैं।"

ऋद्धि प्राप्त ऋषि हैं; वे राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि, परमर्षि के भेद से चार प्रकार के हैं। वहाँ विक्रिया और अक्षीण ऋद्धि को प्राप्त राजर्षि हैं। बुद्धि और औषध ऋद्धि से सहित ब्रह्मर्षि हैं। आकाश गमन ऋद्धि सम्पन्न देवर्षि हैं। तथा केवली—केवलज्ञानी परमर्षि हैं। अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी मुनि हैं। श्रेणी के आरोहक उपशमक और क्षपक यति हैं। सामान्य साधु अनगार हैं। ये सभी श्रमण क्यों हैं ? सभी के सुख-दुःख आदि विषय में समता परिणाम हैं, अतः ये सभी श्रमण हैं।

अथवा श्रमण धर्म के अनुकूल श्रावक आदि चातुर्वर्ण संघ है। इन सब का उपकार जैसा (बनता है, वह) कैसे करते हैं ? ***काय विराधणरहिदं***— अपने आप में लीनता रूप भावना स्वरूप, अपने शुद्ध चैतन्य लक्षण निश्चय प्राणों की रक्षा करते हुये, दूसरे छहकाय के जीवों की विराधना से रहित, जैसा उपकार बनता है, वैसा करते हैं। ***सो वि सरागप्पधाणो से***— वे इसप्रकार के मुनि भी धर्मानुराग रूप आचरण सहित मुनियों में प्रधान—श्रेष्ठ हैं—ऐसा अर्थ है।

भावार्थ— श्रमण-संघ के भेदों को हम निम्न प्रकार से भी समझ सकते हैं—

चतुर्विध श्रमण संघ

ऋषि				मुनि	यति	अनगार
राजर्षि	ब्रह्मर्षि	देवर्षि	परमर्षि	अवधि-मनःपर्यय	उपशमक-क्षपक	सामान्य साधु
विक्रिया	बुद्धि	आकाश	केवल ज्ञान	केवल ज्ञानी	श्रेणी आरोहक	
अक्षीण	औषध	गमन	ऋद्धिधारी	साधु	साधु	
ऋद्धिधारी	ऋद्धिधारी	ऋद्धिधारी				

॥ २८८ ॥

अथ वैयावृत्त्यकालेऽपि स्वकीयसंयमविराधना न कर्तव्येत्युपदिशति—

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो।(२५०)

ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से॥ २८९ ॥

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो यदि चेत् करोति कायखेदं षट्कायविराधनाम्। कथंभूतः सन्। वैयावृत्त्यार्थमुद्यतः। *समणो ण हवदि* तदा श्रमणस्तपोधनो न भवति। तर्हि किं भवति। *हवदि अगारी* अगारी गृहस्थो भवति। कस्मात्। *धम्मो सो सावयाणं से* षट्कायविराधनां कृत्वा योऽसौ धर्मः स श्रावकाणां स्यात्, न च तपोधनानामिति।

इदमत्र तात्पर्यम्— योऽसौ स्वशरीरपोषणार्थं शिष्यादिमोहेन वा सावद्यं नेच्छति तस्येदं व्याख्यानं शोभते, यदि पुनरन्यत्र सावद्यमिच्छति वैयावृत्त्यादिस्वकीयावस्थायोग्ये धर्मकार्ये नेच्छति तदा तस्य सम्यक्त्वमेव नास्तीति॥ २८९ ॥

अब, वैयावृत्ति के समय भी,अपने संयम की विराधना नहीं करना चाहिये ; ऐसा उपदेश देते हैं —

यदि वैयावृत्ति अर्थ उद्यत कायखेद करे श्रमण।

वह श्रावकों का धर्म है आगारि है वह,ना श्रमण॥ २८९ ॥

गाथार्थ— वैयावृत्ति के लिये प्रयत्नशील मुनि,यदि छहकाय जीवों को कष्ट पहुँचाता है,तो वह मुनि नहीं, श्रावक है,(क्योंकि) वह श्रावकों का धर्म है ।

टीकार्थ— ***जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो***— यदि कायखेद अर्थात् छह काय जीवों की विराधना करता है । कैसा होता हुआ ऐसा करता है ? वैयावृत्ति के लिये प्रयत्नशील होता हुआ,ऐसा करता है । ***समणो ण हवदि***— तब वह मुनि नहीं है । मुनि नहीं तो क्या है ? ***हवदि अगारी***—तो वह अगारी अर्थात् गृहस्थ है । वह गृहस्थ क्यों है ? ***धम्मो सो सावयाणं से***— छहकाय जीवों की विराधना कर,वैयावृत्ति करने वाला जो वह धर्म है, वह श्रावकों का है, मुनियों का नहीं; अतः वह गृहस्थ है, मुनि नहीं है ।

यहाँ तात्पर्य यह है— जो वह,अपने शरीर के पोषण के लिये अथवा शिष्य आदि के मोह से सावद्य (पाप) नहीं चाहता है, उसके लिये वह (काय विराधना कर वैयावृत्ति न करने सम्बन्धी) व्याख्यान शोभा देता है— उचित है ; परन्तु यदि दूसरे कार्यों में सावद्य करता है और वैयावृत्ति आदि अपनी अवस्था के योग्य धर्मकार्य में,सावद्य नहीं चाहता है, तो उसके सम्यक्त्व ही नहीं है ।

विशेषार्थ— इस गाथा-टीका में तात्पर्य रूप से 'आचार्य अमृतचन्द्र' लिखते हैं—

"इसलिये जो कुछ प्रवृत्ति हो,वह संयम के साथ सर्वथा अविरोध रूप से ही करना चाहिये ; क्योंकि प्रवृत्ति में भी संयम ही साध्य है ।"[१] ॥ २८९ ॥

१- प्रवचनसार,गाथा २५०,तत्त्वप्रदीपिका टीका ।

अथ यद्यप्यल्पलेपो भवति परोपकारे, तथापि शुभोपयोगिभिर्धर्मोपकारः कर्तव्य इत्युपदिशति–

जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं ।(२५१)
अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ॥ २९० ॥

कुव्वदु करोतु । स कः कर्ता । शुभोपयोगी पुरुषः । कं करोतु । *अणुकंपयोवयारं* अनुकम्पासहितोपकारं दयासहितं धर्मवात्सल्यम् । यदि किम् । *लेवो जदि वि अप्पो* "सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ" [१] इति दृष्टान्तेन यद्यप्यल्पलेपः स्तोकसावद्यं भवति । केषां करोतु । *जोण्हाणं* निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गपरिणतजैनानाम् । कथम् । *णिरवेक्खं* निरपेक्षं शुद्धात्मभावनाविनाशकख्यातिपूजालाभवांछारहितं यथा भवति । कथंभूतानां जैनानाम् । *सागारणगारचरियजुत्ताणं* सागारानागारचर्यायुक्तानां श्रावकतपोधनाचरणसहितानामित्यर्थः ॥ २९० ॥

अब, यद्यपि परोपकार में अल्पलेप होता है, तथापि शुभोपयोगियों को धर्मोपकार करना चाहिये ; ऐसा उपदेश देते हैं–

सागार या अनगार चर्या युक्त जैनों का करो ।
उपकार अनुकम्पा से थोड़ा लेप यदि निरपेक्ष हो ॥ २९० ॥

गाथार्थ– यद्यपि अल्प लेप होता है, तो भी अनुकम्पा से सागार-अनागार चर्या युक्त जैनों का निरपेक्ष उपकार करो ।

टीकार्थ– *कुव्वदु*– करो । कर्ता रूप वह कौन करो ? शुभोपयोगी पुरुष करो । क्या करो ? *अणुकंपयोवयारं*– अनुकम्पा सहित उपकार-दयासहित धर्म वात्सल्य करो । यदि क्या हो तो करो ? *लेवो जदि वि अप्पो*– "थोड़ा लेप हो और पुण्य समूह बहुत हो"– ऐसे दृष्टान्त से यद्यपि थोड़ा लेप– थोड़ा पाप होता है, तो करो । किनका करो ? *जोण्हाणं*– निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग परिणत जैनों का करो । कैसे करो ? *णिरवेक्खं*– निरपेक्ष– शुद्धात्मभावना को नष्ट करने वाली प्रसिद्धि, पूजा, लाभ की इच्छा से रहित जैसा होता है, वैसे करो । कैसे जैनों का करो ? *सागारणगारचरियजुत्ताणं*– सागार और अनागार चर्या से सहित– श्रावक और मुनियों के आचरणयुक्त जीवों का करो– ऐसा अर्थ है ।

भावार्थ– 'थोड़ा पाप हो पुण्य समूह बहुत हो'– इस वाक्य के आधार से, यद्यपि थोड़ा पाप होता है फिर भी हे शुभोपयोगी पुरुषो ! निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग परिणत श्रावक और मुनियों के आचरण से सहित जैनों का, शुद्धात्म-भावना को नष्ट करने वाली प्रसिद्धि, पूजा, लाभ की इच्छा से रहित, जैसे हो वैसे– दया सहित वात्सल्य, उपकार करो ।

विशेषार्थ– इस गाथा के '*सागारणगारचरिय*' का अर्थ 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने 'साकारानाकार चर्या' करते हुये, इनके प्रति उपकार आदि करने को अनिषिद्ध तथा अन्यत्र निषिद्ध बताते हुये, इसे निम्न प्रकार से सहेतुक स्पष्ट किया है–

"जो वास्तव में अनुकम्पापूर्वक परोपकार लक्षण प्रवृत्ति है, वह वास्तव में अनेकान्त की मैत्री से पवित्र हुये चित्त वाले, शुद्धात्मा के ज्ञान-दर्शन से प्रवर्तमान वृत्ति से साकार-अनाकार चर्या वाले शुद्ध जैनों में, शुद्धात्मा की प्राप्ति से भिन्न, अन्य सभी की अपेक्षा न करने के कारण अल्पलेप होने पर भी अनिषिद्ध है, परन्तु अल्पलेप होने पर भी सबके प्रति सर्वथा ही अनिषिद्ध नहीं है (वरन् निषिद्ध ही है); क्योंकि वहाँ इस प्रकार की प्रवृत्ति से दूसरों की और अपने शुद्धात्मा की वृत्ति की रक्षा नहीं होती है ।" [२] ॥ २९० ॥

१- स्वयम्भूस्तोत्र, वासुपूज्य भगवान स्तवन, पद्य ५८ । २- प्रवचनसार, गाथा २५१, तत्त्वप्रदीपिका टीका ।

अथानुकम्पालक्षणं कथ्यते–

तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो हि दुहिदमणो।

पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा॥ २९१ ॥[1]

तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो हि दुहिदमणो पडिवज्जदि तृषितं वा बुभुक्षितं वा दुःखितं वा दृष्ट्वा कमपि प्राणिनं यो हि स्फुटं दुःखितमनाः सन् प्रतिपद्यते स्वीकरोति। कं कर्मतापन्नम्। *तं* तं प्राणिनम्। कया। *किवया* कृपया दयापरिणामेन। *तस्सेसा होदि अणुकंपा* तस्य पुरुषस्यैषा प्रत्यक्षीभूता शुभोपयोगरूपानुकम्पा दया भवतीति। इमां चानुकम्पां ज्ञानी स्वस्थभावनामविनाशयन् संक्लेशपरिहारेण करोति। अज्ञानी पुनः संक्लेशेनापि करोतीत्यर्थः ॥ २९१ ॥

कस्मिन्प्रस्तावे वैयावृत्त्यं कर्तव्यमित्युपदिशति–

रोगेण वा छुधाए तण्हाए वा समेण वा रूढं। (२५२)

दिट्ठा समणं साहू पडिवज्जदु आदसत्तीए॥ २९२ ॥

अब, अनुकम्पा का लक्षण कहते हैं–

जो देख दुखित तृषित क्षुधित को दुखित मन हो दया से।

स्वीकार करता है उसे अनुकम्पा है उस भाव से॥ २९१ ॥

गाथार्थ– तृषातुर (प्यासे), क्षुधातुर (भूखे) अथवा दुखित को देखकर, दुःखित मन वाला जो, वास्तव में उसे दया परिणाम से स्वीकार करता है, उसका वह (भाव) अनुकम्पा है।

टीकार्थ– *तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो हि दुहिदमणो पडिवज्जदि*– तृषित (प्यासे) या बुभुक्षित (भूखे) या दुःखित किसी भी प्राणी को देखकर, जो वास्तव में दुःखित मन वाला होता हुआ, स्वीकार करता है। कर्मता को प्राप्त किसे, स्वीकार करता है ? *तं*– उस प्राणी को, स्वीकार करता है। कैसे, स्वीकार करता है ? *किवया*- कृपा—दयारूप परिणाम से, स्वीकार करता है। *तस्सेसा होदि अणुकंपा*– उस पुरुष का वह प्रत्यक्ष होने वाला शुभोपयोग रूप (परिणाम), अनुकम्पा—दया है। और इस अनुकम्पा को, ज्ञानी, स्वरूप-स्थिरता रूप भावना को नष्ट न करता हुआ, संक्लेश को दूर करने हेतु करता है। परन्तु अज्ञानी, संक्लेश से भी करता है— ऐसा अर्थ है ॥ २९१ ॥

किस प्रसंग में वैयावृत्ति करना चाहिये, ऐसा उपदेश देते हैं–

हों रोग से या श्रम क्षुधा से तृषा से पीड़ित मुनि।

को देख अपनी शक्ति से स्वीकृत करो उनको मुनि॥ २९२ ॥

गाथार्थ– रोग से या क्षुधा-तृषा (भूख-प्यास) से या श्रम से पीड़ित मुनि को देखकर, साधु अपनी शक्ति के अनुसार स्वीकार करें— वैयावृत्ति आदि करें।

१- पंचास्तिकाय संग्रह, ग्रन्थ में यह १३७वीं गाथा है।

पडिवज्जदु प्रतिपद्यतां स्वीकरोतु। कया। *आदसत्तीए* स्वशक्त्या। स कः कर्ता। *साहू* रत्नत्रयभावनया स्वात्मानं साधयतीति साधुः। कम्। *समणं* जीवितमरणादिसमपरिणामत्वाच्छ्रमणस्तं श्रमणम्। *दिट्ठा* दृष्ट्वा। कथंभूतम्। रूढं व्याप्तं पीडितं कदर्थितम्। केन। *रोगेण वा* अनाकुलत्वलक्षणपरमात्मनो विलक्षणेनाकुलत्वोत्पादकेन रोगेण व्याधिविशेषेण वा, *छुधाए* क्षुधया, *तण्हाए* वा तृष्णया वा, *समेण वा* मार्गोपवासादिश्रमेण वा।

अत्रेदं तात्पर्यम्–स्वस्थभावनाविघातकरोगादिप्रस्तावे वैयावृत्त्यं करोति, शेषकाले स्वकीयानुष्ठानं करोतीति ॥ २९२ ॥

एवं शुभोपयोगितपोधनानां शुभानुष्ठानकथनमुख्यतया गाथाष्टकेन द्वितीयस्थलं गतम्।

इत ऊर्ध्वं गाथाषट्कपर्यन्तं पात्रापात्रपरीक्षामुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति।

अथ शुभोपयोगस्य पात्रभूतवस्तुविशेषात्फलविशेषं दर्शयति–

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं। (२५५)

णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि ॥ २९३ ॥

टीकार्थ– *पडिवज्जदु*– स्वीकार करें। कैसे स्वीकार करें ? *आदसत्तीए*– अपनी शक्ति अनुसार स्वीकार करें। कर्ता रूप वे कौन स्वीकार करें ? *साहू*– रत्नत्रय रूप भावना से,जो अपने आत्मा की साधना करते हैं, वे साधु हैं; वे स्वीकार करें। वे किसे स्वीकार करें ? *समणं*– जीवन-मरण आदि में समान परिणाम होने से वे श्रमण हैं, उस श्रमण–मुनि को वे स्वीकार करें। *दिट्ठा*– देखकर। कैसा देखकर स्वीकार करें ? *रूढं*– व्याप्त–पीड़ित–दुःखित देखकर स्वीकार करें। किससे पीड़ित देखकर स्वीकार करें ? *रोगेण वा*– आकुलता से रहित लक्षण (वाले) परमात्मा से विलक्षण,आकुलता को उत्पन्न करने वाले रोग से– बीमारी विशेष से, अथवा *छुधाए*– क्षुधा (भूख) से, *तण्हाए वा*- अथवा तृषा (प्यास) से, *समेण वा*– अथवा मार्ग-उपवास आदि श्रम (थकान) से पीड़ित को देखकर,स्वीकार करें।

यहाँ तात्पर्य यह है– आत्मस्थिरता रूप भावना को नष्ट करने वाले रोगादि का प्रसंग होने पर,वैयावृत्ति करते हैं, शेष समय में अपना अनुष्ठान करते हैं ॥ २९२ ॥

इसप्रकार शुभोपयोगी मुनियों के शुभ अनुष्ठान रूप कथन की मुख्यता से,८ गाथाओं द्वारा दूसरा स्थल समाप्त हुआ।

(अब, तीसरा स्थल प्रारम्भ होता है)

इससे आगे छह गाथाओं तक पात्र-अपात्र परीक्षा की मुख्यता से व्याख्यान करते हैं–

अब, शुभोपयोग के पात्रभूत वस्तु-विशेष से फल-विशेष दिखाते हैं–

हो विविध भूगत बीज धान्योत्पत्ति में जैसे फले।

वैसे प्रशस्त हो राग वस्तु-विशेष से विपरीत फले ॥ २९३ ॥

गाथार्थ– जैसे इस लोक में,अनेक प्रकार की भूमियों में पड़े हुये बीज,धान्य उत्पत्ति के समय अनेक प्रकार से फलते हैं; उसीप्रकार प्रशस्तभूत राग,वस्तु-विशेष (भेद) से विपरीत फलता है।

फलदि फलति, फलं ददाति। स कः। *रागो* रागः। कथंभूतः। *पसत्थभूदो* प्रशस्तभूतो दानपूजादिरूपः। किं फलति। *विवरीदं* विपरीतमन्यादृशं भिन्नभिन्नफलम्। केन करणभूतेन। *वत्थुविसेसेण* जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नपात्रभूतवस्तुविशेषेण। अत्रार्थे दृष्टान्तमाह-*णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि* नानाभूमिगतानीह बीजानि इव सस्यकाले धान्यनिष्पत्तिकाल इति।

अयमत्रार्थः- यथा जघन्यमध्यमोत्कृष्टभूमिविशेषेण तान्येव बीजानि भिन्नभिन्नफलं प्रयच्छन्ति, तथा स एव बीजस्थानीयशुभोपयोगो भूमिस्थानीयपात्रभूतवस्तुविशेषेण भिन्नभिन्नफलं ददाति।

तेन किं सिद्धम्। यदा पूर्वसूत्रकथितन्यायेन सम्यक्त्वपूर्वकः शुभोपयोगो भवति तदा मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धो भवति, परंपरया निर्वाणं च। नो चेत्पुण्यबन्धमात्रमेव॥ २९३॥

टीकार्थ- ***फलदि***- फलता है- फल देता है। वह कौन फल देता है ? ***रागो***- राग फल देता है। कैसा राग फल देता है ? ***पसत्थभूदो***- प्रशस्तभूत- दानपूजादि रूप राग फल देता है। वह क्या फल देता है ? ***विवरीदं***- विपरीत-और दूसरे रूप भिन्न-भिन्न फल देता है। किस करणभूत से-किस साधन से फल देता है ? इस अर्थ में दृष्टान्त कहते हैं- ***णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि***- यहाँ अनेक प्रकार की भूमियों में पड़े हुये बीज के,धान्य-उत्पत्ति काल के समान।

यहाँ अर्थ यह है- जैसे जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भूमि-भेद से,वे ही बीज,भिन्न-भिन्न फल देते हैं, उसी-प्रकार बीज के स्थानीय वही शुभोपयोग,भूमि के स्थानीय पात्रभूत वस्तु-विशेष से भिन्न-भिन्न फल देता है।

उससे क्या सिद्ध हुआ- जब पहले गाथा में कहे गये न्याय से सम्यक्त्व पूर्वक शुभोपयोग होता है, तब मुख्य रूप से पुण्य बंध होता है तथा परम्परा से मोक्ष होता है। यदि वह वैसा (सम्यक्त्व के साथ) नहीं है,तो मात्र पुण्य बन्ध ही होता है।

विशेषार्थ- १- पात्र की विपरीतता से होने वाली फल की विपरीतता को 'आचार्य अमृतचन्द्र' निम्न हेतु से स्पष्ट करते हैं-

"कारण के भेद से कार्य का भेद अवश्यम्भावी होने के कारण",पात्र की विपरीतता से फल की विपरीतता होती है।[१]

२- पात्रों के भेद बताते हुये 'आचार्य अमृतचन्द्र' लिखते हैं-

मोक्ष के कारण रूप गुणों के संयोग रूप पात्र अविरत-सम्यग्दृष्टि, विरताविरत (देशव्रती) और सकलविरत (महाव्रती) रूप से तीन प्रकार के कहे हैं।[२] ॥ २९३॥

१- प्रवचनसार,गाथा २५५,तत्त्वप्रदीपिका टीका।

२- पुरुषार्थसिद्ध्युपाय,पद्य १७१।

अथ कारणवैपरीत्यात्फलमपि विपरीतं भवतीति तमेवार्थं दृढयति-

छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो ।(२५६)

ण लहदि अपुणब्भावं भावं सादप्पगं लहदि ॥ २९४ ॥

ण लहदि न लभते । स कः कर्ता । *वदणियमज्झयणझाणदाणरदो* व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरतः । केषु विषये यानि व्रतादीनि । *छदुमत्थविहिदवत्थुसु* छद्मस्थविहितवस्तुषु अल्पज्ञानिपुरुषव्यवस्थापितपात्रभूतवस्तुषु । इत्थंभूतः पुरुषः कं न लभते । *अपुणब्भावं* अपुनर्भवशब्दवाच्यं मोक्षम् । तर्हि किं लभते । *भावं सादप्पगं लहदि* भावं सातात्मकं लभते । भावशब्देन सुदेवमनुष्यत्वपर्यायो ग्राह्यः । स च कथंभूतः । सातात्मकः सद्वेद्योदयरूप इति ।

तथाहि- ये केचन निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गं न जानन्ति, पुण्यमेव मुक्तिकारणं भणन्ति, ते छद्मस्थशब्देन गृह्यन्ते, न च गणधरदेवादयः । तैः छद्मस्थैरज्ञानिभिः शुद्धात्मोपदेशशून्यैर्ये दीक्षितास्तानि छद्मस्थविहितवस्तूनि भण्यन्ते । तत्पात्रसंसर्गेण यद्व्रतनियमाध्ययनदानादिकं करोति तदपि शुद्धात्मभावनानुकूलं न भवति, ततः कारणान्मोक्षं न लभते । सुदेवमनुष्यत्वं लभत इत्यर्थः ॥ २९४ ॥

अब, कारण की विपरीतता से,फल भी विपरीत होता है ; ऐसे उसी अर्थ को दृढ़ करते हैं—

व्रत नियम अध्ययन ध्यान दान जो विहित हैं छद्मस्थ से ।

जो लीन उनमें मोक्ष ना पा भाव सातात्मक लहे ॥ २९४ ॥

गाथार्थ— छद्मस्थ विहित (अज्ञानियों द्वारा व्यवस्थापित) वस्तुओं में व्रत, नियम, अध्ययन, ध्यान, दान रूप से लीन जीव,मोक्ष को प्राप्त नहीं करते,वरन् सातात्मक भाव को प्राप्त करते हैं ।

टीकार्थ— *ण लहदि*— प्राप्त नहीं करता है । कर्ता रूप वह कौन प्राप्त नहीं करता है ? *वदणियमज्झयणझाणदाणरदो*— व्रत, नियम, अध्ययन, ध्यान, दान में लीन जीव,प्राप्त नहीं करता है । किनके विषय में जिन व्रतादि में लीन होने पर भी नहीं पाता है ? *छदुमत्थविहिदवत्थुसु*— छद्मस्थ द्वारा विहित वस्तुओं में— अल्पज्ञानी पुरुष द्वारा व्यवस्थापित पात्रभूत वस्तुओं में,व्रतादि रूप में लीन होने पर भी, जीव नहीं पाता है । ऐसा पुरुष क्या नहीं पाता है ? *अपुणब्भावं*— अपुनर्भव शब्द से वाच्य मोक्ष,ऐसा पुरुष नहीं पाता है । मोक्ष नहीं पाता,तो क्या पाता है ? *भावं सादप्पगं लहदि*— सातात्मक भाव को पाता है । भाव शब्द से,यहाँ,सुदेव, सुमनुष्यत्व रूप पर्याय ग्रहण करनी चाहिये । वह पर्याय कैसी है ? वह पर्याय सातात्मक— सतावेदनीय के उदय रूप है ।

वह इसप्रकार— जो कोई निश्चय-व्यवहार रूप मोक्षमार्ग को नहीं जानते हैं, पुण्य को ही मुक्ति का कारण कहते हैं, यहाँ वे छद्मस्थ शब्द से ग्रहण किये गये हैं; गणधर देव आदि नहीं । उन शुद्धात्मा के उपदेश से रहित,छद्मस्थ अज्ञानियों से,जो दीक्षित हैं, वे छद्मस्थ-विहित (व्यवस्थापित) वस्तुयें कहलाती हैं । उन पात्रों के संसर्ग से जो व्रत, नियम, अध्ययन, ध्यान, दान आदि करते हैं, वे भी शुद्धात्मा की भावना के अनुकूल नहीं हैं, उस कारण वे मोक्ष प्राप्त नहीं करते हैं । सुदेव, सुमनुष्यत्व प्राप्त करते हैं— ऐसा अर्थ है ॥ २९४ ॥

अथ सम्यक्त्वव्रतरहितपात्रेषु भक्तानां कुदेवमनुजत्वं भवतीति प्रतिपादयति–

अविदिदपरमत्थेसु य विसयकसायाधिगेसु पुरिसेसु।(२५७)

जुट्ठं कदं व दत्तं फलदि कुदेवेसु मणुवेसु॥ २९५॥

फलदि फलति। केषु। *कुदेवेसु मणुवेसु* कुत्सितदेवेषु मनुजेषु। किं कर्तृ। *जुट्ठं* जुष्टं सेवा कृता, *कदं व* कृतं वा किमपि वैयावृत्त्यादिकम्, *दत्तं* दत्तं किमप्याहारादिकम्। केषु। *पुरिसेसु* पुरुषेषु पात्रेषु। किंविशिष्टेषु। *अविदिदपरमत्थेसु य* अविदितपरमार्थेषु च, परमात्मतत्त्वश्रद्धानज्ञानशून्येषु। पुनरपि किंरूपेषु। *विसयकसायाधिगेसु* विषयकषायाधिकेषु, विषयकषायाधीनत्वेन निर्विषयशुद्धात्मस्वरूपभावनारहितेषु इत्यर्थः॥ २९५॥

अथ तमेवार्थं प्रकारान्तरेण दृढयति–

जदि ते विसयकसाया पाव त्ति परूविदा व सत्थेसु।(२५८)

किह ते तप्पडिबद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति॥ २९६॥

अब, सम्यक्त्व और व्रत रहित पात्रों में भक्ति वाले जीवों के कुदेव, कुमनुष्यत्व होता है; ऐसा प्रतिपादन करते हैं–

परमार्थ है अज्ञात अधिक कषाय-विषयी जनों में।

कृत, दान व सेवा करे तो फले कुनर कुदेव में॥ २९५॥

गाथार्थ– परमार्थ को नहीं जानने वाले, विषय-कषायों में अधिक पुरुषों के प्रति की गई सेवा, उपकार या दान कुदेव या कुमनुष्य रूप में फलता है।

टीकार्थ– *फलदि*– फलता है। किस रूप में फलता है? ***कुदेवेसु मणुवेसु*–** कुत्सित देवों-मनुष्यों के रूप में फलता है। क्या करना फलता है? ***जुट्ठं*–** सेवा करना, ***कदं वा*–** कुछ भी वैयावृत्ति आदि करना, अथवा ***दत्तं*–** कुछ भी आहार आदि देना कुदेवादि रूप में फलता है। ये सब किनके प्रति करने से, इस रूप फलते हैं? ***पुरिसेसु*–** ये सब पुरुष रूप पात्रों के प्रति करने से, ऐसे फलते हैं। किस विशेषता वाले पुरुष-पात्रों में करने से फलते हैं? ***अविदिदपरमत्थेसु य*–** परमार्थ से अजानकार–परमात्मतत्त्व के श्रद्धान-ज्ञान से रहित पुरुषों में, करने से फलते हैं। और किस स्वरूप वाले पुरुषों में, करने से इस रूप में फलते हैं? ***विसयकसायाधिगेसु*–** विषय-कषायों में अधिक–विषय-कषायों के अधीन होने से, विषय-कषाय रहित शुद्धात्मस्वरूप की भावना से रहित पुरुषों में, ये सब करने से, वे कुदेवादि रूप में फलते हैं॥ २९५॥

अब, उसी अर्थ को दूसरे रूप में दृढ़ करते हैं–

यदि पाप विषय-कषाय हैं वे शास्त्र में ऐसा कहा।

तो लीन उनमें जो पुरुष वे कैसे हों निस्तारका?॥ २९६॥

गाथार्थ– क्योंकि वे विषय-कषाय पाप हैं– ऐसा शास्त्रों में कहा गया है, तो उनमें आसक्त पुरुष निस्तारक (पार करने वाले) कैसे हो सकते हैं?

जदि ते विसयकसाया पाव त्ति परूविदा व सत्थेसु यदि चेत् ते विषयकषाया: पापमिति प्ररूपिता: शास्त्रेषु, *किह ते तप्पडिबद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति* कथं ते तत्प्रतिबद्धा विषयकषायप्रतिबद्धा: पुरुषा निस्तारका: संसारोत्तारका दातॄणाम्, न कथमपीति।

एतदुक्तं भवति– विषयकषायास्तावत्पापस्वरूपास्तद्वन्त: पुरुषा अपि पापा एव, ते च स्वकीयभक्तानां दातॄणां पुण्यविनाशका एवेति ॥ २९६ ॥

अथ पात्रभूततपोधनलक्षणं कथयति–

उवरदपावो पुरिसो समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु।(२५९)

गुणसमिदिदोवसेवी हवदि स भागी सुमग्गस्स ॥ २९७ ॥

उपरतपापत्वेन, सर्वधार्मिकसमदर्शित्वेन, गुणग्रामसेवकत्वेन च स्वस्य मोक्षकारणत्वात्परेषां पुण्यकारणत्वाच्चेत्थंभूतगुणयुक्त: पुरुष: सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यलक्षणनिश्चयमोक्षमार्गस्य भाजनं भवतीति ॥ २९७ ॥

टीकार्थ– ***जदि ते विसयकसाया पाव त्ति परूविदा व सत्थेसु***– यदि वे विषय-कषाय पाप हैं– ऐसा शास्त्रों में कहा गया है,तो ***किह ते तप्पडिबद्धो पुरिसा णित्थारगा होंति***– वे तत्प्रतिबद्ध–विषयकषाय में प्रतिबद्ध–आसक्त पुरुष,निस्तारक–दाताओं को संसार से पार उतारने वाले,कैसे हो सकते हैं ? किसी प्रकार भी नहीं हो सकते हैं।

इससे यह कहा गया है कि सर्वप्रथम तो विषय-कषाय पाप स्वरूप हैं, उनसे सहित पुरुष भी पाप ही हैं और वे अपने भक्त दाताओं के पुण्य का विनाश करने वाले ही हैं ॥ २९६ ॥

अब, पात्रभूत मुनि का लक्षण कहते हैं–

हैं पाप विरहित सर्व धार्मिक जनों में समभाव युत।

गुणग्रामसेवि सुमार्ग के हैं पात्र वे नर गुणों युत ॥ २९७ ॥

गाथार्थ– पापों से रहित, सभी धार्मिकों में समभाव रखने वाले, गुण-समूह का सेवन करने वाले वे पुरुष, सुमार्ग के पात्र हैं।

टीकार्थ– पाप से रहित होने के कारण, सभी धार्मिकों को समता भाव से देखने वाले होने के कारण और गुण-समूह का सेवन करने वाले होने के कारण, स्वयं को मोक्ष का कारण होने से और दूसरों के पुण्य का कारण होने से– इसप्रकार के गुणों सहित पुरुष,सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप एकाग्रता लक्षण निश्चय मोक्षमार्ग के पात्र हैं ॥ २९७ ॥

अथ तेषामेव पात्रभूततपोधनानां प्रकारान्तरेण लक्षणमुपलक्षयति–

असुभोवयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा।(२६०)
णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो॥ २९८॥

शुद्धोपयोगशुभोपयोगपरिणतपुरुषाः पात्रं भवन्तीति। तद्यथा– निर्विकल्पसमाधिवलेन शुभाशुभोपयोगद्वयरहितकाले कदाचिद्वीतरागचारित्रलक्षणशुद्धोपयोगयुक्ताः, कदाचित्पुनर्मोहद्वेषाशुभरागरहितकाले सरागचारित्रलक्षणशुभोपयोगयुक्ताः सन्तो भव्यलोकं निस्तारयन्ति, तेषु च भक्तो भव्यवरपुण्डरीकः प्रशस्तफलभूतं स्वर्गं लभते, परंपरया मोक्षं चेति भावार्थः॥ २९८॥

एवं पात्रापात्रपरीक्षाकथनमुख्यतया गाथाषट्केन तृतीयस्थलं गतम्।

इत ऊर्ध्वं आचारकथितक्रमेण पूर्वं कथितमपि पुनरपि दृढीकरणार्थं विशेषेण तपोधनसमाचारं कथयति। अथाभ्यागततपोधनस्य दिनत्रयपर्यन्तं सामान्यप्रतिपत्तिं, तदनन्तरं विशेषप्रतिपत्तिं दर्शयति–

अब, उन्हीं पात्रभूत मुनिराजों का दूसरे रूप से लक्षण स्पष्ट करते हैं–

अशुभोपयोग रहित हैं शुध उपयोग या उपयोग शुभ।
वे तारते हैं, लोक को जो भक्त उनके लहें शुभ॥ २९८॥

गाथार्थ– जो अशुभोपयोग से रहित हैं तथा शुद्धोपयोग या शुभोपयोग से सहित हैं, वे लोगों के निस्तारक होते हैं– लोगों को पार कर देते हैं, उनके प्रति भक्ति रखने वाले जीव पुण्य प्राप्त करते हैं।

टीकार्थ– शुद्धोपयोग- शुभोपयोग परिणत पुरुष पात्र हैं। वह इसप्रकार– विकल्प रहित समाधि–स्वरूप-स्थिरता के बल से, शुभ-अशुभ दोनों उपयोगों से रहित समय में, कभी वीतराग-चारित्र लक्षण शुद्धोपयोग से सहित तथा कभी मोह-राग-द्वेष और अशुभराग से रहित समय में, सराग-चारित्र लक्षण शुभोपयोग से सहित होते हुये, भव्य जीवों को तारते हैं और उनके प्रति भक्ति वाले भव्यवरपुण्डरीक– भव्यों में श्रेष्ठ भक्त जन, प्रशस्त फलभूत स्वर्ग प्राप्त करते हैं और परम्परा से मोक्ष प्राप्त करते हैं– ऐसा भाव है॥२९८॥

इसप्रकार पात्र-अपात्र परीक्षा सम्बन्धी कथन की मुख्यता से छह गाथाओं द्वारा, तीसरा स्थल समाप्त हुआ।

(अब, आठ गाथाओं में निबद्ध, चौथा स्थल प्रारम्भ होता है)

इससे आगे, आचार शास्त्र में कहे गये क्रम से पहले कहा गया होने पर भी, फिर से दृढ़ करने के लिये विशेष रूप से मुनि का समाचार (परस्पर में विनयादि व्यवहार) कहते हैं।

दिट्ठा पगदं वत्थु अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं। (२६१)
वट्टदु तदो गुणादो विसेसिदव्वो त्ति उवदेसो ॥ २९९ ॥

वट्टदु वर्तताम्। स कः। अत्रत्य आचार्यः। किं कृत्वा। *दिट्ठा* दृष्ट्वा। किम्। *वत्थुं* तपोधनभूतं पात्रं वस्तु। किंविशिष्टम्। *पगदं* प्रकृतं अभ्यन्तरनिरुपरागशुद्धात्मभावनाज्ञापकबहिरंगनिर्ग्रन्थनिर्विकाररूपम्। काभिः कृत्वा वर्तताम्। *अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं* अभ्यागतयोग्याचारविहिताभिरभ्युत्थानादिक्रियाभिः। *तदो गुणादो* ततो दिनत्रयानन्तरं गुणाद्गुणविशेषात् *विसेसिदव्वो* तेन आचार्येण स तपोधनो रत्नत्रयभावनावृद्धिकारणक्रियाभिर्विशेषितव्यः *त्ति उवदेसो* इत्युपदेशः सर्वज्ञगणधरदेवादीनामिति ॥ २९९ ॥

अब, आये हुये मुनि के प्रति तीन दिन तक सामान्य विनय आदि तथा उसके बाद विशेष विनय आदि (व्यवहार) को दिखाते हैं—

वे प्रकृत वस्तु देख अभ्युत्थान आदि क्रिया से।
वर्तें पुनः उपदेश है ये विशेष करना गुणों से ॥ २९९ ॥

गाथार्थ– प्रकृत वस्तु (जिनका प्रकरण चल रहा है, ऐसी वस्तु—पात्र मुनि) को देखकर (हे श्रमण !) अभ्युत्थान आदि क्रियाओं से वर्तो, उसके बाद गुणानुसार भेद करना चाहिये— ऐसा उपदेश है।

टीकार्थ– ***वट्टदु***– वर्तें। वे कौन वर्तें ? यहाँ के आचार्य वर्तें। क्या करके वर्तें ? ***दिट्ठा***– वे देखकर वर्तें। किन्हें देखकर वर्तें ? ***वत्थुं***– मुनि रूप पात्र वस्तु को देखकर वर्तें। किस विशेषता वाले मुनि को देखकर वर्तें ? ***पगदं***– प्रकृत-अन्दर में वर्तने वाली उपराग (मलिनता) रहित शुद्धात्मा की भावना को बताने वाले, बाहर के निर्ग्रन्थ निर्विकार—विकार रहित दिगम्बर रूप को देखकर वर्तें। किस रूप से वर्तें ? ***अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं***– आये हुये मुनि के योग्य आचारशास्त्र में कही गई अभ्युत्थान—सम्मानार्थ खड़े होना इत्यादि क्रियाओं रूप से वर्तें। ***तदो गुणादो***– फिर तीन दिन बाद गुणों से—गुणों की विशेषता से ***विसेसिदव्वो***– उन आचार्य को, उन मुनि के प्रति रत्नत्रय रूप भावना की वृद्धि की कारणभूत क्रियाओं द्वारा, विशेष करना चाहिये— ऐसा सर्वज्ञ, गणधरदेवादि का उपदेश है।

भावार्थ– अन्दर में वर्तने वाली रागादि रहित शुद्धात्मा की भावना को बताने वाले, विकार रहित दिगम्बर रूपधारी मुनि रूप पात्र वस्तु को देखकर, यहाँ के आचार्य, मुनि के योग्य आचारशास्त्र में कही गई सम्मानार्थ खड़े होना आदि क्रियाओं रूप में वर्तें। फिर तीन दिन बाद गुणों की विशेषता से, रत्नत्रय रूप भावना की वृद्धि की कारणभूत क्रियाओं द्वारा, उन मुनि के प्रति उनकी भूमिकानुसार विशेष व्यवहार करना चाहिये— ऐसा सर्वज्ञ, गणधरदेवादि का उपदेश है।

विशेषार्थ– इस गाथा की अत्यन्त संक्षिप्त टीका 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने निम्न प्रकार लिखी है—

"मुनियों को आत्म-विशुद्धि की हेतुभूत प्रकृत वस्तु (आगत मुनि) में, उनके अनुकूल क्रिया की प्रवृत्ति से गुणों की अतिशयता का आरोपण निषिद्ध नहीं है।"[१] ॥ २९९ ॥

१- प्रवचनसार, गाथा २६१, तत्त्व प्रदीपिका टीका।

अथ तमेव विशेषं कथयति–

अब्भुट्ठाणं गहणं उवासणं पोसणं च सक्कारं ।(२६२)

अंजलिकरणं पणमं भणिदमिह गुणाधिगाणं हि ॥ ३०० ॥

भणिदं भणितं कथितं । *इह* अस्मिन्ग्रन्थे । केषां संबन्धी । *गुणाधिगाणं हि* गुणाधिकतपोधनानां हि स्फुटम् । किं भणितम् । *अब्भुट्ठाणं गहणं उवासणं पोसणं च सक्कारं अंजलिकरणं पणमं* अभ्युत्थान-ग्रहणोपासनपोषणसत्कारांजलिकरणप्रणामादिकम् । अभिमुखगमनमभ्युत्थानम्, ग्रहणं स्वीकारः, उपासनं शुद्धात्मभावनासहकारिकारणनिमित्तं सेवा, तदर्थमेवाशनशयनादिचिन्ता पोषणम् भेदाभेदरत्नत्रयगुणप्रकाशनं सत्कारः, बद्धांजलिनमस्कारोऽन्जलिकरणम्, नमोस्त्वितिवचनव्यापारः प्रणाम इति ॥ ३०० ॥

अथाभ्यागतानां तदेवाभ्युत्थानादिकं प्रकारान्तरेण निर्दिशति–

अब्भुट्ठेया समणा सुत्तत्थविसारदा उवासेया ।(२६३)

संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि समणेहिं ॥ ३०१ ॥

अब, उसे ही विशेष कहते हैं–

सत्कार अभ्युत्थान ग्रहण प्रणाम पोषण उपासन ।

ये कहे हैं गुण से अधिक के प्रति वा अंजलीकरण ॥ ३०० ॥

गाथार्थ– यहाँ गुणों में अधिक (मुनि) के प्रति,सम्मानार्थ खड़े होना, ग्रहण (आदर से स्वीकार करना), उपासन, पोषण, सत्कार, अंजलिकरण, प्रणाम करना कहा गया है ।

टीकार्थ– ***भणिदं***– कहा गया है । *इह*– इस ग्रन्थ में । यहाँ किनके सम्बन्ध में कहा गया है ? ***गुणाधिगाणं हि***– यहाँ वास्तव में गुणों में अधिक मुनियों के सम्बन्ध में कहा गया है । उनके सम्बन्ध में क्या कहा गया है ? ***अब्भुट्ठाणं गहणं उवासणं पोसणं च सक्कारं अंजलिकरणं पणमं***– खड़े होना, ग्रहण, उपासन, पोषण, सत्कार, अंजलिकरण, प्रणाम आदि उनके सम्बन्ध में,करने को कहा गया है । सामने जाना अभ्युत्थान है, स्वीकार करना ग्रहण है, शुद्धात्म-भावना के सहकारी कारण के हेतु से सेवा करना उपासन है, उसी के लिये भोजन-शयन आदि की चिन्ता करना पोषण है, भेदाभेद रत्नत्रय रूप गुण को प्रकाशित करना सत्कार है, अंजलि बाँधकर नमस्कार करना अंजलिकरण है, नमस्कार हो– ऐसा वचन बोलना प्रणाम है ॥ ३०० ॥

अब, आगत मुनिराजों के प्रति,उन्हीं अभ्युत्थान आदि को अन्य प्रकार से दिखाते हैं–

मुनि विशारद सूत्रार्थ संयम ज्ञान तप समृद्ध हैं ।

मुनियों से अभ्युत्थान सेवा वन्दना के योग्य हैं ॥ ३०१ ॥

गाथार्थ– मुनियों द्वारा,वास्तव में सूत्रार्थविशारद, संयम-तप-ज्ञान में समृद्ध श्रमण अभ्युत्थान, उपासन और प्रणाम करने योग्य हैं ।

अब्भुट्ठेया यद्यपि चारित्रगुणेनाधिका न भवन्ति, तपसा वा, तथापि सम्यग्ज्ञानगुणेन ज्येष्ठत्वाच्छ्रुतविनयार्थमभ्युत्थेयाः अभ्युत्थानयोग्या भवन्ति। के ते। *समणा* श्रमणा निर्ग्रन्थाचार्याः। किंविशिष्टाः। *सुत्तत्थविसारदा* विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मतत्त्वप्रभृत्यनेकान्तात्मकपदार्थेषु वीतरागसर्वज्ञप्रणीतमार्गेण प्रमाणनयनिक्षेपैर्विचार चतुरचेतसः सूत्रार्थविशारदाः। न केवलमभ्युत्थेयाः, *उवासेया* परमचिज्ज्योतिः परमात्मपदार्थपरिज्ञानार्थमुपासेयाः परमभक्तया सेवनीयाः। *संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि* संयमतपोज्ञानाढ्याः प्रणिपतनीयाः हि स्फुटं। बहिरंगेन्द्रियसंयमप्राणसंयमबलेनाभ्यन्तरे स्वशुद्धात्मनि यत्नपरत्वं संयमः। बहिरंगानशनादितपोबलेनाभ्यन्तरे परद्रव्येच्छानिरोधेन च स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं तपः। बहिरंगपरमागमाभ्यासेनाभ्यन्तरे स्वसंवेदनज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्। एवमुक्तलक्षणैः संयमतपोज्ञानैराढ्याः परिपूर्णा यथासंभवं प्रतिवन्दनीयाः। कैः। *समणेहिं* श्रमणैरिति।

अत्रेदं तात्पर्यम्– ये बहुश्रुता अपि चारित्राधिका न भवन्ति, तेऽपि परमागमाभ्यासनिमित्तं यथायोग्यं वन्दनीयाः। द्वितीयं च कारणम्– ते सम्यक्त्वे ज्ञाने च पूर्वमेव दृढतराः, अस्य तु नवतरतपोधनस्य सम्यक्त्वे ज्ञाने चापि दार्ढ्यं नास्ति।

तर्हि स्तोकचारित्राणां किमर्थमागमे वन्दनादिनिषेधः कृत इति चेत्। अतिप्रसंगनिषेधार्थमिति ॥ ३०१ ॥

टीकार्थ– *अब्भुट्ठेया*– यद्यपि चारित्र गुण से अधिक नहीं हैं, या तप से अधिक नहीं हैं, तो भी सम्यग्ज्ञान गुण की अपेक्षा ज्येष्ठ– अधिक होने से श्रुत की विनय के लिये, *वे* अभ्युत्थेय—अभ्युत्थान के योग्य–उठकर सम्मान आदि करने योग्य हैं। वे कौन उसके योग्य हैं ? ***समणा***– श्रमण—निर्ग्रन्थ आचार्य उसके योग्य हैं। वे निर्ग्रन्थ आचार्य किस विशेषता वाले हैं ? *सुत्तत्थविसारदा*– विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभावी परमात्मतत्त्व प्रभृति अनेकान्तात्मक पदार्थों में, वीतराग-सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग से प्रमाण-नय-निक्षेपों द्वारा विचार करने में चतुर चित्त वाले, सूत्रार्थ विशारद हैं। वे केवल अभ्युत्थान के ही योग्य नहीं हैं, वरन् *उवासेया*– परम चैतन्य ज्योति परमात्मपदार्थ के परिज्ञान के लिये, उपासना करने योग्य हैं— परम भक्ति से सेवा करने योग्य हैं। ***संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि***– वास्तव में वे संयम-तप-ज्ञान से समृद्ध श्रमण, वन्दना करने योग्य हैं। बाह्य में इन्द्रिय-संयम और प्राण-संयम के बल से, अन्दर अपने शुद्धात्मा में यत्नपरता संयम है। बाह्य में अनशन आदि तप के बल से और अन्दर में परद्रव्य की इच्छा के निरोध से, अपने स्वरूप में प्रतपन—विजयन तप है। बाह्य में परमागम के अभ्यास से, अन्दर में स्वसंवेदन ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। इसप्रकार कहे गये लक्षण वाले संयम-तप-ज्ञान से समृद्ध—परिपूर्ण श्रमण, यथासंभव प्रतिवन्दना करने योग्य हैं। वे किनके द्वारा अभ्युत्थान आदि करने योग्य हैं ? ***समणेहिं***– वे, श्रमणों द्वारा, अभ्युत्थान आदि करने योग्य हैं।

यहाँ तात्पर्य यह है— जो बहुश्रुत होने पर भी चारित्र में अधिक नहीं हैं, वे भी परमागम का अभ्यास करने के हेतु से, यथायोग्य वन्दना के योग्य हैं। उनके प्रति वन्दना करने का दूसरा भी कारण है— वे सम्यक्त्व और ज्ञान में पहले से ही दृढ़तर हैं, परन्तु इन नवीन मुनियों के सम्यक्त्व और ज्ञान में भी दृढ़ता नहीं है।

तव फिर थोड़े चारित्र वालों के प्रति आगम में वन्दना आदि का निषेध किसलिये किया गया है ? यदि ऐसा प्रश्न हो तो कहते हैं— अतिप्रसंग (सीमा के उल्लंघन) का निषेध करने के लिये आगम में इसका निषेध किया है।

विशेषार्थ– अपनी अति संक्षिप्त टीका में 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने श्रमणाभासों के प्रति ये सब प्रवृत्तियाँ निषिद्ध ही हैं— ऐसा लिखा है[१] ॥ ३०१ ॥

१· प्रवचनसार, गाथा २६३, तत्त्वप्रदीपिका टीका।

अथ शुभोपयोगिनां शुभप्रवृत्तिं दर्शयति–

वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती। (२४७)

समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रागचरियम्हि ॥ ३०२ ॥

ण णिंदिदा नैव निषिद्धा। क्व। *रागचरियम्हि* शुभरागचर्यायां सरागचारित्रावस्थायाम्। का न निन्दिता। *वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती* वन्दननमस्काराभ्यां सहाभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिप्रवृत्तिः। *समणेसु समावणओ* श्रमणेषु श्रमापनयः रत्नत्रयभावनाभिघातकश्रमस्य खेदस्य विनाश इति।

अनेन किमुक्तं भवति– शुद्धोपयोगसाधके शुभोपयोगे स्थितानां तपोधनानां इत्थंभूताः शुभोपयोग-प्रवृत्तयो रत्नत्रयाराधकशेषपुरुषेषु विषये युक्ता एव, विहिता एवेति ॥ ३०२ ॥

अथ श्रमणाभासः कीदृशो भवतीति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति–

ण हवदि समणो त्ति मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तो वि।(२६४)

जदि सद्दहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे ॥ ३०३ ॥

अब, शुभोपयोगियों की शुभप्रवृत्ति दिखाते हैं–

श्रमणों के प्रति वन्दन नमन अनुगमन अभ्युत्थान है।

प्रतिपत्ति श्रमवारण न रागदशा में निन्दा योग्य है ॥ ३०२ ॥

गाथार्थ– श्रमणों के प्रति वन्दन, नमस्कार सहित अभ्युत्थान, अनुगमन रूप विनीत प्रवृत्ति, श्रम को दूर करना आदि राग चर्या में निन्दित नहीं है।

टीकार्थ– ***ण णिंदिदा***– निषिद्ध नहीं हैं। किसमें निषिद्ध नहीं हैं ? ***रागचरियम्हि***– शुभ राग चर्या में–सराग चारित्र अवस्था में निषिद्ध नहीं हैं। क्या निन्दित नहीं हैं ? ***वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगम-णपडिवत्ती***– वन्दन-नमस्कार के साथ अभ्युत्थान, अनुगमन रूप विनीत प्रवृत्ति, निन्दित नहीं है। ***समणेसु समावणओ***– श्रमणों में श्रम को दूर करना–रत्नत्रयरूप भावना को नष्ट करने वाले श्रम–खेद को नष्ट करना, निन्दित नहीं है।

इससे क्या कहा गया है–शुद्धोपयोग के साधक शुभोपयोग में स्थित मुनिराजों को, रत्नत्रय की आराधना करने वाले शेष पुरुषों के विषय में, इसप्रकार की शुभोपयोग रूप प्रवृत्तियाँ युक्त ही हैं–योग्य ही हैं ॥ ३०२ ॥

अब, श्रमणाभास कैसे होते हैं ? ऐसा प्रश्न पूछने पर उत्तर देते हैं–

हो सूत्र संयम तप सहित पर यदि करे श्रद्धान ना।

जिन कथित आत्मप्रधान अर्थों का तो माना श्रमण ना ॥ ३०३ ॥

गाथार्थ– संयम, तप और सूत्र से सहित होने पर भी, यदि जिनेन्द्र भगवान कथित आत्म-प्रधान अर्थों का श्रद्धान नहीं करता है, तो वह श्रमण नहीं है– ऐसा माना गया है।

ण हवदि समणो स श्रमणो न भवति *त्ति मदो* इति मत: सम्मत: । क्व । आगमे । कथंभूतोऽपि । *संजमतवसुत्तसंपजुत्तो वि* संयमतप:श्रुतै: संप्रयुक्तोऽपि सहितोऽपि । यदि किम् । *जदि सद्दहदि ण* यदि चेन्मूढत्रयादिपंचविंशतिसम्यक्त्वमलसहित: सन् न श्रद्धत्ते, न रोचते, न मन्यते । कान् । *अत्थे* पदार्थान् । कथंभूतान् । *आदपधाणे* निर्दोषिपरमात्मप्रभृतीन् । पुनरपि कथंभूतान् । *जिणक्खादे* वीतरागसर्वज्ञ-जिनेश्वरेणाख्यातान्, दिव्यध्वनिना प्रणीतान् , गणधरदेवैर्ग्रन्थविरचितानित्यर्थ: ॥ ३०३ ॥

अथ मार्गस्थश्रमणदूषणे दोषं दर्शयति–

अववददि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि ।(२६५)

किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो णट्ठचारित्तो ॥ ३०४ ॥

टीकार्थ– ***ण हवदि समणो***– वह श्रमण नहीं है, ***त्ति मदो***– ऐसा माना गया है– स्वीकार किया गया है । ऐसा कहाँ माना गया है ? ऐसा आगम में माना गया है । कैसा होने पर भी वह मुनि नहीं है ? ***संजमतवसुत्तसंपजुत्तो वि***– संयम, तप, श्रुत से सहित होने पर भी वह मुनि नहीं है । ***जदि सद्दहदि ण***– यदि सम्यक्त्व के तीन मूढ़ता आदि पच्चीस मल–दोषों सहित होता हुआ श्रद्धान नहीं करता है, रुचि नहीं करता है, मानता नहीं है, तो वह मुनि नहीं है । किनका श्रद्धान नहीं करता है ? ***अत्थे***– पदार्थों का श्रद्धान नहीं करता है । कैसे पदार्थों का श्रद्धान नहीं करता है ? ***आदपधाणे***– दोष रहित परमात्मा प्रधान पदार्थों का श्रद्धान नहीं करता है । और कैसे पदार्थों का श्रद्धान नहीं करता है ? ***जिणक्खादे***– वीतराग-सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रसिद्ध किये गये,दिव्यध्वनि द्वारा कहे गये, गणधर देवों द्वारा ग्रन्थों में लिखे गये,आत्मा प्रधान पदार्थों का श्रद्धान नहीं करता है, तो मुनि नहीं है– ऐसा अर्थ है ।

भावार्थ– जो संयम, तप, श्रुत से सहित होने पर भी,वीतरागी सर्वज्ञ भगवान द्वारा प्रसिद्ध किये गये, दिव्यध्वनि द्वारा कहे गये, गणधर देवों द्वारा ग्रन्थों में गूँथे गये, दोष रहित परमात्मपदार्थ प्रधान पदार्थों का,यदि सम्यक्त्व के तीन मूढ़ता आदि पच्चीस दोषों से सहित होता हुआ,श्रद्धान नहीं करता है, रुचि नहीं करता है, मानता नहीं है, तो वह मुनि नहीं है– ऐसा आगम में स्वीकार किया गया है ॥ ३०३ ॥

अब,(रत्नत्रय) मार्ग में स्थित मुनि पर दोष लगाने में,दोष (बुराई) दिखाते हैं–

अपवाद करता शासनस्थ श्रमण को देख प्रद्वेष से ।

क्रियाओं में अनुमत न जो वह नष्ट चारित्र इसी से ॥ ३०४ ॥

गाथार्थ– जो वास्तव में शासनस्थ श्रमण को देखकर,द्वेष से उनका अपवाद करता है, (सत्कारादि) क्रियाओं में अनुमत (प्रसन्नादि) नहीं है ; वह नष्ट चारित्र है (चारित्र को नष्ट करता है) ।

अववददि अपवदति दूषयत्यप वादं करोति। स कः। *जो हि* यः कर्ता हि स्फुटम्। कम्। *समणं* श्रमणं तपोधनम्। कथंभूतम्। *सासणत्थं* शासनस्थं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गस्थम्। कस्मात्। *पदोसदो* निर्दोषिपरमात्मभावनाविलक्षणात् प्रद्वेषात्कषायात्। किं कृत्वा पूर्वम्। *दिट्ठा* दृष्ट्वा। न केवलं अपवदति, *णाणुमण्णदि* नानुमन्यते। कासु विषयासु। *किरियासु* यथायोग्यं वन्दनादिक्रियासु। *हवदि हि सो* भवति हि स्फुटं सः। किंविशिष्टः। *णट्ठचारित्तो* कथंचिदतिप्रसंगान्नष्टचारित्रो भवतीति।

तथाहि–मार्गस्थतपोधनं दृष्ट्वा यदि कथंचिन्मात्सर्यवशाद्दोषग्रहणं करोति तदा चारित्रभ्रष्टो भवति स्फुटं; पश्चादात्मनिन्दां कृत्वा निवर्तते तदा दोषो नास्ति, कालान्तरे वा निवर्तते तथापि दोषो नास्ति। यदि पुनस्तत्रैवानुबन्धं कृत्वा तीव्रकषायवशादतिप्रसंगं करोति तदा चारित्रभ्रष्टो भवतीति।

अयमत्र भावार्थः– बहुश्रुतैरल्पश्रुततपोधनानां दोषो न ग्राह्यस्तैरपि तपोधनैः किमपि पाठमात्रं गृहीत्वा तेषां दोषो न ग्राह्यः, किंतु किमपि सारपदं गृहीत्वा स्वयं भावनैव कर्तव्या। कस्मादिति चेत्। रागद्वेषोत्पत्तौ सत्यां बहुश्रुतानां श्रुतफलं नास्ति, तपोधनानां तपः फलं चेति॥ ३०४॥

टीकार्थ– *अववददि*– बुरा बोलता है–दोष देता है–अपवाद करता है। वह कौन दोष देता है ? *जो हि*– कर्ता रूप जो वास्तव में। किन्हें दोष देता है ? *समणं*– श्रमण–मुनि को दोष देता है। कैसे श्रमण को दोष देता है ? *सासणत्थं*– शासनस्थ–निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग में स्थित श्रमण को,दोष देता है। उन्हें क्यों दोष देता है ? *पदोसदो*– दोष रहित परमात्मा की भावना से विलक्षण,प्रद्वेष-कषाय से दोष देता है। पहले क्या कर दोष देता है ? *दिट्ठा*– उन्हें देखकर दोष देता है। मात्र दोष ही नहीं देता है, वरन् *णाणुमण्णदि*– उन्हें स्वीकार भी नहीं करता है। किन विषयों में उन्हें स्वीकार नहीं करता है ? *किरियासु*– यथायोग्य वन्दना आदि क्रियाओं में,उन्हें स्वीकार नहीं करता है। *हवदि हि सो*– वह स्पष्ट रूप से होता है। वह किस विशेषता वाला होता है ? *णट्ठचारित्तो*– कथंचित् अति प्रसंग से,नष्ट चारित्र होता है (अपने चारित्र को नष्ट करता है)।

वह इसप्रकार– रत्नत्रय रूप मार्ग में स्थित मुनि को देखकर,यदि कथंचित् मात्सर्यवश (ईर्ष्यावश) दोष ग्रहण करता है,तो स्पष्ट चारित्र से भ्रष्ट होता है, बाद में आत्मनिन्दा करके,यदि निवृत्त हो जाता है– ईर्ष्यावश अपवाद करना छोड़ देता है, तो दोष नहीं है ; यदि कुछ समय बाद छोड़ता है, तो भी दोष नहीं है। तथा यदि वहाँ ही अनुबन्ध कर,तीव्र कषाय के कारण अतिप्रसंग करता है (बार-बार वही करता है), तो चारित्र से भ्रष्ट होता है।

यहाँ भाव यह है– बहुश्रुतों को,अल्पश्रुत मुनियों का दोष-ग्रहण नहीं करना चाहिये, उन मुनियों को भी कुछ भी पाठ मात्र ग्रहण कर,उनका दोष-ग्रहण नहीं करना चाहिये, किन्तु कुछ भी सारपद ग्रहण कर अपनी भावना ही करना चाहिये। परस्पर दोष-ग्रहण क्यों नहीं करना चाहिये। राग-द्वेष की उत्पत्ति होने पर बहुश्रुतों को श्रुत का फल नहीं है, तथा तपस्वियों को तप का फल नहीं है ; अतः परस्पर दोष-ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥३०४॥

अथ स्वयं गुणहीनः सन् परेषां गुणाधिकानां योऽसौ विनयं वांछति, तस्य गुणविनाशं दर्शयति–

गुणदोधिगस्स विणयं पडिच्छगो जो वि होमि समणो त्ति ।(२६६)
होज्जं गुणाधरो जदि सो होदि अणंतसंसारी ॥ ३०५ ॥

सो होदि अणंतसंसारी स कथंचिदनन्तसंसारी संभवति । यः किं करोति । *पडिच्छगो जो दु* प्रत्येषको यस्तु, अभिलाषकोऽपेक्षक इति । कम् । *विणयं* वन्दनादिविनयम् । कस्य सम्बन्धिनम् । *गुणदोधिगस्स* बाह्याभ्यन्तररत्नत्रयगुणाभ्यामधिकस्यान्यतपोधनस्य । केन कृत्वा । *होमि समणो त्ति* अहमपि श्रमणो भवामीत्यभिमानेन गर्वेण । यदि किम् । *होज्जं गुणाधरो जदि* निश्चयव्यवहाररत्नत्रयगुणाभ्यां हीनः स्वयं यदि चेद्भवतीति ।

अयमत्रार्थः– यदि चेद्गुणाधिकेभ्यः सकाशाद्गर्वेण पूर्वं विनयवाञ्छां करोति, पश्चाद्विवेकबलेनात्मनिन्दां करोति, तदानन्तसंसारी न भवति । यदि पुनस्तत्रैवं मिथ्याभिमानेन ख्यातिपूजालाभार्थं दुराग्रहं करोति तदा भवति । अथवा यदि कालान्तरेऽप्यात्मनिन्दां करोति तथापि न भवतीति ॥ ३०५ ॥

अब, जो वह स्वयं गुणहीन होता हुआ, दूसरे अधिक गुणवालों से विनय चाहता है, उसके गुणों का विनाश दिखाते हैं–

'हूँ मैं श्रमण' ये मान, फिर भी हीन हैं जो गुणों में ।
चाहें गुणाधिक से विनय, वे नन्त संसारी बनें ॥ ३०५ ॥

गाथार्थ– जो हीनगुणवाला होने पर भी 'मैं भी श्रमण हूँ'– ऐसा मानकर, गुणों में अधिक से विनय चाहता है (उनसे अपनी विनय कराना चाहता है), वह अनन्त संसारी होता है ।

टीकार्थ– ***सो होदि अणंतसंसारी***– वह कथंचित् अनन्त संसारी होता है । जो क्या करता है ? ***पडिच्छगो जो दु***– जो चाहने वाला है, अभिलाषक है–अपेक्षक है । क्या चाहने वाला है ? ***विणयं***–वन्दना आदि विनय चाहने वाला है । किससे विनय चाहने वाला है ? ***गुणदोधिगस्स***– बहिरंग-अन्तरंग रत्नत्रयरूप गुणों से अधिक दूसरे मुनि से विनय चाहता है । किस कारण वह अपनी विनय कराना चाहता है ? ***होमि समणो त्ति***– "मै भी मुनि हूँ"– इस अभिमान–गर्व से विनय चाहता है । यदि कैसा है, तो भी विनय चाहता है ? ***होज्जं गुणाधरो जदि***– यदि स्वयं निश्चय-व्यवहार रत्नत्रयरूप गुणों से हीन है, तो भी उनसे विनय चाहता है ; तो अनन्त संसारी होता है ।

यहाँ अर्थ यह है– यदि पहले अभिमान के कारण, अधिक गुणवालों से विनय की इच्छा करता है, परन्तु बाद में विवेक बल से आत्म-निन्दा करता है, तो अनन्त संसारी नहीं होता है । परन्तु वहाँ ही मिथ्या अभिमान से प्रसिद्धि, पूजा, लाभ के लिये दुराग्रह करता है ; तो वैसा (अनन्त संसारी) होता है । अथवा यदि कुछ समय बाद भी आत्मनिंदा करता है, तो भी वैसा (अनन्त संसारी) नहीं होता है[१] ॥ ३०५ ॥

१- एतदर्थ दर्शनपाहुड़, गाथा १२ भी द्रष्टव्य है ।

अथ स्वयमधिकगुणाः सन्तो यदि गुणाधरैः सह वन्दनादिक्रियासु वर्तन्ते तदा गुणविनाशं दर्शयति –

अधिगगुणा सामण्णे वट्टंति गुणाधरेहिं किरियासु ।(२६७)
जदि ते मिच्छुवजुत्ता हवंति पब्भट्ठचारित्ता ॥ ३०६ ॥

वट्टंति वर्तन्ते प्रवर्तन्ते *जदि* यदि चेत् । क्व वर्तन्ते । *किरियासु* वन्दनादिक्रियासु । कैः सह । *गुणाधरेहिं* गुणाधरैर्गुणरहितैः । स्वयं कथंभूताः सन्तः । *अधिगगुणा* अधिकगुणाः । क्व । *सामण्णे* श्रामण्ये चारित्रे । *ते मिच्छत्तपउत्ता हवंति* ते कथंचिदतिप्रसंगान्मिथ्यात्वप्रयुक्ता भवन्ति । न केवलं मिथ्यात्वप्रयुक्ताः, *पब्भट्ठचारित्ता* प्रभ्रष्टचारित्राश्च भवन्ति ।

तथाहि - यदि बहुश्रुतानां पार्श्वे ज्ञानादिगुणवृद्ध्यर्थं स्वयं चारित्रगुणाधिका अपि वन्दनादिक्रियासु वर्तन्ते तदा दोषो नास्ति । यदि पुनः केवलं ख्यातिपूजालाभार्थं वर्तन्ते तदातिप्रसंगाद्दोषो भवति ।

इदमत्र तात्पर्यम् - वन्दनादिक्रियासु वा तत्त्वविचारादौ वा यत्र रागद्वेषोत्पत्तिर्भवति तत्र सर्वत्र दोष एव ।

ननु भवदीयकल्पनेयमागमे तथा नास्ति । नैवम्, आगमः सर्वोऽपि रागद्वेषपरिहारार्थं एव, परं किंतु ये केचनोत्सर्गापवादरूपेणागमनयविभागं न जानन्ति त एव रागद्वेषौ कुर्वन्ति, न चान्य इति ॥ ३०६ ॥

अब, स्वयं अधिक गुणवाले होने पर भी, यदि हीन गुणवालों के साथ, वन्दना आदि क्रियाओं में वर्तते हैं, तो गुणों का विनाश (होता है ; यह) दिखाते हैं —

श्रामण्य में हों अधिक गुण पर कम गुणी की क्रिया में ।
वर्तें तो मिथ्या सहित वे चारित्र से भी भ्रष्ट हैं ॥ ३०६ ॥

गाथार्थ - श्रामण्य में अधिक गुणों वाले, यदि हीन गुणवालों के साथ, क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं, तो वे मिथ्या उपयुक्त — मिथ्यात्व सहित होते हुये, चारित्र से भ्रष्ट होते हैं ।

टीकार्थ- ***वट्टंति*** - वर्तते हैं — प्रवृत्ति करते हैं, ***जदि***- यदि तो । कहाँ प्रवृत्ति करते हैं ? ***किरियासु***- वन्दना आदि क्रियाओं में प्रवृत्ति करते हैं । किनके साथ इन क्रियाओं में प्रवृत्ति करते हैं ? ***गुणाधरेहिं***- गुणों में नीचे—गुणों से रहित के साथ प्रवृत्ति करते हैं । स्वयं कैसे होते हुये, इनके साथ प्रवृत्ति करते हैं ? ***अधिगगुणा***- स्वयं अधिक गुणी होते हुये भी, इनके साथ प्रवृत्ति करते हैं । वे किसमें अधिक गुणी हैं ? ***सामण्णे***- चारित्र में वे अधिक गुणी हैं । ***ते मिच्छत्तपउत्ता हवंति***- वे कथंचित् अतिप्रसंग से, मिथ्यात्व सहित होते हैं । मात्र मिथ्यात्व सहित ही नहीं होते, वरन् ***पब्भट्ठचरित्ता***- चारित्र-भ्रष्ट होते हैं ।

वह इसप्रकार — स्वयं चारित्रगुण में अधिक भी, यदि ज्ञानादि गुणों की वृद्धि के लिये, बहुश्रुतों के पास वन्दना आदि क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं, तो दोष नहीं है । परन्तु यदि, मात्र प्रसिद्धि, पूजा, लाभ के लिये उनमें प्रवृत्ति करते हैं ; तो अतिप्रसंग से दोष होता है ।

यहाँ तात्पर्य यह है— वन्दनादि क्रियाओं में या तत्त्वविचार आदि में जहाँ राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, वहाँ सब जगह दोष ही है ।

यहाँ कोई कहता है— यह आपकी कल्पना है, आगम में वैसा नहीं है । आचार्य कहते हैं— ऐसा नहीं है, सभी आगम राग-द्वेष को दूर करने के लिये ही हैं ; किन्तु जो कोई उत्सर्ग-अपवाद रूप से आगम सम्बन्धी नय-विभाग को नहीं जानते हैं, वे ही रागद्वेष करते हैं ; और दूसरे नहीं ।[1] ॥ ३०६ ॥

१- एतदर्थ दर्शनपाहुड, गाथा १३ भी द्रष्टव्य है ।

अत्राह शिष्यः– अपवादव्याख्यानप्रस्तावे शुभोपयोगो व्याख्यातः, पुनरपि किमर्थं अत्र व्याख्यानं कृतमिति । परिहारमाह-युक्तमिदं भवदीयवचनं, किंतु तत्र सर्वत्यागलक्षणोत्सर्गव्याख्याने कृते सति तत्रासमर्थतपोधनैः कालापेक्षया किमपि ज्ञानसंयमशौचोपकरणादिकं ग्राह्यमित्यपवादव्याख्यानमेव मुख्यम् । अत्र तु यथा भेदनयेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपश्चरणरूपा चतुर्विधाराधना भवति, सैवाभेदनयेन सम्यक्त्व-चारित्ररूपेण द्विधा भवति, तत्राप्यभेदविवक्षया पुनरेकैव वीतरागचारित्राराधना, तथा भेदनयेन सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानसम्यक्चारित्ररूपस्त्रिविधमोक्षमार्गो भवति, स एवाभेदनयेन श्रामण्यापरमोक्षमार्गनामा पुनरेक एव, स चाभेदरूपो मुख्यवृत्त्या *'एयग्गगदो समणो'* इत्यादिचतुर्दशगाथाभिः पूर्वमेव व्याख्यातः । अयं तु भेदरूपो मुख्यवृत्त्या शुभोपयोगरूपेणेदानीं व्याख्यातो, नास्ति पुनरुक्तदोष इति ।

एवं समाचारविशेषविवरणरूपेण चतुर्थस्थले गाथाष्टकं गतम् ।

इतः परं पंचमस्थले संक्षेपेण संसारस्वरूपस्य मोक्षस्वरूपस्य च प्रतीत्यर्थं पंचरत्नभूतगाथापंचकेन व्याख्यानं करोति ।

तद्यथा –

अथ संसारस्वरूपं प्रकटयति –

जे अजधागहिदत्था एदे तच्च त्ति णिच्छिदा समये । (२७१)

अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं ॥ ३०७ ॥

यहाँ शिष्य कहता है— अपवाद व्याख्यान के प्रंसग में शुभोपयोग का व्याख्यान किया था, यहाँ फिर से किसलिये व्याख्यान किया है ? आचार्य निराकरण करते हुये कहते हैं— आपका यह वचन उचित है ; किन्तु वहाँ सम्पूर्ण त्याग लक्षण उत्सर्ग व्याख्यान किये जाने पर,उसमें असमर्थ मुनियों को समय की अपेक्षा, कुछ ज्ञान, संयम, शौच के उपकरण आदि ग्रहण करना उचित हैं— इसप्रकार अपवाद व्याख्यान ही मुख्य है । यहाँ तो,जैसे भेदनय से सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपश्चरणरूप चार प्रकार की आराधनायें हैं, वे ही अभेदनय से सम्यक्त्व और चारित्ररूप से दो प्रकार की हैं, उनमें भी अभेद विवक्षा से पुनः एक ही वीतरागचारित्र आराधना है ; उसीप्रकार भेदनय से सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूप तीनप्रकार का मोक्षमार्ग है,वही अभेदनय से श्रामण्य अपर नाम मोक्षमार्गरूप से एक ही है, और वह अभेदरूप मुख्यवृत्ति से *'एयग्गगदो समणो -'* इत्यादि चौदह गाथाओं द्वारा,पहले ही विशेषरूप से कहा गया है । तथा यह भेदरूप मुख्य वृत्ति द्वारा,शुभोपयोगरूप से अब कहा गया है ; अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है ।

इसप्रकार समाचार (पारस्परिक विनयादि आचार) के विशेष कथनरूप से चौथे स्थल में आठ गाथायें पूर्ण हुईं ॥

अब, आगे पाँचवे स्थल में संक्षेप से,संसारस्वरूप और मोक्षस्वरूप की प्रतीति के लिये,पाँच रत्नरूप पाँच गाथाओं द्वारा व्याख्यान करते हैं—

वह इसप्रकार —

अब, संसारस्वरूप प्रकट करते हैं —

अयथार्थ ग्रहते 'समय में ये तत्त्व' ऐसा मानते ।

अत्यन्त फल समृद्ध काल अनन्त तक वे घूमते ॥ ३०७ ॥

गाथार्थ— जो अयथार्थ पदार्थों को ग्रहण करते हुये,समय (आगम) में 'ये ही तत्त्व हैं'— ऐसा निश्चित करते हैं ; वे अत्यन्तफलसमृद्ध होते हुये,अनन्तकाल तक संसार में घूमते हैं ।

जे अजधागहिदत्था वीतरागसर्वज्ञप्रणीतनिश्चयव्यवहाररत्नत्रयार्थपरिज्ञानाभावात् येऽयथागृहीतार्था: विपरीतगृहीतार्था: । पुनरपि कथंभूता: । *एदे तच्च त्ति णिच्छिदा* एते तत्त्वमिति निश्चिता:, एते ये मया कल्पिता: पदार्थास्त एव तत्त्वमिति निश्चिता:, निश्चयं कृतवन्त: । क्व स्थित्वा । *समये* निर्ग्रन्थरूपद्रव्यसमये । *अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं* अत्यन्तफलसमृद्धं भ्रमन्ति ते अत: परं कालम् । द्रव्यक्षेत्रकालभवभावपंचप्रकारसंसारपरिभ्रमणरहितशुद्धात्मस्वरूपभावनाच्युता: सन्त: परिभ्रमन्ति । कम् । परं कालं अनन्तकालम् । कथंभूतम् । नारकादिदु:खरूपात्यन्तफलसमृद्धम् । पुनरपि कथंभूतम् । अतो वर्तमानकालात्परं भाविनमिति ।

अयमत्रार्थ: – इत्थंभूतसंसारपरिभ्रमणपरिणतपुरुषा एवाभेदेन संसारस्वरूपं ज्ञातव्यमिति ॥ ३०७ ॥

अथ मोक्षस्वरूपं प्रकाशयति –

अजधाचारविजुत्तो जधत्थपदणिच्छिदो पसंतप्पा ।(२७२)

अफले चिरं ण जीवदि इह सो संपुण्णसामण्णो ॥ ३०८ ॥

टीकार्थ- *जे अजधागहिदत्था-* वीतराग-सर्वज्ञ प्रणीत, निश्चय-व्यवहार रत्नत्रयरूप भाव की जानकारी का अभाव होने से, जो पदार्थों को अन्यथा ग्रहण करनेवाले — विपरीत ग्रहण करनेवाले हैं । और जो कैसे हैं ? *एदे तच्च त्ति णिच्छिदा-* ये तत्त्व हैं, —ऐसा निश्चय करनेवाले हैं, ये जो मेरे द्वारा कल्पित पदार्थ हैं, वे ही तत्त्व हैं — ऐसा निश्चय करनेवाले हैं । कहाँ स्थित होकर ऐसा निश्चित करनेवाले हैं ? ***समये-*** निर्ग्रन्थ रूप द्रव्यसमय में स्थित होकर, ऐसा निश्चय करनेवाले हैं । ***अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं-*** वे अत्यन्त फलसमृद्ध हो, अनन्त काल तक घूमते हैं । द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव रूप पाँच प्रकार के संसार परिभ्रमण से रहित, शुद्धात्मस्वरूप की भावना से, च्युत — भ्रष्ट होते हुये घूमते हैं । कब तक घूमते हैं ? परकाल—अनन्तकाल तक घूमते हैं । कैसे घूमते हैं ? नारक आदि दु:खरूप अत्यन्त फलसमृद्ध होते हुये, घूमते हैं । और कैसे (कब तक) घूमते हैं ? इस वर्तमानकाल से आगे भविष्य तक घूमते हैं ।

यहाँ अर्थ यह है— इसप्रकार संसार-परिभ्रमणरूप परिणत पुरुष ही, अभेदरूप से संसारस्वरूप जानना चाहिये ॥ ३०७ ॥

अब, मोक्ष का स्वरूप प्रकाशित करते हैं —

हैं यथाचार सहित प्रशान्तात्मा यथार्थ पद निश्चयी ।

सम्पूर्ण श्रामण्य सहित वे फल बिन यहाँ रहते नहीं ॥ ३०८ ॥

गाथार्थ - अयथाचार (अन्यथा आचरण) से रहित, यथार्थपद का निश्चय करनेवाले, प्रशान्तात्मा और परिपूर्ण श्रामण्य सहित वे जीव, इस संसार में, फल रहित होने से, चिरकाल तक नहीं रहते हैं ।

अजधाचारविजुत्तो निश्चयव्यवहारपंचाचारभावनापरिणतत्वादयथाचारवियुक्तः, विपरीताचाररहित इत्यर्थः, *जधत्थपदणिच्छिदो* सहजानन्दैकस्वभावनिजपरमात्मादिपदार्थपरिज्ञानसहितत्वाद्यथार्थपदनिश्चितः, *पसंतप्पा* विशिष्टपरमोपशमभावपरिणतनिजात्मद्रव्यभावनासहितत्वात्प्रशान्तात्मा, *जो* यः कर्ता *सो संपुण्णसामण्णो* स संपूर्णश्रामण्यः सन् *चिरं ण जीवदि* चिरं बहुतरकालं न जीवति, न तिष्ठति। क्व। *अफले इह* शुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरसास्वादरहितत्वेनाफले फलरहिते इह अस्मिन् संसारे। किन्तु शीघ्रं मोक्षं गच्छतीति।

अयमत्र भावार्थः – इत्थंभूतमोक्षतत्त्वपरिणतपुरुष एवाभेदेन मोक्षस्वरूपं ज्ञातव्यमिति ॥ ३०८ ॥

अथ मोक्षकारणमाख्याति –

सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं ।(२७३)

विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्धा त्ति णिद्दिट्ठा ॥ ३०९ ॥

सम्मं विदिदपदत्था संशयविपर्ययानध्यवसायरहितानन्तज्ञानादिस्वभावनिजपरमात्मपदार्थप्रभृतिसमस्तवस्तुविचारचतुरचित्तचातुर्यप्रकाशमानसातिशयपरमविवेकज्योतिषा सम्यग्विदितपदार्थाः । पुनरपि किंरूपाः । *विसयेसु णावसत्ता* पंचेन्द्रियविषयाधीनरहितत्वेन निजात्मतत्त्वभावनारूपपरमसमाधिसंजातपरमानन्दैकलक्षण-

---

टीकार्थ– *अजधाचारविजुत्तो*- निश्चय-व्यवहार पंचाचाररूप भावना से परिणत होने के कारण, अयथाचारवियुक्त—विपरीत आचार से रहित हैं— ऐसा अर्थ है; *जधत्थपदणिच्छिदो* –सहज आनन्द एक स्वभावी अपने परमात्मा आदि पदार्थों के परिज्ञान से सहित होने के कारण,यथार्थपदों के निश्चय से सहित हैं; *पसंतप्पा* - विशिष्टरूप से उत्कृष्ट उपशम भावरूप परिणत अपने आत्मद्रव्य की भावना से सहित होने के कारण,प्रशान्तात्मा हैं; *जो* - कर्तारूप जो *सो संपुण्णसामण्णो*– वे सम्पूर्ण श्रामण्य होते हुये *चिरं ण जीवदि* - चिर—बहुत कालतक नहीं जीते हैं—नहीं रहते हैं । कहाँ नहीं रहते हैं ? *अफले इह*– शुद्धात्मा के संवेदन से उत्पन्न सुखरूपी अमृतरस के आस्वाद से रहित होने के कारण अफल — फल रहित यहाँ — इस संसार में नहीं रहते हैं, अपितु शीघ्र मोक्ष जाते हैं ।

यहाँ भाव यह है— इसप्रकार मोक्षतत्त्व परिणत पुरुष ही अभेदनय से मोक्षस्वरूप जानना चाहिये ॥३०८ ॥

अब, मोक्ष का कारण प्रसिद्ध करते हैं —

जो पदार्थों को जान सम्यक् बाह्य अन्तर संग का ।

कर त्याग,ना आसक्त विषयों में,उन्हें है शुद्ध कहा ॥ ३०९ ॥

गाथार्थ - अच्छी तरह पदार्थों को जानने वाले जो,बहिरंग-अन्तरंग परिग्रह को छोड़कर, विषयों में आसक्त नहीं हैं ; वे शुद्ध कहे गये हैं ।

टीकार्थ - *सम्मं विदिदपदत्था*– संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय से रहित,अनन्त ज्ञानादि स्वभाव (वाले) अपने परमात्मपदार्थ प्रभृति सम्पूर्ण वस्तुओं का विचार करने में चतुर चित्त की चतुरता से,प्रकाशमान अतिशय सहित उत्कृष्ट विवेक ज्योति द्वारा,अच्छी तरह से पदार्थों को जानने वाले हैं । और वे किस रूप हैं ? *विसयेसु णावसत्ता*- पंचेन्द्रिय विषयों की अधीनता से रहित होने के कारण,अपने आत्म - तत्त्व की भावना

सुखसुधारसास्वादानुभवबलेन विषयेषु मनागप्यनासक्ताः । किं कृत्वा । पूर्वं स्वस्वरूपपरिग्रहं स्वीकारं कृत्वा, *चत्ता* त्यक्त्वा । कम् । *उवहिं* उपधिं परिग्रहम् । किंविशिष्टम् । *बहित्थमज्झत्थं* बहिस्थं क्षेत्रवास्त्वाद्यनेकविधं मध्यस्थं मिथ्यात्वादिचतुर्दशभेदभिन्नम् । *जे* एवंगुणविशिष्टाः ये महात्मानः *ते सुद्धा त्ति णिद्दिट्ठा* ते शुद्धाः शुद्धोपयोगिनः इति निर्दिष्टाः कथिताः । अनेन व्याख्यानेन किमुक्तं भवति– इत्थंभूताः परमयोगिन एवाभेदेन मोक्षमार्ग इत्यवबोद्धव्यम् ॥ ३०९ ॥

अथ शुद्धोपयोगलक्षणमोक्षमार्गं सर्वमनोरथस्थानत्वेन प्रदर्शयति –

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं ।(२७४)

सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥ ३१० ॥

भणियं भणितम् । किम् । *सामण्णं* सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यलक्षणंशत्रुमित्रादिसमभावपरिणतिरूपं साक्षान्मोक्षकारणं यच्छ्रामण्यम् । तत्तावत्कस्य । *सुद्धस्स य* शुद्धस्य च शुद्धोपयोगिन एव । *सुद्धस्स दंसणं णाणं* त्रैलोक्योदरविवरवर्तित्रिकालविषयसमस्तवस्तुगतानन्तधर्मैकसमयसामान्यविशेषपरिच्छित्तिसमर्थं यद्दर्शन–

रूप परम समाधि (स्वरूपलीनता) से उत्पन्न,परमानन्द एक लक्षण सुखरूपी अमृत रस के आस्वाद रूप अनुभव के बल से,विषयों में किंचित्‌ मात्र भी आसक्त नहीं हैं । क्या करके आसक्त नहीं हैं ? पहले अपने स्वरूप को परिग्रह—स्वीकार कर फिर *चत्ता-* छोड़कर आसक्त नहीं हैं । किसे छोड़कर वैसे नहीं हैं ? *उवहिं-* परिग्रह छोड़कर वैसे नहीं है । किस विशेषता वाले परिग्रह को छोड़कर वैसे नहीं हैं ? *बहित्थमज्झत्थं-* बाहर स्थित खेत, मकान आदि अनेक प्रकार के और अपने अन्दर स्थित मिथ्यात्व आदि चौदह प्रकार से भेद रूप,परिग्रह छोड़कर आसक्त नहीं हैं । *जे-* इन गुणों से विशिष्ट जो महात्मा हैं, *ते सुद्धा त्ति णिद्दिट्ठा-* वे शुद्ध— शुद्धोपयोगी हैं — ऐसा कहा है ।

इस विशेष कथन से क्या कहा गया है ? इसप्रकार के परमयोगी ही,अभेद रूप से मोक्षमार्ग हैं— ऐसा जानना चाहिये ॥ ३०९ ॥

अब, सर्व मनोरथों के स्थान रूप से शुद्धोपयोग लक्षण मोक्षमार्ग को प्रदर्शित करते हैं —

है शुद्ध के श्रामण्य दर्शन -ज्ञान कहते शुद्ध के ।

है शुद्ध का निर्वाण वे ही सिद्ध उनको नमन है ॥ ३१० ॥

गाथार्थ - शुद्ध के श्रामण्य कहा है, शुद्ध के दर्शन - ज्ञान हैं, शुद्ध का निर्वाण होता है, और वे ही सिद्ध हैं; उन्हें नमस्कार हो ।

टीकार्थ - ***भणियं-*** कहा है । क्या कहा है ? ***सामण्णं-*** सम्यग्दर्शन - ज्ञान - चारित्र - एकाग्रता लक्षण, शत्रु - मित्र आदि में समभाव परिणति रूप, साक्षात्‌ मोक्ष का कारण जो श्रामण्य कहा है । वह किसके होता है ? ***सुद्धस्स य-*** और शुद्ध के— शुद्धोपयोगी के ही होता है । ***सुद्धस्स दंसणं णाणं-*** तीन लोक के उदर रूपी छिद्र में स्थित,तीन काल सम्बन्धी विषयों—सम्पूर्ण वस्तुओं में पाये जाने वाले अनन्त धर्मों को, एक समय में सामान्य - विशेष रूप से देखने जानने में समर्थ जो दर्शन-ज्ञान—दोनों उन शुद्ध के ही होते हैं ।

ज्ञानद्वयं तच्छुद्धस्यैव। *सुद्धस्स य णिव्वाणं* अव्याबाधानन्तसुखादिगुणाधारभूतं पराधीनरहितत्वेन स्वायत्तं यन्निर्वाणं तच्छुद्धस्यैव। *सो च्चिय सिद्धो* यो लौकिकमायांजनरसदिग्विजयमन्त्रयन्त्रादिसिद्धविलक्षणः स्वशुद्धात्मोपलम्भलक्षणः टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावो ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मरहितत्वेन सम्यक्त्वाद्यष्टगुणान्तर्भूतानन्तगुणसहितः सिद्धो भगवान् स चैव शुद्ध एव। *णमो तस्स* निर्दोषिनिजपरमात्मन्याराध्याराधकसंबन्धलक्षणो भावनमस्कारोऽस्तु तस्यैव।

अत्रैतदुक्तं भवति– अस्य मोक्षकारणभूतशुद्धोपयोगस्य मध्ये सर्वेष्टमनोरथा लभ्यन्त इति मत्वा शेषमनोरथपरिहारेण तत्रैव भावना कर्तव्येति ॥ ३१० ॥

अथ शिष्यजनं शास्त्रफलं दर्शयन् शास्त्रं समापयति –

बुज्झदि सासणमेयं सागारणगारचरियया जुत्तो। (२७५)

जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि ॥ ३११ ॥

पप्पोदि प्राप्नोति। *सो* स शिष्यजनः कर्ता। कम्। *पवयणसारं* प्रवचनसारशब्दवाच्यं निजपरमात्मानम्। केन। *लहुणा कालेण* स्तोककालेन। यः किं करोति। *जो बुज्झदि* यः शिष्यजनो बुध्यते जानाति। किम्। *सासणमेयं* शास्त्रमिदं। किं नाम। *पवयणसारं* प्रवचनसारं— सम्यग्ज्ञानस्य तस्यैव ज्ञेयभूतपरमात्मादिपदार्थानां

सुद्धस्स य णिव्वाणं- अव्याबाध अनन्त सुख आदि गुणों के आधारभूत, पराधीनता से रहित होने के कारण अपने अधीन जो निर्वाण—मोक्ष— वह शुद्ध के ही होता है। ***सो च्चिय सिद्धो-*** जो लौकिक माया, अंजन, रस, दिग्विजय, मन्त्र, यन्त्र आदि सिद्धियों से विलक्षण, अपने शुद्धात्मा की पूर्ण प्राप्ति लक्षण टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभावी, ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मों से रहित होने के कारण, सम्यक्त्व आदि आठ गुणों में गर्भित अनन्त गुण सहित सिद्ध भगवान हैं, वे भी शुद्ध ही हैं। ***णमो तस्स-*** उन्हें ही अपने दोष रहित परमात्मा में आराध्य-आराधक सम्बन्ध लक्षण भाव नमस्कार हो।

यहाँ यह कहा गया है— इस मोक्ष के कारणभूत शुद्धोपयोग के माध्यम से, सम्पूर्ण इष्ट मनोरथ प्राप्त होते हैं — ऐसा मानकर, शेष मनोरथों को छोड़, उसमें ही भावना करना चाहिये ॥ ३१० ॥

अब, शिष्यजनों को शास्त्र का फल दिखाते हुये शास्त्र समाप्त करते हैं —

सागार या अनगार चर्या सहित इस उपदेश को।

जो जानता वह शीघ्र ही पाता है प्रवचन-सार को ॥ ३११ ॥

गाथार्थ - सागार-अनागार चर्या से सहित जो, इस उपदेश को जानता है, वह अल्पकाल में ही प्रवचन के सार (निजात्मा) को प्राप्त करता है।

टीकार्थ - ***पप्पोदि-*** प्राप्त करता है। ***सो-*** वह कर्तारूप शिष्यजन प्राप्त करता है। वह किसे प्राप्त करता है ? ***पवयणसारं-*** प्रवचनसार शब्द से वाच्य, अपने आत्मा को प्राप्त करता है। कैसे (कब) प्राप्त करता है ? ***लहुणा कालेण-*** थोड़े समय में प्राप्त करता है। जो क्या करता है, तो प्राप्त करता है ? ***जो बुज्झदि-*** जो शिष्यजन जानता है, तो प्राप्त करता है। क्या जानता है ? ***सासणमेयं-*** इस शास्त्र को जानता है। इसका क्या नाम है ? ***पवयणसारं-*** प्रवचनसार— सम्यग्ज्ञान का, उस सम्यग्ज्ञान के ही ज्ञेयभूत परमात्मा आदि

तत्साध्यस्य निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानस्य च, तथैव तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणसम्यग्दर्शनस्य तद्विषयभूतानेकान्तात्मक-परमात्मादिद्रव्याणां तेन व्यवहारसम्यक्त्वेन साध्यस्य निजशुद्धात्मरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वस्य च, तथैव च व्रतसमितिगुप्त्याद्यनुष्ठानरूपस्य सरागचारित्रस्य तेनैव साध्यस्य स्वशुद्धात्मनिश्चलानुभुतिरूपस्य वीतरागचारित्रस्य च प्रतिपादकत्वात्प्रवचनसाराभिधेयम्। कथंभूत: स: शिष्यजन:। *सागारणगारचरियया जुत्तो* सागारानागारचर्यया युक्त:। आभ्यन्तररत्नत्रयानुष्ठानमुपादेयं कृत्वा बहिरंगरत्नत्रयानुष्ठानं सागारचर्या श्रावकचर्या। बहिरंगरत्नत्रयाधारेणाभ्यन्तररत्नत्रयानुष्ठानमनागारचर्या प्रमत्तसंयतादितपोधनचर्येत्यर्थ: ॥ ३११ ॥

इति गाथापंचकेन पंचरत्नसंज्ञं पंचमस्थलं व्याख्यातम्।

एवं *'णिच्छिदसुत्तत्थपदो'* इत्यादि द्वात्रिंशद्गाथाभि: स्थलपंचकेन शुभोपयोगाभिधानश्चतुर्थान्तराधिकार: समाप्त: ॥

इति *श्रीजयसेनाचार्य* कृतायां *तात्पर्यवृत्तौ* पूर्वोक्तक्रमेण *'एवं पणमिय सिद्धे'* इत्याद्येकविंशतिगाथाभिरुत्सर्गाधिकार:। तदनन्तरं *'ण हि णिरवेक्खो चागो'* इत्यादि त्रिंशद्गाथाभिरपवादाधिकार:। तत: परं *'एयग्गगदो समणो'* इत्यादिचतुर्दशगाथाभि: श्रामण्यापरनामा मोक्षमार्गाधिकार:। ततोऽप्यनन्तरं *'णिच्छिदसुत्तत्थपदो'* इत्यादिद्वात्रिंशद्गाथाभि: शुभोपयोगाधिकारश्चेत्यन्तराधिकारचतुष्टयेन सप्तनवतिगाथाभिश्चरणानुयोगचूलिका नामा तृतीयो महाधिकार: समाप्त: ॥

पदार्थों का और उनके द्वारा साध्य विकार रहित स्वसंवेदनज्ञान का ; उसीप्रकार तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण सम्यग्दर्शन का, उसके विषयभूत अनेकान्तात्मक परमात्मा आदि द्रव्यों का और उस व्यवहारसम्यक्त्व से साध्य अपने शुद्धात्मा की रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व का ; और उसीप्रकार व्रत-समिति-गुप्ति आदि अनुष्ठान रूप सराग-चारित्र का और उससे ही साध्य अपने शुद्धात्मा में निश्चल अनुभूतिरूप वीतरागचारित्र का, प्रतिपादक होने से प्रवचनसार नाम है। वह शिष्यजन कैसा है ? *सागारणगारचरियया जुत्तो-* सागार या अनागार चर्या से सहित है। अन्तरंग रत्नत्रय अनुष्ठान को उपादेय कर, बहिरंग रत्नत्रयरूप अनुष्ठान सागारचर्या या श्रावक की चर्या है। बहिरंग रत्नत्रय के आधार से, अन्तरंग रत्नत्रय का अनुष्ठान अनागारचर्या या प्रमत्तसंयत आदि मुनि की चर्या है— ऐसा अर्थ है ॥ ३११ ॥

इसप्रकार पाँच गाथाओं द्वारा *'पंच रत्न'* नामक पाँचवे स्थल का व्याख्यान हुआ।

इसप्रकार *''णिच्छिदसुत्तत्थपदो-''* इत्यादि ३२ गाथाओं द्वारा पाँच स्थलरूप से 'शुभोपयोग' नामक चौथा अन्तराधिकार समाप्त हुआ।

इसप्रकार *'श्री जयसेनाचार्य'* कृत *"तात्पर्यवृत्ति"* में पहले कहे गये क्रम से *'एवं पणमिय सिद्धे-'* इत्यादि २१ गाथाओं रूप से 'उत्सर्ग अधिकार' है। तदुपरान्त *'ण हि णिरवेक्खो -'* इत्यादि ३० गाथाओं रूप से 'अपवाद अधिकार' है। तत्पश्चात् *'एयग्गगदो समणो -'* इत्यादि १४ गाथाओं रूप से 'श्रामण्य अपर नाम मोक्षमार्ग अधिकार' है। तथा तदनन्तर *'णिच्छिदसुत्तत्थपदो -'* इत्यादि ३२ गाथाओं रूप से 'शुभोपयोग अधिकार' है—इसप्रकार चार अन्तराधिकारों द्वारा, ९७ गाथाओं रूप से, *'चरणानुयोगचूलिका'* नामक 'तीसरा महाधिकार' समाप्त हुआ।

प्रवचनसार परिशिष्ट

अत्राह शिष्यः– परमात्मद्रव्यं यद्यपि पूर्वं बहुधा व्याख्यातम्, तथापि संक्षेपेण पुनरपि कथ्यतामिति ।

भगवानाह– केवलज्ञानाद्यनन्तगुणानामाधारभूतं यत्तदात्मद्रव्यं भण्यते । तस्य च नयैः प्रमाणेन च परीक्षा क्रियते ।

तद्यथा– एतावत् शुद्धनिश्चयनयेन निरुपाधिस्फटिकवत्समस्तरागादिविकल्पोपाधिरहितं ; तदेवाशुद्धनिश्चयनयेन सोपाधिस्फटिकवत्समस्तरागादिविकल्पोपाधिसहितम् ।

शुद्धसद्भूतव्यवहारनयेन शुद्धस्पर्शरसगन्धवर्णानामाधारभूतपुद्गलपरमाणुवत्केवलज्ञानादिशुद्धगुणानामाधारभूतम् ; तदेवाशुद्धसद्भूतव्यवहारनयेनाशुद्धस्पर्शरसगन्धवर्णानामाधारभूतद्व्यणुकादिस्कन्धवन्मतिज्ञानादिविभावगुणानामाधारभूतम् ।

अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन द्व्यणुकादिस्कन्धेषु संश्लेशबन्धस्थितपुद्गलपरमाणुवत्परमौदारिकशरीरे वीतरागसर्वज्ञवद्वा विवक्षितैकदेहस्थितम् । उपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन काष्ठासनाद्युपविष्टदेवदत्तवत्समवसरणस्थितवीतरागसर्वज्ञवद्वा विवक्षितैकग्रामगृहादिस्थितम् ।

इत्यादि परस्परसापेक्षानेकनयैः प्रमीयमाणं व्यवह्रियमाणं क्रमेणामेचकस्वभावविवक्षितैकधर्मव्यापकत्वादेकस्वभावं भवति । तदेव जीवद्रव्यं प्रमाणेन प्रमीयमाणं मेचकस्वभावानामनेकधर्माणां युगपद्व्यापकत्वाच्चित्रपटवदनेकस्वभावं भवति ।

यहाँ शिष्य कहता है— यद्यपि परमात्मद्रव्य का पहले अनेक प्रकार से व्याख्यान किया है, तथापि संक्षेप से और भी कहियेगा ।

भगवान (आचार्य) कहते हैं— जो केवलज्ञान आदि अनन्तगुणों का आधारभूत है, वह आत्मद्रव्य कहा गया है । तथा उसकी नयों * और प्रमाण से परीक्षा की जाती है ।

वह इसप्रकार— यह जो शुद्ध-निश्चय-नय से उपाधि (संयोग) रहित स्फटिक के समान, सम्पूर्ण रागादि विकल्पों रूप उपाधि से रहित है ; वही अशुद्ध-निश्चय-नय से, उपाधि सहित स्फटिक के समान, सम्पूर्ण रागादि विकल्पों रूप उपाधि से सहित है ।

शुद्ध-सद्भूत-व्यवहार-नय से, जो शुद्ध स्पर्श-रस-गंध-वर्ण के आधारभूत पुद्गलपरमाणु के समान केवलज्ञानादि शुद्धगुणों का आधारभूत है, वही अशुद्ध-सद्भूत-व्यवहार-नय से, अशुद्ध स्पर्श-रस-गंध-वर्ण के आधारभूत द्व्यणुक आदि स्कंध के समान, मतिज्ञान आदि विभावगुणों (पर्यायों) का आधारभूत है ।

अनुपचरित-असद्भूत-व्यवहार-नय से, द्व्यणुक आदि स्कंधों में संश्लेष बंधरूप स्थित पुद्गलपरमाणु के समान अथवा परमौदारिक शरीर में स्थित वीतराग-सर्वज्ञ के समान विवक्षित एक शरीर में स्थित है । उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय से काष्ठ की आसन आदि पर बैठे हुये देवदत्त के समान अथवा समवशरण में स्थित वीतराग-सर्वज्ञ के समान, विवक्षित एक ग्राम, एक घर आदि में स्थित है ।

इत्यादि परस्पर सापेक्ष अनेक नयों द्वारा जाना गया— व्यवहार किया गया (जीवद्रव्य) क्रम से अमेचक स्वभाववाले विवक्षित एक धर्म में व्यापक होने से, एकस्वभावरूप है । वही जीवद्रव्य प्रमाण द्वारा जानने पर मेचक स्वभाववाले अनेक धर्मों में एक साथ व्यापक होने से, चित्रपट के समान, अनेकस्वभावरूप है ।

* यहाँ 'आचार्य अमृतचन्द्र' ने ४७ नयों के माध्यम से आत्मा को दिखाया है ।

एवं नयप्रमाणाभ्यां तत्त्वविचारकाले योऽसौ परमात्मद्रव्यं जानाति स निर्विकल्पसमाधिप्रस्तावे निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानेनापि जानातीति ॥

पुनरप्याह शिष्यः– ज्ञातमेवात्मद्रव्यं हे भगवन्निदानीं तस्य प्राप्त्युपायः कथ्यताम् ।

भगवानाह– सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातरागाद्युपाधिरहितपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादानुभवमलभमानः सन् पूर्णमासीदिवसे जलकल्लोलक्षुभितसमुद्र इव रागद्वेषमोहकल्लोलैर्यावदस्वस्थरूपेण क्षोभं गच्छत्ययं जीवस्तावत्कालं निजशुद्धात्मानं न प्राप्नोति इति ।

स एव वीतरागसर्वज्ञप्रणीतोपदेशात् एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपंचेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तमनुष्यदेशकुलरूपेन्द्रियपटुत्वनिर्व्याध्यायुष्यवरबुद्धिसद्धर्मश्रवणग्रहणधारणश्रद्धानसंयमविषयसुखनिवर्तनक्रोधादिकषायव्यावर्तनादिपरंपरादुर्लभान्यपि कथंचित्काकतालीयन्यायेनावाप्य सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातरागाद्युपाधिरहितपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादानुभवलाभे सत्यमावस्या दिवसे जलकल्लोलक्षोभरहितसमुद्र इव रागद्वेषमोहकल्लोलक्षोभरहितप्रस्तावे यदा निजशुद्धात्मस्वरूपे स्थिरो भवति तदा तदेव निजशुद्धात्मस्वरूपं प्राप्नोति ॥

इसप्रकार नय-प्रमाण द्वारा तत्त्व-विचार के समय,जो वह,परमात्मद्रव्य को जानता है, वह विकल्परहित समाधि के प्रसंग में,विकाररहित स्वसंवेदनज्ञान से भी,उसे जानता है ।

शिष्य फिर कहता है— हे भगवान ! आत्मद्रव्य तो ज्ञात हुआ, अब उसकी प्राप्ति का उपाय कहियेगा ।

भगवान (आचार्य) कहते हैं — परिपूर्ण निर्मल केवल ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाले अपने परमात्मतत्त्व के, सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप अभेदरत्नत्रय विकल्परहित समाधि (स्वरूपलीनता) से उत्पन्न,रागादि उपाधि रहित उत्कृष्ट आनन्द एक लक्षण सुखरूपी अमृतरस सम्बन्धी स्वाद के अनुभव को न पाता हुआ यह जीव, पूर्णिमा के दिन जल-लहरों से क्षुब्ध (चंचल) समुद्र के समान, राग-द्वेष-मोहरूपी लहरों द्वारा,जब तक अपने स्वरूप में स्थिर न होने से क्षुब्ध (आकुलित) रहता है, तब तक अपने शुद्धात्मा को प्राप्त नहीं करता है ।

वही, वीतराग-सर्वज्ञ प्रणीत उपदेश से एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, संज्ञी, पर्याप्त, मनुष्य, उत्तम देश, उत्तम कुल, रूप, इन्द्रियपटुता (कार्य करने में समर्थ इन्द्रियाँ), निरोगता, पर्याप्त आयु, श्रेष्ठ बुद्धि, सत्यधर्म का श्रवण-ग्रहण-धारण-श्रद्धान, संयम, विषयसुख से विरक्ति, क्रोधादि कषायों का विनाश— इत्यादि उत्तरोत्तर दुर्लभ दशाओं को भी कथंचित् 'काकतालीय न्याय'(सहज पुण्योदय) से प्राप्तकर,परिपूर्ण निर्मल केवल ज्ञान - दर्शन स्वभावी अपने आत्मतत्त्व के,सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरणरूप अभेदरत्नत्रय स्वरूप विकल्परहित समाधि (स्वरूप-लीनता) से उत्पन्न,रागादि उपाधिरहित, उत्कृष्ट आनन्द एक लक्षण सुखरूपी अमृतरस सम्बन्धी स्वाद के अनुभव की प्राप्ति होने पर, अमावस्या के दिन जल-लहरों के क्षोभ से रहित समुद्र के समान, राग-द्वेष-मोहरूपी लहरों के क्षोभ से रहित प्रसंग में, जब अपने शुद्धात्मस्वरूप में स्थिर होता है ; तब वही जीव, अपने शुद्धात्मस्वरूप को प्राप्त होता है ॥

इति *श्रीजयसेनाचार्य*कृतायां तात्पर्यवृत्तौ एवं पूर्वोक्तक्रमेण *'एस सुरासुर'* इत्याद्येकोत्तरशतगाथापर्यन्तं सम्यग्ज्ञानाधिकारः, तदनन्तरं *'तम्हा तस्स णमाइं'* इत्यादि त्रयोदशोत्तरशतगाथापर्यन्तं ज्ञेयाधिकारापरनामा सम्यक्त्वाधिकारः, तदनन्तरं *'एवं पणमिय सिद्धे'* इत्यादि सप्तनवतिगाथापर्यन्तं चारित्राधिकारश्चेति महाधिकारत्रयेणैकादशाधिकत्रिशतगाथाभिः प्रवचनसारप्राभृतं समाप्तम् ॥

समाप्तेयं तात्पर्यवृत्तिः प्रवचनसारस्य ॥

इसप्रकार ***'श्री जयसेनाचार्य'*** कृत ***'तात्पर्यवृत्ति'*** में इसप्रकार पहले कहे गये क्रम से ***'एस सुरासुर-'*** इत्यादि १०१ गाथाओं पर्यन्त 'सम्यग्ज्ञान अधिकार', तदुपरान्त ***'तम्हा तस्स णमाइं -'*** इत्यादि ११३ गाथाओं पर्यन्त 'ज्ञेयाधिकार अपरनाम सम्यक्त्व अधिकार' और तत्पश्चात् ***'एवं पणमिय सिद्धे -'*** इत्यादि ९७ गाथाओं पर्यन्त 'चारित्राधिकार' — इसप्रकार तीन महाधिकारों द्वारा ३११ गाथाओंरूप से ***'प्रवचनसार-प्राभृत'*** पूर्ण हुआ।

प्रवचनसार की यह तात्पर्यवृत्ति पूर्ण हुई ॥

इसप्रकार ***'आचार्य कुन्दकुन्ददेव'*** कृत ***'प्रवचनसार-प्राभृत'*** तथा उस पर ***'आचार्य जयसेन'*** कृत ***'तात्पर्यवृत्ति'*** टीका का हिन्दी पद्य, गाथार्थ, टीकार्थ, भावार्थ, विशेषार्थ रूप से हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।

* * *

टीकाकार आचार्य जयसेन-प्रशस्तिः

अज्ञानतमसा लिप्तो मार्गो रत्नत्रयात्मकः ।
तत्प्रकाशसमर्थाय नमोऽस्तु कुमुदेन्दवे ॥ १ ॥
सूरिः श्री वीरसेनाख्यो मूलसंघेऽपि सत्तपाः
नैर्ग्रन्थ्यपदवीं भेजे जातरूपधरोऽपि यः ॥ २ ॥
ततः श्री सोमसेनोऽभूद्गणी गुणगणाश्रयः ।
तद्विनेयोस्ति यस्तस्मै जयसेनतपोभृते ॥ ३ ॥
शीघ्रं बभूव मालु साधुः सदा धर्मरतो वदान्यः ।
सूनुस्ततः साधुमहीपतिर्यस्तस्मादयं चारुभटस्तनूजः ॥ ४ ॥
यः संततं सर्वविदाः सपर्यामार्यक्रमाराधनया करोति ।
स श्रेयसे प्राभृतनामग्रन्थपुष्टात् पितुर्भक्तिविलोपभीरुः ॥ ५ ॥

टीकाकार श्री आचार्य जयसेन की प्रशस्ति

अज्ञानरूपी अन्धकार से, यह रत्नत्रयस्वरूप (मोक्ष) मार्ग, लिप्त (आच्छादित-लुप्त) है, उसे प्रकाशित करने में समर्थ, कुमुदचन्द्र या पद्मचन्द्र मुनि को नमस्कार हो ॥ १ ॥

इस मूलसंघ में भी, परम तपस्वी *'श्री वीरसेन'* नामक आचार्य हुये हैं, जो निर्ग्रन्थ पदवी के धारी, जातरूपधर— दिगम्बर भी थे ॥ २ ॥

उनके शिष्य, अनेक गुणों के धारी *'श्री सोमसेन आचार्य'* हुये, ये जो *'जयसेन आचार्य'* हैं, वे उनके शिष्य हैं ॥ ३ ॥

सदा धर्म में लीन, प्रसिद्ध मालु नामक साधु हुये । उनके पुत्र महीपति नामक साधु हुये और उनसे यह चारुभट नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ४ ॥

जो, हमेशा सर्वज्ञ की पूजा तथा आचार्यों के चरणों की आराधना पूर्वक सेवा करता है । उस (चारुभट-जयसेनाचार्य) ने पिता की भक्ति के विलोप होने से भयभीत हो, इस *प्राभृत* नामक ग्रन्थ की टीका की है ॥ ५ ॥

श्रीमन्त्रिभुवनचंद्रं निजमतवाराशितायना चन्द्रम् ।
प्रणमामि कामनामप्रबलमहापर्वतैकशतधारम् ॥ ६ ॥
जगत्समस्तसंसारिजीवाकारणवन्धवे ।
सिंधवे गुणरत्नानां नमस्त्रिभुवनेन्दवे ॥ ७ ॥
त्रिभुवनचंद्रं चंद्रं नौमि महासंयमोत्तमं शिरसा ।
यस्योदयेन जगतां स्वान्ततमोराशिकृन्तनं कुरुते ॥ ८ ॥

अपने मतरूपी जल को बढ़ाने के लिये चन्द्रमा के समान तथा काम नामक महाप्रबल पर्वत के सैकड़ों टुकड़े करनेवाले, श्रीमान् *त्रिभुवनचन्द्र* को नमस्कार करता हूँ ॥ ६ ॥

जगत में, समस्त संसारी जीवों के अकारण बन्धु तथा गुणरूपी रत्नों के समुद्र *त्रिभुवनचन्द्र* को नमस्कार हो ॥ ७ ॥

जिनके उदय से, जगत-जीवों के अन्तरंग का अन्धकार नष्ट हो जाता है, ऐसे महासंयम के पालने में श्रेष्ठ चन्द्रमा के समान, *त्रिभुवनचन्द्र* को नमस्कार करता हूँ ॥ ८ ॥



॥ श्री प्रवचनसार प्राभृत – गाथाओं की वर्णानुक्रमणिका ॥

वर्णानुक्रम गाथा	प्रदत्त संख्या आचार्य जयसेन	अमृतचन्द्र	पृष्ठ-संख्या
उ			
उच्चालयम्हि पाए	२३२	०	३२३
उदयगदा कम्मंसा	४४	४३	७१
उप्पज्जदि जदि णाणं	५१	५०	८०
उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते	१११	१०१	१५९
उप्पादट्ठिदिभंगा	१३९	१२९	२०६
उप्पादो पद्धंसो	१५३	१४२	२२६
उप्पादो य विणासो	१८	१८	३०
उवओगमओ जीवो	१८७	१७५	२६६
उवओगविसुद्धो जो	१५	१५	२७
उवओगो जदि हि	१६८	१५६	२४३
उवकुणदि जो वि	२८८	२४९	३८४
उवयरणं जिणमग्गे	२५५	२२५	३४६
उवरदपावो पुरिसो	२९७	२५९	३९३
ए			
एक्कं खलु तं भत्तं	२६०	२२९	३५१
एक्को व दुगे बहुगा	१५२	१४१	२२४
एगंतेण हि देहो	६८	६६	१०२
एगम्हि संति समये	१५४	१४३	२२७
एगुत्तरमेगादी	१७६	१६४	२५१
एदाणि पंचदव्वाणि	१४६	०	२१५
एदे खलु मूलगुणा	२२३	२०९	३१४
एयग्गगदो समणो	२६६	२३२	३५८
एवं जिणा जिणिंदा	२१२	१९९	२९८
एवं णाणप्पाणं	२०५	१९२	२८७
एवं पणमिय सिद्धे	२१५	२०१	३०४
एवं विदिदत्थो	८२	७८	११८
एवंविहं सहावे	१२१	१११	१७५
एस सुरासुरमणुसिंद	१	१	५
एसा पसत्थभूदा	२८४	२५४	३८०
एसो त्ति णत्थि	१२६	११६	१८६
एसो बंधसमासो	२०२	१८९	२८३
ओ			
ओगाढगाढणिचिदो	१८०	१६८	२५७
ओरालिओ य देहो	१८३	१७१	२६०
क			
कत्ता करणं कम्मं	१३६	१२६	२००
कम्मत्तणपाओग्गा	१८१	१६९	२५८
कम्मं णामसमक्खं	१२७	११७	१८८
कालस्स वट्टणा से	१४४	१३४	२१२
किच्चा अरहंताणं	४	४	९
किध तम्हि णत्थि	२४०	२२१	३३२
किं किंचण त्ति तक्कं	२४३	२२४	३३५
कुलिसाउहचक्कधरा	७७	७३	११३
कुव्वं सभावमादा	१९६	१८४	२७७
केवलदेहो समणो	२५९	२२८	३५०
कोहादिएहिं चउहिं	२५७	०	३४८
ग			
गुणदोधिगस्स विणयं	३०५	२६६	४०१
गेण्हइ विधुणइ	२३९	०	३३०

वर्णानुक्रम गाथा	प्रदत्त संख्या आचार्य जयसेन	अमृतचन्द्र	पृष्ठ-संख्या
जो जाणदि सो णाणं	३६	३५	५९
जो जाणादि जिणिंदे	१६९	१५७	२४४
जो णवि जाणदि एवं	१९५	१८३	२७६
जो ण विजाणदि	४९	४८	७७
जो णिहदमोहगंठी	२०८	१९५	२९१
जो णिहदमोहदिट्ठी	९९	९२	१३६
जोण्हाणं णिरवेक्खं	२९०	२५१	३८७
जो तं दिट्ठा तुट्ठो	१००	०	१३७
जो पक्कमपक्कं वा	२६२	०	३५२
जो मोहरागदोसे	९५	८८	१३२
जो रयणत्तयणासो	२५४	०	३४५
जो हि सुदेण	३४	३३	५६
ठ			
ठाणणिसेज्जविहारा	४५	४४	७२
ण			
ण चयदि जो दु	२०३	१९०	२८५
णत्थि गुणो त्ति व	१२०	११०	१७३
णत्थि परोक्खं	२३	२२	४२
णत्थि विणा परिणामं	१०	१०	१८
ण पविट्ठो णाविट्ठो	३०	२९	५१
ण भवो भंगविहीणो	११०	१००	१५६
णरणारयतिरियसुरा जीवा	१२८	११८	१८९
णरणारयतिरियसुरा भजंति	७६	७२	११२
णरणारयतिरियसुरा			

वर्णानुक्रम गाथा	प्रदत्त संख्या आचार्य जयसेन	अमृतचन्द्र	पृष्ठ-संख्या
संठाणादीहिं	१६५	१५३	२४०
ण विणा वट्टदि णारी	२४८	०	३३९
ण वि परिणमदि ण	५३	५२	८३
ण हवदि जदि सद्दव्वं	११५	१०५	१६४
ण हवदि समणो त्ति	३०३	२६४	३९८
ण हि आगमेण	२७१	२३७	३६४
ण हि णिरवेक्खो	२३६	२२०	३२९
ण हि तस्स तण्णिमित्तो	२३३	०	३२४
ण हि मण्णदि जो	८१	७७	११७
णाणप्पगमप्पाणं	९६	८९	१३३
णाणप्पमाणमादा	२५	२४	४४
णाणं अट्ठवियप्पो	१३४	१२४	१९७
णाणं अत्थंतगयं	६३	६१	९६
णाणं अप्पत्ति मदं	२८	२७	४८
णाणी णाणसहावो	२९	२८	५०
णाहं देहो ण मणो	१७२	१६०	२४७
णाहं पोग्गलमइओ	१७४	१६२	२४८
णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि	२१८	२०४	३०९
णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति	२०४	१९१	२८६
णिग्गंथं पव्वइदो	२८१	२६९	२७७
णिच्छयदो इत्थीणं	२४५	०	३३७
णिच्छिदसुत्तत्थपदो	२८०	२६८	३७६
णिद्धत्तणेण दुगुणो	१७८	१६६	२५४
णिद्धा वा लुक्खा वा	१७७	१६५	२५३

॥ टीकागत उद्धरणों की वर्णानुक्रमणिका ॥

उद्धरण	पृष्ठ-संख्या	कहाँ का है
भिण्णउ जेण ण......	३६०	दोहापाहुड़, गाथा १२८ ।
भुक्त्युपसर्गाभावात्......	३६	नंदीश्वरभक्ति, पद्य ४० ।
ममत्तिं परिवज्जामि.....	३५०	नियमसार, गाथा ९९; मूलाचार, गाथा ४५१ ।
मुख्याभावे सति.....	३४२	आलापपद्धति ।
मूर्च्छा परिग्रहः	३२४	तत्त्वार्थसूत्र, सप्तमोऽध्याय, सूत्र १६ ।
मोहस्स बलेण घाददे जीवं......	३५	कर्मकाण्ड, गाथा १९ ।
व्यापकं तदतन्निष्ठं......	४९	सिद्धिविनिश्चय टीका, षष्ठ प्रस्ताव, हेतु - लक्षण सिद्धि, कारिका २ की टीका ।
शुद्धस्फटिकसंकाशं.....	३५	
सद्दो खंदप्पभवो.....	२११	पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा ७९ ।
समगुणपर्यायं द्रव्यं	४३	पंचाध्यायी, प्रथमोऽध्याय, पद्य ७३ ।
समसुखशीलितमनसां.....	९८	
सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः	३७२	तत्त्वार्थसूत्र, प्रथमोऽध्याय, सूत्र १ ।
समाहारस्यैकवचनम्	३१४	संस्कृत-व्याकरण, समास-प्रकरण ।
सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ....	३८७	स्वयंभूस्तोत्र, वासुपूज्य जिनस्तवन, पद्य ५८ ।

मेरो रूप अनादितैं, थो याही परकार।
मोहि न सूझ्यो मोहवश, ज्यों मृग मृगमद* धार ॥ १३७ ॥
अब जिनप्रवचन दीपकरि, आप रूप लखि लीन।
तजि आकुल भ्रम मोहमल, भये तासुमें लीन ॥ १३८ ॥

—कविवर वृन्दावनदासजी विरचित, श्री प्रवचनसार-परमागम (अध्याय -६)

* कस्तूरी

प्रस्तुत पुस्तक की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

क्र. सं.	दातार का नाम	राशि
१.	ब्रं॰ हीरालाल खुशाल चन्द दोशी, मांडवे	५००१/-
२.	ब्र॰ कंचनवेन धागधावाले, सोनगढ़	२५००/-
३.	ब्र॰ पुष्पा बहन, सोनगढ़	२५००/-
४.	स्व॰ श्री छोंटालाल वी. मेहता	११००/-
५.	श्री तलकचन्द वीरचन्दजी दोशी, करमाला	१००१/-
६.	श्रीमती भँवरी देवी घीसालाल जी छावड़ा, सीकर	१००१/-
७.	श्री शान्तिनाथ मल्लिनाथ सोनाज, अकलूज	१००१/-
८.	श्री उदयकुमार शान्तिनाथ सोनाज, अकलूज	१००१/-
९.	श्री अनिल कुमार शान्तिनाथ सोनाज, अकलूज	१००१/-
१०.	श्री चन्द्रकान्त शान्तिनाथ सोनाज, अकलूज	१००१/-
११.	श्री इन्द्रलाल शाह, जयपुर	१००१/-
१२.	श्रीमती नारायणी देवी ध॰ प॰ गुलाबचन्द जी जैन, दिल्ली	१००१/-
१३.	श्रीमती छवनवेन भाईचन्द गाँधी जैन, सोनगढ़	१०००/-
१४.	स्व॰ रंगूबाई उम्मेदमलजी भण्डारी, सायला हस्ते माँगीलालजी बैंगलोर	१०००/-
१५.	श्री राजकुमाजी जैन, कानपुर	१०००/-
१६.	श्री सौभागमलजी पाटनी, बम्बई	१०००/-
१७.	श्रीमती मोहनी देवी पाटनी ध॰ प॰ स्व॰ सोहनलालजी पाटनी, कलकत्ता	७००/-
१८.	श्रीमती प्रकाशवती गम्भीरचन्द जैन, अलीगंज	५०१/-
१९.	श्री हंसमुख भाई शेष भक्त जैन, पूना	५०१/-
२०.	श्रीमती रतनप्रभा मोतीचन्द लुहाड़िया, दिल्ली	५०१/-
२१.	श्री मदनराजजी छाजेड़, जोधपुर	५०१/-
२२.	श्री हुलासमलजी कासलीवाल, कलकत्ता	५०१/-
२३.	श्री नेमीचन्द गेंदालाल परवादवालें, गुना	५०१/-
२४.	श्रीमती सुशीला बाई अध्यापिका कुंभराज, गुना	५०१/-
२५.	श्रीमती गुलाबीदेवी ध॰ प॰ श्री लक्ष्मीनारायणजी रारा, शीवसागर	५०१/-
२६.	श्रीमती पुष्पाबाई जैन ध॰ प॰ अजितकुमार जी जैन, मुरेना	५०१/-
२७.	विनयदक्ष चेरिटेबल ट्रस्ट, बम्बई	५०१/-